UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182735

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP--23—4-4-69—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.09 J25A Accession No. P.G H327

Author जैन, निर्मला.

Title आधुनिक हिन्दी काव्य में

This book should be returned on or before the date last marked below. रूपविधान. 1962.

आधुनिक हिन्दी-काव्य में रूप-विधाएँ

आधुनिक हिन्दी-काव्य में रूप-विधाएँ

डा० निर्मला जैन
हिन्दी विभाग, लेडी श्रीराम कालेज, दिल्ली

हिन्दी अनुसंधान-परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, के निमित्त
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
२६ ए, जवाहरनगर, दिल्ली
बिक्री केन्द्र : नई सड़क, दिल्ली

प्रथम संस्करण
सितम्बर, १९६३

मूल्य
२५.००

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स
दिल्ली

हमारी योजना

'आधुनिक हिन्दी-काव्य में रूप-विधाएँ' हिन्दी-अनुसंधान-परिषद् ग्रन्थमाला का छब्बीसवाँ ग्रन्थ है। 'हिन्दी अनुसंधान परिषद्' हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर, सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं : हिन्दी-वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे वे जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है; और तीसरे ऐसे जिनका अनुसंधान के साथ उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) हिन्दी काव्यालंकार सूत्र, (२) हिन्दी वक्रोक्ति-जीवित, (३) अरस्तू का काव्यशास्त्र, (४) हिन्दी काव्यादर्श, (५) अग्निपुराण का काव्य-शास्त्रीय भाग (हिन्दी अनुवाद), (६) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, तथा (७) होरेस-कृत 'काव्यकला', (८) हिन्दी अभिनव भारती, (९) हिन्दी नाट्य-दर्पण।

द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, (३) सूफ़ी मत और हिन्दी साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य, (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्य-कला, (७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, (८) मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, (९) हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, (१०) मतिराम : कवि और आचार्य, (११) आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त, (१२) ब्रजभाषा के कृष्णकाव्य में माधुर्य-भक्ति, (१३) प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास।

तीसरे वर्ग के अन्तर्गत तीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है :

(१) अनुसंधान का स्वरूप, (२) हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध, (३) अनुसंधान की प्रक्रिया।

प्रस्तुत ग्रन्थ द्वितीय वर्ग का चौदहवाँ प्रकाशन है, जिसे हम आधुनिक हिन्दी काव्य एवं कला के मर्मज्ञों की सेवा में अर्पित कर रहे हैं।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

हिन्दी अनुसंधान परिषद्
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-६

नगेन्द्र
(अध्यक्ष)

स्मृति-शेष
पूज्य पिता
एवं चिर सङ्घर्षलीना
माँ
को !

आत्माभिव्यक्ति

यह प्रबन्ध सन् १९५६ से १९६१ की अवधि में दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए लिखा गया था। हिन्दी-साहित्य का आधुनिक युग बहुविध प्रयोगों का युग है। इस युग की अनेकरूपात्मक परिस्थितियों और क्षिप्र गत्यात्मकता का प्रभाव साहित्यिक चेतना एवं कला दोनों पर पड़ा है। विषयापेक्षी होने के कारण काव्य-रूपों में भी नानाविध नव्य प्रयोग तथा प्रगतिशील परिवर्तन उपस्थित हुए। बीसवीं शती का कवि ग्रहण के प्रति उदार और परिवर्तन में विशेष सजग रहा है। काव्य-रूपों की यही नानारूपात्मकता उनके स्वतन्त्र अध्ययन की अपेक्षा को जन्म देती है। इस उत्तरदायित्व का वहन प्रस्तुत प्रबन्ध में सफलता से हो सका है या नहीं, इसका निर्णय तो पाठक ही करेंगे। अपनी ओर से प्रबन्ध के समग्र में परम्परा से प्रयोग और प्रगति के व्यावर्त्तन और सम्यक् रूप से विवेचन का यत्न किया गया है। इसीलिए 'भूमिका' भाग में परम्परा के सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक दोनों रूपों का स्पष्टीकरण करने के उपरान्त, उसके आलोक में विवेच्य काव्य का विवेचन शेष ग्रन्थ में प्रस्तुत है।

काव्य-रूपों का अध्ययन इससे पूर्व नहीं किया गया हो, ऐसा निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। इस दिशा में विभिन्न विद्वानों द्वारा अनेक प्रयास समय-समय पर किये गए हैं, परन्तु वे प्रस्तुत ग्रन्थ से किस रूप में भिन्न हैं? यह सहज ही पाठकों की पहचान में आ जायगा। अतः पूर्वकृत रचनाओं की तुलना में इस प्रबन्ध की व्यापकता, भिन्नता या मौलिकता का प्रतिपादन अनावश्यक है। मौलिकता अनुसन्धान की पहली शर्त है। उसके अभाव में शोध-प्रयास लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता है। अतः नवीनता का प्रचार न अनुसन्धाता का इष्ट होता है न कथ्य। इस विशेषता का अभिज्ञान तो प्रमाता द्वारा ही सम्भव है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में सन् १९०० से १९५७ का समय इसलिए लिया गया है कि यद्यपि नवीनता का उन्मेष भारतेन्दु-युग से ही आरम्भ हो गया था फिर भी काव्य-रूपों की दृष्टि से वास्तविक प्रयोगारम्भ १९०० ई० के उपरान्त ही हुआ। काव्य-रूपों का विवेचन करते हुए हमने अपने विषय को काव्य-रूपों की शिल्पगत एवं कला-सम्बन्धी विशेषताओं तक ही सीमित रखा है। विषयगत विशेषताओं का संस्पर्श वहीं किया गया है, जहाँ वे काव्य-रूपों को समझने में सहायक हैं। प्रबन्ध की रूपरेखा और विवेचन-पद्धति को स्थान-स्थान पर आवश्यकतानुसार स्पष्ट किया गया है, अतः यहाँ उसके पूर्वकथन की विशेष अपेक्षा नहीं।

दो शब्द इसकी परिसीमाओं के सम्बन्ध में कह देने भी उचित होंगे। विवेच्य युग में विरचित सभी काव्य-कृतियों का पठन कर उनको विषय बनाने का प्रयास करने पर भी, इस दुस्साध्य कार्य की कठिनाइयाँ स्वतः स्पष्ट हैं। इस व्यापक काव्य-राशि के सभी मणि-रत्नों का उल्लेख स्थानाभाव और पुनरावृत्ति की आशंका से असम्भव था, अतः चयन की पद्धति यह रही है कि प्रमुख कवियों की महत्त्वपूर्ण कृतियों और प्रत्येक रूप-विधा की प्रतिनिधि रचनाओं को

आधार बना लिया जाय। बहुत सी रचनाओं का विस्तार-भय से नामोल्लेख न करने पर भी पर्याप्त विस्तार हो गया है। कदाचित् विषय अत्यधिक व्यापक है और मेधा व प्रयत्न की निश्चित सीमाएं। ऐसी स्थिति में सफलता का दावा कैसे किया जा सकता है ? अधिक से अधिक अपनी ओर से इस दिशा में ईमानदारी और विवेकपूर्ण न्याय का यथासम्भव प्रयास ही किया जा सकता है।

इस कार्य-पूर्ति की दिशा में प्राप्त सम्बल और बाधाओं के सम्बन्ध में दो शब्द कह देने भी संगत होंगे। मार्ग में उद्भूत विघ्नों की अपेक्षा पाथेय में ही अधिक बल रहा होगा, अन्यथा, संघर्षों से हारा मन गन्तव्य तक पहुँच कैसे पाता ? अतः अवलम्ब देने वाले वे सभी व्यक्ति धन्यवाद के पात्र हैं, जिनकी सदाशयता के अभाव में यह कार्य पूरा नहीं हो पाता। जब कभी विगत पुनःस्मृत होकर सद्य हो जाता है, तो आज भी इस कार्य की पूर्ति में अविश्वास होने लगता है। दुर्भाग्य से जिन कतिपय व्यक्तियों का मेरे कार्य से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं था, उन्होंने भी अवांछित रुचि लेकर उदारता से मेरी राहों में कण्टक बिखराए। बदले में मैं न फूल बिखरा सकी, न एक गाल पर तमाचा खा कर दूसरा प्रस्तुत कर सकी। मन में छिपा कबीर और क्राइस्ट न जागा; परन्तु मेरे मन का दानव भी सोता ही रहा और बदले में मैंने काँटों की खेती नहीं बोयी, यही मुझे सन्तोष है। विचित्र संयोग है। इस कार्य का अथ और इति मेरी सन्तति के जन्म और मृत्यु से अभिन्न हो गए। इसका आरम्भ 'संजय' के जन्म से एकाकार होकर, चरम परिणति 'अपर्णा' की मृत्यु से तदाकृत हो गई। मैंने उस घटना को इस अनुष्ठान की पूर्णाहुति मानकर आत्मसात् कर लिया। परन्तु इस विचित्र दैविक संयोग से आत्मबल क्षत हो गया, परिणामतः जो अंश शेष रह गया था उसका शोधन सम्भव न हो सका।

जिन हितैषियों से मुझे आद्यन्त बल प्राप्त हुआ है, उनके प्रति आभार-प्रदर्शन औपचारिकता मात्र है, क्योंकि वैसा करके उनके आभार से मुक्ति असम्भव है, फिर भी ऐसा न करना एक मधुर कर्त्तव्य की अवहेलना होगी। अतः मैं इस प्रबन्ध की निर्देशिका माननीया डा० सावित्री सिन्हा के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करती हूँ। डा० (श्रीमती) एच० पी० दस्तूर की भी मैं हृदय से आभारी हूँ। उन्होंने अंगरेज़ी साहित्य से सम्बद्ध मेरी अनेक जिज्ञासाओं का समय-समय पर समाधान कर मार्ग-दर्शन किया। संगीत-सम्बन्धी शंकाओं के निराकरण के लिए डा० विश्वम्भरनाथ भट्ट, संस्कृत उद्धरणों के शोधन के लिए डा० सत्यदेव चौधरी एवं प्रकाशन-व्यवस्था के आरम्भ के लिए डा० दशरथ ओझा आदि गुरुजनों की मैं कृतज्ञ हूँ।

उस व्यक्ति का इस प्रसंग में उल्लेख न करना कृतघ्नता होगी, जो इस प्रबन्ध की पूर्ति के लिए परोक्ष रूप में पूर्णतः उत्तरदायी है। मेरा आशय स्मृति-शेष दिवंगत ला० श्रीराम से है। उनकी स्नेह-वर्षण छत्रछाया और असीम अनुकम्पा में जीवन के जो अमूल्य क्षण बीते, उनकी पुनरावृत्ति असम्भव है। संघर्षबोझिल मन को उनसे अधिक नैतिक सम्बल मिलना दुष्कर था। भाईजी की प्रसन्नता मेरी सिद्धि में है, यह जानते हुए कोई ऐसा काम कर पाना मेरे लिए असम्भव हो जाता था जिससे उन्हें कष्ट हो। रुग्णावस्था में भी जब वे मुझसे पूछ बैठते "निर्मला, तुम्हारा कितना काम और बाकी है ?" तो मन ही मन अनेक बार संकल्प करने पर भी उनसे

यह कहना असम्भव हो जाता कि मेरी सामर्थ्य हार गई है, अथवा मेरे पग डगमगाने लगे हैं; विशेषकर ऐसी स्थिति में, जब अनेक बार हताश होने पर, वे अपने विवेक से मुझे राह दिखा दिया करते थे। आज आत्मविश्लेषण करने पर लगता है उन्हें प्रसन्न रखने का आग्रह भी वह बहुत बड़ा कारण था जिसने मुझे जीवन के दुर्बल क्षणों में शक्ति दी।

श्रद्धेय गुरुवर डा० नगेन्द्र के आभार की स्वीकृति सम्भव नहीं। उनकी अनुकम्पा के प्रतिदान में 'धन्यवाद' आदि शब्द अत्यन्त हलके और असमर्थ लगते हैं। उन्हें देखकर उन समर्थ गुरु द्रोणाचार्य की कल्पना साकार होने लगती है जिनकी प्रतिमा में भी एकलव्य से साधकों को सिद्ध बनाने की क्षमता एवं प्रेरणा व्याप्त थी, अर्जुन से धनुर्धारियों के प्रत्यक्ष शिष्यत्व का तो प्रश्न ही क्या? शिष्य के दृष्टिकोण से मुझे एकलव्य का आदर्श ही मुग्धकर लगता है। ईश्वर मुझे उसके पालन की क्षमता दे तथा उनके चरणों में आस्था एवं संबल बनाये रखे। उनके विवेकपुष्ट ज्ञान के प्रकाशपुञ्ज से जो आलोक के स्फुलिंग मिले, उनके बीच यदि कहीं अंधकार भासित हो, तो प्रमाता उसे मेरे अज्ञान का परिणाम मान लें।

सुहृदय मित्रों में अग्रवाल-दम्पति विशेष उल्लेख के अधिकारी हैं। डा० बिन्दु अग्रवाल ने इस प्रबन्ध के लिए जिस कष्ट-साधना से विवेच्य साहित्य जुटाया और कवि बन्धु भारतभूषण अग्रवाल ने अनेक रूपों में जो तत्पर सहयोग दिया, उसे देखकर लगता है कि स्नेही आत्मीयजनों की सहायता से दुष्कर कार्य भी कितने सुलभ हो जाते हैं। प्रबन्ध के अतिरिक्त भी उन बहुत-सी बातों के लिए जिनका उल्लेख मैं यहाँ नहीं कर सकती, धन्यवाद देकर, उनके प्रति नैकट्य एवं स्नेहानुभूति को कम नहीं करना चाहती। वे इतने अपने हैं, दुःख-सुख के समभागी हैं कि औपचारिकता का प्रश्न ही नहीं उठता।

परिवार के सदस्यों का सहयोग तो मानों मेरा अधिकार ही रहा। वात्सल्यमयी मां ने सहर्ष गृहस्थी के बहुत से भार उठाए। भाई-बहिन उल्लसित हो उत्साह-वर्द्धन करते रहे। और श्री जैन, उनके लिए क्या कहूँ। मेरी समस्त उपलब्धियों के प्रति अलिप्त रहते हुए भी, उनके कारण प्राप्त होने वाली समस्त असुविधाओं को वे अपने नाम के अनुरूप 'सागर' की सी गुरु-गम्भीरता से पचा लेते हैं। उनकी उदारता ने ही मुझे आत्मबल दिया है। लगता है, मेरा सुख और उनका स्वार्थ अभिन्न हो गए हैं।

अन्त में नेशनल पब्लिशिंग हाउस के संचालक महोदय के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करती हूँ, जिन्होंने बीच में अनेक बार मेरे रुग्ण हो जाने पर भी असीम धैर्य से इस विशालकाय ग्रंथ का प्रकाशन-भार वहन किया। वे और उनके कार्यकर्ता इस सहृदयता के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

शोध की दिशा में उठाया मेरा यह पहला पग ठीक दिशा में पड़ा या नहीं यह तो प्रमाता ही जानें।

—निर्मला जैन

विषयानुक्रम

भूमिका

१

सैद्धान्तिक विवेचन

१. रूप-विधा शब्द का अर्थ ३

रूप—३, विधा—५

२. काव्यसृजन-प्रक्रिया और रूप-विधा ६

काव्यसृजन-प्रक्रिया—६, रूप-विधा और भाषा—१२, रूप-विधा और छन्द—१३, रूप विधा और अलंकार—१४, रूप-विधा और शैली—१४, काव्य सृजन-प्रक्रिया में रूप-विधा का महत्त्व—१५।

३. काव्य-रूपों में परिवर्तन के कारण १८

४. काव्य-रूपों का विभाजन १६

संस्कृत के आचार्यों का मत—१६, आधुनिक आचार्यों द्वारा काव्य-रूपों का विभाजन और विवेचन—२४, पाश्चात्य विद्वानों के मत—३०।

५. प्रस्तुत प्रबन्ध में गृहीत विभाजन ३२

२

काव्य-रूपों की ऐतिहासिक रूपरेखा

१. प्रबन्ध-काव्य ३५

महाकाव्य—३६, खण्डकाव्य—३६, वर्णनात्मक प्रबन्ध—४०

२. मुक्तक ४०

दोहा-शैली—४१, कवित्त-सवैया-शैली—४२, गेय मुक्तक—४४, लोक-गीत—४४।

३. भारतेन्दु-युग में प्रयुक्त काव्य-रूप ४६

(क) परम्परा से गृहीत रूप-विधाएँ ४७

(ख) विदेशी, बंगला एवं उर्दू के प्रभाववश गृहीत विधाएँ व मौलिक प्रयोग ४६

(ग) लोक-साहित्य से गृहीत रूप-विधाएं ५५

४. सन् १६०० से पूर्व हिन्दी-साहित्य में उपलब्ध काव्य-रूपों की तालिका ५५

खण्ड १

प्रबन्ध या निबद्ध काव्य

प्रथम अध्याय

महाकाव्य

(पृष्ठ ५९—२०२)

१. **संस्कृत के आचार्यों की महाकाव्य-विषयक धारणा** ६०

विविध आचार्यों का लक्षण-निरूपण—६०, आचार्य कुन्तक का मत—६७, संस्कृत साहित्य-शास्त्र में प्रस्तुत महाकाव्य-सम्बन्धी लक्षणों का संक्षेपण—७२

२. **पाश्चात्य विद्वानों की महाकाव्य-विषयक मान्यताएँ** ७५

१. अरस्तू का मत—७५, यूरोपीय शास्त्रीय महाकाव्यों की अन्य विशेषताएँ—८०, महाकाव्य-सम्बन्धी अन्य यूरोपीय विद्वानों के मत—८२

३. **हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य** ९१

(क) लक्षणबद्ध प्रबन्ध ९१

(i) कथानक—९२, संघटना—९७, परिमाण और समग्र रूप—१००

(ii) शिल्प—सर्ग-विभाजन, नामकरण—१००, वर्णन-रूढ़ियाँ—१०१, छन्द-विधान, अलंकरण एवं अभिव्यंजना शैली—१०३

(iii) परम्परागत तत्त्व—१०७, अन्य प्रभाव—१०८, स्वतन्त्र एवं नवीन उद्भावनाएँ—१०९

(ख) अंशतः नवीन प्रयोग ११०

(i) कथानक—स्वरूप—१११, संघटना—११३, घटनाओं का स्वरूप—१२३ घटनाओं में गति, प्रवाह एवं वर्णन विस्तार—१२५, परिमाण और समग्र रूप—१२८

(ii) शिल्प—सर्ग-विभाजन, नामकरण, वर्णन-रूढ़ियाँ—१२९, छन्द-विधान—१३०, अलंकृति—१३२, शैली—१३७

(iii) परम्परागत तत्त्व—१४१, अन्य प्रभाव—१४२, स्वतन्त्र व नवीन उद्भावनाएँ—१४३

(ग) सर्वथा नवीन प्रयोग १४४

(i) कथानक—स्वरूप और संघटना—१४६, घटनाओं का स्वरूप—१६०, गति-प्रवाह—१६३, वर्णन-विस्तार—१६६, परिमाण एवं समग्र रूप—१७१

(ii) शिल्प—सर्ग-विभाजन—१७२, नामकरण, वर्णन-रूढ़ियाँ—१७३,

छन्द-विधान—१७४, अलंकरण—१७८, शैली—१८७
(iii) परम्परागत तत्त्व—२००, अन्य प्रभाव—२००, स्वतन्त्र एवं नवीन उद्भावनाएँ—२०१

द्वितीय अध्याय

खण्डकाव्य

(पृष्ठ २०३—२९३)

१. लक्षण—२०३, कथानक—२०४, शिल्प—सर्ग-विभाजन, छन्द-विधान—२०६, शैली सम्बन्धी अन्य वर्णन-रूढ़ियाँ—२०७, वर्ग-विभाजन—२०८

२. महाकाव्यात्मक खण्डकाव्य— २०८

(क) कथानक—२०९, वस्तु-विन्यास २०९, घटनाओं का स्वरूप—२११, वर्णनात्मकता—२१३, गति-प्रवाह—२१४

(ख) शिल्प—२१५, वर्णन-शैली—२१६, अलंकरण—२१९, छन्द-योजना—२२१

३. लघु प्रबन्धात्मक खण्डकाव्य— २२३

(क) सर्गबद्ध खण्डकाव्य— २२३

(i) वस्तुविन्यास—२२४, घटनाओं का स्वरूप—२२६, वर्णनात्मकता—२२७

(ii) शिल्प—सर्ग-विभाजन, नामकरण, वर्णन-शैली—२२८, अलंकृति, छन्द-विधान—२२९

(ख) सर्गविहीन खण्डकाव्य— २३०

(i) घटनाप्रधान खण्डकाव्य—२३१, वस्तुविन्यास—२३१

(ii) भाव या विचारप्रधान खण्डकाव्य—२३४, घटनाओं का स्वरूप—२३८ वर्णनात्मकता—२४२, गति-प्रवाह—२४३

(iii) शिल्प—२४६, वर्णन-शैली—२४६, अलंकृति—२५४, छन्द-योजना—२५५

४. खण्डकाव्य (नवीन प्रयोग)— २५९

(क) यशोधरा—२६१-२७३

(ख) विष्णुप्रिया—२७३-२८३

(ग) कुरुक्षेत्र—२८३-२९३

तृतीय अध्याय

लघु प्रबन्ध-काव्य

(पृष्ठ २९४—३२५)

लघु प्रबन्ध-काव्य—२९४, वर्ग-विभाजन—२९६

१. पद्यकथाएँ—२९६, वासवदत्ता—३०५, राम की शक्तिपूजा—३०९,

२. आख्यानक गीतियाँ— ३१४

३. पर्यायबन्ध— ३१७

४. पद्यात्मक-निबन्ध— ३२०

चतुर्थ अध्याय

काव्य-रूपक

(पृष्ठ ३२६—३८३)

१. काव्य-रूपक—३२६, वर्ग-विभाजन—३२७, अँग्रेज साहित्य में काव्य-रूपक—३२८

२. काव्य-नाटक या पद्यबद्ध नाटक— ३३०

(क) घटनाप्रधान नाटक—३३०, विशेषताएँ—३३२, करुणालय—३३३, अनघ—३३५, स्वर्णविहान—३३७, दिवोदास—३३९

(ख) विचारप्रधान काव्य-रूपक—३४५, विशेषताएँ—३४६, उन्मुक्त—३४७ संवर्त्त, महाकाल—३५०, रजतशिखर, शिल्पी, सौवर्ण—३५२

३. गीति-नाट्य—३५९, विशेषताएँ—३६३, तारा—३६४, विश्वामित्र, मत्स्यगन्धा, राधा—३६६

४. नाटकीय कविता— ३७०

(क) सम्भाषणात्मक कविता— ३७१

(ख) स्वगतकथनात्मक नाटकीय कविता— ३७४

खण्ड २

मुक्तक या अनिबद्ध-काव्य

पंचम अध्याय

स्फुट मुक्तक

(पृष्ठ ३८७—४४७)

१. विधा-विवेचन—३८७, वर्ग-विभाजन—३९२

२. वस्तुपरक या विषय-प्रधान मुक्तक— ३९२

३. आत्मपरक-मुक्तक— ४०४

(क) भावप्रधान मुक्तक—४०६

(ख) विचारप्रधान मुक्तक—४१३, उपदेशात्मक मुक्तक ४१३, आलोचनात्मक मुक्तक ४१६, विवेचनात्मक मुक्तक—४१८

४. अभिव्यंजना शैली—४३१, इतिवृत्तात्मक शैली—४३२, प्रगीतात्मक शैली—४३४, चमत्कारप्रधान शैली—४३६, विचारात्मक या विश्लेषणात्मक शैली—४३९, सूक्ति और अन्योक्ति शैली—४४०

५. अलंकरण-कला— ४४१

६. छन्द-विधान— ४४४

छठा अध्याय

संयुक्त मुक्तक

(पृष्ठ ४४८—६००)

१. विधा-विवेचन—४४८, विभाजन—४५२

२. वर्णनात्मक कविताएँ— ४५३

३. कथात्मक निबद्ध मुक्तक— ४६५

४. भावात्मक निबद्ध-मुक्तक—४६८, प्रगीत—४७१, प्रगीत के प्रकार—४७८

(क) सम्बोधन-गीति—४८४

(ख) शोक-गीति—४९५

(ग) पत्र-गीति—५०२

(घ) गीत—५०६, गीतों के प्रकार—५१०,

(ङ) आधुनिक युग में उपलब्ध गीत काव्य—५१२

५. सॉनेट— ५२९

६. बौद्धिक कविताएँ—५४०, छायावादोत्तर बौद्धिक कविता—५४८

७. पद्य-संवाद— ५५६

८. अभिव्यंजना-शैली—५६०, इतिवृत्तात्मक शैली—५६०, चमत्कारप्रधान वर्णन-शैली—५६३, गीति-शैली—५७६, बौद्धिक-शैली—५८३, नवीन प्रयोग-प्रधान अभिव्यंजना-शैली—५८६

९. अलंकार-योजना— ५८९

१०. छन्द-विधान— ५९३

उपसंहार

(पृष्ठ ६०१—६०७)

परिशिष्ट

(पृष्ठ ६०९—६११)

भूमिका

: १ :

सैद्धान्तिक विवेचन

रूप-विधा शब्द का अर्थ

रूप—साधारण जीवन में 'रूप' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में होता है, हम सभी उससे परिचित हैं। हमारी पंचेन्द्रियों के विभिन्न विषयों—रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गंध में से रूप हमारे चाक्षुष ज्ञान का विषय है। अतः रूप शब्द का सामान्य एवं व्यावहारिक अर्थ हुआ—किसी भी चेतन प्राणी अथवा जड़ पदार्थ का वह अंश जो हमारे नेत्रों का विषय हो सकता है; अर्थात् बाह्याकार।[1] इसके अतिरिक्त रूप शब्द का कोई अन्य अर्थ नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रसंग तथा प्रयोग के भेद से इस शब्द के अर्थ की परिधि में भी संकोच-विस्तार होता गया है, परन्तु उसका परीक्षण और विवेचन प्रस्तुत प्रसंग से असम्बद्ध होगा। हमारे विवेचन का सम्बन्ध काव्य की रूप-विधाओं से है, अतः दूसरा सहज प्रश्न है—काव्य के प्रसंग में रूप का क्या अर्थ होगा? काव्य-कृति के रूप से तात्पर्य उसके उस निश्चित आकार अथवा रूप-रेखा का है जिसके अन्तर्गत एक नियमित विधान अथवा पद्धति के अनुसार शब्दों के माध्यम से कवि की अनुभूति पाठक तक प्रेषणा पाती है। रूप-निर्माण की ये पद्धतियाँ विषय और आवश्यकता के अनुकूल भिन्न हो सकती हैं।[2]

प्रत्येक काव्य-कृति का एक निजी आकार होता है, उसका बाह्य ढाँचा होता है जो

---

1. "In general the external shape, appearance, configuration of an object in contradistinction to the matter of which it is composed.
Encyclopedia Britanica—Volume IX—Page 518.
2. "These thoughts and experiences which are put in different ways in different poems of the poet we call that particular way their 'Form' or 'Poetical form.'"
Form and style in poetry—W.P. KER—Page 97.

हमारे मनश्चक्षुओं के सम्मुख उसके नाम-मात्र से स्पष्ट हो जाता है, वही उसका रूप है।[1] उदाहरण के लिए 'कामायनी' संज्ञा हमारे सम्मुख जिस काव्य का चित्र प्रस्तुत करती है, ठीक वही चित्र निराला का 'तुलसीदास' नहीं प्रस्तुत कर पाता। दोनों में विषय का अन्तर पर्याप्त होते हुए भी साम्य है। दोनों में मनोविज्ञान को शब्द-बद्ध करने का सफल प्रयास है, परन्तु एक में सम्पूर्ण मानव-संस्कृति के विकास की कथा का अन्तर्भाव है, दूसरे में व्यक्ति-विशेष के जीवन की एक विशिष्ट घटना का मनोवैज्ञानिक अनुलेखन है। विषय की सीमा में विस्तार और संक्षेप ने आकार में भी अन्तर प्रस्तुत किया है। पहला विभिन्न छन्दों में अनेकसर्ग-बद्ध महाकाव्य है और दूसरा एक विशेष छन्द में रचित खण्डकाव्य, जिसका परिमाण एक शतक छन्दों में सीमित है; अतः दोनों में विषय-भेद के अनुरूप जिस बाह्याकार का भेद है, वही उनमें काव्यरूप-सम्बन्धी अन्तर प्रस्तुत करता है—ठीक उसी प्रकार जैसे व्यक्ति-व्यक्ति में भेद हम अनेक अन्य कारणों के साथ उनके बाह्य रूप द्वारा भी स्थापित करते हैं।

इसी प्रसंग में एक अन्य प्रश्न उपस्थित होता है—यदि किसी काव्य-कृति का काव्य-रूप ही उसका बाह्य दृष्टि से, अन्य काव्य-कृतियों से व्यावर्त्तन करता है, तो क्या शास्त्रीय दृष्टि से पारिभाषिक अर्थ में एक ही काव्य-रूप के अन्तर्गत आने वाले समस्त काव्यों में परस्पर कोई रूपभेद नहीं होगा ? कहना न होगा कि काव्य-रूपों में निश्चित नियमों का विधान हमारे मनीषी आचार्यों ने किया है, वह अपने समय की उपलब्ध सामग्री को प्रमाण मान कर। काव्य-रूपों की वे सीमाएँ अत्यन्त स्थूल तत्त्वों को लेकर निश्चित की गई थीं अतः समय के साथ उनमें अपवाद प्रस्तुत होते रहे। आधुनिक काव्य से ही उदाहरण लें तो 'कामायनी' और 'साकेत' दोनों इस युग के श्रेष्ठ महाकाव्य हैं, परन्तु विषय-भेद के साथ दोनों के काव्य-रूपों में भी भेद है। दोनों एक-दूसरे से भिन्न होकर भी महाकाव्य हैं, पर उसी परम्परागत अर्थ में नहीं, जिसका विधान हमारे काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में हुआ है। कारण स्पष्ट है—हर काव्य-रूप के निर्माण पर उसके विषय, रचयिता के व्यक्तित्व और सामयिक परिस्थितियों का समवेत प्रभाव पड़ता है और ये समस्त तत्त्व विषय से भिन्न, अभिव्यंजना-कला से भिन्न, उसके बाह्य आकार में भी सूक्ष्म अन्तर प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि स्थूल समानताओं के आधार पर दोनों महाकाव्य की कोटि में आने पर भी, सूक्ष्म अन्तर के कारण, एक-दूसरे से पृथक् हैं। जाति-गत साम्य होने पर भी दोनों में व्यक्तिगत भेद है। उनका अपना विशिष्ट काव्य-रूप उनमें अन्तर प्रस्तुत कर दोनों के पार्थक्य का विधान करता है और यही तत्त्व, जो विषय और अभिव्यंजना-कला से भिन्न, उनके बाह्य विधान में अन्तर की स्थापना करता है, उनका काव्य-रूप है।

रूप का यह अन्तर जिस प्रकार महाकाव्य जैसे बृहद् काव्य-रूप में दृष्टिगत होता है, उसी प्रकार मुक्तक के विभिन्न लघु रूपों में भी। विद्यापति, मीरा और सूर तीनों का काव्य

---

1. "The commonest meaning of 'form' in poetry is perhaps that of metrical pattern or frame."

Ibid—Page 95.

कृष्ण-लीला की मधुरिमा से रस-सिक्त है और गेय होने के कारण तीनों ने पद-शैली को अपनी अभिव्यंजना का माध्यम स्वीकार किया है; परन्तु मात्र बाह्याकार अर्थात् छन्दविधान की दृष्टि से भी इस कवि-त्रयी के पदों में परस्पर कितना वैषम्य है, यह तथ्य साहित्य-जगत् में अविदित नहीं। तीनों के पदों का एक-दूसरे से पृथक्, एक नितान्त निजी काव्य-रूप है, जो उनमें अनेक समानताओं के होते हुए भी वैषम्य की सृष्टि करता है।

छायावादी कवियों द्वारा अंगीकृत काव्य-रूपों में भी यह विशेषता यथावत् दिखायी पड़ेगी। यह कविता मुख्यतः व्यक्तिगत कविता है, अतः सभी कवियों के काव्य का मूल दृष्टि-कोण एक है। अपने अतिरिक्त बाह्य जगत् की बात कहने की चेष्टा उन्होंने कम की है और जहाँ ऐसा हुआ है, वहाँ उनकी कविता छायावाद की रेशमी जाली को हटाकर बाहर आ गई है। फिर भी महादेवी वर्मा, पन्त और निराला के उन गीतों में, जिनके मध्य छायावाद के प्राण स्पन्दित होते हैं, मूल चेतना एक होने पर भी काव्य-रूपों का भेद द्रष्टव्य है। एक ओर महादेवी चिरकाल से भारतीय लोक-जीवन के माधुर्य और राग-विराग को प्रतिध्वनित करने वाले लोक-गीतों के आकार को अपनी समृद्ध कला से रंजित करने में लीन रहीं, दूसरी ओर नूतनता के प्रेमी निराला ने अनेकानेक शास्त्रीय छन्द-रूपों को आवश्यकतानुसार बन्धन-मुक्त किया, विभिन्न छन्दों के योग से नूतन छन्द-निर्माण किया और क्रमशः अँगरेज़ी साहित्य के प्रभाव से अनेक नवीन काव्य-रूपों को भी आत्मसात् किया। लय की स्वच्छन्दता के साथ उनके छन्द भी यति और मात्रा के बन्धन को छोड़ स्वच्छन्द व उन्मुक्त हो उठे। हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग में काव्य-रूपों के नव-निर्माण में उनका यह कलात्मक व ऐतिहासिक महत्त्व सदा अक्षुण्ण रहेगा। पन्त यद्यपि रूढ़िवादी नहीं, पर नूतनता का आग्रह उनके काव्य में कभी सीमाहीन नहीं हो पाया। अँगरेज़ी साहित्य का प्रभाव उनकी कला और विषय-चयन पर तो है ही, उनके काव्य-रूपों पर उससे भी अधिक रहा है।

कहने का अभिप्राय है कि हर काव्य-कृति का अपना एक निश्चित काव्य-रूप होता है—वह शास्त्रानुमोदित नियमित विधान में आबद्ध हो, अथवा इन रूढ़ि-बन्धनों में परिवर्तन कर नूतन प्रयोग उपस्थित करे, उसमें लोक-जीवन में चली आती किसी सजीव परम्परा का पालन हो, अथवा वह रचयिता के व्यक्तित्व में बाह्य प्रभावों को ग्रहण करने की क्षमता तथा नव-निर्माण की क्षमता को प्रतिबिम्बित करे; चाहे वह महाकाव्य अथवा प्रबन्ध-काव्य जैसा कोई बृहद् काव्य-रूप हो, अथवा मुक्तक, प्रगीत काव्य-सा लघु गीति रूप हो—उसका एक निश्चित आकार अवश्य होगा। उसका काव्य-रूप ही वह तत्त्व है जो काव्य-सृजन में योगदान देने वाले विभिन्न तत्त्वों की तथा कवि के इन बिखरे अनुभव-खंडों की, जो उसकी कला का स्पर्श पा शब्द-रूप में अवतरित होते हैं—एकाग्रता में रक्षा करता है।

कला की सफलता साकार रूप धारण करने में है। रूप का महत्त्व कला के लिए असंदिग्ध है। रूप ही कला का वह बाह्य वस्तु-रूप है जो हमारी चेतना अथवा इन्द्रियज्ञान का विषय होता है, जिसके अभाव में कला की सत्ता असम्भव है।

विधा—रूप की ही भाँति 'विधा' शब्द के भी अनेक अर्थ होते हैं। स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त होने पर 'विधा' का अर्थ उस स्थल से भिन्न होगा, जहाँ उसका प्रयोग किसी संज्ञा के साथ

होता है। इसके साथ ही मूल संज्ञा के भेद से भी 'विधा' शब्द के अभिप्राय में अन्तर होता जाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में, काव्य के क्षेत्र में रूप संज्ञा के साथ प्रयुक्त 'विधा' शब्द विचारणीय है। काव्य में रूप-विधा का अर्थ है वह नियमित रीति अथवा पद्धति, जिसके अनुसार काव्य के बाह्याकार तथा रूपरेखा का निर्माण होता है। उदाहरण के लिए, महाकाव्य और गीति-काव्य दो भिन्न प्रकार के काव्य-रूप हैं—अपनी विषय-वस्तु को महाकाव्य का आकार देने के लिए रचयिता को एक निश्चित पद्धति का आश्रय लेना होगा। अधिक स्पष्ट शब्दों में वह अनेक सर्गबद्ध एक विशाल काव्य की रचना करेगा, जिसमें छन्दों का विस्तार और वैविध्य अपेक्षित होगा। विषय की गरिमा और अभिव्यंजना के कौशल के साथ उसमें आकार का विस्तार भी नितान्त आवश्यक है; परन्तु इस विस्तार की भी सीमा है, निश्चित रीति है। जहाँ एक ओर विस्ताराभाव में रचना विशेष महाकाव्य की श्रेणी में नहीं आ पाएगी, वहाँ दूसरी ओर अत्यधिक महत् आकार धारण करने पर वह पुराणों की कोटि में जा पड़ेगी। अतः एक विशेष काव्य-रूप के लिए एक रीति-विशिष्ट ही प्रयोग में लायी जाएगी और वही उसकी विधा है।

ठीक इसी प्रकार प्रबन्ध-काव्यों की रचना के लिए जो रीति प्रयुक्त होगी, मुक्तक काव्य-रूपों के लिए उससे सर्वथा भिन्न पद्धति का आश्रय लेना होगा। एक पद अथवा एक गीत विषय तथा शैली के साथ रूप की दृष्टि से भी अपने-आप में पूर्ण और स्वतन्त्र होगा। गेयात्मकता उनका गुण होने के कारण कवि को आकार के विस्तार और छन्द तथा मात्राओं की विविधता के स्थान पर लय और गति के माधुर्य के प्रति सजग रहना होगा। मुक्तक काव्य के इस रूप-विशेष में लय और गति का उचित नियमन प्रथम अनुबन्ध है। सरलता से वह संगीत-साधना का विषय बन सके, इस कारण वह बड़े एवं जटिल छन्दों से बचने का प्रयास करेगा, अधिक मात्राओं वाली पंक्तियों को भी यथासम्भव नहीं अपनायेगा; और यदि मुक्त छन्द का आश्रय लिया तो लय उसकी रचना-विधि का आवश्यक अंग बनकर रहेगी। कहने का अभिप्राय यह है कि उसे कोई न कोई निश्चित रीति अपनानी होगी।

समग्र रूप से ही नहीं, काव्य के इन दो भेदों के उपभेदों में भी, प्रत्येक के लिए एक-दूसरे से पृथक् विधा को स्वीकार करना होगा। महाकाव्य, प्रबन्ध-काव्य और खण्ड-काव्य की विधाएँ परस्पर भिन्न होंगी। साथ ही मुक्तक के विभिन्न रूपों—गीत, प्रगीत, पद तथा आधुनिक युग में एक ओर अँगरेज़ी साहित्य के प्रभाव से आने वाले विभिन्न काव्य-रूपों तथा दूसरी ओर हमारे अपने नवीनता के प्रेमी साहित्यकारों द्वारा किये गए नूतन प्रयोगों में—सभी की विधा एक-दूसरे से भिन्न होगी।

नवीन चेतना की प्रेरणा से साहित्य में नवीन काव्य-रूपों का प्रादुर्भाव होता है। हिन्दी का आधुनिक साहित्य इस कथन का पोषक प्रमाण है। इस युग का लेखक नवीन चेतना की अभिव्यक्ति के लिए एक ओर परम्परा से चली आती रूप-विधाओं का परस्पर एकीकरण करता है—उदाहरण के लिए, गीति-नाट्य की रूप-विधा में गीति और नाटक के तत्त्वों का समीकरण किया गया है। वस्तु-जगत् से विषय अपनाने के कारण कवि संवाद

के रूप में नाट्यतत्त्व का आश्रय लेता है, और पात्रों की आत्माभिव्यक्ति प्रधान होने के कारण कथोपकथन के माध्यम के रूप में गीति-शैली का प्रयोग करता है। नवीन चेतना का दूसरा प्रतिफलन काव्य-रचना के क्षेत्र में रूढ़ियों के विरोध और नये प्रयोगों के आविर्भाव के रूप में दृष्टिगत होता है। प्रयोगवादी कविता में काव्य-रूपों के आविष्कारकों के रूप में एक दल उन रूढ़ि-विरोधी लेखकों का है जिन्होंने साहित्य के क्षेत्र में हर परम्परागत बात के साथ काव्य-रूपों का भी विरोध किया है। नूतनता की सृष्टि इनके दृष्टिकोण का एक अनिवार्य आग्रह है। नयी बात को नये ढंग से नये रूप में प्रस्तुत करना, उनका मुख्य ध्येय है। हर काव्यांग में प्रयोग की नवीनता एकमात्र लक्ष्य है। अतः काव्य-रूपों के क्षेत्र में भी उन्होंने एक सर्वथा नवीन अध्याय प्रस्तुत किया। इन नवीन प्रयोगों के पीछे प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा का सम्बल नहीं, चिराचरित विधाओं का उनके साहित्य में तिरस्कार है; परन्तु फिर भी उनकी कोई निश्चित रीति नहीं, यह कहना अन्याय होगा। रूढ़ि से भिन्न सर्वथा नूतन प्रयोग करने की लालसा ही उनके काव्य-रूपों की निर्मात्री विधा है। हर बात को ऐसे काव्य-रूपों में अभिव्यक्त करना, जिनका ग्रहण उनसे पूर्व कभी न हुआ हो—यही वह विधा या रीति है जिसे वे अपनाते हैं।

रीति का अभिप्राय स्पष्ट कर देना अप्रासंगिक न होगा। 'रीति' शब्द का प्रयोग यहाँ लक्षण-ग्रन्थों में उपलब्ध काव्यांग-विवेचन के लिए नहीं किया गया, और न ही सम्प्रदाय-विशेष में—'विशिष्ट पद-रचना' के अर्थ में प्रयुक्त 'रीति' शब्द से इसका कोई सम्बन्ध है। विधा के अर्थ में उपर्युक्त प्रसंग में रीति शब्द का प्रयोग व्यापक एवं सामान्य अर्थ में ही किया गया है। इस शब्द का प्रयोग हमारे रीतिकालीन आचार्यों और कवियों ने प्रकार-प्रणाली के अर्थ में किया है, और जैसा कि डा० नगेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'रीति-काव्य की भूमिका' में स्पष्ट किया है, इस अर्थ में यह शब्द रीतिकाल के उत्तरकाल में सर्वसाधारण में स्वीकृत था। क्रमशः इसका प्रयोग शुक्लजी तक आते-आते निश्चित और व्यवस्थित हो गया और शुक्लजी ने ऐसे ग्रन्थों के साथ जिनमें विभिन्न काव्यांगों की रीति का कथन हो, उन ग्रन्थों को भी रीतिकाल के अन्तर्गत परिगणित किया जिनमें "रीति-कथन तो नहीं है, परन्तु रीति-बन्धन निश्चित रूप से है।"[1] इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में रीति शब्द का सहज सम्बन्ध एक काल-विशेष के काव्य-विशेष के साथ सामान्यतः स्थापित हो गया। अतः विधा के अर्थ में रीति शब्द का प्रयोग शुक्लजी के द्वारा प्रदत्त विशिष्ट अर्थ में भी नहीं किया गया है। विधा के अर्थ में रीति से हमारा अभिप्राय उस प्रणाली अथवा प्रद्धति से है जिसके अनुसार किसी काव्य का बाह्य रूप निर्माण किया जाता है। यह पद्धति लक्षण-ग्रन्थों के विधान के अनुकूल हो सकती है, उसमें एक विशिष्ट काव्य-रूप को न अपनाकर दो विभिन्न रूपों के मिश्रण से एक नये रूप का निर्माण हो सकता है, अथवा इन सबसे भिन्न वह विषय, रचयिता के व्यक्तित्व, रचना-काल और समकालीन परिस्थितियों के प्रभाव से सर्वथा नव-निर्मित रूप हो सकता है; परन्तु वह सफल तभी होगा जब उसके पीछे किसी प्रकार के तर्क का आधार हो, उसकी कोई

१. रीति-काव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र; प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण; पृष्ठ १२१

निश्चित प्रणाली हो। ऐसा कोई भी प्रयोग सर्वथा अनर्गल नहीं हो सकता। काव्य-सृजन भावना, कल्पना एवं बुद्धि की मिश्र प्रक्रिया का परिणाम होता है; परन्तु काव्य को अनुकूल रूप देने में बुद्धि-तत्त्व विशेष सक्रिय रहता है और बुद्धि विवेक का आधार ग्रहण करके ही सक्रिय होती है। स्वभावतः प्रत्येक काव्य-रूप के पीछे एक विवेकसम्मत प्रणाली का आधार होता है, वह रचयिता की स्व-आविष्कृत प्रणाली हो, शास्त्रविहित पद्धति हो, अथवा विषय और परिस्थिति के वैशिष्ट्य के कारण गृहीत विधा-विशेष हो।

विधा के विभिन्न अर्थों में एक अर्थ, जो उपर्युक्त अर्थ के पर्याप्त निकट एवं काव्य-रूप के सम्बन्ध में समीचीन भी जान पड़ता है, वह है प्रकार अथवा भेद। काव्य-रूप के साथ इस अर्थ में विधा के प्रयोग से अभिप्राय हुआ, काव्य-रूपों के विभिन्न प्रकार अथवा भेद। काव्य के क्षेत्र में रूप-संज्ञा के साथ यद्यपि विधा शब्द का यह अर्थ सर्वथा अग्राह्य तथा प्रसंग से असम्बद्ध नहीं है, परन्तु साथ ही एक अन्य प्रश्न सामने आता है कि क्या 'भेद अथवा पद्धति या प्रणाली'—इन दो अर्थों में से एक के ग्रहण तथा दूसरे के त्याग से प्रस्तुत प्रसंग में कोई उल्लेखनीय अन्तर या औचित्य आयेगा ?

इस प्रश्न का उत्तर होगा कि इन दोनों ही अर्थों में स्थूल रूप से अन्तर भासित होने पर भी यदि सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन किया जाये, तो कोई विरोध अथवा असंगति नहीं मिलेगी। वस्तुतः काव्य-रूपों के प्रकार का भेद उनकी पद्धति-प्रणाली के भेद पर ही आधृत होगा। काव्य-रूपों के विभिन्न प्रकारों व भेदों के स्वरूप-निर्माण के लिए स्वभावतः विभिन्न पद्धतियों अथवा प्रणालियों का आश्रय ग्रहण करना होगा, और रूप-विशेष के निर्माण में प्रयुक्त प्रणाली के विवेचन-विश्लेषण की सीमा-रेखाओं के अन्तर्गत रूप के प्रकार का विवेचन स्वतः आ जाएगा। किसी काव्य-रूप की रचना के लिए गृहीत प्रणाली का परीक्षण करने से पूर्व उस रूप के प्रकार-विशेष का निरीक्षण-परीक्षण अनिवार्य ही होगा।

ठीक इसी प्रकार किसी काव्य-रूप के प्रकार अथवा भेद के विवेचन का अर्थ मात्र उसके बाह्य रूप का परीक्षण नहीं होगा, उस रूप की निर्मात्री विधा और उस विधा-विशेष के ग्रहण में प्रेरक तत्त्वों का निर्धारण, उसकी व्याख्या के लिए अपेक्षित ही होगा। रूप-प्रकार का विवेचन करने के साथ यदि आलोचक यह निर्देश नहीं कर पाता कि उसके पीछे परम्परा या शास्त्र का सम्बल है अथवा परिस्थिति का—जिसके अन्तर्गत व्यक्तिगत, विषयगत एवं युगीन, हर प्रकार की विशेषताओं का परिगणन किया जाएगा, तो उसका विवेचन व्यावहारिक दृष्टि से अधूरा होगा। दूसरी ओर सैद्धान्तिक दृष्टि से बाह्य रूप-प्रकार के विवेचन के अन्तर्गत इनका विवेचन यद्यपि परिहार्य नहीं है, परन्तु साथ ही अनिवार्य भी नहीं। व्यवहार में ऐसा करना उसके लिए श्लाघ्य होगा। आलोचना-सम्बन्धी एक पूर्णता उसके विवेचन में आ जाएगी, परन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से वह ऐसा करने को बाध्य नहीं। रूप-भेद अथवा रूप-प्रकार के विवेचन का अर्थ, उस रूप-विशेष की निर्मात्री विधा का भी अनिवार्यतः विवेचन कदापि नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, 'यशोधरा' का काव्य-रूप एक ऐसा प्रकार-विशेष है जिसके निर्माण में विभिन्न काव्य-शैलियों का सम्मिश्रण किया गया है। यदि रूप-विधा का अर्थ रूप-प्रकार अथवा रूप-भेद किया जाए, तो आलोच्य कर्म की इति केवल

उसमें प्रयुक्त विभिन्न शैलियों की ओर निर्देश कर अधिकाधिक अपने कथन की पुष्टि में उन शैलियों के तत्त्व-विश्लेषण पर ही हो सकती है—उससे आगे बढ़कर उस प्रकार के ग्रहण करने में प्रेरक तत्त्व तथा उसका औचित्य-निर्णय उसी व्यक्ति का उत्तरदायित्व होगा जो काव्य-रूप के प्रकार के साथ उस प्रकार-विशेष की निर्मात्री पद्धति पर भी अपनी लेखनी उठायेगा।

अतः निष्कर्ष-रूप में, पूर्व-विवेचित दोनों अर्थों में यद्यपि कोई सूक्ष्म एवं तात्त्विक अन्तर नहीं है, परन्तु साथ ही प्रथम की सीमा-रेखाओं के अन्तर्गत जहाँ दूसरा अर्थ स्वतः प्रकारान्तर से अन्तर्भूत है, वहाँ दूसरे अर्थ में प्रथम का समावेश व्यवहार की दृष्टि से स्पृहणीय भले हो, परन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से अनिवार्य नहीं। इसलिए परिधि की व्यापकता और प्रसंग से अधिक सम्बद्ध होने के कारण प्रथम, अर्थात् पद्धति-प्रणाली वाले, अर्थ का ग्रहण ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। प्रस्तुत निबन्ध में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया जाएगा। कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य की रूप-विधा का अर्थ काव्य-विशेष के बाह्याकार-निर्माण में परिचालित पद्धति अथवा प्रणाली है। इसी अर्थ को स्वीकार कर आधुनिक हिन्दी-काव्य में गृहीत विभिन्न रूप-विधाओं का अध्ययन और विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा।

काव्यसृजन-प्रक्रिया

सम्पूर्ण कलाओं का उद्भव सहजानुभूति अथवा कल्पना की प्रक्रिया के क्षणों में होता है। परन्तु यह सहजानुभूति अथवा कल्पना निश्चय ही सहज ज्ञान से भिन्न होती है और केवल उन क्षणों में पूर्णतः वर्तमान रहती है जब कलाकार सजग हो वस्तुरूप में उसकी प्रस्तुति का प्रयास करता है। कल्पना अथवा सहजानुभूति की यह प्रक्रिया अपने प्रकृत रूप में मन की एकाग्रता अथवा तनाव की स्थिति है। काव्यसृजन-प्रक्रिया का पूर्वांश इस कल्पना को अपने यथावत् रूप में रक्षित रखना है और उत्तरांश है उसे शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त करना। शब्द साधारणतः (गद्य में) मानसिक स्थिति का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं, परन्तु काव्यसृजन-प्रक्रिया में, कवि की उस विशिष्ट मानसिक उत्तेजना की स्थिति के पर्यायवाची शब्दों का उसके चेतन मन में एक सर्वथा भिन्न वस्तु-रूप में उन्मेष होता है। इन शब्दों का आनुक्रमिक अथवा लयात्मक विधान कर उसकी स्थिति उस क्षण तक अक्षुण्ण रहती है जब तक कवि की यह मानसिक उत्तेजना श्रान्त हो जाए अथवा अपनी वस्तुरूप अभिव्यक्ति पाकर वह उससे मुक्त हो जाए।[1]

---

1. All art originates in an act of intution or vision but such intution or vision must be identified with knowledge, being fully present only when consciously objectified. This act of vision or intution is physically, a state of concentration or tension in the mind. The process of poetry consists firstly in maintaining this vision in its integrity, and secondly in expressing this vision in words. Words are generally (in prose) the

कवि अपने और अपने विषय के मध्य एक सम्बन्ध स्थिर करता है (जिसका अपने-आप में स्वतन्त्र रूप में ज्ञान सम्भव नहीं), तदुपरान्त वह उस सम्बन्ध-विशेष के प्रति अपनी भावना को भाषा में रूपान्तरित कर उस सम्बन्ध का, उस सत्य का, अभिज्ञान कर ज्ञातव्य बना लेता है।[1]

एक कलाकृति, कलाकार के किसी अमूल्य अनुभव के प्रसार का माध्यम है, और यह विस्तार मात्र मानसिक, आत्मिक तथा अनुभूति की सीमा तक ही नहीं रहता, बल्कि स्थूल वस्तुरूप में अभिव्यक्ति का विषय बन जाता है। कलाकार का अनुभव अपनी आत्मिक विशिष्टता की रक्षा करते हुए भी किसी न किसी रूप में अवतरित हो साकार हो जाता है। वस्तुगत सत्ता के कारण यह दूसरे के द्वारा भी प्राप्य हो जाता है। सहृदय प्रमाता स्वयं को शारीरिक और मानसिक दोनों रूपों में उस कलाकृति में संलग्न कर उसी अनुभव में प्रवेश पा सकता है जिसे कलाकार ने कृति में मूर्तिमंत किया है। अतः कला के लिए कवि, कविता और पाठक का त्रिकोण एक अविभाज्य अपेक्षित एकाई है। काव्य का वस्तुरूप वह केन्द्र है जिसके द्वारा तीनों के मध्य एक सम्बन्ध स्थापित होता है और इस पारस्परिक सम्बन्ध-स्थापना के क्षणों में कवि और पाठक की क्षणिक अनुभूति में, तथा काव्यसृजन-प्रक्रिया तथा काव्य-पाठन प्रतिक्रिया में एक साम्य होना सहज है। कलाकार का अनुभूत सत्य उसकी कृति में अभिव्यक्त होता है। आत्मानुभूतियों को वस्तु-रूप देकर उन्हें मूर्तिमान कर वह अपने प्रति, अपने और जगत् के स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करता है—यह अन्वेषण अपने-आप में महत्तम है, क्योंकि इसका विस्तार अपने से भिन्न अन्य व्यक्तियों तक है।

कवि मात्र एक सूक्ष्म प्रेक्षक नहीं होता, बल्कि वह संवेदनशील तथा सृजन-सामर्थ्य से सम्पन्न होता है, और उसकी यह क्षमता उसे वस्तुओं के अन्तरतम में प्रवेश करने की अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है। वस्तुओं के सत्त्व, चेतना, आकार तथा उनकी आन्तरिक प्रकृति आदि का स्पष्ट रूप में परिज्ञान ही कला की आत्मा है। इस सूक्ष्म दृष्टि के साथ सहानुभूतिपूर्ण समीकरण की सामर्थ्य भी काव्य-रचना के लिए अनिवार्य है। किसी वस्तुरूप पदार्थ, सहज घटना अथवा विचार को काव्य-रूप देने में हमारी स्मरण-शक्ति का भी विशिष्ट

---

analysis of a mental state. But in the process of poetic composition words rise into the conscious mind as isolated objective things with a definite equivalence in the poet's state of mental intensity. They are arranged or composed in a sequence or rhythm which is sustained until the mental state of tension in the poet is exhausted or released by this objective equivalence.

Forms in Modern Poetry by Herbert Read, 1948—edition, P. 45.

1. The poet having established a particular relation between himself and something else (unknownable in itself) dicovers and makes known to himself that relation, that reality, by transmitting into language his feeling for that relation.

Ibid—Page 234.

महत्त्व है। हमारी स्मृति विभिन्न आकृतियों को केवल संचित ही नहीं रखती, बल्कि वह उन्हें स्थिर रूप देती है, उनमें एकरूपता का संचार करती है, उनमें विशाल परिवर्तन उपस्थित करती है, उनका अपूर्व तथा कभी-कभी अद्वितीय रूप में आकार निर्माण करती है। उपर्युक्त सत्य हमारे साधारण अनुभव एवं काव्य-सृजन दोनों ही से सहज सिद्ध है।

काव्य-रचना मात्र शिल्पात्मक सिद्धि से कहीं अधिक है; यह किसी प्रकार का आश्रित प्रतिबिम्ब नहीं है, विशेष प्रकार के अनुभवों के स्पष्टीकरण की आकांक्षा से प्रेरित केवल यान्त्रिक प्रत्युत्तर भी नहीं है। कवि की चेतना का प्रत्येक रूप सृजनात्मक एवं स्वतःपूर्ण होता है। उसकी बोध-वृत्ति, उसकी स्मृति, उसकी भावना, किसी अनुभूति-विषयक घटना की उसके द्वारा प्राथमिक-पकड़ अपने-आप में पूर्ण है, मात्र अर्थ-बोध अथवा कल्पना का कार्य नहीं है।

काव्यसृजन-प्रक्रिया का आरम्भ बोध से होता है, यह विचार एवं कल्पना की अपेक्षा भावना का विषय है। ज्ञान एवं बुद्धिमत्ता का महत्त्व इस अनुभव का परिष्कार करने एवं समृद्ध बनाने में है, परन्तु प्रक्रिया-विशेष में इनका कार्य क्षुद्र है। कविता का उन्मेष किसी ऐसे उद्योग से नहीं हो सकता जो एकान्त बौद्धिक हो। यह प्रक्रिया अपने-आप में एक मिश्र प्रक्रिया है जिसमें कवि की चेतना के विभिन्न अंश अनुभूति, कल्पना, स्मृति एवं बुद्धि—सभी सक्रिय हो उठते हैं। सम्पूर्ण प्रक्रिया के विभिन्न अवयवों के लिए यह निश्चित रूप से कहना असम्भव है कि एक अंश-विशेष चेतना के किस रूप-विशेष की सक्रियता का परिणाम है। इस प्रकार का कोई सूक्ष्म व्यावर्तन अपने-आप में असम्भव है। परन्तु, स्थूल रूप से यह निर्देश करना असम्भव न होगा कि स्थिति-विशेष में कवि की चेतना का कौन-सा अंग अधिक सक्रिय होता है। वह आरम्भ से इति तक क्रमशः बोध से अनुभूति, अनुभूति से कल्पना, कल्पना से विवेक-युक्त विचार-विश्लेषण—तथा अन्त में समग्र रूप से अभिव्यक्ति की ओर बढ़ता है। कविता के किसी भी विषय का रूप—चाहे वह वस्तु अथवा घटना-जैसा स्थूल हो अथवा विचार और अनुभूति-जैसा सूक्ष्म—सर्वप्रथम कवि की मनसा के सम्मुख बोधगम्य होकर प्रत्यक्ष होना अनिवार्य है। तदुपरान्त कवि उसका भावन करके उसे निजी अनुभूति का विषय बना लेता है। कोई भी काव्य-विषय कवि की अनुभूति का विषय हुए बिना ही कविता के रूप में सफल अभिव्यक्ति पा जाए, यह असंभव है। कविता के लिए विचार अथवा दर्शन व चिन्तन जैसे सूक्ष्म एवं नीरस विषय भी कवि की स्वानुभूति का विषय बने बिना सरस अभिव्यक्ति का कारण नहीं हो सकते—और सरसता काव्य का प्रथम अनुबन्ध है।

अनुभूति का विषय होने के पश्चात् कवि का कल्पना-कोष, विषय को रूप-रंग देकर शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त करने में सहयोग देता है। कवि की अभिव्यंजना की समृद्धि और वैभव उसकी कल्पना की समृद्धि एवं प्रसार की कसौटी है। काव्य का कलापक्ष बहुत अंशों में कल्पना के वैभव पर निर्भर है। कल्पना का यही ऐश्वर्य और रंगीनी छायावादी काव्य की मसृण और नानारंगिणी कला के लिए उत्तरदायी है। कल्पना की असीमता ने विषय की ससीमता को पीछे छोड़ दिया और इन कवियों की निर्मित परिधि में बद्ध विषय भी नाना रूप-रंगों में बिखर गए।

परन्तु किसी भी क्षेत्र में सीमाहीन होना दुस्साहस के अन्तर्गत परिगणित किया जाएगा और कविता इसका अपवाद नहीं। काव्य-सृजन में कल्पना का सर्वथा सीमाहीन हो विचरण करना भी श्लाघ्य नहीं हो सकता। उसके लिए वाणी का विषय बन पाने से पूर्व विवेक और बुद्धि के अंकुश द्वारा नियमन अनिवार्य है। कल्पना का कुरुचिमय हो जाना भी असम्भव नहीं, अतः प्रतिभा के उद्दाम वेग को समाहित करने के लिए अभीष्ट शक्ति का सद्भाव चेतना का बुद्धि-तत्त्व ही करता है। बुद्धि की उपस्थिति में कल्पना एवं प्रतिभा का संयम-मुक्त होकर प्रवाहित होना सम्भव नहीं, और यहीं हमारे आचार्यों द्वारा प्रणीत काव्य-कारणों का उपयोग परिलक्षित होता है—

शक्तिर्निपुणतालोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥१३॥

परन्तु उपर्युक्त तीनों कारणों के होने पर भी उनमें व्यवस्था को जन्म देने वाले तत्त्व विवेक, और संयम को जन्म देने वाले तत्त्व मनन का सद्भाव अपेक्षित है। अभिव्यक्ति से पूर्व बुद्धि-तत्त्व उसे विवेकसम्मत रूप देता है। इसके साथ ही एक अन्य कार्य भी, जो अभिव्यंजना का एक अंग-मात्र है, बुद्धि इन्हीं क्षणों में सम्पन्न करती है, और वह है विषय के अनुरूप रूप-विधा की खोज करके, अभिव्यंजना-कौशल के द्वारा उसी विशिष्ट रूपरेखा में विषय को आबद्ध करना।

कहने का तात्पर्य यह नहीं कि रूप-विधा का अन्वेषण और निर्धारण शुद्ध बौद्धिक प्रक्रिया है। जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है, सम्पूर्ण काव्यसृजन-प्रक्रिया एक मिश्र प्रक्रिया है, एक अंश-विशेष में चेतना के तत्त्व-विशेष के सक्रिय होने का अभिप्राय केवल उन क्षणों में उस तत्त्व का प्रधान होना है—और रूपविधा-निर्धारण के क्षणों में कवि की विवेकयुक्त बुद्धि अधिक सक्रिय रहती है।

हमने अब तक यह स्पष्ट किया कि रूप-विधा का सम्बन्ध काव्य के बाह्य रूप और उसकी निर्मात्री विधा से है। संक्षेप में यह जान लेना भी उचित होगा कि काव्य-शरीर के वाहक अन्य तत्त्वों—भाषा, छन्द, अलंकार, शैली आदि से रूप-विधा का क्या सम्बन्ध है।

रूप-विधा और भाषा

भाषा काव्य का ही नहीं, सम्पूर्ण वाङ्मय और हमारे भाव व विचारों के नित्य-प्रति व्यावहारिक आदान-प्रदान का माध्यम है। प्राणि-मात्र के अन्तरंग की वाचिक अभिव्यक्ति के लिए भाषा का साधन अपेक्षित है। जीवन में जिस प्रकार हम विषय और प्रसंगानुसार भाषा का प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार साहित्य का माध्यम बनकर उसके विविधांगों की भाषा एक-दूसरे से भिन्न हो जाती है, अतः विषयानुकूल भाषा का चयन और प्रयोग साहित्यिक भाषा की पहली विशेषता है। यह भाषा जब काव्य की वाहिनी होती है तो उसे छन्दों में बाँधकर उसमें सर्वत्र लय और गति के संगीत, और कहीं-कहीं स्वर के संगीत का विधान भी किया जाता है। मुक्तक काव्य में भाषा का यही विशिष्ट छन्दोबद्ध रूप किसी विशेष अनुभव-खण्ड का काव्य-रूप है। इस प्रकार के अनेक अनुभव-खण्डों का

क्रमबद्ध आयोजन या किसी महत् और विराट् अनुभूति के लिए जब ऐसे अनेक छन्दाकारों का समीकरण कर उन्हें किसी निश्चित विधि से कवि सँजो देता है, तो बृहद् काव्य-रूपों का विधान होता है। इस प्रकार काव्य-रूप में भाषा का वही स्थान है जो वास्तुकला में ईंट और पत्थर का, तथा चित्रकला में रेखा और तूलिका का। भाषा काव्य-रूप का अनिवार्य माध्यम है जिसके बिना काव्य-रूप का निर्माण सम्भव नहीं, परन्तु भाषा काव्य-रूप का पर्याय नहीं। किसी भी कला के मूर्त्त आधार की भाँति भाषा काव्य-कला का मूर्त्त आधार है—वह अनगढ़ आधार, जिसमें मनस्तत्त्व के योग से कवि अनेकानेक रूप-आकृतियों का निर्माण करता है। संयोजनाएँ उसकी अपनी होती हैं; इन्हीं योजनाओं में ढली, सजी-सँवरी भाषा काव्य का रूप है। परन्तु भाषा को काव्य-रूप की स्थिति तक पहुँचाने के मार्ग में उसका अनेक बार पुनर्विधान अनिवार्य है और कवि का कौशल इस प्रक्रिया के लिए अपेक्षित है। रेखा सब खींच सकते हैं, परन्तु चित्र सभी नहीं बना सकते; उसी प्रकार भाषा के व्यवहार से सभी परिचित हैं, परन्तु काव्यरूप-निर्माण में सब समर्थ नहीं। उसके लिए विशेष कलाक्षमता अनिवार्य है, अतः भाषा और काव्य-रूप में वही अन्तर है जो सामान्य रेखा और चित्र की रूपरेखा में।

रूप-विधा और छन्द

छन्द काव्य का बाह्याकार है और उसका अनिवार्य लक्षण, अतः काव्य-रूप और छन्दोमय रूप में अभिन्नता की भ्रांति हो सकती है; परन्तु काव्य-रूप उसका छन्दोबद्ध रूप ही नहीं, उससे कुछ अधिक है। काव्य-रूप और छन्द में अंग और अंगी का सम्बन्ध है। काव्य-शरीर में छन्दों की स्थिति अंग-प्रत्यंग के समान और काव्य-रूप की स्थिति इन विभिन्न अंगों के संस्थान, परस्पर निश्चित विधि से निबंधन के समान है। काव्य-रूप से हमारा अभिप्राय काव्य-विशेष के समग्र बाह्याकार से है जिसका निर्माण कवि की किसी विशिष्ट अनुभूति के व्यंजक अनेक छन्दों के किसी विशेष रूप में आयोजन से होता है। छन्द कविता का बाह्य शरीर है, परन्तु इस छन्दोमय रूप को कवि जिस रूप में गुम्फित करता है, उसी से काव्य-रूप का निर्णय होता है। छन्दों को कवि अपनी अनुभूति की काव्यमय अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है, फिर कविता के वाहक इन छन्दों का, वह अपने विषय के अनुकूल एक ढाँचे में, आकार में, विन्यास करता है और यह सम्पूर्ण आकार काव्य-रूप कहलाता है। यदि छन्द को हम काव्य-रूप मान लें तो एक ही छन्द में रचित प्रबन्ध और मुक्तक काव्य में कोई भेद नहीं रहेगा; परन्तु यह अनुभव से सिद्ध है कि दोनों के विषय, प्रभाव, आकार—सभी में छन्द एक होने पर भी अन्तर बना रहेगा। वास्तव में छन्द काव्य का लक्षण है, अतः उसका अंग है, समग्र रूप नहीं।

छंद का काव्य-रूप के अंग की स्थिति में काव्य-शरीर में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। जितना महत्त्व शरीर में अंग-संस्थान, उनकी गठन और उनके अनुपात का है, उससे कम अंग-प्रत्यंग के सौंदर्य और रूप का नहीं। यदि शरीरांग कुरूप या बेडौल होंगे, तो कितनी भी सचेष्ट व सानुपात योजना समग्र रूप में सौंदर्यविधायिनी नहीं हो सकती। प्रबन्ध में तो कुछ

सीमा तक काव्य-रूप का समवेत प्रभाव छन्दों की आंशिक अनुपयुक्तता को आवृत करने में समर्थ हो सकता है, परन्तु प्रकीर्ण काव्य या लघु काव्य-रूपों का प्राण-तत्त्व ही उनका छन्द-विधान है। मुक्तक कविता का काव्य-रूप उसका छन्द ही है, अतः वहाँ विषयानुरूप रूप-विधान में कवि को और भी अधिक सतर्क रहना पड़ता है। छन्दों की इसी महत्ता को दृष्टि में रखते हुए हमने विवेच्य साहित्य के छन्द-विधान का भी यथाप्रसंग अध्ययन करने का प्रयत्न किया है। छंद को भाषा की अपेक्षा महत्ता इसलिए अधिक दी गई है कि यद्यपि दोनों ही काव्य के माध्यम हैं, दोनों का सम्बन्ध काव्य-शरीर से है, परन्तु छन्द का सम्बन्ध कविता से अधिक घनिष्ठ है। भाषा भाव-मात्र की वाहिनी है, केवल कविता की नहीं। यहाँ उसकी विशेषता काव्योपयोगी होने में ही है। भाषा, कविता या काव्य-रूप का वाहन है, लक्षण या व्यावर्त्तक धर्म नहीं। छन्द का सम्बन्ध अपेक्षाकृत घनिष्ठ और स्थिति काव्य-रूप में अंग-समान है।

रूप-विधा और अलंकार

अलंकार का सम्बन्ध सौंदर्य के प्रसाधन से है और काव्य-रूप का सम्बन्ध काव्य-शरीर से। अतः जो सम्बन्ध शरीर और आभूषणों में होता है, वही काव्य-रूप और अलंकारों में है। वे उसके अनिवार्य नहीं अतिरिक्त अंग हैं, जिनका स्वरूप आरोपित और कार्य सौंदर्य-वर्द्धन है; अतः काव्य-रूप और अलंकारों में ऐक्य का तो प्रश्न ही नहीं उठता, उनकी स्थिति काव्य-रूप के लिए नितान्त अनिवार्य भी नहीं। बाह्य सज्जा और अलंकरण के अभाव में भी काव्य-रूप में अनावृत और नैसर्गिक सौंदर्य का विधान सम्भव है; परन्तु अलंकार काव्य-रूप के साधक अन्य तत्त्वों के साथ मिलकर सौन्दर्य की अतिरिक्त साधना के हेतु होते हैं। इसी कारण हमने विषय का अध्ययन करते समय काव्य-रूप के साथ रूप-सज्जा के साधक उपकरण अलंकारों का भी संक्षेप में अन्तर्भाव कर लिया है। रूप-विधान के साथ अलंकरण-विधि का भी इस रूप में समावेश है।

शैली और रूप-विधा

अभिव्यंजना के तत्त्व—भाषा, छन्द, अलंकार—और रूप-विधा का पारस्परिक सम्बन्ध और अन्तर स्पष्ट हो जाने के उपरान्त काव्य-विशेष की शैली और रूप-विधा का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट करना अप्रासंगिक न होगा। अभिव्यंजना का अर्थ कला का वह समस्त बाह्य पक्ष होता है जिसके माध्यम से कोई आन्तरिक भाव, विचार अथवा अनुभूति अभिव्यक्ति पाती है। जब हम किसी काव्य की शैली का निर्देश करते हैं, तब शैली के अन्तर्गत उस विशिष्ट रचना-पद्धति के भाव एवं कला, अन्तर एवं बाह्य, दोनों पक्ष अन्तर्भूत हो जाते हैं। अर्थात् शैली का साधारण अर्थ हुआ रचना-पद्धति, और शैली-विशेष का अर्थ हुआ विशिष्ट रचना-पद्धति, जिसमें एक विशेष प्रकार की अनुभूति और अभिव्यंजना का समावेश हो। उदाहरण के लिए, जब हम किसी काव्य के लिए कहते हैं कि वह काव्य-विशेष गीति-शैली में रचित है; तब हमारा अभिप्राय केवल उसके अभिव्यंजना-पक्ष से नहीं होता, बल्कि

कहने का तात्पर्य यह होता है कि उसकी रचना में उन समस्त तत्त्वों का समावेश है जो गीति-काव्य के लिए आवश्यक हैं—अर्थात्, उसमें गीत की भावना और अभिव्यंजना दोनों पक्षों का विधान है।

रूप-विधा का सम्बन्ध शैली के अभिव्यंजना-पक्ष से ही होता है। किसी शैली का केवल उतना पक्ष रूप-विधा के अन्तर्गत आता है जहाँ कोई भाव-विशेष तदनुकूल काव्यरूप-विशेष के माध्यम से अभिव्यक्त होता है, और रूप-विधान की विशिष्ट प्रणाली उसकी रूप-विधा है। गीति-शैली का सम्बन्ध जहाँ भाव की एकाग्रता, आत्मपरक अभिव्यक्ति, अनुभूति की प्रबलता, कल्पना-वैभव और स्वतःपूर्ण आकार के मध्य उसकी अभिव्यक्ति—सभी से होता है, वहाँ रूप-विधा का सम्बन्ध केवल उस रूपगठन की प्रणाली से, उस बाह्याकार की एकसूत्रता से है जो इन विभिन्न अवयवों को समग्र रूप में बाँधकर एक ढाँचे में प्रस्तुत करती है। भाव के साथ अनुकूलता इस सम्बन्ध में उसके लिए आवश्यक है, परन्तु भाव उसका अंश नहीं।

काव्यसृजन-प्रक्रिया में रूप-विधा का महत्त्व

जैसा पहले भी कहा जा चुका है, काव्यसृजन-प्रक्रिया एक मिश्र प्रक्रिया है और इस मिश्र प्रक्रिया के फलस्वरूप उद्भूत काव्य के समवेत रूप में संश्लिष्ट विभिन्न अंग-उपांगों को एक-दूसरे से पृथक् कर उनका विशिष्ट महत्त्व-निर्देश करना सर्वथा असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। जिस प्रकार सम्पूर्ण प्रक्रिया में रचयिता की सृजन-शक्ति के विभिन्न अंग—भावना, कल्पना एवं बुद्धि—परस्पर इतने घुले-मिले होते हैं कि उनमें से यह निर्देश कर पाना कि अमुक अंश अधिक महत्त्वपूर्ण है अथवा काव्य-कृति का अंश-विशेष एक प्रक्रिया-विशेष का परिणाम है, एक दुष्कर कार्य है; ठीक इसी प्रकार काव्य-कृति की विषयवस्तु, उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम रूप-आकार, एवं इस विषयवस्तु को उपयुक्त माध्यम द्वारा अभिव्यक्ति देने वाली उसकी अभिव्यंजना-कला—तीनों तत्त्व परस्पर इतने सम्बद्ध हैं कि उनका स्वतन्त्र महत्त्व-निर्देश कर सकना कठिन है।

रूप-विधान का प्रश्न जहाँ तक है, वास्तव में साहित्य की विभिन्न रूप-विधाओं का पारस्परिक अन्तर सतही विशेषताओं का नहीं, किसी भी अंश में आकार का नहीं, मात्र अभिव्यंजना-प्रकार का भी नहीं; यह अन्तर आत्मा का, सत्त्व का अन्तर होता है। उदाहरण के के लिए, गद्य और पद्य साहित्य की दो भिन्न शैलियाँ हैं। इसी प्रकार महाकाव्य और गीति-काव्य, काव्य की दो भिन्न रूप-विधाएँ हैं। इनका पारस्परिक अन्तर केवल इनके पृष्ठ भाग का, आकार का अन्तर नहीं। इनकी मूल आत्मा, इनके विषय, इनका मूल तत्त्व परस्पर भिन्न होगा। रूप-विधा का ग्रहण विषय के, काव्य की मूल आत्मा के, अनुरूप होगा। किसी भी वस्तु की सरल एवं सहज अभिव्यक्ति अपने-आप में श्लाघ्य है; परन्तु किसी ऐसे भाव अथवा विचार की अभिव्यंजना, जो संश्लिष्ट एवं गम्भीर है, यदि सीधे सरल माध्यम से की जाएगी, तो बहुत अंशों में उसका सहज आकार आन्तरिक गाम्भीर्य को आवृत कर लेगा। वस्तु-तत्त्व की जटिलता, रूप-विधा की जटिलता का ही एक उचित कारण है। सारांश में रूप-विधा काव्य के वस्तु-तत्त्व से सर्वथा असम्पृक्त एवं स्वतन्त्र हो सके, यह सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि काव्य का आन्तर और बाह्य दोनों एक अविभाज्य एकाई हैं; परन्तु इससे यह आशय नहीं कि किसी भी काव्य-कृति के रूपाकार का महत्त्व उसके वस्तु-तत्त्व की अपेक्षा न्यून होता है। कारण स्पष्ट है—रूप-आकार से विहीन कला का अस्तित्व ही असम्भव है। दूसरे शब्दों में, आकार ही कला है; क्योंकि कला की अभिव्यक्ति एक ऐसे माध्यम द्वारा ही सम्भव है जो वस्तु-रूप हो, साकार हो और जिसका अभिज्ञान हमारी ऐन्द्रिय चेतना के द्वारा सम्भव हो सके।

रूप-आकार का यह महत्त्व कला के हर क्षेत्र में यथावत् द्रष्टव्य है। मूर्तिकला अथवा चित्रकला से ही यदि आरम्भ करें तो जहाँ उनकी रूपरेखा को अनुप्राणित करने वाली कलाकार की सजग-सरस-चैतन्य आत्मा के अभाव में ये प्रस्तर-प्रतिमाएँ केवल प्रस्तर ही रह जाएँगीं, चित्रों के रूप-रंग का वैभव निर्जीव हो बिखर जाएगा, वहाँ कलाकार की सचेत कल्पना, अनुभूति और सरस भावना समस्त प्रसाधनों से युक्त होकर भी यदि उपयुक्त रूप-आकार में निबद्ध न हो पायी, तो वह उसकी आत्मा का विषय होगी, जगत् के आकर्षण का विषय नहीं। कला की सार्थकता इसी में है कि वह अभिव्यक्ति का विषय बन सके, कलाकार स्वानुभूत आनन्द का समभोक्ता सहृदय प्राणि-मात्र को बना सके; और यह तभी सम्भव है जब कला की आत्मा स्वानुरूप रूप-आकार में आबद्ध होकर अभिव्यक्त हो जाए।

प्रतिमा अथवा चित्र की ही भाँति कविता भी वह बाह्य तत्त्व है जो एक आन्तरिक अनुभूति का प्रेषण करती है; तथापि आन्तर और बाह्य के इस ऐक्य का सम्बन्ध नित्य है। कला रूप-आकार द्वारा प्रकाशित आत्मा का विषय है, जिसमें कलाकार अपने माध्यम द्वारा आकांक्षित हर स्थिति में आत्म-समर्पण करता जाता है।

चित्र, मूर्ति अथवा कविता—जो भी हो, यह वह माध्यम है, जिसके द्वारा कलाकार के संदेश का संसार के मध्य प्रवहण होता है। अतः कला के बाह्यांश का महत्त्व इस क्षेत्र में प्राथमिक है; क्योंकि कवि के लिए मात्र यही विचारणीय नहीं है कि काव्य के अर्थ का ध्वनन एवं प्रतीति किस रूप में होगी, बल्कि यह भी है कि अभिव्यक्ति के उपरान्त वह अपने प्रतिपाद्य को, अपनी अनुभूति को, यथार्थतः कितने अंशों में पाठक तक पहुँचा सका। पाठक, पृष्ठों पर अंकित शब्द-संकेतों को देखकर एक सहज स्वाभाविक सम्बन्ध-स्थापिका शक्ति के द्वारा अपने मस्तिष्क में कतिपय ऐसे शब्दों और ध्वनियों का स्मरण करता है, जिन्हें एक आकार में व्यवस्थित रूप दिया गया है और ये शब्द एवं वह आकार, जिसमें इनका क्रमानुसार नियोजन किया गया है, अविलम्ब नियत अभिप्रायों का संकेत करते हैं, और क्रमशः जैसे वह एक पृष्ठ के उपरान्त दूसरे पर आगे बढ़ता जाता है, उसे ज्ञात होता है कि इनका नियोजन एक निश्चित विधानानुसार हुआ है—और यह विधान, चाहे इसका प्रकार कुछ भी हो, मानव-अनुभव की एक निश्चित स्थिति को प्रतिबिम्बित करता है।

काव्य-कृति के विभिन्न अवयव और कृति की निर्मात्री प्रक्रिया, यद्यपि दोनों ही संश्लिष्ट होते हैं, तथापि उसके विभिन्न अंगों के महत्त्व का निर्णय एवं विवेचना की सरलता के निमित्त सम्पूर्ण काव्य-कृति का एक अत्यन्त स्थूल विभाजन सम्भव है। हर कला-कृति में उसके दो पक्ष सर्वथा स्पष्ट होते हैं—अनुभूति अथवा उसका भाव-पक्ष, एवं अभिव्यंजना

अथवा कला-पक्ष। हर कला-कृति के ये दोनों पक्ष यद्यपि अन्योन्याश्रित तथा एक-दूसरे से इतने सम्बद्ध हैं कि एक के अभाव में दूसरे की स्थिति असम्भव है, परन्तु साथ ही विश्लेषण के निमित्त वे एक होते हुए भी विभाज्य हैं।

अब प्रश्न है कि काव्य-कृति की रूप-विधा का स्थान इन उभय पक्षों में से कहाँ होगा, एवं उसका काव्य-सृजन में क्या महत्त्व है? निश्चय ही रूप-विधा का निर्माण, भाव अथवा विषयानुकूल होने पर भी उसका परिगणन काव्य के भाव तथा वस्तु-पक्ष के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त कथन में दो मत होने की सम्भावना नहीं, अतः आगामी सहज प्रश्न है कि अभिव्यंजना अथवा कला-पक्ष में रूप-विधा का क्या स्थान है?

अभिव्यंजना के विभिन्न तत्त्वों के अन्तर्गत काव्य की भाषा, अलंकार, छन्द, रीति, वृत्ति, गुण के अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व ऐसा है जिसका पृथक् महत्त्व-निर्देश हमारे साहित्य-शास्त्र में अत्यल्प है; परन्तु वही तत्त्व अभिव्यंजना के इन पृथक् अवयवों को एकत्र कर एकसूत्रता प्रदान करता है और कहने की आवश्यकता नहीं, वह तत्त्व काव्य का रूप-विधान है। अभिव्यंजना के ये सभी तत्त्व हर काव्य-कृति में सहज उपलब्ध होते हैं, परन्तु इन विभिन्न तत्त्वों का संयोजन प्रत्येक काव्य-कृति में एक भिन्न प्रणाली से किया जाता है और इस प्रणाली का ग्रहण प्रायः काव्य के प्रतिपाद्य के अनुरूप होता है।

उदाहरण के लिए, रामकाव्य-परम्परा के दो प्रमुख ग्रन्थ 'रामचरितमानस' और 'साकेत' के बाह्याकार में जो महत् अन्तर दृष्टिगत होता है, उसका कारण यदि लेखकों का प्रतिपाद्य कहा जाये, तो अनुचित न होगा। दोनों में अभिव्यंजना के सभी अवयव वर्तमान हैं; परन्तु उनका नियोजन दो ऐसी भिन्न प्रणालियों से हुआ है, जिनके मूल में रचयिताओं के उद्देश्य सक्रिय हैं। मानस के कवि का उद्देश्य प्राणि-मात्र का हर दृष्टि से (धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक) उत्थान है, अतः उसने साहित्य की लपेट में सम्पूर्ण युग-चेतना को आत्मसात् कर लिया और परिणामस्वरूप महत् उद्देश्य की अभिव्यक्ति महत् आकार के माध्यम से हुई है; परन्तु इससे भिन्न 'साकेत' के कवि का उद्देश्य निपट साहित्यिक है। धर्म, समाज, संस्कृति यहाँ साहित्य के मार्ग में आड़े नहीं आये हैं और जीवन के रसमय पक्ष का अंकन, निश्चय ही उद्देश्य की एकांगिता के कारण आकार की वही विशदता नहीं धारण कर पाया। अभिप्राय यह नहीं कि गुप्तजी ने युग और समाज को सर्वथा भुला दिया। मानव-सम्बन्धों के चित्रांकन में समर्थ उनकी लेखनी और युग-चेता कलाकार की दृष्टि के लिए यह असम्भव है; पर साथ ही यह उनका मूल उद्देश्य नहीं। रामकथा के वर्णन में उनके और तुलसी के उद्देश्य को एक ही स्तर पर रखना अन्याय होगा और ऐसी आवश्यकता भी नहीं—लेखक ने कहीं इस प्रकार का दावा भी नहीं किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि अभिव्यंजना के भिन्न अवयवों को परस्पर एक निश्चित प्रणाली के अनुरूप आबद्ध करने का कार्य अभिव्यंजना-कला का वह तत्त्व करता है, जिसे काव्य की रूप-विधा कहा जाता है और इस विधा का ग्रहण काव्य के प्रतिपाद्य के, उसके मूल भाव एवं विषय-वस्तु के अनुरूप होता है।

बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए नित्य जीवन से उदाहरण लें तो मानव-शरीर परम शक्ति की वह कलाकृति है जिसका आत्म-तत्त्व अथवा भाव-पक्ष उसके अन्तर का प्राण है—

जिसके बिना सत्ता सम्भव नहीं। रक्त-मांस से निर्मित बाह्य शरीर वह अभिव्यंजना-कला है—जिसके माध्यम से वह आत्म-तत्त्व अभिव्यक्ति का विषय बन नाना रूपरंगों से रंजित हो प्रकट होता है। परन्तु इस अभिव्यंजना-कला का एक ऐसा तत्त्व, जिसके बिना विभिन्न अवयवों की रूप-आकृति का सुदृढ़ आकार में सम्बद्ध रहना असम्भव है, उसको रूप-रेखा प्रदान करने वाला अस्थिपिंजर है। आत्मतत्त्व के बिना इस अस्थिपिंजर में प्राणों का स्पन्दन नहीं मिलेगा। अपने-आप में सर्वथा स्पष्ट होने पर भी चैतन्य का संचार नहीं होगा। अभिव्यंजना के कौशल और रंगीनी के बिना वह आकर्षक प्रतीत नहीं होगा, परन्तु साथ ही बिना रूप-आकृति की सुदृढ़ता के इन समस्त अन्य तत्त्वों की कल्पना असम्भव है—परन्तु अस्थिपिंजर मानव का स्थानापन्न नहीं हो सकता।

ठीक यही स्थिति काव्य-कृति में रूप-विधा की है। वह सम्पूर्ण अभिव्यंजना-कला का स्थानापन्न नहीं हो सकती; अभिव्यंजना के विभिन्न अवयवों को अन्विति व एकसूत्रता देने के माध्यम-स्वरूप उसका अंग-मात्र है और उसका ग्रहण बहुत-कुछ काव्य के अन्य अंगों पर (मुख्यतः प्रतिपाद्य पर) निर्भर है। रूप-विधा का अन्य अंगों—भाव और अभिव्यंजना के अन्य तत्त्वों के साथ एक अनुकूल और सहज संतुलन अपेक्षित है; अन्यथा यदि रूप-विधा का ग्रहण काव्य की विषयवस्तु और अभिव्यंजना के अनुकूल नहीं हुआ, तो सम्पूर्ण काव्य में प्रभाव-सम्बन्धी एक असंगति आ जायेगी। भाव की महानता, अभिव्यंजना के वैभव और समृद्धि के अनुकूल आकार में भी महानता अपेक्षित होगी। प्रतिपाद्य विषय का विस्तार और संकोच रूप-विधा में भी विस्तार और संकोच प्रस्तुत करेगा। ठीक इसी प्रकार काव्य के रूप-सम्बन्धी विस्तार, महत्ता अथवा जटिलता के लिए भाव की कृशता और अभिव्यंजना की असमर्थता उत्तरदायी नहीं हो सकती। निष्कर्ष रूप में रूप-विधा का ग्रहण काव्य के प्रतिपाद्य के अनुकूल होगा।

काव्य-रूपों में परिवर्तन के कारण

काव्य-रूप और विषय या प्रेरक चित्तवृत्ति के इस अभिन्न सम्बन्ध के कारण ही सम्भवतः पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य का विभाजन रूप-विधान के अनुसार करने के स्थान पर कवि के दृष्टिकोण और उसकी मनोवृत्ति के अनुसार—विषयीप्रधान, विषयप्रधान आदि भेदों में किया है। कवि की चित्तवृत्ति पर निर्भर होने के कारण ही काव्य के अनेक भेद और एक विशिष्ट भेद के अनेक रूप दृष्टिगत होते हैं, क्योंकि हर कृतिकार की मनोवृत्ति, अतः उसका कृतित्व दूसरे से भिन्न होता है। काव्य-रूप प्रत्यक्ष रूप से कवि की चित्तवृत्ति को प्रभावित करने वाले कारणों पर निर्भर होते हैं। अन्य कारणों से हमारा अभिप्राय सामाजिक व राजनैतिक परिस्थितियाँ तथा वातावरण, कवि के व्यक्तिगत संस्कार और जीवन के प्रति दृष्टिकोण, रचना के अवसर, अन्य साहित्य से संपर्क और उसके प्रभाव और इन सबसे निर्मित उसकी भीतरी प्रेरणा, अन्तश्चेतना, अनुभूति, उसका विस्तार और स्वरूप सभी से है। उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं; काव्य के मर्मज्ञ इस तथ्य से अभिज्ञ हैं और काव्य-रूपों का इतिहास इस कथन का साक्षी है कि काव्य-रूपों में निरन्तर और उत्तरोत्तर होनेवाले परिवर्तनों में किसी-न-किसी रूप में उक्त कारणों का प्रभाव रहा है। प्रत्यक्ष रूप से काव्य-रूपों में होनेवाले परिवर्तनों का सम्बन्ध पूर्व-कथित कारणों

में केवल अन्य साहित्य के सम्पर्क से जोड़ा जा सकता है, शेष का प्रभाव कवि की मनोवृत्ति पर और मनोवृत्ति का प्रभाव काव्य के रूप-विधान पर पड़ता है।

काव्य-रूपों का विभाजन

संस्कृत के आचार्यों का मत

संस्कृत काव्य-शास्त्र में सभी आचार्यों ने बन्ध की दृष्टि से काव्य का विभाजन और विवेचन नहीं किया। जिन काव्य-रूपों का उल्लेख किया गया है, उनमें से भी महाकाव्य के अतिरिक्त किसी काव्य-रूप का सर्वांग विवेचन संस्कृत काव्य-शास्त्र में नहीं मिलता। अतः हम यहाँ संक्षेप में उन सभी विधाओं का उल्लेख करेंगे, जिनको इन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में किसी भी रूप में स्थान दिया है। इन विधाओं के विस्तृत लक्षण तथा उपलब्ध विवेचन का अध्ययन यथा-प्रसंग तत्सम्बन्धित अध्यायों में किया जायेगा। इस प्रसंग में इन काव्य-रूपों का उल्लेख केवल इसलिए किया जा रहा है कि हमें इस बात का ज्ञान हो जाये कि रूप-विधाओं की दृष्टि से हिन्दी का आधुनिक काव्य प्राचीन परम्परा का कहाँ तक उपजीवी है और बन्ध की दृष्टि से आधुनिक काव्य में प्राचीन विभाजन किस सीमा तक मान्य हो सकता है।

काव्य-शास्त्र के रचयिता विद्वानों की परम्परा संस्कृत-साहित्य में बहुत लम्बी है; परन्तु हमारा प्रयोजन उन्हीं ग्रन्थों से है जिनमें काव्य-रूपों के विषय में रूप-विधान की दृष्टि से कुछ लिखा गया, अथवा रूप के आधार पर उनका विभाजन किया गया। इस दृष्टि से उल्लेखनीय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नांकित हैं—

'अग्निपुराण', भामह का 'काव्यालंकार', दंडी का 'काव्यादर्श', वामन का 'अलंकारसूत्र', रुद्रट का 'काव्यालंकार', आनन्दवर्द्धन का 'ध्वन्यालोक', कुन्तक का 'वक्रोक्तिजीवितम्', राजशेखर की 'काव्यमीमांसा', मम्मट का 'काव्यप्रकाश' और विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण'।

इनके अतिरिक्त अन्य काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों में या तो इन्हीं आचार्यों द्वारा किये गए विभाजन या विवेचन का शब्द-भेद से पुनराख्यान किया गया है, अथवा किसी विशिष्ट काव्य-रूप पर विचार किया गया है—सभी काव्य-रूपों पर नहीं; अतः विस्तार-भय से सभी विद्वानों के मत का उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

संस्कृत काव्य-शास्त्र में इन्द्रियों की ग्राहकता के आधार पर काव्य अर्थात् साहित्य के दो भेद किये गए—दृश्य और श्रव्य। शैली के आधार पर श्रव्य का पुनः कहीं गद्य और पद्य दो में और कहीं गद्य, पद्य एवं मिश्र—तीन भेदों में विभाजन किया गया।[1] इस विभाजन में हमारा

१. (क) शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तदद्विधा।
—काव्यालंकार (भामह) पृ० २; प्रथम परिच्छेद; चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस; सं० १९८५
(ख) गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।
पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ॥१।११॥
—काव्यादर्श (दण्डी), पृ० १४; चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी; १९५८
(ग) काव्यं गद्यं पद्यं च।१-३-२१
—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (वामन), पृ० ५५; आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली; १९५४

सम्बन्ध केवल पद्य और मिश्र शैली के काव्य-रूपों से है। पद्य-शैली में उपलब्ध काव्य-रूपों का विभाजन, निबद्ध और अनिबद्ध, दो मुख्य भेदों व तदुपरान्त अनेक उपभेदों में किया गया है।[1] इस विभाजन में एक विशेषता है—निबद्ध और अनिबद्ध काव्य के विभिन्न प्रकारों का विभाजन नहीं, आचार्यों ने परिगणन कराया है। ये भेद निबद्ध अथवा अनिबद्ध के हैं, यह

(घ) श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ॥३१३॥

—साहित्यदर्पण (विश्वनाथ), पृ० २२४

(ङ) काव्यं प्रेक्ष्यं श्रव्यं च ॥१॥

—काव्यानुशासन (हेमचन्द्र); पृ० ४३२, रसिकलाल पारीख, सं० १९३८, प्रथम संस्करण

१. (क) सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
अनिबद्धं च काव्यादि तत्पुनः पंचधोच्यते ॥
अनिबद्धं पुनर्गाथाश्लोकमात्रादि तत्पुनः।
युक्तं वक्त्रस्वभावोक्त्या.....॥

—काव्यालंकार (भामह), पृ० ४

(ख) मुक्तकं कुलकं कोशः संघात इति तादृशः।
सर्गबन्धांगरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः ॥१।१३॥ पृ० १५
गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते ॥१।३१॥

—काव्यादर्श (दण्डी), पृ० २९

(ग) पद्यमनेकभेदम् ।१-३-२६।
पद्यं खल्वनेकेन समार्धसमविषमादिना भेदेन भिन्नं भवति ॥२६॥ पृ० ५७
तदिदं गद्यपद्यरूपं काव्यमनिबद्धं निबद्धं च। अनयोः प्रसिद्धत्वाल्लक्षणं नोक्तम् ॥२७॥

—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (वामन), सं० डा० नगेन्द्र, पृष्ठ ५९

(घ) यतः काव्यस्य प्रभेदा मुक्तकं संस्कृतप्राकृतापभ्रंशनिबद्धं, सन्दानितक - विशेषक —कलापक— कुलकानि, पर्यायबन्धः, परिकथा, खण्डकथासकलकथे, सर्गबन्धो,अभिनेयार्थं, आख्यायिकाकथे, इत्येवमादयः।

—ध्वन्यालोक; सं० डा० नगेन्द्र; पृ० २४८; गौतम बुकडिपो, दिल्ली; १९५२

(ङ) मुक्तकप्रबन्धविषयत्वेन। तावपि प्रत्येकं पञ्चधा। शुद्धः, चित्रः, कथोत्थः, संविधानकभूः, आख्यानकवांश्च। तत्र मुक्तेतिवृत्तः शुद्धः। स एव सप्रपञ्चश्चित्रः। वृत्तेतिवृत्तः कथोत्थः। सम्भावितैतिवृत्तः संविधानकभूः। परिकल्पितैतिवृत्तः आख्यानकवान्।

—काव्यमीमांसा (राजशेखर), नवम् अध्याय, पृ० ११४; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

(च) छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।
द्वाभ्यां तु युग्मकं संदानितकं त्रिभिरिष्यते ॥६।३१४॥
कलापकं चतुर्भिश्च पंचभिः कुलकं मतम्।
सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥६।३१५॥
.....
खंडकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।
कोषः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः ॥६।३२९॥

—साहित्यदर्पण (विश्वनाथ)

निर्णय हम उनके लक्षण-निरूपण के आधार पर करते हैं। शीर्षकों के अन्तर्गत व्यवस्थित विभाजन बहुत कम किया गया है। पद्य की ही नहीं, गद्य और पद्य दोनों शैलियों की विधाओं का एक साथ उल्लेख प्रायः सभी आचार्यों ने कर दिया। आचार्य विश्वनाथ के विवेचन में अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्था है। संस्कृत के आचार्यों ने प्रबन्ध-काव्य में महाकाव्य, एकार्थकाव्य, खण्डकाव्य, पर्यायबन्ध और चम्पूकाव्य का उल्लेख किया। मुक्तक के स्फुट रूप के साथ दो, तीन, चार छन्दों के संयुक्त मुक्तकों का संख्या के आधार पर तथा संकलन के आधार पर भी अलग-अलग नामकरण किया गया। मुक्तक के गेय या प्रगीत रूप का स्पष्ट उल्लेख तो इन आचार्यों ने नहीं किया, किन्तु आचार्य भामह ने रीति-विवेचन के "वैदर्भगौड़ीयोर्भेदः" प्रसंग में इस विधा की ओर संकेत अवश्य किया है। उक्त प्रसग में वैदर्भ और गौड़ीय के तथाकथित भेद को मिथ्या प्रमाणित कर दोनों के बीच भेद-स्थापना का कारण बुद्धिहीनता बताते हुए वैदर्भी की विशेषताओं का उल्लेख करते हैं—

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ॥१।३४॥[1]

अर्थात्, 'जिसमे अर्थ अपुष्ट हो, वक्रोक्ति का अभाव हो, प्रसाद गुण हो, सरल और कोमल हो, वह वैदर्भ होता है। वह गेय (गीत) की भांति भिन्न होता है, केवल सुनने में सुन्दर होता है।'

स्पष्ट है कि 'काव्यालंकार' की रचना के समय गेय काव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व अवश्य था। सम्भावना है कि उसका महत्त्व शास्त्रीय विवेचन में स्थान पाने योग्य न रहा हो, परन्तु इस विशेष काव्य-रूप में गेयता के अतिरिक्त कुछ ऐसी विशेषताओं का उल्लेख किया गया है जो अन्य काव्य-रूपों से विशिष्ट, परवर्ती गीति-शैली के निकट तथा इस विधा के नित्य गुण हैं—वक्रोक्ति का अभाव, प्रसाद गुण का सद्भाव, सारल्य और कोमलता—जो कि वैदर्भी के गुण हैं और यही वैदर्भी गेय की भाँति भिन्न—अर्थात् औरों से विशिष्ट होती है और यह गेय काव्य केवल सुनने में सुन्दर होता है। यहाँ गेय-काव्य में श्रुति-सौन्दर्य के कैवल्य का निर्देश कर उसका पृथक् अस्तित्व घोषित किया गया है। यदि गेय का साधारण अर्थ—जिसे गाया जा सके, अथवा

भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुत्थितम्।
एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितम् ॥६।३२८॥
यथा—भिक्षाटनम्, आर्याविलासश्च।
गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।
—साहित्यदर्पण; पृ० २२४-२२७। मोतीलाल बनारसीदास, १९५६

(छ) श्रव्यं महाकाव्यमाख्यायिका कथा चम्पूरनिबद्धं च ॥५॥ पृ० ४४९
अनिबद्धं मुक्तकादि ॥१०॥
एकद्वित्रिचतुश्छन्दोभिर्मुक्तक—संदानितक—विशेषक—कलापकानि ॥११॥
पंचादिभिश्चतुर्दशान्तैः कुलकम् ॥१२॥
स्वपरकृतमुक्तिसमुच्चयः कोषः ॥१३॥
—काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), पृ० ४६५-४६६; चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

१. काव्यालंकार (भामह), पृ० ४

जो गाने के योग्य हो, लिया जाए तो काव्य की अन्य रूप-विधाओं के मध्य भी ऐसे अंश सहज उपलब्ध हो जायँगे जिनमें गेय श्रुति-सौन्दर्य के साथ अर्थ-गाम्भीर्य भी हो; अतः यहाँ उक्त गेय काव्य निश्चय ही कोई ऐसी रूप-विधा है जो अन्य से भिन्न तथा केवल सुनने में सुन्दर है। निश्चय ही इसका रूप विशेष गम्भीर नहीं रहा होगा, अन्यथा इस काव्य-रूप की ओर अन्य विद्वानों का ध्यान जाना स्वाभाविक था।

काव्य-रूपों के विवेचन के सम्बन्ध में संस्कृत के आचार्यों में एक प्रवृत्ति निरपवाद रूप से सर्वत्र मिलती है। सभी आचार्यों ने मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध को, और प्रबन्ध में महाकाव्य को, सर्वाधिक महत्त्व दिया है। मुक्तक विधाओं का उल्लेख-भर किया गया है; और प्रबन्धों में भी विस्तृत विवेचन केवल महाकाव्य का ही उपलब्ध है। कहीं-कहीं तो स्पष्टतया तुलनात्मक दृष्टि से मुक्तक की महत्त्वहीनता घोषित कर उसे विवेचन का अनधिकारी ठहराया गया है। आचार्य दण्डी ने अपने काव्य-विभाजन में मुक्तक के विभिन्न रूपों को महाकाव्य का अवयव-मात्र मानकर उनके विवेचन न करने के कारण की घोषणा की। वामन ने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया। उन्होंने भी मुक्तक को महाकाव्य या प्रबन्ध-काव्य का अवयव-मात्र माना है, उसका स्वतन्त्र. महत्त्व स्वीकार नहीं किया। दोनों काव्य-रूपों का महत्त्व-निर्धारण उन्होंने निम्नलिखित उदाहरण देकर किया—

क्रमसिद्धिस्तयोः स्रगुत्तंसवत्। १-३-२८

.....अनिबद्धसिद्धौ निबद्धसिद्धिः। यथा स्रजि मालायां सिद्धायां, उत्तंसः शेखरः सिद्ध्यतीति ॥२८॥[1]

"माला और मौर (शेखर) के समान उन दोनों (अनिबद्ध और निबद्ध काव्यों) की सिद्धि क्रमशः होती है। अनिबद्ध (मुक्तक) की सिद्धि हो जाने पर निबद्ध (प्रबन्ध-काव्य) की सिद्धि होती है। माला और मौर के समान। जैसे स्रक् अर्थात् माला के बन जाने पर (उससे ही) उत्तंस अर्थात् मौर (मुकुट, शेखर) बन जाता है।

इस कथन से पाठक को एक क्षण के लिए इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि कदाचित् रचयिता का मुख्य लक्ष्य मुक्तक की रचना है और तदुपरान्त प्रबन्ध-रचना एक गौण उपलब्धि के रूप में उसका श्रेय हो जाती है। परन्तु उन्होंने अगली पंक्तियों में अपना अभिप्राय स्पष्ट कर शंका का अवकाश ही नहीं दिया। स्वतःपूर्ण मुक्तक के विषय में उन्होंने कहा—

केचिदनिबद्धा एव पर्यवसितास्तद्दूषणार्थमाह—

नानिबद्धं चकास्त्येकतेजः परमाणुवत् ॥१-३-२९

न खल्वनिबद्धं काव्यं चकास्ति, दीप्यते। यथैकतेजः परमाणुरिति। अत्र श्लोकः—

असंकलितरूपाणां काव्यानां नास्ति चारुता।

न प्रत्येकं प्रकाशन्ते तेजसाः परमाणवः ॥२९॥

अर्थात्—

"कुछ (काव्य) मुक्तकों (की रचना) में ही समाप्त हो जाते हैं।" उनका दोष दिख-

---

१. भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा : सं० डा० नगेन्द्र, पृ० ८३

लाने के लिए कहते हैं—

"अग्नि के अकेले परमाणु के समान मुक्तक अकेला शोभित नहीं होता है।" (१-३-२९)

"जैसे अग्नि का एक परमाणु नहीं चमकता है, इसी प्रकार अनिबद्ध (मुक्तक) काव्य प्रकाशित नहीं होता है।" इसी विषय में यह निम्न श्लोक है—

"असंकलित (मुक्तक) काव्यों में चारुता नहीं आती। जैसे अग्नि के अलग परमाणु नहीं चमकते हैं (मिलकर ही चमकते हैं), इसी प्रकार प्रबन्ध-काव्य ही शोभित होते हैं, मुक्तक उतने शोभित नहीं होते।" (२९)[1]

अतः अग्नि और उसके पृथक् परमाणुओं का दृष्टान्त देकर आचार्य ने इस तथ्य का पुनः-पुनः स्पष्टीकरण किया है कि मुक्तक काव्य केवल साधन है, साध्य नहीं। वह उसी प्रकार प्रबन्ध का अवयव है जिस प्रकार अग्नि का एक परमाणु उसका अंश होता है; वह सम्पूर्ण अग्नि के समान कदापि शोभित नहीं हो सकता, साथ ही इस प्रकार के अनेक परमाणु अग्नि के प्रज्ज्वलन के साधन-मात्र होते हैं। ठीक इसी प्रकार मुक्तक-रूप विभिन्न अंशों के संयोग से प्रबन्ध-काव्य की रचना सम्भव होती है—उसी प्रकार जैसे मौर के निर्माण के लिए साधन, माला का निर्माण पहले आवश्यक है। वामन के अनुसार मुक्तक की रचना, रचयिता के लिए प्रबन्ध-रचना की सिद्धि का साधनमात्र होगी। चरम साध्य अथवा लक्ष्य प्रबन्ध-काव्य रचना ही है। यदि इस उपलब्धि के पूर्व ही मुक्तक-रचना स्वतःपूर्ण अथवा स्वतःसिद्ध होकर कवि की चरम सिद्धि या प्राप्य बन गई तो उसमें चारुत्व अथवा शोभा की प्राप्ति, उसी प्रकार नहीं होगी जैसे अग्नि के अभाव में उसकी निर्मिति का एक अंश—अकेला परमाणु—दैदीप्यमान नहीं होता। आचार्य कुन्तक ने भी प्रबन्ध को महाकवियों का कीर्तिकन्द अर्थात् उनके यश का मूल आधार माना है—

प्रबन्धेषु कवीन्द्राणां कीर्त्तिकन्देषु किं पुनः।

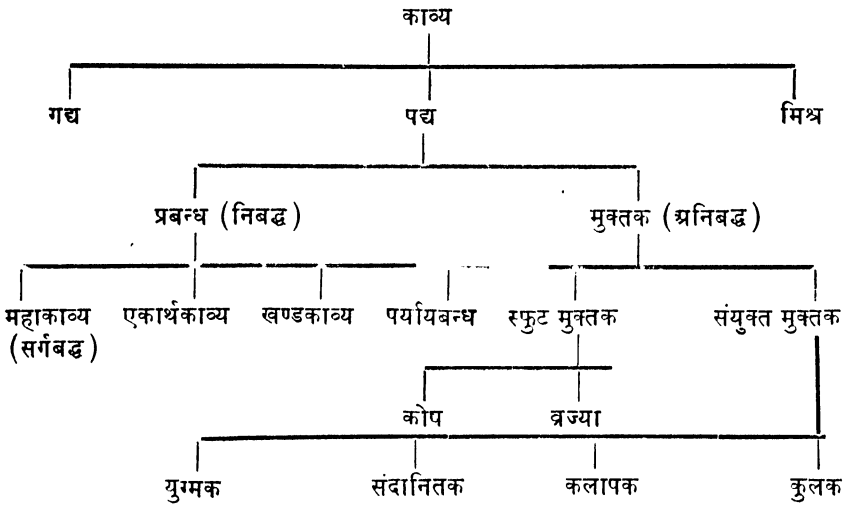
अभिनवगुप्त ने भी, विभावादि समस्त रसांगों के सम्यक् वर्णन का अधिक अवकाश होने के कारण, प्रबन्ध को श्रेष्ठ माना है। मुक्तक में इन समस्त रसावयवों की पूर्वपीठिका मन में कल्पित करनी पड़ता है—इसके विपरीत प्रबन्ध में इनका प्रत्यक्ष वर्णन सम्भव रहता है।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के आदि आचार्य अरस्तू ने भी दुःखान्तकी को सर्वश्रेष्ठ काव्य-रूप मानकर प्रबन्ध की महत्ता स्वीकार कर ली, और हिन्दी के आलोचक-प्रवर आचार्य शुक्ल प्रबन्ध के पक्षपात के कारण, कभी श्रेष्ठतम मुक्तककार व गीति-कवि को प्रबन्धकार की उच्चता न प्रदान कर सके। इस प्रकार प्रबन्ध का महत्त्व प्रायः सर्व-स्वीकृत रहा।

रूप-विधान के अतिरिक्त संस्कृत काव्य-शास्त्र में काव्य का विभाजन काव्य की आत्मा के आधार पर भी किया गया, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में हमारा सम्बन्ध केवल काव्य-रूप से है, अतः हम उसका उल्लेख अप्रासंगिक विस्तार-भय से नहीं कर रहे हैं। बन्ध के आधार पर संस्कृत-आचार्यों द्वारा जिन काव्य-रूपों का उल्लेख व विवेचन किया गया, वे इस प्रकार हैं—

---

१. भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा : सं० डा० नगेन्द्र, पृष्ठ ८४



उपर्युक्त काव्य-रूपों का उल्लेख रूप-विधा को दृष्टि में रखते हुए किया गया है। इनके अतिरिक्त जिन काव्य-रूपों का उल्लेख अथवा विवेचन संस्कृत-आचार्यों ने किया है, या तो उनका अन्तर्भाव रूप-विधा की दृष्टि से इन्हीं विधाओं में किया जा सकता है, अथवा उनका विवेचन किसी भिन्न दृष्टिकोण से प्रेरित होने के कारण, वे विवेच्य विषय की परिसीमा के बाहर हैं। गेय-काव्य का अन्तर्भाव हमने उपर्युक्त तालिका में इस कारण नहीं किया कि उसका स्पष्ट उल्लेख अथवा विवेचन आचार्य भामह ने नहीं किया।

आधुनिक आचार्यों द्वारा काव्य-रूपों का विभाजन और विवेचन

आधुनिक काल में काव्य के रूप-विधान पर स्वतन्त्र रचनाएँ बहुत अल्प संख्या में हुई हैं। अधिकांश कृतियों में काव्य के अन्य अंगों का विवेचन करते समय काव्य-रूपों का भी संक्षिप्त विवरण दे दिया गया है। इसके अतिरिक्त आधुनिक काल के विद्वानों ने प्रायः परम्परागत काव्य-रूपों का विवेचन संस्कृत काव्य-शास्त्र के आधार पर और नवीन काव्य-रूपों का विवेचन अँगरेज़ी साहित्य के आधार पर किया है। हमारे कवियों ने परम्परागत और नवीन काव्य-रूपों का ग्रहण कहाँ तक और किस रूप में किया है, इस ओर उन्होंने बहुत कम इंगित किया है। उदाहरण देते हुए कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध और लोकप्रिय रचनाओं का उल्लेख, उनकी रूप-विधा की परीक्षा और कहीं-कहीं प्रयोग-सम्बन्धी नवीनता का निर्देश इन विद्वानों ने कर दिया है; परन्तु समग्र रूप में इनके काव्यरूप-विवेचन में कोई उल्लेखनीय मौलिकता नहीं, इसके अतिरिक्त इनका क्षेत्र प्रायः लक्षण-निरूपण तक ही सीमित रहा है। आधुनिक काव्य में प्रयुक्त रूप-विधाओं की व्यावहारिक समीक्षा इन ग्रन्थों में नहीं की गई। सैद्धान्तिक दृष्टि से इनका विवेचन निश्चय ही गम्भीर है। इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—बाबू श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन', प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का 'वाङ्मयविमर्श' और बाबू गुलाबराय का 'काव्य के रूप'। इसके अतिरिक्त पं० रामदहिन मिश्र के 'काव्यदर्पण' में अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन तथा आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल व डा० श्रीकृष्णलाल के इतिहास-ग्रन्थों में भी इस विषय से सम्बन्धित संकेत उपलब्ध हैं।

बा० श्यामसुन्दरदास ने काव्य-विभाजन बन्ध के आधार पर न करके पश्चिमी दृष्टि-कोण से प्रभावित होकर वर्ण्य विषय और दृष्टिकोण के आधार पर किया। उन्होंने काव्य-विभाजन दो भागों में किया—

"कविता को हम दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक तो जिसमें कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करके अपने अनुभवों और भावनाओं से प्रेरित होता तथा अपने प्रतिपाद्य विषय को ढूंढ़ निकालता है; दूसरा वह जिसमें वह अपनी अन्तरात्मा से बाहर जाकर सांसारिक कृत्यों और रागों में पैठता है और जो कुछ ढूंढ़ निकालता है उसका वर्णन करता है।"[1]

इस प्रकार बा० श्यामसुन्दरदास ने पश्चिमी ढंग पर कविता के—विषय-प्रधान और आत्माभिव्यंजक—दो भेद स्वीकार किये हैं। पहले में उन्होंने प्रबन्ध का और दूसरे में मुक्तक का अन्तर्भाव कर लिया है।

शुक्लजी ने, विदेशी साहित्य के प्रभाव से गृहीत काव्य-रूपों की चर्चा तो की, परन्तु उन्होंने दृष्टिकोण-भेद से किये गए विभाजन 'सब्जेक्टिव' और 'ऑब्जेक्टिव' को उचित नहीं माना—

"यहाँ पर यह सूचित कर देना आवश्यक है कि स्वानुभूति-निरूपक और बाह्यार्थ-निरूपक यह भेद स्थूल दृष्टि से ही किया हुआ है।"[2]

शुक्लजी ने रूप के आधार पर कोई स्वतन्त्र काव्य-विभाजन तो प्रस्तुत नहीं किया, परन्तु उनके इतिहास-ग्रन्थ में सभी प्रचलित काव्य-रूपों के संकेत उपलब्ध हैं। उन्होंने वीर-गाथा-काल की साहित्यिक विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहा है—

"इस वीरगाथा को हम दो रूपों में पाते हैं—मुक्तक-रूप में और प्रबन्ध-रूप में भी। फुटकल रचनाओं का विचार छोड़कर यहाँ वीरगाथात्मक प्रबन्ध-काव्यों का ही उल्लेख किया जायगा।

ये वीरगाथाएं दो रूपों में मिलती हैं—"प्रबन्ध-काव्य के साहित्यिक रूप में और वीर-गीतों (Ballads) के रूप में।"[3] इस प्रकार शुक्लजी ने प्रबन्धकाव्य, मुक्तक काव्य और वीर-गीतों का उल्लेख किया। गीत को उन्होंने मुक्तक का एक अंग ही माना—

"कृष्णोपासी कवियों ने मुक्तक के एक विशेष अंग गीत-काव्य की ही पूर्ति की, पर राम-चरित को लेकर अच्छे-अच्छे प्रबन्धकाव्य रचे गए।"[4]

कथात्मक प्रबन्धों से भिन्न, शुक्लजी ने वर्णनात्मक प्रबन्धों का भी वर्णन किया—

"कथात्मक प्रबन्धों से भिन्न एक और प्रकार की रचना भी बहुत देखने में आती है जिसे हम वर्णनात्मक प्रबन्ध कह सकते हैं। दानलीला, मानलीला···इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।

---

१. साहित्यालोचन : श्यामसुन्दरदास; पृ० ६५, ६३
२. गोस्वामी तुलसीदास : रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ७७
३. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३८-३९
४. ,, ,, ,, पृ० १८२

बड़े-बड़े प्रबन्ध-काव्यों के भीतर इस प्रकार के वर्णनात्मक प्रसंग रहा करते हैं।...इनमें बड़े विस्तार के साथ वस्तुवर्णन चलता है...।"[1]

शुक्लजी ने रीतिकाल में स्फुट मुक्तकों की रचना-पद्धति के लिए अनेक स्थलों पर 'फुटकल कविता' तथा 'फुटकल पद्य' शब्द का प्रयोग किया है।

आधुनिक काल के साहित्य का विवेचन करते हुए उन्होंने नवीन काव्य-रूपों की रचना-विधि का भी निर्देश किया। पद्यात्मक निबन्धों के विषय में उन्होंने कहा—

"विषयों की अनेकरूपता के साथ-साथ उनके विधान का ढंग भी बदल चला। प्राचीन धारा में 'मुक्तक' और 'प्रबन्ध' की जो प्रणाली चली आती थी, उससे कुछ भिन्न प्रणाली का भी अनुसरण करना पड़ा।.....अनेक प्रकार के सामान्य विषयों पर—जैसे बुढ़ापा, विधिविडम्बना, जगत-सचाई-सार, गोरक्षा, माता का स्नेह, सपूत, कपूत—कुछ दूर तक चलती हुई विचारों और भावों की मिश्रित धारा के रूप में छोटे-छोटे प्रबन्धों या निबन्धों की चाल न थी।.....

...पर नवीन धारा के आरम्भ में छोटे-छोटे पद्यात्मक निबन्धों की परम्परा भी चली जो प्रथम उत्थान काल के भीतर तो बहुत कुछ भावप्रधान रही, पर आगे चलकर शुष्क और इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) होने लगी।"[2]

आ० शुक्ल ने मुक्तक के क्षेत्र में फारसी और उर्दू के छन्द-प्रयोग, 'बेतुके पद्य' रचना तथा ग़ज़ल और 'लावनीबाज़ी' शैलियों के प्रचलन का भी संकेत किया है। पं० श्रीधर पाठक के द्वारा खड़ीबोली-पद्य के लिए सुन्दर लय और चढ़ाव-उतार के कई नये ढाँचों के आविष्कार का उल्लेख भी आचार्य शुक्ल ने किया।

प्रबन्ध के चिरपरिचित खण्डकाव्य और अपेक्षाकृत लघु रूप—कथा-प्रसंग का भी उन्होंने वर्णन किया—

"त्याग, वीरता, उदारता, सहिष्णुता इत्यादि के अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंग पद्यबद्ध हुए, जिनके बीच-बीच में जन्मभूमि-प्रेम, स्वजाति-गौरव, आत्म-सम्मान की व्यंजना करने वाले जोशीले भाषण रखे गए। जीवन की गूढ़, मार्मिक या रमणीय परिस्थितियाँ झलकाने के लिए नूतन कथा-प्रसंगों की कल्पना या उद्भावना की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ी।[3]

"'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न' नामक इनके तीनों खंडकाव्यों में इनकी कल्पना ऐसे मर्मपथ पर चली है जिस पर मनुष्य-मात्र का हृदय स्वभावतः आया है।"[4]

आधुनिक काल के विभिन्न कवियों की रचना-शैली के प्रसंग में शुक्लजी ने मुक्तक की प्राचीन शैलियों, जैसे—पद, कवित्त-सवैया, दोहा आदि, उर्दू के प्रभाव से गृहीत—ग़ज़ल, बहर और लावनी व ख़याल आदि, तथा संस्कृत के वर्णवृत्तों की शैली, अतुकान्त व मुक्त-छन्द रचना की पद्धति का उल्लेख तो किया ही है, प्रगीत के लिए उन्होंने 'प्रगीत-मुक्तक' शब्द का प्रयोग

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३८६-८७
२. वही, पृष्ठ ७१०
३. वही, पृष्ठ ७५१
४. वही, पृ० ७५८

किया और इस शैली की विशेषताओं की ओर भी संकेत किया—

"कला-कला की पुकार के कारण योरुप में प्रगीत-मुक्तकों (Lyrics) का ही अधिक चलन देखकर यहाँ भी उसी का ज़माना यह बताकर कहा जाने लगा कि अब ऐसी लम्बी कविताएँ पढ़ने की किसी को फ़ुरसत कहाँ जिनमें कुछ इतिवृत्त भी मिला रहता हो। अब तो विशुद्ध काव्य की सामग्री जुटाकर सामने रख देनी चाहिए जो छोटे-छोटे प्रगीत-मुक्तकों में ही सम्भव है। इस प्रकार काव्य में जीवन की अनेक परिस्थितियों की ओर ले जाने वाले प्रसंगों या आख्यानों की उद्भावना बन्द-सी हो गई।"[1]

प्रगीत-मुक्तक के अतिरिक्त गीत का उल्लेख भी आचार्य शुक्ल ने किया।

आचार्य शुक्ल-कृत हिन्दी-साहित्य के इतिहास में इस प्रकार उनके समय तक प्रचलित सभी काव्य-रूपों का संकेत और कहीं-कहीं विशेषताओं की व्यंजना मिलती है। प्रबन्ध में महाकाव्य, खण्डकाव्य, वर्णनात्मक प्रबन्ध, कथा-प्रसंग और पद्यात्मक निबन्ध, तथा मुक्तक में छन्द के आधार पर कवित्त-सवैया और दोहा-शैली, अतुकान्त और मुक्त छन्द, उर्दू के बहर, ग़ज़ल, लावनी, झूलना तथा अन्य प्रकारों में फुटकल पद्य, प्रगीत-मुक्तक आदि विधाओं का उल्लेख आचार्य शुक्ल ने किया है। दृष्टिकोण ऐतिहासिक होने के कारण उन्होंने स्वभावतः इन विधाओं का विस्तारपूर्वक रूप-विवेचन तो नहीं किया, परन्तु रूप-सम्बन्धी विशेषताएँ व्यंजित अवश्य हो जाती हैं।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी काव्य का विभाजन शैली के आधार पर कर, पद्य का विभाजन, प्रबन्ध और निर्बन्ध, दो भेदों में किया। प्रबन्ध के अन्तर्गत उन्होंने महाकाव्य, एकार्थ-काव्य और खण्ड-काव्य को; तथा निर्बन्ध के अन्तर्गत मुक्तक, गीत एवं प्रगीत को रखा है।[2]

पं० रामदहिन मिश्र ने काव्य-विभाजन कुछ भिन्न ढंग पर किया है। उन्होंने भी काव्य का विभाजन संस्कृत काव्य-शास्त्र के अनुकरण पर क्रमशः श्रव्य और दृश्य में, तथा बंध के आधार पर श्रव्य का विभाजन प्रबन्ध, निबन्ध और निर्बन्ध तीन भेदों में किया है। प्रबन्ध के उन्होंने महाकाव्य, काव्य और खण्डकाव्य पुनः तीन भेद किये।[3] उनके इस विभाजन में आंशिक नवीनता है। प्रबन्ध का भेद 'काव्य' शब्दभेद से संस्कृत के आचार्य विश्वनाथ का एकार्थ-काव्य ही है, कोई नवीन काव्य-रूप नहीं। परन्तु उन्होंने लघु प्रबन्ध-काव्यों का पृथक् विभाजन करके इन्हें निबन्ध संज्ञा प्रदान की, और इस निबन्ध-काव्य के अन्तर्गत खण्डकाव्य और मुक्तक की मध्यवर्त्तिनी विधाओं का समावेश कर लिया। आचार्य शुक्ल यद्यपि इस ओर अपने इतिहास में संकेत कर चुके थे, पर काव्य-रूपों के विवेचन में इस प्रकार का निश्चित वर्ग-विभाजन उन्होंने नहीं किया। निबन्ध के अन्तर्गत पं० रामदहिन मिश्र ने उस प्रकार की रचनाओं का अन्तर्भाव

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७८९

२. वाङ्मयविमर्श : पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ३३

३. [क] निबन्ध के भेद से श्रव्य काव्य के तीन भेद होते हैं—१. प्रबन्ध-काव्य, २. निबन्ध-काव्य और ३. निर्बन्ध काव्य। —काव्यदर्पण (पण्डित रामदहिन मिश्र), पृ० ३२६

[ख] प्रबन्ध-काव्य के तीन भेद होते हैं—(क) महाकाव्य, (ख) काव्य और (ग) खंडकाव्य।

—काव्यदर्पण (रामदहिन मिश्र), पृ० ३२७

किया है जिनको आचार्य शुक्ल ने वर्णनात्मक प्रबन्ध व कथा-प्रसंग कहा था।[1] मुक्तक के उन्होंने दो भेद माने—मुक्तक और गीत; और गीत के पुनः दो प्रकार—ग्राम्य और नागर।[2] गीति-काव्य की गणना काव्य-भेदों में न करके पंडित रामदहिन मिश्र ने उसका स्वतन्त्र विवेचन किया है। वस्तुतः गीत—प्रगीत अथवा गीति-काव्य का एक प्रकार है; परन्तु मुक्तक के भेदों में मिश्रजी ने प्रगीत की गणना न करके गीत का उल्लेख किया और गीति-काव्य का पृथक् विवेचन कर उसके प्रकारों का वर्णन किया। उन्होंने गीति के प्रकारों में व्यंग्य-गीति, पत्र-गीति, शोक-गीति, भावना-गीति, आध्यात्मिक गीति आदि को मुख्य माना।[3]

डा० श्रीकृष्णलाल ने भी आधुनिक कविता के 'रूप और शैली' का विवेचन बन्ध के आधार पर वर्ग-विभाजन करके किया। उन्होंने काव्य को रूप के आधार पर तीन वर्गों में बाँटा —"भारतीय साहित्य में साधारणतया तीन प्रकार के काव्य-रूपों का प्रचार है—(१) प्रबन्ध काव्य, जिसके अन्तर्गत महाकाव्य और खण्डकाव्य की गणना है, (२) गीतिकाव्य और (३) मुक्तक काव्य।"[4] सर्वप्रथम मुक्तक की शैलियों का विवेचन करने के उपरान्त उन्होंने प्रबन्ध के अन्तर्गत परम्परागत विधा खण्डकाव्य तथा अपेक्षाकृत नवीन काव्य-विधा आख्यानक गीतियों का विवेचन किया। गीति-काव्य की शैलियों में उन्होंने व्यंग्य-गीति, पत्र-गीति, शोक-गीति, आध्यात्मिक गीति और संबोध-गीति की विशेषताओं का वर्णन किया। इन परम्परागत काव्य-रूपों के अतिरिक्त 'अन्य काव्य-रूप' शीर्षक देकर डा० श्रीकृष्णलाल ने 'नाटक-काव्य' (Dramatic poetry) और 'गीत' (Songs) साहित्य का परिचय दिया। 'गीत' तो गीति-काव्य का ही गेयता-विशिष्ट प्रकार है और 'नाटक-काव्य' प्रबन्ध-रूपों के अन्तर्गत आ जाता है; अतः प्रकार नहीं। प्रयोग और शैली नवीन होने के कारण इनका विवेचन पृथक् शीर्षक देकर किया गया है। इस प्रकार उन्होंने आधुनिक काव्य में दो नवीन काव्य-रूपों का परिचय दिया—'आख्यानक गीति' और 'नाटक-काव्य'।

बाबू गुलाबराय ने भी काव्य-भेदों के विभाजन और विवेचन का मूल आधार भारतीय समीक्षा-पद्धति को ही बताया है। उन्होंने भी श्रव्य काव्य के दो भेद—प्रबन्ध और मुक्तक, किये तथा मुक्तक के 'स्फुट' और 'संयुक्त मुक्तक' दोनों रूपों की चर्चा की। प्रबन्ध को उन्होंने महा-काव्य और खण्डकाव्य दो भेदों में विभाजित किया। गुलाबरायजी के विवेचन में एक विशेषता है। उन्होंने इन काव्य-रूपों के विषय मे पाश्चात्य धारणाओं का भी उल्लेख किया है और साथ ही काव्य-रूपों के प्राचीन एवं वर्तमान आदर्शों पर संक्षेप में तुलनात्मक दृष्टि से प्रकाश डाला है। मुक्तक काव्य के पाठ्य और गेय दो रूपों में दृष्टिकोण-भेद की चर्चा करते हुए उन्होंने पाठ्य

---

१. निबन्ध साधारणता का द्योतक है। कथात्मक व वर्णनात्मक जो कविता कई पद्यों में लिखी जाती है, वह निबन्धकाव्य कहलाती है। वह अपने कुछ पद्यों के भीतर ही सम्पूर्ण होती है।
—काव्यदर्पण (रामदहिन मिश्र), पृ० ३२७

२. इसके दो भेद होते हैं—(क) मुक्तक और (ख) गीत।.....गेय होने के कारण इन्हें गीत कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—(क) ग्राम्य और (ख) नागर। —काव्यदर्पण (रामदहिन मिश्र), पृ० ३२८

३. गीति-काव्य विभिन्न प्रकार के होते हैं। उनमें व्यंग्य गीति, पत्र-गीति, शोक-गीति, भावना-गीति, आध्यात्मिक गीति आदि मुख्य हैं। —काव्यदर्पण (रामदहिन मिश्र), पृ० ३३४

४. आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास : डा० श्रीकृष्णलाल, पृ० ६२

और गेय का—विषयप्रधान और विषयीप्रधान दृष्टिकोण का अन्तर स्वीकार किया और प्रगीत व गीत को अभिन्न माना है।[1] इसी अभेद स्थापना के कारण उन्होंने 'गीत-काव्य के अँगरेज़ी रूप और उनके अनुकरण' शीर्षक में प्रगीत के भेदों की ही गणना की है—"अँगरेजी गीत-काव्य में प्रायः निम्नलिखित प्रकार प्रचलित हैं—(१) सॉनेट (Sonnet) अर्थात् चतुर्दशपदी, (२) ओड (Ode) अर्थात् संबोधन-गीत, (३) एलिजी (Elegy) अर्थात् शोक-गीत, (४) सेटायर (Satire) अर्थात् व्यंग-गीत, (५) रिफ्लेक्टिव (Reflective) विचारात्मक और (६) उपदेशात्मक (Didactive)।[2] सॉनेट के प्रयोग में भारतीय कवियों द्वारा प्रस्तुत प्रयोग-सम्बन्धी नवीनताओं पर भी उन्होंने प्रकाश डाला।

डा० शकुन्तला दुबे ने काव्य के समस्त प्राचीन और अर्वाचीन रूपों का विभाजन तीन वर्गों में किया—प्रबन्ध, अबन्ध और बन्धाबन्ध।[3] प्रबन्ध और अबन्ध भेद तो प्राचीन आचार्यों के प्रबन्ध और मुक्तक ही हैं; परन्तु उन्होंने जिस तीसरे नवीन काव्य-वर्ग की उद्भावना की है, उसके सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि "ऐसे काव्य-रूप में प्रबन्ध और अबन्ध दोनों ही वर्गों के अन्यान्य भेदों की कुछ-न-कुछ विशेषताएँ अवश्य मिलती हैं।"[4] इसी आधार पर उन्होंने 'बन्धाबन्ध' वर्ग के अन्तर्गत आने वाले काव्यों को 'मिश्र काव्य' भी कहा है। हम इस वर्ग को अधिक-से-अधिक मिश्र काव्य कहने के पक्ष में तो हैं, परन्तु सर्वत्र इन कृतियों में 'प्रबन्ध' और 'अबन्ध' दोनों के तत्त्वों का मिश्रण होता हो, ऐसा निश्चित नहीं है। कभी-कभी इनमें दो प्रबन्ध-शैलियों का भी योग दृष्टिगत होता है। उदाहरण के लिए, पद्यबद्ध नाटक में ही प्रबन्ध-काव्य के आख्यान-तत्त्व और नाटक के कथनोपकथन, संवाद आदि तत्त्व मिलते हैं। कहीं गीति और नाट्यशैलियों का योग होता है। इसी प्रकार पद्यात्मक निबन्धों में प्रबन्ध-काव्य के प्रबन्धत्व और निबन्ध-शैली की विचारात्मकता का योग हो जाता है, दोनों ही प्रबन्ध-विधाएँ हैं। ऐसे प्रयोग में कवि एक विधा का प्रयोग मुख्य या अंगी-रूप में और दूसरी शैली का प्रयोग अंग-रूप में करता है, अतः काव्य-रूप का निर्णय बन्ध की दृष्टि से समस्त काव्य-रूपों में दो ही प्रकार सम्भव है—प्रबन्ध या निबद्ध तथा मुक्तक या अनिबद्ध। इनमें अन्तर का आधार है—रचित पद्यों की सापेक्ष या निरपेक्ष स्थिति। यदि किसी काव्य-विशेष में विभिन्न पद्यों व प्रसंगों की रचना परस्पर-सापेक्ष है एवं उनकी अन्विति के लिए पूर्वापर क्रम व तारतम्य अनिवार्य है, तो वह रचना प्रबन्ध के अन्तर्गत तथा निरपेक्ष स्वतन्त्र पद्य-रचना मुक्तक या अनिबद्ध के अन्तर्गत आयेगी। कहीं-कहीं कुछ पद्य किसी भाव या विचार-क्रम से परस्पर सम्बद्ध होते हैं, पर वे किसी क्षणिक या खण्डानुभूति के अभिव्यंजक होते हैं—ऐसी कविताएँ संयुक्त मुक्तक कही जा सकती हैं। इन दो प्रमुख प्रकारों में रूप, विस्तार और शैली के अन्तर से अनेक रूप सम्भव हैं, परन्तु उनका प्रकार प्रबन्ध अथवा मुक्तक में से एक होगा। किसी कृति में प्रबन्ध और मुक्तक का मिश्रण अंगांगी-रूप से तो स्वीकार किया जा सकता है,

१. काव्य के रूप : बा० गुलाबराय, पृ० ११९-१२०
२. वही, पृ० १२४
३. काव्य-रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास : डा० शकुन्तला दुबे, पृ० ३७
४. वही, पृ० ४०

परन्तु कोई रचना अंशतः प्रबन्ध व अंशतः अबन्ध हो, ऐसा सम्भव नहीं है। इन दोनों प्रकारों में अन्तर मूलभूत विधा का है, अतः डा० दुबे ने 'बन्धाबन्ध' वर्ग में जिन काव्य-रूपों का उल्लेख किया है, उनमें से सभी का अन्तर्भाव हमने उनकी प्रधान विधा के आधार पर 'प्रबन्ध' या 'मुक्तक' में कर लिया है। इनमें से अधिकांश प्रबन्ध और मुक्तक के प्राचीन व परम्परागत भेदों से भिन्न नवीन विधाएँ हैं, अतः उनके लिए नवीन वर्ग बनाकर उनका विवेचन प्रस्तुत किया गया है, और यदि यह नवीनता आंशिक है तो उसकी ओर परम्परागत रूप का विवेचन करते हुए इंगित कर दिया गया है। इस प्रकार 'प्रबन्ध' और 'मुक्तक' के अन्तर्गत कुछ अन्यान्य नवीन वर्गों की उद्भावना तो की गई है, परन्तु बन्ध के आधार पर इनसे भिन्न कोई अन्य वर्ग मानने के पक्ष में हम नहीं हैं।

पाश्चात्य विद्वानों के मत

भारतीय आचार्यों की भाँति रूप-विधान के आधार पर काव्य का विभाजन पाश्चात्य विद्वानों ने नहीं किया। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के आदि आचार्य अरस्तू ने अपने समय में प्रचलित काव्यरूपों का परिचय दिया, परन्तु काव्य-रूप के आधार पर कोई वर्ग-भेद प्रस्तुत नहीं किया। काव्य-प्रकारों का स्वतन्त्र विभाजन तो उन्होंने नहीं किया, परन्तु काव्य-मात्र को अनुकरण का प्रकार मानते हुए उन्होंने विभिन्न काव्य-रूपों का विवेचन किया है। इस प्रसंग में उन्होंने महाकाव्य, त्रासदी, कामदी और रौद्रस्तोत्र का उल्लेख किया।[1] उपर्युक्त काव्य-रूपों में त्रासदी और रौद्रस्तोत्र कविता के व त्रासदी व कामदी नाटक के भेद हैं। आगे चलकर महाकाव्य के रूप-विधान-सम्बन्धी संकेत तो उनके काव्य-शास्त्र में विस्तारपूर्वक मिलते हैं, परन्तु रौद्रस्तोत्र के विषय में हम इतना अनुमान-भर कर पाते हैं कि यह काव्य विशिष्ट धार्मिक अवसरों से सम्बद्ध गेयकाव्य, अतः मुक्तक का प्रकार रहा होगा। परवर्ती विद्वानों ने भी बन्ध के आधार पर काव्य-विभाजन नहीं किया। काव्य के रूप-विधान के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत के आचार्यों की भाँति कठिन नियम-निर्धारण तथा लक्षण-निरूपण की पद्धति को नहीं अपनाया। विशेष काव्य-ग्रंथों का मूल्यांकन करते हुए उनकी रूप-सम्बन्धी विशेषताओं का उल्लेख परिचयात्मक ढंग पर किया गया है। काव्यरूपों का पारस्परिक अन्तर वे रूप की अपेक्षा मूल दृष्टिकोण का मानते हैं। इस प्रकार, जैसा पहले संकेत किया जा चुका है, काव्य का विभाजन दो प्रमुख भेदों में किया गया—(१) आत्माभिव्यक्ति-प्रधान साहित्य—जिसके अन्तर्गत प्रगीत, निबन्ध तथा आलोचनात्मक साहित्य का समावेश किया गया; तथा (२) बाह्यार्थ-निरूपक साहित्य, जिसमें महाकाव्य, वीरगीत (Ballad) इतिहास व जीवनी, प्रेमाख्यानक साहित्य—सभी का अन्तर्भाव किया गया। इसके अतिरिक्त एक तीसरे वर्ग का उल्लेख भी विद्वानों ने किया—वर्णन-प्रधान साहित्य, जिनके अन्तर्गत यात्राओं के विवरण, वर्णनात्मक निबन्ध व कविता

१. Epic poetry, tragedy, comedy, dithyrambics, as also for the most part,……are, in the most general view of them imitations, differing, however from each other in three respects, according to the different means, the different objects or the different manner of their imitation.

Poetics : Aristotle; Edited by Rev.T.A. Moxin, Page 5, Edition—1943.

को स्थान दिया।[1] महाकाव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, आख्यानक कविताओं आदि की शैली को इन विद्वानों ने समाख्यानक (Narrative) व प्रगीतादि की शैली को प्रगीतात्मक (Lyrical) स्वीकार किया। महाकाव्य, प्रगीत व अन्य काव्य-रूपों का वर्णन करते हुए उनका उपभेदों में विभाजन भी किया गया, परन्तु उस विभाजन का आधार भी काव्य-रूप न होकर विषय अथवा शैली आदि हैं, इसलिए हम उसका विस्तारपूर्वक उल्लेख इस प्रसंग में नहीं कर रहे हैं। प्रगीत के कुछ भेदों में आकारगत विशेषता भी है—यथा शोकगीत (Elegy) और सॉनेट (Sonnet) में, परन्तु सभी काव्य-रूपों में ऐसा नहीं है। काव्य-रूपों के क्षेत्र में परिवर्तनशील प्रवृत्तियों के प्रति पाश्चात्य विद्वान् सजग रह कर यत्र-तत्र समीक्षा-ग्रन्थों में इन नवीनताओं की ओर संकेत करते रहे हैं। आधुनिक साहित्य में परम्परागत काव्य-रूपों के परस्पर मिश्रण—विशेषकर नाट्य और कविता के तत्त्वों के मिश्रण से उद्भूत नवीन काव्य-रूपों का परिचय विद्वानों ने निरन्तर अपने समीक्षा-ग्रन्थों में दिया है।[2] परन्तु उन्होंने लक्षण-निर्धारण या नियम निश्चित करने का प्रयास नहीं किया। काव्य के रूप-विधान के आधार पर विभाजन, और काव्य-रूपों का सैद्धान्तिक विवेचन पाश्चात्य काव्यशास्त्र में व्यवस्थित और नियमित रूप से नहीं मिलता।[3] अन्य विशेषताओं के वर्णन के बीच जो रूप-विषयक संकेत बिखरे

१. We have, first, the literature of self expression, which includes the different kinds of lyric poetry, the poetry of meditation and argument, and the elegy, the essay and treatise where these are written from the personal point of view; and the literature of artistic and literary criticism. We have, secondly, the literature in which the writer, instead of going down into himself goes out of himself into the world of external human life and activity, and this includes history and biography, the ballad and the epic, the romance in verse and prose,the story in verse and prose,the novel and the drama and, thirdly, we have the literature of description, not in itself a large or important division, since description in literature is ordinarily associated with, and for the most part subordinated to, the interests of self expression or narrative, but comprising in the book of travel, and the descriptive essay and poem, some fairly distinct minor forms of literary art.

An Introduction to the Study of Literature—W.H. Hudson -- Page 13.

२. It might often be said that modern literature takes a pleasure in mixing the kinds. We have 'dramatic lyrics' like Browning's and lyrical dramas like the 'Pronethus Unbound' as a prose epic. To a Greek that would seem a contradiction in terms. Is the "Dynasts" an epic or a drama or both ? Examples might be multiplied.

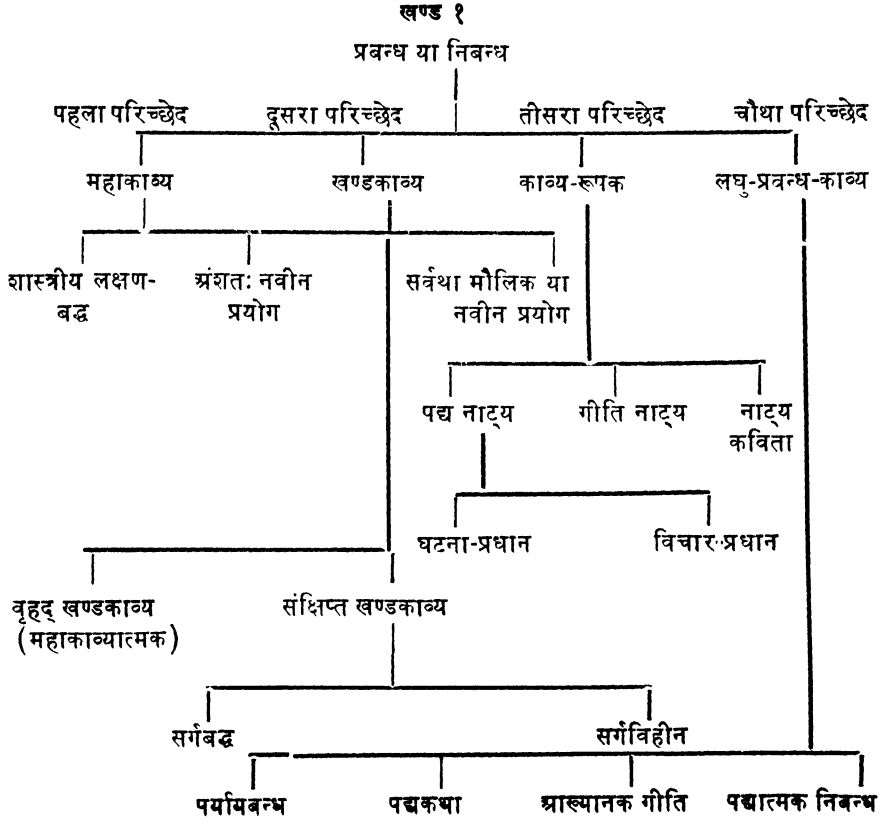
The classical background of English literature...K. Thompson...page 33.

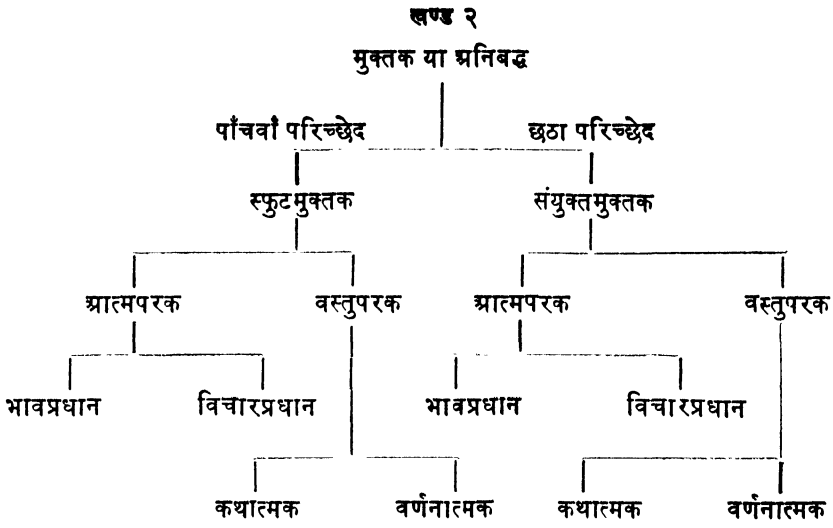
३. The use of classification in English Poetry is not in the recognition of different species, the labelling of poems as narrative, lyric and so forth.....THE THREE kinds are there, (Epic,Lyric & dramatic) but they are not severed from one another !

Forms & Style in poetry...W.P.Ker, Page 110.

हैं, उन्हें जिज्ञासु पाठक को खोज कर एकत्रित करना पड़ता है। हम यथाप्रसंग काव्य-रूपों का विवेचन करते समय तत्सम्बन्धी पाश्चात्य मान्यताओं का उल्लेख करेंगे। जिन काव्य-रूपों का प्रत्यक्ष ग्रहण पाश्चात्य साहित्य से किया गया है—यथा सॉनेट, ओड आदि—उनके विषय में तो पाश्चात्य मत को प्रमाण मानना उचित ही है; परन्तु जिन काव्य-रूपों के मूल भारतीय परन्तु वर्तमान रूप समानान्तर पाश्चात्य काव्य-रूपों से अत्यधिक प्रभावित हैं, जैसे—गीतिनाट्य, प्रगीत के विभिन्न प्रकार आदि, उनके विषय में भी पाश्चात्य विचारधारा और समानताओं का उल्लेख प्रसंग आने पर किया जायगा। पाश्चात्य साहित्य में काव्य के जिन रूपों का सर्वाधिक विवेचन किया गया, उनमें प्रमुख हैं—महाकाव्य और प्रगीत तथा उनके विभिन्न प्रकार। परन्तु, जैसा हम पहले कह चुके हैं, रूप-विधान की दृष्टि से किसी प्रकार के वर्ग-विभाजन तथा नियमित व व्यवस्थित रूप से लक्षण-निरूपण का पाश्चात्य साहित्य में अभाव है। जो विभाजन प्राप्त हैं उनका आधार रूप या बन्ध नहीं; अतः विवेच्य काव्य-रूपों के सम्बन्ध में उपलब्ध मान्यताओं का उल्लेख हम तत्सम्बन्धित अध्यायों में करेंगे।

जैसा पहले निवेदन किया जा चुका है, हमने समस्त काव्य-रूपों का 'प्रबन्ध' व 'मुक्तक' शीर्षकों के अन्तर्गत उपविभाजन निम्नलिखित तालिका के अनुसार कर, दो खण्डों में उनका विवेचन प्रस्तुत किया है—




खण्ड २
मुक्तक या अनिबद्ध
पाँचवाँ परिच्छेद
छठा परिच्छेद
स्फुटमुक्तक
संयुक्तमुक्तक
आत्मपरक
वस्तुपरक
आत्मपरक
वस्तुपरक
भावप्रधान
विचारप्रधान
भावप्रधान
विचारप्रधान
कथात्मक
वर्णनात्मक
कथात्मक
वर्णनात्मक

: २ :

काव्य-रूपों की ऐतिहासिक रूपरेखा

आधुनिक काव्य की रूप-विधाओं का अध्ययन करने से पूर्व उस साहित्य का सिंहावलोकन कर लेना भी समीचीन होगा जो विरासत के रूप में इस युग को परम्परा से प्राप्त हुआ है। हिन्दी भाषा और साहित्य का सम्बन्ध हम सदा से संस्कृत तथा उससे विकसित विविध भारतीय भाषाओं से जोड़ते आये हैं, परन्तु काव्य की रूप-विधाओं के प्रसंग में, और विशेषकर आधुनिक काल में, प्रसंग को एक बार पुनः संस्कृत-साहित्य तक लौटा ले जाना निरर्थक विस्तार होगा। इस युग के साहित्यकारों ने हिन्दी के मध्ययुग व प्राचीनकाल के साहित्य को एक बार ही लाँघकर सीधे संस्कृत, प्राकृत आदि से काव्य-रूपों का ग्रहण किया होगा, ऐसा अनुमान करना निराधार और दुरूह कल्पना का ही विषय हो सकता है। इन हिन्दी-पूर्व भाषाओं के साहित्य से हिन्दी के वर्त्तमान साहित्य का सम्बन्ध स्थापित करने वाली दीर्घ परम्परा की कड़ियाँ पर्याप्त स्पष्ट और सुव्यवस्थित हैं, अतः विवेच्य युग में प्रयुक्त रूप-विधाओं की परम्परा को समझने के लिए इस युग से पूर्व हिन्दी-साहित्य के काव्य-रूपों का अध्ययन ही पर्याप्त होगा।

कोई भी साहित्य किसी क्षेत्र-विशेष में परम्परा से समूल उच्छिन्न नहीं हो सकता, अतः परम्परा-प्राप्त अंश को समझने के लिए परम्परा का ज्ञान आवश्यक है। इसके अतिरिक्त साहित्य में उद्भूत नवीन सरणियों को समझने में, परम्परा से अनभिज्ञता की स्थिति में, न्याय नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त दोनों कारणों को दृष्टि में रखते हुए अत्यन्त संक्षेप में १९०० ई० से पूर्व काव्य-रूपों की परम्परा का परिचय देने का प्रयत्न किया जायेगा।

आधुनिक साहित्य में विषयों की अनेकरूपता के साथ रूप-विधाओं का जो वैविध्य उपलब्ध है, उसके लिए परम्परा की अपेक्षा सामाजिक चेतना, राजनीतिक परिस्थितियाँ, सांस्कृतिक संसर्ग और इन सबके प्रभाव से निर्मित साहित्यकारों का व्यक्तित्व उत्तरदायी है; परन्तु मूल विषय की विवेचना करते हुए यह संकेत करना अनिवार्य होगा कि हमारे आधुनिक कवियों ने विभिन्न प्रयोगों में कितना परम्परा से अपनाया, किन नवीन प्रयोगों के लिए वे विदेशी संस्कृति और साहित्य के प्रति उत्तरदायी हैं, तथा कितने अंश का श्रेय उनकी नवोन्मेषिनी प्रतिभा को दिया जा सकता है, अतः इस प्रसंग में परम्परा-ज्ञान का महत्त्व स्वतःसिद्ध है।

काव्य-रूपों का सैद्धान्तिक दृष्टि से विवेचन करते हुए हम संस्कृत के विद्वानों, आधुनिक काल के मनीषियों और पश्चिम के विद्वानों के मतानुसार उपलब्ध महत्त्वपूर्ण काव्य-रूपों का उल्लेख पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। बन्ध के आधार पर काव्य के दो प्रमुख भेदों—प्रबन्ध व मुक्तक, में से प्रत्येक के निम्नलिखित प्रकारों का उल्लेख पूर्व या पश्चिम अथवा दोनों के विद्वानों द्वारा किया गया—

प्रबन्ध—महाकाव्य, खण्डकाव्य, एकार्थकाव्य, अन्य लघु प्रबन्ध-काव्य जिसके अन्तर्गत प्रसंग-कथा, पद्यात्मक निबन्ध, पर्यायबन्ध तथा आख्यानक-गीतियाँ आती हैं, तथा काव्य-रूपक।

मुक्तक—स्फुट मुक्तक, संयुक्त मुक्तक, प्रगीत, सम्बोधन गीति, शोक-गीति, पत्र-गीति, व्यंग्य गीति, गीत (लोक-गीत, कला-गीत), सॉनेट, वीर-गीत आदि।

देखना होगा, उपर्युक्त काव्य-रूपों में से कितने और किस रूप में विवेच्य युग से पूर्व हिन्दी-साहित्य में प्राप्त हैं। प्रबन्ध को पूर्व और पश्चिम के विद्वानों ने एकमत से मुक्तक की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया है, अतः हम प्रबन्ध-रूपों से ही विषयारम्भ करेंगे।

प्रबन्ध-काव्य

हिन्दी-साहित्य के अभ्युदय-काल में उपलब्ध प्रबन्धों में पाठक का परिचय अनेक प्रकार के काव्य-ग्रन्थों से होता है। बाह्य दृष्टि से इन काव्य-रूपों में परस्पर अन्तर होने पर भी एक सामान्य तथ्य सब में विद्यमान है—और वह है इनके रचयिताओं का धार्मिक दृष्टिकोण। जहाँ तक इन ग्रन्थों के काव्य-रूप का प्रश्न है, संस्कृत-प्राकृत में चली आती चरित-काव्य लिखने की परम्परा को अपभ्रंश और तदुपरान्त देशभाषा-काव्यों में यथावत् अपना लिया गया। हिन्दी-साहित्य के आदि-काल में पाये जाने वाले प्रबन्धों का बहुलांश चरित-काव्यों के रूप में मिलता है। जिन प्रदेशों में बाद में अवधी और ब्रज का साहित्य लिखा गया, वहाँ के निवासी कवियों की प्रामाणिक रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। एक ओर राजस्थान में रचित साहित्य, और दूसरी ओर सुदूरपूर्व बिहार में विद्यापति की रचनाएँ प्राप्त हैं। अतः मध्य भाग में विरचित काव्य-रूपों की इन्हीं के आधार पर कल्पना की जा सकती है, अथवा हमें संस्कृत से चले आने वाले चरित-काव्य, कथा-आख्यायिका और चम्पू-रूप में लिखित रोमांस (कीर्तिलता) तथा ऐतिहासिक काव्य, आदि का आधार ग्रहण करना होगा। हम इस प्रसंग में अनुपलब्ध काव्य-रूपों की कल्पना न करके, उपलब्ध सामग्री के आधार पर, विवेचन करेंगे। प्रबन्ध-रूप में प्राप्त हिन्दी के आरम्भिक चरित-काव्यों से पूर्व, अपभ्रंश-परम्परा में इस प्रकार की अनेक कृतियाँ उपलब्ध हैं—'नेमिनाथचरित', स्वयंभू का 'पउमचरिउ', 'जसहरचरिउ', 'णयकुमारचरिउ', 'करकण्डुचरिउ' आदि। इन काव्यों के रचयिता मुख्य रूप से जैन कवि ही रहे हैं और उनका उद्देश्य है धर्मोपदेश देना; परन्तु जैसा कि आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने स्पष्ट किया है—"वस्तुतः लौकिक निजन्धरी कहानियों को आश्रय करके धर्मोपदेश देना इस देश की चिराचरित प्रथा है। कभी-कभी ये कहानियाँ पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों के साथ घुला दी जाती हैं। यह तो न जैनों की निजी विशेषता है, न सूफियों की। बौद्धों, ब्राह्मणों और जैनों के अनेक आचार्यों ने

नैतिक धार्मिक उपदेश देने के लिए लोक-कथानकों का आश्रय लिया था।"[1] साहित्य में इनका महत्त्व इनके काव्य-सौन्दर्य के साथ ही इस दृष्टि से भी है कि चरित-नायकों का गुणानुवाद करने की यही परम्परा 'पृथ्वीराज रासो', जायसी के 'पद्मावत' (धार्मिक सिद्धान्तों के वैशिष्ट्य के कारण नायिका-प्रधान है) और तुलसी के 'रामचरितमानस' में अपनायी गई है। मध्ययुग के साहित्य की प्रधान प्रेरणा धर्म-साधना ही रही है।

चरित-काव्यों की इस परम्परा को राजस्थानी के काव्यों में भी ग्रहण किया गया और चरित-नायक के नाम के साथ—'रासो', 'विलास', 'रूपक' आदि शब्द जोड़कर काव्य-रचना करना रूढ़ हो गया—'जग-विलास', 'भीम-विलास', 'राणा रासो', 'संगतसिंह रासो', 'राज-रूपक', 'गजसिंहरूपक'—आदि काव्य इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं; अतः रासो शब्द वास्तव में चरित-काव्य का परिचायक है, वीरगाथा का नहीं (जैसा सन्देह शुक्लजी ने बीसलदेव रासो के विषय में प्रकट किया था)। परन्तु आरम्भ में रासो-नामधारी अनेक वीर-काव्यों की उपलब्धि के कारण इस प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न हुई थी—चरित-काव्यों के लिए चरित शब्द से भिन्न अन्य संज्ञाओं का प्रयोग अपभ्रंश के चरित-काव्यों के लिए भी नवीन नहीं। 'भविसयत्त कहा' और विद्यापति की 'कीर्तिलता' इसके उदाहरण हैं। वास्तव में चरित-काव्यों की कथा कहने की प्रणाली बाद तक प्रचलित रही। तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' को, और विद्यापति ने 'कीर्तिलता' को कथा भी स्वीकार किया है। कथा को गद्य में लिखने का बन्धन संस्कृत-साहित्य तक ही सीमित रहा, अन्य भाषाओं में लिखी जाने वाली रचनाएँ पद्य में भी लिखी गई। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में एक वर्ग प्रबन्ध-रूप में प्राप्त उपर्युक्त चरित-काव्यों का है। जिनमें से आकार, विषय, विस्तार, शैली आदि की दृष्टि से कुछ महाकाव्य और कुछ खण्डकाव्यों के अन्तर्गत आ जायेंगी। इन चरित-काव्यों की कतिपय विशेषताओं का परिपालन परवर्ती काव्यों में भी हुआ, जिनकी ओर संक्षेप में संकेत कर देना अनिवार्य प्रतीत होता है।

महाकाव्य

कथानक—नायक का चयन इतिहास (पृथ्वीराज, हम्मीर, वीरसिंह, नेमिनाथ आदि) तथा पुराण (राम—नामान्तर से पउमचरिउ के नायक) से होने के कारण मूल कथानक का ग्रहण भी ऐतिहासिक, पौराणिक अथवा तत्सम्बन्धित पूर्ववर्ती काव्य-ग्रन्थों से हुआ है। इस आधारभूत सामग्री की नींव पर कवियों ने अपनी प्रतिभा से काल्पनिक भवन-निर्माण किया। कल्पना का प्रयोग निश्चित रूप से दो दिशाओं में हुआ—

(क) जहाँ लेखक का उद्देश्य धर्मोपदेश देना है, वहाँ कथा को धार्मिक रंग देने के लिए इतिहास के तथ्य के साथ धार्मिक प्रसंगों की कल्पना की गई है। अधिकांश जैन धर्मानुयायी कवियों के प्रयास इसी कोटि के हैं। सूफी कवियों ने भी अपने कथानकों को धार्मिक सिद्धान्त के अनुकूल मोड़ देने का सचेष्ट प्रयत्न किया है। गोस्वामीजी के 'रामचरितमानस' में इस प्रकार

---

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्; द्वितीय संस्करण; पृष्ठ ११

के अनेक स्थल हैं, परन्तु वहाँ उनका उद्देश्य कथा को केवल धार्मिक रंग देना नहीं। राम का व्यक्तित्व उनसे पूर्व धर्मप्राण भारतीयों की श्रद्धा का आलम्बन रहा है, अतः रामचरितमानस में वाल्मीकिरामायण से जो भिन्नता दृष्टिगत होती है वह कथा में नवीनता, रमणीयता और प्रभावोत्पादकता के हेतु भी है, केवल धार्मिक सिद्धान्तों के प्रकाशन के लिए नहीं।

(ख) इन चरित-काव्यों की दूसरी धारा वह है जहाँ इनकी रचना ऐतिहासिक पात्रों तथा आश्रयदाताओं के व्यक्तित्व का शौर्य-प्रधान पक्ष अंकित करने के लिए हुई है। यह तथ्य सर्व-विदित है कि इन वीरगाथाओं की पृष्ठभूमि में जीवन के शौर्य के साथ शृंगार प्रेरक सूत्र के रूप में रहा है। अतः शृंगार की पटभूमि पर वीरता के चित्र प्रस्तुत करने के प्रयास ने विषयवस्तु के क्षेत्र में भी अनुबन्ध प्रस्तुत किये हैं। कुछ काव्यों में मूल कथानक के साथ अनेक उपाख्यानों की कल्पना की गई। इन उपकथाओं के मूल में किसी काल्पनिक सुन्दरी के प्रति नायक का आकर्षण और चरम परिपाक के क्षणों में उपलब्धि के हेतु युद्ध की योजना—आश्रित कवियों की कल्पना ने की। इस प्रकार युद्ध और प्रेम दोनों ही कल्पना के विषय बन गए। ऐसी कल्पनाओं से इन काव्यों के प्रबन्ध-विधान में जटिलता उत्पन्न हो गई है। अनेक अवान्तर प्रसंग काव्य की आधिकारिक कथावस्तु के साथ बेतरतीबी से जोड़ दिये गए हैं। परिणामस्वरूप वस्तु-विन्यास प्रबन्धोचित नाटकीय शैली में न होकर पुराण के ढंग पर हुआ है। 'पृथ्वीराज रासो' इस प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण है। सामान्यतः इन महाकाव्यों का वस्तु-विन्यास, भारतीय विधि के अनुकूल नाटकीय पद्धति पर हुआ है। कथानकों में आधिकारिक कथा के साथ प्रासंगिक वृत्तों की योजना, कार्यावस्थाओं व नाट्य-सन्धियों का सफल निर्वाह, अधिकांश रचनाओं में मिल जायेगा। समस्त कार्यव्यापार फलप्राप्ति की ओर उन्मुख होता है और मार्ग में उपस्थित बाधा और बाधा-शमन की पद्धति भी भारतीय विधान के अनुकूल है।

उपर्युक्त धारा के ग्रन्थ हैं—'पृथ्वीराजरासो', 'विजयपालरासो', 'हम्मीररासो', 'खुमानरासो' तथा रीतिकाल में लिखे जाने वाले ग्रन्थ 'वीरसिंहदेवचरित', 'राजविलास', 'सुजानचरित्र', 'गोरा-बादल की कथा', 'जंगनामा', 'करहिया कौ रायसौ' आदि।

प्रबन्ध-काव्यों के क्षेत्र में, उपर्युक्त दोनों प्रवृत्तियों के अपवाद-रूप में केशव की 'रामचन्द्रिका' उपलब्ध है। ग्रन्थ के नायक राम और उनकी जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन करने पर भी किसी प्रकार की कल्पना या मार्मिक उद्भावना का प्रयत्न केशव ने नहीं किया। रामकथा-सम्बन्धी पूर्ववर्ती ग्रन्थों से सामग्री चयन कर उन्होंने सारा ध्यान रामचन्द्र की चन्द्रिका का, छन्द-वैविध्य में 'भूषन बिन न राजई कविता' के अनुसार, अलंकृत वर्णन करने में लगा दिया; अतः कथानक-सम्बन्धी कोई विशेषता इस काव्य में नहीं; बल्कि इस कृति की प्रबन्धात्मकता इतनी खंडित है कि कथा-तारतम्य के अभाव में इस काव्य को विद्वान् 'प्रबन्ध' कहने में भी संकोच करते हैं।

रचना-शैली की दृष्टि से प्रायः इन सभी प्रबन्धों में साहित्य-शास्त्र में निर्दिष्ट मुख्य लक्षणों का पालन हुआ है। सभी नाम-भेद से सर्गों में विभक्त हैं। 'करकंडुचरिउ' तथा 'भविसयत्त कहा' का विभाजन सन्धियों में, 'पृथ्वीराजरासो' का समयों में, 'पद्मावत' का खण्डों में, 'रामचरित मानस' का काण्डों में, और 'रामचन्द्रिका' का प्रकाशों में हुआ है। मंगलाचरण, वर्णन-रूढ़ियाँ, छन्द-प्रयोग

आदि से सम्बन्धित सभी नियम इन काव्यों में परिपालित हैं। अन्य काव्यों से भिन्न एक विलक्षणता जायसी के 'पद्मावत' में द्रष्टव्य है—और वह है रूपक के रूप में द्वयर्थक कथा-विधान। ऐसे प्रयोग उनसे पूर्व विरल थे। जैन कवि सोमप्रभ के अपभ्रंश में लिखे सन्दर्भों में इस प्रकार का प्रयास ढूँढ़ा जा सकता है, परन्तु इतने बड़े पैमाने पर जायसी से पूर्व ऐसी रचनाएँ उपलब्ध नहीं। तदुपरान्त यह पद्धति अन्य सूफी कवियों के काव्यों में भी प्रतिफलित हुई। नूरमुहम्मद का 'अनुरागबाँसुरी' काव्य-शरीर, जीवात्मा और मनोवृत्तियों आदि को आधार बनाकर रचित अध्यवसित रूपक है।

छन्द की दृष्टि से अपभ्रंश के महाकाव्यों में प्रयुक्त कड़वक शैली का प्रयोग रूपान्तर से जायसी और तुलसी के काव्य में दोहा-चौपाई शैली के रूप में मिलता है। अनेक छन्दों में कथा कहने की प्रवृत्ति भी केशव की नवीनता नहीं। यह प्रवृत्ति 'करकंडुचरिउ', 'णयकुमारचरिउ', विद्यापति की 'कीर्तिलता' आदि रचनाओं में मिलती है और रासों के छन्द-वैविध्य की तो सीमा ही नहीं।

जायसी आदि सूफी कवियों द्वारा प्रयुक्त दोहा-चौपाई से बने कड़वकों का प्रयोग भी अपने बीज-रूप में बौद्ध सिद्धों में मिल जाता है। बाद में यह शैली (दोहा-चौपाई में कथा कहना) सूफी कवियों में तथा प्रेम-कहानी कहने के लिए अन्य कवियों में लोकप्रिय रही। आलम का 'माधवानल कामकंदला' ऐसा ही ग्रन्थ है।

कथा-बन्ध में वर्णन-पद्धति की दृष्टि से दो पात्रों के बीच कथा को प्रश्नोत्तर-रूप में कहने की पद्धति पुष्पदंत के 'महापुराण', धनपाल की 'भविसयत्त कहा', विद्यापति की 'कीर्तिलता', चन्दबरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' और तुलसी के 'रामचरितमानस' में अपनायी गई। यह पद्धति अन्य जैन कवियों और सूफी कवियों में अधिक लोकप्रिय नहीं हुई। इसके अतिरिक्त किस प्रकार कुछ विशिष्ट कथानक-रूढ़ियाँ कतिपय अपभ्रंश के काव्यों में, तत्पश्चात् रासो और उसके उपरान्त सूफी-साहित्य में, कथानकों को मोड़ देने के लिए अपनायी गई—यह हज़ारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति विद्वानों ने सिद्ध कर दिया है—विस्तार तथा विषयान्तर-भय के कारण उनका उल्लेख निरर्थक होगा। इन चरित-काव्यों के अतिरिक्त अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्यों की पुराण-शैली परवर्ती साहित्य में प्रचलित नहीं हुई। पुष्पदंत का 'महापुराण' तथा स्वयंभू का 'हरिवंशपुराण' इसी कोटि की रचनाएँ हैं।

अपभ्रंश के महाकाव्यों में महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं—'पउमचरिउ', 'जसहरचरिउ','करकंडुचरिउ', 'भविसयत्त कहा', 'नेमिनाथचरिउ', 'णयकुमारचरिउ' आदि। तदुपरान्त हिन्दी के महाकाव्यों में उल्लेखनीय काव्य हैं—चन्दबरदाई का 'पृथ्वीराज रासो', जायसी का 'पद्मावत', तुलसी का 'रामचरितमानस' और उल्लेख-मात्र के लिए केशव की 'रामचन्द्रिका,' 'वीरसिंहदेवचरित', 'राजविलास', 'हम्मीर रासो' आदि। इनके अतिरिक्त कुछ रचनाएँ कथानक, बन्ध, रस, उद्देश्य आदि की दृष्टि से यद्यपि महाकाव्य-पद की अधिकारी हैं, परन्तु गद्य और पद्य दोनों शैलियों के प्रयोग के कारण उन्हें शास्त्रीय शब्दावली में 'चम्पू' कहना होगा। विद्यापति की 'कीर्तिलता' इसी प्रकार का काव्य है। गद्य और पद्य-शैली के मिश्रण के अतिरिक्त, उसमें सभी विशेषताएँ चरित-वर्णन-प्रधान महाकाव्यों की ही हैं। कहा नहीं जा सकता कि इस प्रकार के

प्रयोग उस काल में विशेष प्रचलित न थे, या आज उपलब्ध नहीं।

खण्डकाव्य

पूर्वोक्त विशेषताएँ जो विवेच्य काल के पूर्व महाकाव्यों में दिखाई पड़ती हैं, खण्डकाव्यों में भी स्वभावतः एक सीमित कलेवर में यथावत् उपलब्ध हैं। उसी प्रकार विषय-वैविध्य, रचयिताओं के दृष्टिकोण, चरित्रांकन, रस आदि में मूल विषयानुसार विभिन्नता खण्डकाव्यों में भी सहज प्राप्त है। केवल विषय की व्यापकता में संकोच के अनुरूप काव्य-रूप में भी जीवन की सर्वांगता अन्तर्निहित न होने के कारण, खण्ड-चित्रों का अंकन सीमित कलेवर में हुआ है। कुछ उल्लेखनीय खण्डकाव्य हैं—राजशेखर सूरि का 'नेमिनाथफागु', तुलसीदास का 'नहछू', नन्ददास के 'भ्रमरगीत' और 'रासपंचाध्यायी', जटमल की 'गोरा-बादल की कथा', श्रीधर का 'जंगनामा', सदानन्द का 'रासा भगवंतसिंह' आदि।

इनके अतिरिक्त प्राचीन खण्डकाव्यों में कुछ अपनी निजी विशेषता के कारण पृथक् रूप से उल्लेखनीय हैं। खण्डकाव्यों की एक परम्परा बंगाल में मंगल-काव्यों के रूप में प्राप्त होती है। तुलसीदास के 'जानकी-मंगल' और 'पार्वती-मंगल' तथा कबीर के नाम पर पाये जाने वाले 'आदिमंगल', 'अनादिमंगल' और 'अगाधमंगल' नामक तीन काव्य मिलते हैं। नरहरि कवि और नन्ददास ने भी 'रुक्मिणीमंगल' की रचना की। परवर्ती साहित्य में यह परम्परा बहुत लोकप्रिय नहीं हुई, अतः हम विशेषताओं का विस्तारपूर्वक उल्लेख नहीं कर रहे हैं।

इसी प्रकार 'संदेशरासक' और 'ढोला-मारू रा दूहा' दोनों खण्डकाव्यों का पृथक् उल्लेख अभीष्ट होगा। ये दोनों, दोहाबद्ध कथाकाव्य होते हुए भी मुक्तक काव्य की स्फुटता के गुण से भी युक्त हैं। दोनों काव्यों में जीवन के एक पक्ष—विशेष विरह-दशा की अनुभूतियों का वर्णन है। कथानक-सूत्र विद्यमान होने पर भी इस विशेषता के लिए—एक ओर मुक्तक के लिए ही सफल वाहन दोहा छन्द का प्रयोग, और दूसरी ओर कथा की अपेक्षा विरह-भाव की मुखरता उत्तरदायी है। मूलतः भावात्मक होने के कारण कथा के गुणों की अपेक्षा मुक्तक के गुण उक्त काव्यों में अधिक हैं। 'संदेशरासक' को आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने 'गेय रूपक' भी माना है। उनकी इस मान्यता का आधार हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' में दिया रासक-काव्य का लक्षण है। रूपक शब्द इन काव्यों में न्यूनाधिक मात्रा में अभिनेयता का परिचायक है, अतः गीति और नाट्य-शैलियों के मिश्रण की कल्पना यद्यपि आधुनिक काल से सर्वथा भिन्न रूप में थी, परन्तु हेमचन्द्र के समय में भी और यदि कहा जाये तो उनसे पूर्व भी (लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण सदा लक्ष्य-ग्रन्थों के अवलोकन के उपरान्त ही होता है।) विद्यमान थी, तो अत्युक्ति न होगी।

उपर्युक्त काव्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य कथात्मक प्रबन्ध हैं जिनमें गेयता विद्यमान है। इनमें प्रथम है—'बीसलदेव रासो', जिसकी रचना, जैसा लेखक ने स्वयं कहा है, गाने के लिए हुई है। और दूसरा ग्रन्थ है 'आल्हाखण्ड'। इनमें से प्रथम कथाश्रित गेय-प्रबन्ध है और दूसरे का वर्तमान रूप यद्यपि मौखिक परम्परा में प्रचलित रहने के कारण प्रामाणिक नहीं, परन्तु अपने मूल रूप में इसका रूप भी वीरोल्लास-प्रधान गीतों का ही रहा होगा। यह काव्य मानव-मन की मौलिक प्रवृत्तियों, युद्ध और प्रेम की निसर्ग अभिव्यक्ति का प्रतीक है। इसी प्रकार का काव्य-रूप विदेशों में 'बैलेड' संज्ञा से अभिहित है। इन काव्यों को कथाश्रित तथा घटनाश्रित होने के कारण

प्रबन्ध और गेय होने के कारण प्रगीतात्मक—अतः प्रगीतात्मक प्रबन्धकाव्य कहा जा सकता है।

वर्णनात्मक प्रबन्ध

महाकाव्य और खण्डकाव्य से भिन्न छोटे-छोटे प्रबन्ध लिखने की एक और शैली अन्य कवियों में सामान्यतः, और कृष्ण-भक्तों में विशेषतः, प्रचलित थी। इन प्रबन्धों में प्रायः कृष्ण-लीला के विविध प्रसंगों का, अथवा प्रकृति के किसी उपकरण व ऋतु का वर्णन होता था। ये प्रबन्ध आकार में छोटे परन्तु मुक्तक नहीं, तथा आख्यान-काव्य भी न होकर निबद्ध-मुक्तक अथवा वस्तु-वर्णनात्मक प्रबन्ध होते थे। इनमें प्रयुक्त छन्द परस्पर विषय अथवा प्रसंग के तारतम्य से सम्बद्ध रहते थे। विषय—दानलीला, मानलीला, चीरहरण, वसन्त आदि होते थे। ऐसे निबद्ध काव्यों को वस्तुवर्णनात्मक लघु प्रबन्ध कहा जा सकता है, अथवा नवीन शब्द-उद्भावना के स्थान पर आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा ऐसे काव्य के लिए प्रयुक्त शब्द 'पर्याय-बन्ध' का प्रयोग किया जा सकता है। इन्हें पद्यात्मक निबन्ध कहना इसलिए उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि निबन्ध की शैली में एक विशिष्ट आत्मीयता तथा व्यक्तिगत दृष्टिकोण की आशा की जाती है, जिसका इनमें अभाव है। इन छोटे-छोटे प्रबन्धों की रचना नन्ददास, सूरदास आदि कृष्ण-भक्तों ने और ध्रुवदास आदि राधावल्लभ-सम्प्रदाय के भक्तों ने पर्याप्त मात्रा में की। सम्पूर्ण मध्ययुग में इनका प्राचुर्य रहा।

प्रबन्धों की परम्परागत रचना-शैली का आधुनिक काल के आरम्भ (भारतेन्दु-युग) में विशेष उत्कर्ष नहीं हुआ। प्रबन्ध-रचना के नाम पर कुछ अत्यन्त साधारण स्तर की रचनाएँ इस युग में की गईं, जिनमें रूप-सम्बन्धी कोई वैशिष्ट्य नहीं है। पूर्व कालों में मुख्य रूप से पद्य-रचना करने वाले साहित्यकारों की एकनिष्ठ मनोवृत्ति शत-शत साहित्यिक विधाओं में प्रवहमान हो उठी। पद्य-रचना के साथ-साथ गद्य-विधाओं (नाटक, निबन्ध आदि) का विकास होने के कारण जहाँ एक ओर सामान्यतः रू।-विधाओं में समग्र रूप से क्षेत्र-विस्तार और वैविध्य उपस्थित हुआ, वहाँ पद्य-मात्र के क्षेत्र में और भी संकोच हो गया। प्रबन्धों का इस काल में लगभग अभाव ही रहा, परन्तु पद्य-रचना का क्षेत्र और भी सीमित हो जाने के कारण मुक्तक-रचना में रूप-विधा सम्बन्धी पर्याप्त वैविध्य दृष्टिगत होता है। साहित्य के क्षेत्र में उस काल के प्रमुख साहित्य-कार भारतेन्दु के ही काव्य की परीक्षा करने से इस बात का सहज ज्ञान हो जाता है कि किस प्रकार एक ओर प्रबन्ध-काव्य के अभावमय अंश को मानो नाना रूपों में मुक्तक के सद्भाव ने कुछ सीमा तक पूरा किया है। अकेले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काव्य में तत्कालीन अन्य कवियों द्वारा प्रयुक्त समस्त मुक्तक-शैलियाँ उपलब्ध हैं, परन्तु उनके काव्य के अध्ययन से पूर्व, हिन्दी-साहित्य के आदिकाल से विवेच्य युग तक प्रवाहित होने वाली मुक्तक काव्य की अजस्र परम्परा का ज्ञान अनिवार्य है।

मुक्तक

मुक्तक की भी पाठ्य और गेय दोनों शैलियाँ आदिकाल से ही हिन्दी-साहित्य में प्रयुक्त होती रही हैं। संयुक्त मुक्तक-रचना की प्रथा आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी के कवियों में बहुत लोकप्रिय नहीं रही।

दोहा-शैली

हिन्दी-साहित्य के आदि-काल में पाठ्य मुक्तकों की परम्परा अपभ्रंश के दोहों में प्राप्त है। दोहा अपभ्रंश के कवियों का प्रिय छन्द रहा है; अतः प्रायः धर्म तथा नीति के उपदेश दोहों में एक ओर राजस्थान की मरुभूमि और मध्यभारत में जैन कवियों द्वारा दिये गए, दूसरी ओर सुदूर पूर्व में 'दूहा' के माध्यम से वज्रयानी सिद्धों ने अपने धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार किया। किस प्रकार इन उपदेश-प्रधान पाठ्य मुक्तकों की परम्परा निर्बाध गति से भक्तिकालीन कवियों तक चली आई, और अत्यन्त लोकप्रिय होने के कारण तुलसी जैसे कुशल कवियों ने भी अध्यात्म तथा धर्मनीति के उपदेश दोहों में दिये—यह बात अनेक विद्वानों द्वारा सिद्ध की जा चुकी है, अतः उनके मतों का पुनराख्यान निरर्थक विस्तार होगा। यही दोहों की परम्परा गिरधर, रहीम, वृन्द आदि कवियों द्वारा नीति-उपदेश के लिए अपनायी गई। इन दोहों के लिए नाथ-संप्रदाय और कबीर-पंथियों के मध्य 'साखी' शब्द का व्यवहार हुआ और जैनों में वे साखी न कहलाकर दोहे ही कहलाये, परन्तु इनका मूल स्वर हिन्दी-साहित्य के परवर्ती सन्त लेखकों के दोहों का ही है। अपभ्रंश में इनका प्रयोग एक ओर जोइन्दु कवि के 'परमात्म-प्रकाश' और 'योगसार' तथा मुनि-रामसिंह के 'पाहुड़ दोहा' आदि ग्रन्थों में हुआ है, दूसरी ओर कण्ह और सरह आदि सिद्ध कवियों के उपदेशों में हुआ है। सिद्धों की यह रचनाएँ 'बौद्ध गान औ दोहा' के नाम से पं० हरप्रसाद शास्त्री ने प्रकाशित करायी थीं तथा निकट वर्तमान में पं० राहुल सांकृत्यायन ने 'दोहा-कोष' नामक ग्रंथ में इस प्रकार की रचनाओं का संकलन किया है। इन शुद्ध विषय-प्रधान उपदेशात्मक दोहों की अविरल धारा संतों और नीतिकारों तक चली आई। तुलसी ने भी अध्यात्म और नीति के उपदेश के लिए इस छन्द का प्रयोग किया, परन्तु दोहा छन्द का उपयोग उपदेश या नीतिकथन-मात्र के लिए हुआ हो, ऐसा नहीं—वीर और शृंगार को विषय बनाकर भी समय-समय पर दोहों के माध्यम से कवियों ने भावप्रवण रचनाएँ की हैं। 'सन्देशरासक' और 'ढोलामारू' के दोहों में विरह-दशा के मार्मिक वर्णन हैं और हेमचन्द्र के व्याकरण में भी इनके सधर्मी दोहों का अभाव नहीं। 'ढोलामारू' में प्राप्त कुछ दोहे किंचित् शब्दभेद से कबीर के साहित्य में भी मिलते हैं। यद्यपि डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने 'ढोला-मारू रा दूहा' को "हेमचन्द्र के व्याकरण में प्राप्त दोहों और बिहारी-सतसई के बीच की कड़ी"[1] कहा है; परन्तु उनका अभिप्राय कदाचित् छन्द और विषय (शृंगार) की समानता से है, अन्यथा दोनों के रचयिताओं के दृष्टिकोण में मूलतः भेद है। 'ढोलामारू', जैसा उन्होंने स्वीकार किया है, गीतिकाव्य के रूप में प्राप्त है। अतः स्पष्ट है कि कवि का दृष्टिकोण विषयीप्रधान, अर्थात् आत्मपरक और साथ ही कथाश्रित है। कथा में लोक-जीवन से रस ग्रहण किया गया है। लोक-साहित्य की पूर्ण प्रतिच्छाया इस काव्य पर है। दूसरी ओर 'बिहारी-सतसई' के कवि का काव्य पूर्णतया लक्षण-बद्ध विषय-प्रधान काव्य है। कवि का उद्देश्य नायिका-भेद, दूती-प्रसंग, संयोग-वियोग आदि के शास्त्रबद्ध उदाहरण आश्रय-दाता को रिझाने और अर्थ-प्राप्ति के लिए प्रस्तुत करना है। आत्मपरक दृष्टि का बिहारी की रचनाओं में सर्वथा अभाव है, अतः उसका सम्बन्ध 'ढोलामारू' से अत्यन्त सीमित अर्थों में ही

---

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ६

स्थापित किया जा सकता है। वस्तुतः भावप्रवण, तीव्र और स्पष्ट हृदयोद्गार-प्रधान सरल प्रेमाख्यान-काव्यों की जो परम्परा 'ढोलामारू', 'संदेशरासक', 'हेमचन्द्र-व्याकरण' के सधर्मी दोहों, और कहीं-कहीं कबीर के इने-गिने दोहों में प्राप्त होती है—वह बाद में हिन्दी-साहित्य में उपलब्ध नहीं होती। रीति-काव्य में जिस लक्षणबद्धता तथा अलंकरण के दर्शन होते हैं, उसी कोटि का काव्य जो नायिका-भेद और दूती-प्रकरण की शृंखलाओं में जकड़ा हुआ हो, अपभ्रंश में उपलब्ध नहीं। बिहारी से पूर्व इस प्रकार के काव्य का सर्वथा अभाव हो, ऐसा नहीं—कृपाराम एक सीमित परिमाण पर इस प्रकार का प्रयोग अपनी 'हिततरंगिणी' नामक रचना में कर चुके थे। 'हिततरंगिणी' के कई दोहे बिहारी के दोहों से मिलते-जुलते हैं। उनकी भाषा का परिमार्जन, भावपूर्णता एवं सरसता किसी अंश में बिहारी से कम नहीं, परन्तु विषय-क्षेत्र बहुत सीमित होने के कारण ही यह पुस्तक उपेक्षित रही।

इस दिशा में प्रयोग बिहारी के समकालीन कवियों में 'रसलीन' और 'रसनिधि' द्वारा किये गए। रसलीन के दोहों की उत्कृष्टता प्रसिद्ध है। अत्यधिक समानता के कारण कुछ दोहे बिहारी के काव्य में प्रक्षिप्त हो गए हैं। इसके विपरीत काव्य-रचना में उत्कर्ष की दृष्टि से रसनिधि का महत्त्व बिल्कुल नहीं। दोहों में इस ब्रजभाषा-काव्य की चमत्कार-पद्धति का भारतेन्दु-युग में पुनरुद्धार करनेवाले कवियों में दुलारेलाल भार्गव का नाम उल्लेखनीय है। अपनी 'दुलारे-दोहावली' में आपने बिहारी के दोहों की काल के गर्त में विस्मृत परम्परा को पुनः जीवन प्रदान किया। वही रस की स्निग्धता, उक्ति-वैचित्र्यजनित चमत्कार और बारीकी आपके दोहों में उपलब्ध है।

दोहों का प्रयोग वीररस के लिए भी यदा-कदा किया गया, परन्तु बहुत लोकप्रिय नहीं रहा। आधुनिक काल में वियोगी हरि की 'वीर-सतसई' इसी परम्परा की रचना है।

कवित्त-सवैया-शैली

मुक्तकों की दूसरी प्रधान धारा स्फुट कवित्त-सवैयों के रूप में हिन्दी-साहित्य में उपलब्ध है। जिस प्रकार संस्कृत में 'श्लोक', प्राकृत में 'गाथा' और अपभ्रंश में 'दोहा' छन्द विशेष लोकप्रिय रहे, उसी प्रकार ब्रजभाषा कवियों के प्रिय छन्द कवित्त और सवैया थे। ब्रजभाषा में काव्य-रचना के साथ इन छन्दों का उदय होता है। यद्यपि कवित्त का प्रयोग चन्द के 'रासो' में भी हुआ है, परन्तु वहाँ इसका अर्थ है छप्पय। वस्तुतः भाषा-विशेष के साहित्य में छन्द-विशेष के अधिक प्रयोग का कारण उस भाषा की प्रवृत्ति के अनुकूल छन्द का ग्रहण होता है। स्फुट मुक्तक के रूप में कवित्त-सवैया-शैली का प्रयोग यद्यपि तुलसी ने भी किया है, परन्तु जहाँ उन्होंने ऐसा किया, वहाँ भाषा भी ब्रज ही अपना ली है—यथा 'कवितावली' में।

तुलसीदास के बाद कवित्त-सवैयों में रचना की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विस्तार पाती गई। इसका कारण था कि ये छंद तत्कालीन काव्य-विषय और भाषा के लिए विशेष अनुकूल सिद्ध हुए। इनका प्रयोग, शृंगार और वीर, दोनों रसों के लिए समान अधिकार से अनेक कवियों ने किया। भक्तिकाल में माधुर्य भाव से भक्ति करने वाले ब्रजभाषा के कवियों और रीतिकाल के शृंगार-प्रिय कवियों को ये छन्द विशेष मनोनुकूल प्रतीत हुए। भक्तिकाल में इस शैली के प्रमुख कवि थे

'रसखान'—जिन्होंने लौकिक प्रेम का कृष्ण-भक्ति में उन्नयन कर प्रेम-रस से सराबोर सवैयों की रचना की। उनके अतिरिक्त ध्रुवदास ने लीला-वर्णन कवित्त और सवैया दोनों छन्दों में किया। महाराज टोडरमल ने नीति-सम्बन्धी कवित्तों की रचना की, बीरबल और गंग आदि कवियों ने शृंगारपरक कवित्तों की रचना के साथ वीररस में भी रचना की। बीरबल ने कुछ नीति-सम्बन्धी सवैये भी लिखे। केशव ने कवित्त और सवैये दोनों का ही प्रयोग शृंगार रस की रचना के लिए किया। रहीम ने भी नीति-उपदेश और शृंगारपरक दोनों प्रकार के वर्णनों के लिए यह शैली अपनायी। सबसे अधिक विविधतापूर्ण प्रयोग इस क्षेत्र में सेनापति ने किया। उन्होंने भक्ति, शृंगार रस, नीति-उपदेश, रामचरित-वर्णन तथा ऋतु-वर्णन, सभी विषयों का सफल माध्यम कवित्त-शैली को बनाया।

भक्तिकाल के उपरान्त सम्पूर्ण रीतिकाल में कवित्त-सवैये की इस शैली का विशेष उत्कर्ष दिखायी दिया। इस समय कविता की भाषा ब्रज, रस शृंगार, और छन्द कवित्त-सवैया अभिव्यक्ति के माध्यम रहे। रीतिसिद्ध, रीतिबद्ध और रीतिमुक्त—तीनों ही वर्ग के कवियों ने समान रूप से इस शैली को अपनाया। दो सौ वर्ष के इस दीर्घ समय में इस शैली का सम्पूर्ण साहित्य में निरपवाद प्रयोग इसके उत्कर्ष का परिचायक है। प्रबन्ध-रचना रीतिकाल में नाम गिनाने मात्र के लिए हुई। मुक्तक का ही विशेष प्राचुर्य रहा और मुक्तकों में भी विशेष रूप से कवित्त-सवैया-शैली का। दोहों में 'बिहारी-सतसई' की रचना इस प्रवृत्ति का विशेष अपवाद है। अन्यथा, काव्य-रूप की दृष्टि से कवित्त-सवैयों के रूप में स्फुट मुक्तक का इस काल के साहित्य में एकछत्र आधिपत्य रहा। इनमें पाठ्यरूप का ही, गेय की अपेक्षा, अधिक प्रयोग किया गया।

इस प्रसंग में एक विशेष बात उल्लेखनीय है—यद्यपि प्रत्येक वर्ग के कवियों ने इस शैली को काव्य-रचना के लिए स्वीकार किया, परन्तु काव्य-रचना के उद्देश्य और कवियों के मूलभूत दृष्टिकोण में अन्तर है, और इस अन्तर ने काव्य की आत्मा को मुख्यतः और काव्य के स्वरूप को प्रकारान्तर से प्रभावित किया है। रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों के काव्य में लक्षणों और उदाहरणों का निरूपण जितना है, आत्माभिव्यंजना उतनी नहीं। आश्रयदाता को रिझाने या अपना रचना-कौशल प्रकट करने की लालसा जितनी अधिक है—उतनी अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति नहीं। रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों का काव्य वस्तुपरक है, कवि का दृष्टिकोण इतिवृत्तात्मक है; दूसरी ओर रीतिमुक्त कवियों का काव्य मूलतः आत्मपरक है। इसी कारण इन कवियों की रचनाओं में भावप्रवणता, आत्मद्रव और सहज अन्तःस्फूर्ति का गुण अधिक मिलता है। इन विशेषताओं के कारण इस काव्य में प्रगीत-काव्य के तत्त्वों का समावेश हो गया है। घनानन्द के अनेक कवित्त-सवैये राग-रागिनियों में बँधे हैं, और इस प्रकार आन्तरिक भाव-संगीत के साथ बाह्य संगीत का समावेश करने का भी प्रयत्न किया गया है। इनमें गीति-तत्त्व का प्राचुर्य है, परन्तु गीतों का आकार (बाह्य) इनमें नहीं। कहने का अभिप्राय यह है कि इनकी आत्मा गीतों की है, परन्तु इनकी गेयता—पदों, कला-गीतों अथवा लोक-गीतों की-सी सहज और सरल नहीं, अपितु आरोपित और साध्य है। इस प्रकार रीतिकाल में लिखे गए इन कवित्त-सवैयों के दो स्वरूप हो गए—एक वर्ग स्फुट वस्तुपरक पाठ्य मुक्तकों का था और दूसरा भावप्रवण प्रगीत मुक्तकों का।

आधुनिक काल के आरम्भ से पहले हिन्दी-साहित्य में पाठ्य मुक्तकों की दो शैलियाँ प्रधान रूप से प्रचलित थीं—एक दोहा-शैली और दूसरी कवित्त-सवैया-शैली। दोहों के भी विषय और दृष्टिकोण-भेद से अनेक रूप हो गए, और कवित्त-सवैयों में भी पर्याप्त विषय-वैविध्य दिखायी दिया; परन्तु बाह्याकार की दृष्टि से यही दो मुक्तक-रूप प्रधान रहे। इनके अतिरिक्त नाम गिनाने-मात्र के लिए समय-समय पर कवियों ने दोहा-चौपाई में भी स्फुट रचनाएँ कीं। ध्रुवदास और कबीर ने 'रमैनी' संज्ञा के अन्तर्गत यही शैली अपनायी। अवधी में रचना करने वाले कवियों में तुलसीदास और रहीम ने अवधी के विशेष छन्द 'बरवै' का भी यदा-कदा प्रयोग किया। सोरठा का भी रहीम आदि कवियों ने प्रयोग किया, परन्तु ये शैलियाँ कभी प्रचलन नहीं पा सकीं।

गेय मुक्तक

ऊपर पाठ्य मुक्तकों का विवेचन किया गया। मुक्तक का दूसरा रूप गीतों के रूप में पाया जाता है। गेय मुक्तकों की दो रूपों में स्वीकृति साहित्य में की गई है: कलागीत और लोकगीत। कलागीतों में लेखक का दृष्टिकोण अधिक सजग होता है और अभिव्यक्ति सचेष्ट एवं अलंकृत। कभी-कभी भावप्रवणता के साथ उसी अनुपात में कल्पना एव विचार का भी मिश्रण हो जाता है। इसके विपरीत लोक-गीतों में लोक-जीवन से रस ग्रहण किया जाता है—लेखक की सहज अनुभूति और तीव्र अन्तःस्फूर्ति एवं भावोद्रेक इनका विशेष गुण होता है। विषय प्रायः लोक-जीवन के विशेष प्रसंगों और मानव-मन की मौलिक प्रवृत्तियों से सम्बद्ध होते हैं और इनकी कला सचेष्ट न होकर प्रायः अनगढ़ होती है। गीतों का यह स्वरूप निसर्ग-सुन्दर होता है। प्रस्तुत प्रसंग में हम पहले कला-गीतों के परिचय से ही विवेचन आरम्भ करेंगे। पाठ्य मुक्तकों की दोहा-शैली की ही भाँति, गेय मुक्तकों के अंकुर भी सिद्ध-साहित्य में ही प्राप्त होते हैं। इन बौद्ध कवियों के चर्या-गीतों आदि में जो पद-रचना उपलब्ध है, उसी की अविच्छिन्न धारा बाद में कबीर आदि सन्तों में प्रवाहित हुई। कबीर ने 'शब्द' के रूप में गेय पदों की रचना की। इन गेय पदों को राग-रागिनियों के नाम से लिखने की प्रथा भी बहुत प्राचीन है। सिद्धों में यह प्रवृत्ति स्पष्ट मिलती है। 'कबीर-ग्रन्थावली' और 'गुरु-ग्रन्थ साहब' आदि के गेय पदों में भी रागों का निर्देश है। यही पद्धति सूरदास, तुलसीदास, दादू आदि कवियों में पायी जाती है। मीरा ने भी यही विधि अपनायी है। इस शैली का आरम्भ कब हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु साहित्य में बाह्य संगीत का यह आग्रह और आरोप सिद्धों में निश्चित रूप से मिलता है।

गेय पदों की दूसरी धारा कृष्ण-लीला के वर्णनात्मक पदों के रूप में उपलब्ध है। इन पदों के आरम्भ के विषय में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता; परन्तु इस प्रकार के उपलब्ध साहित्य की परम्परा जयदेव से आरम्भ होकर विद्यापति, चंडीदास आदि के पदों में होती कृष्ण-भक्तों के साहित्य में चरम प्रकर्ष को प्राप्त हुई। तुलसी जैसे मर्यादाबद्ध कवि भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं बचे। भक्तिकाल के उपरान्त रीतिकाल में यह धारा क्षीण हो गई। इसका पुनरुद्धार आधुनिक काल में भारतेन्दु और उनके समसामयिक कवियों द्वारा हुआ।

लोक-गीत

लोक-गीतों का स्थान ग्रन्थों में नहीं, जनता के कंठ में सुरक्षित रहता है। इनके रचयिता

यशोलिप्सा के अभाव में या सदा अज्ञात रहते हैं, या अधिक से अधिक गीत की अन्तिम कड़ी के साथ उनका नाम जुड़ा रहता है, जो समय के साथ प्रायः रूप बदलता जाता है। मध्ययुग में इस प्रकार के जनगीतों को लिखित रूप देने का सचेष्ट प्रयत्न नहीं किया गया, अतः लोकगीतों की प्राचीन व मध्ययुगीन परम्परा का प्रामाणिक साहित्य आज प्राप्त नहीं। इन लोकगीतों की कला का अनुमान उस काल के कवियों की साहित्यिक रचनाओं पर पड़े इनके प्रभाव, अथवा इस प्रकार के एकाध लिखित प्रयोगों से लगाया जा सकता है।

लोकगीतों में प्रधानतः दो प्रकार के गाने मिलते हैं—वे गीत जो किसी विशेष उत्सव या अवसर पर गाये जाते हैं। इन गीतों में व्यक्तिगत भावना की अपेक्षा सामूहिक या जातिगत भावना की प्रधानता होती है। दूसरे प्रकार के गीत विरह, मिलन आदि किसी व्यक्तिगत तीव्र अनुभूति से प्रेरित होते हैं; परन्तु इनका सम्बन्ध भी किसी ऐसी भावानुभूति से होता है जिसकी सत्ता सार्वभौम और नैसर्गिक होती है। इन गीतों में भाषा की स्थानीय विशेषता और 'हे, हो' आदि सम्बोधन-वाचक शब्दों का प्रयोग पंक्ति के आरम्भ में मिलता है। 'आली, माई' आदि को सम्बोधित कर ये गीत प्रायः गाये जाते हैं।

लोक-गीतों की इस परम्परा का आरम्भ अपभ्रंश-साहित्य से ही मिल जाता है। जैन सन्तों ने फाग, चर्चरी आदि विशेष अवसरों पर गाये जाने वाले लोक-गीतों की रचना की है। जिनदत्त सूरि ने चर्चरी के साथ लोक-प्रचलित रासक जाति के गीतों को भी अपनाया था। चर्चरी से कवि-परिचय की सूचना तो संस्कृत के बाणभट्ट और हर्षदेव आदि की रचनाओं में भी मिल जाती है। इसी चर्चरी का प्रयोग कबीर ने 'चांचर' नामक अध्याय में अपने बीजक में किया है। कबीर ने चर्चरी को उसके लोक-प्रचलित विषय शृंगार तक ही सीमित न रखकर आध्यात्मिक उपदेश देने का भी प्रयत्न किया है। उनसे पूर्व यह शृंगार रस-प्रधान निबद्ध गान नाच-नाचकर गाया जाता था।

निर्गुण सन्तों की रचना में यह चांचर के रूप में प्राप्त है। इसके अतिरिक्त कबीर ने हिंडोला, विरहुली, कहरा, बेलि आदि जैसे कुछ लोकगीतों को भी अपनाया। तुलसीदास के काव्य में जिस सोहर को स्थान मिला, उसकी लिखित परम्परा उनसे पूर्व प्राप्त नहीं। कृष्ण-भक्तों के काव्य में कहीं-कहीं होली आदि का वर्णन करते समय लोकगीतों की कला का प्रभाव पड़ा है, परन्तु उन्होंने कृष्ण के रूप और उनके जीवन से सम्बन्धित जिन विविध प्रसंगों के अलंकृत वर्णन किये हैं वे साहित्य की विभूति हैं और उनकी कला प्रयत्नसाध्य कला है। इन गीतों में बधाई तथा अन्य संस्कारों के अवसर पर गाने के लिए लिखे गए गीतों की गणना तो लोकगीतों के अन्तर्गत ही की जाएगी।

मीरा के काव्य पर लोकगीतों का स्पष्ट प्रभाव है। उन्होंने कुछ होलियाँ लिखीं; इसके अतिरिक्त नारी होने के नाते यह कला उनके संस्कारों में विद्यमान थी। अतः उनके अनेक पदों में शब्दों के ठेठ स्थानीय प्रयोग हैं—'हो, री, आली, माई' आदि सम्बोधनवाचक शब्दों का प्रयोग भी प्रचुर है। कहीं-कहीं उनके पदों की मार्मिकता, ग्राम्य जीवन से गृहीत ठेठ उपमाएँ तथा विरह-वर्णन भी इसी ढंग का है।

कृष्ण-भक्तों के काव्य पर—हिंडोला, फाग, रास आदि के लीला-वर्णनों में, और चर्चरी

जैसे गानों में प्रायः लोक-साहित्य की छाप मिलती है। यही परम्परा रीतिकाल में होने वाले नागरीदास आदि कृष्ण-भक्तों द्वारा परिपालित है। रीतिकारों की चमत्कार-प्रधान सचेष्ट कला में इस प्रकार के सहज काव्य-रूपों का अभाव है। बाद में भारतेन्दु-युग में गाने के लिए रचित काव्य-रूपों में पुनः इस कला की छाप मिलती है।

भारतेन्दु-युग में प्रयुक्त काव्य-रूप

अब तक जिन मुक्तक काव्य-रूपों का विवेचन किया गया, उनसे आधुनिक युग के आरम्भ से पूर्व रीतिकाल के अन्त तक की साहित्यिक गतिविधि पर प्रकाश पड़ता है। भारतेन्दु-युग के उदय के साथ जीवन के अन्य क्षेत्रों की ही भाँति साहित्य के क्षेत्र में भी एक नवीन चेतना का अभ्युदय होता है। इसके साथ ही यह साहित्य प्रस्तुत प्रबन्ध के विवेच्य काव्य की पृष्ठभूमि के रूप में हमारे सम्मुख है। अतः भारतेन्दु-युग के कवियों की साहित्यिक उपलब्धियों पर प्रकाश डालना आवश्यक है। इस युग के कवियों द्वारा प्रयुक्त रूप-विधाओं का पर्यवेक्षण करते समय कुछ तथ्य सामान्य रूप से दृष्टि में रखने अनिवार्य हैं—

१. इस युग की रचनाओं में प्राचीन काव्यधारा ने आकर एक नवीन मोड़ लिया; परन्तु यह दिशा-परिवर्तन रूप-विधाओं की अपेक्षा विषयों, कवि की अन्तश्चेतना, और अभिव्यंजना-शैली में अधिक दृष्टिगत हुआ। गद्यभाषा के रूप में खड़ीबोली की स्वीकृति हो जाने पर भी काव्य-रचना के लिए ब्रजभाषा के त्याग का प्रयत्न नहीं किया गया। परम्परा-प्राप्त भाषा के साथ उसके प्रचलित छन्दों को भी यथावत् अपना लिया गया। कदाचित् भाषा की प्रकृति, शब्द-योजना आदि के लिए यही छन्द विशेष उपयुक्त सिद्ध हो चुके थे।

२. यह नहीं कहा जा सकता कि किसी प्रकार के नवीन प्रयोग इस काल में हुए ही नहीं। उर्दू-साहित्य के प्रभाव की छाया पहले से ही धीरे-धीरे हिन्दी-साहित्य पर पंख पसार रही थी। इस काल में उर्दू के कुछ छन्द प्रयोग में लाये गए; ग़ज़ल आदि काव्य-रूपों को भी अपनाया गया तथा साथ ही कुछ रूप-विधाएँ अँगरेजी साहित्य के प्रभाववश भी अपनायी गईं, जिनका उल्लेख यथास्थान किया जाएगा। परन्तु परम्परा से भिन्न रूप-विधाओं का जो वैविध्य, परवर्ती खड़ीबोली-काव्य की विभूति है, वह भारतेन्दु-युग में प्राप्य नहीं। विविधता का अभाव नहीं, परन्तु विषय-परिवर्तन तथा प्राण-चेतना के परिवर्तन पर भी उसी अनुपात में रूप-विधाओं में परिवर्तन दिखायी नहीं पड़ता। अकेले भारतेन्दु के काव्य में लगभग सभी (मुक्तक के क्षेत्र में) पूर्ववर्ती काव्य-रूपों का प्रयोग प्राप्य है, परन्तु भाषा के साथ प्रयोग के ढाँचे भी परम्पराभुक्त हैं। अपने से पूर्व सभी काव्य-विधाओं तथा लोक-साहित्य में प्रचलित अनेक काव्य-रूपों के प्रयोग उनकी प्रतिभा, कौशल और लेखनी की सिद्धहस्तता के परिचायक हैं—इस क्षेत्र में उनकी अद्भुत शक्ति और सामर्थ्य श्लाघ्य है।

३. जैसा पहले संकेत किया जा चुका है, इस युग की कविता में मौलिक प्रबन्ध-रचना की प्रवत्ति का लगभग पूर्णतः अभाव है। बृहद् प्रबन्धों में केवल महाराज रघुराजसिंह की रचना 'रामस्वयंवर' का उल्लेख किया जा सकता है। इस रचना में राम और सीता के विवाह का विस्तृत वर्णन नामपरिगणन-प्रधान इतिवृत्त-शैली में किया गया है। भारतेन्दु व अन्य कवियों

ने यद्यपि मौलिक प्रबन्ध नहीं लिखे, परन्तु संस्कृत के कुछ ग्रंथों का अनुवाद ब्रजभाषा के प्रचलित छन्दों में हुआ। राजा लक्ष्मणसिंह और ठाकुर जगमोहनसिंह ने 'मेघदूत' का अनुवाद किया। लाला सीताराम ने दोहा-चौपाइयों में 'रघुवंश' और घनाक्षरी में 'मेघदूत' का अनुवाद किया। श्रीधर पाठक ने 'ऋतुसंहार' का रसपूर्ण ब्रजभाषा में अनुवाद किया और राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने भी 'मेघदूत' का शीर्षक-सहित अनुवाद 'धाराधर-धावन' नामक रचना में किया। इस प्रकार अनुवादों के रूप में कुछ प्रबन्ध-ग्रन्थों का प्रणयन इस काल में किया गया। यद्यपि 'हरिऔध' आदि प्रतिभाशाली विद्वानों का आविर्भाव इसी युग में हो गया था, परन्तु उल्लेखनीय प्रबन्धों की रचना उनके द्वारा द्विवेदी-युग में ही हुई। अतः इस युग में मुक्तक-विधाओं का विवेचन ही मुख्य रूप से अभिप्रेत है।

उपर्युक्त तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए इस युग की रचनाओं का विभाजन तीन मुख्य वर्गों के अन्तर्गत करने के उपरान्त उनका परिचय देना अधिक सुलभ होगा—

१. परम्परा से गृहीत साहित्यिक रूप-विधाएँ।

२. विदेशी, बँगला तथा उर्दू-साहित्य के प्रभाववश गृहीत रूप-विधाएँ व अन्य नवीन प्रयोग।

३. लोक-साहित्य से गृहीत रूप-विधाएँ।

भारतेन्दु अपने युग के प्रतिनिधि साहित्यकार थे। उनके द्वारा प्रयुक्त रूप-विधाओं के परीक्षण से समकालीन सभी कवियों द्वारा गृहीत रूप-विधाओं का ज्ञान सम्भव हो सकेगा। भारतेन्दु के द्वारा प्रयुक्त काव्य-विधाओं के अतिरिक्त एकाध नवीन प्रयोग को छोड़कर कोई विशेष महत्त्वपूर्ण और मौलिक प्रयोग इस क्षेत्र में नहीं हुआ। अपने काव्य में भारतेन्दु ने उस काल में प्रचलित सभी मुक्तक-विधाओं का उपयोग किया। उपर्युक्त विभाजन के अनुसार सर्वप्रथम वर्ग (परम्परा-प्राप्त साहित्यिक विधाएँ) के अन्तर्गत उन्होंने अपने काव्य में निम्नलिखित प्रयोग किये :

पद-शैली

कृष्ण-भक्त कवियों की परम्परा से गृहीत राग-रागिनियों में बँधे पदों में, एक ओर कृष्ण-भक्तों के स्वर में राधा का विरह-वर्णन है, कहीं-कहीं भाव तक परम्परा-प्रभावित हैं; और दूसरी ओर तुलसी और सूर का-सा विनय-प्रधान दैन्य व प्रलाप। इन पदों की एक विशेषता द्रष्टव्य है—जहाँ भारतेन्दु ने कुछ पदों को राग-रागिनियों में बाँधा है, वहाँ दूसरी ओर कुछ अन्य पदों में ताल-सम्बन्धी विशेषता का निर्देश किया है। राग स्वर के भावानुकूल उतार-चढ़ाव का द्योतक होता है और ताल छन्द की गति का नियमन करती है। संगीत के इन युग्म तत्त्वों को समान महत्ता प्रदान करने का अभिप्राय कदाचित् यही है कि काव्य में, विशेषकर गीति में, जहाँ एक ओर भाव और स्वर का संगीत अनिवार्य है, वहाँ लय और गति का संगीत भी होना अपेक्षित है। उनके यह पद गीति-काव्य के अन्तर्गत आते हैं।

कवित्त-सवैया-शैली

दूसरा प्रयोग उन्होंने रीतिकालीन कवियों की लोकप्रिय कवित्त-सवैये की शैली में किया। निश्चय ही उस काल के कवियों की अपेक्षा विषयों के क्षेत्र में भारतेन्दु की गति कहीं अधिक

व्यापक है। इन कवित्त-सवैयों में शृंगारपरक रचनाएँ भी हैं, और वर्णन-प्रधान तथा समस्या-पूर्ति आदि के उद्देश्य से लिखे गए छन्द भी। निश्चय ही, काव्य के स्तर की दृष्टि से शृंगारपरक कवित्त-सवैये कहीं अधिक सजीव हैं, और रीतिकालीन काव्यधारा के पर्याप्त निकट, कहीं-कहीं अद्भुत भावसाम्य है।

दोहा-शैली

भारतेन्दु से पूर्व दोहों की परम्परा विषय-भेद से तीन मुख्य रूपों में मिलती है—कबीर आदि संत कवियों की धर्मोपदेश-प्रधान साखी; वृन्द, रहीम आदि कवियों के नीति-उपदेश-प्रधान दोहे; तथा बिहारी, रसलीन आदि के शृंगारपरक दोहे। विषय की दृष्टि से भारतेन्दु के दोहा-काव्य को उपर्युक्त धाराओं के अन्तर्गत स्थान नहीं दिया जा सकता। शृंगारपरक दोहे उनके काव्य में अल्प संख्या में हैं, वे भी नायिकाभेद, अभिसार, दूती-प्रसंग आदि से उतने सम्बन्धित नहीं, जितने वसन्त-आदि ऋतुओं के वर्णन से। कुछ दोहे वीररस के व्यंजक हैं तथा भगवद्भक्ति के प्रसंग में विभिन्न रूप-सम्बन्धी चिह्नों आदि के वर्णन से सम्बद्ध दोहों की संख्या भी पर्याप्त है। नीति-विषयक दोहों का भी अभाव नहीं, परन्तु इन दोहों की आत्मा परम्परा से भिन्न है। सदाचार, नीति, व्यवहार-कौशल आदि पर उपदेश न होकर हिन्दी की उन्नति जैसे प्रसंगों पर व्याख्यान-सा देने का प्रयत्न दिखायी पड़ता है।

छप्पय-शैली

छप्पय छन्द का प्रयोग प्रायः पूर्व-परम्परा में वीररस के प्रसंगों में ही कवियों द्वारा किया गया। प्रबन्धों के मध्य अन्य छन्दों में रचना करते समय भी वीररसात्मक प्रसंग आने पर कवियों ने छप्पय के प्रयोग में विशेष रुचि दिखायी—'पृथ्वीराज रासो' तथा 'रामचरितमानस' दोनों ही सुप्रसिद्ध ग्रन्थ इस प्रवृत्ति के द्योतक हैं; परन्तु छप्पय का प्रयोग कृष्ण-स्तुति जैसे विषय के लिए भारतेन्दु से पूर्व सर्वथा अपरिचित नहीं, तो विरल निश्चय ही था। परन्तु भारतेन्दु ने कृष्ण-स्तुति तथा प्रबोधिनी आदि जैसे प्रसंगों का वर्णन उपर्युक्त छन्द में किया है।

भारतेन्दु द्वारा कतिपय ऐसी मुक्तक विधाओं का प्रयोग किया गया, जिन्हें सरसता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्वीकार नहीं किया जा सकता और न ही ये प्रयोग उच्च कोटि की साहित्यिक अभिरुचि के प्रतीक हैं; बल्कि इन प्रयोगों से काव्य के क्षेत्र में वैविध्य-प्रदर्शन के दुराग्रह की गन्ध आती है। इस बहुमुखी प्रतिभा का प्रयोग रूप-विभिन्नता के स्थान पर काव्य में सरसता, सजीवता और अभिव्यंजना-कौशल आदि के लिए देखने की आकांक्षा होती है। प्रतीत होता है, रूप-विधाओं के क्षेत्र में वैचित्र्य प्रस्तुत करने का आग्रह भारतेन्दु के हृदय में निश्चय ही विद्यमान था, अन्यथा खुसरो के उपरान्त दीर्घकाल से उपेक्षित मुकरियों जैसी विधा को पुनरुज्जीवन प्रदान करने के मूल में कोई तर्क-सम्मत औचित्य प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार का एक और प्रयास उन्होंने चित्रकाव्य-रचना के रूप में किया है। भारतेन्दु की मुकरियों के विषय आधुनिक हैं, तथा 'इंगलैंडा-पारसीक-वर्ण-चित्रिता' 'अथ-अंकमयी' आदि कविताओं में उन्होंने नये ढंग से चित्र-अलंकार का प्रयोग किया है। उर्दू और अँगरेज़ी की वर्णमाला तथा कहीं-कहीं अंकों का प्रयोग, उनकी उच्चारण-ध्वनि के आधार पर किया गया है। परन्तु दोनों ही प्रयोग (मुकरियाँ और

चित्रकाव्य) काव्य-कला की दृष्टि से उच्च कोटि की रचना स्वीकार नहीं किये जा सकते।

उपर्युक्त मुक्तक-रूपों के अतिरिक्त कुछ रचनाएँ भारतेन्दु ने शुक्लजी के शब्दों में 'वस्तु-वर्णनात्मक प्रबन्ध' अथवा आनन्दवर्द्धनाचार्य के अनुसार 'पर्याय-बन्ध' शैली में कीं। इनमें 'दान-लीला', 'देवी-छद्म-लीला' तथा विभिन्न छन्दों में वर्णित 'रानी-छद्म-लीला' आदि प्रसंगों के वर्णन आते हैं। इस प्रकार के प्रसंगों का वर्णन भक्तिकाल एवं रीतिकाल के कवियों में भी प्रचलित था। कृष्ण के साथ रामलीला का वर्णन भी कवि ने दोहा, कवित्त, सवैया आदि परम्परागत छन्दों में किया है। इन छन्दों में अयोध्या-काण्ड तक की कथा का वर्णन है। कथाश्रित होते हुए भी छन्दों में स्फुट मुक्तक के गुण विद्यमान हैं। बीच-बीच में गद्य की पंक्तियों में वर्णन करके छन्दों में पारस्परिक तारतम्य और क्रम बैठाया गया है। इस प्रकार का प्रयोग भी उपर्युक्त विधाओं में ही आयेगा।

दूसरे वर्ग में आने वाली रचनाओं में भारतेन्दु ने कहीं-कहीं उर्दू-कविता का प्रभाव ग्रहण किया। बँगला के एकाध छन्दों के प्रति रुचि दिखायी तथा कुछ ऐसे प्रयोग किये जिनमें सम्मिलित रूप से लोक-प्रचलित रासलीला, रामलीला, नौटंकियों और पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों आदि का प्रभाव और उनकी मौलिक प्रतिभा का विचित्र संयोग था।

उर्दू कविता के शेरों और ग़ज़लों की शैली में भारतेन्दु ने कुछ रचनाएँ कीं। बँगला के 'पयार' छन्द का प्रयोग भी उन्होंने 'प्रातः समीरन का वर्णन' नामक कविता में किया। उक्त कविता में बन्ध की नवीनता न होकर छन्द की विशिष्टता है (बाद में 'निराला' ने भी इस छन्द को ग्रहण किया), अन्यथा बन्ध की दृष्टि से यह रचना 'वस्तुवर्णनात्मक प्रबन्ध' ही है। अन्य भाषाओं के छन्द-प्रयोग के साथ-साथ भारतेन्दु ने विक्टोरिया की स्तुति में संस्कृत के कुछ छन्दों की रचना भी कर डाली। इनके अतिरिक्त कुछ दोहाबद्ध कोरस (वृन्द-गान) भी उन्होने लिखे। कोरस का विधान पारसी-नाटक-कम्पनियों के द्वारा अभिनीत नाटकों की विशेषता थी। ये कोरस रूप-विधा की दृष्टि से संयुक्त मुक्तक ही कहलायेंगे।

उर्दू की नाटकाभास-पद्धति 'इन्दरसभा' के अनुकरण पर भारतेन्दु ने 'बन्दरसभा' नामक पद्यबद्ध नाटक की रचना की; परन्तु यह रचना उच्च कोटि के साहित्य के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती।

भारतेन्दु ने अपने काव्य में कुछ प्रयोग इस प्रकार के किये, जो सर्वथा नवीन नहीं कहे जा सकते। संख्यावाचक शीर्षकों के अन्तर्गत उन्होंने ऐसे मुक्तकों की रचना की, जिनमें परस्पर भाव की एकान्विति तथा सम्बन्ध है। विषय तथा प्रसंग की दृष्टि से ये मुक्तक सापेक्ष नहीं। उनमें किसी प्रकार का पूर्वापर-सम्बन्ध नहीं और अर्थ की दृष्टि से प्रत्येक छन्द स्वतःपूर्ण है; परन्तु इनके साथ ही इन छन्दों में परस्पर मूल भावना का सम्बन्ध है, अर्थात् सबकी रचना एक ही मूल भाव के प्रतिपादन के लिए हुई है—'अपवर्ग-पंचक', 'अपवर्गाष्टक' आदि इसी वर्ग की रचनाएँ हैं। एक सामान्य शीर्षक के अन्तर्गत निबद्ध होने के कारण ही इनमें परस्पर-सम्बन्ध है, अन्यथा ये स्फुट छन्द भावैक्य के कारण एक विशेष शीर्षक के अन्तर्गत संकलित हैं। परवर्ती काव्य में रत्नाकर के 'वीराष्टक' आदि प्रसंग भी इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। इनमें प्रयुक्त छन्द नवीन नहीं।

उपर्युक्त प्रयोगों के अतिरिक्त भारतेन्दु ने कुछ इस प्रकार की मुक्तक-विधाओं में भी

रचना की जिनके पीछे न परम्परा का बल है, और न किसी विशेष साहित्य का प्रभाव। ये प्रयोग एक विशेष प्रकार की स्वच्छन्दता के प्रतीक हैं। छन्द परम्परा-प्राप्त हैं, भाषा भी नवीन नहीं, अभिव्यंजना-शैली में भी किसी प्रकार की उल्लेखनीय नवीनता नहीं; परन्तु इस प्राचीन सामग्री का नियोजन सर्वथा नवीन ढंग से किया गया है। इन कविताओं के विषय निश्चित रूप से तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति की देन हैं, अतः सर्वथा नूतन हैं। साहित्य के क्षेत्र में गद्य के विकास ने भी इन विधाओं के निर्माण में योगदान दिया है। इस प्रकार का एक प्रयोग ड्यूक आफ एडिनबरा के भारत-आगमन के अवसर पर 'सुस्वागत-पत्र' शीर्षक में किया गया है। उनकी स्तुति में दो दोहों से इस कविता का आरम्भ हुआ और तदुपरान्त ही पद्य से कवि गद्य की ओर झुक गया है। राजभक्त हृदय के उद्‌गार उनकी लेखनी द्वारा भावमयी गद्य-शैली में व्यक्त होने लगे, यह मानो आगामी काव्य-रचना की पृष्ठभूमि थी; अतः कवि पुनः इस भावप्रवण गद्य-भूमिका के उपरान्त पद्य-रचना में प्रवृत्त हो गया है। कवित्त छन्दों में उनकी महत्ता का वर्णन और स्तुति करने के उपरान्त दोहों में रूपक अलंकार के प्रयोग द्वारा षट्‌ऋतु-वर्णन करते हुए इस कविता की इति हुई है। काव्य-रूप का प्रश्न जहाँ तक है, इसे न स्फुट मुक्तक ही कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक छन्द परस्पर-सम्बद्ध है; यह कविता प्रबन्ध भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि विभिन्न छन्दों की सम्बद्धता किसी कथा व प्रसंग को लेकर नहीं, स्तुति के प्रशंसात्मक भाव के कारण है। पद्यात्मक निबन्ध की गठन और भाव व विचार की दृढ़ अन्विति का भी यहाँ अभाव है। गद्य के प्रयोग का भी औचित्य नहीं। इस प्रकार के प्रयोग उनकी स्वच्छन्द प्रकृति के परिचायक हैं।

ऐसा ही एक प्रयोग उन्होंने स्वर्गवासी प्रिंस अलवर्त की मृत्यु पर 'स्वर्गवासी श्री अलबरत-वर्णन अंतर्लापिका' लिखकर किया। अंतर्लापिका-लेखन की प्रवृत्ति उनसे पूर्व हिन्दी-साहित्य में अप्राप्य नहीं। खुसरो ने भी बहुत पहले ऐसे प्रयोग किये थे, परन्तु उन्होंने दो पंक्तियों से अधिक बड़े छन्द में यह चमत्कार दिखाने का साहस नहीं किया था। भारतेन्दु ने छप्पय जैसे बड़े छन्द में यह प्रयोग करके दिखाया है।

उपर्युक्त विधाओं के अतिरिक्त भारतेन्दु ने विभिन्न विषयों पर कुछ लम्बी कविताएँ भी लिखी हैं। इन कविताओं में कहीं एक ही विषय पर पूर्वापर क्रम से आबद्ध एकाधिक छन्द लिखे गए हैं, तथा कहीं आद्योपान्त एक ही छन्द की पंक्तियों का प्रयोग किया है। प्रथम वर्ग में 'भारत-भिक्षा', 'राजकुमार शुभागमन वर्णन', 'विजयिनी-विजय-पताका', 'भारत-वीरत्व' आदि कविताएँ, और दूसरे में 'मानसोपायन' आदि कविताएँ आती हैं। इन कविताओं को एक ओर शास्त्रीय अर्थ में मुक्तक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रचित छन्द परस्पर पूर्वापर क्रम से मुक्त नहीं, उनमें प्रसंग और भाव की अन्विति है। दूसरी ओर खण्डकाव्यों के लिए अपेक्षित घटना और निश्चित सीमा तक उसके विस्तार का भी इनमें अभाव है। विषय की दृष्टि से इन कविताओं में अवसर-विशेष पर पाठ करने के लिए लिखे गए कवि के प्रशंसामूलक भाव हैं—जिनकी अभिव्यक्ति भाव की एकता से निबद्ध एकाधिक मुक्तकों में हुई है, अतः इन्हें संयुक्त मुक्तक कहा जा सकता है; अथवा मुक्तक शब्द के व्यापक अर्थ में एक भाव-विशेष की एक उचित सीमा तक मुक्त (अन्य प्रसंगों अथवा घटनाओं से स्वतन्त्र) अभिव्यक्ति मानकर इन्हें मुक्तक छन्द नहीं, अपितु मुक्तक

कविता स्वीकार किया जा सकता है। भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी-साहित्य में या तो स्फुट छन्दों—दोहा, कवित्त, सवैया में मुक्तक-रचना करने की परिपाटी अधिक प्रचलित रही, अथवा कवियों ने विभिन्न घटनाओं अथवा कृष्ण के जीवन के कथामूलक प्रसंगों—दान-लीला, मान-लीला, चीर-हरण आदि को लेकर छोटे-छोटे खण्डकाव्य तथा पर्यायबन्ध लिखे। भाव या विचार-विशेष से पूर्वापर क्रम में बद्ध, परस्पर अन्योन्याश्रित छन्दों में, छोटे-बड़े आकारों की कविताएँ लिखने का प्रचलन आधुनिक युग में ही अधिक हुआ। भारतेन्दु की इन कविताओं में प्रायः दोहा, चौपाई आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। श्री रवीन्द्रसहाय वर्मा ने अपने प्रबन्ध 'हिन्दी-काव्य पर आँग्ल-प्रभाव' में इन कविताओं को अँगरेजी के 'ओड' अर्थात् संबोधन-गीत की शैली की रचनाएँ स्वीकार किया है। ऐसी मान्यता व्यक्त करने से पूर्व विद्वान् लेखक ने स्वयं 'ओड' की परिभाषा देते हुए लिखा है—

"ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार 'ओड' गाने के उद्देश्य से रचित कविता होती थी, किन्तु अपने आधुनिक रूप में वह कोई भी गीति (Lyric) हो सकती है, जिसे संबोधन के रूप में तुकान्त अथवा अतुकांत ढंग से ५० और २०० पंक्तियों के मध्य के आकार में लिखा जाये। .....भारतेन्दु ने विशेष अवसरों पर पढ़ने के लिए अनेक संबोधन-गीतों की रचना की। उनकी 'वैजयन्ती-विजय-पताका', 'भारत-भिक्षा' और 'भारत-वीरत्व' आदि कविताएँ 'ओड' की शैली में लिखी गई हैं।"[1]

स्पष्टतः लेखक ने आधुनिक 'ओड' में गेयता को यद्यपि अनिवार्य तत्त्व स्वीकार नहीं किया, परन्तु प्रगीत (Lyric) होने के नाते सम्बोधन-गीतियों में भाव-प्रवणता, आत्मपरक दृष्टिकोण और वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति होना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त यह कविता निश्चय ही किसी जड़ अथवा चेतन के प्रति सम्बोधन के रूप में लिखी जानी चाहिए। अन्यथा सामान्य प्रगीत और सम्बोधन-गीति में व्यावर्त्तन सम्भव न हो सकेगा। भारतेन्दु की उदाहरण-स्वरूप कथित कविताएँ इन सभी गुणों से शून्य हैं। कहा नहीं जा सकता, विद्वान् लेखक की उक्त धारणा का आधार क्या है।

प्रगीत और गीत का अन्तर जितना बाह्य-स्वरूप का है, उतना आन्तरिक आत्मा का नहीं। गीत के लिए गेयता—अर्थात् स्वर का संगीत, अनिवार्य है, प्रगीत के लिए नहीं। परन्तु पाठ्य मुक्तक और प्रगीत में आत्मा का अन्तर है। प्रथम में कवि का दृष्टिकोण वस्तुपरक हो सकता है, वह आचार, नीति के उपदेश दे सकता है; परन्तु प्रगीत-काव्य में आत्मद्रव, भावना का संगीत व रागात्मकता का होना अनिवार्य है। पन्त की दो कविताओं—'मौन-निमन्त्रण' तथा 'ग्राम-युवती' में यह पारस्परिक अन्तर स्पष्ट है। पहली प्रगीत का सुन्दर उदाहरण है और दूसरी वस्तुपरक मुक्तक का। दोनों कविताओं का पारस्परिक अन्तर आत्मा का है—बाह्य कलेवर का उतना नहीं। यद्यपि कोई भी काव्य बिना कवि की आत्मा का संस्पर्श पाये अभिव्यक्ति का विषय नहीं हो सकता, कवि वस्तुजगत् का चित्रण भी निजी अनुभूति और दृष्टिकोण के आधार पर करता है। इसी प्रकार बाह्य-जगत् से सर्वथा असम्पृक्त, आधारशून्य, कवि की आत्माभि-

---

१. हिन्दी-काव्य पर आँग्ल प्रभाव : रवीन्द्रसहाय वर्मा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ८

व्यक्ति काव्य नहीं हो सकती। कहीं न कहीं, प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रूप में, प्रेरक अनुभूति के मूल में बाह्य-जगत् का संश्लेष अनिवार्य है। परन्तु काव्यरूप का निर्णय करते समय हमें ध्यान में रखना होता है कि कविता-विशेष में वस्तुपरक अभिव्यक्ति है या आत्मपरक, कवि के प्रेरक भाव में बहिर्जगत् महत्त्वपूर्ण है या अन्तरात्मा, वह इतिवृत्तात्मक वर्णन करता है या आत्मनिष्ठ।

भारतेन्दु की 'भारत-भिक्षा' कविता राजकुमार अलवर्त के भारत-आगमन के अवसर पर दोहा-चौपाई आदि छन्दों में लिखी गई प्रशस्तिमूलक कविता है। उनके आगमन पर भारत में होने वाली प्रसन्नता, स्वागत के आयोजन आदि का अत्यधिक वस्तुपरक इतिवृत्तात्मक वर्णन है। परिस्थिति का इतना स्थूल वर्णन किसी भी इतिवृत्त की तुलना में श्रेष्ठ सिद्ध होगा—

सिरन झुकाइ सलाम करि, मुजरा करहु जुहारि।
जटितहु जूतन त्यागि के, स्वच्छ बूट पग धारि॥[1]

न इस प्रकार की भावाभिव्यक्ति प्रगीत की आत्मा के अनुकूल है और न दोहा-छन्द।

कविता के आरम्भ की पंक्ति—

अहो आज का सुनि परत, भारत भूमि मँझार।

का 'अहो' शब्द सम्बोधन-वाचक नहीं, अपितु विस्मय-बोधक है। अतः इस कविता का अन्तर्भाव अँगरेजी की 'ओड' शैली पर लिखी गई कविताओं में नहीं किया जा सकता। दूसरी कविता 'भारत-वीरत्व' अफगान-युद्ध के अवसर पर भारतीयों को अँगरेजों के पक्ष से लड़ने के लिए उत्साहित करने के हेतु लिखी गयी। कवि का दृष्टिकोण प्रसंग-भेद से उसी प्रकार का है जैसा 'भारत-भिक्षा' कविता की रचना के समय था। तीसरी कविता 'वैजयन्ती-विजय-पताका' (कदाचित् लेखक का अभिप्राय 'विजयिनी-विजय-पताका' से है) का स्वर भी पहली दो रचनाओं से भिन्न नहीं। अवसर पृथक् है—इसकी रचना सन् १८९२ ई० में अंगरेजों की मिस्र पर विजय-प्राप्ति के अवसर पर हुई, परन्तु कवि का दृष्टिकोण वही इतिवृत्तात्मक वस्तुपरक है।

हमारे विचार से इस प्रकार की मान्यता को स्वीकार करने के लिए 'ओड' शब्द में अति-व्याप्ति-दोष की प्रतिष्ठा करनी होगी, या 'ओड' सम्बन्धी धारणा के साथ बलात्कार करना होगा। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में 'ओड' का आरम्भ भारतेन्दु की इन कविताओं से स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इन कविताओं को आनन्दवर्धन द्वारा कथित विधा 'पर्यायबन्ध' के अन्तर्गत रखा जा सकता है। बाह्याकार की दृष्टि से इन्हें संयुक्त मुक्तक भी कह सकते हैं। परन्तु यह शब्द सामान्य रूप से सभी छोटी-बड़ी कविताओं के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है, इससे कविता की भावगत या शैलीगत विशेषता का आभास नहीं मिलता। अतः प्रसंग-विशेष (वसन्तादि) के वर्णन में प्रवृत्त रचनाओं को आचार्य आनन्दवर्धन ने पर्यायबन्ध कहा। ये कविताएँ भी अवसर-विशेष के उपलक्ष्य में लिखी गई वर्णन-प्रधान कविताएँ हैं, अतः इन्हें वस्तुवर्णनात्मक लघु प्रबन्ध अथवा पर्यायबन्ध कहना ही उचित होगा। पद्यात्मक निबन्ध इन्हें इसलिए नहीं कहा जा सकता कि इनमें विचार, चिन्तन उतना नहीं, जितना प्रशस्तिमूलक भाव प्रधान है। साथ ही मूल विषय के प्रति-

---

१. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृष्ठ ७०३

पादन और सुदृढ़ भावान्विति पर इतना बल प्रदान नहीं किया गया है, जितना उल्लासमय और स्फूर्तिदायक भावों की अभिव्यक्ति पर।

ऊपर जिन साहित्यिक विधाओं का विवेचन किया गया है, इनके अतिरिक्त भारतेन्दु ने मुक्तक रूपों में कुछ लोक-साहित्य से प्रभावित रचनाएँ भी कीं। रागों में बँधी होली एक ओर, और दूसरी ओर 'डफ की होली' लिखकर उन्होंने संगीत-मर्मज्ञता के साथ अपनी रसिकता का परिचय दिया।

सारांश में भारतेन्दु के साहित्य में विचित्र वैविध्य है। मुक्तक के लगभग सभी परम्परागत काव्य-रूप उनकी रचनाओं में प्राप्त हैं। भाव की दृष्टि से कहीं प्रतिपाद्य विषय, मूलभूत भावना भी परम्परागत है और कहीं युग-चेतना के अनुसार परिवर्तित हो गई है। काव्य-रूपों की दृष्टि से भी यथासंभव उन्होंने बहुत कुछ उर्दू-साहित्य से, एवं नाम गिनाने को बँगला और अँगरेजी साहित्य से भी लिया, परन्तु भारतेन्दु के काव्य की आत्मा और बाह्य परम्परागत ही हैं। उनके साहित्य में उच्च कोटि की काव्य-कला कृष्ण-भक्त कवियों की गेय पद शैली और रीतिकालीन कवियों की शृंगार-प्रधान कवित्त सवैये की शैली में ही दृष्टिगत होती है। ये दोनों शैलियाँ भारतेन्दु की रसिकहृदयता, संगीत-मर्मज्ञता और अनुरागी स्वभाव के अधिक अनुकूल थीं। शेष रचनाओं में विविधता का आग्रह और चमत्कार की आकांक्षा, भावाभिव्यक्ति की सहज प्रेरणा से अधिक प्रबल प्रतीत होती है। संगीत पर उनका अप्रतिम अधिकार और काव्य-रचना की अद्भुत क्षमता यदि कुछ विशेष सरणियों में ही प्रवाहित होती, तो विस्तार में वे जो कुछ खोते, गहराई में उससे कहीं अधिक प्राप्त करते। काव्य-शैली की दृष्टि से रूप-विधाओं में उनकी देन हिन्दी-साहित्य को विशेष नहीं है। उन्होंने प्रायः जीवित परम्परा को आगे बढ़ाने और काल के गर्त में विस्मृत रूप-विधाओं को पुनरुज्जीवन प्रदान करने का कार्य ही अधिक किया है, ऐसे अनेक प्रयोगों का कोई तर्कसम्मत औचित्य भी नहीं है।

भारतेन्दु ने जिस परम्परा का निर्वाह अपने काव्य में किया और जिस प्रकार उन्होंने उर्दू-साहित्य का नाममात्र के लिए तथा अँगरेजी-साहित्य का नहीं के बराबर प्रभाव ग्रहण किया, लगभग वही स्थिति उस युग के अन्य कवियों की है। अन्य कवियों की भी अधिकांश कविता पुरानी परिपाटी की ही है। नवीन प्रयोग चिन्ताधारा, विषय, दृष्टिकोण के क्षेत्र में जितने दिखायी पड़ते हैं उतने रूप-विधा के क्षेत्र में नहीं।

भक्ति-सम्बन्धी सरल पद-रचना करने वालों में ललितकिशोरी विशेष उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु के अतिरिक्त शृंगारपरक कवित्त-सवैये लिखने वाले पुरानी परिपाटी के अन्य कवि हैं उपाध्याय बदरीनारायण 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहनसिंह और पं० प्रतापनारायण। बदरीनारायण के सवैयों में समस्या-पूर्ति का आग्रह है।

इन परम्परागत विधाओं के अतिरिक्त, उर्दू-साहित्य से जिस प्रकार भारतेन्दु ने प्रभाव ग्रहण कर ग़ज़लों और शेरों की रचना की थी, ललितकिशोरी ने भी ग़ज़लों की रचना की। भारतेन्दु ने 'दशरथ-विलाप' नाम की अपनी खड़ी बोली की रचना में फारसी छन्द का प्रयोग पहले ही किया था।

इंशाअल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' में कुछ ठेठ खड़ी बोली के पद्यों की रचना

उर्दू के छन्दों में की। नागरीदास में तो स्पष्ट ही फारसी की गज़लबाज़ी के साथ इश्क की फारसी पदावली का भी शौक दिखाई पड़ा।

इसके उपरान्त धीरे-धीरे उर्दू के छन्दों का प्रयोग बढ़ने लगा। मिरज़ापुर के तुकनगिरि गोसाई ने ज्ञानोपदेश देने के लिए लावनी की लय का प्रचलन किया था। इन लावनियों में बाद में उर्दू के छन्द ही अधिकतर लिये जाने लगे। 'खयाल' भी लावनी के ही अन्तर्गत आते हैं। श्रीधर पाठक का 'एकान्तवासी योगी' इसी लावनी के ढंग पर लिखा गया।

उर्दू और फारसी के अतिरिक्त अँगरेजी साहित्य से कुछ काव्य-रूपों का ग्रहण हिन्दी-साहित्य में हुआ। इनमें एक था 'एलेजी' (Elegy) अथवा शोक-गीति। आरम्भिक अँगरेजी-साहित्य में एलेजी की रचना एक छन्द-विशेष---एलेजियक (Elegiac), में की जाती थी। बाद में यह शब्द किसी भी शोक-सम्बन्धी गीत के लिए रूढ़ हो गया। हिन्दी में इस रूप-विधा का सूत्रपात कामता-प्रसाद गुरु द्वारा 'ग्रे' की 'Elegy written in a country churchyard' के अनुवाद से हुआ। तदुपरान्त 'प्रेमघन' ने भारतेन्दु की मृत्यु पर 'शोकाश्रुबिन्दु' नामक सुन्दर शोकगीति की रचना की। श्रीधर पाठक, बालमुकुन्द आदि ने भी शोक-गीतियाँ लिखीं।

अँगरेजी काव्य के प्रभाववश एक अन्य उल्लेख-योग्य काव्य-रूप का ग्रहण हिन्दी-साहित्य में हुआ, यह था 'सॉनेट'। अँगरेजी 'सॉनेट' की चौदह पंक्तियों का बन्धन स्वीकार करते हुए श्रीधर पाठक ने अपनी रचना 'श्रान्त पथिक' में समर्पण (dedication) के रूप में चौदह पंक्तियों की एक कविता लिखी।

भारतेन्दु के प्रसंग में जैसा पहले भी उल्लेख किया जा चुका है, आधुनिक काल से पूर्व, मुक्तकों में एक पद्य में ही स्फुट रचना की प्रणाली अधिक प्रचलित थी—'कुछ दूर तक चलती हुई विचारों और भावों की मिश्रित धारा के रूप में छोटे-छोटे प्रबन्धों या निबन्धों की चाल न थी।' भारतेन्दु ने जो कविताएँ अवसर-विशेष पर पढ़ने के लिए लिखीं, उनमें स्थिति-वर्णन और भावाभिव्यक्ति अधिक प्रधान है। उनके सहयोगियों में से पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भारतेन्दु का ही अनुसरण किया, परन्तु भक्त और अनुयायी पं० प्रतापनारायण मिश्र ने 'बुढ़ापा', 'गोरक्षा' आदि जैसे सामान्य विषयों पर रचनाएँ कीं। इन रचनाओं में विचार, भाव और विनोद का अपूर्व संयोग है, शैली में एक विचित्र आत्मीयता है, अर्थात् ये रचनाएँ निबन्ध की शैली के अधिक निकट हैं। इस प्रकार जहाँ भारतेन्दु-युग में गद्य-निबन्धों का सूत्रपात हुआ, वहाँ इस प्रकार के विषयों पर पद्यबद्ध निबन्ध भी लिखे गए। शैली के अतिरिक्त इन रचनाओं में निबन्ध के गुण वर्तमान हैं। इन्हें कवि के मूलभूत दृष्टिकोण और अभिव्यक्ति की विशेष प्रणाली के कारण वस्तुवर्णनात्मक लघु प्रबन्ध या पर्यायबन्ध न कहकर आ० शुक्ल के शब्दों में 'पद्यात्मक निबन्ध' कहना ही अधिक समीचीन होगा। इनकी आत्मा भारतेन्दु-विरचित प्रशस्ति-मूलक कविताओं से भिन्न है। यह पद्यात्मक निबन्धों की शैली इस युग की निजी विशेषता है। रूप-विधान की दृष्टि से यह नवीन प्रयोग उस युग की परम्परा-पालन की सहज प्रवृत्ति का अपवाद है।

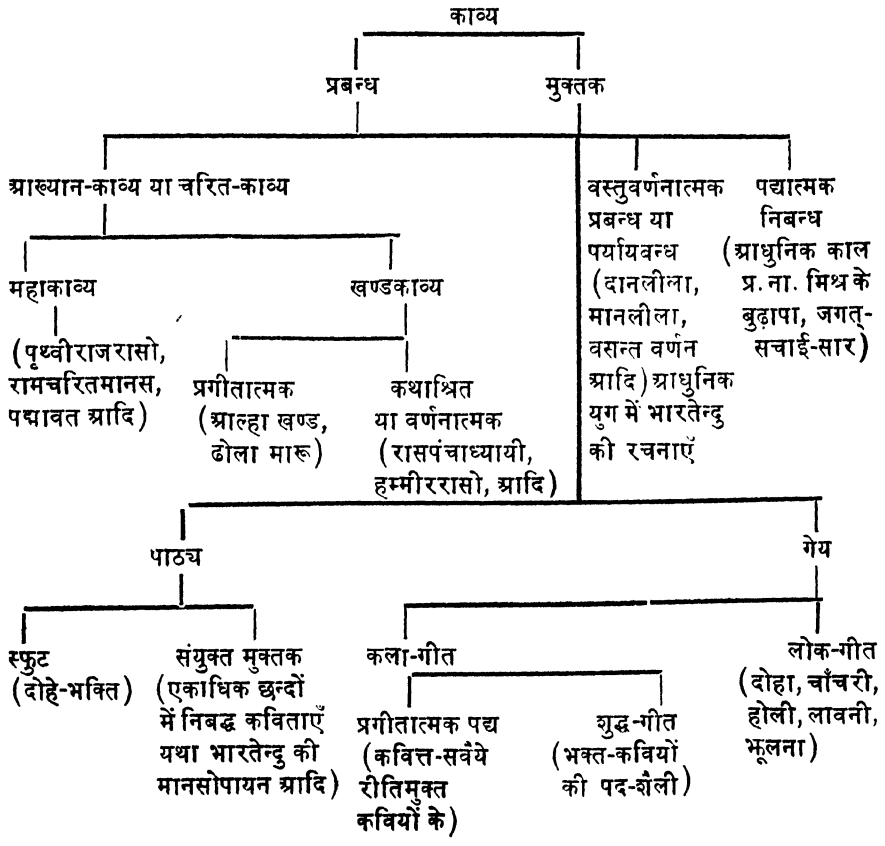
एक और नवीन प्रयोग, रूप-विधान की दृष्टि से नहीं, अपितु पद्य-रचना की दृष्टि से पं० अम्बिकादत्त व्यास ने किया। उन्होंने कुछ 'बेतुके पद्य' या अतुकान्त छन्द लेखनी आज़माने के लिए बनाये, परन्तु इन्हें सफलता न मिली। ये छन्द कुछ पुरानी पत्रिकाओं में छपे थे। इस

दिशा में उस युग में अन्यत्र कोई विशेष उत्साह दिखायी नहीं दिया—कालान्तर में यह परिपाटी नवीन उत्साही कलाकारों में बहुत लोकप्रिय रही।

लोक-साहित्य से विशेष उल्लेखनीय प्रभाव इस काल के कवियों ने ग्रहण नहीं किया। भारतेन्दु ने कुछ वसन्त, होली आदि गाने की चीज़ें लिखी थीं। इसी प्रकार लावनी की लय यद्यपि लोक-साहित्य के अधिक निकट है, परन्तु बाद में उर्दू छन्दों के प्रयोग और 'ख़याल' की गायकी के प्रवेश से उस पर साहित्यिक मुलम्मा चढ़ गया। होलियों के साथ कुछ कजलियाँ भी इस युग में लिखी गई। गाने की चीजों में ही ये प्रयोग विशेषतया दिखायी पड़े। 'ललितकिशोरी' और 'ललितमाधुरी' ने 'झूलना' छन्दों में इसी ढंग की कुछ रचनाएँ कीं।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में ही विवेच्य युग की कविता (१९००-५७) का विकास हुआ। अब तक हिन्दी-साहित्य का रूप-विधाओं की दृष्टि से जो संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया, वह इस दृष्टिकोण से कि हमारे सम्मुख इस काव्य को परम्परा अथवा विरासत के रूप में मिलने वाली रूप-विधाओं की रूपरेखा स्पष्ट हो जाये जिससे नवीनता के निर्धारण का कार्य सरल हो सके।

सन् १९०० से पूर्व हिन्दी-साहित्य में उपलब्ध काव्य-रूपों का स्वरूप निम्नलिखित तालिका से इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :—



उपर्युक्त शैलियाँ हिन्दी-साहित्य के निजी काव्य-रूप थे। जिनका प्रयोग १९०० ई० से पूर्व उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त मुक्तक काव्य-रूपों में उर्दू के 'शेर' और अँगरेजी के 'सॉनेट' तथा गीति-काव्य के क्षेत्र में उर्दू की 'ग़ज़ल' और अंगरेजी की 'एलेजी' भी साहित्य में प्रवेश पा चुकी थी।

खण्ड १

प्रबन्ध या निबद्ध काव्य

प्रथम अध्याय

महाकाव्य

काव्य का विभाजन हमने अनेक भेदों-उपभेदों में न करके 'प्रबन्ध' और 'मुक्तक' में क्यों किया ? यह भूमिका में स्पष्ट किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त यह विभाजन निम्नांकित कारणों को दृष्टि में रखकर किया गया है—

१. विवेचन अधिक स्पष्ट और सुगम होगा तथा काव्य-कृतियों के रूप-निर्धारण में उलझन के लिए कम अवकाश रहेगा।

२. कोई रचना-विशेष, अपने मूल रूप में किस प्रकार की रचना है, और उस प्रकार-विशेष में उसकी निजी विशेषताएँ क्या है ? इसका स्पष्टीकरण उपर्युक्त विभाजन के अनुसार अधिक सरलता व स्पष्टता से हो सकेगा।

३. परम्पराप्राप्त तत्त्वों से, नवीन उद्भावनाओं और उपलब्धियों का व्यावर्त्तन अधिक सुगमता से किया जा सकेगा।

काव्य के इन दोनों भेदों में से प्रबन्ध, और प्रबन्ध के विविध रूपों में से महाकाव्य की श्रेष्ठता और महत्ता निर्विवाद रूप से भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-जगत् में स्वीकृत है। इसी काव्य-रूप के लक्षण-विवेचन से हम विषयारम्भ करेंगे।

यह बात सिद्धान्त और व्यवहार दोनों से सिद्ध हो चुकी है कि लक्षणों का निर्माण लक्ष्य ग्रन्थ देखकर किया जाता है। हिन्दी-साहित्य के मर्मज्ञ पाठकों से यह बात भी छिपी नहीं कि मौलिक लक्षण-ग्रन्थों का हिन्दी में लगभग अभाव है। काव्यशास्त्र-सम्बन्धी सभी विषयों के लिए अब तक प्रायः संस्कृत काव्यशास्त्र का ही आधार ग्रहण किया जाता रहा है, परन्तु अपने समय के अनुसार लक्ष्य-ग्रन्थों को दृष्टि में रखकर बनाये गए ये लक्षण साहित्य-रचना के शाश्वत मानदंड कैसे स्वीकार किये जा सकते हैं ? प्रत्येक युग और परिस्थिति के साथ जीवनगत मूल्यों और विचारधारा में अन्तर प्रस्तुत होता है। जो एक युग में महान् था वह दूसरे में नहीं, और सम्भवतः जिसे हम आज महान् स्वीकार करते हैं वह भविष्य में नहीं रहेगा। प्रत्येक युग की हर विषय-सम्बन्धी मान्यताओं और धारणाओं में परिवर्तन होता जाता है। अतः आज भी बहुत-से काव्य-ग्रन्थ हमारे सामने इस रूप में विद्यमान हैं, जिन्हें परम्परागत लक्षणों के आधार पर महाकाव्य स्वीकार नहीं किया जा सकता; परन्तु सहृदय पाठक का जिज्ञासु हृदय बार-बार प्रश्न करता है कि वे महाकाव्य नहीं तो क्या हैं ? स्थूल बाह्य लक्षण न सही, परन्तु उन काव्यों की आत्मा और कला दोनों उनकी महानता की परिचायक हैं। इसके विपरीत अनेक रचनाओं में महाकाव्य के निर्दिष्ट लक्षण बहुलांश में परिपालित होने पर भी, न उनकी आत्मा महान् है

और न अभिव्यक्ति, अतः वर्तमान साहित्य-अध्येता के सम्मुख दो मार्ग सम्भव हैं—प्रथम सम्भावना यह है कि हम प्राचीन लक्षणों को स्वीकार कर 'अपवाद' रूप में इन ग्रन्थों का स्थान निर्धारित करते जाएँ तथा दूसरा सम्भव मार्ग यह है कि समस्त सीमाओं और सम्भावनाओं को दृष्टि में रखते हुए कुछ ऐसे लक्षणों का निर्माण करें जो अपेक्षाकृत व्यापक हों। केवल मूलभूत तत्त्वों का उनमें अन्तर्भाव हो, जिससे स्थिति और आवश्यकता के अनुसार उनमें संकोच-विस्तार संभव हो सके। निश्चय ही ऐसे लक्षण अपेक्षाकृत अधिक स्थायी और व्यापक होंगे, और यही मार्ग (लक्षण-निर्माण) अधिक श्रेयस्कर और काम्य है। संकेत करना अनुचित न होगा कि इस दिशा में कतिपय विरल प्रयत्न मनीषियों द्वारा किये भी गए हैं।

नवीन लक्षण-निर्माण से पूर्व प्राचीन एवं प्रचलित धारणाओं का अध्ययन अनिवार्य है। हिन्दी-साहित्य की वर्तमान गतिविधि पर एक ओर संस्कृत साहित्य की समृद्ध परम्परा का, और दूसरी ओर विदेशी साहित्य के सम्पर्क के कारण पाश्चात्य चिन्ताधारा का प्रभाव रहा है। सिद्धान्त और व्यवहार, दूसरे शब्दों में काव्यशास्त्र और काव्य-रचना, दोनों ही क्षेत्रों में यह प्रभाव घटित हुआ। अतः समुचित न्याय करने के हेतु उपर्युक्त परम्पराओं में महाकाव्य-सम्बन्धी धारणा का परिचय प्राप्त करना आवश्यक होगा।

संस्कृत के आचार्यों की महाकाव्य-विषयक धारणा

महाकाव्य के विषय में सर्वप्रथम निर्देश करने वाले आचार्य भामह ने अपने लक्षण में केवल महाकाव्य के मूलभूत तत्त्वों का अत्यन्त संक्षेप में निरूपण किया। उनके लक्षण में न वर्णनीय विषयों की विस्तृत सूची थी और न ही उन्होंने बाह्य रूढ़ियाँ स्थिर करने का प्रयत्न किया। महाकाव्य की रूप-सम्बन्धी विशेषताएँ उनके अनुसार निम्नलिखित हैं—

१. सर्गबद्धता।

२. अग्राम्य अर्थात् नागर पदावली तथा अलंकृति।

३. जीवन के विविध पक्षों व घटनाओं का अंकन।

४. नाट्य-सन्धियों का सद्भाव।

५. अति व्याख्या का अभाव—दूसरे शब्दों में संगठन एवं प्रभावान्विति।

६. ऋद्धिमत्ता।[1]

भामह के उपरान्त दूसरे प्रमुख आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में पूर्ववर्ती आचार्य के लक्षणों का अन्तर्भाव करने के साथ ही अनेक अन्य स्थूल नियमों और गौण तत्त्वों की विस्तृत सूची उक्त लक्षणों में जोड़ दी। परिणाम यह हुआ कि महाकाव्य के अनिवार्य तत्त्व व मूलभूत विशेषताएँ पीछे पड़ गईं, और बाह्य लक्षणों और गौण विशेषताओं की एक बड़ी सूची तैयार

---

१. सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालंकारं सदाश्रयम्॥
मंत्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्चयित्।
पंचभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत्॥
भामह : काव्यालंकार १-१९, २०, पृष्ठ ३

हो गई। इन्हीं लक्षणों को दीर्घकाल तक प्रमाण मानकर कवि और आचार्य काव्य-ग्रन्थों और काव्य-शास्त्र की रचना करते रहे। फलतः कालान्तर में इन लक्षणों में अतिव्याप्ति या अव्याप्ति का दोष सामने आया। 'रामायण', 'रामचरितमानस' आदि मान्य महाकाव्य भी इन लक्षणों की दृष्टि से महाकाव्य स्वीकार नहीं किये जा सकते, 'पृथ्वीराजरासो', 'पद्मावत' और 'कामायनी' जैसे ग्रन्थों का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसके साथ महान् आत्मा के अभाव में केवल महाकाव्य के बाह्य लक्षणों की खानापूरी करके कवि-वर्ग यदा-कदा अपनी रचनाओं को महाकाव्य उद्घोषित करता रहा है।

दण्डी द्वारा निर्दिष्ट लक्षण ही पन्द्रहवीं शताब्दी तक मान्य रहे, और उन्हीं में कुछ जोड़-तोड़कर परवर्ती आचार्यों की लक्षण-परम्परा का विकास होता रहा। परन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी में विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' की रचना काव्यशास्त्र के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। उन्होंने विभिन्न काव्यांगों का निरूपण करते हुए कुछ इस प्रकार पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का समाहार कर दिया कि उनका यह ग्रन्थ पूर्णतः मौलिक न होते हुए भी संस्कृत काव्य-शास्त्र के अनेक प्रश्नों का सारभूत पुनराख्यान व विवेचन होने के नाते विशेष मान्य रहा। यही बात महाकाव्य के लक्षण के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। परन्तु कुछ ही समय पूर्व डाक्टर शम्भूनाथसिंह ने अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास' में इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि सातवीं शताब्दी में होने वाले आचार्य रुद्रट का महाकाव्य-लक्षण, दण्डी और विश्वनाथ से भिन्न, व्यापक और माननीय है। उक्त मान्यता की पुष्टि में उन्होंने कतिपय तर्क प्रस्तुत किये हैं। उनका कथन है—

"किन्तु दण्डी के बाद सातवीं शताब्दी के दूसरे महान् आचार्य रुद्रट ने महाकाव्य की जो परिभाषा अपने काव्यालंकार में दी है, वह संस्कृत के अन्य सभी आलंकारिकों से बहुत कुछ भिन्न, तथा महाभारत, रामायण और प्राकृत-अपभ्रंश के महाकाव्यों को भी ध्यान में रखकर बनायी गयी प्रतीत होती है। यही नहीं रुद्रट की महाकाव्य-सम्बन्धी मान्यता यूरोपीय महाकाव्यों के लक्षणों को भी पूर्णतया व्यक्त करती है।.....रुद्रट के महाकाव्य-सम्बन्धी लक्षण यूरोपीय वीर-काव्यों के लक्षणों से भी मिलते हैं क्योंकि उन्होंने नायक और प्रतिनायक दोनों का वर्णन, दोनों का परस्पर युद्ध और नायक की विजय को बहुत महत्त्व दिया है और उनमें अवान्तर कथाओं का होना भी एक लक्षण बताया है। अन्य बातें उन्होंने दण्डी के समान ही रखी हैं। रुद्रट की परिभाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें युग-जीवन के विविध रूपों, पक्षों और घटनाओं को चित्रित करने की बात बहुत स्पष्ट रूप में और विस्तार के साथ कही गयी है। अतः इस परिभाषा को मानने पर केवल खानापूरी करने वालों का काम किसी प्रकार नहीं चल सकता था। सम्भवतः इसीलिए दण्डी और विश्वनाथ कविराज की परिभाषाओं का जितना प्रचार हुआ उतना भामह और रुद्रट की परिभाषा का नहीं, क्योंकि भामह ने तो सूत्र रूप में महाकाव्य के मूल तत्त्वों को कह दिया था और रुद्रट ने उनका पूरा विश्लेषण ही दे दिया जिसे पूरा-पूरा अपनाकर चलना सामन्ती युग के दरबारी कवियों के लिए सम्भव नहीं था।"[1]

---

१. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास : डा० शम्भनाथसिंह, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ५१-५३

डा० शम्भूनाथसिंह की उपर्युक्त मान्यता अंशतः स्वीकार की जा सकती है। निश्चय ही रुद्रट की परिभाषा दण्डी और विश्वनाथ आदि आचार्यों से भिन्न है। यह भी सत्य ही है कि उन्होंने कुछ ऐसे लक्षणों की ओर निर्देश किया है जो अपेक्षाकृत व्यापक हैं, अर्थात् उनकी परिभाषा की सीमा में विश्वनाथ और दण्डी की परिभाषाओं की अपेक्षा अधिक ग्रन्थों का समावेश किया जा सकता है। परन्तु इस बात से यह निष्कर्ष निकालना कि उनके द्वारा प्रस्तुत लक्षणों की पूर्ति अधिक कठिन थी, और इसी कारण उनकी परिभाषा का प्रचार नहीं हुआ, बहुत उचित प्रतीत नहीं होता। लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि उनके लक्षणों में व्यापकता अधिक है—स्वभावतः उनकी पूर्ति भी अपेक्षाकृत सरल होनी चाहिए थी। इसके अतिरिक्त मौलिकता के साथ कहीं-कहीं उन्होंने दण्डी, भामह और विश्वनाथ की परिभाषाओं में व्यंग्य लक्षणों को वाच्य बना दिया है—उदाहरणार्थ महाकाव्य की कथा में अवान्तर कथाओं का समावेश, जिस पर उन्होंने बल दिया है, कोई मौलिक मान्यता नहीं। अन्य आचार्यों के नाटच-सन्धियों की स्वीकृति करने से नाटक के समान अर्थप्रकृतियों और कार्यावस्थाओं की स्वीकृति कथानक में स्वतः हो जाती है। अर्थप्रकृतियों के रूप में पताका, प्रकरी आदि अवान्तर कथाओं का संयोजन स्वयं ही मूलकथा के साथ हो जायगा। इनके अतिरिक्त मूलकथा से असम्बद्ध कथाओं का समावेश प्रबन्ध-निर्वाह और कथा-संगठन की दृष्टि से कभी भी शुभ नहीं हो सकता।

जहाँ तक नायक और प्रतिनायक के परस्पर संघर्ष-वर्णन और नायक की विजय के उल्लेख का प्रश्न है—उनकी यह मान्यता पाश्चात्य वीरकाव्यों के लक्षणों से कैसे मिलती है? यह भी बहुत स्पष्ट नहीं हो पाया। निश्चय ही पाश्चात्य चिन्ताधारा में नायक के जीवन में संघर्ष और प्रतिनायक आदि के वर्णन पर बल दिया गया है, परन्तु इस संघर्ष की चरम परिणति नायक की विजय में हो, इस प्रकार का वहाँ कोई निश्चित विधान नहीं। पाश्चात्य महाकाव्यों के नायक, जीवन में दुर्घटना अथवा दैवी कोप के भाजन बनकर अन्त में असफल भी हो सकते हैं। इसके विपरीत महाकाव्य में किसी-न-किसी फल की नायक द्वारा उपलब्धि भारतीय महाकाव्य का अनिवार्य लक्षण है। काव्य का अन्त सुख में ही होना चाहिए, यह धारणा भारतीय चिन्ताधारा में इस प्रकार अनुस्यूत है कि आचार्यों ने इसके पृथक् कथन की चेष्टा नहीं की, परन्तु हमारी चिन्ताधारा में (विशेषतः प्राचीन) जीवन में संघर्ष और असफलताओं की सम्भावना की अपेक्षा शान्ति, सुख और सिद्धि पर सदा बल दिया गया। मूलतः आनन्दवादी चिन्तन-प्रणाली में सदा नायक और प्रतिनायक—सत् और असत् पक्ष के प्रतिनिधि पात्रों के रूप में देखे गए और इन दोनों का परस्पर संघर्ष जीवन के मंगल के लिए सात्विक और तामसिक मनोवृत्तियों के संघर्ष के रूप में चित्रित किया गया—अन्त में सदा विजय सत् पक्ष के हाथ आई। इस प्रकार रुद्रट की यह मान्यता भारतीय लक्षणों के ही अधिक अनुकूल है। अन्तर केवल इतना है, जिस बात का अन्य आचार्यों ने स्पष्टीकरण नहीं किया था, उसे उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया। यह निश्चय ही उनकी सिद्धि है। अन्य आचार्यों की परिभाषा में नायक के अतिरिक्त अन्य पात्रों का उल्लेख भी नहीं किया गया है। परन्तु आज के युग में रुद्रट की इस मान्यता को विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता, क्योंकि परिस्थितियों और विभिन्न सभ्यताओं के परस्पर सम्मिलन से आज जीवन के मूल्य सर्वथा परिवर्तित हो चुके हैं। आज के

जीवन में महाकाव्य में न प्रतिनायक की स्थिति अनिवार्य है (यथा कामायनी) और न अन्त में नायक की सफलता। कैसी भी स्थिति में कवि को पाठक के लिए एक आदर्श अथवा युग-सन्देश छोड़ना चाहिए, यही महत्त्वपूर्ण है और सब-कुछ गौण।

डा० शम्भूनाथ के अनुसार रुद्रट की परिभाषा की सबसे बड़ी विशेषता है कि उसमें युग-जीवन के विविध रूपों, पक्षों और घटनाओं को चित्रित करने की बात बहुत स्पष्ट रूप में और विस्तार के साथ कही गई है। जहाँ तक वर्ण्य विषयों की सूची का प्रश्न है इस सम्बन्ध में अस्पष्ट न दण्डी की परिभाषा है और न विश्वनाथ की। हाँ, रुद्रट की परिभाषा में निश्चित रूप से विस्तार अधिक है, परन्तु जीवन के विविध प्रसंगों और व्यापारों की सूची बनाना, और विशेष वस्तुओं और घटनाओं का ब्यौरा प्रस्तुत करना और अधिक अपवादों को ही आमन्त्रण देना है, क्योंकि इस प्रकार के प्रसंग और विषय विविध और असीम होते हैं। महाकाव्य के लिए उनकी सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। विषय से सम्बन्धित और घटनानुकूल वर्णनों के चुनाव की स्वतन्त्रता वस्तुतः कवि को होनी चाहिए। इस दिशा में जिन वस्तुओं के नाम विश्वनाथ ने गिनाए हैं न वही पर्याप्त हैं, और न रुद्रट की सूची। दोनों में ही अपवादों का पूरा अवकाश है। किसी विशेष महाकाव्य में दोनों के द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों से भिन्न प्रसंगों का ग्रहण भी हो सकता है। परिभाषा के लिए इस प्रकार के बाह्य और अस्थिर लक्षणों का निर्माण ही अनावश्यक है। डा० शम्भूनाथसिंह का यह कथन अवश्य ही अक्षरशः सत्य है कि भामह ने सूत्र-रूप में महाकाव्य के मूल तत्त्वों और स्थायी लक्षणों की ओर संकेत किया था। दण्डी ने उसका अपने ढंग से विस्तार किया और रुद्रट ने अपने। एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व जिसकी ओर भामह ने संकेत किया था और उसका विस्तार या विश्लेषण करना अनिवार्य था, परवर्ती सभी आचार्यों द्वारा भुला दिया गया और वह था महाकाव्य की शैली के सम्बन्ध में निर्देश। इस ओर न रुद्रट ने ध्यान दिया और न दण्डी एवं विश्वनाथ ने।

डा० सिंह के अनुसार रुद्रट की परिभाषा में निर्दिष्ट रूपविषयक लक्षण इस प्रकार हैं—

"१. महाकाव्य में उत्पाद्य या अनुत्पाद्य, कोई लम्बी पद्यबद्ध कथा होती है।

२. उसमें प्रसंगानुकूल अवान्तर कथाएँ होती हैं, अर्थात् उसमें पुराण और कथा-आख्यायिका के भी तत्त्व होते हैं।

३. कथा सर्गबद्ध और नाटकीय तत्त्वों से युक्त होती है।

४. उसमें जीवन की समग्रता का चित्रण होता है और किसी प्रधान घटना—जैसे युद्ध या साहसिक कार्य के आश्रय से अलंकृत वर्णन, प्रकृति-चित्रण और विभिन्न नगरों, देशों और भुवनों (स्वर्गादि) के वर्णन का विधान होता है।

५. उसमें प्रतिनायक और उसके कुल का भी वर्णन होता है।

६. उसमें अन्त में नायक की ही विजय दिखायी जाती है, प्रतिनायक की नहीं।

७. उत्पाद्य महाकाव्यों में प्रारम्भ में सन्नगरीवर्णन और नायक के वंश की प्रशंसा होती है।

८. उसमें अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्व होते हैं पर मनुष्यकृत असम्भव या अस्वाभाविक घटनाएँ नहीं होतीं।"[1]

---

१. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास : डा० शम्भूनाथसिंह, पृष्ठ ५३-५४

उपर्युक्त मत में कुछ बातें विश्वनाथ से भिन्न और उल्लेखनीय हैं। ऐसी पहली मान्यता कथानक-सम्बन्धी है। विश्वनाथ ने जहाँ कथा को इतिहास से गृहीत और सज्जनाश्रित ही स्वीकार किया है, वहाँ रुद्रट ने कथा के अनुत्पाद्य और उत्पाद्य दोनों रूपों को महाकाव्य के लिए उचित माना है। वस्तुतः यह ठीक भी है। इतिहास का सत्य देश और काल की सीमाओं में बद्ध होता है। इसी प्रकार देश-विशेष की सदाश्रित कथाएँ उसकी निजी विभूति होती हैं। काव्य का सत्य सार्वभौमिक और देश-काल की सीमाओं से मुक्त होता है। एक देश का इतिहास तथा लोकप्रसिद्ध कथाएँ दूसरे देश के लिए उतनी ही रसात्मक होती हैं जितनी कोई अन्य काल्पनिक अथवा उत्पाद्य कथा, क्योंकि एक देश का इतिहास और दन्तकथाएँ दूसरे देश-निवासी के ज्ञान का विषय नहीं होतीं, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि एक देश में रचित काव्य-विशेष को दूसरे देश के पाठक महाकाव्य स्वीकार नहीं करेंगे, क्योंकि उसकी कथा के ऐतिहासिक अथवा लोकप्रसिद्ध स्वरूप से उनका परिचय नहीं। उनके लिए उस काव्य की कथा उत्पाद्य अथवा काल्पनिक कथा के ही समान है। वास्तव में महाकाव्य जैसे विशाल काव्य-रूप के लिए मात्र कल्पना से कथा-निर्माण करना व्यवहार में असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है, इसलिए प्राय. महाकवि इतिहास अथवा लोकप्रसिद्ध कथानकों को ग्रहण करके उसमें अपनी प्रतिभा के बल से नवीन उद्भावनाएँ करते हैं। महाकाव्य की कथा के लिए इतिहास अथवा लोकप्रसिद्धि के प्रतिबन्ध व्यर्थ ही हैं। यदि कोई कवि कल्पना से महाकाव्योचित महान् कथा की उद्भावना कर सके तो उसे स्वतन्त्रता होनी ही चाहिए।

इस क्षेत्र में रुद्रट की दूसरी सिद्धि नायकेतर पात्रों पर विश्वनाथ की अपेक्षा अधिक प्रकाश डालने में है। डा० सिंह ने जैसा कहा है कि रुद्रट ने महाकाव्य की रूढ़ियाँ स्थिर नहीं कीं—अर्थात् उन्होंने मंगलाचरण, आरम्भ में वस्तु-निर्देश, एक ही छन्द में सर्ग-रचना आदि नियम नहीं बनाये वह ठीक ही है परन्तु उन्होंने वर्ण्य विषयों की सूची में दण्डी की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तार कर दिया और इसके साथ ही उत्पाद्य महाकाव्यों के आरम्भ में सन्नगरीवर्णन और वंश की प्रशंसा की रूढ़ि ही स्थिर कर दी है। जहाँ तक अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्वों के चित्रण में संयत कल्पना के प्रयोग का प्रश्न है—इसके पृथक् उल्लेख की आवश्यकता नहीं थी। कल्पना का अतिचार किसी भी स्थिति में शैली का दोष ही होगा और ऐसे स्थलों पर पाठक का साधारणीकरण सम्भव नहीं हो पायेगा। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण करना अनुचित न होगा कि आचार्य रुद्रट की परिभाषा में कोई ऐसी उल्लेखनीय विशेषता नहीं है—(विशेषकर शिल्प-सम्बन्धी) जिसके आधार पर उनकी परिभाषा को विश्वनाथ और दण्डी की तुलना में श्रेष्ठ और व्यापक ठहराया जा सके। केवल कथानक के चयन के विषय में उन्होंने अवश्य ही उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया है अन्यथा रूढ़ियाँ स्थिर करने में वे किन्हीं अंशों में कम नहीं रहे।

संस्कृत काव्यशास्त्र की आचार्य-परम्परा में अन्तिम लक्षण आचार्य विश्वनाथ का है। वस्तुतः भामह द्वारा प्रस्तुत महाकाव्य की परिभाषा अत्यन्त संक्षिप्त एवं महत्त्वपूर्ण होते हुए भी बाद में दण्डी की विस्तृत व्याख्या के सम्मुख भुला दी गयी और कालान्तर में विश्वनाथ ने कुछ जोड़-तोड़कर दण्डी के लक्षणों के आधार पर ही अपना लक्षण-निरूपण किया। उनके द्वारा दिये

गए महाकाव्य के लक्षण में दण्डी के मत का ही परिवर्तित एवं परिवर्द्धित रूप प्राप्त होता है, अतः उनके मत की परीक्षा से दण्डी के मत का ज्ञान स्वतः सिद्ध हो जायेगा। महाकाव्य की विश्वनाथ द्वारा दी गई परिभाषा[1] के अनुसार शिल्प-सम्बन्धी निम्नांकित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

कथानक—१. महाकाव्य की कथा इतिहाससम्मत अथवा सज्जनाश्रित होती है।

२. कथा में (क) सन्ध्या, सूर्य, रजनी, दिवस, प्रातः, मध्याह्न, मृगया, ऋतु, पर्वत, वन, सागर—अर्थात् प्राकृतिक जीवन का विस्तृत वर्णन होना चाहिए।

(ख) संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, यज्ञ यात्रा, पुत्र आदि का—अर्थात् सामाजिक जीवन के विविध पक्षों का सांगोपांग वर्णन होना चाहिए।

(ग) युद्ध, प्रयाण, अभ्युदय, मन्त्रणा—अर्थात् जीवन के राजनैतिक पक्ष का भी यथासंभव वर्णन होना चाहिए।

उपर्युक्त मान्यता का अभिप्राय यही है कि मानव-जीवन के विविध पक्षों का सांगोपांग वर्णन महाकाव्य में अभीष्ट है, अथवा जीवन की समग्रता का महाकाव्य की कथा में अन्तर्भाव होना चाहिए। यह कथानक के स्वरूप के विषय में उनकी मान्यता है। कथानक के निर्वाह और संगठन के सम्बन्ध में उन्होंने निर्देश किया—

---

१. सर्गबन्धो महाकाव्यम्·····॥३१५॥
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः ॥३१७॥
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
·····
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्॥
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह॥३२०॥
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्॥
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ॥३२२॥
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ॥३२३॥
वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ॥३२४॥
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु।
अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः ॥३२५॥
प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन्सर्गा आश्वाससंज्ञकाः।
छन्दसा स्कन्धकेनैतत्क्वचिद् गलितकैरपि ॥३२६॥
—षष्ठ परिच्छेदः साहित्य-दर्पण, पृष्ठ २१५

३. महाकाव्य के कथानक में सभी नाटक-सन्धियाँ होती हैं। अर्थात् नाटक के समान ही समस्त नाटकीय गुणों से इसकी कथा युक्त होती है। अन्तर केवल अभिव्यक्ति या शैली का है। महाकाव्य समाख्यान शैली में रचित काव्यरूप है, अन्यथा कथा में नाटक की ही भाँति उपाख्यान—पताका, प्रकरी आदि का समावेश, तथा सम्पूर्ण कथा की प्रगति व निगति नाटक की ही भाँति इसमें भी अनिवार्य है।

४. कथानक विभिन्न सर्गों में विभाजित होता है। ये सर्ग न बहुत बड़े और न बहुत छोटे, तथा संख्या में अष्टाधिक होते हैं। अर्थात् महाकाव्य में आकार-सम्बन्धी विस्तार भी अपेक्षित है।

शैली—चरित्र, रस, उद्देश्य के विषय में यथासम्भव निर्देश करने के उपरान्त रूप-निर्माण के महत्त्वपूर्ण अंग शैली के विषय में आचार्य विश्वनाथ ने प्रकाश नहीं डाला। महाकाव्य के महत् विषय (घटना, चरित्रादि) को शब्दबद्ध करने के लिए यथायोग्य सक्षम शैली की अपेक्षा है—इस विषय में वे मौन हैं। उन्होंने केवल कुछ वर्णन-रूढ़ियाँ स्थिर की हैं तथा छन्दादि सम्बन्धी कतिपय गौण और बाह्य बातों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—

(क) आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्यवस्तु का निर्देश होना चाहिए।

(ख) कहीं खलों की निन्दा और सज्जनों का गुण-कथन होता है।

(ग) प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द प्रयुक्त होता है जो अन्त में बदल जाता है। उन्होंने इस विशेषता को अनिवार्य नियम न बनाकर तुरन्त ही अपवाद स्वीकार करते हुए कहा कि कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते हैं। उक्त कथन का अभिप्राय यही है कि यद्यपि विश्वनाथ के समक्ष विद्यमान महाकाव्यों में सर्ग में एक ही छन्द के प्रयोग की प्रधानता थी, परन्तु कुछ ऐसे ग्रन्थ भी थे जिनमें छन्द-वैविध्य होने पर भी उनको महाकाव्य माना जा सकता था। इस प्रकार यह महाकाव्य का प्रमुख एवं अनिवार्य लक्षण नहीं है।

(घ) सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होनी चाहिए।

(ङ) महाकाव्य का नामकरण कवि, चरित्र या चरितनायक के नाम से होना चाहिए, परन्तु कहीं-कहीं इसके अपवाद भी स्वीकार्य हैं। सर्ग की वर्णनीय कथा से सर्ग का नामकरण किया जाता है। इन्हीं सर्गों को आख्यान, आश्वास, कुड़बक आदि भी काव्य और भाषा-भेद से कहा जाता है।

डा० शम्भूनाथसिंह ने विश्वनाथ द्वारा दिये गए लक्षणों में कतिपय स्थलों पर दण्डी से प्रस्तुत ऐसी भिन्नताओं की आलोचना की है जिनका सम्बन्ध महाकाव्य की रूप-विधा से है। वे इस प्रकार हैं—

दण्डी द्वारा निर्दिष्ट एक ही छन्द में सर्ग-रचना के लक्षण में विश्वनाथ ने अपवाद स्वीकार कर लिए, और इसकी कटु आलोचना करते हुए डा० सिंह ने लिखा—"यह मान लेने के बाद फिर यह महाकाव्य का लक्षण नहीं रह जाता।"[1] परन्तु यह अपवाद उचित सीमा तक ही स्वीकार किये जा सकते हैं। महाकाव्य के सर्गों को छन्दों की प्रदर्शनी बनाने की स्वतन्त्रता कैसे

---

१. हिन्दी-महाकाव्य का स्वरूप-विकास : डा० शम्भूनाथसिंह, पृष्ठ ५९

प्रदान की जा सकती है ? 'रामचन्द्रिका' सरीखे प्रयोगों के विरुद्ध यह लक्षण उचित बन्धन का कार्य करता है। ऐसा कहना कि यह लक्षण अपवाद स्वीकार करने के बाद लक्षण नहीं रहता उचित नहीं। विश्वनाथ ने अवश्य ही अपवादों के लिए तर्कसम्मत सीमा निर्धारित नहीं की, परन्तु कदाचित् इसका कारण यही था कि उनके सामने प्रत्येक पद्य में छन्द-परिवर्तन से युक्त महाकाव्यों के उदाहरण प्रस्तुत नहीं हुए थे, अतः इस प्रकार के अतिचार के प्रति वे सचेत नहीं हो सके। ऐसे प्रयोग काव्य के सहज प्रवाह में बाधक ही होंगे।

महाकाव्य के सर्गों के विषय में आचार्य विश्वनाथ का यह कथन कि जहाँ वे दण्डी के कथनानुसार बहुत बड़े न हों वहाँ छोटे भी नहीं होने चाहिएँ, उचित ही है। अन्यथा नाममात्र के लिए सर्ग-विभाजन कर छोटे-छोटे काव्यों को महाकाव्य विशेषण से अलंकृत किया जाएगा। सर्गों की संख्या निश्चित करना उचित नहीं। विस्तार वस्तुतः सम्पूर्ण काव्य में होना चाहिए तदुपरान्त उसको प्रसंगानुकूल सर्गों में बाँधा जा सकता है। ये सर्ग संख्या में कितने हों ? यह तथ्य तो सर्वथा गौण और कथा के स्वरूप एवं घटनाओं पर निर्भर है।

प्रबन्ध-विधान के सम्बन्ध में संस्कृत के जिन आचार्यों के मत का विवेचन अभी तक किया गया, उन सबसे भिन्न, मौलिक युक्तिसंगत एवं विशद विवेचन इस विषय में आचार्य कुन्तक का है। कालक्रम की दृष्टि से वे आचार्य विश्वनाथ से बहुत पूर्व अपना मत प्रस्तुत कर चुके थे, परन्तु उनके परवर्ती आचार्यों ने इस विषय का निरूपण करते समय लक्षण-निर्धारण के लिए उनके मत को आधार नहीं बनाया। इस उपेक्षा का एक कारण सम्भवतः यह रहा होगा कि उन्होंने प्रबन्ध-विवेचन वक्रोक्ति के विविध प्रकारों का क्षेत्र-विस्तार और निरूपण करते हुए अंग रूप में किया है, काव्य-रूपों के लक्षण-निर्धारण के स्वतन्त्र प्रसंग में नहीं। अन्यथा प्रबन्ध की वस्तु-संघटना एवं शिल्प के विषय में आचार्य कुन्तक का मत सबसे कम रूढ़िग्रस्त और अत्यन्त आधुनिक है। उनके विवेचन में एक अन्य उल्लेखनीय एवं महत्त्वपूर्ण विशेषता है—प्रबन्ध के रूप-विधान में उन्होंने काव्य-शरीर से सम्बद्ध बाह्य एवं गौण रूढ़ियों का परिगणन न कराके, वस्तु-संघटना की प्राणभूत और अन्तरंग विशेषताओं का ग्रहण तथा विश्लेषण किया है। प्रत्यक्ष रूप से यद्यपि आचार्य कुन्तक ने अपना मत महाकाव्य के रूप-विवेचन तक सीमित नहीं किया फिर भी इतना स्पष्ट है कि सामान्यतः प्रबन्ध-विधान की विशेषताओं का निरूपण करते समय उनकी दृष्टि जिस प्रबन्ध-रूप पर टिकी रही वह घटना-वैविध्य, विविध उपाख्यानों और प्रकरणों आदि से युक्त कथा का जटिल और गरिमामय रूप था, किसी एकदेशीय घटना अथवा प्रसंग का निरूपक सरल-संक्षिप्त कथानक नहीं। उनके विवेचन में यह बात कथित नहीं परन्तु व्यंग्य है कि प्रबन्ध का यह बृहद् रूप जो उनके विश्लेषण का आधार है, महाकाव्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। संस्कृत-काव्य-शास्त्र में प्रबन्ध-कृतियों के इस बृहद् उदात्त, और गरिमामय स्वरूप को महाकाव्य विशेषण प्रदान किया जा चुका था। आचार्य कुन्तक ने प्रबन्ध के विषय में जो कहा उसका सम्बन्ध वस्तु-विन्यास से ही अधिक है। संक्षेप में उनका मत इस प्रकार है—

आचार्य कुन्तक ने प्रमुख रूप से प्रकरण में—जिसका अर्थ प्रबन्ध का एक देश अर्थात् कथा का एक प्रसंग है, निहित काव्य-चमत्कार के विविध प्रकारों का वर्णन किया है। उन्होंने प्रमुख रूप से—प्रधान कार्य से सम्बद्ध प्रकरणों की सम्बन्ध-भावना, पूर्वापर-अन्विति-क्रम,

प्रसंग-विधान-कौशल अथवा प्रकरण-नियोजन तथा कवि की संयोजक कल्पना आदि प्रसंगों का विवेचन प्रस्तुत किया है। प्रकरण-वक्रता के चौथे भेद में उन्होंने स्पष्ट किया कि प्रधान-कार्य से सम्बद्ध प्रकरणों का सम्बन्ध उपकार्य-उपकारक भाव से होना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक प्रकरण अथवा अंग, अन्य प्रकरणों से सम्बद्ध व प्रधान कार्य का उपकारक, और इस प्रकार अंगों से समन्वित होकर वह अंगी का उत्कर्ष-विधायक हो। इसी को आचार्य अरस्तू ने कार्यान्विति कहा है।[1]

पूर्व प्रकरणों का उत्तर प्रकरणों के साथ सामंजस्य आचार्य कुन्तक नाट्य-सन्धियों के संविधान से ही स्वीकार करते हैं।[2] यह पूर्वापर-अन्विति-क्रम, प्रकरण-वक्रता का वह प्रकार है जो प्रबन्ध में वस्तु-विन्यास की सुदृढ़ अन्विति और संघटना का निमित्त होता है। आचार्य कुन्तक ने प्रसंग-विधान-कौशल को ही प्रबन्ध-काव्य के सौन्दर्य का निमित्त माना है, इतिवृत्त को नहीं, और यह कौशल कवि की संयोजक कल्पना पर आश्रित रहता है। "इस सौन्दर्य का आधार तो कवि का प्रबन्ध-कौशल है, तभी तो एक ही इतिवृत्त को लेकर अनेक सफल प्रबन्ध-काव्यों की सृष्टि होती रही है जिनका चमत्कार एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है।...अर्थात् प्रबन्धत्व घटनावली में नहीं वरन् उनके विधान में निहित रहता है।"[3]

प्रकरण-नियोजन की इस कला को कुन्तक प्रबन्ध-विधान का प्राण स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में उनके कतिपय स्पष्ट संकेत हैं, जिनमें वस्तु-संघटना-सम्बन्धी उनकी मान्यताएँ सूत्रबद्ध हैं। प्रकरण-नियोजन के मूल तत्त्वों में—जिनका सम्बन्ध वस्तु-शिल्प से है, आचार्य कुन्तक ने घटनाओं के सजीव वर्णन, पूर्वापर-क्रम-बन्धन, और मूल उद्देश्य के सम्बन्ध से घटनाओं के उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध, सामंजस्य तथा एकसूत्रता पर बहुत बल दिया है।[4] इसके अतिरिक्त उन्होंने मनोरम प्रसंगों की अतिरंजना द्वारा रोचकता का समावेश भी प्रबन्ध में काम्य माना है। कवि की उद्भावक कल्पना उक्त गुण की साधक होती है। औचित्यादि की रक्षा के लिए प्रतिकूल अथवा अनावश्यक प्रसंगों का आचार्य कुन्तक ने निषेध किया।

"भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रबन्ध-कौशल का यह सर्वप्रथम मौलिक तथा सांगोपांग विवेचन है।...कुन्तक ने पहली बार कवि-कौशल की दृष्टि से प्रबन्ध के शिल्प-विधान का विश्लेषण किया है। व्यावहारिक रूप में निगमन-विधि पर आधृत होने पर भी इस विवेचन में कला के सामान्य एवं मौलिक सिद्धान्तों का यथावत् निरूपण है। इसका प्रमाण यह है कि भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यों के प्रबन्ध-विवेचन के प्रायः सभी मूल तत्त्व इसके अन्तर्गत आ गए हैं।"[5]

भरत से कुन्तक तक भारतीय काव्य-शास्त्र में वस्तु का विवेचन नाट्य-विधान की दृष्टि से ही किया गया। वस्तु-विधान का यह विवेचन तीन भागों में उपलब्ध है—(१) कथावस्तु के विविध प्रकार (२) कथा में कार्य-व्यापार के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ और (३) विविध कार्यावस्थाओं और अर्थ-प्रकृतियों के अन्विति-सूत्रों को जोड़ने वाली पंच-

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखिए—'भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका'—डा० नगेन्द्र, पृ० २७९
२. वही, पृष्ठ २८२
३. वही, पृ० २९२
४. वही, पृ० २९३
५. वही, पृ० २९३-२९४

सन्धियाँ। आचार्य कुन्तक ने स्पष्ट शब्दों में अवस्था, अर्थ-प्रकृति और सन्धि आदि के पूर्वकृत विवेचन की पुनरावृत्ति करने का प्रयत्न तो नहीं किया, परन्तु उनके अस्तित्व की स्वीकृति कुन्तक के विवेचन में निर्विवाद रूप से रही है। प्रकरण-वक्रता तथा प्रबन्ध-वक्रता के अनेक रूपों के निरूपण में विविध वस्तु-भेदों, अवस्था-भेदों और सन्धियों की पृष्ठभूमि निश्चय ही वर्त्तमान है। प्रकरण-वक्रता तथा प्रबन्ध-वक्रता में अनेक रूपों के निरूपण में आधिकारिक और प्रासंगिक कथा-भेदों का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है। वास्तव में प्रधान-अप्रधान अथवा आधिकारिक-प्रासंगिक वस्तु का पार्थक्य-ज्ञान और पारस्परिक सम्बन्ध-योजना ही तो प्रबन्ध-कौशल का प्रमुख आधार है। इन दोनों वस्तु-भेदों के परस्पर अंग-अंगी रूप में सानुपात नियोजन, प्रबन्ध में इनकी सम्बन्ध-भावना के औचित्य आदि पर ही सम्पूर्ण प्रबन्ध-रचना की सजीवता, कथा की एकान्विति, रोचकता, आदि निर्भर है। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा नाटक के प्रसंग में वस्तु-विन्यास के लिए नियमित विधान को इसीलिए स्वीकार करते हुए, प्रबन्ध के क्षेत्र में कुन्तक ने वस्तु-संघटना की मौलिक आवश्यकताओं की युक्तिसम्मत व्याख्या-विवेचना की। प्रबन्ध के वस्तु-विधान में सन्धि-संध्यंगों की रचना का उद्देश्य ही कथा के विविध अंगों में सामंजस्य की योजना है। प्रधान कार्य को कथा का केन्द्र व लक्ष्य मानते हुए समस्त अन्य प्रकरणों का परस्पर समंजन वस्तु-विन्यास की मौलिक आवश्यकता है। कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता के दो भेदों में इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का विवेचन करते हुए कथा के विविध प्रकरणों और प्रधान कार्य की सम्बन्ध-भावना को स्पष्ट किया है, तथा प्रबन्ध में इनके सापेक्ष महत्त्व और बलाबल के प्रश्न को सुलझाया है। विविध प्रकरणों और प्रधान-कार्य के बीच यह समंजन उचित पूर्वापर-क्रम और उपकार्य-उपकारक भाव से होना चाहिए।

प्रकरण-वक्रता के विविध प्रकारों में उन्होंने प्रकरण और प्रधान कार्य में पारस्परिक सम्बन्ध-रूप को तो स्पष्ट किया ही, वस्तु-रूप-कौशल की सिद्धि के लिए उत्पाद्य-लावण्य हेतु का मार्मिक विवेचन किया। प्रकरण-वक्रता के लिए कल्पना से अविद्यमान प्रसंगों की उद्भावना और प्रख्यात कथा में विद्यमान का संशोधन, इस उत्पाद्य-लावण्य नामक हेतु के दो उपभेद हैं। उक्त वक्रता के प्रयोग से कथा में ही वैचित्र्य-सृष्टि नहीं होती, यह रसौचित्य-निर्वाह का भी साधक होता है।

आचार्य कुन्तक के मत की विशेषताएँ एवं सार इस प्रकार हैं—

१. भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास में प्रबन्ध-कौशल का यह सर्वप्रथम मौलिक एवं सांगोपांग विवेचन है।

२. कुन्तक के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों ने नाटक के प्रसंग में तो वस्तु-विन्यास की आवश्यकताओं और तत्त्वों का सांगोपांग वर्णन किया, परन्तु प्रबन्ध के वस्तु-शिल्प का इतना सूक्ष्म एवं तात्त्विक विवेचन उनके पूर्व और उपरान्त दृष्टिगत नहीं हुआ।

३. प्रबन्ध का लक्षण-निरूपण करते हुए अन्य आचार्यों ने काव्य-शरीर से सम्बद्ध बाह्य एवं गौण रूढ़ियों का परिगणन कराया, इससे भिन्न आचार्य कुन्तक ने वस्तु-संघटना की मूलभूत और अन्तरंग विशेषताओं का ग्रहण तथा विश्लेषण किया है।

४. आचार्य कुन्तक का उक्त विवेचन प्रबन्ध-काव्य अथवा महाकाव्य के लक्षण-निरूपण

के रूप में नहीं, वरन् वक्रोक्ति-सिद्धान्त का भेद-विस्तार एवं प्रतिष्ठा करते हुए अंग-रूप में किया गया है।

५. आचार्य कुन्तक ने वस्तुशिल्प का जो निरूपण किया है उसमें मुख्यतः प्रबन्ध-कौशल के तीन पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। यह समस्त विवेचन प्रकरण-वक्रता एवं प्रबन्ध-वक्रता नामक वक्रोक्ति-भेदों के अन्तर्गत आता है। इस विवेचन के तीन कोण निम्नलिखित हैं—

(क) वस्तु-संघटना, (ख) वस्तु-विकास, (ग) वस्तु-वैचित्र्य।

(क) वस्तु-संघटना में आचार्य कुन्तक ने प्रमुख रूप से प्रधान कार्य एवं विविध प्रकरणों की पारस्परिक सम्बन्ध-भावना का स्पष्टीकरण किया है। कथा के विविध अंगों का सामंजस्य उनके अनुसार दो आधारों पर घटित होता है—

१. प्रधान कार्य और विविध प्रकरणों में उपकार्य-उपकारक भाव-सम्बन्ध।

२. इन विविध कथांशों में औचित्यपूर्ण पूर्वापर-अन्विति-क्रम।

उक्त निरूपण से स्पष्ट है, यद्यपि कथित नहीं कि प्रबन्ध (महाकाव्य) का कथानक प्रधान कार्य के साथ अनेक प्रकरण-संयुक्त जटिल बृहद् कथानक होता है, एकदेशीय कथा का निरूपक सरल कथानक नहीं।

(ख) वस्तु-विकास के सम्बन्ध में कुन्तक ने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित नाटक के वस्तु-विन्यास के विधान को स्वीकार कर लिया। नाटक की कथा जिस प्रकार आधिकारिक और विविध प्रासंगिक वृत्तों से गुम्फित होती है, जिस प्रकार नाटक में कार्य-विकास क्रमबद्ध योजना के अनुसार होता है, और इन विविध अर्थ-प्रकृतियों एवं कार्यावस्थाओं को कथा-मोड़ पर अन्विति-सूत्र में बाँधने वाली सन्धियों का विधान किया जाता है, उसी प्रकार प्रबन्ध में भी कथा-सूत्रों के समंजन और नाटकीय विकास के लिए आचार्य कुन्तक ने इस समस्त विधान को काम्य माना।

(ग) वस्तु-वैचित्र्य एवं औचित्य के साधक हेतु उन्होंने दो माने। जिनमें एक का स्वरूप भावात्मक एवं दूसरे का अभावात्मक है—

१. उत्पाद्य-लावण्य की सृष्टि—जो दो रूपों में सम्भव है—कल्पना-प्रसूत अविद्यमान प्रसंगों की उद्भावना एवं प्रख्यात कथा के विद्यमान प्रसंगों में संशोधन। मनोरम प्रसंगों की विवेक-संयुत अतिरंजना से भी प्रबन्ध की कथा में रोचकता की वृद्धि होती है। यह हेतु वस्तु-वैचित्र्य का भावात्मक साधन है।

२. दूसरे साधन का स्वरूप अभावात्मक है। प्रबन्ध-विधान में औचित्यादि की रक्षा के लिए प्रतिकूल एवं अनावश्यक प्रसंगों का आचार्य कुन्तक ने निषेध किया।

प्राचीन विद्वानों में सर्वाधिक प्रचार आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा का हुआ। आधुनिक मनीषियों ने भी महाकाव्य की कसौटी के रूप में प्रायः इसी मत को आधार बनाया। किन्तु आचार्य शुक्ल ने 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका में प्रबन्ध के वस्तु-विन्यास की विशेषताओं पर

भी प्रकाश डाला है। बात वही थी जिसका निरूपण बहुत पहले आचार्य कुन्तक कर चुके थे। जिसे संस्कृत में आचार्य ने कथांशों में उचित पूर्वापर-अन्विति-क्रम कहा था, उसे आचार्य शुक्ल ने सम्बन्ध-शृंखला और स्वाभाविक क्रम का ठीक निर्वाह कहा है—

"प्रबन्ध-काव्य में मानव-जीवन का एक पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटनाओं की सम्बन्ध-शृंखला और स्वाभाविक क्रम के ठीक-ठीक निर्वाह के साथ-साथ हृदय को स्पर्श करने वाले—उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले—प्रसंगों का समावेश होना चाहिए।"[1]

'सम्बन्ध-निर्वाह' से उनका क्या अभिप्राय है? इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने पुनः लिखा—

"सम्बन्ध-निर्वाह पर विचार करते समय सबसे पहले तो यह देखना चाहिए कि प्रासंगिक कथाओं का जोड़ आधिकारिक वस्तु के साथ अच्छी तरह मिला हुआ है या नहीं, अर्थात् उनका आधिकारिक वस्तु के साथ ऐसा सम्बन्ध है या नहीं जिससे उसकी गति में कुछ सहायता पहुँचती हो। जो वृत्तान्त इस प्रकार सम्बद्ध न होंगे वे ऊपर से व्यर्थ ठूँसे हुए मालूम होंगे चाहे उनमें कितनी ही अधिक रसात्मकता हो।"[2]

उपर्युक्त कथन से दो बातें स्पष्ट है—

१. आधिकारिक वृत्त के साथ प्रासंगिक कथाओं का सम्बन्ध आरोपित नहीं, सहज और सुसम्बद्ध होना चाहिए, अर्थात् एक घटना अन्य का सहज परिणाम या कारण प्रतीत हो। इसी को आचार्य कुन्तक ने उचित पूर्वापर-अन्विति-क्रम कहा था और पाश्चात्य आचार्यों ने कार्यान्विति।

२. आधिकारिक कथावस्तु के साथ उन्हीं प्रासंगिक वृत्तों का समावेश होना चाहिए जो प्रधान वस्तु की गति में सहायक हों अर्थात् प्रासंगिक कथावस्तु को आधिकारिक कथावस्तु का उपकारक होना चाहिए। ये वृत्तान्त काव्य के प्रधान कार्य के साधक होते हैं। आचार्य कुन्तक ने इस सम्बन्ध-भावना को 'उपकार्य-उपकारक भाव' कहकर सूत्रबद्ध किया था।

आचार्य शुक्ल ने भी उक्त आशय का पुनः-पुनः स्पष्टीकरण किया है—

"अतः घटना-प्रधान प्रबन्ध-काव्य में उन्हीं वृत्तान्तों का सन्निवेश अपेक्षित होता है जो उस साध्य 'कार्य' के साधन-मार्ग में पड़ते है अर्थात् जिनका उस कार्य से सम्बन्ध होता है। प्राचीन यवन आचार्य अरस्तू ने इसका विचार अपने 'काव्य-सिद्धान्त' के आठवें प्रकरण में किया है और यह अब भी पाश्चात्य समालोचकों में 'कार्यान्वय' (Unity of Action) के नाम से प्रसिद्ध है।"[3]

जिस 'कार्यान्वय' की चर्चा आचार्य शुक्ल ने पाश्चात्य समालोचकों के प्रसंग में उठायी है उसका निर्देश अत्यन्त प्रबल एवं स्पष्ट शब्दों में बहुत पूर्व आचार्य कुन्तक कर चुके थे।

प्राचीन काव्य-शास्त्र में महाकाव्य के लक्षणों का निरूपण करते समय आचार्यों की दृष्टि प्रायः उपलब्ध महाकाव्यों पर टिकी रही। उनके लक्षणों में व्यक्त दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि

---

१. जायसी ग्रन्थावली—भूमिका—आ० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ६८
२. वही, पृष्ठ ७२
३. वही, पृष्ठ ७३

उनकी दृष्टि में महाकाव्यों में प्रायः क्या होता है ? अधिक प्रधान रहा है, क्या होना चाहिए ? या क्या हो सकता है ? पर बहुत कम ध्यान दिया गया। दूसरे शब्दों में उनकी दृष्टि सम्भावनाओं और आदर्शों की अपेक्षा सीमाओं पर अधिक केन्द्रित रही। यह उनके समय की परिसीमा थी। आज हमारे सामने अनेक परिभाषाएँ और उनकी सफलता और असफलता की कसौटी के रूप में विविध काव्य-ग्रन्थों की विपुल राशि प्रस्तुत है, और व्यवहार से यह सिद्ध हो चुका है कि काव्य-रूपों के लिए बनाई गयी किसी परिभाषा में मूल तत्त्वों का निर्देश करके कवि की स्वतन्त्र प्रतिभा के लिए जितना अधिक अवकाश छोड़ा जायगा, उतना ही उस परिभाषा में अपवादों के लिए कम अवकाश होगा और वह परिभाषा अधिक सफल होगी। जितना अधिक बाह्य और गौण तत्त्वों का समावेश परिभाषा में किया जायगा—उतनी ही वह परिभाषा रूढ़िबद्ध काव्य-रचना की प्रेरक होगी, अथवा उसमें अपवाद अधिक होंगे। महाकाव्य के मूल तत्त्वों की ओर निर्देश करने का प्रयत्न यद्यपि आचार्य भामह ने ही किया, परन्तु संक्षेप में संस्कृत साहित्य-शास्त्र में प्रस्तुत महाकाव्य-सम्बन्धी लक्षण इस प्रकार हैं—

कथानक

(क) कथा उत्पाद्य (काल्पनिक), अनुत्पाद्य (ऐतिहासिक अथवा सदाश्रित) और मिश्र तीनों प्रकार की हो सकती है।

(ख) कथानक न बहुत छोटा और न बहुत बड़ा होना चाहिए।

(ग) जीवन के विस्तृत और सांगोपांग वर्णन से कथानक युक्त होना चाहिए—प्राकृतिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि विविध पक्षों, अर्थात् जीवन की समग्रता का उसमें अन्तर्भाव होना चाहिए। इन वर्ण्य विषयों की लम्बी सूची विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रस्तुत की गई है।

इन काव्यों में अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्वों का भी समावेश होता है, परन्तु ऐसी घटनाएँ तदनुकूल पात्रों द्वारा ही सम्पन्न होती है।

(घ) विविध वर्ण्य प्रसंगों में—मनोरम प्रसंगों की अतिरंजना द्वारा कथानक में रोचकता की वृद्धि और प्रतिकूल अथवा अनावश्यक प्रसंगों के त्याग से औचित्य की रक्षा—कवि को करनी चाहिए।

(ङ) महाकाव्य की कथा नाटक-सन्धियों से युक्त होती है, ऐसा संस्कृत के सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। मूल कथा के साथ कुछ अवान्तर कथाएँ भी उसमें सहायक होती हैं। नाट्य-सन्धियों की स्वीकृति के रूप में यह तथ्य अन्य आचार्यों की परिभाषाओं में व्यंग्य है, परन्तु रुद्रट ने उसका पृथक् उल्लेख करके उसे स्पष्ट और वाच्य बना दिया है। ये प्रासंगिक कथाएँ मूल कथा से भली प्रकार सम्बद्ध होनी चाहिएँ। महाकाव्य की आधिकारिक कथा एवं अन्य प्रकरणों का पारस्परिक सम्बन्ध उपकार्य-उपकारक भाव से तथा इन विविध कथांशों में औचित्यपूर्ण पूर्वापर-अन्विति-क्रम विद्यमान रहना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होगा तो महाकाव्य पुराण शैली के अधिक निकट होगा और उसमें नाट्य गुण का अभाव हो जाएगा।

शैली

शैली के अत्यन्त बाह्य और स्थूल तत्त्वों पर संस्कृत-काव्य-शास्त्र में विचार किया गया। उसके मुख्य गुण—गरिमा, गम्भीरता, प्रसंगानुकूल अभिव्यक्ति की क्षमता और महान् विषयोचित महाप्राणता आदि पर इन आचार्यों ने बहुत कम विचार किया। कुछ अत्यन्त स्थूल और बाह्य तत्त्व जिनके विषय में इन्होंने लिखा है, निम्नलिखित हैं—

(क) महाकाव्य के सर्ग न बहुत छोटे और न बहुत बड़े होते हैं। इनकी संख्या विश्वनाथ के अनुसार आठ से अधिक होती है। सर्गों का नाम वर्णित कथा के आधार पर रखना चाहिए। ऐसा सदा सम्भव नही हो सकता।

(ख) महाकाव्य का नामकरण कवि,कथावस्तु या चरितनायक के नाम पर होना चाहिए। यह उपबन्ध भी सदैव ग्राह्य नहीं हो सकता। काव्य के प्रधान भाव, उद्देश्य आदि के आधार पर भी नामकरण सम्भव है।

(ग) संस्कृत के आचार्यों द्वारा महाकाव्य के आरम्भ में आशीर्वचन, मंगलाचरण, इष्ट देवता को नमस्कार, वस्तु-निर्देश या कथा की प्रस्तावना का विधान किया गया, परन्तु संस्कृत के ही 'कुमारसम्भव', 'शिशुपालवध' आदि महाकाव्यों में उक्त लक्षण का उल्लंघन हुआ। इसी प्रकार अन्त के विषय में रुद्रट ने संकेत किया कि नायक का अभ्युदय अन्त में होना चाहिए। वस्तुतः इस प्रकार की रूढ़ियाँ सदैव रक्षित नहीं रह सकतीं। इनका पालन बहुत कुछ कवि की व्यक्तिगत मनोवृत्ति, विषय, परिस्थिति आदि पर निर्भर है, अतः इनका विधान व्यर्थ ही है। इस दिशा में लेखक को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(घ) उपर्युक्त रूढ़ि के समानान्तर ही एक अन्य रूढ़ि का उल्लेख रुद्रट और विश्वनाथ आदि ने किया। रुद्रट ने उत्पाद्य कथानकों के आरम्भ में सन्नगरी-वर्णनऔर नायक के वंश की प्रशंसा को अनिवार्य ठहराया, तथा विश्वनाथ ने दुर्जन-निन्दा और सज्जनों के गण-कीर्तन को महाकाव्य में कथनीय स्वीकार किया।

शैली के अन्य उपकरणों—छन्द, अलंकार, भाषा आदि के विषय में भी संस्कृत-आचार्यों ने बहुत कम लिखा।

छन्द

भामह ने इस विषय में कुछ नहीं कहा था। बाद में दण्डी ने अपने विवेचन में उल्लेख किया कि महाकाव्य में पढ़ने-सुनने में रम्य छन्दों (श्राव्यवृत्तों) का प्रयोग होना चाहिए। प्रत्येक सर्ग की रचना एक ही छन्द में होनी चाहिए और अन्त में छन्द-परिवर्तन होना चाहिए। विश्वनाथ ने इस नियम में अपवाद भी स्वीकार कर लिये।

भाषा

भाषा के विषय में भामह ने संकेत किया था कि महाकाव्य की भाषा अग्राम्य शब्दा ं-मयी अर्थात् शिष्ट नागरजनों की भाषा होनी चाहिए। उनके अतिरिक्त परवर्ती आचार्यों में से किसी ने इस विषय में विशेष कुछ नहीं कहा। यद्यपि स्वाभाविक है कि महाकाव्य के रचयिता का भाषा पर कुछ सीमा तक अधिकार अवश्य होगा, परन्तु महाकाव्य में वर्णन-वैविध्य तथा जीवन

के अनेक विरोधी प्रसंगों के वर्णन के लिए निश्चय ही ऐसी भाषा अपेक्षित है जो विराट और क्षुद्र, भव्य और कोमल, तिक्त और मधुर, सभी प्रकार के वर्णन की सामर्थ्य से युक्त हो। महाकाव्य अपनी समग्रता में गरिमामय, उदात्त काव्य-रूप है—उसकी भाषा भी यथावत् गम्भीर और गरिमामयी होनी चाहिए, परन्तु इसका अभिप्राय शब्द-शक्तियों के अतिचार, दुरूहता और अतिशय अलंकरण से नहीं है। प्रसाद गुण हर भाषा-प्रयोग के लिए शुभ होगा।

अलंकार

भामह ने तो भाषा के लिए 'सालंकार' विशेषण का प्रयोग किया ही था, दण्डी ने महाकाव्य का अलंकृत होना आवश्यक कहा है। विश्वनाथ इस विषय में मौन हैं। काव्य में अलंकृति वही सुन्दर व मनोहारी होगी जिसके मूल में सहज कवि-प्रतिभा की प्रेरणा हो, जिसका आधार पाण्डित्य प्रदर्शन और वाग्वैदग्ध्य मात्र न हो, जहाँ भाव-व्यंजना के साथ अलंकार इतने घुले-मिले हों कि उनकी योजना अन्तःस्फूर्त और सहज प्रतीत हो। भाव और कला का समन्वय तो काव्य मात्र का विभूषण है, महाकाव्य के लिए अलंकार-प्रयोग में औचित्य निश्चय ही काम्य होगा।

समग्र काव्य-रूप

महाकाव्य अपने समग्र रूप में किस प्रकार का काव्य-रूप है ? इस विषय में संस्कृत के आचार्यों ने स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा। पाश्चात्य आचार्यों ने 'एपिक' को समाख्यानात्मक तथा वस्तुपरक काव्य-रूप स्वीकार किया है। परन्तु भारतीय आचार्यों ने कथानक के संघटन में नाट्य-सन्धियों की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए भी दोनों विधाओं की समानताओं और विषमताओं के विषय में कुछ नहीं कहा। नाट्य-सन्धियों की स्वीकृति प्रभावोत्पादकता और प्रबन्धान्विति की दृष्टि से की गयी। ऐतिहासिक व सदाश्रित कथा-ग्रहण करने के कारण उसमें वर्णनात्मक शैली से विशृंखलता न उत्पन्न हो सके, इसीलिए समन्वित प्रभाव की दृष्टि से नाटकीय गुणों की अवस्थिति भारतीय आचार्यों ने आवश्यक मानी है। परन्तु महाकाव्य में घटनाओं का वर्णन किया जाता है, प्रदर्शन नहीं। पात्र स्वयं अभिकर्त्ताओं के रूप में उपस्थित नहीं होते। यदा-कदा प्रसंग और स्थिति के अनुकूल कथोपकथन आदि के रूप में लेखक नाटक की शैली का उपयोग प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से कर लेता है। इसी प्रकार यद्यपि महाकाव्य विषयीप्रधान, आत्मपरक काव्य-रूप नहीं होता, वस्तुजगत् तथा किसी न किसी रूप में मूर्त घटनाओं का आधार महाकाव्य में सुदृढ़ एवं स्पष्ट होता है, परन्तु पात्र विशेष की सुखदुखात्मक आत्माभिव्यक्ति के स्थलों पर कविगण प्राय. प्रगीत के तत्त्वों का उपयोग करते हैं। वर्णनात्मक शैली में कथा-वर्णन के रूप में कथा-आख्यायिका के तत्त्व सुस्पष्ट ही हैं। इस प्रकार महाकाव्य मुख्यतः समाख्यानात्मक शैली में रचित बृहद् काव्य-रूप है, जिसमें कवि—नाटक, कथा-आख्यायिका, गीति आदि सभी साहित्यिक विधाओं के तत्त्वों का यथासम्भव आवश्यकतानुसार प्रयोग करता है।

समय के साथ-साथ काव्यों में बाह्य अलंकरण की प्रवृत्ति बढ़ती गयी और महाकाव्य के मूल तत्त्व उपेक्षित और गौण होते गये। भामह के उपरान्त क्रमशः बाह्य और ऊपरी बातों पर जितना बल दिया गया उतना महाकाव्य के मूल तत्त्वों पर नहीं। मंगलाचरण, आशीर्वचन, सर्गों की निश्चित संख्या, छन्द-सम्बन्धी प्रयोग आदि बातें लक्षण और लक्ष्य ग्रन्थों में रचना-

रूढ़ियाँ बनकर रह गयीं। इस प्रवृत्ति का द्विविध दुष्प्रभाव हुआ—एक ओर समय-समय पर स्वतन्त्र प्रतिभा वाले कवियों ने इन रूढ़ियों का उल्लंघन किया और उनकी रचनाओं के काव्य-रूप के विषय में प्रश्नवाचक चिह्न प्रस्तुत होते रहे। महाकाव्य के मूल तत्त्वों के सद्भाव में उन्हें महाकाव्य ही स्वीकार किया गया, परन्तु अपवाद रूप में। दूसरी ओर कुछ तथाकथित महाकाव्यों की रचना हुई जिनमें वस्तु-वर्णन गिनाई हुई सूची के बाहर नहीं गया, कहीं-कहीं तो यह वस्तु-वर्णन अनुचित है, तथा केवल महाकाव्य की लक्षण-पूर्ति के लिए किया गया है। रूढ़ि-पालन के अतिरिक्त इन काव्यों में महाकाव्य की आत्मा, महाप्राणता का सर्वथा अभाव है, परन्तु आचार्यों द्वारा गिनाये लक्षणों की अक्षरशः पूर्ति के कारण ऐसे ग्रन्थों को महाकाव्य अस्वीकार करने में विरोध सम्मुख आया। आधुनिक महाकाव्य के स्वरूप पर ही नहीं अपितु समग्र रूप से हिन्दी काव्य-रूपों पर पाश्चात्य चिन्ताधारा और काव्य-धारा का पर्याप्त प्रभाव रहा है। पाश्चात्य आचार्यों की महाकाव्य-सम्बन्धी धारणा से अवगत होना इसलिए अनिवार्य है।

पाश्चात्य विद्वानों की महाकाव्य-विषयक मान्यताएं

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के आद्याचार्य अरस्तू ने महाकाव्य के स्वरूप का स्वतन्त्र विवेचन नहीं किया, परन्तु त्रासदी से महाकाव्य का साम्य व वैषम्य स्पष्ट करने के लिए उन्होंने जो कुछ कहा, उससे इस काव्य-रूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थों में उनका विवेचन ही महाकाव्य विषयक तत्कालीन धारणाओं को स्पष्ट करता है। अतः हम उन्हीं के मत-विवेचन से विषय का आरम्भ करेंगे।

अरस्तू का मत

महाकाव्य के विषय में उन्होंने कहा कि महाकाव्य, काव्य की वह विधा है जिसमें षट्पदी छन्द में समाख्यानात्मक अनुकरण होता है, जिसकी कथा का निर्माण त्रासदी के समान नाटकीय ढंग से होना चाहिए, तथा जिसका विषय एक सम्पूर्ण (आद्यन्त) उचित आदि, मध्य, अवसान से युक्त अन्वितिपूर्ण घटना होती है, और इस प्रकार यह घटना प्राणी के समान एक एकाई प्रतीत होती है तथा समुचित आनन्द प्रदान कर सकती है। महाकाव्य के रूप-संघटन में इतिहास से बहुत अन्तर होता है। इतिहास में अनिवार्यतः एक घटना या कार्य का विवरण नहीं होता, बल्कि एक युग की कथा होती है जिसमें उस युग-विशेष में एक, अथवा अनेक व्यक्तियों के साथ घटित सभी घटनाओं का समावेश होता है—इन घटनाओं का पारस्परिक सम्बन्ध संयोग मात्र होता है—इससे भिन्न होमर ने युद्ध के एक भाग-विशेष का चयन करके शेष के लिए अवान्तर कथाओं, जैसे समुद्री पोतों की सूचियाँ, आदि का समावेश कर अपने काव्य को वैचित्र्य प्रदान किया है। अन्य कवि भी विषय-रूप में किसी एक व्यक्ति के, अथवा युग-विशेष के कार्यों को चुन लेते हैं, या ऐसे कार्य को, जो एक होते हुए भी नाना भागों से युक्त होता है।[1] अरस्तू के इस कथन का

१. "With respect to that species of poetry which imitates by narration and in hexametre verse, it is obvious that the fable ought to be dramatically constructed like that of tragedy; and that it should have for its subject one entire and perfect action, having a beginning, a middle and an end; so that,

अभिप्राय यही है कि महाकाव्य का कथानक मुख्य कथा के साथ अनेक उपाख्यानों से युक्त होता है। इसके अतिरिक्त अरस्तू ने कवि द्वारा प्रयुक्त काल्पनिक और सम्भाव्य तथ्यों, तथा अति-प्राकृत और अलौकिक तत्त्वों के प्रयोग, भाषा एवं शब्द-चयन आदि पर भी विचार किया।

अवान्तर कथाओं या उपाख्यानों से युक्त मुख्य कथा के ग्रहण पर अरस्तू ने बारम्बार बल दिया। उनका मत था कि इस प्रकार की योजना से महाकाव्य में गरिमा और गुरुत्व आ जाता है। विभिन्न उपाख्यानों में विविध चरितों और दृश्यों की योजना से पाठकों की उत्सुकता को भी त्रासदी की अपेक्षा अधिक सन्तोष प्राप्त होता है। महाकाव्य के विषय से अरस्तू का अभिप्राय अनेक भागों अथवा उपकथाओं से युक्त कथा-विशेष से है।[1] अरस्तू ने महाकाव्य के लिए जहाँ आधिकारिक वृत्त के साथ उपाख्यानों की योजना अनिवार्य मानी, वहाँ इस बात पर भी बल दिया कि ये प्रासंगिक वृत्त प्रधान कथा के साथ उचित रूप से सम्बद्ध होने चाहिएँ।[2]

इस प्रकार त्रासदी की अपेक्षा लम्बे कथानक, वैविध्य और विस्तार आदि पर बल देते हुए भी उन्होंने कथानक में अन्विति और क्रमबद्धता को आवश्यक ठहराया। उनका निश्चित मत था कि अनेक घटनाओं से युक्त होने पर भी कथानक के सूत्र शिथिल नहीं होने चाहिएँ। महाकाव्य में नाटक के समान कार्यान्विति होने पर भी उसका आकार अपेक्षाकृत बड़ा होता है। उसमें एक स्वतःपूर्ण घटना का क्रमबद्ध वर्णन होना चाहिए। परन्तु आदि, मध्य और अन्त किसी प्राणी के समान एक इकाई के रूप में, एक ही दृष्टि में दिखाई देना चाहिए। नाटक की अपेक्षा महाकाव्य में विस्तार का अवकाश इस कारण अधिक है, कि नाटक में एक ही समय पर घटित होने

forming like an animal a complete whole, it may afford its proper pleasure, widely differing in its construction from history, which necessarily treats not of one action, but of one time, and of all the events that happened to one person or to many during that time, events the relation of which, to each other is merely casual.....Instead of this selecting one part only of the war, he (Homer) has from the rest introduced many episodes—such as the catalogue of the ships and others—by which he has diversified his poem. Other poets take for their subject the actions of one person or of one period of time, or an action which, though one, is composed of too many parts.

Aristotle's Poetics—Part III, Edited by T. A. Moxon, P. 46-47.

१. And this gives it a great advantage, both in point of magnificence and also as it enables the poet to relieve his hearer and diversify his work by a variety of dissimilar episodes, for it is to the satiety naturally arising from similarity that tragedies frequently owe their ill success —Ibid 48.

By an epic I mean a fable composed of many fables, as if any one..... —Ibid, P. 36.

२. ".....the poet, when he has given names to his characters, should proceed to the episodes, of his action, and he must take care that these belong properly to the subject,....." —Ibid, P. 34

वाली कई घटनाएँ अभिनीत नहीं हो सकतीं, परन्तु महाकाव्य में एक समय पर घटित होने वाली अनेक घटनाओं का वर्णन किया जा सकता है।[1] एक ही समय में घटित होने वाली अनेक घटनाओं के वर्णन का अभिप्राय होगा घटनास्थलों में भिन्नता। इस प्रकार अरस्तू ने महाकाव्य में स्थान-ऐक्य के निर्वाह को आवश्यक नहीं माना।

महाकाव्य के आकार के विषय में अरस्तू ने अनेक स्थानों पर बल दिया है। उन्होंने घटनाओं का विस्तार उपाख्यानों की दृष्टि से ही नहीं, समय की दृष्टि से भी विशद माना है। उनके अनुसार समय की दृष्टि से महाकाव्य का कार्य-व्यापार असीम हो सकता है। इस प्रकार का मत उन्होंने त्रासदी और महाकाव्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए व्यक्त किया।[2]

महाकाव्य के विस्तार, कथानक के निर्माण, कार्यान्विति आदि विशेषताओं के बाद अरस्तू ने कथानक में कल्पना के प्रयोग पर भी विचार किया। उनके विचार में आश्चर्योत्पादन महाकाव्य की अनिवार्य विशेषता है और ऐसा उनके अनुसार अनुत्पाद्य कथानक (ऐतिहासिक) में कल्पना के प्रयोग से ही हो सकता है। उत्पादक कल्पना का आश्चर्यचकित करने वाला प्रभाव दो प्रकार से डाला जा सकता है—अतिप्राकृत और अलौकिक तत्त्वों के मिश्रण से, और असम्भव बातों के वर्णन से। असम्भव और अविश्वसनीय बातों में आश्चर्योत्पादन की विलक्षण शक्ति होती है।[3]

भारतीय आचार्यों की ही भाँति अरस्तू ने भी मुख्य प्रसंग से सम्बन्धित जीवन की समग्रता के यथासम्भव चित्रण को महाकाव्य के लिए आवश्यक माना है। मुख्य कथा-चयन करने के उपरान्त, कवि अन्य वस्तुव्यापार-वर्णन के लिए अपनी कल्पना का प्रयोग करता है। नाटक के समान

---

१. The epic poem differs from tragedy in the length of its plan and in its metre. With respect to length a sufficient measure has already been assigned. It should be such as to admit of our comprehending at one view the beginning and the end, and this would be the case if the epic poem were reduced from its ancient length, so as not to exceed that of such a number of tragedies as are performed successively at one hearing. But there is a circumstance in the nature of epic poetry which affords its peculiar latitude in the extension of its plan....but the epic imitation, being narrative, admits of many such simultaneous incidents properly related to the subject which swell the poem to a considerable size. —Ibid, p. 47-48

२. It also differs in length, for tragedy endeavours, as far as possible, to confine its action with the limits of a single revolution of the sun or nearly so; but the time of epic action is indefinite.

—Ibid, page. 13

३. The surprising is necessary in tragedy; but the epic poem goes further and admits even the improbable and incredible, from which the highest degree of surprising results, because there the action is not seen."

—Ibid, page 49

ही महाकाव्य में भी क्रान्ति, अन्वेषण, दुर्घटनाओं का भी वर्णन होता है।[1]

शैली—शैली के प्रसंग में अरस्तू ने महाकाव्य की अभिव्यंजना कला, उसके कलात्मक सौन्दर्य के विषय में विशेष कुछ नहीं कहा। शैली के अन्तर्गत यदि कुछ परिगणित किया जा सकता है तो वह है विषयवस्तु की नियोजना-सम्बन्धी उनका विचार। वस्तुतः शैली के विषय में उन्होंने प्रत्यक्ष कुछ लिखा ही नहीं। घटनाचक्र के संयोजन, और प्रकारान्तर से अभिव्यंजना पर पड़ने वाले प्रभाव का ही उन्होंने वर्णन किया है। नाटक के समान महाकाव्य भी उन्होंने सरल और जटिल दो प्रकार के माने। इनके भी प्रत्येक के कथा के स्वरूप के अनुसार नैतिकतापूर्ण और दुर्घटनापूर्ण—दो भेद किए। जटिल कथानकों में उन्होंने रोमांचक तत्त्व तथा घटना-वैविध्य अधिक माना, और सरल में अपेक्षाकृत कम घटनाएँ और कार्यान्विति अधिक। इसी आधार पर 'इलियड' को सरल शैली का दुर्घटनापूर्ण काव्य और 'ओडेसी' को जटिल और नैतिकतापूर्ण काव्य माना गया है।[2] शैली और छन्द के विषय में एक संकेत उन्होंने अनेक प्रसंगों में दिया है। जैसा हम आरम्भ में स्पष्ट कर आए हैं—महाकाव्य की रचना उन्होंने षटपदी छन्द और समाख्यान शैली में मानी है। इसी मत की उन्होंने एकाधिक स्थलों पर पुनरावृत्ति की और महाकाव्य की रचना आद्यन्त एक ही छन्द में उचित मानी।[3]

भाषा और शब्द-चयन के विषय में भी अरस्तू ने विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया। उन्होंने केवल भाषा और भाव के अनुकूलत्व पर ही विशेष बल दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा कि भाषा सहज अलंकृत होनी चाहिए। जहाँ इस प्रकार का प्रयत्न सचेष्ट होता है वहाँ प्रायः वह घटनाक्रम की शिथिलता को आवृत्त करने के लिए किया जाता है।

अरस्तू द्वारा प्रस्तुत महाकाव्य की विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

कथानक

१. महाकाव्य में समाख्यानात्मक शैली में लिखी गयी कोई महान् और लम्बी पद्यबद्ध कथा होती है।

२. मूल कथा के साथ अनेक अवान्तर कथाओं का समावेश होता है अथवा मुख्य कथा अनेक भागों में विभक्त होती है।

---

१. Its parts also, setting aside music and decorations are the same, for it requires revolutions, discoveries and disasters.....
—Ibid, p. 47.

२. Again, the epic poem must also agree with the tragic as to its two kinds, it must be simple or complicated, moral or disastrous....Thus his (Homer's) two poems, the Iliad is of the simple and disastrous kind, the Odyssey complicated. (for it abounds through out discoveries) and moral. —Ibid, p. 47

३. Epic poetry agrees so far with tragic as it is an imitation of great characters and actions by means of words; but in this it differs, that it makes use of only one kind of metre throughout and that is narrative. —Ibid, page 13

३. कथानक का विकास नाटकीय होता है, और घटनाओं में एक निश्चित कार्यान्विति होती है। अन्विति से अभिप्राय एक व्यक्ति की कथा से नहीं, कार्य की एकसूत्रबद्धता से है। एक व्यक्ति की कथा में भी अन्विति के अभाव में अनेकता हो सकती है अतः प्रबन्ध की भिन्न-भिन्न घटनाएँ इस प्रकार सूत्रबद्ध होती हैं कि उनमें से एक के भी इधर-उधर होने से सम्पूर्ण विधान अस्त-व्यस्त हो जाता है। इतिहास और महाकाव्य में यही अन्तर है।

४. महाकाव्य के लिए घटना-विस्तार अनिवार्य है, परन्तु विस्तृत आकार होने पर भी, महाकाव्य की कथा स्वतःपूर्ण और एक ही दृष्टि में दिखाई पड़ने वाले प्राणी के समान आदि, मध्य और अन्त से युक्त इकाई के समान होती है। कथानक के आदि, मध्य और अवसान—यह तीनों चरण स्थिति की दृष्टि से सर्वथा निश्चित रहते हैं और इनकी अनिवार्यता स्वतः सिद्ध होती है। इनका पूर्वापर-क्रम-बन्धन भी इस प्रकार निश्चित होता है कि एक के बिना दूसरे का संगत विकास सम्भव प्रतीत नहीं होता।

५. महाकाव्य में यथासम्भव, जीवन का सांगोपांग वर्णन किया जाता है। विस्तृत वस्तु-व्यापार-वर्णन के साथ अतिप्राकृत तत्त्वों और असम्भव घटनाओं का भी समावेश होता है, क्योंकि आश्चर्योत्पादन और पाठक के कौतुहल की सन्तुष्टि का गुण महाकाव्य में नाटक की अपेक्षा अधिक होता है। परन्तु कथानक के सभी प्रसंगों में सम्भाव्यता होनी चाहिए। अर्थात् कथानक की घटनाओं का विकास एक-दूसरे में से सहज रूप से हो, संयोग पर आश्रित रहकर मनमाने ढंग से नहीं, अन्यथा वे पाठक के मन का उचित परितोष नहीं कर सकतीं।

६. महाकाव्य के कथानक-संघटन में अरस्तू ने घटना-ऐक्य को तो काम्य स्वीकार किया, परन्तु देश और काल की एकता आवश्यक नहीं मानी। महाकाव्य में वर्णित घटनाएँ परस्पर सम्बद्ध, परन्तु एक ही समय या भिन्न-भिन्न अवसरों पर एक अथवा अनेक स्थानों में घटने वाली अनेक घटनाएँ हो सकती हैं।

शैली

७. महाकाव्य की शैली पर विस्तारपूर्वक उन्होंने बहुत कुछ नहीं कहा। महाकाव्य की शैली समाख्यानात्मक होती है। इसके अतिरिक्त शैली के विषय में उन्होंने जो कुछ कहा वह अभिव्यंजना या रचना शैली की विशेषता न होकर कथा-संघटन की पद्धति को ही अधिक व्यक्त करता है।

८. उन्होंने सरल और जटिल दो भेद—घटनाओं के स्वरूप और कथा में प्रयुक्त तत्त्वों के आधार पर माने हैं।

९. भाषा और शब्द-चयन—भाषा और भाव का परस्पर अनुकूलत्व और भाषा में सहज अलंकृति उन्होंने महाकाव्य की भाषा के गुण स्वीकार किए।

१०. छन्द—उपलब्ध साहित्य के आधार पर अरस्तू ने महाकाव्य की रचना आद्यन्त एक ही छन्द में उचित मानी और षटपदी (Hexametre) के रूप में उसका प्रकार निश्चित कर दिया।

उपर्युक्त मान्यता यद्यपि विकासशील महाकाव्यों की विशेषताओं को ही व्यक्त करती है, परन्तु व्यवहार में शास्त्रीय, रोमांचक और अलंकृत महाकाव्यों की निरन्तर रचना होने पर

भी सिद्धान्त में उन्हें लक्षणबद्ध करने अथवा परिभाषा निश्चित करने का कोई विशेष उल्लेखनीय प्रयत्न सोलहवीं शताब्दी तक नहीं दिखाई पड़ता।

यूरोपीय शास्त्रीय महाकाव्यों में अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ अन्य विशेषताएँ भी पाई जाती हैं। जो इस प्रकार हैं—

कथानक

१. इन काव्यों के कथानक इतिहास, पुराण, बाइबिल आदि से ग्रहीत किसी गुरु गंभीर विषय के आधार पर कवि-कल्पना द्वारा निर्मित हैं।

२. इन काव्यों में होमर के काव्यों की अपेक्षा कार्यान्विति अधिक प्राप्त होती है। होमर के काव्यों का कथानक अधिक विस्तृत और घटनाएँ अपेक्षाकृत विशृंखल थीं।

३. होमर के महाकाव्यों में अवान्तर कथाओं का बाहुल्य है। घटनाएँ भी अधिक हैं (कदाचित इसीलिए अरस्तू ने अवान्तर कथाओं की अधिकता और अनिवार्यता पर इतना बल दिया) इन काव्यों में घटनाओं और अवान्तर कथाओं का इतना प्रपंच नहीं मिलता।

४. वस्तु-व्यापार-वर्णन में कुछ कथानक-रूढ़ियों का पालन इन सभी काव्यों में दृष्टिगत होता है। जीवन के विविध पक्षों का वर्णन करने का प्रयत्न भी इनमें पाया जाता है।

५. भारतीय रूढ़ियों की भाँति इन कृतियों में प्रस्तावना, वस्तु-निर्देश और मंगलाचरण की पद्धति को अपनाया गया है।

६. अतिप्राकृत और अलौकिक तत्त्वों के प्रयोग में, कल्पना का अतिचार इनमें नहीं दिखाई पड़ता। इस प्रकार के स्थलों पर बौद्धिक संयम और कल्पना का नियंत्रित प्रयोग किया गया है।

शैली

१. इन काव्यों की शैली होमर की भाँति निसर्ग और सहज नहीं, अपितु प्रयत्न-साध्य और सचेष्ट कलात्मक शैली है। इनमें शब्द और अर्थ के चमत्कारयुक्त प्रयोग मिलते हैं। होमर की रचनाओं की सी पुनरुक्ति की प्रवृत्ति का भी इनमें अभाव है।

२. इनके वर्णनों में पुस्तकीय ज्ञान का प्रभाव और पांडित्य-प्रदर्शन की भावना भी दिखायी देती है।

शास्त्रीय-अलंकृत-महाकाव्य[1] और रोमांचक महाकाव्यों का पारस्परिक भेद बाह्य रूप, आकार और कला का उतना नहीं जितना घटनाओं के स्वरूप और कथानक के तत्त्वों का है। भिन्न वातावरण में रचना होने के कारण अवश्य ही दोनों के स्वरूप में अन्तर आ गया है। शास्त्रीय-अलंकृत-महाकाव्यों का विकास दरबारों, और रोमांचक काव्यों का लोक-जीवन के मध्य हुआ। उनमें स्वभावतः उतनी बौद्धिकता नहीं प्राप्त होती जितनी भावुकता व कल्पना। इस प्रकार के काव्य साधारण जनता की मनोवृत्तियों के अधिक अनुकूल थे।

वस्तुतः काव्य-रूप तथा शैली की दृष्टि से रोमांचक-महाकाव्य कोई पृथक् भेद नहीं।

1. Classical epic of art.

महाकाव्य के अन्य रूपों से यह भेद अन्तरात्मा का अधिक है और उसीके परिणामस्वरूप इनकी बाह्य अभिव्यक्ति में अन्तर दिखाई पड़ता है। ये महाकाव्य लोक-साहित्य के अधिक निकट होते हैं। महाकाव्य की रचना जब रोमांचक कथा तथा कार्य-व्यापार को लेकर होती है तभी वह इस कोटि में आ जाता है। इनमें कल्पना की अतिशयता, विशेष भावुकता, उच्च उद्देश्य का अभाव, कथा कहकर केवल मनोरंजन करने की प्रवृत्ति और तदनुकूल कला दृष्टिगत होती है। इन काव्यों तथा इनकी रूप-सम्बन्धी धारणा का प्रभाव आधुनिक हिन्दी-महाकाव्य पर नहीं मिलता, अतः रूप-सम्बन्धी विशेषताओं का विस्तार से वर्णन करना यहाँ विशेष प्रसंगानुकूल नहीं होगा। इस विषय में केवल इतना संकेत कर देना अनिवार्य है कि यद्यपि रोमांस और महाकाव्य दोनों एक-दूसरे से भिन्न काव्य-रूप नहीं हैं—रोमांचक तत्त्वों से युक्त महाकाव्य रोमांचक महाकाव्य कहलाता है, और महाकाव्य की विशेषताओं से विहीन रोमान्स—रोमांचक कथा-काव्य, परन्तु महाकाव्यों में रोमांचक तत्त्वों के अतिशय प्रयोग को पाश्चात्य चिन्तकों ने महाकाव्य की नाटकीयता के लिए घातक माना है।

महाकाव्य के जिन विविध रूपों का अभी तक वर्णन किया गया, वे यूरोपीय साहित्य में अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक प्राप्त होते हैं। सामान्यतः महाकाव्य को विषयगत या वस्तुगत दृष्टिकोण से रचित काव्य रूप स्वीकार किया गया है। अतः अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, जब जीवन के हर क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना ने प्राचीन मान्यताओं के प्रति विद्रोह किया, तब साहित्य के क्षेत्र में भी विषयीप्रधान व्यक्तिवादी भावनाओं के अनुकूल रूप-विधाओं को ग्रहण किया जाने लगा, विशेषकर गीति-काव्य के विभिन्न प्रकारों को। आंग्ल-साहित्य में प्राचीन धाराओं और मान्यताओं से सर्वथा निरपेक्ष प्रबन्धों की रचना हुई। बायरन, वर्डस्वर्थ, कॉलरिज, कीट्स सभी ने इस दिशा में स्वच्छन्द प्रयोग किये, परन्तु किसी उल्लेखनीय महाकाव्य की रचना इस समय नहीं हुई।

कुछ समय बीत जाने पर महाकाव्य की प्राचीन प्रचलित विधाओं के परस्पर मिश्रण और नवीनता के समावेश से कुछ नये प्रकारों का आविर्भाव हुआ। इन महाकाव्यों में दो विशेषताएँ प्रधान रूप से दिखाई देती हैं। नाटच शैली में कथा-वर्णन की प्रवृत्ति, तथा पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का अपेक्षाकृत अधिक प्रयत्न। बाह्य जीवन में कार्यान्वित होने वाली घटनाओं के प्रेरक रूप में मानव-मन का विश्लेषण, उस पर पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन तथा विभिन्न मानसिक दशाओं का उद्घाटन इन रचनाओं में किया गया है। १९वीं शताब्दी के कवियों ने सिद्ध कर दिया कि महाकाव्य अनिवार्यतः समाख्यानात्मक शैली में रचित काव्यरूप नहीं, अपितु नाटच शैली में भी महाकाव्य की रचना सम्भव है। इस प्रकार के उदाहरण टेनीसन का 'आडिल्स आफ द किंग' जिसमें आर्थर के दरबार में विभिन्न दरबारियों द्वारा कथाएँ कहलाई गयी हैं, तथा बीसवीं शताब्दी में हार्डी द्वारा रचित 'द डाइनेस्ट्स' जिसकी कथा पात्रों के स्वगत कथन के रूप में कही गयी है, आदि हैं। ब्राउनिंग के 'द रिंग एण्ड द बुक' में मनोवैज्ञानिक महाकाव्य का उत्कृष्ट उदाहरण प्राप्त होता है। एक घटना-विशेष का अनेक व्यक्तियों के मुख से अनेक रूपों में वर्णन कराया गया है। कवि का उद्देश्य महत् घटना व चरित्रों का वर्णन नहीं, वरन् मनोवैज्ञानिक चित्रण है। काव्य की घटनाएँ अमूर्त हैं।

स्पष्ट है कि महाकाव्य के स्वरूप के विषय में अरस्तू के उपरान्त क्रमशः शैली, विषय, कला आदि, सभी दृष्टियों से इतनी विविधता उपस्थित हो चुकी थी कि आधुनिक आलोचकों को महाकाव्य की एक सामान्य और निश्चित परिभाषा बनाना असम्भव प्रतीत होने लगा। हर देश की महाकाव्य-विषयक धारणा में, और हर कवि की व्यक्तिगत प्रतिभा में दूसरे से अन्तर होता है और तदनुसार उनकी कृतियों में परस्पर अन्तर प्रस्तुत होता है। इसी कारण आचार्यों की परिभाषाओं में—जिनका आधार उनके अपने समय की वर्तमान सामग्री होती है, परस्पर पर्याप्त मतान्तर मिलता है। भारतीय आचार्य लक्षणों में निरन्तर अन्तर प्रस्तुत करते रहे और अपवाद स्वीकार करते रहे। 'द बुक आफ एपिक' के लेखक ने इसी कारण भूमिका में लिखा—

"संसार में जितने राष्ट्र और जितने कवि हैं, महाकाव्य की सचमुच ही उतनी ही परिभाषाएँ हैं और महाकाव्य-रचना के उतने ही नियम हैं।"[1]

उपर्युक्त मत में महाकाव्य की परिभाषा निश्चित करने की कठिनाइयों का ही संकेत है। इसी प्रकार की एक अनिश्चित और अस्थिर परिभाषा 'एबरक्रोम्बी' ने दी। उन्होंने कहा कि "महाकाव्य की परिभाषा देना यद्यपि विशेष उपयोगी नहीं, परन्तु सरल ढंग यह है कि—महाकाव्य वह काव्य है जिसके पढ़ने के उपरान्त मन में वैसी ही भावनाओं का उन्मेष हो जैसी 'पैराडाइज़ लॉस्ट', 'बियोवूल्फ', 'इलियड', 'साँग ऑफ रोला' आदि के पढ़ने के उपरान्त होता है।"[2]

इस परिभाषा में किसी प्रकार के स्थिर और निश्चित मानदण्डों को आधार नहीं बनाया गया। हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव के स्वरूप को स्पष्टतः जानना बहुत कठिन है। मनोवृत्तियों का स्थूल मूर्तरूप अथवा सीमा निश्चित नहीं की जा सकती—वह अमूर्त का विषय है, और साथ ही एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की भावनाओं में और प्रभाव ग्रहण करने की क्षमता में अन्तर होता है। भिन्न-भिन्न महाकाव्यों का सभी व्यक्तियों पर एक जैसा ही प्रभाव पड़ेगा, अथवा एक ही ग्रन्थ का भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर पृथक् प्रभाव नहीं पड़ेगा यह कैसे कहा जा सकता है।

आधुनिक आलोचकों में से 'बावरा' ने महाकाव्य की परिभाषा देते हुए कहा—

"सर्वसम्मति से महाकाव्य बृहद् आकार का एक समाख्यानात्मक काव्य-रूप है तथा उसमें ऐसी महत्त्वपूर्ण और भव्य घटनाओं का वर्णन होता है जिनका सम्बन्ध सक्रिय जीवन से होता है, विशेषकर युद्ध आदि जैसे भयंकर कार्यों से। इससे (महाकाव्य से) हमें विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है, क्योंकि उसकी घटनाएं और पात्र मानव की उपलब्धियों के महत्त्व तथा उसके गौरव और कुलीनता के प्रति हमारी आस्था को दृढ़ करते हैं।"[3]

१. 'द बुक आफ एपिक' का अनुवाद—विदेशों के महाकाव्य—अनु० गोपीकृष्ण गोपेश, पृ० १३

२. An easy way to define epic, though not a very profitable way, would be to say simply that an epic is a poem which produces feelings similar to those produced by Paradise Lost, or the Illiad, Beowulf or the Song of Roland.

The Epic : Abercrombie, page 51

३. An epic poem is by common consent a narrative of some length and deals with events which have a certain grandeur and importance and

उपर्युक्त मत से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

१. महाकाव्य एक बृहदाकार कथात्मक काव्य-रूप है।

२. इसमें भव्य और महत्त्वपूर्ण घटनाओं का, विशेषकर जिनमें गति हो, जिनका युद्धादि भयंकर और क्रियाशील जीवन की घटनाओं से सम्बन्ध हो, वर्णन होता है।

३. जीवन के सद्मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करके आनन्द प्रदान करना इसका उद्देश्य होता है। इस प्रकार यह परिभाषा केवल महाकाव्य के अन्तरंग पर कुछ सीमा तक प्रकाश डालती है, परन्तु अभिव्यक्ति और बहिरंग स्वरूप इससे बिल्कुल स्पष्ट नहीं होता।

इस परिभाषा से थोड़ी भिन्न एक अन्य परिभाषा एबरक्रोम्बी ने दी है। उन्होंने कहा कि केवल बृहद् आकार मात्र से कोई रचना महाकाव्य नहीं हो पाती। आकार से भिन्न घटना, चरित्र, उद्देश्य और शैली आदि, सभी की महानता उसके लिए अनिवार्य है। उसमें गरिमा और गाम्भीर्य होना चाहिए।[1]

इस परिभाषा में यद्यपि महाकाव्य के अपेक्षाकृत अधिक तत्त्वों पर विचार किया गया है, परन्तु महाकाव्य की रूपगत विशेषताएँ इससे भी स्पष्ट नहीं होतीं। वस्तुतः यूरोपीय आचार्यों ने यद्यपि भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से अपनी महाकाव्य सम्बन्धी धारणा को व्यक्त किया है, परन्तु वहाँ भी ऐसी कोई परिभाषा उपलब्ध नहीं, जो महाकाव्य के स्वरूप को चारों ओर से घेर ले। किसी भी परिभाषा को पूर्णतः सर्वांगनिरूपक नहीं कहा जा सकता। इसका मुख्य कारण यही है कि हर युग में महाकाव्य के नए प्रयोगों के साथ तत्सम्बन्धी धारणाएँ भी बदलती रही हैं। प्रत्येक युग में अपने से पूर्व के महाकाव्यों के महाकाव्यत्व को स्वीकार करते हुए भी उनमें परिपालित गौण और महत्त्वपूर्ण, हर प्रकार की विशेषताओं का उल्लंघन किया जाता रहा। नए प्रयोग बार-म्बार किये गए और उन्हें फिर महाकाव्य स्वीकार कर लिया गया। इसी स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति को दृष्टि में रखते हुए स्वच्छन्दतावादी विचारक वाल्टेयर ने महाकाव्य को संकीर्ण लक्षणों में बाँधने का विरोध किया। उनका विचार था कि प्रत्येक महाकाव्य कुछ ऐसे गुणों से युक्त होता है जिनका साक्षात्कार समाज अपनी बुद्धि द्वारा करने के उपरान्त उन्हें महाकाव्य का पद प्रदान कर देता है—

---

come from a life of action, especially of violent action such as war. It gives a special pleasure because its events and persons enhance our belief in the worth of human achievement and in the dignity and nobility of man.

From Virgil to Milton, by C. M. Bowara, p. 1.

What epic quality, detached from epic proper, do these poems possess, then, apart from the mere fact that they take up great many pages? It is simply a question of their style the style of their conception and the style of their writing, the whole style of their imagination, in fact, they take us into a region in which nothing happens that is not deeply significant, a dominant, noticeable symbolic purpose presides over each poem, moulds it greatly and informs it throughout.

The Epic, by L. Abercrombie, p. 52

"व्यवहार के आधार पर विशेषतः कुछ ऐसे काव्य-ग्रन्थों को जिनमें किसी महान् घटना का वर्णन होता है 'महाकाव्य' संज्ञा प्रदान की गई है। घटना चाहे सरल हो अथवा जटिल, इलियड का तरह उसका क्षेत्र चाहे स्थान-विशेष हो, चाहे 'ओडेसी' की भाँति उसका नायक सारे संसार में भटकता फिरे, उसका नायक एक हो अथवा अनेक, भाग्यवान हो या अभागे, एचिलीस की तरह क्रोधी हो अथवा एनियास की तरह धर्मप्रवण, वे राजा हों या सेनापति या इनमें से कुछ भी नहीं·····। वह काव्य तब तक महाकाव्य कहलाने का अधिकारी होगा जब तक उसके गुणों के अनुरूप आप उसका कोई दूसरा नामकरण नहीं कर देते।"[1]

इस प्रकार महाकाव्य के लिए वाल्टेयर केवल एक लक्षण अनिवार्य मानते हैं—घटना का महान् और गरिमायुक्त होना। इसके अतिरिक्त अन्य बाह्य लक्षणों और परम्परागत रूढ़ियों को उन्होंने व्यर्थ माना है।

डिक्सन ने भी उक्त मत का समर्थन करते हुए महाकाव्य को संकीर्ण लक्षणों में बाँधने के प्रति विद्रोह किया है। उनका मत है कि 'महाकाव्य' शब्द की संकीर्ण अर्थों में व्याख्या नहीं होनी चाहिए। यद्यपि उसका अर्थ निश्चित है, परन्तु संकीर्ण लक्षणों में उसे नहीं बाँधा जा सकता।"[2]

प्राचीन और आधुनिक पाश्चात्य आलोचकों के महाकाव्य विषयक मतों का सिंहावलोकन करने के उपरान्त सार का स्पष्टीकरण अब संभव होगा। कोई एक परिभाषा यद्यपि ऐसी नहीं, जिसमें महाकाव्य की सभी विशेषताओं को ग्रहण कर लिया गया हो, परन्तु विभिन्न विद्वानों के मताधार पर महाकाव्य का स्वरूप निश्चित किया जा सकता है—

१. सभी आलोचकों ने महाकाव्य को प्रकथनात्मक (नैरेटिव) काव्य-रूप स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में जिन समीक्षक विद्वानों का उल्लेख किया जा चुका है उनके अतिरिक्त मेकेन्जी,[3] बर्टन आदि ने भी कथात्मक काव्य की परिभाषा देते हुए[4] इसी धारणा को पुष्ट किया

१. "Use alone has prefixed the name of epic particularly to those poems which relate some great action. Let the action be simple or complex, let it lie in one single place, as in the Illiad or let the hero wander all the world over, as in the Odyssey, let there be one single hero, or a great many, happy or unhappy furious as Achilles, or pious as Aeneas, let them be king or generals, or neither of them; the poem will equally deserve the name of epic, unless you have a mind to honour it with another title proportionate to its merit."

Quoted by Macnielle—Dixon—English Epic & Heroic poetry, p. 9.

२. And we may remind ourselves, and before all things that the term epic, definite enough in meaning, can bear no narrow interpretation. Ibid, p.9

३. The typical "creative form of literature is that which contains an element of narrative. This includes the novel.....the epic....."

Process of Literature—by A. M. Mackenzie, p. 129.

४. *Narrative poetry* :–Poetry which tells a story (e. g. short tales

है। वस्तुतः आरम्भ में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से लक्ष्य है। क्योंकि आरम्भिक महाकाव्य का स्वरूप होमर की 'इलियड' और 'ओडेसी' रचनाओं के रूप में निश्चित हो गया।[1] और होमर की ये कृतियाँ निश्चित रूप से इतिवृत्तात्मक शैली में लिखी विषय-प्रधान रचनाएँ थीं। कवि के सामने निजी दृष्टिकोण गौण था। प्रधान था सुनी-सुनाई कथा को काव्यबद्ध कर जनता को सुनाना। इस प्रकार के काव्य-रूप में आत्माभिव्यक्ति-प्रधान शैली के प्रयोग की आशा नहीं की जाती थी।[2]

धीरे-धीरे समय के साथ इस दृष्टिकोण में अन्तर आ गया और विशेषकर पुनर्जागरण काल के पश्चात् लेखकों ने गीति-तत्त्वों और आत्मपरक शैली को महत्त्व प्रदान करते हुए महाकाव्य में भी उसका प्रवेश करा दिया।[3] इस प्रवृत्ति का सबसे मुखर रूप मिल्टन के 'पैराडाइज लॉस्ट' में प्राप्त होता है—जहाँ कवि द्वारा प्रदत्त आत्म की महत्ता कथा के प्रवाह में बाधक हुई है।[4]

२. महाकाव्य के आकार में भी एक निश्चित विस्तार आवश्यक माना गया है—अर्थात् महाकाव्य एक बृहदाकार काव्य-रूप है। हरबर्ट रीड ने इलियड के विषय में अपना मत देते हुए

---

in verse : epic, romance)

The criticism of poetry—Burton, p. 167

१. ...; the character of the epic form had been fixed once for all. If a later poet wished to compose a narrative of a heroic story he had to do it in the Homeric manner or not at all.

Classical background of English literature, by J. A. K. Thomson, p. 33

The Epic is Homer, that is to say the Illiad and the Odyssey. Ibid, p. 38

२. If it be asked how Homer produced this effect of impersonality, we may answer that it is by two principal means, a traditional poetic diction and an objective manner of narration...In telling his story Homer is not concerned to give his own point of view, his attitude is that of the monk in scott :—

I cannot tell how the truth may be;
I say the tale as'twas said to me. Ibid, p. 41

३. When christianity became the source of poetic inspiration, we find the purely epic character of a poem modified by the introduction of a lyric element.

Cambridge history of English Literature, Volume I, p. 63.

४. Thus he has nothing like those passages in "Paradise Lost" in which Milton speaks of himself and which, however interesting they may be and they are among the most moving in our literature—undoubtedly interrupt the flow of the narrative. In fact they tend to be more interesting than the narrative itself.... In Homer on the other hand the story is always predominent.

Classical background...J. A. K. Thomson, p. 42.

कहा कि सभी महाकाव्य अनिवार्यतः बृहद होने चाहिएँ।[1] इसी प्रकार की धारणा 'एलेजी' और 'एपिक' का अन्तर स्पष्ट करते हुए अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में व्यक्त की गई।[2]

३. महाकाव्य की कथानक-सम्बन्धी तीसरी विशेषता पाश्चात्य मनीषियों ने अवान्तर कथाओं की अवस्थिति मानी है। मूल कथा को विस्तार देने के लिए उसके साथ उपाख्यानों (एपिसोड्स) का होना अनिवार्य है। इन उपाख्यानों की संख्या जितनी अधिक होगी और जितने कौशल से वे कथा में अनुस्यूत होंगे उतनी ही इस क्षेत्र में कवि की सिद्धि मानी जायेगी।[3]

इसी प्रकार का एक तर्क अपने काव्य की महाकाव्य-सम्बन्धी विशेषताएँ स्पष्ट करते हुए 'डॉन जान' के कवि ने दिया है।[4]

४. अवान्तर कथाएँ या उपाख्यान मूल कथा से भली-भाँति सम्बद्ध होने चाहिएँ। अर्थात् कथा में अन्विति, घटना-सम्बन्धी सम्बद्धता महाकाव्य के लिए अनिवार्य है।

इस विषय में प्राचीन और आधुनिक सभी आचार्य एकमत हैं। अवान्तर कथाएँ होने पर भी उनमें अपने ढंग की अन्विति होती है।[5] साथ ही ये अवान्तर कथाएँ मुख्य कथा से निश्चित अनुपात में सम्बद्ध और उसकी सहायक मात्र होती हैं।[6]

---

१. 'Iliad' is lengthy by reason of its story and so I think is all true epic poetry. Forms in modern poetry, Herbert Read, p. 63

२. It is customary to classify the early national poems in two groups, epic & eligiac. The former, if we may judge from Beowulf, ran to very considerable length, while all the extent specimens of the latter are quiet short. Cambridge history of English Literature, Vol. I, p. 20.
"The action of an heroic poem must be of a certain magnitude."
Epic & Romance—W. P. Ker, p. 20.

३. The structural art—what Arnold calls the architectonics of the Odyssey is even more remarkable. It is not like the Illiad concerned with a single episode, but with a series of episodes covering a period of ten years.
The Classical background of English Literature, J A. K. Thomson, p. 46

४. "My poem's epic, and is meant to be
.....
New characters, the episodes are three.
(Don Juan)
Quoted by Burton—'The Criticism of poetry', p. 165

५. ...the epic being so long, admitted more episodes. But it did also confirm to its own kind of unity of action.
The English Epic & its Background, E. M. W. Tillyard, p. 108

६. "The various episodes in the earlier books are nicely proportioned and subordinated to the main theme. (about Cyropedia by Xenophen)

५. अवान्तर कथाओं के साथ दृश्य वैचित्र्य और वर्णन वैविध्य भी महाकाव्य के कथानक में पाश्चात्य विद्वानों ने स्वाभाविक माना। महाकाव्य में पात्रों की सजीव कल्पना के कारण उनकी विभिन्न चित्तवृत्तियों और समस्याओं से सम्बद्ध विविध वर्ण्य विषयों और दृश्यों का सहज रूप में अन्तर्भाव हो जाता है, अतः जीवन का सर्वांगीण कार्य-व्यापार कथा की सीमा-रेखाओं में सिमट आता है। महाकाव्य इस प्रकार वैविध्यपूर्ण और जटिल काव्य-रूप है।[1]

६. यद्यपि पाश्चात्य आचार्यों ने भारतीय-आचार्यों के समान सर्गों की संख्या, विस्तार आदि निश्चित नहीं किया, परन्तु इस आशंका के प्रति वे भी सचेत थे—कि बृहदाकार काव्य-रूप होते हुए भी, घटनाओं की बहुलता अथवा अत्यधिक विस्तार महाकाव्य के लिए घातक हो सकता है, तथा पाठक के हृदय में उलझन की सृष्टि कर सकता है। इसलिए उन्होंने महाकाव्य के विस्तार-नियमन के लिए सामान्य व्यक्ति की स्मरण शक्ति को प्रमाण मानकर निर्णय किया कि महाकाव्य की घटनाओं का विस्तार उसी सीमा तक होना चाहिए, कि उसका समस्त विवरण सामान्य पाठक की स्मृति में पढ़ते समय सुरक्षित रह सके। अर्थात् अत्यधिक विस्तार के कारण यदि पाठक को उलझन का अवकाश होगा तो वह महाकाव्य की सीमा का अतिक्रमण समझा जायगा।[2] तासो के उपर्युक्त मन्तव्य से पुस्तक के लेखक ने भी सहमति प्रकट की है।[3]

७. सर्ग और अध्यायों में विभाजन के नियम का लक्षण-रूप में यद्यपि पाश्चात्य आचार्यों ने विधान नहीं किया, परन्तु व्यवहार में सभी महाकाव्य सर्गबद्ध हैं, और महाकाव्य के लक्षण के रूप में वहाँ के कवियों के हृदय में यह धारणा बद्धमूल है।[4]

१. In an epic poem where the characters are vividly imagined, it follows naturally that their various moods and problems involve a variety of scenery and properties, and so the whole business of life comes into the story.

Epic poetry is one of the complex and comprehensive kinds of literature; Epic & Romance. Essays on Medivial Literature. W. P. Ker, p. 16-17

२. Such a limit he believes to exist and he finds it in the extent of a man's powers of memory; in other words, a man of average memory should be able to retain in his head, while reading, all the details of an Epic.

(Tasso's view) Ibid, p. 231

३. This is surely a sound principle if you postulate unity in an epic.

Ibid, p. 231.

४. My poem's epic, and is meant to be
Divided in twelve books; each book containing,
With love, and war, a heavy gale at sea,
A list of ships, and captains, and kings reigning,
.....
A panoramic view of hell's, in training.

"Don. Juon"

quoted from 'The Criticism of Poetry'—Burton, p. 165

८. आरम्भिक महाकाव्यों में घटनाओं का रंगस्थल भौतिक वस्तु-जगत् ही रहा। इतिवृत्तात्मक कथा के बीच घटित होने वाली घटनाओं का सम्बन्ध बाह्य-जीवन और स्थूल जगत् से था। होमर आदि कवियों की कृतियों में अंकित ये घटनाएँ मूर्त थीं और वस्तु-जगत् का आधार इनमें सर्वथा स्पष्ट था, परन्तु वर्तमान युग तक आते-आते यह धारणा मिल्टन द्वारा निर्मूल सिद्ध कर दी गई कि महाकाव्य में वर्णित घटनाएं शरीरी एवं भौतिक ही हो सकती हैं। यद्यपि महाकाव्य में मनोवैज्ञानिकता का सूत्रपात ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी के कवि एपोलौनियस ने ही कर दिया था, परन्तु मूर्त की अपेक्षा अमूर्त को प्रधानता मिल्टन ने दी, और यह सिद्ध कर दिया कि महाकाव्य में अमूर्त घटनाओं या मानसिक और बौद्धिक जगत् से सम्बन्धित विषयों का चित्रण भी उतनी ही सफलता से किया जा सकता है जितना सांसारिक रंगस्थल पर घटित होने वाली घटनाओं का। इस प्रकार अमूर्त और मूर्त दोनों प्रकार की घटनाएँ ही महाकाव्य का विषय हो सकती हैं।[1]

९. महाकाव्य की घटनाओं का स्वरूप कैसा भी हो, पात्रों की नाटकीय उपस्थिति महाकाव्य के लिए भी आवश्यक है। यह नाट्य गुण ही महाकाव्य और इतिहास व रोमांस का व्यावर्त्तक तत्त्व है। पात्रों के बीच होने वाले संघर्ष की नाटकीय उपस्थिति में महाकाव्य का वैविध्य और प्राणशक्ति रक्षित रहती है। संवादों की यह सफल योजना और उचित स्थलों पर उनका विधान होमर की सफलता का कारण है।[2]

कथानक के स्वरूप, संघटन, परिमाण, प्रभावान्विति आदि उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त पाश्चात्य आचार्यों ने महाकाव्य के अन्य तत्त्वों—चरित्र, रस, उद्देश्य और शैली पर भी प्रकाश डाला। प्रस्तुत प्रसंग में शैली-सम्बन्धी अभिमत का उल्लेख ही अभीष्ट है। महाकाव्य की अभिव्यंजना के विभिन्न अंग-उपांगों के विषय में यद्यपि विशेष विस्तृत रूप से विवेचन नहीं किया गया। परन्तु उल्लेखनीय विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

१. महाकाव्य अनिवार्यतः पद्य-रचना है—ऐसा पाश्चात्य मनीषियों ने स्वीकार नहीं

---

१. ...But Milton, in his poem, had more in mind than the story; the story of the fall is merely the Kernel, or theme round which he elaborates, firstly a dramatic myth, and secondly a philosophical thesis; Here the epic, we might say, is dominated by an idea.

Forms in Modern Poetry—Herbert Read, p. 63

Without dramatic representation of the characters, epic is mere history or romance; the variety and life of epic are to be found in the drama that springs up at every encounter of personages.

Homer is the only poet who knows the right proportions of epic narrative; when to narrate, and when to let the characters speak for themselves. Other poets for the most part tell their story straight on, with scanty passages of drama and far between.

Epic & Romance—W. P. Ker, p. 17

किया। उनके मत में 'एपिक' की रचना गद्य-शली में भी सम्भव है।[1] परन्तु इस प्रकार का मत अधुनातन विचारकों का है। मध्ययुग में महाकाव्य को छन्दोबद्ध काव्य-रूप ही स्वीकार किया गया था।[2]

२. शैली के विशेष गुण भाव और अभिव्यंजना की स्पष्टता, गरिमा और प्रवाह जो होमर के काव्य की मुख्य विशेषताएँ थीं—महाकाव्य मात्र के अभीष्ट शैलीगत गुण मान लिये गए। मैथ्यू आर्नल्ड ने इस ओर संकेत किया और यवन कवियों के काव्य में शैली के प्रवाह या गतिमत्ता को उनकी विशेष सिद्धि और महाकाव्य में अपेक्षित विरल गुण माना।[3]

३. स्पष्टता, गरिमा आदि गुणों से युक्त महाकाव्य जैसे बृहद् एवं भव्य काव्य-रूप की शैली के लिए अलंकरण भी पाश्चात्य विद्वानों ने अनिवार्य माना है। क्योंकि महाकाव्य का आरम्भ मौखिक साहित्य के रूप में हुआ—इस कारण यह पद्धति समाप्त हो जाने पर भी रूढ़ि बनी रही कि कवि श्रोतावृन्द को सम्बोधित कर रहा है। यही कारण है कि वर्जिल और मिल्टन की शैली मूलतः वाचन शैली है।[4]

४. प्रवाह और अलंकृति यद्यपि महाकाव्य की शैली के अनिवार्य गुण हैं; कथात्मक काव्यों में शब्दों द्वारा घटनाओं का वेगमय वर्णन होना चाहिए, परन्तु शैली में प्रवाह का अभि-

---

१. ...Not every critic would assign to the epic exactly the same qualities, but here are the most important. The epic must be a heroic narrative (though not necessarily in verse) and it must be ample in scope. Here is an early statement of a common Renaissance doctrine that you could have an epic in prose.

The English Epic and its background, E. M. W. Tillyard, page 182.

२. In medivial times there existed a large body of narrative poetry to which the general title of Epic has usually been given.

Encyclopedia Britanica—Volume VIII, page 647

३. In Mathew Arnold's 'Lectures on Translating Homer' there is an admirable analysis of the Homeric poetry, of which he thinks the four cardinal qualities are these: Plainness of thought, plainness of style, nobleness and rapidity.

As for the rapidity of the Homeric style, it is certainly very notable in the Greek...Rapidity is a rarer quality in narrative poetry than might be expected.

Classical background of English Literature, J. A. K. Thomson, page 42-43.

४. The epic style can hardly avoid being at least tinged with rhetoric. For the epic, began as oral literature, and after it had ceased to be this the convention remained that the poet was addressing a listening multitude. That accounts for the fact that Virgil's style—and same may be said of Milton's—is fundamentally oratorical.

Ibid, page 54

प्राय विस्तार से नहीं। महाकाव्य की शैली में भाषा-लालित्य, भावोत्तेजना की क्षमता, परन्तु अतिव्याख्या की प्रवृत्ति का अभाव होना चाहिए। उक्त मान्यता आचार्य भामह की शैली-सम्बन्धी मान्यता के बहुत निकट है।[1]

५. आरम्भ में महाकाव्य में छन्द-प्रयोग सम्बन्धी एक प्रतिबन्ध अरस्तू आदि आचार्यों ने प्रस्तुत किया। उन्होंने महाकाव्य की वीर-भावात्मक अभिव्यक्ति के विशेष अनुकूल होने के कारण षटपदी वृत्त (हैक्सामीटर) को महाकाव्य रचना के लिए मान्य ठहराया। परन्तु कालान्तर में यह धारणा सर्वथा छिन्न हो गई और छन्द-प्रयोग के विषय में कवि को इतना स्वातन्त्र्य प्रदान किया गया कि अतुकान्त वृत्त को मिल्टन आदि कवियों ने प्रवहमानता के कारण महाकाव्य के अधिक अनुकूल माना।[2] परन्तु यह धारणा लोकसम्मत-रूप नहीं प्राप्त कर पाई।

पाश्चात्य मनीषियों द्वारा महाकाव्य को समग्रतः अत्यन्त गुरु-गम्भीर बृहद् काव्य-रूप स्वीकार किया गया, यह अभी तक प्रस्तुत किये गए विवेचन से सर्वथा स्पष्ट है। महाकाव्य में रूप सम्बन्धी बाह्य व औपचारिक विशेषताओं पर इन विद्वानों ने उतना बल नहीं दिया जितना उसकी अनिवार्य और प्रमुख विशेषताओं पर। उनकी दृष्टि में महान् कथानक—उसमें विस्तार और वैविध्य, तर्क-सम्मत जटिलता, नाटच गुण, जीवन की समग्रता का अन्तर्भाव, बृहद् आकार और समर्थ शैली ही महाकाव्य की अनिवार्य विशेषताएँ हैं। इनके अतिरिक्त छन्द-प्रयोग आदि से सम्बन्धित जो कतिपय रूढ़ियाँ कुछ समय के लिए स्थिर हो गई थीं, आधुनिक युग तक आते-आते कवियों ने उनकी नितान्त अवहेलना कर दी और प्रयोगों के आधार पर इस काव्यरूप की परिभाषाएँ भी परिवर्तित हो गईं। निषेधात्मक रूप में विद्वानों ने जिन विशेषताओं का एपिक के प्रसंग में उल्लेख किया वे इस कथन की पुष्टि करेंगी।[3] महाकाव्य में गरिमा और घनत्व पर पाश्चात्य मनीषियों ने सर्वाधिक बल दिया।[4]

इसी प्रकार की धारणा आधुनिक हिन्दी-साहित्य के कवियों के मन में भी घर कर गई थी, यह उनकी रचनाओं से स्पष्ट है। जिन कवियों ने सही अर्थ में महाकाव्यों की रचना की उन्होंने भी रूढ़ियों व अपेक्षाकृत गौण विशेषताओं पर उतना बल नहीं दिया जितना महाकाव्य

१. In narrative poetry the words must convey the action with speed and economy, but they must be fine emotive words.

Forms in Modern poetry, page 72

२. Finally Trissino is like Milton in making the unpopular plea that the continuity of blank-verse suits the epic better than the interruption of rhyme.

The English Epic and its Background, E. M. W. Tillyard, page 225

३. ...and the Epic catagory fails to fit it most conspicuously. It is too short, confined, and simplified for the necessary epic variety and it quite lacks choric character. Ibid, page 447

४. Whatever Epic may mean, it implies some weight and solidity.

Epic & Romance—W. P. Ker, page 4

के उपर्युक्त प्राणभूत गुणों पर।

पौरस्त्य और पाश्चात्य आचार्यों की महाकाव्य-विषयक मान्यताओं को जान लेने के उपरान्त विवेच्य साहित्य का अध्ययन अब सुकर होगा। अनेक नवीन काव्य-रूपों के प्रवेश और कुछ मौलिक प्रयोगों के अतिरिक्त परम्परागत काव्य-रूपों में भी समय के साथ अनेक परिवर्तन होते रहे हैं। आधुनिक काल में विशेष रूप से रूढ़ियों के प्रति अनास्था की प्रवृत्ति पूर्ववर्ती युगों की अपेक्षा हर क्षेत्र में अधिक परिलक्षित होती है और महाकाव्य इस प्रवृत्ति का अपवाद नहीं। परन्तु परम्पराओं के विद्रोह की भावना ने आधुनिक युग के कवियों में दुराग्रह का रूप धारण नहीं किया। कहीं-कहीं प्राचीन भारतीय परम्परा और विदेशी साहित्य के प्रभाव से गृहीत नवीन पद्धतियों के संयोग से इन कवियों ने अनेक सुन्दर प्रयोग किए तथा अपनी मौलिक प्रतिभा के आधार पर अन्यत्र परम्परा का पुनर्निर्माण किया। इस प्रकार विभिन्न कारणों के परिणाम-स्वरूप इस युग के काव्य-रूपों में पर्याप्त वैविध्य उपलब्ध है। तत्सम्बन्धी पूर्व और पश्चिम की चिन्ताधारा के प्रकाश में अब हम विवेच्य साहित्य में उपलब्ध महाकाव्यों, अथवा इस नाम से अभिहित अन्य बृहद् प्रबन्धों के रूप-विवेचन का प्रयास आगामी पृष्ठों में करेंगे। यथास्थान इन काव्यों की परम्परागत, प्रभावगत और मौलिक विशेषताओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न भी इस प्रसंग में किया जाएगा।

हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य

रीतिकाल तथा भारतेन्दु-युग के दीर्घ अन्तराल के उपरान्त बीसवीं शताब्दी में एक बार अनेक बृहद् प्रबन्धों की रचना हुई। इन सभी प्रबन्ध काव्यों को निश्चित रूप से महाकाव्य तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु आधुनिक काल के महाकाव्यों की रूप-विधा सम्बन्धी विशेषताओं का परीक्षण करते समय ऐसे सभी महत्त्वपूर्ण प्रबन्धों का उल्लेख और रूप-विवेचन अभीष्ट होगा जिनके रचयिताओं ने महाकाव्य की रूपरेखा को दृष्टि में रखकर उनकी रचना की, या स्वयं उन्हें महाकाव्य घोषित किया है। ये सभी ग्रंथ महाकाव्य विशेषण के अधिकारी हैं या नहीं, यह भिन्न प्रश्न है। इनके अतिरिक्त हमने अपने विवेचन में उन रचनाओं को भी विषय बनाया है जिनके रचयिताओं ने विनम्रतावश उनके महाकाव्यत्व की विज्ञप्ति तो नहीं की, परन्तु अन्य विद्वानों ने जिन्हें महाकाव्य मानकर उनका रूप-विवेचन किया है। विवेच्य युग के प्रमुख बृहद् प्रबन्धों का विभाजन काव्य-रूप के आधार पर तीन वर्गों में किया जा सकता है—

१. लक्षणबद्ध प्रबन्ध
२. अंशतः नवीन प्रयोग
३. सर्वथा नवीन प्रयोग

१. लक्षणबद्ध प्रबन्ध

इस वर्ग के सभी प्रबन्ध काव्यों में सचेष्ट रूप से महाकाव्य के रूढ़िबद्ध शास्त्रीय लक्षणों का पालन करने का प्रयत्न किया गया है। अधिकांश प्रबन्धों की भूमिका में कवि ने स्वयं स्वीकार किया है कि उनकी रचना महाकाव्य के निर्दिष्ट लक्षणों को दृष्टि में रखकर की गई है, तथा

जिन ग्रंथों में इस प्रकार की स्वीकृति नहीं है, वहाँ भी ग्रंथ के मुखपृष्ठ पर नाम के साथ प्रायः कोष्ठक में अनेक अन्य विशेषणों सहित उसके महाकाव्य होने का उल्लेख है। इन ग्रंथों में से अधिकांश में—विषय का चयन कर तदनुकूल आकार अपनाने के स्थान पर, पहले ग्रंथ का रूपाकार निश्चित कर तत्पश्चात् सामग्री का अनुसन्धान व ग्रहण किया गया है। यह प्रक्रिया काव्य सृजन की सहज अभिव्यंजना-प्रणाली के विपरीत है, अतः इस प्रवृत्ति का स्वाभाविक दुष्परिणाम यही हुआ है कि विषयवस्तु और काव्य-रूप में जो परस्पर अनुकूलत्व अपेक्षित है उसके अभाव में इन ग्रन्थों का बाह्याकार तो महाकाव्य के परम्परानुमोदित स्वरूप के अनुकूल हो गया, किन्तु कहीं उस आकार के लिए पर्याप्त सामग्री नहीं है अतः कथानक घटना-विरल हो गया है, कहीं अपेक्षा से अधिक घटनाएँ विद्यमान हैं, और कहीं कथा-संघटन में विशृंखलता, उचित अनुपात तथा नाटकीयता का अभाव है। (इनकी स्थिति कुछ इस प्रकार के प्राणी की-सी है जिसके शरीर का आकार बृहद् होने पर भी वह रक्त-मांस के अभाव में कृश दिखाई पड़ता है, अथवा उस पृथुलांग व्यक्ति के सदृश जिसके शरीर का अंग-प्रत्यंग अस्थि-पंजर में कठिनाई से बँधा हो, या उस निरीह दीर्घाकार मानव के समान जिसके विभिन्न अंगों में समानुपात का अभाव हो। इन प्रबन्धों में से एकाध में रचयिता का झुकाव युगानुरूप नवीन चेतना की ओर अवश्य दिखाई पड़ता है, किन्तु शिल्प में प्राचीनता का मोह यथावत् विद्यमान है। इस वर्ग के प्रमुख काव्य हैं—

१. प्रियप्रवास
२. रामचरित चिन्तामणि
३. सिद्धार्थ
४. रामचन्द्रोदय
५. कोशल-किशोर
६. वैदेही-बनवास
७. कृष्णायन
८. वर्द्धमान
९. पार्वती
१०. अंगराज
११. जननायक

उपर्युक्त काव्यों के अतिरिक्त भी अनेक प्रबन्धों की रचना समय-समय पर होती रही, किन्तु प्रबन्ध-रूप में विशेष महत्त्व या प्रसिद्धि के अभाव में सभी कृतियों का परिगणन व्यर्थ होगा। इस कारण प्रवृत्ति-विशेष के प्रमुख और महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध काव्यों का ही उल्लेख किया जा रहा है।

इन ग्रन्थों की रचना के मूल में एक सामान्य प्रवृत्ति लक्षित की जा सकती है। सभी लेखकों ने महाकाव्य के निर्दिष्ट लक्षणों को दृष्टि में रखते हुए सचेष्ट रूप से काव्य-रचना की है, अतः बाह्याकार में लगभग सभी शास्त्रीय लक्षणों की उपलब्धि सहज रूप से हो जाती है। रूप-विधान सम्बन्धी विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

कथानक—इन रचनाओं के कथानक इतिहास-प्रसिद्ध या सज्जनाश्रित हैं। सभ:

का सम्बन्ध भारतीय संस्कृति के किसी महापुरुष से है। 'रामचन्द्रोदय', 'रामचरित चिन्तामणि,' 'कोशल-किशोर' और 'वैदेही-बनवास' में राम के जीवन में घटित होने वाली किसी महत्त्वपूर्ण घटना या घटनाओं का चित्रण है। 'प्रियप्रवास' और 'कृष्णायन' कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध हैं। 'सिद्धार्थ' काव्य में भगवान बुद्ध और 'वर्द्धमान' में जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर की जीवन-कथा है। 'पार्वती' में शिव के पार्वती-परिणय और कार्तिकेय की तारक-विजय का वर्णन है। 'अंगराज' में महारथी कर्ण की गौरव-गाथा है, और 'जननायक' राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की आत्मकथा से ली गई अनेक प्रासंगिक-अप्रासंगिक घटनाओं का पद्यबद्ध आलेख है। दूसरे शब्दों में इसे भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम में बापू से सम्बद्ध 'घटना-कोष' कहा जाय तो विशेष अनुचित न होगा।

इस प्रकार इन काव्यों के कथानक का स्वरूप परम्परानुमोदित है। ऐतिहासिक या सांस्कृतिक महापुरुषों के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण घटनाओं का स्वरूप भी मूर्त है। समस्त कार्य-व्यापार का रंगमंच इनमें बाह्य जगत् है, मानव के अन्तर्मन में होने वाली भौतिक घटनाओं के आन्तरिक स्वरूप के उद्घाटन का प्रयास प्रायः कवियों ने नहीं किया है। लगभग सब काव्यों में स्थूल वस्तु-वर्णन या अभिधात्मक शैली में इतिवृत्त कथन की प्रवृत्ति प्रधान है। सभी की रचना द्विवेदी-युग में नहीं हुई, अतः 'सिद्धार्थ', 'वर्द्धमान', 'पार्वती', 'अंगराज', 'जननायक', 'रामचन्द्रोदय', 'वैदेही-बनवास', 'कृष्णायन' आदि कृतियों के विषय में यह कहना भी उचित न होगा कि इनके कवि युग-प्रवृत्ति से प्रभावित थे और द्विवेदी-युग इतिवृत्तात्मक दृष्टिकोण, वस्तुपरक मूल्यों की महत्ता, व सामाजिक नैतिक आदर्शों की प्रधानता का युग था। ये काव्य समय की दृष्टि से आगे बढ़ जाने पर भी रचना-पद्धति की दृष्टि से उसी प्रवृत्ति से आबद्ध हैं।

महाकाव्य जैसे विस्तृत काव्य-रूप के लिए उसमें वर्णित घटनाओं का महत् और गरिमामय होना जितना अनिवार्य है उतना ही गतिमान होना। कार्य-व्यापार का नियोजन इस प्रकार होना चाहिए कि घटनाएँ एक के बाद एक सहज रूप में विकसित होती जाएँ, पाठक की जिज्ञासा आद्यन्त बनी रहे, और अत्यधिक विस्तार के कारण कथा में गत्यवरोध या घटना-बाहुल्य के कारण कथाक्रम में शिथिलता नहीं आ पाए। संक्षेप में प्रबन्ध-शृंखला सुसम्बद्ध और सुगठित होनी चाहिए जिससे इस शृंखला की समस्त कड़ियाँ परस्पर उचित अनुपात में कार्य-कारण सम्बन्ध से गुंथी रहकर प्रबन्ध के समग्र रूप को उचित संतुलन प्रदान कर सकें। कथानक के सम्यक् निर्वाह में कवि की सचेष्टता उतनी ही अनिवार्य है जितनी किसी अन्य रूढ़ि के पालन में। प्रबन्ध-निर्वाह प्रायः निम्नलिखित स्थितियों में बाधित होता है—

(क) कथानक घटना-विरल हो।

(ख) घटनाओं की बहुलता हो।

(ग) वर्णित घटनाओं में परस्पर सम्बन्ध, पूर्वापर क्रम व संघटन की उचित संयोजना न हो।

पहली स्थिति में—अर्थात् घटनाओं के अभाव में कवि जब ग्रन्थ को आकार देना चाहता है तो प्रायः कार्य-व्यापार के चित्रण का स्थान अप्रासंगिक वर्णन ले लेते हैं, कथा आगे नहीं बढ़ती तथा गत्यवरोध उपस्थित होता है।

दूसरी स्थिति में पाठक की जिज्ञासा की पूर्णतः उद्बुद्धि और शान्ति का प्रश्न नहीं उठता।

न उसके हृदय में आवेग होता है और न परिशमन। उसके तत्पर होने से पहले घटना प्रस्तुत हो जाती है और ग्रहण एवं तादात्म्य करने से पहले पटपरिवर्तन।

तीसरी स्थिति में पाठक पर पड़ने वाले सारभूत प्रभाव में बाधा प्रस्तुत होती है। पाठक को यदि एक घटना दूसरी घटना का सहज परिणाम प्रतीत न हो, अथवा उनके वर्णन में उचित अनुपात न हो तो स्वभावतः वह न कथा के साथ तादात्म्य कर पाएगा और न उसकी मनोवृत्ति परितुष्ट होगी। यदि कृति के साथ पाठक का तादात्म्य या शास्त्रीय शब्दावली में साधारणीकरण नहीं हो पाया तो कदाचित् यह लेखक की सबसे बड़ी असफलता होगी।

जिन प्रबन्धों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है उनमें से अधिकांश घटना-संघटन-सम्बन्धी उक्त दोषों में से एक अथवा दूसरे से ग्रस्त हैं। इस वर्ग का पहला प्रबन्ध 'प्रियप्रवास' ही प्रबन्ध-निर्वाह की दृष्टि से असफल रचना है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में उसकी कथा—"एक महाकाव्य तो क्या प्रबन्ध के लिए भी पर्याप्त नहीं है।" इसी प्रकार हरिऔधजी की दूसरी रचना 'वैदेही-बनवास', रमानाथ ज्योतिषी के 'रामचन्द्रोदय', बलदेव मिश्र के 'कोशल-किशोर' और अनूप शर्मा के 'वर्द्धमान' में भी महाकाव्य के लिए पर्याप्त कथा-सामग्री का अभाव है।

'प्रियप्रवास' में—ब्रज में कृष्ण की लोकप्रियता, उनका मथुरा-प्रवास, वियोग में ब्रजवासियों की विरह-व्यथा, उद्धव का आगमन, यशोदा, नन्द, ब्रजवासियों आदि का विलाप और कृष्ण के जीवन में घटित कतिपय महत्त्वपूर्ण घटनाओं का स्मृति-रूप में वर्णन—यही इस ग्रन्थ की संक्षिप्त कथा है। इस प्रकार कृष्ण का जीवन इस काव्य में अपनी समग्रता में स्थान नहीं पा सका। ऐसी घटनाएँ जिनमें कथानक को गति देने की सामर्थ्य थी प्रत्यक्ष प्रस्तुत नहीं की गई हैं। वे प्रायः अन्य पात्रों के मुख से पूर्व-स्मृति के रूप में वर्णित हैं। इन घटनाओं द्वारा कथा-प्रवाह में जिस गत्यात्मकता और सक्रियता की सृष्टि सम्भव थी वह भी अप्रत्यक्ष वर्णन के कारण नष्ट हो गई है। कृष्ण कहीं प्रत्यक्ष रूप से कार्य-व्यापार का सम्पादन कर, कथा में सजीवता और वेग नहीं लाते। घटनाएँ मूर्त होने के कारण उनमें गत्यात्मकता का समावेश अधिक सहज था, परन्तु उनकी न्यूनता और अप्रत्यक्ष वर्णन की प्रवृत्ति के कारण कथानक का प्रवाह सर्वत्र बाधित है। वर्णन-विस्तार की अतिशयता से आकार में विस्तार किया गया है। एक प्रसंग से दूसरे प्रसंग का सम्बन्ध, स्वाभाविक रूप से पूर्वापर का न होकर अत्यन्त शिथिल और बरबस स्थापित किया गया प्रतीत होता है। प्रबन्ध के विस्तृत कलेवर में अल्पसंख्यक घटनाएँ जहाँ-तहाँ बिखरी होने के कारण वर्णनों में प्रायः एकरसता आ गई है। एक प्रसंग पर स्थिर होने के उपरान्त कथा आगे बढ़ना ही नहीं चाहती। इतने बृहद् आकार में अपर्याप्त सामग्री की स्थिति में ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

'रामचन्द्रोदय' में भी इसी प्रकार समस्त कार्य-व्यापार ग्रन्थ के अर्धांश में समाप्त हो गया है। उसके उपरान्त वर्णाश्रम-धर्म-व्यवस्था, आश्रम-धर्म, राजनीति, वेदान्त आदि विषयों पर कवि ने अपना मन्तव्य व्यक्त किया है, तथा अन्त में ग्रन्थ-परिचय, कवि-परिचय, देव-वन्दना आदि है। प्रबन्ध के उत्तरांश में इस प्रकार के विवरण सर्वथा अनपेक्षित और मुख्य कथा से असम्बद्ध, अतः कथानक की गति और घटनाओं की निरंतरता को बनाये रखने में पूर्ण रूप से असमर्थ हैं। ग्रन्थ को आकार की दृष्टि से विस्तार देने के कारण ही कदाचित् ऐसा किया गया

है, अन्यथा मुख्य कथा से असम्बद्ध इन विषयों पर स्वतन्त्र रचना भी की जा सकती थी। इस प्रकार ग्रन्थ के उत्तरांश में कथा अवरुद्ध व अप्रासंगिक हो गई है तथा मुख्य वस्तु से सम्बद्ध घटनाओं का एक बार ही अभाव हो गया है।

'वैदेही-बनवास' की कथा का सम्बन्ध राम के जीवन के जिस अंश से है, उसमें लव-कुश से रामाश्वमेध के प्रसंग में होने वाले युद्ध के अतिरिक्त किसी प्राणवान घटना का अभाव है। यह प्रसंग मूलतः उनके जीवन का अत्यन्त कारुणिक व दुखद प्रसंग है, किन्तु इस रचना में कवि ने मूल प्रसंग की इस एकमात्र सशक्त घटना का भी त्याग कर दिया है। इसके अतिरिक्त भी कथा में घटनाएँ अत्यन्त विरल हैं, और जिन घटनाओं का ग्रहण किया गया है उनमें गति और वेग का सर्वथा अभाव है। लव-कुश द्वारा अश्व के पकड़े जाने की कथा के त्याग से सम्पूर्ण प्रबन्ध की प्राणवत्ता और वेग को क्षति पहुँची है। कवि का दृष्टिकोण उतना करुणापूर्ण नहीं जितना नैतिक है, अतः स्थान-स्थान पर नैतिक विषयों पर लम्बे-लम्बे वक्तव्य और उपदेशों की योजना है। घटना-सूत्र सर्वथा शिथिल है, और अनेक प्रसंगों में एकरसता व अनावश्यक विस्तार है।

'सिद्धार्थ' और 'वर्द्धमान' के कवि को अपनी कथावस्तु जिस रूप में परम्परा से प्राप्त हुई उसमें कथानक को तीव्र गत्यात्मकता देने के योग्य घटनाओं का स्वतः अभाव था। शान्ति और अहिंसा का उपदेश देने वाले महापुरुषों—बुद्ध और वर्द्धमान के जीवन में आध्यात्मिक तथा अलौकिक घटनाओं का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु किसी महाकाव्य के लिए उचित उपादान प्रदान करने की दृष्टि से उनका वैराग्य-प्रधान जीवन घटना-शून्य ही था, अतः वास्तविक कथा की परिसीमा कवि के प्रबन्ध-निर्वाह की बाधा है। 'सिद्धार्थ' काव्य में घटना-विरलता तो नहीं है, किन्तु घटनाओं में जीवन्तता का अभाव है। कारण स्पष्ट है—अहिंसा के प्रतिष्ठाता इन दोनों धर्मप्राण नायकों के जीवन में आध्यात्मिक दृष्टि से जितनी महत् घटनाएं घटीं उनकी तुलना में बाह्य वस्तु-जगत् में धर्मसिद्धि और प्रचार के अतिरिक्त किसी ऐसी विशद घटना की कार्यान्विति नहीं हुई जिसका बाह्य दृश्य-रूप महाकाव्य में जीवन-रस और महाप्राणता का संचार कर सके। यदि कवि का दृष्टिकोण अन्तर्मुखी होता, और वह इन बाह्य घटनाओं की आन्तरिक प्रक्रिया के उद्घाटन का प्रयत्न करता जैसा 'निराला' ने अपने लघु काव्य 'तुलसीदास' में किया है, तो इन रचनाओं का स्वरूप कुछ भिन्न होता। किन्तु कवि की दृष्टि इनके जीवन के उस बाह्य पक्ष पर केन्द्रित है, जिसमें जीवन्त कार्य-व्यापार की विरलता है, अतः वह महाकाव्योचित कथा-सामग्री का चयन नहीं कर पाया है। 'वर्द्धमान' काव्य का स्वरूप उपदेशात्मक है। कथा के सूत्र उपलक्ष्य मात्र हैं, जैन धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन प्रधान है। अन्तिम सर्गों में कथा बिल्कुल रुकी सी जान पड़ती है। आरम्भ में भी घटनाओं में तीव्र घात-प्रतिघात अथवा किसी प्रकार का संघर्ष अप्राप्य है। लेखक ने अनेक स्थलों पर घटना के अभाव में अवान्तर प्रसंगों की उद्भावना और वर्णन-विस्तार का परिचय दिया है। यह प्रयास कुछ स्थलों पर अप्रासंगिक है। राजा सिद्धार्थ की रति-क्रीड़ा-वर्णन में इसी प्रकार का अनपेक्षित विस्तार है। इसके अतिरिक्त विराग-भाव, स्वप्न-दर्शन, धर्म-चर्चा तथा अलौकिक घटनाओं के प्रसंग में धार्मिक रंग अधिक गाढ़ा हो गया है और वे सर्वथा नीरस और शिथिल जान पड़ते हैं।

इस वर्ग के सभी काव्यों में घटना-विरलता है या उनमें गति व प्राणवत्ता नहीं है, ऐसा

नहीं कहा जा सकता। 'रामचरित-चिन्तामणि', 'कृष्णायन', 'पार्वती' और 'अंगराज' के कवियों ने अपने नायकों के समग्र जीवन अथवा कुछ महत्त्वपूर्ण और विस्तृत घटनाओं को काव्य-विषय बनाया है। 'रामचरित-चिन्तामणि' में राम के जन्म से रामाश्वमेध तक की सम्पूर्ण कथा काव्य-विषय बनाई गई है। इस दृष्टि से कथा का विस्तार और घटनाओं का बाहुल्य पर्याप्त से अधिक है। किन्तु कवि ने प्रसंगों का उचित अनुपात में नियोजन एवं विस्तार नहीं किया। मार्मिक स्थलों की प्रायः उपेक्षा की गई है, और कतिपय गौण स्थलों पर अनावश्यक विस्तार है। इस प्रकार यद्यपि घटना-विरलता और गति-अवरोध तो इस काव्य में नहीं मिलता किन्तु विविध प्रसंगों और घटनाओं का उचित अनुपात में वर्णन नहीं हुआ। 'पार्वती' के कवि ने जिस प्रसिद्ध कथानक को अपनाया है उसमें विशदता भी है और गति भी। देश-काल की दृष्टि से भी इस काव्य के कथानक में अपूर्व विस्तार है। स्थान की दृष्टि से उमा-जन्म से त्रिपुर-उद्‌बोधन तक की समस्त घटनाएँ इस कथानक में ग्रहण की गई हैं, किन्तु आरम्भ से बाइसवें सर्ग तक कथा का विकास जितने सुचारु रूप से हुआ है और घटना-चक्र जितनी नियमितता और सहज वेग से आगे बढ़ा है—उसमें अन्त के तीन सर्ग जिनमें क्रमशः शिव-धर्म, शिव-नीति और शिव-संस्कृति का वर्णन किया गया है, सर्वथा गतिहीन और घटना-शून्य जान पड़ते हैं। इन तीनों सर्गों में किसी घटना का एक बार ही अभाव हो गया और इनका स्वर बहुत कुछ चिन्तन-प्रधान प्रतीत होने लगा है। तीनों सर्गों में एक भी घटना नहीं घटती। कवि की वाणी से उसकी आदर्श धर्म, नीति और संस्कृति सम्बन्धी मान्यताएँ मुखरित हैं। इस अंश में काव्य का स्वरूप सर्वथा उपदेशात्मक और नैतिक-चिन्तन-प्रधान हो गया है। प्रबन्ध-निर्वाह और पाठक पर पड़ने वाले सारभूत प्रभाव की दृष्टि से ये प्रसंग सर्वथा घातक हैं। किन्तु इन अन्तिम तीन सर्गों से पूर्व, प्रबन्ध-निर्वाह में पर्याप्त गति और उचित संगठन है।

अन्य प्रबन्धों की भाँति 'अंगराज' का कथानक भी ऐतिहासिक है। महारथी कर्ण के जन्म से लेकर पांडवों के स्वर्गारोहण तक की कथा इस काव्य में वर्णित है। स्वभावतः कुरुक्षेत्र जैसा महत्त्वपूर्ण युद्ध अपनी समग्रता में जिस काव्य का विषय होगा उसमें सशक्त और प्राणवान घटनाओं का समावेश अत्यन्त सहज रूप में हो जाएगा। इस काव्य में घटनाओं का चित्रण 'पार्वती' की ही भाँति विशाल फलक पर किया गया है। किन्तु इस वर्ग के अन्य काव्यों की भाँति घटनाओं की रंगस्थली बहिर्जगत् है अन्तर्मन नहीं, फलतः उनमें विस्तार है गहराई नहीं। एकाध स्थलों पर कवि ने महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेखमात्र करके चलता कर दिया है यथा दूसरे व छठे सर्ग में, तथा अन्यत्र अनावश्यक वर्णन-विस्तार किया है। युद्ध के अवसर पर शस्त्रास्त्रों की सूची परिगणना (सत्रहवाँ सर्ग) तथा प्रकृति-वर्णन आदि के प्रसंगों में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से लक्षित की जा सकती है। परन्तु सम्पूर्ण काव्य में यह एकरसता कतिपय स्थलों को छोड़कर सामान्यतः नहीं मिलती। घटनाओं की पारस्परिक नियोजना व्यवस्थित है, कथा में प्रवाह और वेग है। कथा का सम्बन्ध राजनीति, और उसमें भी युद्ध से होने के कारण सम्पूर्ण काव्य में एकाध ऐसे स्थलों को छोड़कर जहाँ सक्षम अभिव्यंजना का अभाव है, सर्वत्र घटनाओं में एक विशेष आवेग, ओज और प्राणवत्ता दृष्टिगत होती है।

अधुनातन प्रबन्धों में प्रबन्ध-निर्वाह की दृष्टि से सबसे अधिक असमर्थता का परिचय

'जननायक' के कवि ने दिया। मौलिक उद्भावना का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि समस्त वर्णित घटनाएँ ज्यों की त्यों बापू की आत्मकथा से ले ली गई हैं। इसके अतिरिक्त ऐसी स्थिति में काव्योचित प्रसंगों और घटनाओं का ग्रहण और अनुचित अंशों का त्याग भी वे नहीं कर पाए हैं। इतने महत् आकार की प्रबन्ध-रचना करने वाले कवि से प्रबन्ध के इस मूलभूत अनुबन्ध के सफल निर्वाह की आशा की ही जाती है। 'जननायक' की घटनाओं के विकास में नाटकीयता का लेश नहीं, अप्रासंगिक और सर्वथा उपेक्षणीय प्रसंगों की भरमार सर्वत्र है। एक के बाद एक, छोटी-बड़ी वे सभी घटनाएँ जो राष्ट्रपिता के जीवन में स्वतन्त्रता-संग्राम में घटी थीं प्रस्तुत होती हैं। कहीं-कहीं एक घटना दूसरे से सर्वथा असम्बद्ध है। प्रबन्ध की दृष्टि से व्यर्थ होते हुए भी उसे स्थान मिल गया है। कवि उपलब्ध सामग्री के प्रदर्शन का न लोभ-संवरण कर पाया है, और न उसकी उचित नियोजना (घटनाओं की विविधता और परस्पर असम्बद्धता की स्थिति में ऐसा सम्भव भी नहीं था)। कथा में किसी प्रकार के उतार-चढ़ाव का अभाव है। बहुत कम घटनाओं में परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध दृष्टिगत होता है। न कहीं पाठक की जिज्ञासा उद्बुद्ध होती है और न उसकी रुचि बनी रहती है, आद्योपान्त कथा एकरस है।

संघटना—महाकाव्य मूलतः प्रकथनात्मक काव्य-रूप है। फिर भी कथा-संघटन में नाट्य-संधियों का निर्वाह कथा को रोचक बनाए रखने के लिए अनिवार्य माना गया है। आधुनिक नाटकों व काव्यों में कहीं पंचसंधियों की प्राचीन भारतीय मान्यता का, और कहीं पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में निर्दिष्ट घटना-चक्र की पाँच स्थितियों की समानान्तर मान्यता के निर्वाह का प्रयत्न किया गया है। उपर्युक्त दोनों ही मान्यताएँ एक-दूसरे के पर्याप्त निकट हैं और दोनों का लक्ष्य कथानक में एक विशिष्ट नाटकीयता, उचित जिज्ञासा और रमणीयता' को बनाए रखना है। भारतीय चिन्तकों की धारणा अपेक्षाकृत अधिक संश्लिष्ट है और उनकी दृष्टि अन्तिम फल की प्राप्ति पर केन्द्रित रही है। इसके विपरीत पाश्चात्य चिन्ताधारा में संघर्ष पर अधिक बल देते हुए नाटक में कार्य-व्यापार की सबसे महत्त्वपूर्ण स्थिति चरम-घटना को स्वीकार किया गया है। भारतीय नाट्य-विधान में समस्त घटनाचक्र कार्य को अन्तिम फल की ओर उन्मुख करता है और घटनाएँ उसी चरम उद्देश्य की ओर बढ़ती हैं। पाश्चात्य मान्यता के अनुसार एक विशेष चरम घटना तक प्रगति के उपरान्त कार्य-व्यापार में निगति आरम्भ हो जाती है, और शेष घटना-चक्र कथानक को किसी अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम या उद्देश्य की ओर अग्रसर करने के स्थान पर स्वयं किसी महत्त्वपूर्ण या चरम घटना से निस्तृत परिणाम प्रतीत होता है। इस प्रकार एक में अन्त महत्त्वपूर्ण है, दूसरे में मध्यवर्ती चरम घटना।

कथानक-संघटना की दृष्टि से इन प्रबन्धों में अन्य विशेषताओं के समान पंचसन्धियों के भारतीय विधान को ही अपनाने का प्रयत्न किया गया है। जिन कृतियों के कथानक में नाटकोचित विकास का अभाव है वहाँ वह कवि के काव्य-कौशल में कमी के कारण आ गया है, किसी नवीन प्रभाव या आधुनिकता के आग्रहवश नहीं। नाटकीयता का यह अभाव दृष्टिकोण की आधुनिकता का नहीं, कला की असमर्थता का परिचायक है। इस प्रकार की शिथिलता 'हरिऔध' की दोनों रचनाओं 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही-बनवास', रमानाथ के 'रामचन्द्रोदय' और रघुवीरशरण के 'जननायक' में प्राप्त होती है। कथानक-संघटना की दृष्टि से 'सिद्धार्थ' और

'वर्द्धमान' भी विशेष सफल रचनाएँ नहीं हैं। ढूंढने से कथानक में पंचसन्धियों का निर्वाह भले ही मिल जाय, किन्तु समग्र कथा की घटनाओं में संघर्ष, तीव्र घात-प्रतिघात और नाटकोचित रोचकता का अभाव है। 'रामचरित चिन्तामणि', 'कृष्णायन', 'पार्वती' और 'अंगराज' आदि काव्यों में नाट्यसन्धियों का निर्वाह सम्यक् रूप से हुआ है। मूल कथा के साथ प्रासंगिक कथाओं या उपाख्यानों का समावेश भी यथोचित रूप में किया गया है। कहीं अनपेक्षित वर्णन-विस्तार और तज्जन्य एकरसता, अन्यत्र मार्मिक स्थलों की उपेक्षा, तथा कहीं-कहीं कथा में गत्यवरोध के अतिरिक्त अन्य प्रबन्धों की अपेक्षा इन कृतियों के कथानक पर्याप्त सुगठित हैं। कथा आद्योपान्त नियमित रूप से फलागम की ओर अग्रसर होती है। विभिन्न कार्यावस्थाएँ, अर्थप्रकृतियाँ व उनके संगम-स्थलों के रूप में सन्धियाँ सभी काव्यों में सहज प्राप्य हैं। भारतीय नाटकीय विधान से इन सभी लेखकों की दृष्टि आबद्ध है। फल-प्राप्ति की भारतीय मान्यता के प्रति अत्यन्त सजग होने के कारण 'अंगराज' के कवि ने काव्य के अन्त में लौकिक दृष्टि से नायक की पराजय होने पर भी, सुखान्त रूप देने के लिए नायक कर्ण द्वारा उच्चतर व अलौकिक सिद्धि की ओर संकेत किया है। सम्पूर्ण कथानक में पुरातन मान्यताओं के प्रति विद्रोहात्मक दृष्टि का परिचय देने के उपरान्त अन्त में परम्परावद्ध शास्त्रीय मान्यता के प्रति आत्म-समर्पण उनकी लक्षण-बद्ध दृष्टि का परिचायक है। रूप-निर्माण में कवि शास्त्रीय मान्यताओं के प्रति अत्यन्त सजग रहा है।

मूल कथा के साथ उपाख्यानों की योजना इन सभी काव्यों में मिलती है। यह प्रबन्ध-योजना कुछ रचनाओं में संघटित और सुचिन्तित है (पार्वती, अंगराज, कृष्णायन), तथा कुछ कृतियों में कार्य-कारण शृंखला व मूल एवं सम्बद्ध प्रासंगिक कथाओं की योजना अपेक्षाकृत शिथिल है (रामचरित चिन्तामणि, कोशल-किशोर, वर्द्धमान और रामचन्द्रोदय)। 'जन-नायक' के विषय में सुगठित प्रबन्ध-योजना का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रबन्ध में आकार की दृष्टि से जितना विस्तार हुआ है, प्रबन्ध-गुण का उसी अनुपात में ह्रास। घटनाओं में कार्यकारण-शृंखला का निर्वाह, वर्ण्य-विषयों का उचित चयन, मूलकथा तथा प्रासंगिक कथाओं के पारस्परिक सम्बन्ध आदि की सुचिन्तित योजना का सर्वथा अभाव है।

'हरिऔध' की दोनों रचनाएँ—'वैदेही-बनवास' और 'प्रियप्रवास' भी प्रबन्ध-निर्वाह की दृष्टि से विशेष सफल नहीं कही जा सकतीं। दोनों प्रबन्धों में घटनाओं की कृशता है। कवि का दृष्टिकोण नैतिक और उपदेशात्मक है। आकार की दृष्टि से कथा अपर्याप्त है, अत समुचित विकास और नाटकीयता की सम्भावना का प्रश्न नहीं उठता। 'वैदेही-बनवास' की कथा में कवि ने अनेक पूर्व-प्रख्यात समर्थ प्रसंगों का त्याग कर दिया है, जिससे कथानक की गति और नाटकीयता दोनों को आघात पहुँचा है। एक सरल रेखा के समान अत्यन्त घटना-विरल कथा-सूत्र बढ़ता है। उसमें न स्वयं कहीं उतार-चढ़ाव या वक्रता है, और न उपाख्यानों से जटिलता उत्पन्न हुई है। कवि ने प्रासंगिक कथाओं की विधान-सम्बन्धी भारतीय मान्यता की भी अवमानना की है। घटनाओं का स्थान अनेक प्रसंगों में लम्बे-लम्बे वक्तव्यों ने ग्रहण कर लिया है, जिन्हें प्रबन्ध के लिए उत्कर्षक कदापि नहीं माना जा सकता।

'प्रियप्रवास' का जहाँ तक सम्बन्ध है, प्रबन्ध-निर्वाह के विषय में आचार्य शुक्ल का बहुत

समय पहले दिया गया निर्णय सर्वथा उचित है—"इसकी कथा-वस्तु एक महाकाव्य क्या अच्छे प्रबन्धकाव्य के लिए भी अपर्याप्त है। अतः प्रबन्ध काव्य के सब अवयव इसमें कहाँ आ सकते ?"[1] घटनाओं की विरलता की दृष्टि से इस ग्रन्थ के कथानक का कलेवर इतना कृश है कि सम्बन्ध-निर्वाह भी समुचित ढंग से नहीं हो पाया है। कृष्ण के जीवन में घटने वाली अनेक घटनाओं—असुरों के दमन आदि के वर्णन या तो ब्रजवासियों द्वारा पूर्व-स्मृति के रूप में, अथवा कवि द्वारा अत्यन्त संक्षेप में चलते कर दिये गए है। ये प्रसंग मूल प्रसंग—वियोग-वर्णन के साथ अवान्तर प्रसंगों के रूप में जुड़े से प्रतीत होते हैं। उपाख्यानों, अवान्तर कथाओं आदि का नियोजन कवि ने किया ही नहीं है। घटनाओं की न्यूनता, सम्बन्ध-निर्वाह की शिथिलता, और कार्य-व्यापार में सक्रियता के अभाव के कारण नाटकीय गुण का 'प्रियप्रवास' में सर्वथा अभाव है। एक ओर भारतीय काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट नाट्य-सन्धियों, कार्यावस्थाओं आदि की समुचित योजना कथानक में नहीं मिलती, और दूसरी ओर चरम घटना की महत्ता के पाश्चात्य सिद्धान्त से भी कवि प्रभावित नहीं हुआ। पाश्चात्य धारणा के अनुसार चरम घटना से पूर्व आने वाली समस्त घटनाओं की प्रगति कारण-रूप में, और समस्त परवर्ती घटनाओं की निगति कार्यरूप में होती है। पूर्व भाग की घटनाएँ कार्य को चरम बिन्दु की ओर अग्रसर करती हैं, और उत्तरांश की घटनाएँ उस चरम घटना के परिणाम रूप में अन्त की ओर बढ़ती हैं। इस प्रकार सबसे प्रधान कार्य चरम घटना होती है और समस्त घटना-चक्र उस केन्द्र से सम्बद्ध व उस पर निर्भर होता है। नाटक में संघर्ष और सक्रियता को विशेष महत्त्व वहाँ प्रदान किया गया है।

'प्रियप्रवास' की चरम घटना जैसा नाम से स्पष्ट है ब्रजवासियों के प्रिय कृष्ण के मथुरा-गमन का प्रसंग है। परन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ पढ़ने के उपरान्त प्रतीत होता है कि ब्रजवासियों का विरह-वर्णन इस घटना की अपेक्षा अधिक प्रधान हो गया है। कृष्ण के मथुरा-गमन की घटना काव्य के अर्द्धांश से बहुत पूर्व—पाँचवे सर्ग के अन्त में ही सम्पन्न हो जाती है, और उसके बाद बारह सर्गों और लगभग दो सौ से अधिक पृष्ठों में ब्रजवासियों की विरह-गाथा व्याप्त है। इस विरह का भोक्ता भी कोई पात्र-विशेष नहीं। निकट-सम्बन्धी, सखा-वृन्द, प्रेयसी राधिका, और इन चेतन प्राणियों के साथ जड़ प्रकृत्ति, सभी इस दुःख के समभोक्ता हैं। कहा नहीं जा सकता कि कवि किस को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करना चाहता है। क्रमपूर्वक यशोदा, नन्द, गोप-वृन्द, गोपियाँ सभी एक के बाद एक आकर विरह-दुःख की अभिव्यक्ति करते हैं—कौन इस दुःखद अनुभूति से सर्वाधिक पीड़ित है यह निर्णय करना कठिन है। इसी भावाभिव्यक्ति के मध्य पूर्व-स्मृति के रूप में कृष्ण के जीवन की घटनाएँ अन्य पात्रों द्वारा वर्णित हैं। इन घटनाओं द्वारा कथानक-प्रवाह में जिस गत्यात्मकता और सक्रियता की सृष्टि संभव थी अप्रत्यक्ष वर्णन के कारण वह भी नष्ट हो गई है। यदि इन घटनाओं की प्रत्यक्ष प्रस्तुति की जाती, और अभिकर्त्ता के रूप में कृष्ण इनके भागी होते, तो प्रबन्ध-निर्वाह में अधिक वेग और सजीवता आ जाती। घटना-चक्र की निष्क्रियता के कारण चरम घटना का निर्णय करना भी दुष्कर हो गया है। प्रबन्ध-निर्वाह की दृष्टि से आरम्भिक घटनाएँ किस चरम बिन्दु की ओर कथानक को अग्रसर कर रही हैं, स्पष्टतः

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आ० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ७३४

ज्ञात नहीं होता—किसी भी घटना के लिए पर्याप्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत नहीं की गई है। ब्रजवासियों के विरह-वर्णन को, जो अपेक्षाकृत अधिक प्रधान है, काव्य की चरम घटना नहीं माना जा सकता। क्योंकि चरम घटना की स्थिति सापेक्ष है। कार्य-व्यापार की निगति द्वारा उसका अनुगमन अनिवार्य है—और इस दृष्टि से वह 'प्रियप्रवास' की चरम घटना स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि उसकी व्याप्ति प्रबन्ध के अन्त तक है। इस प्रकार यदि स्वीकार कर लिया जाय कि महाकाव्य की प्रमुख विशेषता प्रबन्ध तत्त्व के समुचित निर्वाह का 'प्रियप्रवास' में एकान्त अभाव है, तो अनुचित न होगा। कथानक में नाटकीय गुण, घटनाओं की तर्क-सम्मत सम्बन्ध-योजना, दूसरे शब्दों में सुसंगठित वस्तु-विन्यास और प्रबन्ध-निर्वाह इस ग्रन्थ में नहीं मिलता। इसका प्रधान कारण है घटनाओं में महाकाव्योचित सघनता का अभाव।

परिमाण और समग्र रूप—इस वर्ग के सभी ग्रन्थों के विषय में एक प्रवृत्ति सामान्य रूप से द्रष्टव्य है। सभी रचनाओं को सायास बृहद् आकार प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। जैसा पहले भी उल्लेख किया जा चुका है अधिकांश ग्रन्थों में घटना-सम्बन्धी विरलता, विशृंखलता, या अव्यवस्था व्याप्त है, किन्तु सभी का विभाजन अनेक सर्गों में हुआ है और पृष्ठ-विस्तार भी वर्णन-बहुलता या अप्रासंगिक घटना-विस्तार आदि का आश्रय लेकर किया गया है। घटनाओं में महाकाव्योचित गरिमा, विशदता और महाप्राणता अप्राप्य होने पर भी एकाध अपवाद (वैदेही-बनवास) के अतिरिक्त ये सभी रचनाएँ आकार में बृहद् हैं। आकार की यह विशदता आत्म-सम्बन्धी न होकर केवल बाह्य शरीर या कलेवर-सम्बन्धी है। 'कृष्णायन', 'पार्वती', 'अंगराज' आदि प्रबन्धों के अतिरिक्त सभी रचनाओं में यह विषय और आकार का पारस्परिक असंतुलन वर्तमान है।

शिल्प

सर्ग-विभाजन—इस वर्ग के सभी प्रबन्ध आठ से अधिक सर्गों में विभाजित हैं। एकमात्र अपवाद द्वारिकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' है जिसका विभाजन अनेक सर्गों में न होकर सात काण्डों में किया गया है। कारण—कवि की शैली एवं रचना-विधान पर 'रामचरितमानस' का प्रभाव है। कदाचित् मर्यादा-पुरुषोत्तम के चरित्र की भाँति सोलह कलावतार लीलाप्रिय कृष्ण के चरित्र को भी उसी रूप में चित्रित करने का प्रयास किया गया है। सात काण्डों में विभाजित होने पर भी 'कृष्णायन' का आकार अनेक अन्य प्रबन्धों की अपेक्षा कहीं विस्तृत और कथा-सामग्री व संघटना पर्याप्त सुनिश्चित है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से यद्यपि कवि ने निर्दिष्ट लक्षणों की उपेक्षा की है किन्तु एक पूर्व-रचित आदर्श महाकाव्य का अनुकरण करने के कारण उनका यह विधान परम्पराभुक्त ही स्वीकार किया जायगा, मौलिक नहीं। अन्य प्रबन्ध इस दृष्टि से पूर्णतया रूढ़िबद्ध हैं। अधिकांश रचनाओं में अनावश्यक प्रसंगों पर पूरे सर्ग की रचना कर एक ओर सर्ग-संख्या, और दूसरी ओर पृष्ठ-संख्या में वृद्धि की गई है, जो किसी दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं है।

नामकरण—इन ग्रन्थों का नामकरण रचयिताओं द्वारा विविध आधारों पर किया गया है। ये आधार मुख्यतः तीन प्रकार के हैं—

(क) प्रधान पात्र या नायक के नाम पर, यथा 'कोशल-किशोर', 'अंगराज', 'सिद्धार्थ', 'वर्द्धमान', 'पार्वती' और 'जननायक'।

(ख) वर्ण्य-विषय या कथावस्तु के आधार पर यथा 'रामचन्द्रोदय', 'रामचरित-चिन्तामणि' तथा 'कृष्णायन'।

(ग) काव्य की प्रमुख घटना के आधार पर जैसे 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही-बनवास'।

नामकरण की उपर्युक्त तीनों पद्धतियों में प्रथम दो का अनुगमन संस्कृत और हिन्दी-साहित्य में समान रूप से किया जाता रहा है, किन्तु प्रधान घटना के आधार पर सम्पूर्ण प्रबन्ध का नामकरण करने की पद्धति का अनुसरण हिन्दी के किसी महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध में नहीं किया गया। हरिऔधजी पर सम्भवतः इस दिशा में भी संस्कृत-साहित्य का प्रभाव रहा है।

वर्णन-रूढ़ियां—आधुनिक युग के इन प्रबन्धों में रूप-विधान की दृष्टि से यदि किंचित् नवीनता का आभास मिलता है तो वह शास्त्र-निर्दिष्ट वर्णन-रूढ़ियों के परित्याग में है। सभी लेखकों ने ऐसा किया हो, यह तो नहीं कहा जा सकता। कुछ रचयिताओं ने अत्यन्त सचेष्ट रूप से उनका परिपालन भी किया है, किन्तु इन रूढ़ियों के प्रति उपेक्षा तथा विद्रोह की भावना का सूत्रपात इन रचनाओं में हो गया था, ऐसा निश्चित रूप से दिखाई देता है। इन वर्णन-रूढ़ियों में प्रधान हैं—आरम्भ में मंगलाचरण, आशीर्वचन, वस्तु-निर्देश, प्रसंगवश सज्जन-प्रशंसा व दुर्जन-निन्दा, जीवन के विविध पक्षों का विधिवत् वर्णन तथा सर्ग के अन्त में भावी कथा-निर्देश आदि।

उपर्युक्त रूढ़ियों में से सभी का पालन इन कवियों द्वारा नहीं किया गया। मंगलाचरण, कवि का परिचय, वस्तु-निर्देश सब प्रबन्धों में नहीं मिलता। कहीं मंगलाचरण और संक्षिप्त वस्तु-निर्देश के उपरान्त कथा का आरम्भ हो गया है—'पार्वती', 'कृष्णायन', 'अंगराज', 'कोशल-किशोर', 'रामचरित-चिन्तामणि' और 'रामचन्द्रोदय' के कवियों ने यही पद्धति अपनाई है। 'वर्द्धमान' के आरम्भ में मंगलाचरण तो नहीं, किन्तु जन्मभूमि का स्तवन-वन्दन मिलता है जो बहुत अंशों में मंगलाचरण का स्थानापन्न ही है। हरिऔधजी ने अपने दोनों प्रबन्धों में सीधे प्रकृति-वर्णन से आरम्भ कर किंचित् नवीनता का परिचय दिया है। इसी पद्धति का अनुगमन 'सिद्धार्थ' के कवि ने किया। आत्मलघुता-प्रदर्शन और पूर्व कवियों की प्रशंसा का कार्य हरिऔधजी ने अपनी गद्य-भूमिका में किया है। अन्य कवियों ने ऐसा करने का प्रयास नहीं किया। कवि-परिचय का एक उदाहरण 'पार्वती' के कवि ने ग्रन्थ के अन्त में प्रस्तुत किया है, किन्तु इस कवि-परिचय का स्वरूप बहुत कुछ भावात्मक है, तथ्यपरक या इतिवृत्तात्मक नहीं, अतः इसे विशेष प्रयोजनीय और परम्परागत स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'रामचन्द्रोदय' के कवि ने अन्त में अपने वंश, रचना आदि का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। इस परिचय का स्वरूप पूर्णतः परम्परागत ही है।

सज्जन-प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा की योजना सभी काव्यों में जाने-अनजाने हो गई है। प्रबन्ध में संघर्ष की योजना के मूल में सत् और असत् के प्रतिनिधिरूप—दो पक्षों का चित्रण प्रायः किया ही जाता है। सहृदय पाठक की सहानुभूति सत् पक्ष के प्रति बनी रहे, इस कारण कृतिकार केवल परम्परा-पालन के लिए ही नहीं, अपितु पाठक का कथा के परिणाम से सहज

तादात्म्य स्थापित कराने के लिए, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सत् के प्रति आकर्षण और असत् से विकर्षण का प्रयत्न कथा में यथावसर करता है। परिणामतः ऐसे स्थलों की योजना, जिनमें सज्जन-प्रशसा और दुर्जन-निन्दा हो, प्रबन्ध के कलेवर में हो ही जाती है। सचेष्ट रूप से प्रसंगोद्भावना की इसके लिए अनिवार्यता नहीं, और ऐसा ही इन रचनाओं में हुआ है।

अन्य वर्णनों का जहाँ तक प्रश्न है, जैसा पहले भी कथा-संघटना के प्रसंग में संकेत किया जा चुका है—वर्णनीय प्रसंगों का सम्बन्ध मुख्य रूप से कथा में वर्णित घटनाओं और उनके विस्तार और संक्षेप से होता है। इस प्रकार कथा की परिसीमा वर्णनीय प्रसंगों की परिसीमा बन जाती है। जहाँ इस सीमा का उल्लंघन कर वर्णन-विस्तार का प्रयत्न किया जाता है वहाँ ये वर्णन अप्रासंगिक और अनुचित प्रतीत होते हैं। इन प्रबन्धों में प्रायः यही हुआ है। जिन रचनाओं की कथावस्तु में जीवन के विविध पक्षों से गृहीत घटनाओं का अभाव है—स्वभावतः वर्णनीय प्रसंगों में भी वैविध्य नहीं मिलता। 'कोशल-किशोर', 'रामचरित-चिन्तामणि', 'रामचन्द्रोदय', 'प्रियप्रवास', 'वैदेही-बनवास', 'वर्द्धमान', सभी कृतियों में जीवन की समग्रता के प्रति यह उपेक्षा-भाव खटकता है। जिन रचनाओं के फलक अपेक्षाकृत विस्तृत हैं (पार्वती, अंगराज, कृष्णायन, सिद्धार्थ) उनमें वर्णित प्रसंगों में प्रभावान्विति, महाकाव्योचित गाम्भीर्य और प्राणवत्ता का अभाव है। किस प्रसंग को काव्य में कहाँ और कितना स्थान मिलना चाहिए—इस विषय में कोई सुनिश्चित योजना कवियों के सामने रही है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। 'पार्वती' के अन्तिम तीन सर्गों में धर्म, नीति और संस्कृति का वर्णन है। 'अंगराज' में गरिमा और भव्यता का अभाव है, किन्तु कवि महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों के प्रति सचेष्ट है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। कहीं-कहीं युद्धादि के प्रसंग में सेना, अस्त्रशस्त्रादि के वर्णन केवल वर्णन के लिए नामपरिगणन-शैली में किये गए हैं। प्रबन्ध के मध्य इस प्रकार के स्थल क्षेपक से प्रतीत होते हैं। 'कृष्णायन' की कथा में वर्णन-वैविध्य भी है और जीवन की समग्रता भी, किन्तु कथा के विविध प्रसंगों में परस्पर अन्विति और प्रभावोत्पादन की क्षमता नही है। विविध वर्णित प्रसंग और घटनाएँ परस्पर सुगठित और सुसम्बद्ध नहीं। उनका पारस्परिक सम्बन्ध हेतु और परिणाम का, कार्य और कारण का नहीं, वरन् एक प्रसंग दूसरे के साथ बरबस जोड़ा गया प्रतीत होता है।

जिन प्रबन्धों में जीवन का समग्र रूप में ग्रहण नहीं किया गया है, उनके कवि भी महाकाव्यों के लिए निर्दिष्ट वर्णनीय विषयों का यथासम्भव समावेश करने में सावधान रहे हैं—परिणामस्वरूप यह वर्णन प्रायः अन्तः स्फूर्त और कथा में स्वाभाविक रूप से अनुस्यूत नहीं वरन् ऊपर से बरबस लदे से जान पड़ते हैं। 'प्रियप्रवास' के नवम सर्ग का प्रकृति-वर्णन, 'वर्द्धमान' के आरम्भ में नगर-वर्णन, 'वैदेही-बनवास' में सीता द्वारा आदर्श मानव-धर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य की व्याख्या, इसी प्रकार के प्रसंग हैं। कथा में जितनी घटना-विरलता है उतना ही इस प्रकार के प्रसंगों में वर्णन-विस्तार करके प्रबन्ध के कलेवर को बढ़ाने का प्रयत्न किया गया है। पूरे-पूरे सर्गों की सृष्टि ऐसे प्रसंगों द्वारा की गई है। इन वर्णनों का स्वरूप सर्वथा परम्पराभुक्त है, तथा रूढ़ि-पालन के लिए ही इनका अन्तर्भाव किया गया है। इनकी शैली प्रायः इतिवृत्तात्मक एवं नामपरिगण-शैली है, जिसका विस्तारपूर्वक विवेचन इस प्रसंग में अभीष्ट नहीं, अन्यथा यह

सिद्ध करना कठिन नहीं कि इन काव्यों में किये गए अनेक वर्णन सर्वथा परम्परानुमोदित हैं तथा केवल रूढ़ि परिपालन के लिए किये गए हैं, न अभिव्यंजना में नवीनता है न परम्परा का त्याग।

छन्द-विधान—इस विषय में आचार्य दण्डी ने यद्यपि एक ही छन्द में सर्ग-रचना का निर्देश किया था, किन्तु परवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने इस दिशा में स्वतन्त्रता के लिए अवकाश प्रस्तुत किया। सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन की आवश्यकता को उन्होंने भी स्वीकार किया। किन्तु व्यवहार में महाकाव्य के लिए यह नियम अनिवार्य अनुबन्ध के रूप में कवियों द्वारा कभी परिपालित नहीं हुआ। कथा का प्रवाह यथाप्रसंग ऋजु-सरल और ओजपूर्ण गति से बहता रहे, इस औचित्य को दृष्टि में रखते हुए 'रासो', 'पद्मावत', 'मानस' आदि सभी के कवियों ने इस क्षेत्र में स्वतन्त्रता बरती है। अतः आधुनिक काल का कवि यदि नियम का अंशतः अतिक्रमण कर ले तो विशेष अचरज की बात नहीं। 'कृष्णायन' और 'पार्वती' के अतिरिक्त इन सब रचनाओं में एक सर्ग की रचना एक ही छन्द में नहीं की गई, परन्तु 'पार्वती' के कवि ने अन्त में छन्द-परिवर्तन की रूढ़ि का पालन नहीं किया, तथा अन्य कवियों ने मध्य में भी आवश्यकतानुसार छन्द-परिवर्तन किया है।

छन्द-प्रयोग की दृष्टि से किसी प्रकार की नवीनता इन काव्यों में दृष्टिगत नहीं होती। सभी की रचना मात्रिक छन्दों या संस्कृत के वर्णवृत्तों में की गई है। आधुनिक युग में 'हरिऔध' के इस दिशा में प्रयत्न के उपरान्त संस्कृत के वर्णवृत्तों के प्रति अनूप शर्मा ने भी आग्रह दिखाया तथा 'अंगराज' के कवि ने भी वर्णवृत्तों का प्रयोग किया। अन्य कवियों ने प्रायः मात्रिक छन्दों में ही रचना की है। छन्दों के प्रयोग की दृष्टि से किंचित् नवीनता का श्रेय 'अंगराज' के कवि को दिया जा सकता है। छन्द के रूप की दृष्टि से यद्यपि उन्होंने नवीन प्रयोग नहीं किया किन्तु प्राचीन छन्दों का परस्पर संयोजन विविधता और सुरुचिपूर्ण नवीन योजना से किया है। उन्होंने अपने काव्य में संस्कृत के वर्णवृत्त, हिन्दी के अनेक मात्रिक छन्द—दोहा, चौपाई, कुण्डलिया तथा सवैया और कवित्त, व इनके अतिरिक्त युद्ध के प्रसंग में आल्हा की लय अर्थात् वीर छन्द का भी प्रयोग किया है। कवि की दृष्टि एक ओर साहित्यिक परम्पराओं के प्रति जागरूक है तथा दूसरी ओर लोक-साहित्य की कला को भी वह उपेक्षणीय नहीं मानता। इस प्रकार उन्हें नवीन छन्दोद्भावना का नहीं तो प्राचीन सामग्री की नूतन संयोजना का श्रेय निश्चित रूप से दिया जा सकता है। 'जननायक' के कवि ने सर्गों के मध्य में जहाँ-तहाँ प्रगीतात्मक शैली में रचना की है। स्तुति-वन्दना आदि के रूप में यह प्रयोग सम्पूर्ण काव्य में बिखरे हैं, परन्तु जिस युग में इस काव्य की रचना हुई, उस समय तक प्रगीत-रचना के क्षेत्र में इतने उच्च स्तर की कलात्मक सिद्धि काव्य-जगत् में हो चुकी थी कि इस दृष्टि से उनका योगदान नगण्य ही माना जाएगा। प्रबन्धों में भी वर्णनात्मक वस्तुपरक शैली के अतिरिक्त प्रसंग और विषय के अनुरूप अनेकानेक कलात्मक प्रयोग कलाकारों द्वारा प्रस्तुत किये जा चुके थे। मित्रजी के इन प्रयोगों में वैचित्र्य तो है किन्तु सुरुचि और प्रसंगानुकूलता नहीं। कहीं-कहीं मध्य में छन्द-परिवर्तन भी सर्वथा अप्रत्याशित और अनियमित रूप से हुआ है।

अलंकरण एवं अभिव्यंजना शैली—शैली और विषय एक अविभाज्य इकाई है। एक के

साथ दूसरे का पारस्परिक अनुकूलत्व काव्य की प्रभावात्मकता के लिए सर्वथा अनिवार्य है। विषय को दृष्टि में रखते हुए ही कवि उसके लिए तदनुकूल शैली का आश्रय लेता है। अतः जैसा पहले भी संकेत किया जा चुका है इन प्रबन्धों के वर्णनबहुल कथानकों, मूर्त वस्तुप्रधान जगत् से सम्बन्धित घटनाओं और प्रसंगों के लिए सभी कवियों ने वर्णनप्रधान, इतिवृत्तात्मक शैली का ही आश्रय लिया है। कारण स्पष्ट है—मूर्त और बाह्य जगत् से सम्बद्ध वर्ण्य-विषय का इन रचनाओं में इतना प्राधान्य है कि अन्तर्मन की गहनता में प्रवेश कर सूक्ष्म और अमूर्त के विश्लेषण और प्रकाशन का कवि प्रयत्न ही नहीं करता। शैली में फलतः भाव और विचार-विश्लेषण उतना नहीं मिलता जितना इतिवृत्तकथन और वस्तु-वर्णन। इन काव्यों की शैली मुख्यतः वर्णनात्मक है। इसलिए इस शैली के स्वाभाविक गुण-दोष इनमें स्वतः सन्निविष्ट हैं। इस शैली में ऋजु सरल गति, स्फीतता, पदलालित्य तथा कहीं-कहीं अर्थ-गाम्भीर्य तो विद्यमान है, किन्तु महाकाव्य के लिए जिस ओज और विशदता, गति और प्रवाह, शक्तिमत्ता और प्राणवत्ता, तथा गरिमा और भव्यता की अनिवार्यता है, वह समान रूप से सभी रचनाओं में नहीं मिलती। ये सभी ग्रंथ इस अनिवार्य गुण से शून्य हैं, यह तो नहीं कहा जा सकता। इनमें अनेक स्थलों पर श्रेष्ठ कवित्व का परिचय मिलता है किन्तु काव्य के समवेत प्रभाव में सक्षम अभिव्यंजना का अभाव प्रतीत होता है। यह प्रवृत्ति, जो ग्रंथ द्विवेदी-युग के जितना निकट है, उसमें उतनी ही अधिक है। 'अंगराज' और 'पार्वती' के कवियों की कला पर छायावादी रचना-शैली का भी प्रभाव कहीं-कहीं दृष्टिगत होता है—विशेष रूप से प्रकृति-चित्रण के स्थलों पर, किन्तु छायावादी कला भी जितनी कोमल और मसृण के अंकन में समर्थ है, उतनी सशक्त चित्रणों में नहीं। फलतः इन काव्यों में इस प्रभाव के परिणामस्वरूप कहीं-कहीं आत्मपरक दृष्टिकोण, अतः अभिव्यंजना में विशेष कान्ति और लालित्य तो आ गया है, किन्तु प्राणशक्ति का संचार नहीं हो पाया।

अभिव्यंजना की रमणीयता अनेक अन्य तत्त्वों पर निर्भर है। जिस काव्य की मूल प्रेरणा जितनी निसर्ग होगी, जिस कवि की कल्पना जितनी अधिक समृद्ध होगी, उसके मानस में जितने सुन्दर एवं नूतन अप्रस्तुत-विधान का कोष संचित होगा, और जिसमें इस समस्त सामग्री के परस्पर अनुकूल रूप में संयोजन की जितनी निपुणता होगी, उतना ही वह अभिव्यक्ति-कुशल होगा। इसके अतिरिक्त प्रत्येक काव्य-रचना पर उस युग की विभिन्न विषयगत और कलागत प्रवृत्तियों का प्रभाव होता है। इन समस्त कृतियों की प्रेरणा निसर्ग नहीं अर्जित है। कहने का अभिप्राय यह है, कि कवि स्वतः विषय के अनुकूल अभिव्यंजना का आश्रय नहीं लेता, वरन् काव्य के शिल्प, रूप-आकार का ढाँचा स्थिर करके उसमें अनुकूल सामग्री भरने का प्रयास करता है। इसी कारण सहज अन्तःप्रेरणा के अभाव में इन रचनाओं में महाकाव्योचित जीवन्तता के लिए जिस प्राण-रस के संचार की अपेक्षा होती है, वह सहज प्राप्य नहीं। इस प्रकार काव्य की अभिव्यंजना के लिए निसर्ग अन्तःप्रेरणा का अभाव इन काव्यों की वह पहली बाधा है जिससे अभिव्यंजना-सामर्थ्य को आघात पहुँचा है।

दूसरी परिसीमा इन काव्यों पर द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक वस्तुवर्णन-शैली का प्रभाव है। वे काव्य जिनकी रचना समय की दृष्टि से इस युग में हुई निश्चित रूप से इसी यथावत् तथ्यपरक वर्णन की प्रवृत्ति मे निबद्ध हे, किन्तु इस वर्ग की वे रचनाएँ भी जो कालक्रम की

दृष्टि से परवर्ती रचनाएँ हैं—यथा 'अंगराज','पार्वती','कृष्णायन','वर्द्धमान' आदि, रचना-प्रवृत्ति की दृष्टि से समय के साथ आगे नहीं बढ़ पाई हैं। वे आधुनिक युग में उसी लक्षणबद्ध प्रबन्ध परम्परा की कड़ियाँ मानी जाएँगी जिसका आरम्भ 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' से आधुनिक काल में हुआ। शैली की दृष्टि से द्विवेदी-युग की छाया इन सभी काव्यों पर अपने पंख पसारे विद्यमान है। यदि संक्षेप में कहना हो, तो कहा जा सकता है कि इस काव्य का अधिकांश अभिधा का काव्य है। लक्षणा और व्यंजना का वैभव, सूक्ष्म और समर्थ कल्पना का चमत्कार इन ग्रंथों के बहुलांश में नहीं मिलता। इस कथन का अभिप्राय किसी भी दृष्टि से इन काव्यों की कला का अवमूल्यन करना नहीं है। कविता में प्रसाद गुण की व्याप्ति, परिष्कृत शैली, स्फीतता आदि उसके निश्चित गुण हैं। किन्तु महाकाव्य के लिए अभिव्यंजना में जो गरिमा, महाप्राणता, भव्यता, अलंकरण, उदात्तता और प्रवाह आदि गुण अपेक्षित हैं, वे इन ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होते। इस वर्ग की मान्य रचना 'प्रियप्रवास' से एक उदाहरण देकर शैली की इस असमर्थता की ओर संकेत करना अप्रासंगिक न होगा। लेखक एक प्रसंग से दूसरे प्रसंग पर कथा को मोड़ देना, या एक लम्बे प्रसंग को करवट देना चाहता है, ऐसे स्थल पर चमत्कारमुक्त वर्णन-पद्धति देखिए—

समाप्त ज्योंही इस यूथ ने किया,
अतीव प्यारे अपने प्रसंग को।
लगा सुनाने उस काल ही उन्हें,
स्वकीय बातें फिर अन्य गोप यों।

यह उदाहरण केवल प्रतीक है, इस प्रकार के अनेक प्रयोग 'प्रियप्रवास', 'सिद्धार्थ', 'वैदेही-बनवास', 'जननायक', 'रामचरित-चिन्तामणि', 'रामचन्द्रोदय', 'कोशल-किशोर' में स्थान-स्थान पर, तथा अन्य कृतियों में भी कहीं-कहीं मिल जाते हैं। जो रचना द्विवेदी-युग से जितनी दूर होती गई है उसमें यह प्रवृत्ति उतनी ही न्यून हो गई है। 'पार्वती', 'अंगराज', 'वर्द्धमान', 'कृष्णायन' आदि कृतियों में कहीं-कहीं शैली में अद्भुत रम्यता और भव्यता है किन्तु ऐसे स्थल बहुत नहीं मिलते। केवल गिने-चुने प्रसंगों में समर्थ शैली के प्रयोग प्राप्त होते हैं। काव्य का समग्र रूप महाकाव्योचित शैली का आदर्श नहीं कहा जा सकता।

शैली को आंशिक रूप से प्रभावित करने वाली एक अन्य विशेषता, इन सभी काव्यों में मात्रा-भेद से दिखाई पड़ती है। एक सीमा तक नैतिक दृष्टिकोण कहीं सर्वथा प्रत्यक्ष, और कहीं किंचित् अव्यक्त रूप में इन रचनाओं में मिलता है। जहाँ पर उपदेशात्मक प्रवृत्ति अथवा नैतिकता, काव्य-रचना में अपना स्थान बना लेती है वहाँ निश्चित रूप से काव्य की रसात्मकता के लिए बाधक सिद्ध होती है और शैली की सरसता को भी आघात पहुँचता है। नैतिकता का सम्बन्ध बुद्धि से अधिक है और काव्य का हृदय से, अतः काव्याभिव्यक्ति का विषय जब मेधा-जनित सिद्धान्त होते हैं, तब अभिव्यंजना में एक प्रकार की गद्यमयी निविड़ता, नीरसता या एकरसता प्रवेश कर जाती है। इन समस्त काव्यों की शैली में इनमें से एक या अधिक विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं। 'प्रियप्रवास', 'सिद्धार्थ', और 'वर्द्धमान' आदि रचनाओं में अनेक पंक्तियाँ ऐसी मिलेंगी जिनको शब्दों के थोड़े से स्थल-परिवर्तन से गद्य में रूपान्तरित किया जा सकता है। जैसा पहले भी कहा जा चुका है, 'पार्वती', 'रामचरित-चिन्तामणि', 'वैदेही-बनवास', 'प्रियप्रवास',

'कृष्णायन', में प्रायः, तथा कुछ स्थलों पर 'वर्द्धमान', और 'अंगराज' की कथा में ऐसा गत्य-वरोध उपस्थित हो गया है, कि शैली में भी सर्वथा नीरसता आ गई है, और जहाँ कवियों ने औचित्य का अतिक्रमण कर नैतिक उपदेशों से पृष्ठ के पृष्ठ रंग डाले हैं, वहाँ नीरसता और एकरसता का समागम हुआ है। ये प्रसंग बुद्धि-क्रीड़ा के अतिरिक्त और कुछ नहीं जान पड़ते।

शैली की उपर्युक्त विशेषताओं के लिए बहुत अंशों में इन काव्यों की कथा का स्वरूप या विषयवस्तु उत्तरदायी है। इनमें से अधिकांश रचनाओं में घटनाओं की विरलता का अन्तराय शैली की सामर्थ्य से भरने में कृतिकार असमर्थ रहे हैं। जीवन की महाप्राणता के अभाव में चित्रण की सक्षमता की आशा करना व्यर्थ है। ऐसा प्रायः दो स्थितियों में हुआ है—गृहीत कथानक के आख्यात रूप में ही समर्थ घटनाओं का अभाव था और किसी काल्पनिक घटना की उद्भावना कवि की मनीषा नहीं कर पाई—'वर्द्धमान' और 'सिद्धार्थ' काव्यों की निष्प्राणता का मुख्य कारण यही है। अन्य रचनाओं में आख्यात वृत्त को नवीन रूप में प्रस्तुत करने के आग्रह से, अथवा निजी अभिरुचि के कारण कवियों ने अवकाश होने पर भी एकपक्षीय वर्णन किया है जैसे 'प्रियप्रवास', 'वैदही-बनवास', 'कोशल-किशोर', 'रामचरित-चिन्तामणि' और 'रामचन्द्रोदय' में। जहाँ कवियों ने जीवन की समग्रता को ग्रहण कर लिया है—यथा 'कृष्णायन', 'अंगराज', 'पार्वती', 'जननायक'—वहाँ प्रबन्ध-गुण की न्यूनता के कारण काव्य के समवेत् प्रभाव में भव्यता और गरिमा बाधित है। ऐसा भी दो स्थितियों में हुआ है—(१) अप्रासंगिक वर्णनों द्वारा आकार या कथा में विस्तार करने के कारण 'पार्वती' तथा कहीं-कहीं 'अंगराज' में यह दोष आ गया है। (२) अन्य कृतियों में कथा के विभिन्न अंगों में परस्पर उचित संयोजन तथा प्रबन्ध-सौष्ठव का अभाव है। कथा के अवयव परस्पर सुचारु रूप से सम्बद्ध और सुसंगठित नहीं हैं। 'जननायक' में तो प्रबन्ध-गुण का एकान्त अभाव है। 'कृष्णायन' में अन्य महाकाव्योचित गणों की पर्याप्त विद्यमानता होते हुए भी प्रभावान्विति का अभाव इस रूप में उसकी स्वीकृति के मार्ग में बाधक है।

एक विशेषता जिसकी ओर अन्य प्रसंगों में पहले भी संकेत किया जा चुका है—इन काव्यों की कथा का विस्तार समतल रूप में हुआ है उसमें घनत्व नहीं। कथा की रेखाएँ विस्तृत हैं, गहरी नहीं। कुछ ऐसी ही बात शैली के विषय में है। शैली में घनत्व लाने वाले गुण—गरिमा, व्यंजना-वक्रता, सप्राणता और भव्यता उतने नहीं मिलते, जितनी उसमें स्पष्टता, प्रसादमयता, स्फीतता और तारल्य प्राप्त होता है।

इन काव्यों की अलंकरण-कला में भी नवीन कहने को बहुत कम मिलेगा। काव्य-सामग्री सर्वथा रूढ़ है। परम्परागत साम्य-वैषम्यमूलक अलंकारों का प्रयोग, शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का महत्त्व, तथा कवि-परम्परा में प्रयुक्त और प्रचलित काव्य-सामग्री का ही प्रयोग इन काव्यों में मिलता है। छायावाद के उन्मेष के उपरान्त रचित कृतियों—'अंगराज' और 'पार्वती' आदि में कहीं-कहीं नाम लेने मात्र को कुछ अमूर्त जगत् से काव्य-सामग्री के चयन की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। रूप-वर्णन और प्रकृति-चित्रण भी छायावादी ढंग से करने का प्रयास किया गया है। ऐसे स्थल समग्र काव्य में बहुत कम हैं। हरिऔधजी के 'प्रिय-प्रवास' में पवन-दूतिका प्रसंग के प्रति प्रायः विद्वानों ने प्रशंसा का भाव व्यक्त किया है, और उसकी शैली में

नवीनता के दर्शन किये हैं। किन्तु जड़-चेतन जगत् को दूत-रूप में सम्बोधित कर पात्रों की आत्म-व्यथा को व्यक्त कराने की पद्धति बहुत प्राचीन है, इसके मूल बड़ी सरलता से संस्कृत-साहित्य में खोजे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त जो शैलीगत नवीनता इस प्रसंग में दिखाई पड़ती है, वह कवि के नैतिक दृष्टिकोण की है कला-विलास की नहीं। जो नवीन उपमाएँ और उद्भावनाएँ इसमें दिखाई पड़ती हैं वे उनकी उपदेशात्मकता के कारण अधिक हैं, कला-कौशल और कल्पना-लास्य के कारण कम। इन कवियों की रचना-शैली पर रीतिकालीन चमत्कार-मूलक वर्णन-पद्धति का प्रभाव नहीं पड़ा। ऊहा-प्रधान वर्णन और पाठक को चौंकाकर चमत्कृत करने वाले प्रसंग कदाचित् ही इनमें मिलें, किन्तु रीतिकाल पूर्व-साहित्य तथा उससे भी अधिक संस्कृत के परवर्ती प्रबन्ध काव्यों की परम्परा का सम्बन्ध इन काव्यों से निश्चित रूप से स्थापित किया जा सकता है। 'रामचन्द्रोदय' काव्य इस वर्ग की एकमात्र रचना है जिसके काव्य-शिल्प में कवि ने शास्त्रीय लक्षणों का अन्य काव्यों की अपेक्षा अधिक दृढ़तापूर्वक पालन किया है तथा शैलीगत विशेषताओं की दृष्टि से इस काव्य पर 'रामचन्द्रिका' का प्रभाव स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है।

निष्कर्ष रूप में रूप-विधा की दृष्टि से इन काव्यों के समग्र रूप-निर्माण के विषय में निम्नांकित स्थापनाएँ की जा सकती हैं—

परम्परागत तत्त्व—१. इन समस्त कृतियों की रचना शास्त्रीय लक्षणों को दृष्टि में रखकर की गई है। अधिकांश कृतियों में लेखक ने स्वयं भूमिका में सचेष्ट रूप से शास्त्रों में निर्दिष्ट लक्षणों के पालन की स्वीकृति की है। जहाँ यह प्रत्यक्ष विज्ञप्ति विद्यमान नहीं, वहाँ भी प्रयोग में लेखक की तद्विषयक सावधानी स्पष्ट है। इनके कवि मानकर चले हैं कि वे महाकाव्य की रचना कर रहे हैं।

२. रूप-विधान के सम्बन्ध में शास्त्रीय लक्षणों का पालन अधिकांश रूप में बाह्य शिल्प-रूढ़ियों को लेकर ही हुआ है। कथानक का सुसम्बद्ध नाटकीय विधान, जो महाकाव्य क्या श्रेष्ठ प्रबन्ध का भी प्राण-तत्त्व है, इन काव्यों में से अधिकांश में उचित ढंग से नहीं बन पड़ा है। सर्ग-विभाजन, नामकरण, वर्णन-विस्तार, छन्द-विधान, आकार, घटनाओं का बाह्य चित्रण आदि वे गौण शास्त्रीय रूढ़ियाँ हैं, जिनका इन कवियों ने सजग होकर पालन किया है। कुछ रचनाओं के भूमिकांश में तो इन्हें कसौटी बनाकर कृति को महाकाव्य सिद्ध करने का उपक्रम भी किया गया है—(वर्द्धमान, कोशल-किशोर आदि में)। प्रबन्ध का प्राणभूत तत्त्व नाटकीय कथानक-संघटना जिसका निर्देश प्राचीन आचार्यों ने भी किया था, इन काव्यों में दुष्प्राप्य है।

३. प्राचीन परम्परा का अनुगमन इन कवियों ने केवल काव्य के बाह्य रूप-निर्माण एवं शरीर-संघटना में ही नहीं किया, वरन् इनके वर्णनों पर भी बहुत अंशों में काव्य-शास्त्र में निश्चित वर्ण्य प्रसंगों ने परिसीमा का कार्य किया है। इनकी अभिव्यंजना कला पर भी उत्तर-कालीन संस्कृत-साहित्य के प्रबन्धों, और पूर्ववर्ती हिन्दी कवियों का विपुल प्रभाव दृष्टिगत होता है। यह कला इस प्रकार परम्परागत या रूढ़ कला है—उसमें आधुनिकता का समागम नहीं हुआ। समय की दृष्टि से ये कवि आधुनिक काल में होने पर भी काव्य-शिल्प और काव्य-कला की प्रवृत्तियों की दृष्टि से परम्पराबद्ध रचयिताओं की ही परम्परा में आएँगे। लीक पर चलने

की प्रवृत्ति इन कवियों में इतना अधिक है, कि आधुनिक काल में भी, एक ही प्रकार की काव्य-रचना करने वाले कवियों में पूर्ववर्ती रचयिता का अनुकरण मिलता है। उदाहरणार्थ 'सिद्धार्थ' की शैली पर हरिऔधजी की संस्कृत-वर्णवृत्तों में अतुकान्त रचना का तो प्रभाव पड़ा ही है, लेखक ने राधिका के पवन-दूती-सन्देश के समानान्तर हंस-दूत-प्रसंग की उद्भावना की और उसके प्रति यशोधरा के जो हृदयोद्गार व्यक्त कराये उनमें और पूर्ववर्ती रचना में अद्भुत समानता है। सम्पूर्ण प्रसंगोद्भावना 'प्रियप्रवास' के अनुकरण पर की गई प्रतीत होती है।

४. इन काव्यों के समग्र आकार-निर्माण में परम्पराबद्ध शास्त्रीय पद्धति को अंगीकार किया गया है, तथा इस बृहद् रूप के तिल-तिल निर्माणकारी साधनों में—अर्थात् छन्द-विधान, सर्ग-बन्धन, अलंकरण, नामकरण, वर्णन-पद्धति और वर्ण्य प्रसंग आदि पृथक्-पृथक् अवयवों में (बाह्य तथा अन्तरंग) भी परम्परा-अनुसरण किया गया है। भाषा के क्षेत्र में भी यद्यपि अधिकांश कवियों ने नए युग की जीवन्त भाषा को अपना लिया किन्तु कुछ एक परम्परा-प्रेमियों ने प्राचीन काव्य-भाषा के प्रति भी अपना मोह यथावत् बनाये रखा। परिणामतः 'कृष्णायन' की रचना 'मानस' के अनुकरण पर उसी छन्द और अवधी भाषा में हुई, और 'रामचन्द्रोदय' काव्य की रचना 'रामचन्द्रिका' के समान विविध छन्दों और व्रज-भाषा में। इस प्रकार आधुनिक युग में भी पूर्ववर्ती काव्य-परम्परा की उद्धरणी सम्भव हो पाई।

अन्य प्रभाव—विदेशी या अन्य स्वदेशी भाषाओं के साहित्य तथा परिस्थितिजन्य प्रभावों का जहाँ तक प्रश्न है, इन काव्यों में परायी कहने के लिए कोई विशेषता शायद ही मिले। छायावाद तथा परवर्ती युग में विदेशी साहित्य के संसर्ग तथा अन्य सामाजिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों के प्रभाव-स्वरूप जिन प्रगीतात्मक तथा नाटच शैलियों का प्रचलन हुआ वे भी इन काव्यों में एकाध स्थल पर नाम गिनाने-भर के लिए ही मिलेंगी।

इनमें से कुछ पर यदि परिस्थिति तथा नवीनता का प्रभाव दृष्टिगत होता है तो वह उनकी रूप-विधा और शिल्प पर नहीं, वरन् मूल चेतना और विषय पर। इन काव्यों को इस दृष्टि से यदि दो वर्गों में विभाजित कर दिया जाय तो बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी। कुछ रचनाएँ इनमें ऐसी हैं जिनका स्वरूप—विषय, मूल चेतना और शिल्प सभी दृष्टियों से सर्वथा रूढ़ है, ऐसी रचनाओं में—'रामचन्द्रोदय', 'रामचरित-चिन्तामणि', 'कोशल-किशोर', 'कृष्णायन', 'वर्द्धमान' और 'पार्वती' की गणना की जा सकती है। अन्य कृतियों में शिल्प की दृष्टि से तो अवश्य लेखकों ने शास्त्रीय लक्षणों में बंधे रहने का प्रयत्न किया है, किन्तु वे एक नवीन उद्देश्य, विषय के परम्परागत स्वरूप तथा चिराचरित मान्यताओं के प्रति विद्रोह और नवीन युग-चेतना को अंगीकार कर रचना में प्रवृत्त हुए हैं। 'प्रियप्रवास', 'वैदेही-बनवास', 'अंगराज' और 'सिद्धार्थ' इसी प्रकार की रचनाएं हैं।

इन कृतियों पर अन्य स्वदेशी-विदेशी साहित्यों का प्रभाव रूप-विधा की दृष्टि से पड़ा ही नहीं, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। इनकी मूल विचार-धारा पर जहाँ एक ओर बँगला आदि के साहित्य का प्रभाव पड़ा है वहाँ इन्होंने रूप-निर्मात्री कला में भी अंशतः हिन्दी-इतर साहित्य का प्रभाव ग्रहण किया है। इस दिशा में ये कवि समकालीन साहित्य से प्रभाव ग्रहण करने के स्थान पर प्राचीन साहित्य की ओर पीछे लौटे हैं। 'प्रियप्रवास' और 'सिद्धार्थ' में

संस्कृत के वर्णवृत्तों के आकार को अपनाने के साथ संस्कृत भाषा की ही अन्त्यानुप्रास-विहीन रचना-प्रणाली को भी इन्होंने अपनाया है। रूप-विधा में छन्द के इस विशिष्ट प्रयोग के अतिरिक्त कोई विशेष उल्लेखनीय प्रभाव इन कवियों की रचना-विधि में दृष्टिगत नहीं होता।

स्वतन्त्र एवं नवीन उद्भावनाएँ—निजी प्रतिभा के फलस्वरूप जिन नवीनताओं का क्षेत्र उन्मुक्त हो सकता था, उनकी सिद्धि का प्रयत्न इन कवियों ने बहुत कम किया है। नवीन रूप-विधा-निर्माण की दिशा में इनका प्रयत्न ग्रहण की अपेक्षा त्याग का ही अधिक रहा है। हिन्दी और संस्कृत साहित्यों में महाकाव्य का जो शास्त्रीय रूप बहुत समय पहले सिद्धान्त और व्यवहार में स्थिर हो चुका था, उसमें इन्होंने परिवर्तन और परिवर्द्धन करने की अपेक्षा कुछ अत्यन्त गौण और बाह्य रचना-रूढ़ियों का त्याग ही किया है। यह स्वतन्त्रता भी इन सब लेखकों ने समान रूप से नहीं दिखाई। कुछ कवियों ने सभी मुख्य व गौण अनुबन्धों का निर्वाह किया है, तथा अन्य ने आरम्भ में मंगलाचरण, कवि द्वारा निज-वंश-परिचय, निर्दिष्ट वर्णनीय प्रसंगों का अन्तर्भाव, सर्गान्त में भावी कथा-सूचना आदि-आदि उपबन्धों की उपेक्षा की है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में (१९००-१९५७) जिन उल्लेखनीय शास्त्रीय लक्षणबद्ध प्रबन्धों की रचना हुई, उनमें सामान्य रूप से यद्यपि शास्त्रीय लक्षणों और महाकाव्यों के स्थिर परम्परागत स्वरूप के निर्वाह का मोह वर्तमान है, फिर भी इन लक्षणों के निर्वाह में परस्पर अनुपात-भेद के कारण स्थूल रूप से वर्ग-निर्धारण किया जा सकता है—

(क) पहला वर्ग उन प्रबन्धों का है जिनमें अधिकाधिक शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह किया गया है तथा जिनका स्वरूप, विषय, चेतना और रूप-विधा, सभी दृष्टियों से शास्त्रीय और रूढ़ स्वीकार किया जाएगा। ये प्रबन्ध हैं—'रामचन्द्रोदय', 'रामचरित-चिन्तामणि', 'कोशल-किशोर', 'वर्द्धमान', 'पार्वती' तथा 'कृष्णायन'।

(ख) दूसरे वर्ग में वे प्रबन्ध आएँगे जिन्होंने दृष्टिकोण, उद्देश्य और नवीन युग-चेतना के ग्रहण के साथ शास्त्रीय लक्षणों के निर्वाह के प्रति भी शिथिलता का परिचय दिया है। महाकाव्य के रूढ़ स्वरूप में यद्यपि कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन तथा नवीनता का समावेश इन कवियों ने नहीं किया, किन्तु महाकाव्य के रूप-निर्माण में गौण और बाह्य शिल्प-रूढ़ियों का त्याग भी इनकी महत्त्वपूर्ण सिद्धि है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। 'प्रियप्रवास', 'वैदेही-बनवास', 'सिद्धार्थ' इसी प्रकार की रचनाएं हैं।

(ग) 'अंगराज' अपने ढंग की वह अकेली कृति है, प्रयोग की दृष्टि से जिसका पृथक् उल्लेख अभीष्ट होगा। रूप-विधा की दृष्टि से 'अंगराज' के कवि का नवीन कहने योग्य यद्यपि कोई योगदान नहीं, किन्तु इस कृति में चिराचरित मान्यताओं के प्रति घोर अनास्था, प्राचीन विश्वासों के प्रति विद्रोह और जिस नवीन दृष्टि का आलोक मिलता है, उसकी अभिव्यक्ति शास्त्रीय अनुबन्धों से बँधे-बँधाये आकार में हुई है। प्राचीन शरीर में नवीन आत्मा की यह अभिव्यक्ति अपना विशेष स्थान रखती है। इस रचना का रूप-विधा की दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं—किन्तु परम्परागत व शास्त्र-विहित रूप का परिपालन भी समर्थ काव्य-विषय और अभिव्यंजना के बीच गुण बन सकता है यह रचना इस बात का प्रमाण है।

अनेक प्रसंगों में पहले भी जैसा स्पष्ट किया जा चुका है इस शास्त्रीय वर्ग के समस्त प्रबन्धों को महाकाव्य स्वीकार नहीं किया जा सकता, केवल बाह्याकार-सम्बन्धी, अतः गौण लक्षणों का औपचारिक निर्वाह करने मात्र से कोई कृति महाकाव्य-पद की अधिकारी नहीं हो सकती। 'रामचरितचिन्तामणि', रामचन्द्रोदय', 'कोशल-किशोर', 'वैदेही-बनवास', 'वर्द्धमान', 'जननायक' आदि रचनाओं का महाकाव्यत्व इस दृष्टि से विशेष शंकास्पद है।

पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'प्रियप्रवास' के सम्बन्ध में एक नवीन सुझाव उपस्थित किया है। वे इसे साहित्यदर्पणकार द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य और खण्डकाव्य की मध्यवर्तिनी विधा 'एकार्थ-काव्य' की रचना मानते हैं, किन्तु उनकी इस धारणा का आधार कथानक-संघटना है, बाह्य-शिल्प और रूप-आकार नहीं। 'प्रियप्रवास' में कथा के मोड़ महाकाव्योचित मात्रा में तो क्या प्रबन्ध के लिए भी पर्याप्त नहीं। वस्तुतः महाकाव्य का कथानक संश्लिष्ट कथानक होता है, जिसका निर्माण आधिकारिक कथा के साथ प्रासंगिक कथाओं अथवा उपाख्यानों के संयोग से किया जाता है। 'प्रियप्रवास' में उपकथाओं का तो प्रश्न ही नहीं, मुख्य कथा का विकास और निर्वाह भी सुचिन्तित रूप से नहीं हुआ—अतः शिल्प अथवा रूप-विधान को दृष्टि में रखकर उसे 'एकार्थ-काव्य' कहना व्यर्थ है। जहाँ तक रूप-निर्माण अथवा महाकाव्य के बाह्य लक्षण-निर्वाह का प्रश्न है, 'प्रियप्रवास' के कवि ने इनकी सायास पूर्ति की है। अधिकांश लक्षण 'प्रियप्रवास' पर घटित हो सकेंगे, किन्तु 'प्रियप्रवास' के महाकाव्यत्व में संदेह—रूप-विधान को नहीं, कथा-सूत्रों की सगुंफन-विधि और अपर्याप्त सामग्री को लेकर प्रायः उठाया गया है, और यह प्रश्नवाचक चिह्न उसे 'एकार्थ काव्य' कहकर नहीं मिटाया जा सकता। 'प्रियप्रवास' में महाकाव्योचित कथानक एक भिन्न तथा स्वतंत्र प्रश्न है, जिसका विवेचन विषयान्तर के कारण यद्यपि प्रस्तुत प्रसंग में नहीं किया जा रहा, किन्तु रूप-विधान मात्र का जहाँ तक सम्बन्ध है, वहाँ परम्परागत लक्षणों को दृष्टि में रखते हुए उसे निश्चय ही महाकाव्य स्वीकार किया जा सकता है।

२. अंशतः नवीन प्रयोग

आधुनिक काल के बृहद् प्रबन्धों में दूसरा वर्ग उन रचनाओं का है जिनमें न तो शास्त्रीय लक्षणों में पूर्णतः बँधे रहने का आग्रह है और न इन निर्दिष्ट लक्षणों की सर्वथा उपेक्षा की गई है। इनके कवियों ने मध्यम मार्ग अपनाया है। पूर्व-परम्परा के प्रति उनके हृदय में आस्था और नवीन के ग्रहण में उदार दृष्टि है—अतः इन ग्रन्थों के शिल्प में प्राचीन और नवीन रचना-विधियों का सुचारु सम्मिश्रण प्राप्त होता है। इस वर्ग के ग्रंथ हैं—

(१) साकेत—(१९३१) मैथिलीशरण गुप्त।

(२) आर्यावर्त (१९४३) मोहनलाल महतो।

(३) साकेत-संत (१९४६) डॉ० बलदेव मिश्र।

(४) रश्मिरथी (१९५२) 'दिनकर'।

(५) जयभारत (१९५२) मैथिलीशरण गुप्त।

(६) ऊर्मिला (१९५७) बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'।

इस प्रसंग में यह संकेत करना सर्वथा अप्रासंगिक न होगा कि उपर्युक्त काव्य-ग्रंथों के

रचयिता कवियों की चिन्ताधारा पर, उस मात्रा में पाश्चात्य अथवा प्रगतिवादी विचारधाराओं का प्रभाव कभी नहीं रहा कि वे उन्हें भारतीय संस्कारों के प्रति आमूल विद्रोह में प्रवृत्त कर सकें। यह वर्ग उन कवियों का है जिन्हें भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति आस्था, आर्यत्व पर गौरव एवं अभिमान है। अतः इन्होंने किसी दिशा में भी इस प्रकार के प्रयोग नहीं किए जो परम्परा से एक बार ही उच्छिन्न हो गए हों, अथवा जिनमें प्राचीन संस्कारों के प्रति विद्रोह का आभास मिलता हो। इन रचनाओं के रूप-विधान के सम्बन्ध में भी कुछ इसी प्रकार की बात है। महाकाव्य की परम्परागत रचना-विधि में आमूल परिवर्तन करने का प्रयत्न इन कवियों ने नहीं किया, आंशिक रूप से बाह्य रूप-निर्माण में शिल्प-सम्बन्धी कुछ इस प्रकार की नवीनताओं की स्वीकृति की है, जिनका चिराचरित मान्यताओं से कोई विरोध नहीं। यह नयापन जितना शैली के तत्त्वों में दृष्टिगत होता है उतना भाव या विषय में नहीं है। इनका स्वरूप कुछ उस तरुवृन्द का-सा है जिसकी जड़ें भारतीय संस्कारों की मिट्टी में गहरी उतरी हैं, जिसने इसी मिट्टी से जीवन-रस ग्रहण किया है, किन्तु जिसके हरे-भरे बाह्याकार को कुछ विदेशी प्रभाव और कुछ युग-प्रवृत्ति के अनुकूल काँट-छाँटकर एक विशेष रूप-रंग दे दिया गया हो। इन काव्यों के स्वरूप-विवेचन से उपर्युक्त कथन का स्पष्टीकरण सम्भव होगा।

कथानक

स्वरूप—इन सभी रचनाओं के कथानक प्रख्यात हैं। कुछ का सम्बन्ध हमारे पुराण साहित्य से और अन्य का इतिहास से है। 'साकेत', 'साकेत-संत', 'रश्मिरथी', 'जयभारत' और 'ऊर्म्मिला' के कथानक अपने मूल रूप में पुराणों, आदि काव्य, और तदुपरान्त अनेकानेक साहित्यिक रचनाओं में मिलते हैं, तथा 'आर्यावर्त' का कथानक अन्तिम आर्य सम्राट् पृथ्वीराज की ऐतिहासिक गाथा से सम्बन्धित है। उस पर इतिहास और 'पृथ्वीराज रासो' दोनों का प्रभाव ढूंढ़ा जा सकता है। 'साकेत-सत' और 'ऊर्म्मिला' में मर्यादा पुरुषोत्तम राम की युग-युगान्तर से प्रख्यात कथा के आख्यानों का विभिन्न दृष्टिकोणों और उद्देश्यों से ग्रहण व प्रत्यंकन किया गया है। 'जयभारत' में महाभारत की कथा के एक बृहद् अंश—कुरुकुल की आद्योपान्त गाथा को काव्य-विषय बनाया गया है। और 'रश्मिरथी'—महायुद्ध कुरुक्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका के निर्वाहक पात्र महारथी कर्ण की यशोगाथा है। 'आर्यावर्त' की कथा यद्यपि पृथ्वीराज के अन्तिम युद्ध और पराजय की कथा है किन्तु कथा प्रत्यक्ष रूप से न कहकर चन्द कवि को सूत्र-धार बना, उनके मुख से कहलाई गई है। चन्द कवि कथा में वह केन्द्र है जिसके द्वारा कथा के विभिन्न सूत्रों का नियमन व संचालन होता है। इस प्रकार 'आर्यावर्त' की कथा यद्यपि चन्द से प्रत्यक्ष रूपमें सम्बद्ध दिखाई देती है किन्तु वह पृथ्वीराज के निकट सखा व सामन्त के मुख से उनकी ही कथा है। कथा के इस रूप में नियोजन में कवि के सामने कोई विशेष अवरोध या वैधानिक बाधा इसलिए उपस्थित नहीं हुई, क्योंकि चंद के कवि-रूप के अतिरिक्त उनकी कथा पृथ्वीराज की ही जीवन-कथा है। उनके जीवन में घटने वाली समस्त महत्त्वपूर्ण घटनाओं के कारण पृथ्वीराज के साथ घटित होने वाली घटनाओं में विद्यमान हैं।

यदि स्थूल रूप से देखा जाय तो ये सभी प्रबन्ध आख्यान-काव्य हैं, किन्तु सहज प्रश्न है

कि इन लेखकों का उद्देश्य क्या केवल चिर-प्रचलित कथाओं को दोहराना मात्र था ? उत्तर होगा—'नहीं'। केवल कथा कहना, सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना करना या लोक-आदर्श का निर्देश करना इनका लक्ष्य नहीं। इससे भिन्न किसी व्यक्ति की मर्म-व्यथा की अभिव्यक्ति, किसी समस्या पर विचार या 'अपने विचारों को···कहानी को बहाना बनाकर' रखने का प्रयत्न किया गया है। अतः परवर्ती युग में जिस अमूर्त-व्यंजना, व्यक्तिप्रधान भावाभिव्यक्ति, विचार और चिन्तन का बोलबाला महाकाव्यों में रहा उसका बीजारोपण इन्हीं रचनाओं में हो चुका था। इन काव्यों में दिखाई देने वाला क्रिया-कलाप, घटना-चक्र और विविध आधिकारिक और प्रासंगिक कथा-सूत्र उपलक्ष्य मात्र हैं। उनके बीच कवि का मूल उद्देश्य कथा के माध्यम से किसी भिन्न लक्ष्य की सिद्धि है। 'साकेत' और 'ऊर्म्मिला' के कवियों ने राम-कथा में सर्वाधिक त्याग-मयी सर्वंसहा किन्तु उपेक्षिता पात्री उर्मिला की विरह-व्यथा और त्याग की करुण कथा को सजीव रूप दिया है। 'साकेत' के कवि से ही प्रेरणा प्राप्त कर 'साकेत-संत' के कवि ने इस आख्यान के दूसरे त्यागी युगल पर दृष्टि-निक्षेप किया। उन्होंने भरत और माण्डवी के उत्सर्ग का महत्त्व सर्वाधिक माना। सरोवर सामने होने पर भी जल-ग्रहण नहीं करने वाले उस पिपासु का आत्म-संयम उस व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक है, जो पिपासा-शान्ति के प्रसाधन के अलभ्य होने के कारण आत्मतोष कर लेता है। इस प्रकार राम-कथा की पटभूमि में इस प्रेमी-युगल का चरित्र-विकास, त्याग और विराग का आलेख 'साकेत-संत' के कवि का उद्देश्य है। 'आर्यावर्त' के कवि के शब्दों में, "अपने विचारों को मैंने पृथ्वीराज की कहानी को बहाना बनाकर 'आर्यावर्त' के रूप में आपके सामने रखने का ही प्रयत्न किया है।·····

"यदि ज्वलन्त भारतीय आदर्श की तनिक-सी झलक भी 'आर्यावर्त' दे सका तो इसमें सन्देह नहीं कि मेरा कवि-जीवन धन्य हो गया।"[1]

स्पष्ट है कवि का उद्देश्य कहानी कहना नहीं, कहानी के बहाने ज्वलन्त भारतीय आदर्श को सामने रखना है। 'रश्मिरथी' के कवि के सामने भी वर्तमान समाज के अनेक ज्वलन्त प्रश्न —जाति-वर्ण-विभेद की समस्या, कर्म का महत्त्व आदि प्रस्तुत हैं। नवीनता यही है कि दिनकरजी का उद्देश्य न केवल कथा कहना है, न हृदय की रमणीय काव्यमय अनुभूति को प्रेषित करना, वस्तुतः वे कथा के माध्यम से एक वर्तमान समस्या का सम्बन्ध प्राचीन संस्कृति के सूत्रों से स्थापित कर तद्विषयक मान्यताएँ हमारे सम्मुख रखना चाहते हैं। 'कुरुक्षेत्र' का चिन्तनशील कवि इस काव्य के समग्र में तो नहीं, किन्तु जहाँ-तहाँ बौद्धिक स्तर से कविता करता है। आज के बुद्धि-प्रधान व्यावसायिक युग का कलाकार अनेकानेक ज्वलंत समस्याओं की उपेक्षा नहीं कर पाता। जहाँ इन समस्याओं का रूप व्यक्तिगत होता है वहाँ प्रगीत के माध्यम से, और जहाँ समस्या समष्टिगत अथवा सामाजिक होती है वहाँ प्रायः चिन्तन-मनन के द्वारा वह काव्य में अभिव्यक्त होती है। प्राचीन आख्यानों (ऐतिहासिक एवं अन्य) का ग्रहण इसलिए किया गया है कि भारतीय हृदय अभी अपनी परम्परा और संस्कृति के प्रति श्रद्धालु एवं आस्थावान है,

---

१. आर्यावर्त—पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'। पुनश्च। चतुर्थ संस्करण···१९५०

प्राचीन के कलेवर में आधुनिक की अभिव्यक्ति, परम्परा-विद्रोह अथवा आमूल उच्छेद कर नवीन की स्थापना की अपेक्षा यहाँ के पाठकों को अधिक ग्राह्य है। प्रबन्ध के लिए कल्पित वृत्त की अपेक्षा प्रख्यात व ऐतिहासिक वृत्त अधिक सुगम और उपयुक्त प्रतीत होते हैं, अतः अनेक पात्रों की व्यक्तिगत भावनाओं की अभिव्यक्ति और अनेक सामाजिक समस्याओं का निरूपण इन प्रबन्धों की कथा में—जो मूलतः प्रख्यात आख्यानों से सम्बद्ध हैं, स्थान-स्थान पर हुआ है। बाह्य कथा इनमें उतनी प्रधान नहीं जितनी उसमें अनुस्यूत भाव-व्यंजना अथवा विचार-सूत्र।

'जयभारत' इस वर्ग का वह अकेला प्रबन्ध है जिसमें महाभारत की कथा में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किया गया। मूल कथा से सम्बन्धित सभी छोटे-बड़े प्रसंगों को कुछ संक्षेप में अनेक सर्गों में विभाजन कर इस बृहदाकार ग्रंथ में विषय बनाया गया है। कुरुकुल की आद्योपान्त गाथा कहना ही कवि का उद्देश्य प्रतीत होता है। यदि ऐसा नहीं होता तो अनेक ऐसे उपेक्षणीय प्रसंग जिनका न कथा के विकास की दृष्टि से विशेष महत्व है, और न प्रबन्ध-संघटना के लिए, काव्य के कलेवर में समाहित करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। कुरुकुल के उद्भव से अन्त तक की कथा कुछ संक्षेप में, 'जयभारत' का कवि हिन्दी के पाठक के लिए अध्ययनार्थ प्राप्य बनाना चाहता है, इसके अतिरिक्त कोई उद्देश्य स्पष्ट नहीं होता। 'जयभारत' का सम्पूर्ण वृत्त प्रख्यात है। प्राचीन भारत में घटित होने वाले एक महत्त्वपूर्ण अध्याय से इस कथा का सम्बन्ध है और लेखक ने कथा को बिना किसी उल्लेखनीय व महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के, दूसरे शब्दों में कथा का आधुनीकरण किए बिना आख्यान काव्य के रूप में ही प्रस्तुत किया है। अपनी अन्य रचनाओं की भाँति कवि का प्रयास न विशेष अमूर्त-व्यंजना का है, और न युग-प्रवृत्ति के अनुकूल किसी प्रकार की बौद्धिकता व चिन्तन-मनन से कवि का अन्तर्मन आक्रान्त है। उन्होंने कथा कहने के लिए ही 'जयभारत' काव्य की रचना की है, कम से कम कथा इस काव्य में प्रधान अवश्य है।

संघटना—कथानक का सुचिन्तित संघटन प्रबन्ध काव्य का प्राण-तत्त्व है। प्रबन्ध-शृंखला में नाटकीयता के अभाव, अथवा विशृंखल कथा-सूत्रों से अधिक घातक तत्त्व प्रबन्ध-योजना में अन्य नहीं हो सकता। इसी प्रबन्ध-गुण की रक्षा के लिए भारतीय आचार्यों ने पंचसंधियों, अरस्तू ने कथा में सुनिश्चित आदि, मध्य, अवसान और पाश्चात्य नाट्य-शिल्प में पाँच अवस्थाओं की अवस्थिति अनिवार्य मानी है। यह नाटकीयता का गुण तथा सुसम्बद्ध प्रबन्ध-योजना इन सभी काव्यों में मात्रा-भेद से वर्तमान है। कुछ कृतियों में यथा 'साकेत', 'रश्मिरथी' और 'आर्यावर्त'—यह विधान अधिक सुनिश्चित है तथा शेष में अपेक्षाकृत शिथिल, किन्तु किसी प्रबन्ध में इस गुण का एकमात्र अभाव अथवा आपत्तियोग्य उपेक्षा हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सम्यक् विवेचन से उक्त स्थापना के स्पष्टीकरण का प्रयत्न करेंगे।

'साकेत' की मुख्य कथा चिराचरित राम-कथा न होकर उर्मिला और लक्ष्मण के संयोग-वियोग की कथा है, जिसमें वियोग ही अधिक प्रधान है। आरंभिक अंश का संयोग-वर्णन भावी वियोग की पृष्ठभूमि तत्पर करता है और अन्त का संयोग-वर्णन विरहजन्य दुःख के रंग को और गाढ़ा कर हृदय पर मर्मस्पर्शी प्रभाव अंकित करता है। कथा का तारतम्य बनाए रखने के लिए भी इन अंशों का महत्त्व है। इस आधिकारिक कथा के साथ राम और सीता की कथा पताका के रूप में तथा अनेक अन्य कथाएँ प्रासंगिक अथवा प्रकरी आदि के रूप में गुथीं हैं। कहीं-कहीं

राम से सम्बद्ध प्रसंगों में कवि की 'श्रद्धा और पात्रों को न छोड़ सकी' फलतः ये प्रसंग पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हो गए हैं, किन्तु प्रायः उन्होंने उन्हीं प्रसंगों का उपयोग किया है जिनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में मूल कथा के विकास से, अथवा किसी प्रधान चरित्र के चरित्रांकन से है। दशरथ-मरण, भरत-आगमन और चित्रकूट-प्रसंग ऐसे प्रसंग हैं जिनको अपेक्षा से अधिक स्थान दिया गया है। ये प्रसंग काव्य की मुख्य कथा से सम्बद्ध हैं, किन्तु काफी दूर से। ऐसी स्थिति में कवि के सामने दो मार्ग थे। पहला—इन प्रसंगों को भी काव्य की अनेक अन्य घटनाओं का भाँति सूच्य बनाया जाता। दूसरा—इन प्रसंगों का वर्णन इतने मनोयोग से न करके संक्षेप में इन्हें चलता कर दिया जाता। कवि की अपनी भावना इन स्थलों पर बाधक हुई है। इसी कारण उनके द्वारा होने वाली असावधानी को लक्ष्य करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा—

"वह यहाँ रस के प्रवाह में ठीक उसी प्रकार बह गया है जिस प्रकार प्रेमचन्दजी रंगभूमि के कुछ प्रासंगिक स्थलों में। इनका महत्त्व कुछ स्वतन्त्र-सा हो जाने से कथावस्तु के संगठन में व्यवधान पड़ता है। कवि को स्वयं भी इसका अनुभव हुआ है। 'साकेत' नाम ही इसका प्रमाण है।"[1]

दशरथ-मरण और चित्रकूट-प्रसंग के विस्तृत वर्णन का औचित्य कुछ अंश तक स्वीकार किया जा सकता है। दशरथ-मरण राम-कथा का एक अत्यन्त मार्मिक और कारुणिक प्रसंग है। प्रबन्ध की दृष्टि से इस घटना की महत्ता असंदिग्ध है। इसके अतिरिक्त काव्य की मूल भावना उर्मिला के जीवन की करुणा का अंकन है, जिसे इस प्रसंग ने और अधिक कारुणिक बना दिया है। इस प्रकार कथा-तारतम्य की रक्षा के लिए इस घटना का विशेष महत्त्व है। राम-लक्ष्मण के वनप्रयाण-प्रसंग तथा तद्जनित प्रभाव का वर्णन मुख्य कथा के लिए नितान्त अनिवार्य था। दशरथ-मरण की घटना इसी मुख्य कार्य की अनुवर्तिनी है—अतः चित्रकूट-मिलन तक ले जाने के लिए कथा के इस प्रसंग का त्याग क्रमिक विकास में बाधक होता और अप्रत्यक्ष-सूचना इसकी मार्मिकता नष्ट कर देती। यदि कवि इस प्रसंग को संक्षेप में प्रस्तुत करता तो कदाचित् वह पाठक के इस उपालम्भ का पात्र बनता कि मार्मिक स्थलों के अंकन-ग्रहण की सामर्थ्य उसमें नहीं है। चित्रकूट-प्रसंग का महत्त्व स्वतः सिद्ध है। दीर्घ विछोह से पूर्व एक बार लक्ष्मण और उर्मिला का मिलन इस प्रसंग में कवि का लक्ष्य है। साकेत-वासियों के आगमन से पूर्व कवि ने राम-सीता को लेकर अवश्य अनपेक्षित विस्तार किया है, जो मूल कथा या प्रबन्धत्व की दृष्टि से किसी प्रकार भी उपकारी नहीं माना जा सकता। भरत-आगमन का प्रसंग निश्चय ही कवि की सहानुभूति आवश्यकता से अधिक पा गया है। उर्मिला के साथ ही लगे हाथों कैकेयी के उद्धार की कामना ही कदाचित् इस विस्तार का कारण है। किन्तु जो भी हो, आधिकारिक कथा को आगे बढ़ाने, अथवा फल की ओर अग्रसर करने में, या प्रबन्धत्व की रक्षा के निमित्त भी इस प्रसंग की विशेष उपादेयता स्वीकार नहीं की जा सकती।

उपर्युक्त स्थलों के अतिरिक्त 'साकेत' का वस्तु-विन्यास सुगठित है। उपलब्ध राम-कथा की घटनाओं के क्रम में कवि ने फेरफार किया है, परन्तु पूर्वक्रम में इस परिवर्तन से न कथा के प्रवाह में बाधा पहुँची है, न घटनाओं में प्राणवत्ता का अभाव होने पाया है। यद्यपि 'साकेत'

१. साकेत एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र, सप्तम संस्करण, पृष्ठ १३

के कवि ने भी घटनाओं का स्मृति के रूप में या किसी पात्र के मुख से वर्णन कराया है किन्तु इन घटनाओं में उस प्रकार एकरसता या शैथिल्य नहीं उत्पन्न होता जिस प्रकार 'प्रियप्रवास' में। इस सफलता का निश्चित कारण है। 'साकेत' में पूर्वघटित महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन करने वाले पात्र बहुत कुछ सूत्रधार की सी भूमिका का निर्वाह करते हुए प्रसंगों के सूत्र जोड़कर एक ओर हो जाते हैं, और फिर कवि उन घटनाओं का प्रत्यक्ष वर्णन करता है। इन विविध घटनाओं में वे कहीं-कहीं प्रबन्ध-शृंखला बनाए रखने के लिए व्याख्या-स्वरूप कुछ पंक्तियों की रचना करते हैं, रो-धोकर समाख्यान मात्र नहीं। परिणामतः उनमें वही जीवन्तता और गति है जो घटनाओं की प्रत्यक्ष प्रस्तुति में होती है।

वस्तु-विन्यास की दृष्टि से 'साकेत' की घटनाओं का क्रमिक विकास नाटकीय ढंग से हुआ है। वस्तु-संघटना के लिए निर्दिष्ट भारतीय नाट्य-शास्त्र की पंचसन्धियों और उन्हीं के समानान्तर पाश्चात्य नाटकों की पाँच विकास-स्थितियों का निर्वाह स्पष्ट रूप से 'साकेत' में देखा जा सकता है। प्रथम सर्ग के लक्ष्मण-उर्मिला संवाद के बीच चित्र-रचना के प्रसंग से मुख सन्धि का आरम्भ होता है। इसी स्थल पर—

रंग फैला लेखनी आगे झुकी।
एक पीत तरंग-रेखा-सी बही,
और वह अभिषेक-घट पर जा रही।

पंक्तियों में आगामी विछोह और संघर्ष-रूपी कार्य का आभास होता है। इसके उपरान्त राम के वन-गमन से शूर्पणखा-प्रसंग तक प्रतिमुख सन्धि चलती है। इस अंश में कथा चरम फल अर्थात् उर्मिला-लक्ष्मण-मिलन की ओर अग्रसर होती है। शूर्पणखा-प्रसंग से लक्ष्मण की मूर्छा भंग होने तक गर्भ सन्धि समझनी चाहिए। इस अंश में शूर्पणखा के प्रसंग के उपरान्त अनेक बार बाधाओं का उन्मेष और परिशमन वर्णित है। राम और सीता की कथा पताका रूप में प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था से संयुक्त है। इस समस्त कथांश में फल अनिश्चित है। लक्ष्मण की मूर्छा से ही विमर्श का आरम्भ मानना चाहिए, क्योंकि इस प्रसंग में नई बाधा की उपस्थिति है। मेघ-नाद-वध के उपरान्त का अंश निर्वहण-सन्धि के अन्तर्गत आएगा। इसमें राम-विजय के साथ काव्य के फल तथा अन्तिम कार्य अर्थात् उर्मिला-लक्ष्मण मिलन की सिद्धि है।

पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र में मानी गई नाटक की पाँच अवस्थाओं का भी 'साकेत' में स्पष्ट निर्वाह किया गया है। कथारम्भ से कैकेयी के वर-याचना तक की कथा आगामी संघर्ष की पृष्ठभूमि या व्याख्या है। कैकेयी द्वारा वर-याचना की घटना काव्य की प्रारम्भिक संघर्षमय घटना है। इसके उपरान्त कार्य अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाओं सहित चरम घटना—लक्ष्मण-मूर्छा की ओर बढ़ता है। यह अंश संघर्ष की क्रमशः घनत्व प्राप्ति का अंश है, जो लक्ष्मण-मूर्छा की घटना में चरम स्थिति को प्राप्त होता है। अतः यह कार्य-व्यापार की तीसरी अवस्था—कार्य-प्रगति है जिसकी परिणति काव्य की चरम घटना लक्ष्मण-मूर्छा के रूप में होती है। मूर्छा-भंग से कथा का झुकाव कार्य की ओर होने लगता है और इस निगति के उपरान्त उर्मिला-लक्ष्मण के मिलन रूपी अन्तिम कार्य की सिद्धि होती है। इस प्रकार किसी भी दृष्टि से देखें 'साकेत' की कथा में नाटकीयता का पूर्ण सद्भाव है। केवल कुछ विशेष प्रसंगों को कवि ने अनपेक्षित विस्तार

दिया है। इस प्रकार के प्रसंगों में—भरत-आगमन, चित्रकूट में राम और सीता की वार्ता और उर्मिला का विरह-वर्णन (नवम सर्ग) प्रमुख हैं। उर्मिला-विरह काव्य की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। काव्य-रचना के उद्देश्य और विरह-वर्णन की मार्मिकता की दृष्टि से इस प्रसंग का स्वतन्त्र और निजी महत्त्व है, किन्तु प्रबन्ध-संघटना की दृष्टि से यह प्रसंग स्वतन्त्र तो नहीं (उर्मिला काव्य की नायिका है और उसके मनोगत भावों का अंकन अप्रासंगिक व असम्बद्ध नहीं हो सकता), पर अपेक्षा से अधिक विस्तृत हो गया है। कवि के पक्ष में तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि उपेक्षिता उर्मिला का उद्धार, उसके मूक त्याग की व्यंजना ही काव्य का प्रतिपाद्य है, अतः ऐसी स्थिति में उक्त प्रसंग की अनिवार्यता और उपादेयता स्वयं सिद्ध है। किन्तु यह कारण किसी ग्रन्थ के वस्तुशिल्प में प्रबन्ध-शैथिल्य की व्याख्या करने के लिए पर्याप्त नहीं। काव्य का प्रतिपाद्य एक बात है, और उसके रूप-विधान में महाकाव्योचित विषय, शिल्प और कला का होना दूसरी बात। दोनों एक-दूसरे के पूरक नहीं हो सकते। 'साकेत' में प्रबन्ध-गुण की दृष्टि से जो आंशिक शिथिलता उत्पन्न हुई है वह उर्मिला के ही प्रसंग को लेकर है, और कवि, काव्य को महाकाव्य बनाने में सफल हो सका है—उसका कारण राम-कथा के प्रति श्रद्धा और उसे अपनाने का आग्रह ही है। महाकाव्य का उपयुक्त विषय केवल कोमल और मधुर, करुण और मसृण नहीं हो सकते, उसके कलेवर में जीवन के विराट् और भव्य पक्ष का होना अनिवार्य है। कवि के मन में ग्रहण और त्याग की इसी द्विधा ने प्रबन्ध-निर्वाह को किंचित् बाधित किया है। उसका हृदय उर्मिला और राम के बीच निश्चय नहीं कर पाता, किन्तु इस नगण्य-सी त्रुटि को लक्ष्य करके 'साकेत' के प्रबन्धत्व पर कोई महत्त्वपूर्ण दोषारोपण नहीं किया जा सकता, और न ही उसे महाकाव्य के गौरव से वंचित किया जा सकता है।

'साकेत' के उपरान्त इस वर्ग की दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना 'आर्यावर्त' है। जैसा पहले भी कहा जा चुका है, इन अधिकांश रचनाओं के वस्तु-विन्यास तथा प्रबन्ध-निर्वाह की दृष्टि से इनके कवि सफल रहे हैं। इनके कथानक शास्त्रीय लक्षणबद्ध प्रबन्धों की अपेक्षा कहीं अधिक सुगठित और प्रबन्ध-योजना सुचिन्तित है। 'आर्यावर्त' की चिर-प्रचलित कथा में कवि ने यथा-सम्भव अविद्यमान की कल्पना और विद्यमान में संशोधन किया है, किन्तु घटनाओं का क्रम-विकास सुचारु रूप से हुआ है। 'आर्यावर्त' का कार्य या अन्तिम फल ग़ोरी-वध है। प्रथम सर्ग में नायक चंद द्वारा पृथ्वीराज के अनुसन्धान के प्रयत्न से ही कार्य-व्यापार का आरम्भ स्वीकार किया जा सकता है। आरम्भ में ही पृथ्वीराज के बन्दी होने और आँखें फोड़े जाने के कारण बाधा उपस्थित होती है, किन्तु प्रयत्न जारी रहता है। चौथे सर्ग में जयचन्द के संकल्प से "धोऊँगा कलंक रक्त देकर शरीर का" प्राप्त्याशा का आरम्भ हो जाता है, जो भारत की संयुक्त सेना से ग़ोरी के पराजित होने पर नियताप्ति अर्थात् फल-प्राप्ति के निश्चय में बदल जाता है और अन्त में पृथ्वीराज के हाथों ग़ोरी-वध रूपी फल की प्राप्ति होती है।

पाश्चात्य नाटकों में निर्दिष्ट पंचअवस्थाओं का भी 'आर्यावर्त' में निर्वाह किया गया है। पृथ्वीराज की आँखें निकलवाना काव्य की प्रथम संघर्षमय घटना है और उससे पूर्व का अंश व्याख्या।[1] इसके बाद कार्य ग़ोरी और आर्यों के संघर्ष के रूप में चरम घटना की ओर बढ़ता है।

१. exposition

ग़ोरी और संयोगिता के संचालन में सेनाओं का परस्पर युद्ध नाटक की चरम घटना[1] है। इस चरम घटना से पहले का समस्त कार्य-व्यापार संघर्ष को चरम की ओर उन्मुख करता है और ग़ोरी की पराजय से संघर्ष में एक पक्ष के विजयी होने से झुकाव[2] आ जाता है, और अन्त में ग़ोरी-वध रूप में अन्तिम कार्य[3] सम्पन्न होता है।

'आर्यावर्त' का प्रबन्ध-विधान पाश्चात्य योजना के अधिक समीप है। कवि ने कथा में अनेकानेक प्रासंगिक कथाओं और उपाख्यानों की योजना नहीं की। यद्यपि पाश्चात्य मनीषियों ने भी महाकाव्य के कथानक में अनेक उपाख्यानों की योजना काम्य मानी है, किन्तु उन्होंने भारतीय नाटच-शास्त्र की भाँति पताका, प्रकरी का विधान करके उनका स्वरूप निश्चित नहीं किया। 'आर्यावर्त' के कथानक में गति है। वह उद्दाम वेग से चरम घटना की ओर उन्मुख होता है, और तदुपरान्त चरम घटना की अनुगामिनी अन्य घटनाएँ कार्य-व्यापार को अन्तिम कार्य की ओर ले जाती हैं, किन्तु आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं की जो संश्लिष्ट योजना महाकाव्य के लिए अभीष्ट है, वह इस काव्य में नहीं मिलती। प्रासंगिक कथा के नाम पर केवल जयचन्द के प्रसंग का उल्लेख किया जा सकता है, अन्यथा 'आर्यावर्त' की कथा उतार-चढ़ाव से युक्त एक एकाकी रेखा के रूप में आगे बढ़ती है। उसमें न बहुत अधिक मोड़ हैं, और न प्रासंगिक कथाओं के संश्लेष से कहीं विशेष जटिलता व चमत्कार उत्पन्न हुआ है। स्पष्टता की दृष्टि से वह प्रबन्ध-योजना का गुण स्वीकार किया जा सकता है और कथानक की समृद्धि व विशदता की दृष्टि से दोष। किन्तु काव्य की मूल कथा में जो प्रवाह, जीवन्तता व समृद्धि है, उसने इस अभाव को बहुत कुछ भर दिया है।

'साकेत-संत' के कवि पर 'साकेत' का प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगत होता है। जिस प्रकार 'साकेत' का फल या कार्य लक्ष्मण-उर्मिला मिलन था, उसी प्रकार 'साकेत-सन्त' का अन्त भरत-माण्डवी के मिलन से होता है, किन्तु गुप्तजी जिस कौशल से अपने लक्ष्य की सिद्धि कर ले गये थे, 'साकेत-संत' का कवि उतनी ही दूर तक सफल नहीं हो पाया। इस असफलता का एक निश्चित कारण है। गुप्तजी के काव्य की नायिका उर्मिला थी, अतः नारी होने के नाते उसके जीवन की मूलभूत अनुभूति—विरह की व्यंजना, वे अत्यन्त मार्मिक रूप में कर सके। इसके अतिरिक्त राम-कथा में घटित होने वाली समस्त महत्त्वपूर्ण घटनाओं में लक्ष्मण किसी अंश तक समभागी रहे हैं। उनकी जीवन-कथा में राम के ही जीवन की कथा का अंश होने के नाते—न कार्य-व्यापार की कमी है न महाकाव्योचित गरिमा से युक्त घटनाओं का अभाव। 'साकेत' की नायिका की विरह-व्यंजना, और उसी के चरित्र-विकास से सम्बद्ध नायक के जीवन में घटित होने वाली घट-नाओं ने सम्पूर्ण कथानक को एक सुगठित रूप प्रदान किया है। इसके विपरीत 'साकेत-संत' के नायक भरत के त्याग और शालीनता आदि चारित्रिक गुणों का विशिष्ट महत्त्व होने पर भी, उनके बाह्य जीवन में ऐसी घटनाओं का अभाव है जो महाकाव्य के लिए उचित कथा-सामग्री

१. crisis
२. denoument
३. catastrophe

प्रदान कर सकें। जो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ उनके जीवन में घटित हुई, उनका स्वरूप भी अन्तरतम में गहन गम्भीरता समाए ऊपर से सागर के समान प्रशान्त दिखाई पड़ने वाला है। भरत का महत्त्व उनके त्याग, सहिष्णुता और धैर्य में ही है, बाह्य संघर्ष और द्वन्द्व का उनके जीवन में एकान्त अभाव है। विरह की विशेष व्यंजना - पुरुष और वह भी मर्यादा-पुरुषोत्तम के अनुज के नाते उनके चरित्र में सम्भव न थी। इसके अतिरिक्त राम और भरत का कार्य-क्षेत्र भिन्न होने के कारण, राम-कथा के विराट और भव्य पक्ष का संश्लेष भरत-कथा के साथ करना अप्रासंगिक होता। इन विविध कारणों के फलस्वरूप काव्य का वस्तु-विन्यास बाधित है।

'साकेत' के नायक-नायिका की भाँति आरम्भ में भरत-माण्डवी के संवाद से कार्य का आरम्भ होता है और वहीं इस बात का आभास होता है कि कार्य के फल का सम्बन्ध भरत-माण्डवी के मिलन से होगा, किन्तु दूसरे ही सर्ग में कथा राम की ओर उन्मुख हो जाती है और क्रमशः अनेक सर्गों मे भरत के जीवन के वे मार्मिक प्रसग जिनमें कही-कही उनके अन्तर्द्वन्द्व और मनोवृत्तियों का भी सुन्दर चित्रण है—जिनसे उनके चरित्र की शालीनता, उदारता, त्याग आदि सद्गुणों पर प्रकाश पड़ता है—वर्णित हैं।

कथा में जितने प्रसंग हैं सब का सीधा सम्बन्ध भरत से है। कवि ने कहीं मूल कथा से असम्बद्ध प्रसंगों का समावेश नहीं किया और जहाँ ऐसे प्रसंग आए हैं वहाँ वे चलते कर दिये गए हैं, उदाहरण के लिए हनुमान के मुख से समस्त लंका-काण्ड एक ही पृष्ठ में समाप्त करा दिया है। किन्तु इस रचना में वस्तु-विन्यास-सम्बन्धी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण त्रुटि अक्षम्य है और वह है काव्य के आरम्भ, मध्य और अन्तिम फल में परस्पर तर्कसम्मत सम्बन्ध अर्थात् पूर्वापर अन्विति-क्रम का अभाव। सम्पूर्ण मध्यवर्ती कथा में बारम्बार यह भ्रम होने लगता है कि कथा का अन्तिम कार्य राम-भरत-मिलन है। कथा की चरम घटना चित्रकूट-मिलन भी इसी ओर संकेत करती है। 'साकेत' का कवि इस प्रसंग में उर्मिला और लक्ष्मण का मिलन कराना नहीं भूला है, इसके अतिरिक्त चित्रकूट में लक्ष्मण के विद्यमान होने, साकेतवासियों के साथ उर्मिला के वहाँ जाने और उनके परस्पर मिलन के कारण मूल कथा से इस प्रसंग का विशेष सम्बन्ध स्थापित हो गया है। 'साकेत-संत' में माण्डवी पाठक के सम्मुख बहुत कम आती है। भरत के व्यवहार से भी कहीं आभास नहीं होता कि वे माण्डवी से मिलने के लिए प्रयत्नशील हैं। यदि काव्य का अंत राम-भरत मिलन से होता तो बात समझ में आ जाती, परन्तु अन्त में कवि भरत-माण्डवी का मिलन कराके चूक गया है। समस्त कथा का कार्य से सहज सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका और प्रबन्ध की दृष्टि से काव्य के रचना-विधान में दोष आ गया। इसके अतिरिक्त कवि का प्रयत्न चरित-काव्य की रचना करना-सा प्रतीत होता है। काव्य की घटनाएँ पृष्ठभूमि तत्पर करती हैं और इस पृष्ठ-भूमि में भरत की चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट करना, उनके और माण्डवी के त्याग का महत्त्व प्रतिपादित करना ही कवि का लक्ष्य है, कथा कहना नहीं।

'रश्मिरथी' में कवि का लक्ष्य प्रबन्ध-निर्वाह या घटनाओं का परस्पर संघटन व क्रमिक विकास उतना नहीं, जितना युद्ध और अनेक अन्य सामाजिक समस्याओं पर विचार करना है। परिणामस्वरूप कवि ने आख्यान पर बल नहीं दिया। कथा में अनेक चमत्कार-प्रधान प्रसंगों व उपाख्यानों की संश्लिष्ट योजना नहीं की गई, और न ही कथा की घटनाओं में अनेक

मोड़ प्राप्त होते हैं। कवि ने महाभारत की कथा में महारथी कर्ण के जीवन के उन प्रसंगों को विशेषतः काव्य का विषय बनाया है जिनमें उन्हें अनेकानेक आधुनिक समस्याओं—जातिवर्ण-भेद, युद्ध के विभिन्न पहलू, जन्म की अपेक्षा कर्म की महत्ता आदि पर विचार व्यक्त करने का अवकाश मिला है। अन्धविश्वासों के प्रति उन्होंने शंका की और प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया। इस प्रवृत्ति ने एक ओर कथा की संश्लिष्टता और चामत्कारिक कार्य-संघटना को आघात पहुँचाया है, दूसरी ओर कथा का विकास अत्यन्त सहज, स्पष्ट और नाटकीय रूप में हुआ है। कथा-विकास में नाटकीयता निश्चित रूप से मिलती है, किन्तु इस नाटकीय सविधान पर पूर्वी नाट्य-पद्धति की अपेक्षा पाश्चात्य रचना-पद्धति का प्रभाव अधिक है। पताका और प्रकरियों की सचेष्ट योजना काव्य में नहीं की गई। कथा का नायक कर्ण है और समस्त वर्णित प्रसंग उसी के जीवन से सम्बद्ध प्रसंग है, किन्तु जिस प्रकार पाश्चात्य नाटकों में फल की अपेक्षा चरम घटना अधिक महत्त्वपूर्ण होती है, उसी प्रकार प्रस्तुत काव्य में फल की अपेक्षा मध्यवर्ती कथा पर लेखक ने विशेष बल दिया है। काव्य के चरम फल या कार्य का उपभोक्ता भी नायक कर्ण न होकर विपक्षी अर्जुन है।

कार्य का आरम्भ प्रथम सर्ग में ही अर्जुन की प्रतिद्वन्द्विता के लिए तत्पर होकर द्रोणाचार्य से अपमानित होने के प्रसंग में शत्रुता के बीजवपन के रूप में हो जाता है। इसके उपरान्त दोनों पक्षों में संघर्ष के प्रयत्न नाना रूपों में वृद्धि-विस्तार पाते हैं और यह समस्त क्रिया-व्यापार कथा को चरम की ओर उन्मुख करता है। भारतीय शब्दावली में यह समस्त अंश यत्न नामक कार्यावस्था के अन्तर्गत आएगा और पाश्चात्य शब्दावली में इसे कार्य-प्रगति कहा जा सकता है। कर्ण और कुन्ती की भेंट कथा की चरम घटना है। यहीं कर्ण के द्वारा कुन्ती के प्रस्ताव की अस्वीकृति को प्राप्त्याशा कहा जा सकता है। तदुपरान्त घटनाचक्र अन्तिम कार्य की ओर उन्मुख होने लगता है। युद्ध में निरन्तर कौरव-पक्ष की पराजय में कार्य की निगति लक्षित की जा सकती है। इसी पराजय-प्रसंग में कर्ण-द्वारा विवश होकर घटोत्कच पर एकमात्र अस्त्र एकघ्नी शक्ति का प्रयोग प्राप्त्याशा को नियताप्ति में बदल देता है, जिसकी अन्तिम परिणति कर्ण-वध रूपी 'कार्य' में होती है।

इस वस्तु-विन्यास में घटनाओं के समुचित नाटकीय-विकास के अतिरिक्त एक विशेषता द्रष्टव्य है। लेखक ने बड़ी सतर्कता से उन प्रसंगों को विस्तार से बचाया है, जिनमे कर्ण की कथा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं। यद्यपि उन्होंने अनेक अवान्तर प्रसंगों का ग्रहण कर संश्लिष्ट कथा-योजना नहीं की, किन्तु आधिकारिक या मुख्य कथा में भी अपेक्षित के विस्तार और अनपेक्षित के संकोच में उन्होंने विशेष सुरुचि और सतर्कता से काम लिया है। उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा। भीष्म के पतन और कृपाचार्य के सेनानायक पद पर अधिष्ठित होने की सूचना एक ही छन्द में दे दी गई है। इसी प्रकार अभिमन्यु-वध और जयद्रथ-वध के प्रसंग अत्यन्त संक्षेप में संकेत देकर चलते कर दिये हैं। इसी प्रकार द्रोणाचार्य के नायकत्व के विषय में लेखक का कथन है—

है कथा, द्रोण की छाया में
यों पाँच दिनों तक युद्ध चला।

क्या कहें, धर्म पर कौन रहा,
या उसके कौन विरुद्ध चला ?[1]

कर्ण के अधिनायकत्व में युद्ध का विस्तृत वर्णन है। इस प्रकार ग्रहण और त्याग में लेखक ने सतर्क विवेक का परिचय दिया है। कथा के विभिन्न अंश आदि, मध्य, अवसान, सुस्पष्ट व सुसम्बद्ध हैं। कथा में महाकाव्योचित जटिलता, संश्लिष्टता आदि नहीं, वह एक सीधी स्पष्ट रेखा की भाँति अपेक्षित उत्थान-पतन के साथ अन्त की ओर अग्रसर होती है। इसमें न विशेष मोड़-तोड़ या बाधाएँ आती हैं और न अन्य समानान्तर रेखाएँ उसमें मिलकर उसे घनत्व प्रदान करती हैं। मौलिक व अन्य विशेष चामत्कारिक अंशों का भी उसमें एकान्त अभाव है।

प्रबन्ध-योजना की दृष्टि से 'जयभारत' को क्या कहा जाय ? यह एक कठिन प्रश्न है। 'जयभारत' कौरव-कुल का आद्योपान्त इतिहास है। राजा नहुष से आरम्भ कर युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण तक की समस्त घटनाएँ इस विशाल काव्य का विषय है। छोटे-बड़े, महत्त्वपूर्ण और गौण सभी प्रसंगों का वर्णन कवि ने किया है। लेखक का लक्ष्य सुगठित प्रबन्ध की रचना करना नहीं, कौरव-कुल की गाथा को पद्यबद्ध करना प्रतीत होता है। जिस प्रकार महाभारत संस्कृत के पुराणों की समकक्षी रचना प्रतीत होती है उसी प्रकार उतने बृहद् रूप में तो नहीं, किन्तु 'जयभारत' भी खड़ीबोली का पुराण शैली में लिखा गया विस्तृत प्रबन्ध स्वीकार किया जा सकता है। घटना-शृंखला में गठन लाने तथा कथा में प्रबन्ध के प्रभाव को और घनत्व प्रदान करने के लिए कुछ घटनाओं को छोड़ देना अधिक सुरुचिपूर्ण होता। कौतूहल की सृष्टि, जिज्ञासा की उद्बुद्धि तथा चमत्कारपूर्ण रूप से घटनाओं का अन्विति प्रबन्ध-योजना में सम्भव नहीं हुई है। उनका विकास यद्यपि एक के बाद एक अत्यन्त सहज रूप में हुआ है, किन्तु प्रबन्ध-संघटना के लिए अनेक अनावश्यक प्रसंगों का समावेश कथा में किया गया है। ऐसे प्रसंग (वन मृगी-प्रसंग आदि) क्षेपक से प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त विस्तार-भय से अनेक घटनाएँ अत्यन्त संक्षेप में वर्णन करके छोड़ दी गई हैं। जयद्रथ द्वारा द्रौपदी-हरण का प्रयत्न, पांडवों द्वारा रक्षा, जयद्रथ को क्षमा-दान, जयद्रथ की तपस्या और शिव से वर-प्राप्ति—इन समस्त घटनाओं का वर्णन साढ़े चार पृष्ठों में हो गया है। कहीं ऐसी घटनाओं का अन्तर्भाव है जिनसे कथा-विकास और प्रबन्धत्व पर कोई उल्लेखनीय समर्थ प्रभाव न पड़कर केवल पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का स्पष्टीकरण ही हो सका है। दुर्वासा का आतिथ्य और यक्ष का प्रसंग ऐसा ही है। घटनाओं में परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध सर्वत्र दृष्टिगत नहीं होता। पाठक की जिज्ञासा सर्वथा शान्त रहती हो, या घटना-विकास में चमत्कार का एकमात्र अभाव हो, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु घटनाओं में न उतार-चढ़ाव है, और न विशेष सघन प्रसंग। अनेक छोटी-बड़ी घटनाएँ जिनका प्रबन्ध में नाटकीयता की अभिवृद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं अनायास आ गई हैं। प्रत्येक घटना का वर्णन स्वतन्त्र शीर्षक देकर पृथक् सर्ग या अध्याय में किया गया है। विभिन्न शीर्षकों में यह विभाजन—घटना-वर्णन, कथा-संघटना के नियम, कथानक-विधान की निश्चित योजना आदि के आधार पर नहीं स्वेच्छाचार से किया गया है। 'जयभारत' का अन्विति-सूत्र सुविन्यस्त, और प्रबन्ध में उचित संघटन हम इसलिए भी नहीं पाते कि उसकी रचना एक संश्लिष्ट, समग्र और

१. रश्मिरथी—दिनकर, पृष्ठ १२३

अखण्ड धारणा के परिणामस्वरूप नहीं हुई। कवि ने उसमें संग्रथित आख्यानों की रचना समय-समय पर पृथक् रूप से की है और 'महाभारत' के कथा-क्रम के अनुसार उनका संकलन कर दिया है। वह हमारे सामने बृहद् प्रबन्ध ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत है, अतः हम उसमें प्रबन्धत्व की आशा करते हैं, परन्तु उसके वर्तमान रूप के लिए खंड-खंड-रूप में रचना-प्रक्रिया उत्तरदायी है, इसलिए कवि का उत्तरदायित्व इस दिशा में कम हो गया है। 'जयभारत' के प्रबन्धत्व के विषय में विद्वानों ने प्रायः शंका प्रकट की है—

"महाकाव्य वस्तुतः एक समय की अथवा विशिष्ट मनःस्थिति की रचना होते हैं, पर 'जयभारत' की रचना-प्रक्रिया का सम्बन्ध कवि के समस्त रचना-काल से तथा कवि-जीवन की विविध मनःस्थितियों से है। आशय यह है कि 'जयभारत' न एक समय की ही रचना है, न विशिष्ट मनःस्थिति का ही निर्माण। इसी कारण उसमें कथा का संग्रथन है, पर प्रबन्ध का संघटन नहीं। सुविन्यस्त कथा-वस्तु की नियोजना 'जयभारत' में सम्भव नहीं हुई, क्योंकि उसे अखंड काव्य के रूप में नहीं रचा गया। आख्यान-खंडों को संग्रथित करके उसे सम्पूर्ण बनाया गया है।"[1]

"···किन्तु इसका प्रबन्ध-सूत्र अत्यन्त शिथिल है—वस्तुतः समग्र ग्रन्थ एक ही समय की कृति न होकर भिन्न-विभिन्न समयों पर की गई रचनाओं का संग्रह है। यद्यपि कवि ने उनमें कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन करके उन्हें ग्रथित करने का प्रयत्न अवश्य किया है तथापि खण्ड रूप में निर्मित काव्यों में अखण्डता लाना असम्भव है।"[2]

प्रबन्ध-गुण में गुंफन, घनत्व और कथानक में संश्लिष्टता की दृष्टि से कवि की यह योजना विशेष उपकारी सिद्ध नहीं हुई। कार्यव्यापार में गहनता और कार्य-विकास में कहीं-कहीं ये प्रसग शिथिलता ला देते हैं। काव्य-विषयों की भाँति काव्य-रूपों में भी प्रयोग-अनेकता की लालसा इस रचना की प्रेरणा के मूल में प्रतीत होती है।

प्रबन्ध-निर्वाह की दृष्टि से इस वर्ग की सब से अशक्त रचना 'ऊर्म्मिला' है। भूमिका में लेखक ने उल्लेख किया है कि इस ग्रन्थ की रचना अनेक वर्षों में बीच-बीच में अन्तराल के उपरान्त अंश-अंश कर की गई है। अनेक प्रयत्नों में और विविध अवसरों पर रचना करने का प्रभाव कृति पर पूर्ण रूप से पड़ा है। 'साकेत' की ही भाँति 'ऊर्म्मिला' के कवि का उद्देश्य भी नायिका की विरह-व्यंजना है। 'साकेत' के कवि की ही भाँति वह इस तथ्य से भी अवगत है कि केवल उर्मिला का विरह महाकाव्य का पर्याप्त विषय नहीं हो सकता, अतः उसने लक्षणबद्ध महाकाव्यों के से साज-सम्भार से काव्य-रचना आरम्भ की है। 'साकेत' के कवि की ही भाँति राम-कथा के वे अंश लेखक ने ग्रहण किए जिनका सम्बन्ध उर्मिला से प्रत्यक्ष रूप से है; किन्तु चयन, प्रस्तुति और प्रबन्ध-निर्वाह का ढंग दोनों कवियों का अपना-अपना है, और कहना न होगा कि इस दिशा में गुप्तजी ने जिस विवेक और कला-कौशल का परिचय दिया है, नवीनजी की कृति में उसकी छाया भी नहीं। उनका काव्य एकाग्र प्रयत्न का परिणाम नहीं है, यह वस्तु-

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य—डा० कमलाकान्त पाठक, पृष्ठ ३४५-३४६

२. मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता—डा० उमाकान्त गोयल, पृष्ठ ५१, प्रथम संस्करण १९५८

विन्यास की विशृंखलता से अत्यन्त स्पष्ट है। आरम्भिक अंश इतिवृत्तात्मक वर्णनों से युक्त है। तृतीय सर्ग तक कथा गिरती-पड़ती अपने आपको धकेलती-सी आगे बढ़ती है। आरम्भ के तीन सर्गों तक कवि नगर, हाट, दरबार, उर्मिला और सीता की बालक्रीड़ा आदि का वर्णन करता रहा है। उनकी चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट करने के उद्देश्य से दोनों के मुख से परीदेश की सी कहानियाँ, जिनसे छोटे से प्रसंग को व्यर्थ तूल दिया गया है, वर्णित हैं। इसके उपरान्त बीच की समस्त कथा को लांघकर कवि विवाहोपरान्त के कुछ पारिवारिक चित्र प्रस्तुत करने में प्रवृत्त हुआ है, और फिर तुरन्त राम-लक्ष्मण के वन-गमन का प्रसंग सामने आ जाता है। यहाँ से कथा की रही-सही प्रबन्ध-शृंखला भी खण्डित हो गई है। उर्मिला विशेष अधीर और मुखर रूप में चित्रित है, वह खुलकर वाचालता से वन-गमन का विरोध करती है। इस प्रसंग में लक्ष्मण के मुख से पचास पृष्ठों में कवि ने सृष्टि के उद्भव, वन-गमन के वास्तविक महत्तर उद्देश्य आदि विषयों पर विस्तृत वक्तृता प्रस्तुत की है। यह प्रसंग घटनाओं की अन्विति और प्रबन्ध के संघटित प्रभाव की दृष्टि से घातक है। इस प्रवृत्ति की इति यहीं नहीं होती। इसके उपरान्त चतुर्थ सर्ग में समस्त प्रकृति के उपकरणों और जगत् के कार्य-व्यापार में विरह और करुणा भाव की व्याप्ति का दर्शनाभास वर्णन 'विरह-मीमांसा' शीर्षक में पचास से अधिक पृष्ठों में किया गया है, और फिर नायिका उर्मिला के विरह पर परम्परागत छन्द (दोहा), परम्परागत भाषा (ब्रज), और छन्द तथा भाषा से भी अधिक परम्पराभुक्त शैली में कवि ने सतसई से भी कुछ अधिक लिख डाला है। इस विरह-वर्णन का जिसका क्षेत्र-विस्तार ७०४ दोहों में हुआ है, प्रबन्ध की दृष्टि से कितना औचित्य है? कहना व्यर्थ है। यह अंश सर्वथा स्वतन्त्र है। सम्पूर्ण प्रसंग पढ़ते-पढ़ते अन्त तक पाठक शायद यह भी भूल जाता है कि यह विरह-गाथा किसी प्रबन्ध की सब से महत्त्वपूर्ण घटना है। एक ही मूल भाव की अनेक रूपों में विस्तारयुक्त व्यंजना मुक्तक और प्रगीत का अनुकूल विषय हो सकती है, प्रबन्ध का नहीं।

तदुपरान्त, उर्मिला को यहीं छोड़कर कवि लंकापुरी में विभीषण-अभिषेक के अवसर पर पहुँच गया है। वहाँ फिर नगर-सज्जा का वर्णन, सभा में राम के मुख से आत्मवादी और साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के वर्तमान संघर्ष पर विचार व ऐहिक और आत्मवादी जीवन-मूल्यों का बौद्धिक विश्लेषण कराया गया है। ऐसे चिन्तन-प्रधान प्रसंग कथा के मध्य अनुभूति का विषय बनकर ही ग्राह्य हो सकते हैं, अन्यथा वे प्रबन्ध के प्राण-रस का शोषण मात्र ही करते हैं, सरसता में अभिवृद्धि नहीं। काव्य के अंत में कार्य या फल का उल्लेख केवल दो छंदों में है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'ऊर्म्मिला' में कहीं महाकाव्य रचने का आग्रह है, कहीं उर्मिला की विरह-व्यंजना का उपक्रम, और कहीं आर्य-सभ्यता और आत्मिक मूल्यों की विस्तार-युक्त सिफारिश। अतः इन विभिन्न उद्देश्यों की ऊहापोह में कवि कुछ ऐसा फँस गया है कि वह जमकर तीनों में से एक का भी निर्वाह नहीं कर पाया। कहीं लक्षणबद्ध महाकाव्यों की भाँति उसमें वर्णनात्मकता और कथा-निर्वाह है, कहीं समस्याओं पर विचार-विश्लेषण के कारण काव्य का स्वर बहुत अंशों में बौद्धिक हो गया है, किन्तु एकान्त चिन्तनप्रधान नहीं, और कहीं विरहिणी की आत्माभिव्यंजना के कारण विषयीप्रधान कविता की सी तीव्र भावानुभूति, हृदय की

मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। कारण कुछ भी हो, परिणाम एक ही हुआ है—प्रबन्ध-शृंखला पूर्णतः विशृंखल हो गई है और प्रबन्ध-गुण का अभाव महाकाव्य के वस्तु-विन्यास के लिए कदापि क्षम्य नहीं हो सकता।

संक्षेप में इन प्रबन्धों को वस्तु-विन्यास की दृष्टि से तीन वर्गों में रखा जा सकता है—

(१) वे रचनाएँ जिनकी कथानक-संघटना सुचिन्तित और सुव्यवस्थित है। घटना-चक्र का विकास और संयोजन जिनमें अत्यन्त सुचारु रूप से हुआ है और पाश्चात्य और पौरस्त्य, दोनों रचना-विधियों का निर्वाह जिनके वस्तु-विन्यास में समर्थ रूप में किया गया है। इस प्रकार की एकमात्र रचना 'साकेत' है।

(२) दूसरा वर्ग उन प्रबन्धों का है जिनमें घटना-विकास में नाटकीयता है किन्तु उनके कथानक संश्लिष्ट और जटिल कथानक न होकर सरल और स्पष्ट हैं। उनके विकास में महाकाव्योचित प्रगति-निगति है किन्तु आधिकारिक कथा के साथ अनेकानेक अवान्तर या प्रासंगिक कथाओं की योजना नहीं। इनके वस्तु-विन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव अधिक है—'आर्यावर्त' और 'रश्मिरथी' इसी प्रकार के प्रबन्ध हैं। इन काव्यों का वस्तु-विन्यास एकार्थ काव्य के ढंग पर है।

(३) तीसरे वर्ग में वे प्रबन्ध आएँगे जिनमें प्रबन्धत्व एक या दूसरे कारण से बाधित है। कहीं यह शैथिल्य घटनाओं में परस्पर उचित सम्बन्ध-अभाव के कारण उत्पन्न हुआ है। कहीं इन घटनाओं के वर्णन-सम्बन्धी संकोच-विस्तार में उचित अनुपात नहीं है—यथा 'साकेत-संत' में। अन्यत्र घटना-बाहुल्य इस असमर्थता का कारण है—यथा 'जयभारत' में तथा 'ऊर्म्मिला' में इन सभी कारणों को यथास्थान खोजा जा सकता है।

घटनाओं का स्वरूप—ये सभी रचनाएँ अपने प्रतीयमान रूप में आख्यान काव्य हैं। अर्थात् कथा का स्वरूप ऐतिहासिक या सज्जनाश्रित होने के कारण वस्तु-जगत् की मूर्त घटनाओं की इनमें प्रधानता है। घटनाओं का रंगस्थल यद्यपि इन काव्यों में अधिकतर बाह्य-जगत् है फिर भी अवसर पड़ने पर यथास्थान कवियों ने घटनाओं के आन्तरिक स्वरूप का उद्घाटन भी किया है। प्रबन्ध काव्य अपने मूल रूप में समाख्यानात्मक काव्य-रूप है—अतः प्रबन्धों के परम्परागत शिल्प में प्रायः उन्हीं घटनाओं को महत्त्व दिया जाता रहा है जिनका बाह्य रूप सक्रिय हो। मानव-मन की सक्रियता को शब्दबद्ध करने का सचेष्ट प्रयत्न पूर्ववर्ती महाकाव्यों में और आधुनिक युग के रीतिबद्ध प्रबन्धों में अत्यल्प है। आत्म के प्रति यह उपेक्षा या अवमानना इन काव्यों में नहीं। एक ओर कवि ने बहिर्जगत् में घटनाओं का विस्तार किया है, दूसरी ओर वह अन्तर्मन की गहराई में पैठकर अमूर्त भावनाओं और चिन्तन को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। आत्माभिव्यंजन की इस प्रवृत्ति पर कुछ दूर तक तत्कालीन छायावादी काव्य का प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है। इस वर्ग की प्रथम और महत्त्वपूर्ण रचना 'साकेत' में ही यह प्रयत्न सर्वथा स्पष्ट है। प्रधान पात्री उर्मिला की मनोव्यथा को कवि ने सम्पूर्ण नवम सर्ग में अनेक शैलियों में व्यक्त किया है। वन में सीता का हार्दिक उल्लास भी गीत में मुखरित है। इसी प्रकार 'साकेत-संत' की घटनाएँ यद्यपि मर्त हैं किन्तु आन्तरिक भावव्यंजना को भी कम स्थान नहीं मिला। विभिन्न पात्रों—विशेष रूप से भरत के आन्तरिक भावोद्गारों की अत्यन्त सजीव

व मार्मिक अभिव्यक्ति कवि ने की है। अन्तिम सर्ग में बाह्य की अपेक्षा अन्तःप्रधान हो गया है। जो मूर्त वस्तु-तथ्य है उसे चलता कर दिया है—अमूर्त और भाव-सत्य का विशेष मनोयोग से उद्घाटन अनेक गीतों और प्रगीतों में किया गया है। 'ऊर्म्मिला' के कवि ने भी मूर्त और अमूर्त दोनों को, और तुलनात्मक दृष्टि से अमूर्त को काव्य में अधिक स्थान दिया है। मूर्त घटनाओं में कुछ का अत्यन्त इतिवृत्तात्मक शैली में वर्णन है और अधिकांश सूच्य हैं। जैसा पहले भी विवेचन किया जा चुका है, उन्होंने विरह-भाव मात्र के लिए सामान्य रूप से पूरे चतुर्थ सर्ग की, और नायिका के प्रसंग में सतसई की रचना कर दी है।

'आर्यावर्त' में वर्णित अधिकांश घटनाएँ वस्तु-रूप हैं। कहीं-कहीं व्यक्ति-चिन्तन और आर्य हिन्दू राष्ट्र की स्थापना या पृष्ठपोषण के प्रसंगों में काव्य का स्वर कुछ बौद्धिक हो गया है किन्तु ऐसे प्रसंग काव्य में बहुत कम हैं। अधिकांश घटनाओं का क्षेत्र बहिर्जगत् है। आन्तरिक भाव-व्यंजना तो बहुत कम है, केवल राष्ट्र-हित सम्बन्धी चिन्तन कहीं-कहीं विभिन्न पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। यह चिन्तन भी व्यष्टिगत न होकर समष्टिगत ही है।

'रश्मिरथी' के कवि ने मूर्त और अमूर्त को समान रूप से ग्रहण करने पर भी स्पष्ट रूप से अमूर्त को अधिक महत्त्व दिया है। कथा के विभिन्न सूत्र निमित्त हैं; उनके आवरण में अनेक सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं पर विचार करना लेखक का लक्ष्य है। आधुनिक समस्याओं के चिरन्तनत्व को प्रमाणित करना, प्राचीन अंधविश्वासों और परम्परागत मान्यताओं को प्रश्नकर्त्ता के रूप में ग्रहण करना उनका उद्देश्य है, और इस प्रयास में ग्रन्थ के अनेक स्थलों पर लेखक हृदय के स्थान पर मस्तिष्क के स्तर से बोलने लगता है। कथा का स्वरूप आख्यात्मक है, लेखक ने स्वयं भूमिका में इस ओर इंगित किया है, किन्तु आज की अनेकानेक सामाजिक, राजनैतिक समस्याओं पर विचार करता हुआ चिन्तनशील कलाकार इतना तर्क-प्रधान हो गया है कि वह केवल हृदय को रमाने वाली भावप्रवण कला ही नहीं, विचार के लिए सामग्री भी उपस्थित करता है।

'कुरुक्षेत्र' का कवि इस काव्य में भी जहाँ-तहाँ बौद्धिक स्तर से कविता करता है। कथा के सूत्र उपलक्ष्य हैं। नवीनता यही है कि कवि का उद्देश्य न केवल कथा कहना है, न हृदय की रमणीय, काव्यमय अनुभूति को प्रेषित करना। वस्तुतः वह काव्य के माध्यम से एक वर्तमान समस्या का सम्बन्ध प्राचीन संस्कृति के सूत्रों से स्थापित कर तद्विषयक मान्यताएँ हमारे सम्मुख रखना चाहता है। ऐसे स्थल कथा के सरस जलाशय में उन हिम-खण्डों के समान हैं जिनसे पाठक के हृदय रूपी पोत को टकराना पड़ता है। काम्य न होते हुए भी उनकी स्थिति अपरिहार्य है, और जीवन-यात्रा में उनका निवारण एक प्रश्न।

इन समस्याओं की एक विशेषता है। यद्यपि इनमें अमूर्त की प्रधानता है परन्तु उनमें चिन्तन का ढंग समाजवादी, अतः दृष्टिकोण मूलतः वस्तुपरक है, प्रगीत के तत्त्वों का इस कारण एकान्त अभाव है। समस्याएँ व्यक्ति के अन्तर्मन की नहीं समाज के वस्तु-सत्य से सम्बन्धित हैं—उदाहरण द्वारा उक्त कथन का स्पष्टीकरण अपेक्षित होगा। किसी निर्धन प्राणी की अपनी निर्धनता के प्रति मन की करुणा और व्यथा, तथा समाज में आर्थिक दृष्टि से वर्ग-वैषम्य, एक ही समस्या के अन्तः और बाह्य हैं। 'रश्मिरथी' के कवि ने बाह्य को ही अधिक ग्रहण किया है।

समस्याओं का अंकन और ग्रहण समष्टि के धरातल पर किया गया है व्यक्ति-रूप में नहीं।

द्वितीय सर्ग में वर्तमान जाति-वर्ण-विभेद की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। भावानुभूति की अपेक्षा बौद्धिक चिन्तन इस प्रसंग में प्रधान है। तृतीय सर्ग के अन्त में फिर विचार-सूत्र अधिक प्रबल हो गया है। कर्ण की कर्तव्य-पालन में दृढ़निष्ठा और सजगता का वर्णन करते हुए कवि कर्तव्य की महिमा पर विचार करता है। षष्ठ सर्ग में युद्ध के कारणों और शान्ति की स्थापना के प्रश्न पर विचार किया गया है। 'कुरुक्षेत्र' के समानान्तर विचार-प्रवाह में कवि बह गया है। उसके सामने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि पौरुष का प्रदर्शन दूसरे पर विजय पाने या स्वयं कष्ट सहने—किस रूप में अधिक उचित है? इस प्रकार अनेकानेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर कवि ने विचार किया है और स्थूल वस्तु-कथा से अधिक सूक्ष्म अमूर्त बौद्धिक चिन्तन की अभिव्यक्ति काव्य में हुई है।

इस वर्ग में 'जयभारत' वह अकेला काव्य है जिसमें अशरीरी घटनाओं को स्थान नहीं मिला। इस काव्य में इतनी अधिक घटनाएँ हैं और उनका बहिर्जगत् की हलचल से इतना सीधा और प्रत्यक्ष सम्बन्ध है कि इनके बाह्य स्वरूप को छोड़कर आन्तरिक गहराई में पैठना कवि के लिए संभव नहीं हो सका। देश और काल की दृष्टि से इन घटनाओं में विस्तार है किन्तु इनका रंगस्थल आत्म से भिन्न नाना रूपात्मक बाह्य जगत् है जिसमें वस्तु-तत्त्व की प्रधानता है। घटनाओं के इसी मूर्त तथ्य-प्रधान रूप के कारण अमूर्त और आन्तरिक भाव या बौद्धिक व्यंजना का प्रयत्न इस काव्य में नहीं किया गया।

घटनाओं में गति, प्रवाह एवं वर्णन-विस्तार—कथानक में गति और जीवन्तता की दृष्टि से इस वर्ग की अधिकांश रचनाएँ विशेष सफल बन पड़ी हैं। किसी भी कथानक में प्रवाह-सम्बन्धी बाधा प्रायः तब उपस्थित होती है जब—

(१) घटना-विरलता की स्थिति में अनावश्यक वर्णन-विस्तार किया जाए।

(२) घटनाओं का प्रत्यक्ष वर्णन न करके उनकी अप्रत्यक्ष प्रस्तुति का प्रयत्न हो।

(३) काव्य में गृहीत घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध-निर्वाह में किसी प्रकार का अनौचित्य हो, अर्थात् घटनाओं की अन्विति या वस्तु-विन्यास सुचारु रूप से नहीं हो अथवा वर्णन-विस्तार में उचित अनुपात न हो।

पहली स्थिति में काव्य में नीरसता या एकरसता, दूसरी में निर्जीवता या अशक्तता व तीसरी में असंतुलन उत्पन्न होता है। 'ऊर्म्मिला' के अतिरिक्त ये सभी काव्य उपर्युक्त दोषों से मुक्त हैं। कुछ कृतियों में देश-काल की दृष्टि से घटनाओं का विशेष विस्तार और जीवन की समग्रता तो नहीं मिलती, किन्तु कथा अपने विशेष क्षेत्र या जीवन के पक्ष-विशेष के समर्थ चित्रांकन में पूर्ण है। इस प्रकार विस्तार में इन कवियों ने जो खोया है वैशिष्ट्य में वह पा लिया है। घटना-विरलता का इस प्रकार इन काव्यों में प्रश्न ही नहीं उठा।

'साकेत' के कवि ने प्रमुख रूप से उर्मिला-उद्धार को लक्ष्य बनाकर भी राम-कथा के समस्त महत्त्वपूर्ण प्रसंगों को कथा में समाहित किया है। नायिका उर्मिला काव्य की सूत्रधारिणी और 'साकेत' उसका निवास स्थान है। अतः स्थान और घटना-ऐक्य की रक्षा के निमित्त, दूर-दूरान्तर तक घटित होने वाली घटनाओं को कवि ने घटनास्थल पर प्रस्तुत न करके 'साकेत' में

विभिन्न पात्रों के मुख से उनका वर्णन कराया है। अभिषेक-पूर्व के समस्त प्रसंग उर्मिला की पूर्व-स्मृति के रूप में, और वनवास की समस्त समर्थ और जीवन्त घटनाएँ हनुमान के मुख से वर्णित हैं। ऐसी स्थिति में 'प्रियप्रवास' की भाँति घटनाओं के प्रवाह में बाधा उत्पन्न होने और उनकी स्फूर्ति और प्राणवत्ता के नष्ट हो जाने की पूरी सम्भावना थी, किन्तु इस प्रसंग को अपूर्व सफलता से निबाह ले जाने के लिए गुप्तजी की कला विशेष प्रशंसा की अधिकारिणी है। केवल प्रसंग के आरम्भ में यह ज्ञान रहता है कि घटनाएँ घट नहीं रहीं, उनका वर्णन या स्मरण किया जा रहा है, किन्तु कुछ ही छंदों के उपरान्त पाठक घटनाओं के प्रवाह में प्रत्यक्ष रसमयता का अनुभव करने लगता है। जैसा पहले भी कहा जा चुका है पात्र केवल घटनाओं के सम्बन्ध-सूत्र मिलाकर एक ओर हट जाते हैं और कथा फिर पूर्ण वेग और ऋजु गति से प्रवहमान हो जाती है। घटना-क्रम में इस योजना से न नीरसता उत्पन्न होती है न एकरसता, और न कथा-क्रम टूटता या बाधित होता है। काव्य के अन्तिम अंश में जहाँ हनुमान के मुख से सीता-हरण के उपरान्त की कथा का वर्णन है, घटनाओं में आवश्यकता से अधिक त्वरा है। कवि ने जिस परिस्थिति का विधान किया है उसमे कुछ अधिक संभव भी नहीं था, किन्तु काव्य के आरम्भ में अपेक्षाकृत प्रवाह की मन्थरता, मध्य में स्थिरता और अंत की यह भाग-दौड़ अनुपात की दृष्टि से ठीक नहीं। दूसरी दृष्टि से इस नीरस प्रसंग का तेज़ी से बढ़ जाना विशेष अनुचित भी नहीं। आंशिक व्यवधान नवम सर्ग में उर्मिला की विरह-व्यंजना में उपस्थित हुआ है। एक ही मनोभावना की नाना रूपात्मक अभिव्यक्ति और वह भी इतने विस्तारपूर्वक—प्रबन्ध के बीच विशेष उपयुक्त नहीं प्रतीत होती। कथा की सशक्त गत्यात्मकता में इस प्रसंग के द्वारा विराम प्रस्तुत हो गया है। किन्तु इस विश्राम-स्थल के उपरान्त प्रबन्ध की अधिकांश समर्थ घटनाओं के घटाटोप मे पाठक इस कमी को स्थायी रूप से हृदयंगम नहीं करता। फिर भी सम्पूर्ण काव्य में कथा-प्रवाह अविच्छिन्न नहीं है। कथा के प्रमुख दृश्यों को चुनकर उन्हें अन्वित किया गया है। कहीं यह अन्विति सप्रयास है और कहीं ये जोड़ बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से लगाये गए हैं, किन्तु कथा की घटनाओं का पारस्परिक कार्य-कारण सम्बन्ध नष्ट नहीं हुआ। एक घटना दूसरी का सहज विकास ही प्रतीत होती है।

वर्णन-विस्तार की दृष्टि से जीवन के विविध पक्षों, भौतिक वातावरण और प्राकृतिक दृश्यों, सभी का वर्णन कवि ने किया है। मानव-जीवन से सम्बद्ध वर्णनों में कवि जितना प्रवीण है, वह मानव-समाज का जितना कुशल कवि है, प्रकृति का क्षेत्र उसका उतना अपना नहीं, यह दोनों प्रकार के वर्णनों से स्पष्ट है।

'आर्यावर्त' और 'रश्मिरथी' के कवियों ने अपेक्षाकृत सीमित फलक पर चित्र-विस्तार किया है। इन कथानकों में जीवन के विशिष्ट पक्ष (राजनैतिक) को ही ग्रहण किया गया है। 'रश्मिरथी' में आधुनिक सामाजिक समस्याएँ भी घुली-मिली हैं। अपने इस विशिष्ट क्षेत्र में ये काव्य खोखले नहीं हैं। राजनीति या इतिहास से सम्बद्ध घटनाओं में सप्राणता प्रायः सहज प्राप्य है और इसके अतिरिक्त इन काव्यों का स्वर विद्रोहात्मक होने के कारण इस गुण की प्रतिष्ठा विशेष रूप से इनमें हुई है। 'आर्यावर्त' के कवि ने आर्य-राष्ट्र की भावना का प्रचार ही अधिक किया है। जीवन की समग्रता के अभाव में भी पक्ष-विशेष में सजीवता, स्फूर्ति और

गतिमयता है। इस रूप में विशेष प्रकार की ओजमय ललकार है। काव्य में विस्तार के स्थान पर हुंकार और भव्यता है, और काव्य-विषय की इस आन्तरिक प्राणवत्ता के कारण घटनाएँ पूर्ण वेग से परिचालित हुई हैं, कवि को विश्राम का अवकाश कहाँ ?

'रश्मिरथी' में भी विस्तार का अभाव है, कवि का आधार-फलक संकुचित है, और उस पर कुछ इने-गिने रंगों के चित्र अंकित हैं। नाना वर्ण-रंजित जीवन उसकी सीमा-रेखाओं के भीतर प्रवेश नहीं कर सका, किन्तु इन इकरंगे चित्रों में भी गति है, प्राण है—वे निर्जीव प्रतीत नहीं होते। उन्हें लक्ष्य तक पहुँचने के लिए न विश्राम करना पड़ा है और न ठोकरें खानी पड़ी हैं। काव्य के वे अंश भी जिनमें कवि चिन्तन और मनन करता है, बुद्धि को विराम नहीं उत्तेजना ही प्रदान करते हैं, किन्तु काव्य के समग्र रूप में महाकाव्योचित विशदता और समग्रता नहीं मिलती। जीवन के कोमल, मधुर और मसृण प्रसंग जिनमें हृदय रमण करे इस काव्य में नहीं हैं। 'आर्यावर्त' के कवि ने भी 'मदमत्त हो प्रलय गान' गाने की आकांक्षा से जीवन के रम्य, मनोहर और मधुर पक्ष को काव्य में स्थान नहीं दिया। त्रासद, करुणाजनक और ओजपूर्ण घटनाओं की ही काव्य में प्रधानता है।

'साकेत-संत' की कथा में जीवन की समग्रता के समावेश का आभास होता है। मुख्य कथा के साथ प्रसंग-रूप में जीवन के अनेक पक्षों का वर्णन हुआ है, किन्तु विभिन्न घटनाओं में वर्णनानुपात की दृष्टि से यह स्पष्ट है, कि जीवन के विविध पक्ष केवल उल्लेख के विषय हैं, प्रधानता राजनैतिक और सामाजिक जीवन के कुछ विशेष पहलुओं तथा प्रकृति-वर्णन को ही प्राप्त हुई है। राजनीति के भी युद्धादि सम्बन्धी विराट् और ओजपूर्ण चित्र नहीं—त्यागमय और कारुणिक प्रसंग ही गृहीत हैं। कारण स्पष्ट है—काव्य की प्रधान कथा भरत की कथा है और उनका स्वरूप संयमी और त्यागी का है। राम के जीवन में घटित होने वाली जीवन्त घटनाओं का भरत के जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं। अतः घटना-ऐक्य की रक्षा के लिए कवि इन घटनाओं का प्रयोग काव्य में नहीं कर सका। विस्तार उसी प्रसंग को दिया गया है जिसका सीधा सम्बन्ध भरत से है और इस प्रसंग के वर्णन-विस्तार से कथा में वह अबाध और अप्रतिहत वेग उत्पन्न होना असम्भव था जो सफल प्रबन्ध का प्राण है। यह प्रसंग साकेतवासियों के साथ भरत के चित्रकूट-गमन और राम-भेंट का प्रसंग है। इस सम्पूर्ण संदर्भ में महत्त्वपूर्ण घटना एक ही है—राम-भरत-मिलन; किन्तु कवि ने अनेक छोटी-मोटी घटनाओं की उद्भावना करके इस प्रसंग को तूल दिया है। पूरे छः सर्गों (८-१३) में यह प्रसंग वर्णन-विस्तार करके बढ़ाया गया है। वस्तुतः यह घटना भरत के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है, जिसमें त्याग है, तपस्या है, करुणा और मार्मिकता भी है किन्तु जीवन की दुर्दम धारा नहीं है, अबाध गति और महाकाव्योचित विराटता और प्रवाह नहीं है। परिणामतः इस समस्त मध्य भाग में जो काव्य का चरम है कथा अपने-आपको बरबस धकेलती-सी आगे बढ़ती है, उसकी गति में न ऋजु सरल प्रवाह है और न जीवन-धारा का दुर्दम अभियान।

'जयभारत' के घटना-विस्तार के विषय में शंका का प्रश्न ही नहीं उठता। उसमें जीवन के विविध पक्ष महाकाव्य की अपेक्षा से भी कुछ अधिक ही आ गए हैं। घटनाएँ इतनी अधिक हैं कि एक क्षण के लिए भी अन्तराल प्रस्तुत नहीं होता। एक घटना के पूरी होने से पहले ही दूसरी

अपना स्थान बनाने लगती है। इस प्रकार जीवन के विविध रूप—विराट और कोमल, मधुर और तिक्त, भव्य और स्निग्ध—काव्य में विद्यमान हैं। घटना-बहुलता के कारण गत्यवरोध का प्रश्न ही नहीं उठा। विस्तार और वैविध्य एवं गति और प्रवाह समान रूप से कथा में मिलता है। किन्तु घटनाओं का पारस्परिक सम्बन्ध सम्भाव्यता या अनिवार्यता के अनुसार न होकर, परम्परा-प्राप्त रूप में यथावत् स्थापित कर दिया गया है। कथा आगे बढ़ती है, किन्तु उसमें उत्थान-पतन, घात-प्रतिघात से जो तनाव, जिज्ञासा और कौतूहल सर्वत्र बना रहना चाहिए वह नहीं है। विभिन्न प्रसंग एक-दूसरे से शृंखला की कड़ियों के समान इस प्रकार नहीं जुड़े रहते कि एक कड़ी के निकालने से शृंखला टूट जाय, वरन् अनेक प्रसंगों के बिना भी प्रबन्धत्व में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचेगी। कथा में रोचकता और गति प्रसंगों की नवीनता और विविधता के कारण अधिक है, उनकी अनिवार्यता या पारस्परिक सम्बन्ध के कारण नहीं।

'ऊर्म्मिला' में घटनाओं की अपेक्षा विरह-भाव की व्यंजना ही अधिक प्रधान है। घटनाएँ इस प्रबन्ध में बहुत कम हैं। जो हैं वे प्रायः सूच्य हैं। पारिवारिक और प्राकृतिक चित्रों के अतिरिक्त जीवन के अन्य पक्षों को बहुत कम स्थान मिला है। अमूर्त-व्यंजना की प्रमुखता होने के कारण काव्य को प्रत्यक्ष चित्रमयता और गति प्रदान करने वाले उपादान कम हैं। अमूर्त में भी चिन्तन की अपेक्षा कोमल भाव की प्रधानता है। जहाँ बौद्धिक विश्लेषण है वहाँ भी वह उत्तेजक अथवा चिन्तन में प्रवृत्त करने वाला नहीं। केवल समस्याओं का विवेचन-विश्लेषण है, अतः बौद्धिक गति की सामग्री भी कथा में उपलब्ध नहीं। कथा के सभी प्रधान प्रसंग खण्ड-खण्ड रूप में स्वतन्त्र और असम्पृक्त हैं। हर प्रसंग में कवि ने इतना वर्णन-विस्तार किया है कि वह अंश उस घटना विशेष पर स्वतः पूर्ण स्वतन्त्र काव्य जान पड़ता है। हर प्रसंग पर कथा रुकी-सी प्रतीत होती है, काव्य में आद्योपान्त कथा-प्रवाह का एकान्त अभाव है।

परिमाण और समग्र रूप—'साकेत' से 'ऊर्म्मिला' तक ये सभी रचनाएँ बृहदाकार है। परस्पर तुलनात्मक दृष्टि से कुछ का आकार ('आर्यावर्त', 'साकेत-संत' और 'रश्मिरथी') अपेक्षाकृत सीमित है तथा अन्य ('साकेत', 'जयभारत' तथा 'ऊर्म्मिला') विशालकाय है। बाह्याकार के अतिरिक्त विषय-सामग्री की दृष्टि से कुछ में जीवन की समग्रता का वर्णन है जैसे 'साकेत' और 'जयभारत' में, तथा अन्य में एकपक्षीय कथानक है यथा 'आर्यावर्त' और 'रश्मिरथी' में। 'साकेत-संत' और 'ऊर्म्मिला' में जीवन के विशद अनेकपक्षीय चित्रण का आभासमात्र होता है, किन्तु महत्त्व कुछ इने-गिने पक्षों को ही दिया गया है। कथा और आकार-सम्बन्धी इन विशेषताओं ने काव्य के समग्र रूप तथा पाठक पर पड़ने वाले प्रभाव को काफी सीमा तक प्रभावित किया है। 'साकेत' के पाठक के हृदय पर जो सर्वांगपूर्ण, गरिमायुक्त भव्य और विशद प्रभाव पड़ता है—उसी मात्रा में हृदय के रिक्त स्थान को 'आर्यावर्त' और 'रश्मिरथी' के कवि नहीं भर पाते। जीवन का एकपक्षीय अंकन होने के कारण अपने क्षेत्र में पूर्ण होने पर भी इन काव्यों में गरिमा और भव्यता तो आ गई है किन्तु विशदता और महाप्राणता नहीं है। 'साकेत-संत' और 'ऊर्म्मिला' तो अनेक सर्गों में विभाजित, और अनेक पृष्ठों में रचित होने के अतिरिक्त प्रबन्धत्व की दृष्टि से महाकाव्य-पद के उचित अधिकारी ही नहीं कहे जा सकते। उनमें न जीवन की सर्वांगता है और न घटनाओं तथा बाह्याकार में पारस्परिक अनुपात। वर्णन-विस्तार,

काव्य के विभिन्न अंशों में घटना-वितरण और उनके संयोजन की प्रणाली में कोई तर्कसम्मत औचित्य नहीं। अतः इनके समग्र प्रभाव में आकार-विस्तार के अतिरिक्त किसी प्रकार की महत्ता नहीं। समग्र रूप में न प्राणवत्ता है न भव्यता, और न विराटता एवं सर्वांगता। केवल रमणीय और मधर महाकाव्य का विषय नहीं हो सकता।

शिल्प

सर्ग-विभाजन—'रश्मिरथी' और 'ऊर्म्मिला' का विभाजन क्रमशः सात और छः सर्गों में तथा अन्य रचनाओं का अष्टाधिक सर्गों में हुआ है। 'जयभारत' की सर्गविभाजन-पद्धति में नवीनता है। कवि स्वयं 'सर्ग' शब्द का प्रयोग शीर्षकों के साथ नहीं करता और अनेक स्थलों पर इतनी छोटी घटना का वर्णन पृथक् शीर्षक में किया गया है कि उसे स्वतन्त्र सर्ग कहना भी उचित न होगा। कवि ने हर प्रसंग का वर्णन घटना के आधार पर नामकरण करके पृथक् शीर्षक में किया है और इनकी संख्या बढ़ते-बढ़ते सैंतालीस तक पहुँच गई है। निश्चित रूप से कवि का अभीष्ट इतने अधिक सर्गों में काव्य रचना करना नहीं है, क्योंकि इस दृष्टि से यह विभाजन तर्कसम्मत नहीं हो सकता। अनेक घटनाएँ ऐसी हैं जिनको एक सर्ग में रखा जा सकता है। अतः घटना-संख्या के अनुसार खण्ड-विभाजन की यह पद्धति परम्परागत नहीं। नवीनजी ने भी 'ऊर्म्मिला' का विभाजन छः सर्गों में करके—इन सर्गों का विभाजन कुछ स्थलों पर उपखण्डों में किया है। द्वितीय सर्ग में इसी प्रकार का विधान है। इन उपसर्गों में कुछ-कुछ नाटक में अंकों के मध्य दृश्यों की योजना का सा उपक्रम है। घटना का देश और काल नहीं, प्रसंग बदल गया है। अन्य काव्यों में विभाजन परम्परानुसार ही किया गया है। सर्गों का पृथक् नामकरण 'ऊर्म्मिला' और 'जयभारत' के अतिरिक्त किसी काव्य में नहीं किया गया। प्रत्येक खंड के वर्ण्य विषय, पात्र, या स्थल के आधार पर 'जयभारत' में पृथक् शीर्षक दिया गया है, पर ये विविध प्रसंग सर्ग हैं—ऐसा कवि ने स्पष्ट नहीं किया। 'ऊर्म्मिला' में सर्ग-विभाजन सर्गों में ही करके कोष्ठक में वर्ण्य विषय की सूचना कवि ने दी है।

नामकरण—काव्य का नामकरण करने के लिए इन कवियों ने तीन पद्धतियाँ अपनाई हैं—

(१) प्रधान पात्र (नायक या नायिका) के नाम पर—'साकेत-संत', 'रश्मिरथी' और 'ऊर्म्मिला'।

(२) घटना-स्थल के आधार पर—'साकेत' और 'जयभारत'।

(३) काव्य के उद्देश्य के आधार पर—'आर्यावर्त'।

उपर्युक्त प्रणालियों में से प्रथम परम्परागत है और शेष दो पद्धतियाँ नवीन। परवर्ती काव्यों में भी नामकरण की यह रीति विशेष लोकप्रिय नहीं हुई। घटना-स्थल के आधार पर तो 'कुरुक्षेत्र', 'हल्दीघाटी' आदि काव्यों का नामकरण किया गया किन्तु काव्य-उद्देश्य के आधार पर काव्य का नामकरण अन्य कवियों ने नहीं किया।

वर्णन-रूढ़ियाँ—आरम्भ में मंगलाचरण की रूढ़ि का पालन इन सभी कवियों ने प्रत्यक्ष या रूपान्तर से किया है। 'साकेत' और 'जयभारत' में आरम्भ प्रत्यक्ष मंगलाचरण से हुआ है,

'आर्यावर्त' के कवि ने अपने विषयानुकूल रणचंडी की स्तुति की है। 'साकेत-संत' में कवि ने किसी देवता की स्तुति न कर 'उपक्रम' शीर्षक में नायक भरत की प्रशस्ति में चार सवैयों की रचना की है। इसी प्रकार 'ऊर्म्मिला' के कवि ने भी आरम्भ में लेखनी को प्रोत्साहन देकर ऊर्म्मिला को बहुत कुछ आराध्या का स्वरूप प्रदान करके छः छन्दों में उनकी प्रार्थना की है। इस प्रकार इन काव्यों में मंगलाचरण देव-विषयक-स्तुति के स्थान पर रूपान्तरित होकर आया है। 'रश्मिरथी' के प्रथम छन्द में अग्नि की स्तुति है जिसे मंगलाचरण स्वीकार किया जा सकता है। निष्कर्ष रूप में किसी न किसी विधि से इस प्रथा का पालन सभी कवियों ने किया है।

मंगलाचरण के उपरान्त आशीर्वचन, वस्तु-निर्देश आदि की परिपाटी का इन कवियों ने पालन नहीं किया, सीधे कथा-वर्णन आरम्भ कर दिया है। 'साकेत' और 'ऊर्म्मिला' के आरम्भ में आत्मबोध या निज कला का उद्‌बोधन कुछ पंक्तियों में किया गया है किन्तु इस प्रकार का प्रेरणा-ग्रहण रूढ़ि-पालन के अन्तर्गत नहीं आएगा।

अन्य वर्णन-रूढ़ियों में—शास्त्र-विहित वर्ण्य विषयों की सूची के अनुसार सभी प्रसंगों के वर्णन, सब कृतियों में नहीं मिलते। वस्तुतः वर्णनों की समग्रता बहुत कुछ घटना-विस्तार पर निर्भर है। अतः जिन काव्यों में कथा-विस्तार जीवन के सभी क्षेत्रों में हुआ है, उनके वर्णनों में भी वैविध्य और समग्रता मिलती है। अन्य रचनाएँ जिनका घटना-क्षेत्र एकांगी है, उनमें जीवन के उन्हीं प्रसंगों से सम्बद्ध वर्णन किये गए हैं। एक विशेषता जो समान रूप से इन सभी काव्यों में ध्यान आकर्षित करती है वह है प्रकृति का मनोयोगपूर्ण वर्णन। इन सभी रचनाओं का प्रकृति-वर्णन कहीं पूर्णतः और कहीं अंशतः छायावादी दृष्टिकोण से प्रभावित है। प्राकृतिक चित्र केवल रूढ़ि-पालन के लिए अंकित नहीं किये गए, बल्कि बहुत समय के अन्तराल के उपरान्त प्रबन्ध काव्यों में एक बार प्रकृति को स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। इन प्राकृतिक वर्णनों में कवि का मन रमण करता है, अतः पाठक के मन को भी रमाने की उनमें सहज सामर्थ्य है।

सज्जन-प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा प्रसंगवश कहीं न कहीं आ ही गई है। सर्ग के अन्त में भावी कथा-सूचना के नियम का भी इन कवियों ने नियमित रूप से पालन नहीं किया। कहीं यह सूचना अनायास आ गई है, कहीं नहीं। सतर्क रूप से अनिवार्य लक्षण मानकर इसका विधान काव्य में नहीं किया गया। यह प्रवृत्ति केवल इसी विशेष लक्षण के विषय में नहीं, सामान्यतः शास्त्रों में निर्दिष्ट महाकाव्य की सभी स्थूल और बाह्य शिल्प-सम्बन्धी विशेषताओं के विषय में देखी जा सकती है। इन कवियों ने उन मान्यताओं को तो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपनाया है जिनका सम्बन्ध महाकाव्य की आत्मा से है और जो उसके अनिवार्य गुण हैं, किन्तु स्थूल बाह्याकार-सम्बन्धी रूढ़ियों तथा गौण लक्षणों के पालन में ये कवि सतर्क तो क्या उदासीन ही रहे हैं।

छन्द-विधान—महाकाव्य के छन्द-विधान के सम्बन्ध में यद्यपि किसी कठोर नियम का निर्देश नहीं किया गया किन्तु प्राचीन समीक्षा-शास्त्र में एक ही छन्द में सर्ग-रचना महाकाव्य के लिए काम्य मानी गई है। पश्चिम के आरम्भिक महाकाव्यों में तो सम्पूर्ण काव्य की रचना षट्-पदी छन्द में की गई। इन सब प्रबन्धों में भी प्रायः एक सर्ग की रचना एक ही छन्द में करने का

प्रयास किया गया है। कहीं-कहीं इस रचना-विधि के अपवाद भी दृष्टिगत होते हैं, किन्तु सर्ग के मध्य में परिवर्तन उसी स्थल पर किया गया है जहाँ भाव या प्रसंग में परिवर्तन हुआ है, अतः इस प्रकार का परिवर्तन कथा-प्रवाह में बाधक न होकर साधक ही हुआ है, उसके पीछे तर्क-सम्मत औचित्य है। प्रसंग के अनुकूल छंद का चयन इन कवियों की विशेषता है। 'साकेत' के कवि ने इस कला में कालिदास के समान ही कौशल का परिचय दिया है। प्रत्येक सर्ग की रचना नवीन छंद में की गई है, किन्तु केवल विचित्रता के लिए नहीं। कवि की विवेकशीला कला ने प्रसंग के अनुरूप संस्कृत और हिन्दी दोनों से ही छन्दों का छाँट-छाँटकर प्रयोग किया है। कालिदास के वियोगिनी से लेकर जगनिक के वीर छंद तक उनकी गति है। शृंगार के लिए पीयूष-वर्षण, रोने-कराहने के प्रसंग में उर्दू की बहर, सरल पारिवारिक प्रसंगों में मानव छंद, विरह के प्रसंग में कालिदास का वियोगिनी छंद और आवश्यकता पड़ने पर आल्हा के वीर छंद को भी उन्होंने नहीं छोड़ा। सातवें सर्ग में कथा की स्थिरता की व्यंजना के लिए वे स्वयं नवीन छंद-निर्माण करने में भी पीछे नहीं रहे हैं। इन छन्दों के अतिरिक्त भी लेखक ने संस्कृत के अनेक वृत्तों और हिन्दी के दोहा, सोरठा, घनाक्षरी, सवैया जैसे प्राचीन छन्दों का भी प्रयोग किया है। इन सभी छन्दों में सर्वत्र प्रसंग का ध्यान रखा गया है। साथ ही उनका प्रयोग सर्वथा निर्दोष है। गुप्तजी ने इन छन्दों का अत्यन्त साफ-सुथरा प्रयोग किया है। गति और यति में परिवर्तन करके इन छन्दों के निर्दिष्ट ढाँचों में परिवर्तन उन्होंने नहीं किये। एकाध स्थल पर यति की विभिन्नता से वैचित्र्य का समावेश अवश्य किया गया है।

सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन की परिपाटी का पालन नियमतः सभी कवियों ने नहीं किया। कुछ ने आद्योपान्त इसका पालन किया है। 'साकेत' और 'साकेत-संत' के कवियों ने यही विधि अपनायी है। 'आर्यावर्त' और 'जयभारत' में सर्ग की रचना तो एक ही छन्द में हुई है किन्तु अन्त में छंद-परिवर्तन नहीं हुआ। 'रश्मिरथी' और 'ऊर्म्मिला' में इस प्रकार की कोई नियमित योजना नहीं। 'ऊर्म्मिला' में तो लगभग प्रत्येक सर्ग में ही आदि, मध्य और अंत हर स्थल पर आवश्यकतानुसार छंद-परिवर्तन हुआ है। 'रश्मिरथी' में उपर्युक्त सभी पद्धतियों का प्रयोग किया गया है। आरम्भ में एक ही छंद में सर्ग-रचना की गई है, अंत में भी छंद-परिवर्तन नहीं हुआ। दूसरे सर्ग के अन्त में छंद-परिवर्तन कर दिया है। छठे और सातवें सर्ग के मध्य में ही छन्द-परिवर्तन हो गया है, और उसके उपरान्त स्थल-स्थल पर यथास्थान इसी क्रम का पालन हुआ है। 'साकेत' और 'साकेत-संत' में भी क्रमशः नवम और अन्तिम सर्गों में विविध छन्द-प्रयोग किये गए हैं। बीच-बीच में विशेष भावप्रवण प्रसंगों में पात्रों की आत्माभिव्यक्ति के लिए गीतों की रचना भी की गई है।

छन्द-स्वरूप की दृष्टि से मात्रिक छंद इन कृतियों में सर्वाधिक व्यवहृत हैं। 'साकेत', 'ऊर्म्मिला' आदि में संस्कृत के वर्णवृत्तों को भी स्थान मिला है, अन्यथा अन्य कवियों ने लघु मात्रिक छंदों की ही स्वीकृति की है। 'साकेत-संत' में कहीं-कहीं सवैया आदि वर्णिक छंदों का भी प्रयोग है किन्तु ये छंद हिन्दी के ही हैं संस्कृत-साहित्य की विशेषता नहीं। दो छंदों के योग से कहीं-कहीं इन कवियों ने मिश्र छंद भी बनाए हैं। 'रश्मिरथी' के पहले सर्ग का छंद सरसी और शृंगार के दो-दो चरणों के योग से बना है तथा तीसरे सर्ग में कवि ने पद्धरि के चार चरणों में पद-

पादाकुलक का युग्मक जोड़कर छः पंक्तियों का छंद बनाया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ अप्रचलित मात्रिक छंद जैसे डिल्ला आदि का प्रयोग भी किया। 'आर्यावर्त' के कवि ने इस क्षेत्र में नई दिशा अपनायी है। सर्वथा मौलिक तो नहीं, (उनसे पहले गुप्तजी मेघनाद-वध के अनुवाद में यह प्रयोग कर चुके थे) किन्तु बृहद् प्रबन्ध-रचना के लिए हिन्दी साहित्य में अप्रचलित अतुकांत अमित्राक्षर छंद में उन्होंने सम्पूर्ण काव्य की रचना की है। उनके उपरान्त 'जयभारत' में अन्त्यानुप्रास के प्रति विशेष ममत्व रखने वाले कवि गुप्तजी ने भी काव्य के उत्तरांश में युद्ध-वर्णन इसी अतुकान्त छन्द में किया।

अलंकृति—काव्य-रचना के अन्य अंग-उपांगों के ही समानान्तर इन रचनाओं की अलंकरण-कला में प्राचीन और नवीन, परम्परागत और आधुनिक का मिश्रण हुआ है। इस कलागत नवीनता के दो मुख्य कारण थे—

(१) छायावाद की उस प्रगीतात्मक काव्य-पद्धति का प्रभाव—जो स्वयं अँगरेज़ी की रोमानी कविता से प्रभावित थी। अतः छायावादी शिल्प का परिष्कार, मसृणता और गढ़ने के साथ जड़ने की कला भी कुछ सीमा तक इन काव्यों में आ गई है।

(२) काव्य के परम्परागत मूल्यों के प्रति अनास्था। काव्य-विषय में उस नई चेतना के उदय के साथ जिसमें स्थूल और वस्तुपरक के स्थान पर सूक्ष्म और आत्मपरक का महत्त्व बढ़ चला था—अमूर्त और सूक्ष्म को अभिव्यक्त करने के लिए काव्य-सामग्री में भी परिवर्द्धन और परिशोधन हुआ। भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति में विस्तार हुआ और कुछ सीमा तक अलंकरण-कला में बारीकी और नक्काशी का समावेश होता गया। इस प्रकार चमत्कार की अपेक्षा प्रभाव-व्यंजना का महत्त्व कला में बढ़ चला।

ये सभी कवि प्रधान रूप से अभिधा के कवि हैं। अत एक ओर जहाँ इनके काव्य में नवीन कला का माधुर्य, रमणीयता और सामर्थ्य मिलती है वहाँ सीधे-सादे, चमत्कार-शून्य, वर्णन-प्रधान और कहीं-कहीं अनगढ़ अंशों की भी कमी नहीं। इसीलिए अलंकरण-कला की दृष्टि से कहीं काव्य का स्तर उत्कर्ष की पराकाष्ठा तक पहुँच गया है और कहीं इनकी अभिव्यंजना अत्यन्त साधारण व सामान्य है।

भाव और अभिव्यक्ति का सहज सामंजस्य कविता का अनिवार्य गुण है। इन कवियों ने परम्परागत अभिव्यंजना के साथ, भाव को उसकी समग्रता में प्रेषित करने के लिए नवीन प्रयोग भी किये, और काव्य-सामग्री के चयन में इस प्रयत्न का परिणाम शुभ हुआ है। नये उपमानों का ग्रहण कहीं नित्य व्यवहार और अनुभव से किया गया है और कहीं अप्रचलित उपमानों के प्रयोग में कला की नवीन चेतना का संकेत है। अमूर्त के स्वतन्त्र वर्णन और उपमान-रूप में प्रयोग तो स्थान-स्थान पर इन काव्यों में मिलेंगे—

पगडंडी थी गई मार्ग से ठीक यों—
शास्त्र छोड़ बन जाय लोक की लीक ज्यों।[1]

---

१. साकेत—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १४७

तथा—

वीणांगुलि-सम सती उतरती-सी चढ़ धाई,
तालपूर्ति-सी संग सखी भी खिचती आई।[1]

पहले उदाहरण में कवि ने नित्य व्यवहार-ज्ञान से उपमान का चयन किया है और दूसरे में संगीत के उपकरणों का अप्रस्तुत-रूप में प्रयोग। इस प्रकार के विलक्षण और कहीं-कहीं अत्यन्त समर्थ व सुष्ठ प्रयोग अन्य काव्यों में भी मिलते हैं। सम्राज्ञी संयोगिता का रूप-वर्णन करते हुए अप्रचलित उपमानों के आधार पर 'आर्यावर्त' का कवि सुन्दर उत्प्रेक्षा की योजना करता है—

उन्नत उरोज पर कवच कसे हुए,
वंदिनी है मानो सुकुमारता हृदय की
क्रूर कर्त्तव्य रूपी वज्र के कपाट में[2]

मूर्त के लिए अमूर्त उपमानों का प्रयोग इन काव्यों में प्रायः हुआ है। यह प्रवृत्ति छायावादी काव्य की सूक्ष्म अशरीरी कला के प्रभाव-स्वरूप धीरे-धीरे प्रबन्ध में भी प्रवेश कर गई। इस प्रकार के अमूर्त-विधान से कहीं-कहीं अभिव्यंजना में विशेष गरिमा और प्रभावमयता आ गई है—

बैठी सम्राज्ञी शांत, मानो घोर तर्क में
सजती हो प्रज्ञा स्निग्ध उज्ज्वल प्रभामयी[3]

तथा—

क्षण में स्थिर क्षण में चंचल,
मन की गति सा वह घोड़ा।[4]

पहले उदाहरण में अप्रस्तुत-विधान ने मूल भाव को गरिमा और गाम्भीर्य प्रदान किया है, दूसरे में उपमा अत्यन्त सामान्य व चमत्कार-शून्य होते हुए भी सटीक व प्रभावित करने वाली है। अन्यथा सर्वथा रूढ़िग्रस्त काव्य-सामग्री में रचित 'ऊर्म्मिला' के कवि भी अमूर्त के इस सम्मोहन से नहीं बचे—

यों आलिंगन करती दीखी
आकुलता से सुस्थिरता
ज्यों गुणमयी सुरति से लिपटी
हो भावना विरति-निरता।[5]

मानव के रूप-वर्णन के लिए प्राकृतिक उपकरणों का प्रयोग अप्रस्तुत के रूप में सामान्यतः प्रचलित रहा है। इन कवियों ने कहीं-कहीं इस क्रम में विपर्यय किया है—

---

१. साकेत—मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ ४७३
२. आर्यावर्त—मोहनलाल महतो 'वियोगी', पृष्ठ ७०
३. वही, पृष्ठ ७१
४. साकेत-संत—डा० बलदेव मिश्र, पृष्ठ ३२
५. ऊर्म्मिला—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', पृष्ठ १८४

नाथ, सभी कुछ त्याग जानकर झूंठ ही,
खड़े तपस्वी-तुल्य कहीं ये ठूंठ ही ! [1]

ये पंक्तियाँ तुरन्त ही 'कामायनी' के कवि का स्मरण दिला देती हैं और प्रतीत होता है—

उसी तपस्वी से ऊँचे थे,
देवदारु दो चार खड़े । [2]

की कल्पना-विलासिनी कला के बीज पहले ही अंकुरित हो चुके थे । काव्य-सामग्री या अप्रस्तुत-विधान में नवीनता ही नहीं, पाश्चात्य आलंकारिक विधान का प्रत्यक्ष प्रभाव भी इनकी अलंकार-योजना पर स्पष्ट है । पाश्चात्य कविता और आधुनिक हिन्दी-साहित्य की रम्याद्भुत प्रगीत कला के विशेष लोकप्रिय अलंकार—मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, ध्वन्यार्थव्यंजक शब्द-योजना आदि के उदाहरण इन कृतियों में प्रभूत मात्रा में प्राप्य हैं—

मानवीकरण—

कहीं सहज तरुतले कुसुम शय्या बनीं,
ऊँघ रही है पड़ी जहाँ छाया घनी । [3]

बिखर गई थीं वन फूलों की पंखुरियाँ
वन-पथ पर, मानो रवि की सुकोमला-
प्रेयसी विभा के लाल-लाल कोकनद से
कोमल पदों में नहीं काँटें चुभें वन के । [4]

इसी प्रकार—

दिग्बाला के गालों पर
लज्जा के भाव निहारे । [5]

विशेषण-विपर्यय का एक उदाहरण देखिए—

फिर हेमन्त आया—व्यग्र हुई वसुधा ।
पीले पड़े पत्ते, आया शिशिर सिहरता । [6]

'साकेत' में भी—

शशि खिसक गया, निश्चिन्त हँसी हँस बाँकी । [7]

ध्वन्यार्थव्यंजक शब्दावली के प्रयोग से भाव-सौन्दर्य तथा वर्णनों की चित्रमयता में अभि-

---

१. साकेत—मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ १५२
२. कामायनी—जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ ३
३. साकेत—मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ १५३
४. आर्यावर्त—मोहनलाल महतो 'वियोगी', पृष्ठ ७१
५. साकेत-संत—डा० बलदेव मिश्र, पृ० २३०
६. आर्यावर्त—मोहनलाल महतो 'वियोगी', पृष्ठ ११९
७. साकेत—मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ २६४

वृद्धि हुई है। गंगा की गति को मानो कवि ने शब्दबद्ध कर दिया है—

लघु लघु लहराती लहर लहर
छल छल छवि छाती छहर छहर
रविकर रंजित झलमल झलमल
आलोक भरा गंगा का जल।[1]

अन्यत्र भी—

मंद मंद मधुर मराल-जैसी गति से,
मंदिर की ओर चली चिन्तामग्न रूपसी।[2]

उपर्युक्त उदाहरणों में शब्दों के अनुरणन को आधुनिक शब्दावली में ध्वन्यार्थव्यंजना कह लें या प्राचीन शब्दावली में वृत्त्यानुप्रास, काव्य में सौन्दर्य की वृद्धि वे निश्चय ही करते हैं। अनुप्रास का कहीं-कहीं अत्यन्त सुन्दर प्रयोग 'ऊर्म्मिला' काव्य में भी हुआ है—

अंजन-रंजित चंचल खंजन-
मद-भंजन इन नैनों में—
राम निरंजन-रंजन, घन-मन—
रण व्यंजन इन सैनों में—[3]

इनके अतिरिक्त परम्परागत अलंकारों का अनेकानेक रूपों में सुन्दर प्रयोग इन काव्यों में किस प्रकार हुआ ? यह एक स्वतन्त्र और विस्तृत विषय है, जिसका सम्पूर्ण विवेचन इस प्रसंग में न सम्भव है न आवश्यक। इन काव्यों के (विशेष कर साकेत) अप्रस्तुत-विधान की अद्भुत रमणीयता, सादृश्य व साधर्म्य के आधार पर प्रचुर अलंकरण-सामग्री का प्रयोग, बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूपों का कुशल अंकन प्रशंसनीय है। किन्तु यह संकेत कर देना अनुचित न होगा कि इस रस-राशि और नवोन्मेषिनी कला के मध्य नीरस और परम्परा पर लीक-लीक चलने वाले प्रयोग भी अलभ्य नहीं। 'जयभारत' का अधिकांश अप्रस्तुत-विधान परम्पराप्रसिद्ध है। 'ऊर्म्मिला' की काव्य-सामग्री में कहीं-कहीं ऐसे चिरपरिचित घिसे-पिटे उपमानों का प्रयोग है जिनसे आज का पाठक सर्वथा ऊब चुका है—

उड़ आते निर्भीक खंजनों के वे दल चंचल थे,
प्रकटाते कन्धों पर बैठे बैठे प्रेम अचल थे,
कभी नासिका देख ऊर्म्मिला की सकुचाता शुक था,
सीता के नयनों से खंजन को होता कुछ दुःख था।[4]

गुप्तजी का अन्त्यानुप्रास-मोह सर्वप्रसिद्ध है किन्तु कहीं-कहीं जहाँ यह मोह, ग्राम्य या अप्रचलित प्रान्तीय शब्दों से संयुक्त होकर दुराग्रह बन गया है वहाँ उचित प्रतीत नहीं होता—

---

१. साकेत-संत—डा० बलदेव मिश्र, पृष्ठ १०२
२. आर्यावर्त—मोहनलाल महतो 'वियोगी', पृष्ठ ६२
३. ऊर्म्मिला—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', पृष्ठ २९२
४. वही, पृष्ठ ३१

अब आंगन भांय भांय है,
करता मारुत सांय सांय है।
झड़ते सब फूल फूट के,
पड़ते हैं बस अश्रु टूट के।[1]

ऐसे प्रयोग केवल कला की दृष्टि से ही आपत्तिजनक नहीं, कोमल भाव की अभिव्यंजना इस प्रकार की स्थूल अभिधात्मक शब्दावली में होने से भाव के सौकुमार्य को आघात पहुँचा है। कहीं-कहीं विरह-व्यंजना भी शारीरिक व्यापारों व स्थूल आंगिक चेष्टाओं के वर्णन द्वारा की गई है। उपर्युक्त उदाहरण में यह प्रयास सर्वथा हास्यास्पद हो गया है। अधिकांश रूप में सीधी-सादी स्वच्छता और प्रसादमयता कला में प्राप्य है। तीसरे, चौथे और छठे सर्ग में अनेक स्थलों पर निर्जीव, भरती के से वर्णन मिलते हैं। शब्दों में काट-छाँट, सुरुचिपूर्ण शब्द-चयन के स्थान पर कहीं-कहीं अत्यधिक लचर भाषा का प्रयोग उन्होंने किया है। विशेष स्थलों के अतिरिक्त, व्यंजना (Suggestiveness) का अभाव ही है। इन रचनाओं में कहीं-कहीं अभिव्यक्ति सर्वथा निरावृत्त हो गई है—उसमें न किसी प्रकार की सज्जा है, न अलंकरण, न शब्द-शक्तियों का चमत्कार, अतः ये वर्णन इतिवृत्तात्मक, अति स्पष्ट और आवश्यकता से अधिक सीधे-सादे हैं। चित्रकूट की ओर अग्रसर साकेत-समाज को देखकर भ्रमित निषादराज प्रत्यारोध के लिए उद्धत हैं। 'साकेत-संत' के कवि ने उनके मुख से निज पक्ष को अत्यन्त सामान्य, अनलंकृत व्यावहारिक भाषा में उत्तेजना दिलाई है—

सब नाके साधो, लड़ो, अड़ो,
बढ़कर सेना पर टूट पड़ो।
वे खा न सकें, वे सो न सकें,
वे हँस न सकें, वे रो न सकें।[2]

कला की असमर्थता से कुछ स्थलों पर काव्य-दोषों का प्रादुर्भाव हुआ है। श्रुतिकटुत्व दोष का एक उदाहरण लीजिए—

एक ओर पर्त-सा त्वचा का आर्द्र पट था,
फूट-फट रूप दूने वेग से प्रकट था।[3]

'ऊर्म्मिला' की कला अलंकरण की दृष्टि से सबसे अधिक रूढ़ है। इतना ही नहीं ग्राम-जनोचित भाषा का विचित्र प्रयोग, काव्य में प्रचुर हुआ है—

मैं जानूं हूँ देवि, हृदय यह
हाहाकार कर उठे हैं,
मैं जानूं हूँ, हिय-रस बरबस–
भर-भर आंख झर उठे है।[4]

---

१. साकेत—मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ ३८३
२. साकेत-संत—बलदेव मिश्र, पृष्ठ ९७
३. जयभारत—मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ ७
४. ऊर्म्मिला—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', पृष्ठ १९३

भाषा ही नहीं, कहीं-कहीं उनका अप्रस्तुत-विधान अभद्रता की सीमा का स्पर्श करने लगा है—

सीता और ऊर्म्मिला दोनों लिपट गईं माता से—
मानों दो बछड़ियाँ गाय की चिपट गईं माता से।[1]

'रश्मिरथी' के कवि ने अमूर्त का वर्णन किया अवश्य, किन्तु उन्होंने हृदयगत रम्यानुभूति की अपेक्षा बुद्धिगत समस्या का विश्लेषण ही अधिक किया है। यह समस्या भी व्यक्ति की अपेक्षा समाज की अधिक थी, फलतः उन्होंने न प्रतीकों का आश्रय लिया न लक्षण-व्यंजना के चमत्कार की नियोजना की। अपनी बात को सीधे स्पष्ट शब्दों एवं समर्थ शैली में कह देना ही उनकी विशेषता है। काव्य के अधिकांश में अभिधा के सहारे, और कहीं-कहीं सर्वथा निरलंकृत शैली में उन्होंने जीवन के कटु किन्तु यथार्थ और मार्मिक सत्यों की अभिव्यक्ति की है। मानव की निर्मम व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—

झर गई पूंछ, रोमांत झरे,
पशुता का झरना बाकी है;
बाहर-बाहर तन सँवर चुका
मन अभी सँवरना बाकी है;[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में यदि बाह्य कला-कौशल की दृष्टि से देखा जाए तो वाह-वाह करने के लिए कदाचित् ही कुछ मिले। किन्तु सीधे चोट करने की शक्ति, जीवनगत अनगढ़ सत्य को प्रतिबिम्बित करने की जितनी सामर्थ्य इस अनलंकृत पद्यांश में है, कठिनता से ही अन्यत्र मिलेगी। अलंकरण की दृष्टि से सर्वथा अनावरण ही इन पंक्तियों का सौंदर्य है, किन्तु ध्यान से देखा जाए तो इनमें छिपी चोट और तीखापन व्यक्त सत्य का है, कला-कौशल का नहीं।

'रश्मिरथी', 'ऊर्म्मिला' और 'जयभारत' के अलंकरण पर छायावादी कला की अमूर्त-व्यंजना, स्निग्ध-तारल्य, प्रतीकात्मकता, सूक्ष्म काव्य-उपादान, मधुर-मसृण सौंदर्य, संकेतात्मकता आदि का प्रभाव नहीं है। 'ऊर्म्मिला' और 'जयभारत' की कला अधिकांश भाग में एक युग पीछे की कला है, और 'रश्मिरथी' की कला छायावाद के उत्कर्ष से एक दशाब्द आगे की कला—जिसमें जीवन के रक्त-मांस को यथार्थ रूप में ग्रहण और अभिव्यक्त किया गया है।

शैली—महाकाव्य की शैली को भारतीय साहित्य में व्यवहार में, और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में सिद्धान्त-रूप में समाख्यानात्मक स्वीकार किया गया है। किन्तु आधुनिक काल में प्रगीत-कला के पुनरुत्थान तथा साहित्य की विभिन्न विधाओं में नाटच तत्त्व की स्वीकृति और महत्त्व-प्राप्ति के साथ महाकाव्य की शैली में भी वर्णनात्मकता के साथ प्रगीतात्मक व नाटकीय तत्त्वों के सम्मिश्रण और प्रयोग का महत्त्व बढ़ चला। पात्र-विशेष की व्यक्तिगत भावना की अभिव्यक्ति के लिए प्रगीतों का, और पात्रों के पारस्परिक संवादों में या आदान-प्रदान के स्थलों पर पूरी सजीवता से कथोपकथन का प्रयोग इन कवियों ने किया। 'साकेत', 'आर्यावर्त', 'साकेत-सन्त' में

१. ऊर्म्मिला—'नवीन', पृष्ठ ५४
२. रश्मिरथी—दिनकर, पृष्ठ १११

उक्त प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से प्रतिफलित हुई है। आख्यान के साथ अमूर्त भावों और विचारों को भी शब्दबद्ध करने के कारण —विशेषकर बुद्धिगत समस्याओं के निरूपण के स्थलों पर शैली के लिए विश्लेषण का गुण-ग्रहण करना भी अनिवार्य हो गया है। 'रश्मिरथी' में शैली के इतिवृत्तात्मक वस्तुपरक वर्णन-प्रधान रूप के साथ शैली के विश्लेषणात्मक रूप का ही प्रयोग हुआ है। व्यक्तिगत राग-विराग के भावप्रवण स्थल अत्यल्प होने के कारण प्रगीतों की रचना इस काव्य में विशेष नहीं की गई। 'जयभारत' और 'ऊर्म्मिला' की शैली परम्परागत वर्णन-प्रधान शैली है। 'ऊर्म्मिला' के विरह-प्रसंग में मुक्तक का आभास भी होने लगता है।

महाकाव्य की शैली में उदात्तता, गरिमा, प्रवाह और सभी प्रकार के वर्णनों की सामर्थ्य और सजीवता का होना अनिवार्य है। महाकाव्य की कथावस्तु में जीवन के विविध रूपों का अंतर्भाव होने के कारण, इस वैविध्य की अभिव्यक्ति में सक्षम शैली भी महाकाव्य का अपरिहार्य गुण है। 'उर्म्मिला' के अतिरिक्त इन सभी रचनाओं की शैली प्रधानतः वर्णनात्मक, अभिधाश्रित, इतिवृत्तात्मक और प्रसादमय होने पर भी उक्त सामर्थ्य से युक्त एवं सजीव शैली है। लाक्षणिकता और व्यंजना का भी उसमें अभाव नहीं। जहाँ जीवन की सर्वांगीणता या शैली के गम्भीर और चटुल, ओजमय और मधुर दोनों रूप नहीं मिलते वहाँ लेखनी की असमर्थता के कारण नहीं, अपितु काव्य-विषय की परिसीमा के कारण ऐसा हुआ है। जहाँ जीवन के विविध पक्षों का समावेश है, वहीं कतिपय अपवादों के अतिरिक्त विराट और भव्य, मृदुल और करुण सभी प्रकार के वर्णन इन कवियों ने पूरे कौशल से किये हैं।

'साकेत' के प्रथम सर्ग में जहाँ कवि ने अनेक रम्य और कोमल चित्र अंकित किए हैं, वहाँ अन्तिम सर्ग में अत्यन्त समर्थ और सक्षम शैली व अनुकूल शब्दावली में गुंफित ओजमय विराट चित्रों का विस्तार हुआ है। उनकी शैली में विलक्षण सामर्थ्य और अद्‌भुत माधुरी है। कवि घटनाओं और वातावरण के विस्तृत चित्र ही नहीं अंकित करता, बल्कि मानव मुद्राओं के अपेक्षाकृत सीमित चित्र, और भाव एवं मनोदशा के सूक्ष्म चित्र भी—जिनमें व्यंजना की सहायता से प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयत्न है, अनेक स्थलों पर अंकित हैं। इन चित्रों में स्थिर और गतिमय दोनों ही प्रकार के चित्र हैं। इन समग्र स्थलों पर कवि ने सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में—

"साकेत के बृहत् चित्र कहीं कथा के लिए पृष्ठभूमि उपस्थित करते हैं, कहीं मानवकार्यों की रंगस्थली का कार्य करते हैं, और कहीं उत्सुकता की वृद्धि करते हुए कथा में नाटकीय रोचकता का समावेश करते हैं और छोटे चित्र प्रायः भावों को मूर्तिमंत करके कथा में उभार लाते हैं।"[1]

आरम्भिक अंशों में एक विशेष लालित्य और रमणीयता है। नाटकीयता का प्रयोग कवि ने संवादों में ही नहीं किया उनकी शैली में यह गुण [illegible] है। कथोपकथन के अन्य रूपों में स्वगत का प्रयोग भी कवि ने किया है। जहाँ एकाकी पात्र का परिचय वे कराते हैं, वहाँ भी उनकी शैली में यह गुण बरबस चला आता है। पात्र-परिचय की उनकी यह प्रिय पद्धति है—

१. 'साकेत' एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र, पृष्ठ १३२

अरुण-पट पहने हुए आह्लाद में
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में ?[1]

प्रश्न के उत्तर में किया गया रूप-वर्णन प्रसंग में अनायास मनोहारी नाटकीयता ला देता है। 'साकेत' की समस्त कथा संवादों और दृश्यों द्वारा ही आगे बढ़ती है। इन संवादों की यथावसर उद्दीप्ति, सजीवता और रसमयता ही इनका प्राण है। कथा के ऐसे स्थलों पर जहाँ वे गम्भीर परिस्थिति या भाव-संकुल स्थलों का वर्णन करते हैं, वहाँ वर्णन-विस्तार न करके वे प्राय वाक्-संयम या मौन से काम लेते हैं। ऐसे प्रसंगों से कथा में वैचित्र्य आ गया है। पात्रों की आत्माभिव्यक्ति के लिए गुप्तजी ने प्रगीत शैली का प्रयोग किया है। उर्मिला की विरह-व्यंजना में गीति शैली के प्रयोग से अधिक मार्मिकता और स्वाभाविकता उत्पन्न हुई है। सम्पूर्ण काव्य में अतिशय सांकेतिकता या व्यंजना की प्रधानता कहीं नहीं मिलेगी। उसमें एक विशेष प्रकार की प्रसादमयता है जिसका अपना आकर्षण है।

'आर्यावर्त' और 'रश्मिरथी' का सम्बन्ध जीवन के राजनैतिक पक्ष से है। अतः युद्धादि से सम्बन्धित घटनाओं या प्रसंगों का इनमें प्राधान्य है। इस प्रकार के वर्णनों के लिए शैली में जिस सशक्तता और पौरुष की अपेक्षा है, उस पर इन कवियों का पूर्णाधिकार है। 'आर्यावर्त' के कवि ने वातावरण-निर्माण करके घटना के लिए अनुकूल पृष्ठभूमि तत्पर करने में स्थान-स्थान पर अपूर्व क्षमता का परिचय दिया है। आगामी सम्भावित भयकर घटना का आभास वातावरण के वर्णन से ही पाठक को हो जाता है। महानाश के उपरान्त आगामी कार्यक्रम की योजना से पूर्व रणभूमि में चन्द का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है—

पश्चिम क्षितिज पर दिन की चिता जली।
अंधकार छा गया चितानल के धूम से॥[2]

इस प्रकार के उदाहरण काव्य में अगणित हैं, किन्तु स्थूल इतिवृत्तात्मक वर्णनों की भी कमी नहीं। कविरानी और संयोगिता-संवाद का सम्पूर्ण प्रसंग ऐसा ही है। इसी प्रकार कहीं युद्ध-वर्णन अत्यन्त पौरुषेय और सशक्त हैं, अन्यत्र अत्यन्त स्थूल क्रिया-कलापों और युद्ध सम्बन्धी घटनाओं व उपकरणों का वर्णन है। नवम सर्ग में ऐसे वर्णनों का प्राचुर्य है। त्रासद और ओज-प्रधान घटनाओं की प्रधानता के कारण शैली में भी माधुर्य और लालित्य बहुत ही कम स्थलों पर मिलेगा।

'रश्मिरथी' में भी इसी प्रकार सामान्यतः सीधे-सादे, कहीं-कहीं अत्यन्त व्यवहारोपयुक्त शैली और भाषा में वर्णन किये गए हैं—

सहम गया सुन शपथ कर्ण की, हृदय विप्र का डोला,
नयन झुकाए हुए भिक्षु साहस समेटकर बोला,
धन की लेकर भीख नहीं मैं घर भरने आया हूँ,
और नहीं नृप को अपना सेवक करने आया हूं।[3]

१. साकेत—मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ २६
२. आर्यावर्त—पं० मोहनलाल महतो, पृष्ठ ३३
३. रश्मिरथी—दिनकर, पृष्ठ ६१

यही अनौपचारिक, स्पष्ट वार्ता की-सी शैली, सप्तम सर्ग में युद्ध-वर्णन के प्रसंग में विलक्षण रूप से समर्थ हो उठी है। युद्ध की भयंकरता और हुंकार मानो शब्द उगल रहे हैं—

हेषा रथाश्व की, चक्र-रोर,
दन्तावल का बृंहित अपार,
टंकार धनुर्गुण की भीषण,
दुर्मद रणशूरों की पुकार।
खलमला उठा ऊपर खगोल,
कलमला उठा पृथ्वी का तन,
सन-सन कर उड़ने लगे विशिख,
झनझना उठीं असियां झनझन।[1]

'रश्मिरथी' में कहीं-कहीं (कुन्ती-कर्ण मिलन प्रसंग) शैली में द्रवणशीलता और मार्मिकता भी है। इन स्थलों पर करुणा और आत्मद्रव का भी अंकन उसी सफलता से हुआ है जिससे जीवन्त और विराट का।

'साकेत-संत' के कवि की बहुत बड़ी परिसीमा उसकी कथा रही है। अन्य रचनाओं की भाँति कवि ने प्रगीत-शैली में लगभग सम्पूर्ण अन्तिम सर्ग की रचना की है। आन्तरिक उद्‌गारों की सजीव व मार्मिक अभिव्यक्ति है, किन्तु वर्णनप्रधान स्थलों पर अभिव्यक्ति के लाघव का सर्वथा अभाव है। घटनाओं के स्वरूप के कारण काव्य की शैली में सशक्त प्राणवत्ता की आशा करना व्यर्थ ही है। फिर भी एक प्रकार की स्पष्टता, सफाई और प्रसादमयता इन सभी काव्यों की शैली में परिव्याप्त है जिसका अपना आकर्षण और महत्त्व है।

'जयभारत' की शैली में उल्लेखनीय सौन्दर्य एवं सामर्थ्य का अभाव है। कवि केवल कथा कहना चाहता है। 'कैसे'? की प्रायः उसने उपेक्षा ही की है, अतः विशेष भव्यता, उदात्तता, व्यंजना-वक्रता आदि गुण शैली में प्रविष्ट नहीं हो पाए। कहीं-कहीं केवल तथ्य को पद्यबद्ध करने की आकांक्षा से कवि ने गद्यात्मक शैली में छन्द-रचना की है। वर्णन-पद्धति भी अत्यन्त वस्तुपरक है—

कर्ण, एक शक्ति थी, उसे भी तुम खो चुके।
यह तो था बेटा, अभी बाप-काका है सभी।[2]

कुछ इने-गिने प्रसंग समर्थ और गरिमायुक्त शैली में लिखे गए हैं, किन्तु काव्य के बृहदाकार की दृष्टि से उनकी संख्या अत्यल्प है। 'जयभारत' की शैली की एक विशेषता ने काव्य के समग्र प्रभाव की रक्षा की है, और वह है उसमें गति व प्रवाह का गुण। ग्रन्थ में आद्योपांत विस्तार होने पर भी गत्यवरोध कहीं नहीं उपस्थित हुआ है, पाठक को यही सन्तोष होता है।

'ऊर्म्मिला' की शैली में उक्त गुण की रक्षा भी नहीं हो सकी। काव्य के हर प्रसंग में, चाहे वह नगर-वर्णन हो या नायिका की विरहाभिव्यक्ति, कवि ने अतिशय विस्तार किया है।

---

१. रश्मिरथी—दिनकर, पृष्ठ १४६
२. जयभारत—मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ ३८२

शैली में भव्यता और गरिमा के लिए अवकाश ही नहीं था। जीवन के कोमल और मार्मिक प्रसंगों की रचना ललित और रम्य शैली में ही हो सकती थी, किन्तु कवि की सर्वथा परम्परा-भुक्त शैली, अनपेक्षित वर्णन-विस्तार, स्थूल वस्तुप्रधान दृष्टि और ग्राम्य भाषा के अक्षम्य प्रयोगों के बीच में कहीं-कहीं अंशतः अभिव्यक्ति का सौन्दर्य और मनोरमता भी मरुस्थल के जलाशय के समान दुर्लभ और विरल प्रतीत होती है। कहीं-कहीं हृदय के कोमल भावों की अभिव्यक्ति माधुर्यसिक्त शैली में मार्मिक बन पड़ी है। किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं। सबसे अधिक खटकने वाली बात शैली का स्थैर्य है। हर प्रसंग अपने स्थान पर जड़ है, आगे बढ़ना नहीं चाहता और यह प्रवाह-बाधा जो बहुत कुछ कथा-संघटना और वर्णन-विस्तार के कारण उत्पन्न हुई है, शैली के कौशल में भी अन्तर्धान नहीं हो सकी। असमर्थ शैली से यह रोग और भी असाध्य हो गया है। किसी दृष्टि से यह काव्य महाकाव्य के गौरव का अधिकारी नहीं बन सका।

विवेच्य ग्रन्थों के अब तक किये गए रूप-विधान सम्बन्धी विश्लेषण के उपरान्त उनके समग्र रूप में परम्परागत, शास्त्रानुमोदित और नवीन तत्त्वों का व्यावर्त्तन और स्थान-निर्धारण किया जा सकता है।

परम्परागत-तत्त्व

कथानक

(१) इन सभी काव्यों के कथानक प्रख्यात, ऐतिहासिक या पौराणिक हैं। इन सभी की कथा-संघटना में यद्यपि अविच्छिन्न धारा-प्रवाह नहीं फिर भी शास्त्रों में निर्दिष्ट नाटकीयता के निर्वाह के बन्धन को उन्होंने स्वीकार किया है। कुछ में नाटच सन्धियों द्वारा, और अन्य में पाश्चात्य विधानानुसार नाटकीयता का निर्वाह किया गया है।

(२) घटनाओं का स्वरूप मूर्त है। यथास्थान अमूर्त-व्यंजना का समावेश होने पर भी प्रधानता मूर्त की ही है। अमूर्त और सूक्ष्म की अपेक्षा मूर्त, स्थूल एवं वस्तुप्रधान कहीं गौण नहीं हुआ है।

(३) इनका आकार महाकाव्योचित और विस्तृत है। आचार्यों द्वारा वर्ण्य विषयों की सम्पूर्ण सूची का तो नहीं, किन्तु उसमें से पर्याप्त विषयों का घटना तथा प्रसंग के अनुकूल वर्णन-विस्तार भी इन रचनाओं में हुआ है।

शैली

(१) सर्ग-विभाजन, निर्दिष्ट लक्षणों के अनुसार ही है। सर्ग-संख्या के नियम की अवमानना जो एकाध कृति में हुई है, वह आधुनिकता के आग्रहवश नहीं। इस प्रकार के अपवाद मध्ययुगीन साहित्य में भी मिलते हैं। नामकरण में भी उल्लेखनीय नवीनता का अभाव है।

(२) बाह्य और औपचारिक वर्णन-रूढ़ियों का सामान्यतः त्याग करने पर भी मंगलाचरण की रूढ़ि का निर्वाह किसी न किसी रूप में किया गया है।

(३) छन्द-विधान में नवीन और प्राचीन का मिश्रण है, किन्तु बहुलता प्राचीन और शास्त्रीय की ही है। इन कवियों ने ('आर्यावर्त' को छोड़कर) छन्दों के संस्कृत और हिन्दी-पिंगल-

शास्त्र में विहित ढाँचे ही अधिक अपनाए हैं। मात्रिक और वर्णिक दोनों ही प्रकार के वृत्तों का अत्यन्त साफ-सुथरा प्रयोग इन काव्यों में प्राप्य है। एक ही छन्द में सर्ग-रचना का नियम प्रायः परिपालित है। सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन की विधि भी कुछ रचनाओं में विशेष सीमा तक अपनाई गई है, किन्तु ये सभी कवि सर्वत्र इस बन्धन में नहीं बँधे।

(४) इन काव्यों की अलंकरण-कला में भी परम्परागत काव्य-सामग्री, सीधी-सादी स्पष्ट अभिव्यक्ति, कवि-परम्परा में प्रसिद्ध अलंकरण के उपादानों का प्रयोग प्रभूत मात्रा में हुआ है। नवीनता का इस दिशा में अभाव नहीं किन्तु प्राचीनता की उपेक्षा भी नहीं। किसी कृति में यह प्रवृत्ति अधिक है ('ऊर्म्मिला' और 'जयभारत') अन्य में उतनी नहीं।

(५) शैली के प्रसाधनों में भी कथावस्तु के अनुकूल, इन्होंने महाकाव्यापेक्षित गरिमा और उदात्तता का परिचय सामान्यतः दिया है। 'ऊर्म्मिला' आदि के अतिरिक्त इन काव्यों की शैली में सामान्यतः बहुत बड़े पैमाने पर विराट दृश्य-शृंखला[1] तो सर्वत्र नहीं किन्तु अंश-अंश परखने से विराट, भव्य, कोमल और मृदुल-मन्थर चित्र मिल जाएँगे।

अन्य प्रभाव

कथानक

(१) छायावाद के उन्मेष के मूल में प्रेरणा-रूप से कार्य करने वाली व्यापक नवीन चेतना से इस वर्ग का प्रबन्ध-लेखक भी प्रभावित हुआ है। विभिन्न कारणों से उद्भूत इस नवीन काव्य-सरणी का प्रथम अभियान आत्म के अभिज्ञान और महत्त्व प्रतिपादन की ओर हुआ। इन काव्यों के प्रख्यात कथानकों के साथ किसी न किसी रूप में व्यक्ति या समस्या अनिवार्य रूप से जुड़ी है। जहाँ व्यक्ति का राग-विराग प्रमुख है वहाँ छायावादी काव्य-चेतना का प्रभाव है, और जहाँ सामाजिक समस्या प्रबुद्ध है वहाँ छायावाद के प्रतिक्रिया-स्वरूप उदित होने वाली समष्टि की पोषक समाजवादी विचारधारा का। 'साकेत,' 'साकेत-संत', और 'ऊर्म्मिला' पर पहली, और 'रश्मिरथी' के कवि पर दूसरी प्रवृत्ति का प्रभाव है। 'आर्यावर्त' और अंशतः 'जयभारत' राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित हैं। किसी न किसी रूप में एक या दूसरी युग-चेतना से महाकाव्य का परम्परागत रूप परिवर्तित अवश्य हुआ है। उसमें भौतिक घटनाओं, स्थूल वस्तुपरक और ऐहिक जीवन-मूल्यों के साथ समान महत्त्व से मानसिक घटनाओं, सूक्ष्म आत्मपरक मूल्यों और अमूर्त चेतना का भी समागम हो गया है।

(२) कथानक-संघटना में इन कृतिकारों ने नाटकीयता की रक्षा करते हुए भी जो योजना अपनायी है, वह पाश्चात्य विधि के अधिक समीप है। इन्होंने पंच-संधियों की व्यंजना को तो ग्रहण किया, किन्तु वस्तु-विन्यास के नियमों को नहीं। इनमें से अनेक में उपाख्यान से युक्त दोहरी-तीहरी कथा की ही योजना नहीं, अतः संधियों का प्रश्न नहीं उठता। परन्तु नाटकीय चढ़ाव-उतार एवं सुनिश्चित आरम्भ, चरम और अवसान सब में स्पष्ट है, और यह विकास पाश्चात्य संविधान के अधिक अनुकूल है।

---

१. Panoramic-vision

(३) प्रसंगों के व्यर्थ वर्णन-विस्तार में संकोच की प्रवृत्ति भी कदाचित् इन कवियों ने आँग्ल साहित्य से ग्रहण की है। वर्णन-विस्तार इन्होंने उसी सीमा तक किया जितना प्रसंग के लिए उचित है। समीक्षा-शास्त्र मे गिनाए वर्णनों का बरबस समावेश महाकाव्यत्व की रक्षा के लिए नहीं किया गया। कहीं-कहीं लक्षण-निर्वाह की झोंक में ये कवि बहक गए हैं, किन्तु बहुत कम।

शैली

(१) इन कवियों के छन्द-विधान पर हिन्दी-इतर साहित्य का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। प्रगीत-शैली में रचना तो परोक्ष रूप से अँगरेजी साहित्य के प्रभाववश हुई ही है। बँगला के पयार छन्द के समानान्तर माइकेल मधुसूदन का अमित्राक्षर छन्द 'आर्यावर्त' के समग्र में और 'जयभारत' के सर्ग-विशेष में अपनाया गया है। हिन्दी के अपने छन्दों के अतिरिक्त संस्कृत के वर्णवृत्तों और कालिदास के वियोगिनी ('साकेत' दशम सर्ग) आदि छन्दों का प्रयोग भी हुआ है।

(२) अलंकरण-कला में भी अँगरेजी साहित्य के मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, ध्वन्यार्थ-व्यंजना आदि अलंकारों का ग्रहण तो किया ही गया है, अँगरेजी भाषा की अति विकसित लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता के समानान्तर भाषा के अनेकानेक लाक्षणिक, व्यंजना-वैचित्र्य से युक्त व चित्रमय प्रयोग इन काव्यों में किये गए। भाषा-प्रयोग की पुरानी रीति-नीति के साथ उसे अधिकाधिक शक्ति-सम्पन्न बनाने का आधुनिक प्रयत्न भी इन काव्यों में प्राप्य है। हर प्रकार की घटनाओं और भावों को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य लक्षणबद्ध प्रबन्धों की अपेक्षा इन कृतियों में कहीं अधिक है।

स्वतन्त्र व नवीन उद्भावनाएँ

कथानक

इस क्षेत्र में इन कवियों की मौलिकता कथानक के चयन में नहीं, उसके संयोजन में है। एक कथा (राम-कथा) का ग्रहण तीन भिन्न कवियों ने किया किन्तु प्रत्यंकन का ढंग तीनों का अपना-अपना है। घटनाओं का पूर्वापरक्रम-निर्धारण, उनमें परस्पर सम्बन्ध-स्थापना, उपाख्यानों का प्रयोग तथा वस्तु-विन्यास की योजना उनकी अपनी-अपनी है। दूसरे शब्दों में कथानक परम्परा-प्रसिद्ध है, किन्तु क्रम-निर्वाह सब का मौलिक है। कथा के मौलिक सम्बन्ध-निर्वाह के अतिरिक्त इन कवियों ने कुछ प्रसंगों की नवीन उद्भावना अर्थात् अविद्यमान की कल्पना भी की है। विशेष प्रसंगों में विस्तार और संक्षेप भी इनकी निजी मान्यता, आवश्यकता और अभिरुचि के अनुसार हुआ है। कोई अन्य विषय-सम्बन्धी मौलिकता इन कृतियों में नहीं मिलती।

शैली

(१) सर्गविभाजन-पद्धति में मौलिकता के दर्शन दो प्रबन्धों में होते हैं। 'जयभारत' और 'ऊर्म्मिला'। एक में सर्गों का उपविभाजन किया गया है, और दूसरे में कथा का विभिन्न शीर्षकों में अतिविभाजन। इनके औचित्य का परीक्षण पीछे किया जा चुका है, अतः यहाँ पुनरावृत्ति उचित न होगी किन्तु सर्गविभाजन की यह पद्धति इन कवियों की अपनी है।

(२) मंगलाचरण के अतिरिक्त इन कवियों ने वर्णन-सम्बन्धी अन्य बाह्य रूढ़ियों का एक बार ही सर्वथा त्याग कर दिया। इनके प्रति उपेक्षा-भाव का आभास पहले ही 'प्रियप्रवास' आदि काव्यों में मिलने लगा था। इन कवियों ने इन रूढ़ियों की पूर्णतः अवज्ञा कर दी। सर्गान्त में भावी कथा-सूचना की रूढ़ि का अवश्य कुछ कवियों ने एक सीमा तक पालन किया है।

(३) छन्द-विधान की दृष्टि से भी इन कवियों ने अनेक मौलिक प्रयोग किये। प्रसंगानकूल छन्द के चयन की क्षमता तो इनमें है ही। कथा की आवश्यकता के अनुसार प्रसंग की मन्थरता या त्वरा को दृष्टि में रखते हुए ही छन्दों की लय के अनुसार प्रसंग-विशेष में उनका ग्रहण किया गया है। इसी आवश्यकता के वशीभूत होकर कहीं इन कवियों ने छन्दों के मिश्रण से नए ढाँचे बनाये हैं और कहीं नवीन छन्द-निर्माण किया है—'साकेत' के सप्तम सर्ग का छन्द कवि का अपना ही है।

(४) शैली में अप्रस्तुत-योजना या अलंकरण की दृष्टि से—कुछ विदेशी साहित्य के सम्पर्क के कारण और कुछ अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर अनेक नवीन प्रयोग इन काव्यों में किये गए। कहाँ और कैसे? इस पर विस्तारपूर्वक विचार किया जा चुका है। 'ऊर्म्मिला' के कवि ने भाषाविषयक मौलिक प्रयोग भी किया। एक ही प्रबन्ध में खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनों का प्रयोग किया गया है। कदाचित् उनके अनुसार खड़ीबोली की खड़खड़ाहट अब तक विरह जैसी मार्मिक और कोमल अनुभूति को अंकित करने में समर्थ नहीं, इसीलिए उन्होंने इस सम्पूर्ण प्रसंग में ब्रजभाषा की माधुरी से लाभ उठाने का प्रयत्न किया है। प्रयोग उचित हो या नहीं, मौलिक अवश्य है।

रूप-विधान की दृष्टि से शास्त्रीय कसौटी अब इन रचनाओं के महाकाव्यत्व की परख के लिए पिछड़ चुकी है। उस निकष पर परीक्षा करने से कदाचित् ये सभी ग्रन्थ महाकाव्य के वृत्त से बाहर जा पड़ेंगे। फिर भी प्राचीन भारतीय और पाश्चात्य सैद्धान्तिक मान्यताओं को दृष्टि में रखते हुए—विषय, शैली और रूप-विधान सभी दृष्टियों से केवल 'साकेत' एक ऐसी रचना है जिसे निस्संकोच रूप में महाकाव्य कहा जा सकता है। थोड़ी-सी खींचातानी करने पर 'आर्यावर्त' और 'रश्मिरथी' भी इस क्षेत्र में घसीटे जा सकते हैं, किन्तु 'साकेत-सन्त' और 'ऊर्म्मिला' को किसी आधार पर भी महाकाव्य स्वीकार करने के लिए महाकाव्य के स्तर और कसौटी को बहुत नीचे उतारना होगा। 'जयभारत' प्रबन्ध-रचना का गौरव है, किन्तु महाकाव्य नहीं। उसका शिल्प-विधान उसे बहुत-कुछ लघु पुराण के निकट ला देता है।

३. सर्वथा नवीन प्रयोग

विवेच्य युग की प्रबन्ध कृतियों में तृतीय और विशेष महत्त्वपूर्ण वर्ग उन कतिपय रचनाओं का है जिनमें अपने पूर्ववर्ती महाकाव्यों को सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से आदर्श नहीं माना गया और जिनके रूप-विधान में परस्पर भी वैषम्य अधिक और साम्य बहुत कम है। इस दृष्टि से इस वर्ग की प्रत्येक रचना का अध्ययन और विवेचन उसकी निजी विशेषताओं को दृष्टि में रखते हुए पृथक् रूप से करना उचित होगा। इनमें शिल्प-सम्बन्धी बहुत कम विशेषताएँ ऐसी हैं, जो समान रूप से एकाधिक प्रबन्ध में प्राप्त होती हैं। एकाध अपवाद के

अतिरिक्त सभी ग्रन्थों के रचना-विधान में कृतिकार का अपना मौलिक दृष्टिकोण है, स्वनिर्मित आकार-प्रकार है और जहाँ अन्य साहित्य से कला प्रभावित है, वहाँ भी प्रभाव-ग्रहण और प्रयोग एक विशेष निजीपन से किया गया है। एक विशेषता जो इन रचनाओं की सामान्य विशेषता स्वीकार की जा सकती है, वह है इनकी पूर्ववर्ती और समकालीन साहित्य में काव्य-रूप-सम्बन्धी नवीनता और मौलिकता। इनका यह वैषम्य ही वह साम्य है जिसके आधार पर इनका वर्गीकरण एक सामान्य वर्ग के अन्तर्गत इनकी नूतन, रूढ़िमुक्त कला को दृष्टि में रखते हुए किया गया है। कालक्रमानुसार इस वर्ग की रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

१. कामायनी—प्रसाद।
२. विक्रमादित्य—गुरुभक्तसिंह।
३. मेधावी—डा० रांगेय राघव।
४. तप्तगृह—प्रभात।
५. ऋतंवरा—प्रभात।

इन सभी प्रबन्धों में रूप-विधान की दृष्टि से नया प्रयोग किया गया है, किन्तु शिल्प-सम्बन्धी यह नवीनता इनमें परस्पर समान नहीं है। 'ऋतंवरा' का समग्र रूप अवश्य ही 'कामायनी' की कला से प्रभावित हुआ प्रतीत होता है। 'कामायनी' पढ़ने के उपरान्त इस रचना का पूर्वार्द्ध विशेषकर 'कामायनी' का छायाभास-सा प्रतीत होता है। 'विक्रमादित्य' और 'मेधावी' अपने ढंग की स्वतन्त्र रचनाएँ हैं। उनके शिल्प पर पाश्चात्य प्रभाव ढूंढ़ने का प्रयत्न किया गया है, जो कुछ सीमा तक ठीक ही है, किन्तु इन रचनाओं में एक-दूसरे का पारस्परिक अनुकरण नहीं है और न ही इनमें रूप-विधान सम्बन्धी विशेषताएँ समान हैं, केवल इन सबकी कला शास्त्र-विहित कला नहीं। 'मेधावी' के शिल्प में परम्परागत लक्षणों की उपेक्षा अपने चरम पर है, ढूंढ़ने से भी शास्त्रीय महाकाव्य का कोई लक्षण इस रचना में कदाचित् न मिले। दूसरी ओर 'कामायनी' के कवि ने यद्यपि इन बन्धनों के प्रति सायास निष्ठा व्यक्त नहीं की, किन्तु उन्होंने पूर्व-निश्चित लक्षणों का प्रयोग बाधक-रूप में न करके साधक-रूप में किया है। उन्होंने जहाँ प्रयत्नपूर्वक लक्षणों में बँधे रहने की ओर प्रवृत्ति नहीं दिखाई, वहाँ इनकी अवमानना भी सँभलकर नहीं की है। प्रतीत होता है इस दिशा में किसी प्रकार का विधि-निषेध कवि के सामने नहीं रहा। उनके विषय और मनोवृत्ति के अनुकूल जो कुछ पड़ा वह उन्होंने अनायास अपना लिया, और शेष का त्याग कर दिया। ऐसा करने से पूर्व कदाचित् लक्षणों की सूची का परीक्षण करने की आवश्यकता भी उन्हें न रही होगी। इसीलिए 'कामायनी' में महाकाव्य के निर्दिष्ट लक्षणों में से बहुत-से नहीं मिलने पर भी अधिकांश महत्त्वपूर्ण लक्षण परिपालित मिल जाते हैं। किन्तु ऐसा करने के लिए कवि को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ा, योजना नहीं बनानी पड़ी, यह 'कामायनी' की कला से, और प्रसादजी की साहित्यिक मान्यताओं से स्पष्ट है। सामान्यतः उनकी कृतियों में हर दृष्टि से प्राचीन और अभिजात्य कला और संस्कारों के प्रति आस्था व्यक्त होती है, मोह नहीं। कुछ ऐसा ही दृष्टिकोण 'कामायनी' के रूप-विधान के सम्बन्ध में भी प्रतीत होता है।

'विक्रमादित्य' के कवि ने 'मेधावी' और 'कामायनी' के बीच मध्यवर्ती मार्ग अपनाया है। 'विक्रमादित्य' का कवि रूढ़ि-विरोध के लिए कटिबद्ध नहीं है, किन्तु परम्परागत शिल्प-

विधान के लिए उसके हृदय में कोई मोह भी नहीं दिखाई पड़ता। 'विक्रमादित्य' की कला में प्राचीन मान्यताओं (शिल्प-सम्बन्धी) में क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं मिलता किन्तु परम्परागत विशेषताओं में से अधिकांश इस काव्य में अप्राप्य हैं। प्रतीत होता है कि कवि सिद्धान्ततः रूढ़ि-विरोधी नहीं किन्तु व्यवहार में लीक पर चलने की विशेष अनिवार्यता भी उसने नहीं समझी है। कवि 'प्रभात' की दूसरी रचना 'तप्तगृह' का रूप-विधान भी प्राचीन और नवीन के संयोग से हुआ है, किन्तु 'विक्रमादित्य' और 'ऋतंवरा' से पर्याप्त मात्रा में भिन्न ढंग से। महाकाव्य के कुछ गौण एवं ऊपरी लक्षण उसमें शास्त्रीय ढंग के मिल जाते हैं किन्तु इस काव्य की मुख्य और अधिकांश विशेषताएँ नवीन चेतना-प्रसूत हैं। अनेक नवीनताओं के होते हुए भी इस कृति को निर्विवाद रूप से महाकाव्य नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि उसके रूप-निर्माण में उन समस्त प्रधान विशेषताओं की रक्षा नहीं हो सकी जो किसी रचना को महाकाव्य के गौरव से अलंकृत करती है। कारण—इस काव्य के विषय की सीमाकला की परिसीमा बन गई है। इन रचनाओं के काव्य-रूप का विधिवत् विवेचन करने से उक्त धारणाएँ स्पष्ट हो सकेंगी।

कथानक (स्वरूप और संघटन)

इन रचनाओं के कथानक भारतीय काव्य-शास्त्रानुमोदित—अर्थात् इतिहास शब्द के व्यापक अर्थ में ऐतिहासिक है। अधिक निश्चित शब्दावली में—इन कथानकों के स्रोत इतिहास और पुराण रहे हैं। 'कामायनी' और 'ऋतंवरा' के कथानक-सूत्र पुराणों में बिखरे हैं, जिन्हें दोनों कवियों ने अपनी-अपनी आवश्यकता, उद्देश्य और रुचि के अनुकूल कल्पना और विवेक के डोरों से बाँधा है। 'विक्रमादित्य' का कथानक विशेष प्रख्यात नहीं, किन्तु ऐतिहासिक है। 'तप्त-गृह' का सम्बन्ध इतिहास के उस मार्मिक प्रसंग से है जो प्रसादजी के नाटक 'अजातशत्रु' का प्रेरक रहा है। इस दिशा में उलझन केवल 'मेधावी' के चिन्तनशील कवि के सामने प्रस्तुत हुई है। अपने काव्य की तथाकथित कथा के मूल का परिचय देते हुए प्राक्कथन में उन्होंने कहा—"दर्शन, भूगोल, इतिहास, काव्य, समाजशास्त्र आदि सबका इसमें सम्मिश्रण है, अतः इसकी भूमि बहुत विस्तीर्ण है।"[1] किन्तु इस विस्तीर्ण भूमि को समाहित करने के प्रयास में कथा का स्वरूप बहुत उलझ गया है। स्पष्ट रूप से 'मेधावी' की कथा, व्यवस्थित और इतिहासबद्ध नहीं है। उसमें अन्य शास्त्रों का आधार भी एकनिष्ठ रूप में ग्रहण नहीं किया गया, अतः उसमें सब-कुछ होते हुए भी कथा के नाम पर कुछ नहीं है। प्रबन्ध काव्य का अन्य काव्य-रूपों से व्यावर्तक धर्म—उसके विभिन्न प्रसंगों और घटनाओं की पारस्परिक एकसूत्रता, और किसी निश्चित अन्त या लक्ष्य की ओर क्रमबद्ध, व्यवस्थित और समुचित विकास है। यह एकसूत्रता आधुनिक-काल के प्रबन्धों में केवल कथा या आख्यान की न होकर कहीं-कहीं विचार-सम्बन्धी भी होती है। 'मेधावी' के समस्त कलेवर में घटनाएँ नहीं हैं। लेखक के अपने शब्दों में उसके पात्र भी अशरीरी हैं, जिनका कोई वस्तुरूप नहीं—"इस काव्य के नायक-नायिका—इतिहास और गति हैं, और मेधावी के द्वारा प्रगट हुए हैं।"[2] दूसरे शब्दों में मेधावी एक कल्पित व्यक्तित्व या बुद्धि का

१. मेधावी—डा० रांगेय राघव, प्रथम संस्करण, प्राक्कथन
२. वही

मानवीकृत रूप है जिसके द्वारा संसार के इतिहास में घटित घटनाएँ, उनकी क्रमिक गति, कुछ भूगोल और कुछ खगोल में स्थित नित्य गतिमान तत्त्वों का भावपरक वर्णन, सृष्टि के क्रम-विकास की कथा के कुछ धुंधले संकेत, और इन सबसे प्रतिध्वनित होने वाले कुछ अत्यन्त अस्पष्ट-से निष्कर्ष—यही इस काव्य की कथा है। यदि कुछ शब्दों में 'मेधावी' की कथा का सारांश प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाय, तो यह कार्य सर्वथा असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। एक बार पढ़ने के उपरान्त 'मेधावी' की विषय-सामग्री को स्मृति में भी स्पष्टतया धारण नहीं किया जा सकता। सारांश में, 'मेधावी' का कथानक यद्यपि लेखक के अनुसार अनेक शास्त्रों की विस्तीर्ण भूमि से अपनाया गया है, किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो यह सामग्री काव्य का प्रधान विषय नहीं है। 'मेधावी' वस्तुतः विचार-प्रधान काव्य है जिसमें घटनाएं घटित नहीं होतीं, उनकी प्रस्तुति न प्रत्यक्ष होती है, न विगत स्मृति के रूप में। वे कवि के द्वारा व्यक्त सिद्धान्तों को पुष्ट व उसकी चिन्ताधारा को उद्दीप्त करती हैं। काव्य का स्वरूप न आख्यानात्मक है, न घटना-प्रधान, और न चरित्र-प्रधान; उसमें प्रमुखता विचारों की है, और काव्य के माध्यम से सिद्धान्तों का परिपोषण कवि का लक्ष्य है।

'मेधावी' के अतिरिक्त 'विक्रमादित्य' को छोड़कर शेष तीनों कृतियों में इतिहास और पुराण साहित्य से उपलब्ध कथा का नियोजन और प्रयोग कवियों ने अपने ढंग से किया है। कथा-निर्माण की विधि यद्यपि अपनी-अपनी है, किन्तु इस नवीनता को इसके मूल में क्रियाशील दो मुख्य प्रवृत्तियों के आधार पर सरलता से समझा जा सकता है। ये प्रवृत्तियाँ इन कलाकारों को युग-चेतना से प्राप्त हुई। आधुनिक युग में समय की प्रगति के साथ जीवन में स्थूल वस्तु-तथ्य के अतिरिक्त उसके प्रेरक सूक्ष्म भाव-सत्य के अभिज्ञान और उद्घाटन की कामना मानव में बलवती होती गई; परिणामतः कला के क्षेत्र में भी शरीरी, मूर्त और बाह्य-सौन्दर्य व जीवन के साथ अशरीरी, अमूर्त और आन्तरिक भाव-जगत् से अधिकाधिक विषय अपनाए जाने लगे। कम से कम घटनाओं के आन्तरिक भावात्मक रूप से असम्पृक्त केवल बाह्य घटनात्मक स्वरूप के इति-वृत्त-कथन या समाख्यान की पद्धति प्रबन्धों में भी पूर्ववर्ती साहित्य की भाँति नहीं रही। इतिहास का तथ्य देश और काल से आबद्ध होता है। उसकी घटनाओं से प्रतिध्वनित होने वाले जीवनगत मूल्यों की अपनी सामयिक महत्ता होती है। इन सामयिक मान्यताओं का परित्याग कर उनके मूल में से दार्शनिक और वैज्ञानिक आधार पर शाश्वत जीवन-मूल्यों को खोज निकालने, और उनकी काव्यमय व्याख्या और स्थापना करने का प्रयत्न इन कवियों ने किया है। इस विषय में उनका निश्चित मत था—

"आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते है। तब भी उसके तिथि-क्रम मात्र से सन्तुष्ट न होकर, मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उनके मूल में क्या रहस्य है ? आत्मा की अनुभूति ! हाँ, उसी भाव के रूप ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती है। किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव, चिरंतन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग-युग के पुरुषों की और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती

रहती है।"[१]

इस प्रकार मूर्त के साथ अमूर्त की महत्त्व-प्रतिष्ठा, और इतिहास-पुराण के सामयिक स्थूल वस्तु-तथ्य के मूल में अन्तर्निहित शाश्वत, सूक्ष्म भाव-सत्य को खोज, उसके आधार पर चिरंतन जीवन-मूल्यों की स्थापना—इन्हीं दो प्रवृत्तियों ने इन काव्यों की प्रेरणा का निर्माण किया। अतः मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण शास्त्रों का सहारा आख्यान काव्यों में भी लिया जाने लगा। यह प्रयोग इन काव्यों में दो रूपों में हुआ है। सम्पूर्ण कथा के द्विअर्थक अर्थात् रूपकात्मक रूप-विधान के रूप में, तथा घटनाओं के अभिकर्ता या भोक्ता पात्रों की मानसिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के प्रत्यंकन या उद्घाटन के रूप में। पहली पद्धति के सफल निर्वाह के लिए विशेष नवोन्मेषिनी प्रतिभा की अपेक्षा है, अतः इस कौशल का अवलम्बन प्रसाद जैसे मेधावी कलाकार ने लिया। दूसरे मार्ग का ग्रहण 'प्रभात' ने 'तप्तगृह' में किया। 'ऋतंवरा' पर 'कामायनी' का प्रभाव पड़ा, अतः उसमें 'कामायनी' जितने बड़े पैमाने पर सम्पूर्ण काव्य में तो नहीं, सर्ग-विशेष में (सातवें) लेखक ने रूपक-योजना का प्रयत्न किया है। किन्तु कवि इस प्रयास में बहुत दूर तक नहीं जा सका। 'कामायनी' की सम्पूर्ण कथा द्विअर्थक कथा है। उसकी ऐतिहासिकता और उस रूप की महत्ता पर भूमिका में पर्याप्त बल देने पर भी प्रसाद ने उसमें केवल स्थूल घटनाओं और पात्रों की नहीं, सूक्ष्म मनोवृत्तियों और भावनाओं के विकास-क्रम की कथा को भी लिपिबद्ध किया है। उनके अपने शब्दों में—

"यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है।".....

"यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।".....आदि।[२]

उपर्युक्त कथनानुसार कामायनी की कथा में आद्योपान्त सभी प्रसंगों के स्थूल और सूक्ष्म दो अर्थ स्पष्ट हैं। एक के निर्वाह के लिए कवि को दूसरे के साथ बलात्कार कहीं नहीं करना पड़ा। अत्यन्त सहज क्रम से पौराणिक कथा पर आत्मा की आनन्दानुभूति की कथा आरोपित है। प्रसाद ने जहाँ कल्पना से कथा की कड़ियाँ मिलाई हैं वहाँ मनोविज्ञान के सहारे भूत और वर्तमान में भी सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। 'कामायनी' की कथा के कलेवर में अनेकानेक प्रस्तुत प्रश्न और उनका दार्शनिक ढंग से समाधान अन्तर्भूत है, और सब कुछ इस प्रकार, जैसे कथा का सहज अंग हो। यही उनकी सफलता है।

'ऋतंवरा' के कवि के मन में भी कुछ इसी प्रकार का मोह रहा है। किन्तु इस कृति की प्रेरणा और परिणति में समय के अन्तराल के परिणामस्वरूप उनकी चिन्ताधारा में युग-परि-

१. कामायनी—जयशंकर प्रसाद, आमुख, पृष्ठ ४
२. कामायनी—जयशंकर प्रसाद, आमुख, पृष्ठ ४, ७

स्थितियों से प्रभावित होकर जो परिवर्तन आते रहे, उनसे काव्य की समग्र कथा में प्राचीन और नवीन के बीच एक भद्दा जोड़ आ गया है। 'ऋतंवरा' की सम्पूर्ण कथा द्विअर्थक नहीं है। काव्य का आधे से अधिक भाग नितान्त आख्यानात्मक है। इस अंश का सूत्रपात 'सर्ग' नाम से कवि १९३९ में कर चुका था। उसके उपरान्त विविध कारणों से यह अपूर्ण अंश १९५५ से पहले पूर्ण नहीं हो सका—

"एक दिन प्रातःकाल जब यह क्रिया चल रही थी अकस्मात् मैंने अनुभव किया कि 'सर्ग' की कल्पना को वर्तमान और भविष्य से मिला सकता हूँ। पुस्तक समाप्त करने के बाद मैंने अनुभव किया कि इसकी कल्पना-भूमि अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक हो गई है। यह भी अनुभव किया कि भेद-भरे वैदिक एवं पौराणिक शब्दों के अभेद्य जाल में छिपा हुआ अतीत न केवल वर्तमान में साकार हो उठा है अपितु भविष्य भी उसके साथ उसी परम्परा में खड़ा है और मानवता की एक अविच्छिन्न परम्परा स्पष्ट दीख पड़ती है।"[1]

इस काव्य में निश्चय ही प्राचीन, वर्तमान और भविष्य-सम्बन्धी कवि की धारणाएँ व्यक्त हुई हैं; किन्तु एक युग का दूसरे से किन्हीं शाश्वत जीवन-मूल्यों या सत्यों के आधार पर सम्बन्ध स्थापित नहीं होता, बल्कि प्राचीन का आख्यान, वर्तमान की समस्याएँ और भविष्य का सम्भावित समाधान बरबस जोड़ दिया गया है, अतः पूर्वांश कथात्मक, मध्यभाग समस्यात्मक और अन्त आदर्शमय है। इस प्रकार पहले छः सर्गों में कवि का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत इतिवृत्तात्मक और वस्तुपरक है। सातवाँ सर्ग उनके अनुसार रूपक है—जिसमें मानव-जीवन को कला के संयोग से कर्ममय बनाने का सन्देश निहित है, और शेष सर्गों में तथ्य का स्थान मानव-जीवन की अनेक आन्तरिक और तद्जनित बाह्य समस्याओं के वर्णन ने ले लिया है। इस अंश में कथा का विषय मूर्त की अपेक्षा अमूर्त, बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक अधिक हो गया है।

'तप्तगृह' में भी केवल कथा कहना, कवि का लक्ष्य नहीं है। उन्होंने वस्तुगत घटनाओं की प्रेरक मानसिक और हार्दिक घटनाओं को व्यक्त करने का प्रयत्न अधिक किया है—"प्रत्येक घटना की पृष्ठभूमि में मनुष्य का मस्तिष्क रहता है और प्रत्येक ऐसे मस्तिष्क का सम्बन्ध हृदय से होता है। मस्तिष्क और हृदय का अविनाभाव सम्बन्ध है। घटनाओं पर दोनों का स्वल्पाधिक प्रभाव पड़ता है। इतिहासकारों ने बिम्बसार और अजातशत्रु की कथा के निर्माण में कल्पना से भी बहुत काम लिया है। अनेकानेक प्रश्नों का उत्तर 'सम्भव है, ऐसा हुआ हो' कहकर दे दिया है। मैंने कल्पना के साथ-साथ मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण का सहारा लिया है।"[2] इस काव्य में घटनाएँ और पात्र इने-गिने हैं। पात्रों की मानसिक उथल-पुथल का साक्षात्कार ही कवि ने अधिक किया है। बाह्य जीवन में किसी प्रकार के संघर्ष का विधान भी नहीं किया गया, जो कुछ द्वंद्व प्रस्तुत हुआ है वह पात्रों की अपनी मनोवृत्तियों को लेकर ही अधिक है। जीवन के बाह्य पक्ष की दृष्टि से इस काव्य का विस्तार बहुत सीमित है। इस मार्मिक और महत्त्वपूर्ण राजनैतिक घटना का सशक्त और जीवन्त बाह्य न अपनाकर करुण और द्रवणशील अन्तःरूप ही अपनाया गया है।

---

१. ऋतंवरा—प्रभात, भूमिका, पृष्ठ (ख)

२. तप्तगृह—प्रभात, निवेदन, पृष्ठ १

'विक्रमादित्य' इस वर्ग का वह एकमात्र अपवाद है जिसमें कथानक का ग्रहण और निर्वाह पुराने ढंग पर हुआ है। 'देवी चन्द्रगुप्त' नाटक से गृहीत कथानक की ऐतिहासिकता भूमिका में सिद्ध करने का प्रयत्न करते हुए कवि ने उसके तथ्य रूप को ही अपनाया है। उसमें जो कुछ नवीनता है वह उसकी शैली और बाह्याकार-सम्बन्धी है, कथानक के स्रोत, स्वरूप और प्रयोग में कोई उल्लेखनीय नवीन सरणी लेखक ने नहीं अपनायी। काव्य के उत्तरांश में कथा गौण हो गई और असम्बद्ध प्रसंगों का विस्तार किया गया है—किन्तु यह विस्तार उसी ढंग का है जिस ढंग से 'रामचरित-चिन्तामणि', 'पार्वती', 'रामचन्द्रोदय' आदि के कवियों ने अपने ग्रन्थों में किया था। उसमें न किसी वर्तमान समस्या का दिग्दर्शन है, न किसी मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक सत्य का उद्घाटन, न किसी अन्य तर्कसम्मत कारण से कवि ने यह विस्तार किया है।

अन्य तत्त्वों की भाँति कथा-संघटना की विधि में भी शास्त्रीय नियमों की उपेक्षा इन सभी रचनाओं में लक्षित की जा सकती है। कथा के कार्य-व्यापार में विभिन्न कार्यावस्थाओं की योजना के द्वारा नाटकीयता की सिद्धि आचार्यों का लक्ष्य था। अतः प्रश्न यह है कि इन कृतिकारों ने इस साध्य की सिद्धि निर्दिष्ट साधनों की अवमानना करने पर भी भिन्न मार्ग से किस सीमा तक की है?

'विक्रमादित्य' के अतिरिक्त एक विशेषता इन सब कृतियों में समान रूप से विद्यमान है। इनकी वस्तु-संघटना में आधिकारिक कथा के साथ अनेक उपाख्यानों या प्रासंगिक वृत्तों की वह जटिल योजना नहीं मिलती जिसका विधान पूर्व और पश्चिम दोनों परम्पराओं में अनिवार्य माना गया है। मूल कथा के विकास-क्रम में जो प्रेरक या अवरोधक प्रसंग प्रस्तुत हुए हैं—वे व्यक्तियों की अपनी अन्तर्वृत्ति से सम्बन्धित हैं। बाह्य या सक्रिय जगत् से उपपात्रों ने उपस्थित होकर कथा की प्रगति और संघर्ष में योग बहुत कम स्थलों पर दिया है। भारतीय काव्य-शास्त्र में यह विधान पाश्चात्य परम्परा की अपेक्षा अधिक संश्लिष्ट है, अतः मूल और प्रासंगिक वृत्तों की परस्पर जटिल योजना के अभाव में इन रचनाओं का वस्तु-संघटन भारतीय की अपेक्षा पाश्चात्य प्रणाली के अधिक निकट है। नाटकीय-विधान की दृष्टि से इन रचनाओं के तीन रूप स्थिर किये जा सकते हैं—

१. वे काव्य जिनकी वस्तु-संघटना पूर्णरूपेण शास्त्रीय नियमों के अनुसार नहीं हुई किन्तु नाटकीयता का गुण जिनके वस्तु-विधान में सम्यक् रूप से रक्षित है—यथा 'कामायनी'।

२. वे काव्य जिनकी रचना में शास्त्रीय विधि का पालन करने जाने पर भी कथावस्तु का सम्यक् विकास अविच्छिन्न रूप से नहीं हुआ। कथा के विभिन्न अंगों के असंतुलित नियोजन से जिनकी वास्तुकला खण्डित है—यथा 'विक्रमादित्य'।

३. वे रचनाएँ जिनकी रचना-विधि अपनी है, किन्तु शास्त्रीय रीति के त्याग के कारण नहीं, विविध अन्य कारणों से जिनके कथानकों में महाकाव्योचित सम्बद्धता, नाटकीय विकास, जीवन्तता और सशक्त प्रवाह उत्पन्न नहीं हो सका। अनुपात-भेद से यह दोष 'मेधावी', 'तप्तगृह' और 'ऋतंवरा', तीनों कृतियों में आ गया है।

उपर्युक्त सभी रचनाओं का वस्तु-विधान परस्पर भिन्न है, अतः सम्यक् विवेचन के लिए प्रत्येक कृति को पृथक् ग्रहण करना उचित होगा।

कामायनी—उल्लेख किया जा चुका है कि 'कामायनी' का कथानक प्रख्यात है, किन्तु पुराणों में बिखरी कथा की विभिन्न कड़ियों में जोड़ कवि की अपनी कल्पना के हैं। कल्पना का प्रयोग करते हुए भी प्रसाद ने आधुनिक युग की लोकप्रिय मनोवैज्ञानिक शैली का अवलम्बन लिया है, अतः उन्होंने काल्पनिक घटनाओं की सृष्टि करके कथा को सुसंगठित रूप प्रदान नहीं किया। उन्होंने स्थूल घटना-क्रम की अपेक्षा मानसिक वृत्तियों का अधिक ध्यान रखते हुए भी कथासूत्र को क्षीण नहीं होने दिया और उलझे और अस्पष्ट कथासूत्रों की ऐतिहासिकता बनाए रखी है।

मनोवैज्ञानिक काव्यों के कथानक में घटना-क्रम की जटिलता का अवकाश बहुत कम होता है। 'कामायनी' के कथानक में अवान्तर प्रसंगों के योग से न जटिलता उत्पन्न की गई है और न मूल कथा में अधिक ऊंचे-नीचे मोड़ आए हैं। चिराचरित कथानक-रूढ़ियों के सहारे कथानक को उलझाया और सुलझाया भी नहीं गया। उसमें एक आधिकारिक और एक ही प्रासंगिक कथा है। दोनों ही अत्यन्त स्पष्ट और सरल हैं। घटनाओं का रंगस्थल बहुत विस्तृत न हो जाए इसलिए प्रलय और उससे पूर्व मनु के जीवन की सभी घटनाएँ चिन्ता के प्रसंग में पूर्वस्मृति के रूप में कहला दी गई हैं। इस कथारम्भ में बहुत कुछ आधुनिक कहानी और उपन्यास के उस टैकनीक को अपनाया गया है, जहाँ कहानी का आरम्भ, मध्य या अन्त भाग से करके, पूर्व की घटनाएँ पात्र-विशेष की पूर्व-स्मृति के रूप में या दो पात्रों के बीच वार्तालाप के रूप में कहला दी जाती हैं। 'कामायनी' का आरम्भ उसमें घटित होने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण घटना के बाद से होता है। कथा को यथासम्भव विस्तार से बचाने के लिए यह मार्ग अपनाया गया है। संक्षेपण की यह प्रवृत्ति सारी कथा में स्पष्ट है। किलात-आकुलि का अधिक परिचय, इड़ा का पूर्व-इतिहास, सारस्वत प्रदेश से उसका सम्बन्ध, देवताओं का इस समग्र प्रसंग से सम्बन्ध आदि, कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिनका विस्तार करने से अवान्तर कथाओं की जटिलता तो बढ़ जाती किन्तु कथानक में एक प्रकार की स्पष्टता और स्फीतता का समावेश भी हो जाता। इस विस्तार की बचत से पात्रों और घटनाओं के परस्पर सम्बन्धों की उचित व्याख्या नहीं हो सकी, किन्तु इस विस्तार के अभाव में 'कामायनी' का कथा-सूत्र टूटा नहीं है, न ही उसमें कहीं बरबस लगाए हुए या भद्दे जोड़ दिखाई पड़ते हैं—आद्योपान्त सहज तारतम्य और गतिशीलता बनी रही है।

अरस्तू ने कथानक के लिए सुनिश्चित आदि, मध्य, अवसान के विधान की जो अनिवार्यता बतायी थी वह भी 'कामायनी' में स्पष्ट है। श्रद्धा से मनु के मिलन से पूर्व का भाग आदि, श्रद्धा-मिलन से मनु के सारस्वत-पलायन तक की घटनाएँ मध्य, और नटेश के ताण्डव से अन्त तक की घटनाएँ अन्त भाग के अन्तर्गत आती हैं। इन सब भागों में परस्पर सुनिश्चित कार्य-कारण-शृंखला वर्तमान है। 'कामायनी' का एक भी प्रसंग ऐसा नहीं है जिसकी अपनी उपयोगिता न हो। किसी न किसी रूप में हर प्रसंग ने कथा-विकास में योग दिया है। अवान्तर कथाओं और वर्णन-विस्तार के त्याग से यद्यपि कथा में जटिलता और संश्लिष्टता तो नहीं आई है, किन्तु इस प्रकार की कथा के लिए जिसमें एक वस्तु-प्रधान मूर्त कथा के मूल में दो भाव-प्रधान अमूर्त एवं अप्रस्तुत कथाओं की धाराएँ अन्तःसलिला के समान प्रवहमान हों—यह स्पष्टता शुभ ही हुई है। इससे एक प्रकार की सुसंगठित कार्यान्विति और स्पष्ट प्रबन्ध-शृंखला का विधान काव्य

में सम्भव हो सका है।

'कामायनी' की वस्तु-संघटना जिस रूप में हुई है, उसका आरम्भ और मध्य पाश्चात्य चिन्ताधारा के अनुकूल सघन संघर्ष और असफलताओं की गाथा है, किन्तु अन्त सहसा भारतीय आनन्दवादी फलागम से युक्त हो गया है। इसी कारण उसमें पाँचों कार्यावस्थाएँ सम्यक् रूप से प्राप्त नहीं होतीं। कथारम्भ से श्रद्धा-मिलन और उसके द्वारा नवीन प्रेरणा देने तक आरम्भ—चिरन्तन सत्य और आनन्द के प्रति जिज्ञासा और उसकी खोज का प्रयत्न यहीं आरम्भ हो जाता है किन्तु मनु बारम्बार स्वनिर्मित बाधाओं के द्वारा असफलता का सामना करते रहते हैं। उनके निरन्तर विपरीत मार्ग का अवलम्बन करने के कारण प्राप्त्याशा जैसी कोई स्थिति काव्य में नहीं बन पड़ी है। उनके प्रयत्नों से पाठक को कहीं उनके द्वारा फल-प्राप्ति की आशा नहीं होती। यह अनिश्चय की अवस्था 'दर्शन' सर्ग तक चलती है, और वहीं सहसा मनु के हृदय में शिव-तांडव नृत्य के साक्षात्कार के साथ उनके आश्रय में जाने की कामना बलवती होती है। इसी पट-परिवर्तन के साथ फल-प्राप्ति का निश्चय अर्थात् नियताप्ति नामक कार्यावस्था, और 'आनन्द' सर्ग में चरम आनन्द की प्राप्ति को फलागम स्वीकार किया जा सकता है।

'कामायनी' का वस्तु-विधान अन्त को छोड़कर अपनी साधनावस्था में पाश्चात्य ढंग की कार्यावस्थाओं के अधिक निकट है। कथा के आरम्भ में प्रलय की घटना के परिणामस्वरूप मनु के हृदय में उत्पन्न होने वाली घनीभूत वेदना, निराशा और विकलता, व्याख्या के अन्तर्गत आएगी। मनु के हृदय में उदित होने वाली आशा की किरण, और श्रद्धा से मिलन वह प्रथम घटना है जिससे उनके हृदय में निराशा की एकरसता में आशा के संयोग से संघर्ष का सूत्रपात हो जाता है। इसके उपरान्त यह संघर्ष अनेक वस्तुगत और मानसिक परिस्थितियों और प्रसंगों के बीच क्रमशः घनत्व-प्राप्ति के उपरान्त सारस्वत प्रदेश में 'संघर्ष' सर्ग में चरम को प्राप्त होता है। इस स्थल पर उनके जीवन में आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के विरोध अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाते है। इससे पूर्व का समस्त अंश कार्य-विकास नामक अवस्था के अन्तर्गत आता है। मनु की पराजय और मूर्छा से उनके पतन की कहानी और निगति नामक कार्यावस्था आरम्भ हो जाती है, और पाठक उसी के अनुकूल भयंकर परिणाम की आशा करता है, किन्तु सहसा 'दर्शन' सर्ग में श्रद्धा की प्रस्तुति से परिस्थिति बदल जाती है और समस्त कार्यव्यापार भिन्न परिणाम की ओर मुड़ जाता है। इस प्रकार पश्चिम की दुःखान्त और संघर्षमूलक पद्धति से संयोजित काव्य का पर्यवसान फल-प्राप्ति और आनन्द-प्राप्ति की भारतीय पद्धति के अनुकूल हुआ है। अतएव 'कामायनी' के शिल्प में भारतीय और पाश्चात्य कला का अद्भुत मिश्रण है।

प्रस्तुत प्रसंग में यह संकेत करना अनुचित न होगा कि नाटक सन्धियों की स्पष्ट योजना 'कामायनी' के कथानक में नहीं हुई है। मुख और निर्वहण सन्धि के अतिरिक्त शेष का निर्वाह उसमें नहीं किया गया। कारण स्पष्ट है—सन्धियों, प्रकृतियों और कार्यावस्थाओं की सम्यक् योजना सापेक्ष व एक-दूसरे की पूर्णता पर अवलम्बित है। इस अन्योन्याश्रित सम्बन्ध के कारण पताका, प्रकरी और प्राप्त्याशा आदि के अभाव में इस काव्य में सन्धियों की खोज करना निरर्थक होगा।

विक्रमादित्य—'कामायनी' के बिलकुल विपरीत 'विक्रमादित्य' के कथानक का धरातल

वस्तुजगत् है। 'विक्रमादित्य' की कथा घटनाप्रधान है और इन घटनाओं का रूप स्थूल तथ्यपरक और उनकी रंगस्थली बहिर्जगत् है। कवि ने चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी की आधिकारिक कथा के साथ वीना, कुबेरनागा, कापालिक, भूधर आदि से सम्बन्धित अनेक उपाख्यानों की योजना की है। इस प्रकार पारिभाषिक शब्दावली में पताका, प्रकरी आदि अर्थप्रकृतियाँ और कार्यव्यापार की दृष्टि से पंचावस्थाएँ भी काव्य में मिल जाएँगी, किन्तु यह समस्त प्रपंच जुटाने पर भी सुगठित कथानक-योजना में कवि सफल नहीं हो सका। कथानक-संघटन में इस असफलता के तीन कारण हैं। कथानक में मार्मिक स्थलों की उपेक्षा या संक्षिप्ति, असम्बद्ध या अप्रासंगिक वर्णनों में विस्तार की प्रवृत्ति और काव्य की समग्र घटनाओं के वितरण में अनुपात का अभाव। वस्तु-संघटना की उक्त न्यूनताओं के कारण काव्य की प्रभावान्विति और कथा का अविच्छिन्न धारा-प्रवाह विकास बाधित है। काव्य के सम्पूर्ण कथानक का विश्लेषण करने पर उसमें भारतीय दृष्टिकोण से पंचावस्थाएँ स्पष्ट रूप से मिल जायेंगी। ध्रुवदेवी की प्रथम वार्त्ता में ही स्वयंवर के समय चन्द्रगुप्त के प्रति प्रणय के आरम्भ का संकेत और उससे प्रणय-याचना के साथ यत्न आरम्भ हो जाता है। चन्द्रगुप्त की अस्वीकृति तथा उसके उपरान्त इस यत्न के मार्ग में अनेक बाधाएँ प्रस्तुत होती हैं। शकपति के वध और चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी के इसी समय मिलन से प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था आरम्भ हो जाती है, किन्तु एक बार फिर विघ्न उपस्थित होता है। चन्द्रगुप्त के पलायन के कारण दोनों वियुक्त हो जाते हैं पर अस्थायी रूप से। कापालिक के यहाँ दोनों की पुनः भेंट और ध्रुवदेवी द्वारा कापालिक-वध के साथ अन्तिम बाधा-शमन और सफलता का निश्चय हो जाता है। यहीं से नियताप्ति का आरम्भ और निर्वाह फलागम तक होता है। काम के अतिरिक्त काव्य के दूसरे उद्देश्य अर्थ—अर्थात् साम्राज्य-विस्तार और आर्य राज्य के उद्धार के लिए भी इसी समय चन्द्रगुप्त को प्रतिश्रुत कराकर उसकी सिद्धि निश्चित हो जाती है। ध्रुवदेवी और साम्राज्य की प्राप्ति रूपी फलागम के साथ ४४ भागों में विभक्त कथा सहसा २९ वें भाग में ही समाप्त हो जाती है। उसके उपरान्त १५ भागों की रचना वैभव-विलास और समृद्धि से सम्बद्ध अत्यन्त गौण प्रसंगों को लेकर की गई है। यह समस्त भाग काव्य-शरीर में अनावश्यक रूप से बढ़ाया गया है—जिससे न कथा में किसी प्रकार की नाटकीयता व रोचकता उत्पन्न हुई है और न काव्य की रसमयता में वृद्धि। यह सम्पूर्ण उत्तरांश सर्वथा घटनाशून्य है। उसमें न जीवन्तता है न जिज्ञासा और अभिरुचि बनाए रखने की सामर्थ्य। फल-प्राप्ति के बाद का यह अंश फल के उपभोग का वर्णन करने के काम में लाया गया है—जो काव्य की समग्र प्रभावान्विति के लिए घातक है। ऐसा करके कवि ने पाठक की कल्पना के लिए कुछ नहीं छोड़ा। फल-प्राप्ति के बाद इस प्रकार के विस्तार का अवकाश भारतीय और पाश्चात्य किसी भी पद्धति में—वस्तु-विधान में नहीं दिया गया। अन्तिम भाग के अतिरिक्त भी 'विक्रमादित्य' के घटना-क्रम में अविच्छिन्न धारा-प्रवाह नहीं मिलता। इसका कारण कथा के मार्मिक और जीवन्त स्थलों की उपेक्षा है। पात्रों के लम्बे-लम्बे संवादों या स्वगतों में अनेक घटनाएं सूच्य बना दी गई हैं। यह प्रवृत्ति काव्य के आरम्भ से ही मिलती है। पहले दो भागों में ध्रुवदेवी और चन्द्रगुप्त की वार्ता में नायिका की प्रणय-याचना की अस्वीकृति से चन्द्रगुप्त के देश से निकाले जाने की आगामी घटना का संकेत मिल जाता है। तीसरे भाग में सहसा प्रवेशक के से ढंग का एक भाग

जोड़ा गया है जिसमें प्रहरियों के द्वारा आगामी षड्यंत्र की रूपरेखा सूचित है। इसी प्रकार सातवें भाग में क्षत्रप और भूधर के बीच वार्ता से रामगुप्त के विरुद्ध एक पूर्वयोजित भयंकर षड्-यन्त्र सूचित है। घटनाओं के बीच ऐसे अनेक अन्तराय स्थान-स्थान पर मिलेंगे। सम्पूर्ण कृति के पढ़ने के बाद कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता है जैसे इस कथा में घटने वाली पृथक् घटनाओं को कहीं सम्वादों के, कहीं स्वगतों के और कहीं एकाकी पात्रों के सस्वर चिन्तन के जोड़ लगाकर अन्वित कर दिया गया है। उनके विकास-क्रम में संगठित प्रभाव नहीं है। कहीं-कहीं स्थान और प्रसंग का परिवर्तन इतना आकस्मिक हुआ है कि कथा-सूत्र झटके से एक बार ही टूट गया है। सोलहवें और सत्रहवें भाग के बीच में इसी प्रकार का व्यवधान है।

डा० प्रतिपालसिंह ने इसकी वस्तु-संघटना के विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा—"जिस प्रणय की याचना प्रथम सर्ग में की गई है, उसकी पूर्ति अन्तिम सर्गों में दिखलाई पड़ती है। नाट्य-सन्धियों पर पूर्ण ध्यान रक्खा गया है और उनका निर्वाह सुन्दर रीति से किया गया है।"[1] विद्वान् लेखक से हमारा मतभेद इसी कारण है कि जैसा उन्होंने कहा काव्य के उद्देश्य की पूर्ति अन्त में न होकर मध्य में ही हो जाती है, और जिस काव्य के अन्तिम एक तिहाई भाग में घटना ही न हो, उसमें नाट्य-सन्धियों का निर्वाह सुन्दर कैसे माना जा सकता है? आधिकारिक और प्रासगिक कथाओं की जटिल योजना इस काव्य में अवश्य मिलती है। वीना और वीरसेन की कथा पताका और कापालिक, कुबेरनागा, भूधर आदि के प्रसंग प्रकरी माने जा सकते हैं। पाश्चात्य दृष्टिकोण से पंचावस्थाओं में से चौथी अर्थात् निगति इसमें नहीं मिलती। आरम्भिक वार्ता में कार्य की व्याख्या और प्रथम संघर्षमय घटना चन्द्रगुप्त के देश-निष्कासन के रूप में घटित होती है। यहीं से कार्यव्यापार प्रगति करता हुआ चन्द्रगुप्त के कापालिक द्वारा बन्दी बनाए जाने के स्थल पर अपने चरम संघर्ष को प्राप्त होता है, किन्तु तुरन्त ही ध्रुवदेवी के संयोगवश मिलन और कापालिक-वध की घटना से सफलता का निश्चय और बिना विशेष विलम्ब के प्राप्ति हो जाती है। चरम और अन्तिम परिणाम के बीच कार्यव्यापार में उचित निगति नहीं है। दोनों लगभग एक ही समय घटित हो जाते हैं और फल के उपरान्त फलोपभोग का एक अतिरिक्त भाग काव्य में जुड़ जाता है। यदि इस कार्यव्यापार के स्वरूप को रेखाओं द्वारा स्पष्ट किया जाय तो भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि से कुछ इस प्रकार होगा—



स्पष्ट है कि कार्यव्यापार का विकास दृढ़ता से दोनों पद्धतियों में से किसी एक के अनुरूप नहीं किया गया, फिर भी वह भारतीय शिल्प के अधिक निकट है।

१. बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य—डा० प्रतिपालसिंह, पृ० २६३

मेधावी—के वस्तु-व्यापार में किसी प्रकार की नाटकीयता की आशा हा व्यर्थ है। उसमें घटनाएँ नहीं, मेधावी के माध्यम से कवि का विचार व्यक्त हुआ है। कथानक को वस्तुरूप देने या घटनाप्रधान बनाने के लिए अमूर्त का मानवीकरण भी कवि ने नहीं किया और पात्रों के माध्यम से या घटनाओं से व्यंजित होने वाले सिद्धान्तों के रूप में विचार-प्रतिपादन की योजना भी उसकी नहीं रही है। दर्शन, भूगोल, इतिहास, काव्य, समाजशास्त्र आदि सब का इसमें सम्मिश्रण जिस दृष्टिकोण से किया गया है उसमें घटना-प्रस्तुति का भाव उतना नहीं, जितना विचार-पोषण के लिए उद्धृत करने का है। अतः जिस क्षेत्र से जो कथा-सामग्री कवि ने ली है उसका ठोस रूप समग्रता में ग्रहण नहीं किया, केवल उल्लेख मात्र के लिए कुछ ऊपरी बाह्य बातें अपना ली गई हैं। इसके अतिरिक्त एक बार में एक क्षेत्र से कवि ने विषय-सामग्री नहीं उठाई है। वह एक अनिश्चित भाव से दर्शन, भूगोल, इतिहास, समाजशास्त्र सभी के बीच में भटकता रहा है। परिणामतः 'मेधावी' के विषय में प्रबन्धयोजना-सम्बन्धी एक विशृंखलता उत्पन्न हो गई है। स्थूल तथ्यपरक घटनाओं के अभाव में विचार-सम्बन्धी एकसूत्रता भी हो सकती है, किन्तु अमूर्त विषय के अंकन में कथा-संगठन और व्यवस्था का कार्य दुष्कर है, अतः कवि का उत्तरदायित्व और भी गुरु हो जाता है। अशरीरी विचार-तत्त्वों को, विशेषकर जब कवि ने उन्हें प्रबन्ध-शृंखला में जोडने के लिए कल्पना से कोई मूर्त रूप भी प्रदान नहीं किया हो, कथा-रूप में नियोजित करना, और वह भी महाकाव्योचित गरिमा, विशदता और सुसम्बद्धता के साथ—अत्यन्त कठिन कार्य है। कथा के उपादानों का इतने विविध क्षेत्र से चयन, इस काव्य की सबसे बड़ी परिसीमा है। ऐसा करने से किसी प्रकार की जटिलता कथा में उत्पन्न नहीं हो सकी, बल्कि उसमें अस्पष्टता व असम्बद्धता आ गई है। कथा की रेखाओं में न समतल भूमि की सी सरलता और स्पष्टता है, और न पहाड़ी प्रदेश की सी ऊँचाई या उतार-चढ़ाव, जिससे नाटकीयता या संघर्ष उत्पन्न हो सके। उसमें बंजर भूमि का सा ऊबड़-खाबड़पना है।

यदि ध्यान से देखा जाय तो विचारों के कुहासे के नीचे एक क्षीण-सा कथा-सूत्र मिल जाएगा। समस्त भूगोल और खगोल के विभिन्न तत्त्वों में कवि ने आरम्भ से परिवर्तन या गति को सृष्टि का मूल तत्त्व या शाश्वत व चिरंतन सत्य माना है। सम्पूर्ण सृष्टि के महानृत्य के बाद पृथ्वी पर भूत का स्पन्दन। उस पर नाना रूपात्मक सृष्टि का उद्भव और विकास। मानव के ज्ञान की परिधि में धीरे-धीरे विस्तार। दर्शन, सभ्यता, धर्म, राजनीति और संस्कृति की दृष्टि से संसार की अनेक जातियों का उत्थान-पतन। विश्व के इतिहास का (तथ्यपरक और सांस्कृतिक) विहंगावलोकन। सामन्तवाद और साम्राज्यवाद का प्रबल विद्रोह। सोने से मढ़ी सभ्यता का विरोध। पूंजीवाद के प्रति अनास्था और अन्त में मार्क्सवाद के प्रति आस्था। इन सब विडम्बनाओं का समाधान साम्यवादी जीवन-मूल्यों में देखने का प्रयत्न। साम्यवाद के दीप के आलोक में विश्व-जागरण और विश्व-कुटुम्बकम् की भावनाओं के प्रसार का स्वप्न—यह संक्षेप में 'मेधावी' की विषय-वस्तु है, किन्तु काव्य में ये कथा-सूत्र कुछ ऐसी बेतरतीबी से बिखरे हैं, कि एक दृष्टि में न स्मृति में धारण किये जा सकते हैं और न सरलता से ग्रहण।

काव्य-कला में स्थापत्य, चित्र, संगीत और मूर्तिकला में से स्थापत्य का प्रयोग प्रबन्ध में उसके विविध अंगों के परस्पर सुचारु रूप से संगठन और कलात्मक ढंग से आकार-निर्माण के

रूप में ही किया जाता है। स्थापत्य का आधार मूर्त उपादान होते हैं। जितना कृति के आकार में विस्तार होगा, उतनी ही अवयवों की साकारता अनिवार्य होती जाएगी। इसीलिए प्रबन्ध को स्पष्ट सुगठित और सानुपात आकार प्रदान के हेतु अमूर्त के लिए प्रतीकों, मानवीकरण, अथवा मूर्त माध्यमों का प्रयोग किया जाता है। सम्पूर्ण प्रबन्ध में कथा, घटना और पात्रों—सभी के अभाव में केवल उद्दीपक वस्तुरूप प्रसंगों, घटनाओं और प्रेष्य विचार के आधार पर सफल प्रबन्ध-रचना या कम से कम सफल वस्तु-संघटना सम्भव नहीं होती। यही 'मेधावी' के वस्तु-विन्यास के विषय में सत्य है।

तप्तगृह—के वस्तु-विन्यास को भूमिका में व्यक्त कवि की धारणा के आधार पर सरलता से समझा जा सकता है—"आरम्भ में मैंने पाँच सर्गों का एक छोटा-सा खण्डकाव्य लिखने का विचार किया था। कथानक का निर्माण हुआ तो पूरे अठारह सर्ग बन गए। परन्तु मैंने इस पुस्तक को इतिहास की घटनाओं से बोझिल बनाना उचित नहीं समझा और बिम्बसार की कथा के सबसे मार्मिक अंश को ही अपने प्रबन्ध का आधार बनाया।"[1]

कवि की इस स्वीकृति से दो बातें स्पष्ट हैं। रचना अपने प्रस्तुत रूप में यद्यपि घटना-बोझिल नहीं, किन्तु कवि की दृष्टि में खण्डकाव्य भी नहीं, उससे कुछ अधिक है तथा कवि ने रचनारम्भ खण्डकाव्य के लिए ही पर्याप्त विषय-सामग्री से किया था। 'तप्तगृह' के वर्तमान रूप में न ५ सर्ग हैं न १८। वह ११ सर्गों की मध्यम आकारवाली रचना है परन्तु 'तप्तगृह' की घटना-सामग्री खण्डकाव्य के लिए ही उपयुक्त है। घटनाओं के नाम पर इस काव्य में दो ही घटनाएँ हैं—बिम्बसार का बन्दी होना और कारावास में उनकी मृत्यु। तीसरी घटना—अजातशत्रु के यहाँ पुत्र-जन्म, पिता की मृत्यु के साथ ही घटती है और इन दोनों घटनाओं के संयुक्त प्रभाव से नायक के मन में प्रतिक्रिया होती है, उस घटना का स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है। वह पिता की मृत्यु के समानान्तर घटित होने के कारण ही महत्त्वपूर्ण हो गई है। इस काव्य का मूल प्रसंग यद्यपि अपने आपमें मार्मिक है फिर भी उसमें महाकाव्योचित गरिमा और प्राणवत्ता नहीं है। इस समस्त प्रसंग में संघर्ष का विधान एक क्षण के लिए भी नहीं हुआ। बिम्बसार का उदार, क्षमावान, सहिष्णु और ममत्वपूर्ण रूप पाठक की करुणा और सहानुभूति का पात्र हो सकता है, परन्तु उसके मन में स्फूर्ति, ओज और जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होने देता। आंशिक विद्रोह कोणक की माता कुशला के मन में उत्पन्न होता है, किन्तु इस उद्वेग की वाचिक अभिव्यक्ति होते ही बिम्बसार वात्सल्य की दुहाई देकर उसे सहिष्णुता के शीतल जल से शान्त कर देते हैं—अतः उसका सक्रिय रूप सामने नहीं आता। इस प्रकार सम्पूर्ण काव्य में प्रतिपक्ष से या किसी अन्य रूप में किसी प्रकार की बाधा, संघर्ष या अवरोध का विधान नहीं किया गया। कोणक काव्य के अन्त तक अपनी कठोरता और निर्ममता में पूर्ण है, इसलिए उसकी अपनी अन्तर्वृत्तियों ने भी किसी प्रकार की दुविधा, संकोच या अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित नहीं किया। इस प्रकार जिस फल की प्राप्ति के लिए देवदत्त द्वारा प्रेरित कोणक आरम्भ में प्रयत्नशील होता है, वह बिना विशेष अन्तर्बाह्य विरोध के उसे काव्य के मध्य में ही मिल जाता है। इस फल के विषय में कहीं अनि-

---

१. तप्तगृह—प्रभात, निवेदन, पृष्ठ १

श्चय की भावना उत्पन्न ही नहीं हुई है, अतः काव्य में जिज्ञासा उद्‌बुद्ध करने के गुण का अभाव है।

संघर्ष, फलभोक्ता के अपने मन में फलप्राप्ति के उपरान्त उदित होता है। परिस्थिति-वश उसके हृदय में अर्जित फलोपभोग के प्रति विरक्ति का भाव जाग उठता है, किन्तु पिता की मृत्यु के उपरान्त उसके सामने अवांछित फल के ग्रहण के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग शेष नहीं रह जाता—फिर भी इस अन्तिम भाग में उसके हृदय का पश्चाताप व अन्तर्द्वन्द्व उस संघर्ष के रूप में माना जा सकता है जिसका समाधान अथवा परिशमन अव्यक्त ही रहता है। इस प्रकार घटना-विरल कथावस्तु व संघर्ष-योजना के अभाव में, भारतीय या पाश्चात्य किसी भी दृष्टि से सभी कार्यावस्थाएँ इस काव्य में नहीं मिलतीं। प्रयत्न करने पर भारतीय वस्तु-विधान में निर्दिष्ट पाँच अवस्थाएँ ढूँढ़ी जा सकती हैं पर पाश्चात्य दृष्टि से उसमें संघर्ष के अभाव में चरम और निगति दोनों ही अवस्थाएँ नहीं मिलतीं। देवदत्त और कोणक की मंत्रणा से कार्यारम्भ, बिम्बसार के पिता-वध की इच्छा से महल में जाने से यत्नारम्भ, वहाँ कुशला की उपस्थिति से विघ्न, किन्तु बाद में बिम्बसार को बन्दी बनाने से प्राप्त्याशा, कारावास में बिम्बसार और कुशला के कथोपकथन के बीच, बिम्बसार द्वारा कुशला के अन्तर्द्रोह के शमन में नियताप्ति, और उनकी मृत्यु के साथ फलागम माना जा सकता है। किन्तु इन विभिन्न घटनाओं में विशेष अन्तर नहीं है। यह विभाजन केवल विभाजन के लिए किया गया है, अन्यथा यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम—एक के बाद दूसरी अवस्था इतनी शीघ्रता से उपस्थित होती है कि बीच का अन्तर जीवन्त संघर्ष के अभाव में अलक्षित ही रह जाता है। वस्तुतः अस्थायी रूप से फल की प्राप्ति कोणक को बिम्बसार के बन्दी बनाने से ही हो जाती है। पाठक इस विषय में आरम्भ से ही आश्वस्त है कि उस ओर से कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी, क्योंकि पिता-पुत्र की प्रथम भेंट में ही उनका स्वरूप उसके सामने स्पष्ट हो जाता है, अतः बिम्बसार के बंदी बनाने की घटना में यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो प्राप्त्याशा न होकर नियताप्ति ही है। पाश्चात्य दृष्टिकोण से कोणक का बिम्बसार के महल में वध की इच्छा से जाना पहली संघर्षमय घटना और इससे पूर्व का अंश व्याख्या माना जाएगा। इसके उपरान्त कार्यव्यापार का विकास निर्विरोध रूप से होता जाता है और फल-प्राप्ति पर ही विराम होता है। कथा में कार्य की प्रगति तो है किन्तु न उल्लेख-योग्य संघर्ष है न उसका चरम अर्थात् अनिश्चय की अवस्था, और न उसके उपरान्त निगति। नाट्य सन्धियों की खोज करना इस कथा में व्यर्थ है। गौतम के विरुद्ध देवदत्त के मन में प्रतिस्पर्द्धा और प्रतिहिंसा की भावना और प्रयत्न वह प्रासंगिक कथा है जो मूल प्रसंग के साथ अभिन्न रूप से गुथी है। स्पष्ट रूप से जो आद्यन्त सामने नहीं आती किन्तु जिसका आभास सारी कथा में मिलता रहता है, किन्तु यह कथा मूल कथा की सूत्रधारिणी कारण-रूप बन गई है और इसका स्वतन्त्र रूप स्पष्टतः दिखाई नहीं पड़ता। अतः ऐसी विषयवस्तु में जिसकी कार्यावस्थाएँ ही स्पष्ट न हों, जिसकी घटनाओं में बहुत उतार-चढ़ाव या मोड़ नहीं हो, जिसमें उपाख्यानों की संश्लिष्ट योजना न हो, नाट्य सन्धियाँ ढूँढ़ना व्यर्थ होगा।

महाकाव्य के लिए अपेक्षित जटिल और जीवन्त वस्तु-विधान का 'तप्तगृह' में हर दृष्टि

से अभाव है। कवि का अपना इकहरा वस्तु-विधान जिसमें सुचारु प्रवाह है, गठन है, किन्तु जो झंझावात के प्रखर वेग से टकराता, उठता-गिरता आगे नहीं बढ़ता, जिसमें उर्मियों की सी क्षणिक हलचल और थिरकन उत्पन्न होती है और फिर वही ऋजु गति। काव्य का अन्त पाश्चात्य विधान के अधिक अनुकूल है। भयंकर अवसाद की भावना पर परदा डालकर कवि सहसा पट-परिवर्तन कर उसे फलागम के सुख में नहीं बदलता। अतः इस दुखान्त को फलागम की अपेक्षा अन्तिम घटना या दुःखान्त ही कहा जाए तो उचित होगा।

ऋतंवरा—का वस्तु-विन्यास भी नवीन पद्धति पर किया गया है। योजना में कवि ने स्वतन्त्रता बरती है किन्तु इस नवीन प्रणाली से काव्य में किसी प्रकार की कलात्मक वृद्धि न होकर उसका वस्तु-विन्यास खण्डित हो गया है। इस काव्य में स्पष्ट रूप से दो स्वतन्त्र कथाएँ हैं। एकादश सर्ग तक की कथा का सम्बन्ध पौराणिक युग से है, कवि ने एकाध स्थल पर अप्रस्तुतार्थ के संकेत का प्रयत्न किया, पर वह विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हो सका। इस भाग की कथा में प्रलय के उपरान्त सृष्टि के विकास, पृथ्वी के उद्धार, मनु और शतरूपा के जन्म, मिलन, मनु के मन में उदित मोह, पृथ्वी द्वारा उनकी भर्त्सना और अवसाद का वर्णन है। एकादश सर्ग के उपरान्त कवि की कल्पना से वर्तमान, भविष्य और विगत को मिलाने की योजना कार्यान्वित हुई है, और एक विशेष भद्दे जोड़ (मनु के स्वप्न) के द्वारा—वर्तमान जीवन की विडम्बनाओं और ब्रह्मा के नेत्रों में विराट् भविष्य के आणविक युगीन समाधान के साक्षात्कार की कथा जोड़ी गई है। एकादश सर्ग के उपरान्त घटना का एकमात्र अभाव हो गया है। छोटे-मोटे प्रसंग कथा-शृंखला बनाए रखने के लिए रचे गए हैं, किन्तु आरम्भ का कथात्मक रूप पिछले भाग में कुछ सामाजिक और कुछ बौद्धिक समस्यायुक्त हो गया है और वस्तुरूप घटनाएँ अमूर्त और सैद्धान्तिक बन गई हैं। ये समस्याएँ मनु के अपने जीवन में घटित नहीं होतीं। सृष्टि के आरम्भ के पात्रों को स्वप्न द्वारा भविष्य का ज्ञान, आने वाली समस्याओं के प्रति खेद और विषाद तथा समाधान—वर्तमान, भविष्य और पुराण-युग के बीच टूटे टांके झालने का प्रयत्न-सा लगता है। इसका कारण है कि विभिन्न युगों का पारस्परिक भावात्मक सम्बन्ध उन्हीं समस्याओं के आधार पर स्थापित किया जा सकता है जो मानव की शाश्वत या चिरन्तन समस्याएँ हों, जिनका सम्बन्ध मानव-मन की मूलभूत प्रवृत्तियों से हो। लेखक ने कथा के पौराणिक अंश में जहाँ दार्शनिक रंग देने तथा जीवन में कर्म की महत्ता का शाश्वत संदेश देने का उपक्रम किया है, वहां परवर्ती भाग में ऐसी अधिकांश समस्याएँ उठा ली हैं जिनका रूप केवल सामयिक है। उनका समाधान भी कवि चिरस्थायी, आध्यात्मिक और शाश्वत जीवन-मूल्यों के आधार पर न देकर सामयिक, अस्थायी और व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर दे बैठा है। परिणामतः कथा के दोनों भागों में सहज कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सका। प्रथम भाग की घटनाओं का अनुवर्तन पिछले भाग की घटनाओं में आवश्यकता और सम्भाव्यता के नियम के अनुसार न होकर बरबस और आरोपित प्रतीत होता है। 'कामायनी' के अनुकरण पर श्रद्धा-स्वप्न के समानान्तर कदाचित् लेखक ने यह योजना की है। किन्तु दोनों की परिस्थितियों में महान अन्तर होने से यह प्रसंग उससे प्रभाव में सर्वथा भिन्न और कलाविहीन हो गया है। 'कामायनी' के स्वप्न-दर्शन की घटनाएँ दो युगों की घटनाएँ नहीं हैं, और श्रद्धा तथा मनु के बीच दृढ़ रागात्मक सम्बन्ध होने के

कारण वहाँ यह प्रसंग अस्वाभाविक या असम्भव भी नहीं प्रतीत होता।

उक्त खण्डित प्रभाव के अतिरिक्त कार्यव्यापार में खटकने वाली एक अन्य त्रुटि संघर्ष का अभाव है। तर्क दिया जा सकता है कि काव्य की अधिकतर घटनाएँ अमूर्त और उनका रंग-मंच अन्तर्मन है। किन्तु हृदय में भी भावनाओं के तीव्र घात-प्रतिघात के रूप में अन्तर्द्वंद्व या आन्तरिक संघर्ष की योजना की जा सकती है। व्यक्ति का मन संघर्ष का सबसे बड़ा केन्द्र है। यद्यपि अव्यक्त रूप में, किन्तु वस्तुगोचर नानारूपात्मक जगत् में घटने वाली समस्त महान, भयंकर या विशद घटनाओं के सूत्र मानस में ही रक्षित रहते हैं, वही इनका संचालन-केन्द्र है। 'ऋतंवरा' के विषाद सर्ग तक, अर्थात् काव्य के अर्द्धांश से भी अधिक भाग में किसी प्रकार के बाह्य या आन्तरिक संघर्ष का विधान नहीं किया गया। संघर्ष और द्वन्द्व के अभाव में घटनाओं में उद्दाम अप्रतिहत वेग या उतार-चढ़ाव भी नहीं है। जो कुछ अल्प संघर्ष प्रस्तुत किया गया है वह पात्रों की अपनी मनोवृत्तियों के कारण है, अतः बाधक या साधक प्रासंगिक कथाओं और अवान्तर प्रसंगों की योजना कथा में नहीं की गई। केवल अपूर्व सुन्दरी-रूप में पृथ्वी के साक्षात्कार से मनु के मन में उत्पन्न होने वाला मोह क्षणिक द्वन्द्व उपस्थित करता है, किन्तु तत्काल पृथ्वी की भर्त्सना से विरोध-शमन हो जाता है। यह प्रसंग मूलकथा में संघटना के लिए उपकारी कदापि नहीं माना जा सकता। नायिका की प्राप्ति मनु को अत्यन्त सहज रूप में हो जाती है इसलिए संघर्ष की बरबस उद्भावना के लिए यह योजना की गई है अन्यथा यह प्रसंग मूलकथा से सर्वथा असम्पृक्त है।

आदि, मध्य, अवसान में से अवसान, मध्य का अनिवार्य और सहज रूप से अनुवर्त्ती प्रतीत न होकर क्षेपक प्रतीत होता है। भारतीय विधानानुसार प्राप्त्याशा और नियताप्ति तथा पाश्चात्य पद्धति के अनुसार चरम और निगति नामक कार्यावस्थाएँ बहुत कुछ सफल संघर्ष की योजना पर निर्भर हैं। प्रत्येक काव्य में कोई न कोई कथा—अतः उसका आरम्भ और अन्त होना अनिवार्य है, किन्तु आरम्भ से अन्त तक की यात्रा में मध्यवर्ती मार्ग किन स्थितियों में होकर जाता है, उसमें कहाँ-कहाँ कैसे मोड़ व उतार-चढ़ाव आते हैं? यह बीच की संघर्ष-योजना पर निर्भर है। मार्ग की इन विषमताओं के बीच किसी अंश में तारतम्य न टूटे यह ध्यान रखना कुशल कलाकार का कार्य है। भारतीय नाटकीय विधान, पाश्चात्य नाटकीय विधान की अपेक्षा कुछ अधिक जटिल है, अतः आधुनिक प्रबन्धों में पताका प्रकरियों से युक्त कार्य-व्यापार की संश्लिष्ट योजना तो कठिनाई से मिलती है, किन्तु पाश्चात्य ढंग का वस्तु-विन्यास प्रायः प्राप्त हो जाता है। कुछ दूर तक यह योजना 'ऋतंवरा' में भी मिल जाती है। प्रलय-काव्य की प्रथम संघर्षमय घटना, ब्रह्मा का चिन्तन एवं मनु-शतरूपा का मिलन—कार्य-प्रगति, मानस-पुत्र मनु के मन का मोह काव्य का चरम, शतरूपा द्वारा उद्बोधन के प्रयत्न, ब्रह्मा का आगमन, विराट भविष्य का दिग्दर्शन आदि निगति और मनु का आत्मबोध अन्तिम कार्य माना जा सकता है। इन समस्त अवस्थाओं के विद्यमान होते हुए भी जैसा पहले कहा जा चुका है 'ऋतंवरा' के वस्तुविन्यास में सुसंगठित, उचित और सहज पूर्वापर सम्बन्ध-निर्वाह नहीं मिलता। दूसरे शब्दों में इस काव्य की घटनाओं में परस्पर सुनिश्चित कार्य-कारण सम्बन्ध-योजना नहीं है जो प्रबन्ध की प्रभावान्विति का बहुत बड़ा दोष है।

घटनाओं का स्वरूप—कथा-स्वरूप का विवेचन करते हुए जैसा पहले भी संकेत किया जा चुका है—'विक्रमादित्य' के अतिरिक्त इस वर्ग की चारों रचनाओं में अपने-अपने ढंग से अमूर्त, भावात्मक और बुद्धिगत घटनाओं को मूर्त तथ्यपरक घटनाओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है। अमूर्त विषयों को तीन रूपों में ग्रहण किया गया—(क) मानवीकरण करके उनका आत्मविश्लेषण और आत्म-परिचय के रूप में वर्णन—'कामायनी' के काम और लज्जा सर्ग इसी पद्धति पर रचे गए हैं। (ख) ऐतिहासिक पात्रों पर दोहरे व्यक्तित्व का आरोप कर उनका प्रयोग अमूर्त तत्त्वों के प्रतीक-रूप में किया गया—इस कौशल का परिचय प्रसाद ने श्रद्धा, मनु और इड़ा का व्यक्तित्व-निर्माण करके दिया है। (ग) तीसरी पद्धति अपेक्षाकृत सीधी और स्पष्ट है। ऐतिहासिक या काल्पनिक पात्रों के बाह्य क्रिया-कलाप की अपेक्षा काव्य की घटनावली के प्रेरक या उससे प्रभावित आन्तरिक क्रिया-व्यापार का उद्‌घाटन—अर्थात् पात्रों के मन या मस्तिष्क में घटित होने वाले संघर्ष, मनन या चिन्तन का वर्णन-विश्लेषण। पात्र करता क्या है की अपेक्षा सोचता या अनुभव क्या करता है? इसका वर्णन इन कवियों ने अधिक किया है। यह पद्धति 'कामायनी' की प्रतीक पद्धति 'कामायनी' के कुछ अंशों में तथा 'तप्तगृह' और 'ऋतंवरा' में अपनायी गई है। 'मेधावी' के कवि के पास पात्र नहीं, अतः उसने मेधावी के रूप में कल्पित पात्र की सृष्टि की है। किन्तु यह पद्धति से सर्वथा भिन्न है। 'मेधावी' के माध्यम से कवि के शब्दों में इतिहास और गति, किन्तु वास्तव में कवि का अपना विचार-क्रम, और सिद्धान्त व्यक्त हुए हैं। 'कामायनी' के कवि ने प्रतीकों के द्वारा मानव-मात्र की विशिष्ट हार्दिक या बौद्धिक प्रवृत्तियों को जिस रूप में समझा है, अपने पाठक तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। 'मेधावी' के माध्यम से कवि की अर्थात् व्यक्ति-विशेष की 'वाद' विशेष से प्रभावित चिन्ताधारा व्यक्त हुई है, अतः यह कल्पित पात्र के माध्यम से कवि की निजविचाराभिव्यक्ति ही है।

एक बात और—अमूर्त को स्थान देते हुए भी, इन सभी रचनाओं में घटनाओं का वस्तुरूप तिरस्कृत या उपेक्षित नहीं है। 'कामायनी' की भूमिका में बारम्बार कवि ने कथा के ऐतिहासिक रूप के प्रति अपना आग्रह व्यक्त किया है। उसमें वे सफलतापूर्वक एक और अर्थ भर सके, यह उनकी अतिरिक्त सिद्धि है, किन्तु अपने काव्य को अन्योक्ति का रूप देने की योजना उनकी कहीं नहीं रही है, यह 'कामायनी' के आमुख से सिद्ध है। 'तप्तगृह' और 'ऋतंवरा' काव्यों में द्वि-अर्थक कथाओं का विधान नहीं, अतः अपेक्षाकृत महत्त्व का प्रश्न कथा में नहीं उठा, किन्तु कवि के दृष्टिकोण और 'तप्तगृह' की भूमिका से स्पष्ट है कि कवि की दृष्टि बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक अधिक रही है। मनोग्रन्थियों, मनोभावनाओं और बुद्धिजन्य समस्याओं को घटनाओं के मूल में ढूँढ़ने में वे अधिक प्रयत्नशील रहे हैं। ऐसा उन्होंने स्वीकार भी किया है। मानव के हृदय और बुद्धि तथा उसके सक्रिय शारीरिक कार्य-व्यापार के बीच पारस्परिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति प्रयत्नपूर्वक की गई है। 'मेधावी' के कवि ने निश्चय ही वस्तुतथ्यों का उपयोग केवल उद्दीपन और प्रमाणों के रूप में किया है। कथा या घटनाएँ इस काव्य में वहीं तक आई हैं जहाँ तक वे उनकी चिन्ताधारा को उद्दीप्त या पुष्ट करती हैं, उनका स्वतन्त्र महत्त्व कुछ नहीं। कहना आवश्यक नहीं कि 'विक्रमादित्य' की घटनाएँ बहिर्जगत् की तथ्यप्रधान घटनाएँ हैं—उनका सम्बन्ध नानारूप-संसार और उसके कर्मक्षेत्र से है। पात्रों की आन्तरिक मनो-

दशा इस काव्य में उनके बाह्य क्रिया-कलाप की तुलना में नगण्य है। घटनाओं का रूप मूर्त, और बाह्य-संसार उनका रंगस्थल है। इस प्रकार इन घटनाओं में विस्तार है (विराट् रूप नहीं) गहराई नहीं। 'मेधावी' में उल्लेख और नाम गिनाने के लिए—प्रसंगों के बीच सारा संसार घटना-क्षेत्र के रूप में आ गया है, किन्तु ये घटनाएँ उद्धृत की जाती हैं, प्रस्तुत नहीं। काव्य के प्रस्तुत विषय का सम्बन्ध केवल मेधा से है, और इस क्षेत्र में कवि अनेक समस्याएँ और समाधान ढूंढने के लिए काफी गहरा उतरा है। 'तप्तगृह' और 'ऋतंवरा' की घटनाएँ बाह्य-जगत् और अन्तर्मन दोनों में घटित होती हैं। इस प्रकार कथा की रेखाएँ विस्तृत भी हैं और गहरी भी—किन्तु इनमें अपेक्षाकृत गहराई अधिक है, विस्तार कम। कहीं-कहीं महत्त्वपूर्ण घटनाओं की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति न करके उन्हें सूच्य बना देना इस बात का प्रमाण है ('तप्तगृह' में बिम्बसार के बन्दी होने की घटना)। 'कामायनी' इस वर्ग में वह अकेली रचना है जिसमें मूर्त और अमूर्त में अत्यन्त संतुलित सामंजस्य स्थापित किया गया है। रूपक के सफल निर्वाह के कारण आद्योपान्त तथ्यपरक ऐतिहासिक घटनाओं और अमूर्त मनोवैज्ञानिक घटनाओं का विकास समानान्तर हुआ है। अमूर्त को मानवीकृत करके कवि ने यथासंभव ठोस व्यवस्थित रूप प्रदान किया है, किन्तु इस प्रयत्न के अतिरिक्त प्रलय से लेकर सृष्टि के विकास और मनु के चरम आनन्द की प्राप्ति तक की घटनाएँ इस काव्य के विषय हैं। कुछ सर्गों में आख्यान-तत्त्व अधिक सुदृढ़ और स्पष्ट हो गया है—'ईर्ष्या', 'श्रद्धा' और 'स्वप्न' सर्ग में सारस्वत नगर-वर्णन का अंश, विशेषतः वस्तु-प्रधान है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण या अमूर्त-व्यंजना इन प्रसंगों मे अपेक्षाकृत गौण है।

'विक्रमादित्य' की घटनाएँ ऐतिहासिक हैं और उनका मूर्त रूप ही अंकित किया गया है। कहीं-कहीं घटनाओं की कमी को वर्णन-विस्तार और वार्ता-विस्तार से पूरा किया गया है, किन्तु इन स्थलों में भी कवि का दृष्टिकोण विषय-प्रधान है। न घटनाओं का रूप अमूर्त हुआ है और न पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का प्रयत्न कवि ने किया है। घटनाओं की कमी को इतिवृत्तात्मक वर्णन-विस्तार से भरा गया है।

'मेधावी' का आरम्भ ही चिन्तन से होता है। मूर्त घटनाओं का इस काव्य में एकान्त अभाव है। 'कामायनी' आदि कृतियों में भावना, विचार, दर्शन, कल्पना आदि अमूर्त उपादानों का महत्त्व होने पर भी उन्हें अनुभूति का विषय बनाकर व्यक्त किया गया है। आख्यान-तत्त्व का एकमात्र अभाव इन कृतियों में नहीं मिलता। 'मेधावी' में अनेक बौद्धिक सिद्धान्तों और विचारों का यथावत् वर्णन है। 'मेधावी' के आत्म-चिन्तन के रूप में कहीं-कहीं विचार की अतिशयता हो गई है—

ताना बाना सा बुना हुआ
जीवन मरण का अणु अणु में—
मकड़ी.सा स्वयं उगल जाला
उसमें ही अपना नृत्य किये
अणु अणु से संचित शक्ति कि
गति में होता है मतवाला

यह अहंकार की स्वप्न प्रभा
जिसमें यह जग है रंगभूमि
वह कार्य स्वयं निर्माण बने
वृक्षों से उठते हहर झूम।[1]

इस प्रकार जीवन के पंचतत्त्वों, शाश्वत सत्य, संसार के स्थायित्व, प्रकृति के कार्य-व्यापार, सृष्टि-विकास के इतिहास आदि अनेक बुद्धि-सापेक्ष प्रश्नों पर कवि ने चिन्तन किया और प्रकाश डाला है। जहाँ इतिहास, संस्कृति आदि से प्रसंग ग्रहण किये गए हैं वहाँ उनकी स्मृति है, प्रत्यक्ष वर्णन नहीं। कवि ने संक्षेप में आर्य जाति की धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक सभी दिशाओं में प्रगति का विहंगावलोकन स्मृति रूप में किया है। प्रगति के अभय निःशंक चरणों का यह स्मरण केवल उल्लेख के लिए दिग्व्यापी है। ऊपर से दिखायी देने वाले कथानक में—नाना रूपात्मक जगत् के मूल में भूत की प्रधानता और परिवर्तन-सृष्टि का मूलमन्त्र है—इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन है।

इसके अतिरिक्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में विश्वास, मानव में वर्ग-भेद की समस्या आदि समाजशास्त्रीय प्रश्नों को भी लेखक ने उठाया है। समस्त काव्य में कवि मस्तिष्क के स्तर से कविता करता रहा है। विचार और सिद्धान्त को अनुभूति का विषय बनाकर व्यक्त करने का प्रयत्न कहीं नहीं, चिन्तन अपने यथावत् रूप में प्रेष्य है।

'तप्तगृह' और 'ऋतंवरा' में मूर्त और अमूर्त में से कैवल्य किसी का नहीं किन्तु दृष्टिकोण 'मेधावी' और 'कामायनी' दोनों से भिन्न है। कथानकों में ऊपर से दिखाई देने वाली घटनाएं मूर्त हैं, किन्तु 'तप्तगृह' की भूमिका में व्यक्त अपनी मान्यता के अनुकूल घटनाओं पर पड़ने वाले हृदय और मस्तिष्क के प्रभाव को कवि ने टटोला है। अतः घटनाओं के चित्रण की अपेक्षा उनकी पृष्ठभूमि के उद्घाटन का प्रयास अधिक है। इस प्रकार मूर्त और अमूर्त के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध का एक वृत्त-सा बन गया है। घटनाओं के मूलवर्ती बौद्धिक या हार्दिक कारण—उनके परिणामस्वरूप घटित होने वाली घटनाएँ—और फिर इन घटनाओं द्वारा मानव-मन पर पड़ने वाले प्रभाव। 'तप्तगृह' के सम्पूर्ण प्रथम सर्ग में आगामी घटनाओं के मूल में कारण-रूप—देवदत्त का आत्मचिन्तन व्यक्त है। कवि ने सम्पूर्ण कथा में करुणाद्रावक और जीवन्त घटनाओं की प्रत्यक्ष प्रस्तुति को बचाया है—उदाहरणार्थ बिम्बसार के बन्दी किए जाने का प्रसंग। यह प्रवृत्ति इस बात का प्रमाण है कि बाह्य संघर्ष उसकी दृष्टि में विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं। इसी प्रकार 'ऋतंवरा' में कवि की वृत्ति मूर्त घटनाओं के वर्णन में नहीं रमी। प्रथम सर्ग में सृष्टि की सर्वाधिक भयंकर एवं महत्त्वपूर्ण घटना प्रलय का ही वर्णन अत्यन्त सीमित व एकपक्षीय रूप में करके तुरन्त ब्रह्मा के चिन्तन, क्षोभ, सृजन के लिए समाधि का संकल्प, जीवन के सिए पंचतत्त्वों की पुकार आदि अमूर्त विषयों में लेखक प्रवृत्त हो जाता है। इसी प्रसंग में जीवन के अनेक भावात्मक सत्यों का समाख्यान किया गया है। पौरुष का महत्त्व, जीवन में कर्म की सार्थकता, सृष्टि के उपादान और उनके पारस्परिक सम्बन्ध आदि विभिन्न विश्लेषित अमूर्त विषय हैं। मूर्त

१. मेधावी—डा० रांगेय राघव, पृ० २८

वस्तुरूप घटनाओं का कहीं अत्यन्त स्थूल औपचारिक रूप में वर्णन किया गया है—मनु और शतरूपा का मिलन जैसी सरस घटना भी इसी प्रकार का प्रसंग है—जिसे पढ़कर स्पष्ट भान होता है कि यह कवि की अपनी शैली नहीं।

निष्कर्ष रूप में इन सभी रचनाओं में घटनाओं के स्वरूप की दृष्टि से परस्पर वैषम्य है। 'विक्रमादित्य' पूर्णतः वस्तुनिष्ठ कथा-काव्य है, 'मेधावी' का सम्बन्ध नितान्त अमूर्त चिन्तन से है। 'कामायनी' में मूर्त और अमूर्त को समान महत्त्व प्रदान किया गया है किन्तु विचार सम्बन्धी तत्त्वों का उल्लेख कवि ने हृदय-रस से सिक्त करके किया है तथा अमूर्त का समान महत्त्व होते हुए भी ऐतिहासिक तत्त्व कहीं गौण नहीं हुआ। 'तप्तगृह' और 'ऋतंवरा' में कथा है, किन्तु मूर्त घटनाओं के प्रेरक या सम्बन्धित अमूर्त कारणों के विश्लेषण, उद्घाटन और वर्णन में कवि की मनोवृत्ति विशेष रमती है और घटनाओं का वस्तु-तथ्य रूप तुलनात्मक दृष्टि से पीछे पड़ गया है।

गति-प्रवाह—प्रबन्ध में कथा-तारतम्य, आकार-विस्तार होने के कारण उसकी विविध घटनाओं व प्रसंगों में गति और सहज प्रवाह होना अनिवार्य है। महाकाव्य में घटना-वैविध्य और जीवन के सर्वांग का समावेश होने के कारण आकार महत् होता है, अतः यह गुण और भी अपेक्षित है। घटनाओं में अविच्छिन्न धारा-प्रवाह प्रायः दो स्थितियों में बाधित होता है—घटना-विरलता की स्थिति में, अथवा समर्थ घटनाओं के होते हुए भी असमर्थ अभिव्यंजना की स्थिति में। इसमें से पहली स्थिति में दो मार्ग सम्भव हैं—कवि पर्याप्त घटनाओं के अभाव में अवांछित प्रसंगों की उद्भावना से काव्य-कलेवर में वृद्धि करेगा, अथवा गौण या विस्तार-अनपेक्षी प्रसंगों को वर्णन-विस्तार से बढ़ाएगा। दोनों ही पद्धतियों से रसज्ञ पाठक की जिज्ञासा या रुचि खंडित होगी। ऐतिहासिक या प्रख्यात कथानकों में उपर्युक्त निष्क्रियता का अवकाश उतना नहीं होता जितना अमूर्त विषय के अंकन में। किन्तु विचित्र संयोग है कि ऐतिहासिक वृत्त अपनाकर भी 'विक्रमादित्य' के अन्तिम अंश में जो गत्यवरोध उपस्थित हुआ है, वह शेष रचनाओं में अमूर्त व्यंजना-प्रधान होने पर भी नहीं मिलता। घटना-बहुलता का प्रश्न इन काव्यों में नहीं उठा। अमूर्त भावनाओं का क्रमबद्ध कथारूप में इस प्रकार निर्माण या उद्घाटन करना, कि वह महाकाव्योचित स्तर पर जीवन्तता और गत्यात्मकता से युक्त हो, दुष्कर कार्य है। किन्तु कहीं और किसी भी रूप में घटनाओं की अल्पता को व्यर्थ विस्तार से भरने का प्रयास इन कवियों ने नहीं किया। इनकी कथा में जो न्यूनाधिक विरसता या जोड़-तोड़ उत्पन्न हुए हैं, उनके कारण विभिन्न और रचनागत हैं।

घटनाओं के नियोजन में कुछ विशेषताएँ सामान्य रूप से इन सभी रचनाओं में ('विक्रमादित्य' को छोड़कर) परिलक्षित होती हैं। इनके वस्तु-विधान में मूलकथा के साथ अनेक अवान्तर-प्रसंगों की संश्लिष्ट योजना के अभाव में सघनता नहीं है। इनके कथानकों में विकास-सम्बन्धी स्फीतता, सरलता और स्पष्टता लक्षित की जा सकती है। घटनाओं में घनत्व नहीं ऋजु-सरल गति से प्रवहमान होने वाली कृशता है। 'मेधावी' के विषय में शंका उठाई जा सकती है, किन्तु उसमें भी सघनता नहीं उलझन है, जो कवि की विचरणशील बुद्धि के व्यापक विहार से उत्पन्न हुई है। कथा-प्रवाह सीधे ऋजु गति से बढ़ने के स्थान पर टेढ़ा-मेढ़ा होकर बहने लगता

है। कथा के धरातल, स्वरूप और संघटना सब में यह बात है। उक्त विशेषता से उद्भूत एक अन्य विशेषता इन काव्यों में है—इनकी गति में विशेष उतार-चढ़ाव या अधिक मोड़ नहीं आते। इनका कथा-प्रवाह बाधाओं से टकरा-टकराकर दुर्दम अप्रतिहत वेग से भी आगे नहीं बढ़ता। उसकी गति में तांडव की जीवन्तता नहीं लास्य की थिरकन है। 'कामायनी' के अतिरिक्त यह बात शेष सभी कृतियों में है। कथित विशेषता के कारण 'कामायनी' के अतिरिक्त महाप्राण और जीवन्त गति का अभाव शेष सभी रचनाओं में खटकता है। कारण अपने-अपने और विशिष्ट हैं।

'कामायनी' में मूर्त घटनाओं की-सी प्रत्यक्षता सर्वत्र नहीं, कहीं-कहीं है, किन्तु कथा की गति का नियमन अत्यन्त कुशलतापूर्वक हुआ है। जीवन के विराट् एवं भव्य तथा कोमल और मधुर दोनों रूपों के अंतर्भाव के कारण जहाँ मूर्त और अपेक्षाकृत प्राणवान प्रसंग है वहाँ कथा अप्रतिहत वेग और त्वरा से आगे बढ़ती है तथा मादक-मृदुल प्रसंगों में कथा की गति भी उन्मद हो जाती है। इस प्रकार कथा में भावानुकूल गति और विराम उत्पन्न हुए हैं। 'चिन्ता' सर्ग में हृदय की विकलता, विगत की चलचित्र-सदृश स्मृति, भविष्य का अनिश्चय सभी कुछ—एक के बाद दूसरा प्रसंग अत्यन्त क्षिप्रता से बढ़ता है। यही भाव-परिवर्तन की क्षण-क्षण गतिमयता 'आशा' के उदय के साथ आश्वस्त होकर मन्थर होती हुई 'काम' सर्ग में आत्मबोध और आत्म-विश्वास के सहारे ठिठकने लगती है। इसी प्रकार 'वासना' सर्ग में व्यक्त हृदय की उत्तेजना, उद्वेलन और चांचल्य की तीव्रता 'लज्जा' सर्ग में संकोच और रति की मादकता के बीच भारी पगों से आगे बढ़ती है। लज्जा का भाव मानो कथा के पगों में नूपुर-सा लिपट गया है। यह विशेषता 'कामायनी' के कवि की बहुत बड़ी सिद्धि है जो सम्पूर्ण काव्य में मिलेगी। प्रसंगानुकूल उतार-चढ़ाव गति-विराम के साथ अविच्छिन्न धारा-प्रवाह कथा-विकास इस काव्य की ऐसी विशेषता है जो अन्य रचनाओं में सहज प्राप्य नहीं होती।

'विक्रमादित्य' की घटनाएँ मूर्त और पर्याप्त हैं। कवि थोड़े से प्रयास से इन घटनाओं की सुनिश्चित योजना कर कथा के धारा-प्रवाह विकास का विधान कर सकता था, किन्तु शिल्प में नवीन प्रयोग की आकांक्षा से बाधा उत्पन्न हुई है। घटनाओं के प्रवाह पर कवि का ध्यान उतना नहीं जितना संवाद-योजना पर। एक के बाद दूसरी घटना पर कवि लाँघ जाता है, इन घटनाओं को कहीं-कहीं बिल्कुल बिना जोड़ के छोड़ दिया गया है। बीच-बीच में प्रस्तुत होने वाले इस अन्तराय से झटके से कथा-सूत्र बार-बार टूट जाता है, और पाठक को अनुमान से यह जोड़ लगाने पड़ते हैं। उन्नीसवें सर्ग के बाद तो कथा समाप्त ही हो जाती है, अतः शेष भाग में पाठक की जिज्ञासा-वृत्ति की परितृप्ति के लिए कुछ बाकी नहीं रहता, परिणामतः वह इस अंश को नीरस और निर्जीव पाता है।

'मेधावी' में घटनाओं का अभाव है एवं उसके स्थान पर कवि का चिन्तन व्यक्त है किन्तु विचार-सम्बन्धी एकसूत्रता और तारतम्य से काव्य बँधा नहीं है। अनेक प्रकार के विचार बिना किसी विकास-योजना या निश्चित क्रम के इस काव्य में भर दिये गए हैं। अतः विचारों के पूर्वापर कार्य-कारण सम्बन्ध से शृंखलाबद्ध धारा-प्रवाह विकास इस काव्य में नहीं मिलता। विचार-सूत्र कुछ उखड़ा-सा ऊबड़-खाबड़ भूमि पर ठोकरें खाता आगे बढ़ता है। कहीं-कहीं

विशेष प्रसंगों का अनावश्यक विस्तार होने से भी गति में अवरोध हो गया है। सम्पूर्ण चौथे सर्ग में तथा कहीं-कहीं और भी ऐसा हुआ है।

'तप्तगृह' में इनी-गिनी घटनाएँ हैं और आकार सीमित, अतः यद्यपि कथा का प्रवाह रुकता नहीं, परन्तु पात्रों का आत्मचिन्तन घटनाओं की अपेक्षा अधिक व्यक्त हुआ है और घटना-विरलता केवल बाह्य जीवन को लेकर ही नहीं अन्तर्द्वन्द्व या मानसिक जगत् के क्षेत्र में भी है। कहीं-कहीं मार्मिक प्रसंग कवि की दृष्टि से छूट गए हैं और बदले में अत्यन्त स्थूल प्रसंगों को व्यर्थ तूल दिया गया है। पहले कथन के उदाहरण-रूप में कोणक के मन में पिता को बन्दी बनाने से पूर्व के मानसिक संघर्ष के अभाव का उल्लेख किया जा सकता है और दूसरे में बन्दीगृह में होने वाले अत्याचार का (नापित द्वारा पैर चीरने की घटना)। इस प्रकार कहीं पाठक को पीछे छोड़कर कथा आगे बढ़ जाती है और कहीं उसके न चाहने पर भी बरबस रुकी रहती है। इसके अतिरिक्त भी घटनाओं में सशक्त प्राणवत्ता का एकांत अभाव है। जिज्ञासा उद्‌बुद्ध करने की शक्ति भी उनमें नहीं है। पाठक को कहीं सतर्क नहीं रहना पड़ता। प्रस्तुत घटना आगामी का अनुमान बरबस करा देती है और यह अनुमान प्रायः ठीक ही होता है, कहीं कोई अप्रत्याशित घटना हृदय को झंकृत नहीं करती।

'ऋतंवरा' में भी घटनाओं का क्रीड़ास्थल अन्तर्मन है बहिर्जगत् नहीं, परन्तु सामान्यतः काव्य में प्रवाह है। काव्य की सबसे पहली और भयकर घटना है—प्रलय। इसके वर्णन में गति-अवरोध या जड़ता तो नहीं, परन्तु सृष्टि-विध्वंस की इस भयंकर प्रक्रिया को मूर्तिमान करने योग्य निर्बाध गति भी नहीं। 'पृथ्वी' सर्ग में, पृथ्वी के प्रलेय नीर में निमग्न होने का वर्णन है, जिसमें डमरू के डिम-डिम स्वर पर होने वाले विध्वंसकारी तांडव का वेग नहीं, लास्य की मन्थर गति में बजने वाले नूपुरों की छम छनन-माधुरी है। इस अवसर पर प्रस्तुत प्रकृति का मानवीकृत चित्र उक्त कथन को पुष्ट कर सकेगा—

बढ़ चला ताप अतिशय प्रचण्ड
ऐसा लगता था—
अतल-वितल-पाताल-लोक
जल-जल कर होंगे खण्ड खण्ड
पृथ्वी भयातुरा
सिकुड़ी-सी, सिमटी-सी थी
जल-सिक्त दृगों की रेखाएँ कुछ लाल-लाल
गीला अंचल
गीला कुंतल
गीली-गीली सांवली-सलोनी देह-लता।[1]

कहीं-कहीं समर्थ चित्र भी हैं किन्तु कम। अमर्ष की क्रान्ति की अपेक्षा सृजन की छटा ही अधिक सुन्दरतापूर्वक वर्णित है। कुछ समर्थ प्रसंगों में विशेष ओज, स्फूर्ति और आवेग उत्पन्न हो गया है। ब्रह्मा के मानस-पुत्र मनु के जन्म का प्रसंग, तथा अन्तिम अंश में मनु के भविष्य-

१. ऋतंवरा—प्रभात, पृष्ठ ५१

दर्शन का प्रसंग विशेष जीवन्त प्रसंग हैं—अन्यथा भाषा के आवरण में कथा बिछलती-सी चलती है। कामना होती है कि यदि कवि ने प्राचीन और नवीन को इस अनाकर्षक जोड़ से नहीं जोड़ा होता तो कथा में और अधिक नैरन्तर्य आ जाता।

वर्णन-विस्तार—आचार्यों द्वारा महाकाव्य के लिए जिन वर्ण्य-विषयों की सूची गिनाई गई है, उसके मूल में तर्क इतना ही है कि महाकाव्यों में जीवन के विविधांग और यथासम्भव सर्वांग का अन्तर्भाव होना चाहिए। जिन काव्यों को आदर्श स्वीकार करके इस सूची का रूप स्थिर किया गया उनमें जीवन के बाह्य, नाना रूपात्मक, वस्तुप्रधान, सक्रिय रूप की प्रधानता थी, रम्याद्भुत व्यक्तिपरक अमूर्त रूप की नहीं। फलतः वर्णनों का विस्तार जीवन के बाह्य क्षेत्र में समतल हुआ मनोदेश में गहरे नहीं। शास्त्र-निर्दिष्ट सूची में इसी कारण मानव के बाह्य जीवन से सम्बद्ध विविध पक्षों—राजनैतिक, सामाजिक और प्राकृतिक वर्णनों का समावेश तो किया गया, परन्तु उसके अन्तर्मन में घटने वाली अमूर्त घटनाओं को स्थान नहीं दिया गया। ऐसी स्थिति में जीवन के बाह्य और विविध-पक्षों के वर्णन इन काव्यों में ढूँढ़ने व्यर्थ हैं—क्योंकि जैसा पहले कहा जा चुका है, इनका विषय मूर्त जीवन की अपेक्षा अमूर्त घटनाएँ अधिक हैं—अतः देखना यह है कि बाह्य जीवन की विविधता के अभाव को मनोदशाओं को विविधता से कहाँ तक भर दिया गया है? अर्थात् अन्तर्मन में घटने वाली घटनाओं व मानसिक घात-प्रतिघात के अंकन में जीवन की विविध मनोभावनाओं का किस रूप में ग्रहण किया गया है? जीवन के विविधांग सम्बन्धी बौद्धिक और हार्दिक सक्रियता इनमें कहाँ तक मिलती है?

'विक्रमादित्य' आख्यान-प्रधान काव्य है। उसकी कथा राजनीति से विशेष रूप से सम्बद्ध है, अतः उसमें राजनैतिक और प्राकृतिक वर्णनों की प्रधानता है। सामाजिक जीवन के अधिक वर्णन इस काव्य में नहीं मिलते। कहीं-कहीं राजनैतिक वर्णन केवल परम्परा-पालन के लिए किये गए हैं। ऐसे स्थलों पर भौतिक वातावरण का इतिवृत्तात्मक विधि से स्थूल वर्णन है। चौथे सर्ग में राजदरबार का चित्र सर्वथा निर्जीव और गतिहीन है, जिसमें अत्यन्त स्थूल व यन्त्र-चालित से बाह्य कार्य-कलाप वर्णित हैं। युद्धों आदि के वर्णन भी विशेष सजीव नहीं। सामाजिक पक्ष में कुछ इने-गिने पारिवारिक प्रसंगों के अतिरिक्त विशेष विस्तृत वर्णन नहीं मिलते। प्राकृतिक क्षेत्र में निश्चय ही कवि सफल हुआ है। प्रकृति-वर्णन की सभी प्रचलित प्रणालियों का प्रयोग कवि ने किया है और केवल उसके रम्य और मनोहर रूप का ही नहीं, विकराल और भयंकर रूप का भी अंकन किया गया है। परम्परापालन के लिए वियोग में षट्ऋतु वर्णन की पद्धति भी उन्होंने अपनायी है। इस प्रकार वर्णन-विस्तार में सफलता की दृष्टि से कवि की सिद्धि एकपक्षीय है।

'कामायनी' में मूर्त कथा के मूल में अन्तःसलिला की भाँति अमूर्त कथा की धारा प्रवाहित है, अतः वर्णन-विस्तार की दृष्टि से भी कवि का उत्तरदायित्व दोहरा हो गया है। 'कामायनी' के वर्णनों का सम्बन्ध मानव-जीवन के बाह्य, तथ्य-प्रधान अंग से भी है और कवि ने मन और बुद्धि के भीतर गहरे पैठ कर मनोग्रन्थियों, मनोभावनाओं और बौद्धिक क्रियाओं का वर्णन-विश्लेषण भी किया है। घटनाओं में विस्तार देश और काल दोनों दृष्टियों से विशद है। उनमें प्रसार भी है, गहराई भी। 'कामायनी' में वर्णित प्रसंगों को दो बातें दृष्टि में रखकर समझना चाहिए। 'कामायनी' की मूर्त कथा का सम्बन्ध उस काल से है जब सामाजिक विषमताओं और

उलझनों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। उसकी समस्याएँ व्यक्तियों के सामने आने वाली समस्याएँ हैं, सामाजिक या सामूहिक समस्याएं नहीं—अतः सामाजिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं या सामाजिक जीवन के चित्र—सभ्यता की आदिम अवस्था से सम्बन्धित इस काव्य में ढूँढ़ने व्यर्थ हैं। दूसरी विशेषता इस कृति की यह है कि इसमें जिन मनोवृत्तियों को विषय-रूप में अपनाया गया है वे व्यक्ति की होने पर भी विशिष्ट नहीं हैं। उनका सम्बन्ध मानव-मन की मौलिक या मूलभूत प्रवृत्तियों से है, अतः इस रूप में वे मानव-मात्र की व्यापक समस्याएँ हो सकती हैं। व्यक्तिनिष्ठ होते हुए भी उनका स्वरूप देश और काल की सीमा से मुक्त, शाश्वत और सर्वव्यापी है। वे व्यक्ति की समस्याएँ हैं किन्तु व्यक्तिगत, सामयिक या परिस्थितिजन्य समस्याए नहीं। उनका स्वरूप सार्वभौमिक व सार्वकालिक है तथा क्षेत्र व्यापक। अतः अपने ढंग से 'कामायनी' में वर्णन-विस्तार है—राजनैतिक विप्लव या सामाजिक हलचल का नहीं, मानव की सर्वांगीण समस्याओं या प्रश्नों का। इसी व्यापकता और शाश्वतता के गुण के कारण काव्य के अन्तिम अंश में कवि इन्हीं प्रश्नों को सामूहिक रूप में प्रस्तुत करके, व्यक्ति और समाज तथा प्राचीन और आधुनिक में सम्बन्ध स्थापित कर सका है। समस्त सामाजिक और राजनीतिक क्रिया-कलापों का मूलाधार मानव-मन निवासिनी यही मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं।

शास्त्रों के सूचीबद्ध वर्णन 'कामायनी' में नहीं मिलते, किन्तु अपने ढंग से जीवन के अत्यन्त व्यापक अंग को कवि ने अपनाया है। सामाजिक वर्णनों में सामूहिक समाज के नहीं किन्तु उसके एक अवयव परिवार के कुछ अत्यन्त स्वाभाविक चित्र 'ईर्ष्या' सर्ग में हैं। इसी प्रकार परवर्ती सभ्यता की अनेकरूपिणी राजनैतिकता तो नहीं किन्तु अपने ढंग से सारस्वत प्रदेश के वर्णन में नगर-वर्णन व राजनैतिक प्रसंग भी मिल ही जाते हैं। प्रकृति का तो प्रश्न उठाना ही व्यर्थ है। इस समस्त काव्य की घटनाओं की रंगस्थली प्रकृति की उन्मुक्त क्रोड़ है। प्रकृति का महत्त्व इस काव्य में लगभग एक स्वतन्त्र पात्र का-सा है। कवि 'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर' से आरम्भ कर 'समरस थे जड़ या चेतन' पर अंत करता है। प्रकृति का प्रवेश और निर्गम दोनों किसी भी अन्य पात्र से कम महत्त्वपूर्ण नहीं। उसके अनेक भव्य, विराट्, भयंकर और रमणीय, आह्लादक व उद्दीपक रूप काव्य में यथास्थान बिखरे हैं। इन वर्णनों को रूढ़ि-पालन के लिए नहीं अपनाया गया, अतः इनमें विवरणात्मक प्रवृत्ति नहीं, नामपरिगणन नहीं, प्रसंग और विषय की आवश्यकता के अनुसार सौन्दर्य का उन्मेष है, सर्वथा नवीन दृष्टि है, नवीन सादृश्य-विधान और बाह्य एवं आन्तरिक दोनों प्रकार के सौन्दर्य का उन्मीलन है।

अमूर्त के क्षेत्र में जिन प्रवृत्तियों को विषय बनाया गया है वे शाश्वत और सर्वव्यापी तो हैं ही साथ में विविध और नानारूपिणी भी हैं। लज्जा, श्रद्धा जैसे कोमल भावों से लेकर ईर्ष्या, वासना आदि उत्तेजक मनोवृत्तियों, काम और इड़ा जैसी व्यापक प्रवृत्तियों और आनन्द और सामरस्य जैसे चरम सत्य के अभिज्ञान को कवि ने विषय-परिधि में समाविष्ट कर लिया है। कहीं-कहीं स्वगत के रूप में पात्रों की भावनाओं का सुन्दर आत्मविश्लेषण प्रस्तुत है। सम्पूर्ण 'काम' सर्ग में मनु के द्वारा आत्माभिज्ञान का प्रयत्न ऐसा ही है। प्रश्नोत्तर शैली में यह आत्म-परीक्षण अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है—

मेरी अक्षय निधि ! तुम क्या हो,
पहचान सकूंगा क्या न तुम्हें ?
उलझन प्राणों के धागों की
सुलझन का समझूँ मान तुम्हें ?[1]

कहीं-कहीं सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथ्यों का अत्यन्त सरल और विश्लेषणात्मक रूप में वर्णन है। मनुष्य के अवचेतन की सजगता का नियम इस प्रकार काव्यबद्ध हुआ है—

था व्यक्ति सोचता आलस में
चेतना सजग रहती दुहरी,
कानों के कान खोल करके
सुनती थी कोई ध्वनि गहरी।[2]

इस प्रकार कथा की आवश्यकता के अनुसार मूर्त और अमूर्त अत्यन्त व्यापक रूप में इस काव्य में वर्णित हैं। नियमावली के अनुकूल न सही, परन्तु वर्णन-विस्तार, भव्यता और विशदता 'कामायनी' में सहज प्राप्य है।

'मेधावी' में घटनाएँ नहीं, वर्णन नहीं, विचारों का विस्तार दूर-दूर तक हुआ है। नाम गिनाने के लिए इतिहास, भूगोल, ग्रह-विज्ञान, समाज-शास्त्र सभी ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र इस काव्य की परिधि में है, किन्तु किसी पक्ष-विशेष का जमकर कुछ दूर तक वर्णन कवि ने नहीं किया। वर्णन और उल्लेख में अन्तर होता है। इन विविध क्षेत्रों में घटित होने वाली घटनाओं का कवि उल्लेख करता है वर्णन नहीं, अतः किसी प्रकार का स्थिर व गतिमय दृश्य-विधान या विस्तृत वर्णन 'मेधावी' में नहीं मिलता। कवि को प्रसंग-विशेष पर रुकने का अवकाश ही नहीं। केवल प्राकृतिक वर्णन इस काव्य में रुककर किये गए हैं। ये स्वतन्त्र प्रकृति-वर्णन कहीं-कहीं विशेष गतिमय और विशद हैं—

हरियाली स्पंदित थी मरकत
सी जगमग डोल रही प्रशांत
अपने गर्जन में महासिंधु
मर्मर का घोष करे नितांत
उस सागर में वह नदी नील
करती थी महा विसर्जन सा
'डेल्टा' की उपजाऊ पृथ्वी
युग युग धारा में क्षण भर था
बादल फटते जाते थे नभ
में करके स्वर्णिम मृदुल हास

---

१. कामायनी—जयशंकरप्रसाद, अष्टम संस्करण, सं० २०१०, पृष्ठ ६६
२. वही, पृष्ठ ७०

वह झूम झूम चलता समीर
चल चित्र एक रंगीन भास।[1]

आलंबन-रूप ही नहीं, प्रकृति के तत्त्वों की आत्मपरिचय के रूप में काव्यमय व्याख्या भी कहीं-कहीं की गई है। अग्नि का परिचय देखिये—

हिरण्यगर्भा सुलग उठी हूँ
आह सूर्य्य की भीषण प्रतिध्वनि
करती तंतु तंतु में गर्जन
अंधकार में किलक उठी हूँ
स्वर्ण मेघ सी
अंध वेग सी
मैं अणु अणु में पुलक उठी हूँ।[2]

प्रकृति के अतिरिक्त जीवन के अन्य पक्षों के वर्णन कवि ने नहीं किए। अमूर्त भाव या विचारों का भी वह विश्लेषण नहीं करता, परिचय भी नहीं देता। इन अमूर्त प्रसंगों में अभिव्यक्ति का स्वर वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक न होकर प्रतिपादनात्मक है। सैद्धान्तिक विचारधारा के परिपोष के लिए जिन मूर्त वस्तुप्रधान घटनाओं का उल्लेख किया गया है उनमें न इतिवृत्तात्मक दृष्टि है और न समाख्यानात्मक, अतः ये प्रसंग भी वर्णन न होकर उद्धरण बन गए हैं। वैसे उनका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विविधतापूर्ण है। इतिहास, भूगोल, धर्म, दर्शन समाज और संस्कृति सभी इस काव्य के परिनिवेश में समाहित हैं, पर इसी बहुनिष्ठता के कारण एकाग्र या जमे हुए वर्णन किसी पक्ष के भी नहीं मिलते।

'तप्तगृह' की विषय-वस्तु ने वर्णनीय प्रसंगों के लिए भी परिसीमा प्रस्तुत की है। कवि की योजना खंडकाव्य लिखने की थी, और उसी के लिए उसके पास सामग्री थी। जीवन के सभी पक्षों का विस्तारपूर्वक अन्तर्भाव कथा में ही नहीं है, अतः सर्वांगीण वर्णनों का प्रश्न नहीं उठता। एक पक्ष विशेष (राजनैतिक) का भी अत्यन्त एकांगी वर्णन है। इस पक्ष के जीवन्त रूप—युद्ध, विप्लव आदि का नहीं, षड्यन्त्र, कुमंत्रणाओं, पारिवारिक और धार्मिक विद्वेष का वर्णन है। प्रकृति को पृष्ठभूमि के रूप में अनेक प्रसंगों में ग्रहण किया गया है। उसके रम्य, उल्लासमय रूप के वर्णनों का अवकाश, काव्य के करुणा-प्रधान होने के कारण अधिक नहीं था, किन्तु कहीं-कहीं कवि ने वातावरण-निर्माण की कुशल क्षमता का परिचय दिया है। कारावास में बिम्बसार की नापित द्वारा यातना की घटना से पूर्व का सूर्योदय, कवि की दृष्टि में ऐसा प्रतीत होता है—

उदित हुआ अम्बर में
भासमान बाल-रवि
मानों कल्पान्त के
ध्वंसक अनल का

---

१. मेधावी—डा० रांगेय राघव, पृष्ठ ६४
२. वही, पृष्ठ ६५

लाल-लाल गोला हो।
व्योम प्रान्त भर गया
प्रखर ज्वाल-माला से
और लगा पिघल-पिघल
चक्रवाल जलने
भट्ठी की आंच से
शुष्क-काष्ठ-खण्ड ज्यों
धांय धांय जलता।[1]

इस चित्र में न उल्लास है न स्फूर्ति, आगामी भयंकर घटना का आभास मात्र है। प्रकृति-वर्णन में कवि समर्थ है—ऐसा इन एकपक्षीय वर्णनों से भी प्रतीत होता है। प्रकृति के अतिरिक्त अन्य पक्ष—विशेषतः सामाजिक, प्रायः अछूते हैं। कुछ पारिवारिक प्रसंग मिलते हैं, किन्तु परिवार-विशेष की स्थिति-विशेष में घटित ये घटनाएँ, परिवार-मात्र की नहीं हैं। जहाँ व्यक्ति के मानसिक संघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण है, वहाँ मानव-जीवन की शाश्वत समस्याओं या व्यापक प्रश्नों को नहीं उठाया गया। वे अन्तर्द्वन्द्व या मनोग्रंथियाँ विशेष व्यक्तियों की हैं, जो विशेष प्रकार की परिस्थितियों में विशिष्ट ढंग से कार्यरत होते है। ये समस्याएँ देश और काल से बद्ध हैं, और इस दृष्टि से उनमें शाश्वत्ता या व्यापकता का गुण नहीं है। इनका सम्बन्ध जीवन की मौलिक एवं विविध प्रवृत्तियों से भी नहीं है। प्रत्येक पात्र आरम्भ से अंत तक एक ही लीक पर सोचता और आचरण करता है। केवल अंत में परिवर्तन अजातशत्रु के व्यक्तित्व में है, किन्तु उसके मूल में घटना और अवसर का आघात है, वह सहज है मौलिक नहीं। मूर्त और अमूर्त दोनों दृष्टियों से 'तप्तगृह' में एकपक्षीय वर्णन मिलते हैं।

'ऋतंवरा' की कथा भी उस युग की कथा है जिससे 'कामायनी' की कथा का सम्बन्ध है। 'कामायनी' की ही भाँति सामाजिक और राजनैतिक वर्णनों का अवसर 'ऋतंवरा' में भी नहीं मिला। 'कामायनी' में सारस्वत प्रदेश के प्रसंग में राजनैतिक पक्ष का जितना भी समावेश हो सका था, 'ऋतंवरा' में उसका अवकाश भी नहीं रहा। जहाँ लेखक को मूर्त-घटनाओं के वर्णन का अवसर मिला है, वहां भी वह विशेष सफल नहीं हुआ। प्रलय की आरम्भिक घटना का वर्णन अत्यन्त असमर्थ, प्रभावविहीन और एकांगी है। इसके उपरान्त चिन्तन-मनन व अनेक भावात्मक सत्यों का आख्यान है। अन्त में वर्तमान जीवन की समस्याएँ तथा उनके समाधान वर्णित हैं। इस प्रसंग में अनेक दार्शनिक व व्यावहारिक सत्यों का लेखक ने वर्णन किया है। इस प्रकार मूर्त उपादानों, तत्वों व प्रसंगों का इतिवृत्त वर्णन करने के स्थान पर लेखक ने अमूर्त-चिन्तन और समस्याओं को अधिक उठाया है। जहाँ तक समस्याओं के विस्तार, चिरस्थायित्व और मौलिकता का प्रश्न है निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कवि ने वर्तमान जीवन के अनेक ज्वलन्त और वैविध्यपूर्ण प्रश्नों को उठाया है और उत्तर देने का प्रयत्न भी किया है। जीवन में चेतन का महत्त्व, सृष्टि के विभिन्न उपादानों के परस्पर सम्बन्ध आदि दार्शनिक प्रश्न,

१. तप्तगृह —प्रभात, पृष्ठ ७७

व जीवन में कर्म और पौरुष की महत्ता, विभिन्न सामाजिक व आध्यात्मिक विडम्बनाएँ और आणविक युग में उनके आशावादी समाधान आदि ऐसे अनेक व्यावहारिक प्रश्न हैं जिन्हें काव्य में स्थान मिला है। कवि ने इन सब समस्याओं का बाह्य स्थूल रूप ग्रहण न करके आन्तरिक, भावात्मक रूप ही अधिक अपनाया है, उसके समाधान भी अन्तर्जगत-सम्बन्धी ही हैं। ये समस्याएँ शाश्वत तो नहीं कही जा सकतीं, किन्तु व्यापक अवश्य हैं। ये व्यक्तियों की समस्याएँ न होकर समाजगत या विश्वव्यापी समस्याएँ हैं। अतः काल की दृष्टि से नहीं तो देश या स्थान की दृष्टि से निश्चय ही इनमें विस्तार और विविधता है। यह तो स्पष्ट है कि मूर्त के वर्णन में कवि का दृष्टिकोण एकपक्षीय और वह भी असफल ही रहा है, अमूर्त की दृष्टि से उसका क्षेत्र अपेक्षाकृत व्यापक एवं सफल है। जीवन की वस्तुरूप समग्रता इस काव्य में बिल्कुल नहीं मिलती। प्राकृतिक वर्णन मात्रा में अधिक है किन्तु शैली नवीन है परम्पराभुक्त नहीं।

परिमाण एवं समग्र रूप—परिमाण और समग्र रूप का सम्बन्ध यदि बृहदाकार से ही मान लिया जाय, तो 'तप्तगृह' के अतिरिक्त ये सभी रचनाएँ परिमाण की दृष्टि से बृहद हैं। रामचरितमानस-तुल्य तो नहीं, परन्तु महाकाव्य के लिए पर्याप्त पृष्ठसंख्या इन काव्यों में है ही। प्रश्न है कि केवल बाह्याकार में विस्तार क्या किसी काव्य को महाकाव्य की कोटि में परिगणित कराने के लिए पर्याप्त है? उत्तर होगा कि यदि यह विस्तार अन्तःप्रेरित हो तो निश्चय ही। अर्थात्, महाकाव्य के बाह्य में विस्तार विषय के अनुकूल होना चाहिए, अतः यदि किसी ग्रन्थ के विषय में विशदता, विस्तार, महाप्राणता और जीवन्तता हो, और उसका रूप-विधान विस्तारापेक्षी हो तो अन्तः और बाह्य का परस्पर अनुकूलत्व तथा सन्तुलन निश्चय ही शुभ होगा। इस दृष्टि से 'कामायनी' के अतिरिक्त इन सभी प्रबन्धों से निराश होना पड़ता है। विषय में महाकाव्योचित प्राणवत्ता और विराट् दृश्य-शृंखला किसी अन्य काव्य में नहीं मिलती। इन काव्यों में विस्तार है परन्तु पृष्ठसंख्या का, विषय में युग-जीवन की समग्रता, तथा भव्यता एवं विस्तार की प्रेरक विविधता व सर्वांगीणता नहीं है। 'तप्तगृह' का विषय और बाह्याकार, दोनों ही इस दृष्टि से अपर्याप्त हैं। किसी काव्य के प्रभाव की गरिमा और महानता उसके आकार की अपेक्षा आत्मा और विषय पर अधिक निर्भर होती है।

'कामायनी' की कथा का आरम्भ प्रकृति के विराट् प्रांगण में हुआ है, विकास भी उसी पृष्ठभूमि में होता है। मानव-सम्बन्धों और सौन्दर्य आदि का निसर्ग व प्रकृत रूप में वर्णन होने के कारण उसमें एक प्रकार की जीवन्त और स्फूर्त चित्रमयता है। यह क्रम आद्योपान्त विराट् और कोमल, भव्य और उदात्त सभी प्रसंगों में बना रहा है। काव्य का समापन भी अत्यन्त भव्य, गरिमामय और विराट् दृश्य से हुआ है। प्रसंगानुरूप स्फूर्ति, जीवन्तता, माधुर्य और रमणीयता तथा निसर्ग सौन्दर्य व विराट् दृश्य-शृंखला सर्वत्र मिलती है। अमूर्त-व्यंजना के पक्ष में यह जीवन्तता मनोभावनाओं के तीव्र घात-प्रतिघात, उदय और विलय के रूप में प्रतिफलित हुई है। 'विक्रमादित्य' के उत्तरांश में घटनाओं का ही अभाव है—अतः यह अंश सर्वथा निर्जीव है। इसके पूर्व भी प्रकृति के कतिपय चित्रों के अतिरिक्त राजनैतिक पक्ष के भी विशद वर्णन, जिनके प्रभाव में सशक्त प्राणवत्ता हो, इस काव्य में नहीं मिलते। काव्य के समग्र रूप में गरिमा और महाप्राणता नहीं है। 'मेधावी' के विषय में विस्तृत दृश्य-योजना या विराट् चित्रमयता का प्रश्न

उठाना ही व्यर्थ है, यह विशेषता इस काव्य की विषय-योजना और कवि के दृष्टिकोण में ही नहीं है। इस कृति के अधिकांश का स्वर बौद्धिक है और वह काव्य जो बुद्धि को उत्तेजित करे, अर्थ-ग्रहण करा सकता है, बिम्ब-ग्रहण नहीं। दृश्य की योजना, कल्पना और अनुभूति का सम्बन्ध राग-तत्त्व से अधिक है, अतः जिस काव्य में विचार प्रेष्य हो, उसमें चित्रात्मकता या मूर्तिकला उतनी नहीं मिलेगी। ऐसे काव्य में विचार-सम्बन्धी व्यापकता, जीवन्तता—और यदि विचार का सम्बन्ध किसी विराट् पक्ष से हो तो महाप्राणता हो सकती है। 'मेधावी' में स्थान-स्थान पर अनेक विराट् तत्त्वों—ग्रह-नक्षत्रों, पंचभूतों, सृष्टि के उपादानों, गतिमयता आदि को प्रसंग बनाकर विश्लेषण किया गया है, किन्तु इसमें विश्लेषण अधिक है, वर्णन कम। साथ ही स्थिरता का अभाव है। कहीं-कहीं चित्र की कुछ रूपरेखा बनने लगती है तो कवि उसे वहीं अधूरा छोड़ किसी अन्य प्रसंग पर बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रसंगों में सुनिश्चित क्रमबद्धता या स्पष्ट व्यवस्था न होने के कारण, काव्य के समग्र रूप में प्रभाव-सम्बन्धी एकाग्रता और जो आंशिक चित्रमयता है—वह भी नष्ट हो गई है। विराट् और व्यापक तत्त्वों का जमकर वर्णन नहीं, उलझा-सा उल्लेख या विश्लेषण ही है।

'तप्तगृह' के विषय में जैसा अनेक प्रसंगों में कहा जा चुका है—कथा, वर्णन, आदि एकपक्षीय होने के कारण, समग्र रूप में भी एकांगिता आ गई है। जीवन के विराट् और रम्य दोनों ही पक्षों का इस काव्य मे अभाव है। जो कुछ जीवन्तता इसमें मिलती है, उसका रूप अत्यन्त अस्वस्थ और निपट कठोर है, अतः प्रभाव में भव्यता और उदात्तता नहीं। शेष सब-कुछ करुणासिक्त है, इसलिए उसमें भी प्राणवत्ता और स्फूर्ति की अपेक्षा आर्द्रता ही अधिक है।

'ऋतंवरा' की कला अत्यन्त कोमल और मसृण कला है। एकाध स्थल के अतिरिक्त अवकाश मिलने पर भी कवि विराट् और महाप्राण दृश्य अंकित नही कर सका। 'कामायनी' में मनु द्वारा पुनः स्मृत प्रलय की घटना में भी 'ऋतंवरा' की प्रत्यक्ष प्रस्तुति की अपेक्षा कहीं अधिक वेग और प्राणवत्ता है। 'ऋतंवरा' का यह प्रसंग अत्यन्त निष्प्राण है। इसके उपरान्त कोई अन्य विराट् घटना काव्य में अन्त तक नहीं घटती। अन्त में मनु को ब्रह्मा द्वारा विराट् रूप-दर्शन में किंचित् भव्यता का आभास मात्र मिलता है। किन्तु मध्यवर्ती भाग विशेष चिन्तन-प्रधान होने के कारण जीवन्त नहीं। कवि ने शैली को कोमल और मधुर आभरणों से अधिक अलंकृत किया है, अतः काव्य के समग्र रूप में महाकाव्योचित महाप्राणता, जीवन्तता और विराट् और कोमल—जीवन के दोनों पक्षों का समान क्षमता से भव्य अंकन नहीं मिलता।

निष्कर्ष रूप में केवल आकार-विस्तार के अतिरिक्त काव्य के समग्र रूप और प्रभाव की दृष्टि से 'कामायनी' को छोड़कर शेष सभी रचनाओं में महाकाव्य के लिए अपेक्षित सर्वांगीणता, प्रभावान्विति, भव्यता और महाप्राणता का अभाव है।

शिल्प

सर्ग-विभाजन—संख्या की दृष्टि से विवेच्य कृतियों में सभी का विभाजन आठ से अधिक सर्गों में हुआ है। लक्षण-ग्रन्थों में सर्ग-संख्या का दूसरा छोर निश्चित नहीं किया गया, अतः कहीं-कहीं यह संख्या सीमा का अतिक्रमण कर गई है। 'ऋतंवरा' और 'तप्तगृह' का विभा-

जन ११ सर्गों में, 'कामायनी' और 'मेधावी' का क्रमशः १५ और १४ सर्गों में तथा 'विक्रमादित्य' का ४४ भागों में हुआ है। इन ४४ खण्डों को सर्ग तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्येक भाग में एक सम्पूर्ण सर्ग के लिए पर्याप्त कथा का अभाव है। इस अतिविभाजन का कोई औचित्य प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। कहीं-कहीं नगण्य प्रसंगों के लिए स्वतन्त्र विभागों की योजना की गई है। सत्ताइसवें सर्ग में केवल एक प्रगीत में जीवन की व्याख्या की गई है, अट्ठाइसवें में एक पृष्ठ में रानी के शृंगार का वर्णन तथा सैंतीसवें में मन्दिर-निर्माण का और तेतालीसवें में कालिदास के द्वारा ग्रन्थ भेंट करने का वर्णन किया गया है। ये वर्णन प्रायः दो पृष्ठों में समाप्त हो गये है, अतः ये किसी सर्ग का अंग बनाए जा सकते थे, इनके लिए स्वतन्त्र सर्ग-रचना की न आवश्यकता थी न औचित्य। सर्ग के विस्तार की दृष्टि से भी इनमें न उन शास्त्रीय लक्षणों का पालन है—जिसमें सर्गों के न दीर्घ और न अल्प होने का निर्देश किया गया था और न नवीनता की दृष्टि से कोई औचित्य या सिद्धि। शेष रचनाओं में सर्ग-विभाजन उचित ही है। 'तप्तगृह' में घटनाओं की न्यूनता के कारण सर्गों का आकार भी सीमित है। सर्गों का पृथक् नामकरण वर्णित कथा के आधार पर 'कामायनी' और 'ऋतंवरा' में किया गया है, शेष में नहीं।

नामकरण—काव्य का नामकरण प्रचलित परिपाटी के अनुसार ही प्रधान पात्र (नायक या नायिका), प्रमुख घटनास्थल या काव्य के उद्देश्य पर किया गया है। 'कामायनी' का नामकरण नायिका और 'विक्रमादित्य' का नायक के नाम पर हुआ है। 'मेधावी' लेखक के अनुसार काव्य का नायक तो नहीं, किन्तु वह कल्पित पात्र है जिसके माध्यम से काव्य की अनेकरूपता को कुछ सीमा तक एकरूपता प्रदान की गई है। कम-से-कम वह केन्द्रबिन्दु है जहाँ से काव्य के परस्पर असम्बद्ध विषय-सूत्र संचालित होते हैं तथा जिस एकमात्र माध्यम से अन्यथा विशृंखल चिन्तन-व्यापार को अन्वित करने का प्रयास किया गया है। मानव-मेधा के मानवीकृत रूप में मेधावी काव्य का महत्त्वपूर्ण नियामक पात्र ही नहीं, एकाकी पात्र है। अतः उसकी महत्ता असंदिग्ध है। 'तप्तगृह' का नामकरण प्रमुख घटनास्थल के नाम पर 'साकेत' के ढंग पर किया गया है। 'ऋतंवरा' नामकरण की व्याख्या करते हुए कवि ने भूमिका में स्वयं नाम का आधार स्पष्ट किया है। उन्होंने काव्य का पहला नाम 'सर्ग' बदलकर—जिसका आधार महत्त्वपूर्ण घटना था, 'ऋतंवरा' रख दिया। इस दूसरे नाम का आधार अपेक्षाकृत व्यापक, अर्थात् काव्य का उद्देश्य है। नामकरण की यह पद्धति अन्य रीतियों की अपेक्षा कम प्रचलित है।

वर्णन-रूढ़ियाँ—वर्णन-रूढ़ियों की जितनी मुक्त मन से उपेक्षा इन काव्यों में की गई, इनसे पूर्व नहीं मिलती। परम्परा-परित्याग का थोड़ा-सा प्रयत्न 'प्रियप्रवास' आदि की रचना के साथ ही आरम्भ हो चुका था, किन्तु वह इस आगामी विद्रोह का आभास मात्र था। इन रचनाओं में एक बार ही रूढ़ियों से मुक्ति पा ली गई। इनकी कला रूढ़िमुक्त कला है। जिन परम्पराओं का पालन इनमें मिल जाता है वह सहज रूप में आ गया है सायास नहीं किया गया। 'ऋतंवरा' और 'तप्तगृह' के अतिरिक्त तीनों काव्यों का आरम्भ सीधे प्रकृति-वर्णन या कथा-वर्णन से हुआ है। 'ऋतंवरा' और 'तप्तगृह' में कवि ने मंगलाचरण की योजना की है। किन्तु आधुनीकरण करके। किसी आराध्य देव की जयजयकार से काव्यारम्भ उन्होंने भी नहीं किया। 'तप्तगृह' में मानव की वन्दना से कवि आरम्भ करता है और 'ऋतंवरा' में वाणी-वन्दना से।

वस्तुनिर्देश, आशीर्वचन, निजपरिचय आदि निर्जीव रूढ़ियाँ सभी ने त्याग दी हैं। वास्तव में गद्य-भूमिकाओं के इस युग में काव्य में छन्दोबद्ध वस्तुनिर्देश की उतनी आवश्यकता भी नहीं। इसी प्रकार मुद्रण-कला और व्यक्तिगत-प्रसिद्धि के अभाव में कवियों को आत्म-परिचय के लिए जो वंशावलियाँ गिनवानी पड़ती थीं उनकी भी आज कोई अपेक्षा नहीं। काव्य-वस्तु के स्रोत, स्वरूप और प्रेरणा की इन कवियों ने भूमिका में तर्क और प्रमाण-पुष्ट व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त जो छन्दोबद्ध तथा भावमय वस्तुनिर्देश, युग और परिस्थितिवश किया जाता था उसका वर्तमान समय में कोई तर्कसम्मत औचित्य भी नहीं है, अतः उसका परित्याग ठीक ही है। सर्ग के अन्त में आगामी कथा-सूचना भी नियमित रूप से सभी सर्गों में नहीं दी गई है। हर काव्य में प्रायः सर्ग के अन्त में भावी कथा का संकेत मिल जाता है किन्तु ऐसा वहीं हुआ है जहाँ सहज सम्भव बन पड़ा है, केवल रूढ़िपालन के लिए नहीं।

छन्द-विधान—महाकाव्य के प्रसंग में छन्द-योजना सम्बन्धी तीन विशेषताएँ विवेच्य हैं। प्रयुक्त छन्द का प्रकार, छन्दों की विविधता व परिवर्तन का ढंग—जिसमें एक छन्द में सर्ग-रचना व सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन, दोनों ही बातें विचारणीय होंगी। रूप-विधान के अन्य अंगों की भाँति, छन्द-विधान के क्षेत्र में भी इन कवियों ने अपने मार्ग का आप निर्माण किया है। इनका छन्द-विधान मौलिक है और परस्पर भिन्न। एक विशेषता इन सभी काव्यों में समान रूप से विद्यमान है। इनके छन्द शास्त्रीय हों अथवा मुक्त—किन्तु हैं मात्रिक। वर्णिक छन्दों का प्रयोग इनमें नहीं किया गया। 'तपःपूत' और 'मेधावी' की रचना मुक्त छन्द में हुई है। 'कामायनी' और 'विक्रमादित्य' में प्रयुक्त छन्द विविध, किन्तु प्रायः शास्त्रीय छन्द हैं और 'ऋतंवरा' में शास्त्रीय और मुक्त दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग यथावसर किया गया है। एक सिद्धि जो सहज संभव बन पड़ी है, वह इनके विषय और माध्यम छन्द का परस्पर अनुकूलत्व है। विषय और अभिव्यक्ति के इस पारस्परिक सामंजस्य की सिद्धि के लिए इन कवियों ने पिंगलशास्त्र की अवहेलना कर दी किन्तु कृति के कलात्मक उत्कर्ष में बाधा नहीं आने दी। जहाँ चिरपरिचित छन्दों का प्रयोग किया गया है वहाँ भी उनके चयन में विशेष सुरुचि और विवेक का परिचय मिलता है। कुछ विशिष्ट उदाहरणों से उक्त धारणा पुष्ट हो सकेगी। अस्तु—

'कामायनी' में अधिकतर पूर्व-प्रचलित मात्रिक छन्दों का आश्रय लिया गया है किन्तु परम्परागत ढाँचों में यति के प्रयोग-वैविध्य से कवि ने अनेक रूपान्तर प्रस्तुत किये हैं। भाव में गति व विराम के अनुकूल यति-प्रयोग में कहीं-कहीं विशेष कौशल व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार विराम चिह्नों के यथास्थान कुशल प्रयोग से प्रायः प्रभावोत्पादकता में वृद्धि हुई है—

जलनिधि के तलवासी जलचर
विकल निकलते उतराते,
हुआ विलोड़ित गृह, तब प्राणी
कौन! कहाँ! कब! सुख पाते?[1]

अन्तिम पंक्ति में प्रत्येक शब्द के उपरान्त प्रयुक्त होने वाले विराम-चिह्नों से एक पंक्ति में तीन प्रश्नों का समावेश हुआ है। कवि ने यति और विराम-चिह्नों के प्रयोग में तो स्वतन्त्रता

१. कामायनी—प्रसाद, पृष्ठ १६

से काम लिया ही है मात्राओं की दृष्टि से भी परम्परागत ढाँचे दृढ़तापूर्वक नहीं अपनाए। मात्राओं की गणना में न्यूनाधिक दोष अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। कदाचित् पढ़ने में छन्द की लय और प्रवाह की रक्षा के लिए मात्राओं में व्यतिक्रम किया गया है, किन्तु मात्राओं के न्यूनाधिक्य से छन्द की गति या लय में किसी प्रकार का व्यवधान या प्रवाह में अवरोध उत्पन्न नहीं होता, बल्कि लय की रक्षा के लिए ही कवि ने कुछ स्थलों पर मात्राओं के बन्धन की उपेक्षा की है और अन्यत्र अन्तर्यतियों का प्रयोग किया है। प्रसादजी ने भाव और प्रसंग की आवश्यकता के अनुसार छंद अपनाए हैं। 'चिन्ता' सर्ग की रचना वीर और ताटंक छन्द में, 'आशा', 'स्वप्न', और 'निर्वेद', की ताटंक में हुई है। 'श्रद्धा', और 'ईर्ष्या' में कवि ने शृंगार-राग छन्द का प्रयोग किया है। 'काम' और 'लज्जा' सर्ग में मत्तसवैया का अर्द्धसम रूप मिलता है और 'कर्म' सर्ग में सार छन्द का। 'वासना' सर्ग कवि ने रूपमाला छन्द में लिखा है और 'संघर्ष' में रोला छन्द का प्रयोग युग्मकों में किया गया है। 'दर्शन' सर्ग में चौपाई की नवीन अन्त्यक्रम योजना है तथा 'आनन्द' सर्ग किंचित् परिवर्तित लय के मानद छंद में रचित है। 'इड़ा' सर्ग में प्रयुक्त मिश्र छन्द प्रगीतात्मक शैली में नवीन अन्त्यक्रम योजना से प्रयुक्त हुआ है। पहली और नवीं पंक्ति में १६ तथा अन्य में ३२ मात्राएँ हैं। यह योजना कवि की अपनी है।

'कामायनी' का छन्द-विधान सभी सर्गों में विशेष भावानुकूल है। प्रथम सर्ग में चिन्ता की उत्तेजना, उद्वेग और क्षण-क्षण परिवर्तित विचार-प्रवाह के अनुकूल कवि ने बड़ी पंक्ति के ताटंक और वीर छंदों का प्रयोग अर्द्धसम रूप में किया है,जिससे गति में विशेष क्षिप्रता आ गई है। काव्यारम्भ में कथा का यह वेग 'वासना' सर्ग तक पहुँचते-पहुँचते मन्थर होने लगता है। 'वासना' सर्ग के वर्णन अपेक्षाकृत स्पष्ट और स्फीत हैं। भाव के अनुकूल छन्द का आकार भी बड़ा हो गया है, जिसकी गति सरल-चटुल नहीं, उसमें मन्थरता है। शैली में भी सांकेतिकता या प्रतीकात्मकता के स्थान पर वर्णन-विशदता आ गई है। अतः—

एक माया ! आ रहा था पशु अतिथि के साथ,
हो रहा था मोह करुणा से सजीव सनाथ ![1]

आदि पंक्तियों में वर्णनात्मकता के अनुकूल आकार भी बड़ा है। 'लज्जा' सर्ग में फिर नायिका श्रद्धा के भाव-परिवर्तन में गति है। नाना प्रकार के प्रश्नोत्तर उदित और विलीन होते हैं। ऊहापोह में जिज्ञासा है, थिरकन है, अतः कवि फिर पुराने १६ मात्रा की पंक्ति वाले अर्द्धसम छंद पर लौट गया है—

तुम कौन ? हृदय की परवशता ?
सारी स्वतंत्रता छीन रही,
स्वच्छन्द सुमन जो खिले रहे
जीवन वन से हो बीन रही ।[2]

इसी प्रकार 'इड़ा' सर्ग में मनु के चिन्तन में जो अवसाद-जनित शैथिल्य और जड़ता है,

---

१. कामायनी—प्रसाद, पृ० ८३
२. वही, पृ० ९९

उसे कवि ने ३२ मात्राओं की बड़ी पंक्तियों में बाँधा है। यही नहीं इस प्रकार के अनेक उदाहरण 'कामायनी' से दिए जा सकते हैं।

'विक्रमादित्य' में डा० प्रतिपालसिंह के अनुसार केवल तीन, किन्तु वास्तव में तीन से अधिक प्रकार के मात्रिक छंदों का प्रयोग हुआ है। डा० सिंह ने इस काव्य के अधिकांश की रचना वीर छन्द में और शेष की पद्धरि (१६) और गीत में मानी है। किन्तु इनके अतिरिक्त कवि ने २८ मात्राओं वाले सार छन्द—

बहकी बातें जाने दो तुम हे योगी आचारी !
बहुत टिप्पणी हो ली मेरी मैं हूँ अति आभारी।

आदि का प्रयोग भी किया है। 'कामायनी' की ही भाँति मात्राओं की संख्या में अनेक स्थानों पर नियम-उल्लंघन भी किया गया है। यति के प्रयोग व अन्त में लघु-गुरुक्रम के निर्वाह में सर्वथा स्वेच्छाचार से काम लिया गया है। नियमित मात्रा-संख्या के अतिरिक्त यति-प्रयोग और लघु-गुरुक्रम कवि का अपना है। इस प्रकार परम्परागत छंदों की अवहेलना तो नहीं किन्तु उनमें प्रसंग और आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन मिलता है।

'मेधावी' और 'तप्तगृह' की रचना मुक्त छन्द में हुई है, किन्तु जहाँ 'तप्तगृह' के कवि ने केवल यति और विराम के बन्धन से मुक्ति स्वीकार की है वहाँ 'मेधावी' में पंक्तियों के आकार में भी पारस्परिक अनुपात की दृष्टि से स्वच्छन्दता अपनायी गई है। 'मेधावी' की रचना अतुकान्त मुक्त छन्द में हुई है। कहीं-कहीं कुछ दूर तक पंक्तियाँ मात्राओं की दृष्टि से समान हैं, किन्तु इस प्रकार का कोई नियमित विधान नहीं। पंक्ति का अथ व इति भाव, विचार और प्रसंग की आवश्यकता के अनुसार कर दिया गया है। कहीं छन्द की पंक्ति एक ही शब्द और कहीं १६ मात्राओं में समाप्त होती है। ११ और १२ सर्ग में लगभग सम्पूर्ण सर्गों की ही रचना १६ मात्रा के अतुकान्त, व कहीं-कहीं तुकान्त छन्द में हुई है। इस प्रकार कोई निश्चित छन्द-विधान 'मेधावी' में नहीं मिलता। काव्य की छन्द-योजना हर दृष्टि से मुक्त है। 'तप्तगृह' की भूमिका में कवि ने स्वयं अपनी छन्दविधान-पद्धति की ओर संकेत किया है—"जहाँ भाव रुकता है वहीं अपने-आप छन्द भी रुक जाता है।"[1] अतः कहीं-कहीं सम्पूर्ण पृष्ठ में उक्त मान्यता के अनुरूप निर्बाध रूप से बिना यति या विराम के एक ही भाव प्रवाहित हुआ है। भाव की अन्विति पृष्ठ की पूर्ति के साथ होती है। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा प्रयुक्त मुक्त छन्द में विविधता नहीं है। आकार की दृष्टि से पंक्तियाँ प्रायः १० से १२ मात्राओं के बीच में हैं। इस प्रकार विस्तार की दृष्टि से उनमें विशेष अन्तर या भेद नहीं, केवल वाक्य या भाव की पूर्ति पंक्ति की पूर्ति के साथ नहीं होती और वह एकाधिक पंक्तियों में प्रवाहित रहता है। यति, विरामादि के बन्धन या लघु-गुरु मात्राओं का नियन्त्रण उन्होंने स्वीकार नहीं किया। 'तप्तगृह' की यह छन्द-योजना विषय के सर्वथा अनुकूल है। 'मेधावी' की छन्द-रचना में नवीनता व वैविध्य है परन्तु कहीं-कहीं ऋजु-सरल प्रवाह नहीं।

'ऋतंवरा' में छन्द-रूपों का जितना वैविध्य मिलता है, उतना अन्य किसी काव्य में

---

१. तप्तगृह—प्रभात, निवेदन, पृष्ठ २

नहीं। कवि की छन्द-योजना मौलिक है। आमुख की रचना मुक्त छन्द में हुई है। दूसरे सर्ग का छन्द तीन पंक्तियों का कवि का अपना छन्द है, जिसकी प्रथम दो पंक्तियां प्रायः १६ मात्रा और तीसरी २४ मात्रा की है। कुछ दूर पर छोटी पंक्ति १४ मात्रा की रह गई है। तीसरे सर्ग की रचना १४ मात्रा के मानव छन्द में की गई है। बीच-बीच में कवि छन्द बदलता रहा है जिसके रूप में रचना-सम्बन्धी कोई बन्धन नहीं है। चौथे और पाँचवें सर्ग के अधिकांश की रचना १६ मात्रा के शृंगार छन्द में हुई है। सातवें तथा नवम सर्ग का आरम्भिक भाग भी इसी छन्द में रचित है। अन्य प्रयुक्त मात्रिक छन्दों में २३ मात्रा के अवतार, २८ मात्रा के सार और २२ मात्रा के राधिका छन्द का उल्लेख किया जा सकता है। इन छन्दों के प्रयोग में अन्त्यानुप्रास के अतिरिक्त यति और मात्रा के बन्धनों की कवि ने अवहेलना ही की है। लय के संगीत पर विशेष बल देने के कारण कहीं-कहीं मध्यानुप्रास तथा लय की रक्षा के लिए वर्त्तनी भी अशुद्ध हो गई है—

तू क्या है, यह मैं बुझ न सका,
अपना अस्तित्व समुझ न सका।[1]

उपर्युक्त परम्परागत छन्दों के अतिरिक्त मिश्र छन्द का प्रयोग कवि ने यथारुचि किया है। कहीं-कहीं यह मिश्र छन्द प्रसंग में विशेष उपयुक्त बन पड़ा है—

दिवस-दृग निशा-नयन श्रम लगा उघारने
नद-नदी-नगेश को
कूल को, कछार को
क्षितिज को, दिगंत को
व्योम के प्रसार को
वन-विटप समूह को
सघन डाल-डाल को
पुष्प लता पुंज को
भूमि महाज्वाल को
झूम-झूम कर उमंग से लगा पुकारने।[2]

छन्द की प्रथम और अन्तिम पंक्ति में भूमिका और उपसंहार की मंथरता और विराम है। बीच में प्रकृति के अलग-अलग तत्त्वों की गणना के साथ पंक्ति छोटी होने के कारण थिरकन उत्पन्न हो गई है। प्रत्येक पंक्ति के अन्त के साथ क्रम टूटकर नई पंक्ति में झटके के साथ जुड़ जाता है, और प्रत्येक पदार्थ की पृथक् गणना बल देकर की गई प्रतीत होती है। ब्रह्मा के चिन्तन, क्षोभ, पराजित भाव और सृजन-समाधि के संकल्प का वर्णन कवि ने विशेष उपयुक्त छन्द में किया है। अनेक प्रश्नोत्तर छोटी-बड़ी पंक्तियों में सफलतापूर्वक बँधे हैं। छोटी पंक्ति में मनोगत हलचल त्वरित गति से प्रश्न करती है और अनुगामिनी बड़ी पंक्ति में उत्तर का

---

१. ऋतंभरा—प्रभात, पृष्ठ १३
२. वही, पृष्ठ १०५

विराम, आश्वासन, व्यंजित होता है। अन्तिम गुरु लघु पर पंक्ति आकर ठहर जाती है—

हार कर जाऊँ कहाँ मैं ?
पार भी पाऊँ कहाँ मैं ?
छोड़ एकाकी मुझे यह जा रहा उच्छ्वास।[1]

मुक्त छन्द का प्रयोग भी कवि ने समान सफलता से किया है—

ज्योति वह तेरी, वरण कर
पथ विपुल आगे चरण धर
खोल देंगे अन्ध तम का द्वार
तेरे ही प्रखर-शर
गूंजता ज्याघोष नव आलोक-रथ का
है यही आह्वान पथ का
रुक न तू
तेरे लिए ही
प्रलय-तम से निकलकर आया सृजन का भोर।[2]

आरम्भिक छोटी-बड़ी पंक्तियों में व्यक्त नाना-रूपात्मक उद्बोधन अन्तिम पंक्ति में निष्कर्षात्मक सन्देश के आश्वासन में बदल गया और पंक्ति तदनुकूल बड़ी हो गई है। इस प्रकार 'ऋतंवरा' में छन्द-विधान की दृष्टि से प्राचीन और नवीन सरणियों का सुचारु योग हुआ है। कवि ने यह प्रयोग चमत्कार-प्रदर्शन या नवीनता के दुराग्रहवश न करके विषय और प्रसंग की आवश्यकता के अनुकूल किया है।

छन्द-विधान की अन्य दो शास्त्रीय परम्पराओं का भी यथावत् पालन इन कृतियों में नहीं किया गया। 'कामायनी' और 'विक्रमादित्य' में सर्ग-रचना प्रायः एक छन्द में की गई है किन्तु शेष रचनाओं में सर्ग के बीच में स्वेच्छा और आवश्यकता के अनुकूल छन्द बदल दिया गया है, अतः छन्द-परिवर्तन के लिए अन्त तक रुकने का प्रश्न नहीं उठा। 'कामायनी' और 'विक्रमादित्य' के अधिकांश सर्गों की रचना एक ही छन्द में होने पर भी, सर्ग के अन्त में नियमित रूप से तो क्या कहीं भी छन्द-परिवर्तन की रूढ़ि का पालन नहीं किया गया है।

अलंकरण—कला के अन्य प्रसाधनों की भाँति कविता-कामिनी की अलंकृति के लिए भी इन कृतिकारों ने नवीन आभरण जुटाए हैं। जिस युग में इन काव्यों की रचना की गई उस समय तक छायावाद अपने चरम उत्कर्ष की प्राप्ति के उपरान्त क्रमशः ह्रासोन्मुख हो रहा था किंतु छायावादी रेशमी कला, अभिव्यंजना की रमणीयता, सामर्थ्य व नवीनता के प्रति कवि-वर्ग का आकर्षण पर्याप्त समय तक बना रहा। इन कवियों ने सूक्ष्म और अमूर्त विषय, लक्षणा और व्यंजना पर आश्रित अभिव्यंजना-पद्धति, तथा नवीन अलंकरण और सज्जा के जो शत-शत मार्ग उन्मुक्त कर दिए थे, उनमें से होकर परवर्ती कवि-समुदाय विचरण करता ही रहा। इन काव्यों

१. ऋतंवरा—प्रभात, पृष्ठ २१
२. वही, पृष्ठ १९०

की अलंकरण-कला बिम्ब-विधान, प्रतीकात्मकता, लक्षणा-वैचित्र्य और व्यंजना व चित्रमयता आदि सभी दृष्टियों से नवीन है और इनका यह बाह्याभरण भाव-प्रेरित है, आरोपित नहीं। इन कवियों ने पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क से आने वाले नवीन अलंकारों का तो प्रयोग बहुधा किया ही है साथ ही भारतीय अलंकार-शास्त्र में निर्दिष्ट अनेकानेक साम्य-वैषम्य व विरोध-मूलक अलंकारों का कुशल व सुन्दर प्रयोग किया है। इनके द्वारा प्रयुक्त परम्परागत अलंकारों में भी इनका बिम्ब-विधान व योजना नवीन या मौलिक है। केवल कौतुक या चमत्कार के लिए अलंकार-योजना इन कृतियों में शायद ही मिले। अतः शब्द चमत्काराश्रित शब्दालंकारों की अपेक्षा भावसौंदर्य-प्रेरित अर्थालंकारों का प्रयोग ही अधिक किया गया है। कुछ प्रवृत्तियाँ सामान्य रूप से इन रचनाओं की अलंकरण-कला में लक्षित की जा सकती हैं—(क) प्राचीन साम्य व वैषम्यमूलक अलंकारों में मौलिक अप्रस्तुत-विधान से नवीनता की उद्भावना—

१. **उपमा का विपर्यय—**

उसी तपस्वी से लम्बे, थे
देवदारु दो चार खड़े

तथा

दूर दूर तक विस्तृत था हिम
स्तब्ध उसी के हृदय समान।[1]

उक्त पंक्तियों में तपस्वी और हृदय—काव्य के वर्ण्य का उपमान-रूप में कथन किया गया है।

२. **नवीन उपमानों का प्रयोग—**

कहीं-कहीं मूर्त-विधान विशेष मौलिक और भावानुकूल है। अप्रचलित व नवीन उपमानों का चयन नवीन सौन्दर्योन्मेषिनी दृष्टि का बोधक है—

आज अमरता का जीवित हूँ
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ,
आह सर्ग के प्रथम अंक का
अधम पात्रमय-सा विष्कम्भ।[2]

विशिष्ट उपमानों का प्रयोग नवीन ही नहीं साभिप्राय भी है। यह कौशल 'कामायनी' के अतिरिक्त अन्य रचनाओं में भी सुलभ है। 'मेधावी' में तारों का वर्णन देखिए—

झिलमिल
झिलमिल
जैसे चर्खे से तूल खिंचे
उठती आती है टीस ध्वनन

---

१. कामायनी—जयशंकर प्रसाद, पृ० ३
२. वही, पृ० १८

हम सत्ता नद के फेन सरल—[1]

३. मूर्त के लिए अमूर्त, और अमूर्त के लिए मूर्त अप्रस्तुत-चयन—

अमूर्त विषयों के स्वतन्त्र वर्णन ही नहीं, सादृश्य-विधान में मूर्त के लिए अमूर्त और अमूर्त के लिए मूर्त का प्रयोग इन कवियों ने खुलकर किया है। गगन-चुम्बिनी शैल-श्रेणियों का वर्णन देखिये—

विश्व, मौन, गौरव, महत्व की
प्रतिनिधियों सी भरी विभा,
इस अनंत प्रांगण में मानो
जोड़ रही हो मौन सभा—[2]

'मेधावी' के कवि ने अरमानों की समता ढहते साम्राज्य से की है—

अरे साम्राज्यों से अरमान
सभी हैं खंडहर बनकर भग्न।[3]

उपमान में विशेष व्यंजना है। अरमानों में साम्राज्य का-सा विस्तार, विस्तार की अन्तहीन लालसा, असन्तोष और पतन सभी एक शब्द में आ गया है। कहीं-कहीं इस प्रकार के अमूर्त सादृश्य-विधान की योजना प्रेषणीय भाव की व्यंजना में विशेष अनुकूल सिद्ध हुई है। 'तपोगृह' में बन्दीगृह के एक कारुणिक प्रसंग के अवसर पर चाँदनी का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

पलकों की कोर में
अश्रु का पराग लिए
सांझ आई धीरे से
आती ज्यों मन्द-चरण
सजला-सहानुभूति
मन के करुण-शून्य
शांत रंगमंच पर
और डाल हल्की-सी
चादर तमिस्र की
मूर्च्छिता धरित्री के
धूसरित शरीर पर
लौट गई सपनों की
याद-सी सुहावनी।[4]

---

१. मेधावी—डा० रांगेय राघव, पृ० १
२. कामायनी—जयशंकर प्रसाद, पृ० ३०
३. मेधावी—डा० रांगेय राघव, पृ० १
४. तपोगृह—प्रभात, पृ० ९३

'ऋतंबरा' के कवि ने ब्रह्मा के अरुण-कंज की व्याख्या इन शब्दों में की—

यह किसी मौन का रूपान्तर
अलिखित जिसके अविदित अक्षर
सब ओर तरंगित तरलायित जिसकी सुवास।[1]

४. अमूर्त के लिए अमूर्त अप्रस्तुत-विधान—

कहीं अलंकार-योजना में अमूर्त और सूक्ष्म का आग्रह इतना बढ़ गया है कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही अशरीरी रूप में प्रस्तुत हुए हैं। 'मेधावी' का कवि परिवर्तन का वर्णन करते हुए कहता है—

नाचो नाचो
हे परिवर्तन !
जैसे सुहागिनी की पलकों म
पलता प्रियतम का दुलार
अस्तित्व और कल्पना चित्र
पर ताना बाना खींच खींच
तू थिरक रहा रे बार बार।[2]

५. भावव्यंजक सादृश्य-विधान—

अप्रस्तुत-विधान जहाँ मूर्त जगत् के उपकरणों से किया गया है वहाँ भी विशेष सुन्दर और सटीक है। 'ऋतंबरा' में एक स्थल पर नेत्रों का वर्णन कवि ने 'पुतली की नौका' कहकर किया है। लुप्तोपमा का यह प्रयोग व्यंजनापूर्ण है। उपमा ही नहीं, उत्प्रेक्षा, सन्देह आदि अलंकारों का भी इन कवियों ने प्रचुर और सुन्दर प्रयोग किया है। 'कामायनी' के रूप-वर्णन में प्रतीयमान उत्प्रेक्षा का एक प्रयोग इस प्रकार है—

और उस मुख पर वह मुस्कान !
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।[3]

उक्त उदाहरण के उपमानों में नवीनता ही नहीं, 'अम्लान' विशेषण और 'अलसाई' क्रिया में एक विशेष भाव-व्यंजना है, जिसका अपना सौन्दर्य है।

६. अप्रस्तुत-चयन में नागर दृष्टि—

मानसरोवर के वर्णन में उपमा और सन्देहालंकार का प्रयोग देखिए—

मरकत की वेदी पर ज्यों
रक्खा हीरे का पानी;

---

१. ऋतंबरा—प्रभात, पृ० १६
२. मेधावी—डा० रांगेय राघव, पृ० ५१
३. कामायनी—जयशंकर प्रसाद, पृ० ४७

छोटा-सा मुकुर प्रकृति का
या सोयी राका रानी।[1]

इन पंक्तियों के बिम्ब-विधान में सौन्दर्य ही नहीं एक विशेष नागर भाव और समृद्ध दृष्टि है। इसी प्रकार 'ऋतंवरा' में—

यह महाशून्य का स्फुटित नयन,
अथवा मोहक मांगल्य-अयन,
या वह अंकुर फूटेंगे जिससे नव विचार।[2]

७. वैषम्यमूलक प्रचलित अलंकारों का प्रयोग—

वैषम्यमूलक अलंकारों में विरोधाभास का कहीं-कहीं अत्यन्त सुन्दर उपयोग किया गया है—

जीवन! जीवन की पुकार है
खेल रहा है शीतल दाह—[3]

इसी प्रकार 'मेधावी' में—

रे चिर जीवन
हे अमर मरण
तू तो स्थिति का स्थिति में ही लय—[4]

'तप्तगृह' से इसी प्रकार की अलकृत पंक्तियाँ है—

आंखें थीं सावन के
नीर भरे शून्य-सी
और वह लगता था
तेज-हीन दीपक-सा।[5]

(ख) उपर्युक्त कतिपय प्रचलित अलकारों के प्रयोगों के साथ इन कवियों ने कहीं-कहीं चमत्कारप्रधान प्राचीन अलंकारों का भी भावप्रेरित वक्रता के साथ प्रयोग किया है। 'कामायनी' में श्लेष का प्रयोग देखिए—

इन्द्रनील मणि महा चषक था
सोम रहित उलटा लटका;[6]

पुनरुक्ति के प्रयोग मे प्रसाद ने विशेष कौशल का परिचय दिया है। इस अलंकार के प्रयोग में उतना कलाकौशल नहीं किन्तु फिर भी उचित प्रसंग में इसका प्रयोग भाव को विशेष प्रभाव-व्यंजक बना सकता है—यह स्पष्ट है। किसी विशेष अर्थ या भाव पर प्रसाद जब बल

१. कामायनी—प्रसाद, पृ० २८४
२. ऋतंवरा—प्रभात, पृ० १५
३. कामायनी—प्रसाद, पृ० २७
४. मेधावी—डा० रांगेय राघव, पृ० ४१
५. तप्तगृह—प्रभात, पृ० १४५
६. कामायनी, पृ० २४

देना चाहते हैं, तो पुनरुक्ति का ही प्रयोग करते हैं, और प्रभाव अभीष्ट होता है—

१. वे सब डूबे, डूबा उनका
विभव, बन गया पारावार
२. सुख, केवल सुख का वह संग्रह
३. शक्ति रही हाँ शक्ति—[1]

पहली पंक्ति मे पतन का सर्वग्रासी रूप, दूसरे उदाहरण में सुख का कैवल्य और तीसरे मे शक्ति की निश्चयात्मकता का भाव पुनरुक्ति के सहारे ही उभर कर स्पष्ट हो सका है।

नाम गिनाने के लिए कहीं केवल चमत्कार के आग्रहवश भी अलंकारों के प्रयोग अप्राप्य नहीं किन्तु 'विक्रमादित्य' के अतिरिक्त ऐसे प्रयोग अन्य रचनाओं में नहीं मिलेंगे। यमक का एक उदाहरण देखिए—

उस मन को क्या हो गया आज जो फिसल पड़ा चिकनाई लख,
इन चख की चख चख को देखो प्यासी रहतीं दृग रस चख चख।[2]

उपर्युक्त पंक्ति मे 'चख' शब्द को लेकर जो चमत्कार उत्पन्न किया गया है उसमें न भाव-सस्कार है और न नाद-सौन्दर्य। शब्दालंकार ही नहीं अर्थालंकारों का प्रयोग भी कहीं-कहीं अत्यन्त असमर्थ और अभद्र है। निम्नांकित पंक्तियों के रूप-वर्णन में अप्रस्तुत-विधान इसी प्रकार का है—

आँखें उसकी फाँक आम की या कालिन्दी का टुकड़ा,
दाँतों में दाड़िम के दाने छाती पर हिमगिर के शृंग।[3]

कहीं-कहीं औचित्य का अतिक्रमण है। विषय और प्रसंग के अनुकूल अलंकार-विधान उचित नहीं बन पड़ा। अस्तमान सूर्य का वर्णन रूपक के द्वारा कवि ने इस प्रकार किया है—

है जहाँ सांध्य सिंहासन पर दिनकर महीप अभिषेक हुआ।[4]

अस्तमान सूर्य को महीप का अभिषेक कहना कहाँ तक उचित हो सकता है? कहीं बिम्ब-विधान में मौलिक उद्भावना का प्रयत्न किया गया है, किन्तु नवीनता होने पर भी सौन्दर्य-चेतना और मार्दव का अभाव खटकता है।

खो स्नेह, प्रेम पाया मैंने, तुमने मेरा दुःख बाँट लिया,
उस बढ़ते चिन्ता बिरवा को माली ने जड़ से छाँट दिया,
उस भूत भयानक को वृद्धता से वर्तमान ने डाँट दिया,
जीवन पोथी-पन्ना भविष्य-कर ने है उलट विराट किया।[5]

अंशतः असमर्थ भाषा और अन्त्यानुप्रास का दुराग्रह भी भाव-सौन्दर्य के लिए उपर्युक्त पंक्तियों में घातक सिद्ध हुआ है।

१. कामायनी, चिन्ता सर्ग, पृ० ८-९
२. विक्रमादित्य—गुरुभक्तसिंह, पृ० ९७
३. वही, पृ० २९
४. वही, पृ० २७
५. वही, पृ० ७०

(ग) पाश्चात्य काव्य से गृहीत नवीन अलंकारों का प्रयोग—

अब तक जिन प्रचलित अलंकारों के प्रयोग का उल्लेख किया गया है, उनके अतिरिक्त मानवीकरण, ध्वन्यार्थ-व्यंजना, विशेषण-विपर्यय आदि पाश्चात्य अलंकारों का प्रयोग भी इन कवियों ने खुलकर, विशेष सफलता और अधिकार से किया है।

मानवीकरण

मानवीकरण का प्रयोग दो रूपों में किया गया है—

(१) सीमित स्तर पर किसी भाव-विशेष या जड़ पदार्थ पर विशिष्ट मानवीय गुण का आरोप कर, वर्णन में सजीवता लाने के लिए। चेतना के क्षणिक आरोप के रूप में यह क्रम कुछ ही पंक्तियों में वर्णन-सौन्दर्य या भावना के आरोप के लिए अपनाया गया है।

(२) मानवीकरण का दूसरा प्रयोग अपेक्षाकृत बड़े स्तर पर पात्र-सृष्टि के रूप में किया गया है। कवि ने जहाँ अमूर्त को विषय बनाया है, वहाँ समाख्यान शैली में अमूर्त भाव या विचार का विश्लेषण न करके इन अशरीरी या जड़ तत्त्वों का मानवीकरण कर आत्म-विश्लेषण कराया है। इस प्रकार का प्रयोग कवि प्रसाद ने 'कामायनी' में लज्जा, काम आदि अशरीरी भावनाओं के मूर्तिकरण के रूप में किया है। जहाँ उनके पात्रों का व्यक्तित्व साकार है वहाँ भी उनमें प्रायः उन्हीं गुणों का समावेश है जो उनकी द्विअर्थक कथा में दोहरे (मूर्त और अमूर्त) अर्थ की व्यंजना कर सकें—मनु, श्रद्धा, इड़ा आदि ऐसे ही पात्र हैं। मानवीकरण अलंकार का पहले ढंग का प्रयोग इन सभी काव्यों में सहज प्राप्य है। 'कामायनी' के समग्र में इस प्रकार के उदाहरण बिखरे हैं। प्रसाद के शब्दों में रजनी—

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल;
देख बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चंचल।[1]

तथा

मृत्यु अरी चिर निद्रे!
तेरा अंक हिमानी सा शीतल।[2]

'मेधावी' का कवि 'गति के लास' का वर्णन इस प्रकार करता है—

वसुंधरा की स्फूर्ति मचलती
आज गर्भ के बाद जननि यह
स्नान किये निर्मल सी बैठी
लाज कर रही कोमल रह रह
नव शृंगार किये कल्याणी।[3]

---

१. कामायनी, पृष्ठ ४०
२. वही, पृष्ठ १८
३. मेधावी—डा० रांगेय राघव, पृष्ठ ५८

'विक्रमादित्य' का निम्नांकित प्रकृति-वर्णन भी इसी पद्धति पर है—

सिंदूर लगा संध्या फूली, दिग्वधू बधाई गाती है,
आरती उतारेगी रजनी दीपक ले छिपती आती है,
अंगड़ाई लेती कुमुद कली, दृग बंद कर रहे कंज सुमन
लहरों की लोरी सुन-सुनकर झुक-झुक पड़ते हैं मातल वन।[1]

'तप्तगृह' और 'ऋतंवरा' में भी इस अलंकार के अनेक सुन्दर प्रयोग हैं—

सजल करुणा को संभाले,
साथवाली साधना ले,
वन्दना नीरव, खड़ा अवसाद कोई पास![2]

विशेषण-विपर्यय

मानवीकरण के बाद दूसरा प्रचलित अलंकार विशेषण-विपर्यय है। इस अलंकार के प्रयोग से अभिव्यंजना में लाक्षणिकता और भाव-वक्रता की सृष्टि होती है।

'कामायनी' में—

कायरता के अलस विषाद।
... ...
मोहमुग्ध जर्जर अवसाद।[3]

अलस और जर्जर क्रमशः विषाद और अवसाद के विशेषण न होकर देव-जीवन के विशेषण हैं। इसी प्रकार 'तप्तगृह' में—

किन्तु बिंबसार शान्त
मानों संहार की
लपटों में बैठा हो
मौन कारुण्य का।

ध्वन्यार्थव्यंजना

ध्वन्यार्थव्यंजना का सम्बन्ध अर्थ-चमत्कार की अपेक्षा शब्द-चमत्कार से अधिक है, और इस प्रकार इस अलंकार के प्रयोग से भाषा में उत्पन्न होने वाला नाद-सौन्दर्य या अनुरणन अनुप्रास आदि अलंकारों का समकक्षी ही है। इस अलंकार के प्रयोग से अनेक स्थलों पर ध्वनि को शब्दबद्ध करने का सफल प्रयत्न इन कवियों ने किया है—

कंकण क्वणित, रणित नूपुर थे।"[4]

कोमल ही नहीं भयंकर चित्र भी शब्दों में बँधे हैं—

---

१. विक्रमादित्य—गुरुभक्तसिंह, पृष्ठ २७
२. ऋतंवरा—प्रभात, पृष्ठ २१
३. कामायनी—प्रसाद, पृष्ठ १८
४. वही, पृष्ठ ११

अग्नि की लपटें दीर्घाकार
हरहराती विशून्य में फैल
लपलपातीं शैलों सी नाच,[1]

प्राकृतिक क्रिया-कलाप का भी ध्वन्यात्मक वर्णन किया गया है—

झूम-झूम झुक-झुक कर कोई
संग समीर के उमड़े
चूम-चूम तरु-लता-अधर
धाराधर कोई घुमड़े।[2]

इन कृतियों में अनेक प्रसंग ऐसे हैं जहाँ अभिव्यंजना अलंकारों से बोझिल नहीं किन्तु किसी जीवनगत सत्य की व्याख्या सीधे-सादे पर प्रभावाभिव्यंजक अप्रस्तुत-विधान के सहारे की गयी है। 'ऋतंवरा' के कवि की 'स्वर्णाभ आणविक युग' की मोहक कल्पना इस प्रकार है—

जिसमें अविभाजित कुछ न कहीं, है सभी एक
नभ-भूमि-भूद्र-वन-उपवन-नद-निर्झर अनेक
आत्मा के पावन स्नेह-सूत्र में बंधे देश
मानव-परम्परा एक, एक संस्कृति अशेष
संगीतमयी शृंखला एक, योजना एक
अक्षर अनन्त, अनगिनत शब्द, वन्दना एक।[3]

अन्तिम दो पंक्तियों के सादृश्य-विधान में विशेष चमत्कार या वक्रता नहीं प्रभावित करने की क्षमता है। 'मेधावी' में इसी प्रकार सामान्य उपमानों के आश्रित तारामंडल का रमणीय वर्णन देखिये—

अगन प्रभा से आभासित से
ग्रह उपग्रह नभ में कंपित रे
एक शून्य के महावृक्ष में
चलदल से लहराते तारा
सीमाहीन विराट कर्वार में
सुरभित फूलों की जगमग रे।[4]

'विक्रमादित्य' में क्षुब्ध चन्द्रगुप्त का आत्म-विश्लेषण कुछ विशिष्ट और अनुकूल उपमानों के सहारे किया गया है—

मैं क्या, मैं पृथ्वी का भार,
उजड़ा हुआ एक संसार,
भग्न समाधि का स्तूप

---

१. मेधावी—डा० रांगेय राघव, पृष्ठ ६
२. ऋतंवरा—प्रभात, पृष्ठ ७२
३. वही, पृष्ठ १८६
४. मेधावी—डा० रांगेय राघव, पृष्ठ १२

.....

वीणा का हूं उतरा तार
शून्य, लिए तारक-संसार,
असफल जीवन का परिताप,
अंगनाओं का हूँ अभिशाप,[1]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इन काव्यों के अलंकार ही नवीन नहीं, अलंकरण-कला भी नूतन है। प्राचीन ढंग के प्रयोग भी अलभ्य नहीं किन्तु अधिक मात्रा नवीन अलंकारों की ही है तथा प्राचीन अलंकारों के प्रयोग में नवीन दृष्टि है। या तो बिम्ब-विधान मौलिक या नूतन है अथवा परम्परा-प्रसिद्ध उपमानों के संयोजन और प्रयोग में नवीनता है।

शैली

महाकाव्य की शैली में गुणों की दृष्टि से गरिमा, उदात्तता, महाप्राणता, प्रवाह एवं सक्षमता आदि का होना अभीष्ट है। शैली के प्रकार की दृष्टि से महाकाव्य का परम्परागत रूप समाख्यानात्मक या वर्णनात्मक होता है। क्रमशः नाटकीय तत्त्वों के रूप में संवादों का प्रयोग तो पर्याप्त समय से प्रबन्ध काव्यों में किया जाने लगा था, परन्तु आधुनिक युग में वस्तु के समकक्ष आत्म, बाह्य के साथ अन्तः, और मूर्त के साथ अमूर्त की महत्त्व-स्थापना के परिणामस्वरूप शैली में प्रगीतात्मक पद्धति का प्रयोग मुक्तक के साथ प्रबन्ध-विधाओं में भी बढ़ चला। विषय का विस्तार वस्तु-जगत् के साथ आत्म-जगत् तक हो जाने के कारण वर्णनात्मकता के साथ मनो-विश्लेषणात्मकता का समावेश भी महाकाव्यों की शैली में हो गया। शैली का प्रकार कुछ भी हो महाकाव्योचित गुणों का अन्तर्भाव महाकाव्य की शैली के लिए आवश्यक है।

इन सभी प्रबन्धों में वर्णन के साथ प्रगीत या गीत का, तथा नाटकीयता के लिए संवादों का प्रयोग किया गया है। जहाँ एकाधिक पात्रों की वार्ता का प्रसंग है वहाँ वर्णन की एकरसता कथोपकथन की नाटकीय योजना से दूर की गई है। 'प्रसाद ने तो इस योजना के लिए पात्रों के अमूर्त भावों का स्वयं विश्लेषण न करके उनका मानवीकरण कर आत्म-विश्लेषण कराया है। 'तप्तगृह' के कवि ने भी इसी प्रकार का उपक्रम किया है। 'कामायनी' में मनु और काम तथा श्रद्धा और लज्जा के बीच, एवं 'तप्तगृह' में बिम्बसार और प्रवंचना के मध्य बन्दीगृह में होने-वाला संवाद इसी प्रकार का है। इन विशेष तथा इसी प्रकार के अन्य प्रसंगों में नाटकीय और मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का मणिकांचन योग हुआ है। 'ऋतंवरा' में भी कथा का विकास अनेक प्रसंगों में संवादों के बीच ही हुआ है, किन्तु अन्य काव्यों की अपेक्षा यह प्रवृत्ति कम है। 'मेधावी' की कथा में अभिकर्ता मानवीय पात्रों का एकान्त अभाव है और कवि ने अमूर्त भावों या जड़ पदार्थों का मानवीकरण करके पात्र-रूप में प्रस्तुत नहीं किया, इसीलिए वर्णन की एकरसता दूर कर नाटकीयता के समावेश के लिए प्राकृतिक तत्त्वों का वर्णन न कर उत्तम-पुरुष में आत्म-परिचय कराया गया है—

पृथ्वी

रवि प्रियतम बलि जाऊं

---

१. विक्रमादित्य—गुरुभक्तसिंह, पृष्ठ ९१

अहर्निशा तेरे स्पर्शों से
अपना सुख समझाऊँ ?[1]

इन पंक्तियों में नाट्य-तत्त्व ही नहीं अभिव्यक्ति में प्रगीतात्मकता भी है। पंच-तत्त्वों का परिचय कवि ने कहीं-कहीं आत्म-विश्लेषणात्मक शैली में दिया है।

'विक्रमादित्य' में नाटकीयता का आग्रह, दुराग्रह बन गया है। सारा काव्य संवादों में लिखा गया है और इस रूप में ऊपरी दृष्टि से पद्य-नाटक प्रतीत होता है, किन्तु इन संवादों से काव्य में नाटकीयता की अभिवृद्धि नहीं हो सकी। उनमें न चुस्ती है, न संक्षिप्तता। सजीवता भी अप्राप्य है। प्रत्युत्पन्नमति का परिचय भी पात्रों के कथोपकथन में नहीं मिलता। ये संवाद लम्बे-लम्बे विस्तृत भाषण से हैं। अनेक प्रसंगों में कवि ने बड़े-बड़े स्वगतों का प्रयोग किया है जो कहीं सस्वर चिंतन और कहीं स्वांग या नौटंकियों की-सी शैली के समान प्रतीत होते हैं। तीन पृष्ठों के ऐसे ही एक स्वगत का आरम्भ देखिये—

भूधर

है अवसर अनुकूल बड़ा ही, सेना लेकर जाना है,
एक बार अपना कौशल फिर, रण में मुझे दिखाना है,
कूटनीति की विजय हुई तो, फिर मेरी पौबारा है,
बिना रक्त की बूँद गिराये, बनता खेल हमारा है।[2]

एकाकी पात्रों का यह सवाक् चिन्तन अनेक स्थलों पर अत्यन्त अस्वाभाविक हो गया है।

प्रगीत शैली का प्रयोग भी नाट्य-शैली की भाँति पात्रों की आत्माभिव्यक्ति के प्रसंगों में किया गया है। 'कामायनी' में प्रगीतात्मकता तो अनेक प्रसंगों में है ही "तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन" गीत—गीतिकाव्य की विभूति है। 'विक्रमादित्य' में अपेक्षाकृत वर्णनात्मकता व विषय-प्रधान दृष्टिकोण की प्रधानता है। 'मेधावी' के कवि ने 'गीत' शीर्षक देकर अनेक लघु-गीतों की रचना कथा के मध्य की है किन्तु विषय और कला दोनों दृष्टियों से ये गीत विशेष बोझिल हैं। उनमें अतिशय चिन्तन व्यक्त हुआ है। भावप्रवणता, आत्मद्रव, अन्तःस्फूर्ति का अभाव है। शैली भी भाषा आदि की दृष्टि से गीत-रचना के अनुपयुक्त है—

अल्प रंध्र वह सचल प्राण का
हुआ तरल लहरों पर दोलित
विकल ऊर्म्मियों के घर्षण में
करता था अपने को पोषित।[3]

'तप्तगृह' में चिन्तन और मनोविश्लेषण अधिक है, अतः प्रगीतात्मकता उतनी नहीं। 'ऋतंवरा' में नाटक और गीत के तत्त्वों का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है किन्तु उसकी शैली

---

१. मेधावी—डा० रांगेय राघव, पृष्ठ १४-१५
२. विक्रमादित्य—गुरुभक्तसिंह, पृष्ठ ३७
३. मेधावी—डा० रांगेय राघव, पृष्ठ ६८

में भावप्रवणता है, उच्छ्वास है, अन्तःस्फूर्ति है। कहीं-कहीं चिन्तन व अन्यत्र द्रवणशीलता है—अतः प्रगीत की आत्मा है। परन्तु शिल्प में गीत की टेकनीक को कवि ने नहीं अपनाया है।

नाटक, गीत, प्रगीत के अतिरिक्त 'मेधावी' काव्य में एक नवीन प्रयोग बीच में 'कहानी' शीर्षक के अन्तर्गत छोटी-सी कथा लिखकर किया गया है। इस प्रयोग का कारण स्पष्ट है—काव्य का स्वरूप विचारप्रधान है, अतः जहाँ आख्यान-सूत्र सबल हो गया है, जहाँ वस्तुरूप घटना-विशेष का समावेश कवि ने किया है, वहाँ उसे संक्षिप्त गल्प का रूप दे दिया है। इस दो पृष्ठ की कहानी का स्वर चिन्तनप्रधान की अपेक्षा आख्यानात्मक है। इस प्रकार इन कवियों ने नाटक, गीत, प्रगीत, आख्यायिका सभी विधाओं में प्रचलित शैलियों का प्रयोग काव्य में किया है।

महाकाव्य की शैली में महाप्राणता और गरिमा, जीवन के विविध तथा परस्पर अनुकूल और विरोधी पक्षों के वर्णन की क्षमता, काव्य के प्रेष्य को अपनी समग्रता में पाठक तक पहुँचा देने की सामर्थ्य, अर्थात् विषय और अभिव्यंजना की अनुकूलता और चित्रमयता, या शुक्लजी के शब्दों में अर्थ-ग्रहण की अपेक्षा बिम्ब-ग्रहण कराने की शक्ति का होना अभीष्ट है। इसके साथ ही उसमें सशक्त प्राणवत्ता का होना भी अनिवार्य ही है। इस दृष्टि से 'कामायनी' के अतिरिक्त महाप्राण और समर्थ शैली इन रचनाओं में प्राप्त नहीं होती। 'मेधावी' में कहीं-कहीं समर्थ और जीवन्त वर्णन मिल जाते हैं, किन्तु काव्य के सम्पूर्ण में अप्रतिहत वेग व महाप्राणता नहीं मिलती। इन काव्यों में शैली-सम्बन्धी प्रसादमयता है। एक प्रकार की सरलता, सफाई या स्फीतता है; किन्तु वह गरिमा, वैभव और समृद्धि नहीं जो महाकाव्य में होनी चाहिए। कुछ काव्यों में जीवन के सभी पक्षों का अन्तर्भाव न होने से विराट् और कोमल, भव्य और मधुर सभी वर्णनों का अवकाश नहीं मिल सका, किन्तु जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ अवकाश होने पर भी कवि असमर्थ रहा है।

भव्यता, उदात्तता और गरिमा 'कामायनी' की शैली के विशेष गुण हैं। प्रसंग के अनुकूल वर्णन करने की सामर्थ्य ही शैली की सक्षमता का प्रमाण है और इस दृष्टि से प्रसाद की लेखनी अचूक है। एक ओर वे हिमालय के विराट् सौन्दर्य को मूर्तिमान करते हैं, दूसरी ओर उषा, संध्या रात्रि आदि का रमणीय और कोमल रूप अंकित करते हैं। प्रकृति ने काव्य में सबसे अधिक स्थान पाया है और वह हर रूप-रंग में उपस्थित हुई है। अभिव्यंजना पर प्रसाद का इतना अधिकार है कि प्रसंग की आवश्यकता के अनुकूल कहीं एक ही पृष्ठ और कहीं एक ही छन्द में वे जीवन के दो सर्वथा विरोधी रूपों का चित्रांकन करने में सफल हो सके हैं। देवताओं के चिर-विलासी जीवन का वर्णन करते हुए—

वे अम्लान कुसुम सुरभित,
मणि-रचित मनोहर मालायें,
बनी शृंखला, जकड़ीं जिनमें
विलासिनी सुर बालायें।[1]

---

१. कामायनी—प्रसाद, पृ० १३

दो ही छन्दों के उपरान्त कवि प्रसाद प्रलय की भयंकरता व्यक्त करने में प्रवृत्त होते हैं—

दिग्दाहों से धूम उठे, या
जलधर उठे क्षितिज तट के।
सघन गगन में भीम प्रकम्पन
झंझा के चलते झटके।[1]

शैली की इसी उदात्तता के कारण वे स्थूल और सूक्ष्म, वस्तु और आत्म, इतिहास और मनोविज्ञान दोनों को परस्पर समन्वित कर सके हैं। इन समस्त विविधताओं की सिद्धि केवल अभिधा के सहारे सम्भव नहीं अतः लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता, व्यंजना आदि छायावादी शैली की सभी विशेषताओं का प्रयोग प्रसाद ने अपनी शैली में किया है।

वातावरण के निर्माण की उनमें अद्भुत क्षमता है। प्रलय की भयंकरता स्मृति-रूप में वर्णित होने पर भी साकार हो उठी है। इसी प्रकार संघर्ष के प्रसंग में उनकी शैली ओज गुण-प्रधान है। युद्ध की भयंकरता सफलतापूर्वक चित्रित है। कहीं-कहीं कुछ ही शब्दों में विस्तृत फलक पर विराट् चित्र अंकित किये गए हैं—

बन गया तमस था अलक-जाल
सर्वांग ज्योतिर्मय था विशाल;
अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित,
थी शून्य मेदिनी सत्ता चित;
नटराज स्वयं थे नृत्य-निरत,
था अंतरिक्ष प्रहसित मुखरित;
स्वर लय होकर दे रहे ताल
थे लुप्त हो रहे दिशाकाल।[2]

उपर्युक्त, तथा इसी प्रकार के अन्य चित्रों में ओज है, भव्यता और गति है। छन्द भी विशेष अनुकूल है। यही कवि जो विराट् और गतिमय वर्णन करने में समर्थ है, अमूर्त और सूक्ष्म मनोगत भावों, बुद्धिगत विचारों और जीवनगत मूल्यों का अंकन करने में उतना ही सिद्धहस्त है। मनु के हृदय की उत्तेजना और अधीरता का वर्णन देखिए—

छूटतीं चिनगारियां उत्तेजना उद्भ्रांत,
धधकती ज्वाला मधुर, था वक्ष विकल अशांत।
वात चक्र समान कुछ था बांधता आवेश,
धैर्य का कुछ भी न मनु के हृदय में था लेश।[3]

कोमल मनोभावना का उतने ही कोमल बिम्ब-विधान के सहारे वर्णन देखिए। लज्जा-शील हृदय की व्याख्या कवि ने इन पंक्तियों में की है—

---

१. कामायनी, पृष्ठ १३
२. वही, पृष्ठ २५२
३. वही, पृष्ठ ६२

पुलकित कदंब की माला-सी
पहना देती है अंतर में;
झुक जाती है मन की डाली
अपनी फलभरता के डर में।[1]

लज्जा-भाव के साकार रूप का आत्म-विश्लेषण भी अत्यन्त सुन्दर, सरल और स्पष्ट शब्दों में इसी प्रकार किया गया है—

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौंदर्य जिसे सब कहते हैं;
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।
मैं उसी चपल की धात्री हूं
गौरव महिमा हूँ सिखलाती,
ठोकर जो लगने वाली है
उसको धीरे से समझाती।[2]

पुरुष की प्रणय-याचना पर नारी के मन में समर्पण की विवशता का विश्लेषण कवि ने विशेष स्वाभाविक रूप से किया है—

मैं जभी तोलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूँ,
भुज-लता फँसाकर नर-तरु से झूले सी झोंके खाती हूँ।[3]

हृदयगत भावनाएँ ही नहीं बौद्धिक तथ्य भी काव्यात्मक शैली में प्रेष्य बनाये गए हैं। कवि ने इन सत्यों की विशेष निर्भ्रान्ति और सटीक व्याख्या की है—

बन जाता सिद्धांत प्रथम फिर पुष्टि हुआ करती है,
बुद्धि उसी ऋण को सबसे ले सदा भरा करती है।
मन जब निश्चित-सा कर लेता कोई मत है अपना;
बुद्धि दैव-बल से प्रमाण का सतत निरखता सपना।[4]

इसी प्रकार सत्य की निम्नलिखित व्याख्या में कवि की क्षमता और अभिव्यक्ति का लाघव, स्पृहणीय है—

और सत्य ! यह एक शब्द तू कितना गहन हुआ है।
मेधा के क्रीड़ा-पंजर का पाला हुआ सुआ है।[5]

जीवन के अनेक मार्मिक सत्यों का आख्यान कवि ने अपने ढंग से किया है। मृत्यु और जीवन का सम्बन्ध एवं अन्तर प्रसादजी के शब्दों में कुछ इस प्रकार है—

---

१. कामायनी, पृष्ठ ९८
२. वही, पृष्ठ १०२
३. वही, पृ० १०५
४. वही, पृ० ११०
५. वही, पृ० १११

इन विराम-चिह्नों के पीछे तर्क-सम्मत कला-कौशल है, कवि की प्रतिभा और निपुणता का संकेत है।

गरिमा, उदात्तता और सजीवता आदि की दृष्टि से नाटकीयता होते हुए भी 'विक्रमादित्य' सर्वथा असफल रचना है। डा० प्रतिपालसिंह ने इस विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए अपने शोध-प्रबन्ध में कहा था, "इस रचना की भाषा सरल है, उसमें दुरूहता का अभाव है तथा वह भाव-व्यक्त करने में सशक्त एवं मार्मिक है। शैथिल्य का अभाव है, भावानुकूल, काव्यमयी व पांडित्यपूर्ण भी है। लाक्षणिक प्रयोगों से उसमें सजीवता और मूर्तिमत्ता आ गई है। इसके अतिरिक्त परम्परामुक्त अलंकारों के प्रयोग एवं चित्रमयता से युक्त है।"

उपर्युक्त मान्यता अंशतः ही स्वीकार की जा सकती है। निश्चय ही 'विक्रमादित्य' की भाषा में दुरूहता का अभाव है, यद्यपि सर्वत्र सरसता नहीं। पांडित्य और चमत्कार किसी काव्य की भाषा या शैली को महाकाव्योचित नहीं बना देते, इस गुण की कमी कवि केशव के काव्य में भी नहीं थी। जहाँ उसमें शैथिल्य का अभाव और भावानुकूलता है वहाँ ऐसे अंशों की भी कमी नहीं जो लचर वर्णनात्मक शैली में रचित हैं। इसी प्रकार लक्षणा का वैभव, चित्रमयता, मूर्तिमत्ता आदि गुणों से युक्त शैली के प्रयोग समग्र काव्य में नहीं, विरल अंशों में मिलते हैं।

'विक्रमादित्य' की रचना संवाद-शैली में की गई है, और इस प्रकार कवि का उत्तरदायित्व और भी बढ़ गया है। महाकाव्य की शैली में नाटकीय पद्धति के सफल प्रयोग के लिए अधिक कलात्मकता की अपेक्षा है, अन्यथा वह केवल संवाद रह जाता है और 'विक्रमादित्य' के सम्बन्ध में यही सत्य है। वह 'रामचन्द्रिका' के से ढंग का संवादात्मक प्रबन्ध हो गया है। अनेक स्थलों पर संवाद-रूप में वस्तु-वर्णन अथवा घटनाओं का विवरण विशेष लम्बा और उबा देने वाला है। शैली में मनोविश्लेषण का लगभग अभाव है, अतः इतिवृत्तात्मक और वर्णनात्मक स्थलों की एकरसता से क्षणिक विषयान्तर भी नहीं होता। कहीं-कहीं काव्य का स्तर बहुत गिर गया है। पुराने थियेट्रिकल नाटकों के पद्यबद्ध संवादों का-सा ढंग अपना लिया गया है—

यदि वह कहीं हाथ आ जाती तो होती पाँचों घी में,
मैं राजा वह रानी होती, मैल न रह जाता जी में।[1]

इसी प्रकार की अभिव्यंजना कहीं इतनी अभद्र हो गई है कि असमर्थ शैली के कारण भाव की कोमलता भी नष्ट हो गई है।

ध्रुवदेवी—

क्यों मुझसे आँख चुराते हो, हा! किसने कान दिया है भर,
लड़ गया भाग्य किस रमणी का, लड़ गई आँख किससे मिलकर?[2]

प्रसंग और शैली की परस्पर अनुकूलता अनेक स्थानों पर मिलती है। लाक्षणिक और व्यंजनाप्रधान प्रयोग काव्य में बहुत कम हैं. अपेक्षाकृत अभिधा में इतिवृत्तात्मक वर्णनात्मक

---

१. विक्रमादित्य—गुरुभक्तसिंह, पृष्ठ ६८
२. वही, पृष्ठ ७३

शैली का प्रयोग कहीं अधिक है। कहीं-कहीं काव्य का स्तर बोलचाल की अत्यन्त व्यावहारिक भाषा तक सीमित हो गया है। ऐसे स्थलों पर लोकोक्ति और मुहावरों का सहारा लेने के कारण अभिव्यंजना विशेष स्थूल और अति व्यावहारिक हो गई है—

फंसा पांव कीचड़ में मेरा, पांव तले धरती सरकी,
कतर गये पर मेरे अब तो, रही उड़ाती बे पर की;

चित्रमयता की दृष्टि से कवि को केवल प्राकृतिक चित्रों के अंकन में ही आंशिक सफलता मिली है। ये चित्र विशद हैं, सुन्दर हैं, प्रायः स्थिर व कहीं-कहीं गत्यात्मक भी हैं। इसके साथ ही कवि ने परम्परागत नामपरिगणन-शैली में वर्णन भी किये हैं। मानव-मुद्राओं के चित्र अत्यन्त स्थूल, भद्दे और अति व्यावहारिक भाषा में हैं—

माथा ठोंक, हाय कर ललना, बैठ गई माथा पकड़े,
घूम गया सर, माथा ठनका, देख चन्द्र को यों अकड़े,
सूखी हँसी, टके सा उत्तर, बस रह गई विवश कट कर,
मुंह, धुआं हो गया, तिलमिला उठी, चोट खा गिर, लट कर।[1]

इसी प्रकार भाव-व्यंजना के लिए अनुभावों के वर्णन में बाहरी हाय-हाय व स्थूल शारीरिक क्रिया-कलाप का वर्णन ही अधिक है। संदेशवाहक को प्रिय के लिए संदेश देते समय विरहिणी का वर्णन देखिये—

ठंडी आह निकाल, मुझे लख, चिन्तित हो अनुनय करके,
कुछ कहती, फिर रुक रह जाती, संभल पुनः आंसू भरके,
टूटे फूटे ही शब्दों में व्याकुलता को घूंघट दे,
कह पाई सन्देश, 'प्राण मेरे दर्शन को हैं अटके'।[2]

'विक्रमादित्य' में कलात्मक प्रतिभा का अभाव सर्वत्र दिखाई पड़ता है। कथानक में प्रवाह और विकास-क्रम तो समुचित रूप से है ही नहीं, काव्यात्मक सरसता और शैली में महाकाव्योचित सामर्थ्य, महाप्राणता, गरिमा और उदात्तता आदि भी नहीं है, अतः इस कृति को महाकाव्य कहना हर दृष्टि से कठिन है।

'मेधावी' में शुद्ध वर्णनात्मक प्रसंग बहुत कम हैं। विचार का प्राधान्य होने से शैली में विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित होती है और अमूर्त की प्रधानता के कारण लाक्षणिक और व्यंजनाप्रधान प्रयोगों की बहुलता है। चित्रमयता का अवसर प्रत्यक्ष घटनाओं, प्रसंगों, स्थान एवं व्यक्तियों के वर्णनों के अभाव के कारण विशेष नहीं मिला। किन्तु प्रकृति के अनेक चित्र कवि ने अंकित किये हैं। 'मेधावी' का सम्पूर्ण काव्य-भवन ही प्रकृति की भित्ति पर खड़ा है, अतः प्रकृति के आत्मपरिचयात्मक प्रसंगों के अतिरिक्त प्राकृतिक व्यापारों के अनेक गतिमय चित्र प्राप्त होते हैं—

---

१. विक्रमादित्य— गुरुभक्तसिंह, पृष्ठ २०
२. वही, पृष्ठ ३०

अग्निरूप सा सूर्य्य चमकता
धूम रहा था अंतराल में
एक बटोही तारा चलता
आया पथ के महाजाल में
आकर्षण से रवि के तन से
खिंचा लीक सा भूत मचल कर
गति की उलझन में वह टूटा
लगा घूमने भिन्न नाद कर।[1]

कवि ने परम्परागत वर्णनों को भी नवीन पद्धति से अपनाया है। ऋतु-वर्णन कवि ने समाख्यान शैली में न करके आत्मपरिचयात्मक शैली में किया है। भाषा में भी विशेष विषयानुकूलता है। वर्षा ऋतु के वर्णन में, शब्दों में लय-सम्बन्धी जो थिरकन है, शरद का वर्णन करते हुए उसमें स्वच्छता, स्फीतता और ऋजु-सरल गति आ गई है—

वर्षा—

पुलक करूँ अभिसार रे
मैं सूर्य किरण पर चल चल कर
सागर से घट भर भर लाई
मेघ गगन में गरजे द्रिम द्रिम
पुलकित धरणी मानव द्रुम द्रुम
बरसे रिम झिम धार रे!

शरद—

मैं ज्योत्स्ना हासिनी
अमल वसन
हूँ महापूर्णिमा का हुलास
रे शुभ्र गगन में दुग्ध श्वास
मधु श्वेत हंस, शतदल सज्जित
हूँ स्वच्छ अंभ में शांति लास
मैं वीणावादिनी
इंदु वदन[2]

इस प्रकार के वर्णनों के अतिरिक्त विराट् दृश्य-शृंखला 'मेधावी' में अप्राप्य है। वर्णनों में सांगोपांगता, चित्रमयता और रमणीयता का भी अभाव है। बिम्ब-ग्रहण आदिक अनुभूति के बिना संभव नहीं और इस काव्य में कवि सोच-सोचकर बौद्धिक स्तर से सिद्धान्त-प्रतिपादन करता

१. मेधावी—डा० रांगेय राघव, पृष्ठ ५५
२. वही, पृष्ठ १२५-१२६

रहा है। महाप्राणता, उदात्तता, चित्रमयता तथा वर्णन-क्षमता 'मेधावी' में नहीं है, किन्तु कवि की शैली की अपेक्षा विषय का स्वरूप इसके लिए अधिक उत्तरदायी है।

'तप्तगृह' और 'ऋतंवरा' की शैली में सर्वत्र एक प्रकार की सरलता और प्रसादमयता व्याप्त है। कवि ने लाक्षणिक प्रयोग भी यथावसर किए हैं किन्तु दुरूहता और बोझिलता कहीं उत्पन्न नहीं हुई है—

कातरता पुत्र की
सह न सकी कुशला
अंचल के दूध की
सुन पुकार बार-बार।[1]

पात्रों द्वारा स्वगत आत्मविश्लेषण के रूप में मनाविश्लेषणात्मकता का समावेश भी हुआ है। संवादों का प्रयोग भी यथावसर किया गया है। स्पष्ट और सरल शब्दों में मार्मिक प्रसंगों और मनोभावनाओं की अत्यन्त प्रभावमय अभिव्यक्ति स्थान-स्थान पर मिलती है। ऐसे स्थलों पर अलंकरण की बोझिलता नहीं प्रसंग की निरावरण मार्मिकता द्रष्टव्य है—

बैठी है सेवा की
गूँजी पुकार सी
साथ इसी करुणा के
कुशला वैधव्य की
वाणी को रोककर।
शून्य शयन-कक्ष में
बैठी है भाग्य के
चरणों की ठोकर से
ध्वस्त हुई रेखा-सी।[2]

कतिपय प्राकृतिक चित्रों के अतिरिक्त वस्तुगत दृष्टिकोण के अभाव में प्रसंगों और पात्रों के चित्रात्मक वर्णन 'तप्तगृह' में विशेष नहीं मिलते। विषय की परिसीमा के कारण शैली में करुणार्द्र बिछलन, कोमलता, प्रवाह, मार्मिकता तो है, गरिमा, विराटता और सजीवता नहीं।

'ऋतंवरा' में कवि को यह अवसर प्राप्त था कि वह अपनी शैली की सजीवता और महाप्राणता का परिचय दे सके। प्रलय—सृष्टि की सबसे अधिक भयंकर और विराट् घटना है किन्तु काव्यारम्भ में कवि ने उसके भयंकर रूप—पंचतत्त्वों के विनाश का वर्णन न करके केवल जल-प्रसार के वर्णन तक अपने को संयत रखा है, किन्तु उसमें भी वेग और निर्बाध गति नहीं। प्रलय की भयंकरता की व्यंजना करने में वे असमर्थ रहे हैं। इस प्रसंग में सौन्दर्य है, सप्राणता नहीं—

मानों स्वप्निल महासृजन का
पहला स्फुरण हुआ साकार

---

१. तप्तगृह—प्रभात, पृष्ठ १३९
२. वही, पृष्ठ १३४

प्रथम जागरण अँगड़ाई ले
मानों वृग हो रहा उघार।[1]

जीवन के विराट्, भयंकर या त्रासद वर्णनों में प्रभातजी सफल नहीं हुए। उनकी शैली की सफलता कोमल, मधुर, उल्लासमय और मादक वर्णनों में है। प्रलय के ढलने के उपरान्त वातावरण के उल्लास की स्फूर्ति देखिए—

ज्वाला से धुल तममयी निशा
बनती नवीन चेतना-विशा
सज्ञा के तट पर उठता कोई महाज्वार
पर्वताकार, वर्तुलाकार
आकाश तैरता, तैर रहे हैं सकल तत्त्व
जैसे फूलों से पूर्ण अनगिनत पात।[2]

इसी प्रकार मनु के आत्मबोध के प्रसंग में शैली में एक प्रकार का उल्लास, स्फूर्ति और दीप्ति है। समस्त काव्य की शैली में माधुर्य गुण की प्रधानता है। अनेक प्रसंगों में अभिव्यंजना मानो मधु-स्नात है। 'मनु' सर्ग के आरम्भ में प्रकृति के उन्मीलन का वर्णन इसी प्रकार का है—

सरसो के पीले पत्तो से
झाँक झाँक मधुस्नाता
छन्दमयी आनंद लुटाती
मधुमरंद अज्ञाता
मोह-मोह लेती मनसिज को
पाटल बन की लाली
छिप-छिप झिप-झिप मृदु मुसकाती,
रति-सी मुग्ध द्रुमाती।[3]

अनुप्रास के प्रयोग से कहीं-कहीं भाषा में मधुर अनुरणन उत्पन्न हो गया है और वह मधुरिमा की उस सीमा का स्पर्श करने लगी है जहां वह रस-बोरी प्रतीत होती है—

कला कामिनी बनकर हँसती।
छवि-वसना रस-बोरी
कण-कण में तिल-तिल-भर में,
बसती कामना किशोरी।
होता राग, रागिणी होती,
गीतों की छाया भी।

---

१. ऋतंवरा—प्रभात, पृष्ठ ८
२. वही, पृष्ठ १००
३. वही, पृष्ठ ७०

मधु होता, मादकता होती,
मोहकता माया भी ।।[1]

कवि की अपनी शैली यही है, इन वर्णनों को पढ़ने के उपरान्त स्पष्ट भासित होता है। मधुरता के अति आग्रह के कारण कुछ प्रसंगों में कवि आवश्यकता की अवहेलना कर गया है। पंचम सर्ग में प्रलय के विध्वंस के उपरान्त पृथ्वी पर नारीत्व का आरोप, सौन्दर्य-वर्णन की मादकता और मांसलता, इस प्रसंग के उपयुक्त प्रतीत नहीं होती—

कि मानो ऋद्धि-सिद्धि साकार,
सिन्धु से निकली यह सुकुमार।
जगत की जीवन-ज्योति सकाम,
भुवनमोहिनी मनोज्ञ ललाम।
न अब तक जला सकी है दीप,
खड़ा कोई अवसाद समीप।
कि अब तक बिखरा सा शृंगार,
सिन्धु से निकली यह सुकुमार ।।[2]

विशेष चित्रमयता भी इस काव्य में नहीं मिलती। गिनाने को स्थिर और गत्यात्मक दोनों प्रकार के चित्र है, किन्तु इन चित्रों में सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण का अभाव है। रेखाओं में निश्चितता नही और ये चित्र भी सामान्य के हैं, विशेष के नहीं—

देह-लता मृदु-मधु-रस-बोरी,
अपने में न समाती-सी।
प्रथम रूपसी,' पहली नारी,
वय का स्नेह लुटाती-सी।
चरण बढ़ाये धीरे-धीरे,
संभल-सँभल सकुचाती-सी।
अरुण लाज की तरुण रागिणी,
होंठों बीच छिपाती-सी ।।[3]

उपर्युक्त पंक्तियों मे किसी रमणी-विशेष का नही, किसी भी सुन्दर नारी का सामान्य चित्र सामने आता है। अभिव्यक्ति मे लाघव नही विस्तार है। चित्रमयता का प्रश्न उतना अधिक उठा भी नहीं, क्योंकि व्यक्ति के रूप और क्रिया-व्यापार की अपेक्षा आत्म-चिन्तन ही अधिक व्यक्त हुआ है। संक्षेप में 'ऋतंवरा' की शैली में मधुरिमा है, आर्द्रता, कोमलता और स्निग्धता है किन्तु सशक्तता और महाप्राणता नही। अवसर मिलने पर भी विराट् के महाप्राण वर्णन कवि नहीं कर सका।

१. ऋतंवरा—प्रभात, पृष्ठ ७८
२. वही, पृष्ठ ५५
३. वही, पृष्ठ ९४-९५

महाकाव्य की शैली में जो प्राणवत्ता, सामर्थ्य, उदात्तता और गरिमा अपेक्षित है, वह 'कामायनी' को छोड़कर किसी रचना में नहीं। 'विक्रमादित्य' इस दृष्टि से सर्वथा अशक्त है, अन्य कृतियों में न्यूनाधिक मात्रा में उपर्युक्त गुणों की सिद्धि सम्भव हो सकी है, परन्तु उतना महाकाव्य के लिए पर्याप्त नहीं।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर इन कृतियों के परम्परागत और नवीन तत्त्वों का निर्धारण किया जा सकता है। यद्यपि परम्परागत तत्त्व इन काव्यों में बहुत कम हैं, किन्तु कुछ विशेषताओं का पालन इनमें किया ही गया है—

परम्परागत तत्त्व

१. इन रचनाओं के कथानक का आधार इतिहास या पुराण हैं। 'मेधावी' में निश्चय ही यह आधार उतना स्पष्ट और प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु अन्य कृतियों के कथानक ऐतिहासिक या पौराणिक हैं।

२. सर्ग-विभाजन इन काव्यों में संख्या आदि सभी दृष्टियों से प्राचीन परिपाटी पर किया गया है। सर्गान्त में भावी कथा-सूचना की पद्धति भी नियमतः नहीं किन्तु अनेक सर्गों में इन्होंने स्वीकार कर ली है।

३. छन्द-विधान की दृष्टि से जहाँ अनेकानेक नवीन छन्द प्रयोग किये गए वहाँ 'कामायनी', 'विक्रमादित्य' आदि काव्यों में परम्परागत ढाँचे भी अपनाये गए।

४. इन कृतियों के नामकरण की पद्धति भी परम्परागत है।

अन्य प्रभाव

१. कथानक का वस्तुरूप आधार ग्रहण करके भी कुछ युग-चेतना और कुछ आंग्ल-साहित्य के प्रभाववश इन सभी कृतियों में स्थूल वस्तुरूप घटनाएँ गौण और उनके पीछे कोई भावात्मक या विचारात्मक सत्य, सिद्धान्त या उद्देश्य प्रमुख हो गया है। कथा के इस रूप में प्रयोग के लिए इस युग की चेतना और अन्तर्द्रष्टा कवि की जिज्ञासु दृष्टि—दोनों उत्तरदायी हैं। आंग्ल साहित्य के सम्पर्क से नवीन प्रयोग के लिए दिशा-निर्देश इन लेखकों को मिल गया था। इसके अतिरिक्त चिर प्रगतिशील मनोविश्लेषण-शास्त्र, समाज-शास्त्र, भौतिक विज्ञान

('विक्रमादित्य' इस प्रवृत्ति का एकमात्र अपवाद है)।

३. काव्य के कथानक के अनुरूप इन काव्यों में मूर्त की अपेक्षा अमूर्त घटनाओं की प्रधानता है। बाह्य जगत् की अपेक्षा ये घटनाएँ अन्तर्मन में अधिक संख्या में घटती हैं, नहीं तो कम से कम बाह्य जगत् में घटित होने वाली घटनाओं के मनोगत कारणों का विश्लेषण अवश्य किया गया है। इस विशेषता के लिए युग-परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं। प्राचीन महाकाव्यकार की दृष्टि जहाँ वस्तुजगत् पर टिकी थी वहाँ इन कवियों ने अन्तर्जगत् को महत्ता देकर व्यक्ति के आत्म की प्रतिष्ठा की। परिणामस्वरूप घटनाओं में वर्णन-विस्तार आदि की दृष्टि से भी इन कवियों ने स्वतन्त्र अभिरुचि से काम लिया है।

४. मंगलाचरण, वस्तुनिर्देश, आशीर्वचन, तथा अन्य वर्णन-रूढ़ियों का इन कवियों ने त्याग कर दिया। इन रूढ़ियों के प्रति उपेक्षा-भाव 'प्रियप्रवास', 'सिद्धार्थ' आदि शास्त्रीय महाकाव्यों से ही आरम्भ हो गया था। इन रचनाओं में यह प्रयत्न पूर्ण हो गया। 'तप्तगृह' और 'ऋतंवरा' में मंगलाचरण की रूढ़ि को अपनाया गया है किन्तु पूर्णतः नवीन ढंग से।

५. छन्द-विधान की दृष्टि से भी एक छन्द में सर्ग-रचना या सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन आदि के नियम का परित्याग कर इन कवियों ने अतुकान्त छन्द और मुक्त छन्द के अनेकानेक प्रयोग 'मेधावी', 'तप्तगृह' और 'ऋतंवरा' में किये।

६. इन काव्यों की अलंकरण-कला पर पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव है। इन कवियों ने मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, ध्वन्यार्थव्यंजना, आदि पाश्चात्य अलंकारों का प्रयोग तो किया ही है, भाषा के लाक्षणिक, व्यंजनाप्रधान प्रयोग एवं प्रतीकात्मकता आदि भी उसी ढंग की है।

७. महाकाव्यों में प्रगीत और नाटक के तत्त्वों का प्रयोग भी नवीन चेतना की देन है। कथोपकथन का महाकाव्य में प्रयोग प्राचीन पद्धति है। परन्तु संवादों के रूप में सम्पूर्ण महाकाव्य की रचना का उपक्रम नाटकीय ढंग के पाश्चात्य महाकाव्यों का प्रभाव है। 'विक्रमादित्य' में यही पद्धति ग्रहण की गई है, यद्यपि कला की दृष्टि से वह 'रामचन्द्रिका' के अधिक निकट है। प्रगीतात्मक, भावप्रवण शैली और बीच-बीच में पात्रों की आत्माभिव्यक्ति के लिए गीतों का प्रयोग नवीन युग की विषयीप्रधान चेतना की नवीन देन है।

स्वतन्त्र एवं नवीन उद्भावनाएँ

१. कथानक ऐतिहासिक, पौराणिक होते हुए भी उनका नवीन प्रयोग इन कवियों की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है। 'मेधावी' का तो कथानक-ग्रहण भी नवीन ढंग से किया गया है।

२. सर्ग-विभाजन की पद्धति 'विक्रमादित्य' में नवीन है यद्यपि उसमें कोई तर्कसम्मत औचित्य नहीं।

३. मुक्तछन्द के प्रयोग के लिए कवि की मौलिकता अनिवार्य है। इस दिशा में अतुकान्त और मुक्त छन्दों के अनेकानेक विषयानुरूप ढाँचे भी इन कवियों ने प्रस्तुत किये।

४. सर्ग के अन्त व मध्य में छन्द-परिवर्तन के विषय में भी इन कवियों ने स्वतन्त्र

अभिरुचि से काम लिया। इस विषय में वे पूर्व और पश्चिम दोनों ही के शास्त्रीय बन्धनों से मुक्त रहे हैं।

५. वर्ण्य विषयों की दृष्टि से भी शास्त्र-निर्दिष्ट प्रसंगों की इन्होंने पूर्ण अवहेलना की। इन कवियों ने विषय और प्रसंग की आवश्यकता के अनुकूल वर्णन-विस्तार किया है, नियम-पालन के आग्रहवश नहीं।

६. 'मेधावी' के कवि ने प्रत्येक सर्ग के आरम्भ में, गद्य में कथा का संक्षिप्त उल्लेख कर एक नवीन पद्धति अपनायी है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इन कवियों की मौलिकता विषय की अपेक्षा शिल्प और शैली के क्षेत्र में अधिक दृष्टिगत होती है और सम्पूर्ण रचना में अनुपात की दृष्टि से परम्परागत रूप-विधान-पद्धति हर प्रकार से बहुत कम अपनाई गयी है।

द्वितीय अध्याय

खण्डकाव्य

प्रबन्ध काव्य के दूसरे भेद—खण्डकाव्य के रूप-विधान-सम्बन्धी लक्षण, संस्कृत और हिन्दी काव्य-शास्त्र में बहुत विरल और अस्पष्ट हैं। प्राचीन व आधुनिक काल के विद्वानों ने खंडकाव्य का कहीं तो उल्लेख करके ही छोड़ दिया है, और जहाँ इस रूप की विशेषताओं के सम्बन्ध में निर्देश भी किया गया है वहाँ भी इसके शिल्प के विषय में ये आचार्य मौन हैं। प्रायः खंडकाव्य के विषय, स्वरूप, और विस्तार की सीमाएं ही इन लक्षणों से स्पष्ट होती हैं। रूप-विधान की दृष्टि से खण्डकाव्य इन आचार्यों की दृष्टि में किस प्रकार का काव्य-रूप था, इसका निर्णय उनके द्वारा उदाहरण-स्वरूप कथित काव्यों के रूप-विश्लेषण से ही किया जा सकता है। हिन्दी साहित्य में भी खंडकाव्य का विस्तारपूर्वक रूप-विवेचन नहीं किया गया। जिन विद्वानों ने खंडकाव्य के विषय में कुछ कहा है—उसका आधार भी संस्कृत विद्वानों का विवेचन ही है। डा० शकुन्तला दूबे ने अपने शोध-प्रबन्ध में खंडकाव्य का जो विभाजन व विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वह भी काव्य के बंध और शिल्प की अपेक्षा उसकी विषय-वस्तु और कवि के दृष्टिकोण पर ही अधिक आधारित है। अतः संस्कृत और हिन्दी के विद्वानों के मन्तव्यों के आलोक में खंडकाव्य का रूप स्थिर करने के उपरान्त ही आधुनिक काल में लिखे गए खंडकाव्यों का रूप-विश्लेषण सम्भव होगा। हम पहले खंडकाव्य के सम्भावित परम्परागत रूप के स्थिरीकरण का प्रयत्न करेंगे।

भरत तो काव्य-रूपों के विवेचन के प्रति उदासीन रहे, परन्तु परवर्ती आचार्यों—भामह, दण्डी, और वामन आदि ने महाकाव्य और मुक्तक आदि का अनेक रूपों में उल्लेख और विवेचन करने पर भी खंडकाव्य का उल्लेख नहीं किया। भामह और दण्डी ने सर्गबन्ध काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, तथा वामन ने निबद्ध काव्य में रूपक का भी समावेश किया, किन्तु प्रबन्ध-रूपों में खंडकाव्य का स्पष्ट उल्लेख इन आचार्यों ने नहीं किया।

आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्यरूपों का विवेचन करते हुए सर्वप्रथम "खण्डकथा" नामक काव्य-भेद का पृथक् नामोल्लेख किया है। यद्यपि उन्होंने स्पष्ट नहीं कहा कि यह विभाजन गद्य-विधाओं का है अथवा पद्य का, किन्तु प्रकारान्तर से उनके विवेचन से निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि उनका अभिप्राय काव्य से ही था।

खण्डकाव्य के शिल्प के विषय में उन्होंने भी कुछ नहीं कहा। आचार्य विश्वनाथ ने भी खण्डकाव्य की विषयगत सीमाओं की ओर ही संकेत किया, रूप-विधान-सम्बन्धी विशेषताओं या सम्भावनाओं की ओर नहीं। खण्डकाव्य की रचनागत अथवा रूप-आकार सम्बन्धी विशेषताओं के विषय में इस लक्षण से कोई स्पष्ट संकेत उपलब्ध नहीं होता। काव्य के एक अंश का

अनुसरण करने वाला खण्डकाव्य होता है।[1] यहाँ काव्य से कदाचित् आचार्य का अभिप्राय महाकाव्य से ही है। महाकाव्य में व्यक्ति-विशेष या अनेक व्यक्तियों के सम्पूर्ण जीवन अथवा युग-विशेष की समग्रता का चित्रण होता है। अतः अंश-विशेष का अनुसरण करने का अभिप्राय है उपर्युक्त दोनों से सम्बद्ध एक खण्ड या घटना-विशेष का अनुसरण। सीमित विषय की अभिव्यक्ति तदनुकूल सीमित कलेवर में ही उचित होगी। अतएव खण्डकाव्य महाकाव्य की समग्रता और महत्ता की तुलना में आकार की दृष्टि से उसके एक खण्ड या अंश के समान होगा। उसमें वर्णन-विस्तार, सर्गविभाजन सभी विषयानुकूल होंगे। आचार्य विश्वनाथ द्वारा उदाहरण-स्वरूप कथित काव्य 'मेघदूत' भी इसी निष्कर्ष का पोषक है।

आधुनिक काल में हिन्दी साहित्य के जिन विद्वानों ने खण्डकाव्य का उल्लेख व विवेचन किया उनके मत भी रूप-विधान के विषय में स्पष्ट और विस्तारयुक्त नहीं हैं। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने संस्कृत के आचार्य विश्वनाथ की तद्विषयक पंक्ति का अनुवाद प्रस्तुत कर दिया—

"महाकाव्य के ढंग पर जिस काव्य की रचना होती है पर जिसमें पूर्ण जीवन का ग्रहण न करके खंड जीवन ही ग्रहण किया जाता है उसे खंडकाव्य कहते हैं।"[2] मिश्रजी ने कथा के लिए स्वतःपूर्णता का गुण अनिवार्य मानते हुए यह भी स्पष्ट किया कि किसी महाकाव्य का एक या एकाधिक सर्ग खंडकाव्य नहीं हो सकते। खंडकाव्य का विस्तार भी उनके अनुसार थोड़ा होता है। उक्त मत में संस्कृत-आचार्यों की भाँति विषय-सीमा की ही व्याख्या की गई है।

इसी प्रकार बाबू गुलाबराय ने भी उसके प्रबन्धत्व और कथा-विस्तार का ही विवेचन किया है—

"खण्डकाव्य में प्रबन्ध काव्य का-सा तारतम्य तो रहता है किन्तु महाकाव्य की अपेक्षा उसका क्षेत्र सीमित होता है। उसमें जीवन की वह अनेकरूपता नहीं रहती जो कि महाकाव्य मे होती है। उसमें कहानी और एकांकी की भाँति घटना के लिए सामग्री जुटाई जाती है।"[3]

डा० शकुन्तला दूबे ने अपने शोध-प्रबन्ध में खण्डकाव्य के स्वरूप के विषय में कुछ प्रकाश डाला है। संस्कृत आचार्यों द्वारा दिये गए उदाहरण ग्रन्थ 'मेघदूत' तथा हिन्दी-साहित्य में समय-समय पर किए जाने वाले प्रयोगों के आधार पर उन्होंने कुछ निष्कर्ष उपस्थित किए हैं, जिनका उल्लेख खण्डकाव्य का स्वरूप-निर्धारण करते हुए यथावसर किया जाएगा।

संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय विवेचन एवं प्रयोग के आधार पर खण्डकाव्य की रूप-विधा-सम्बन्धी निम्नलिखित विशेषताएँ निश्चित की जा सकती हैं—

कथानक

(क) खण्डकाव्य का कथानक ऐतिहासिक, प्रख्यात, मिश्र अथवा उत्पाद्य हो सकता

१. खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।
यथा—मेघदूतादिः। साहित्यदर्पण—आ० विश्वनाथ, षष्ठ परिच्छेद, पृष्ठ ३२५
२. वाङ्मयविमर्श—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ३९
३. काव्य के रूप—गुलाबराय, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ११७

है। महाकाव्य के समान खण्डकाव्य के कथानक के लिए ऐतिहासिकता अनिवार्य अनुबन्ध नहीं—'मेघदूत' इसका उदाहरण है।

(ख) आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार खण्डकाव्य की कथा में महाकाव्य के एक देश या अंश का अनुसरण होता है। परन्तु खण्डकाव्य जीवन के अंग विशेष को लेकर चलने पर भी स्वतःपूर्ण होता है। किसी महाकाव्य का एक या एकाधिक सर्ग खण्डकाव्य नहीं हो सकते। महाकाव्य और खण्डकाव्य का पारस्परिक अन्तर नाटक और एकांकी तथा उपन्यास व कहानी की भाँति आकार-मात्र का न होकर प्रकार का भी है। उसमें जीवन का एक ही खण्ड लिया जाता है, किन्तु वह खण्ड अपने-आप में पूर्ण होता है—

"खण्डकाव्य के 'खण्ड' शब्द का यह अर्थ कदापि नहीं कि वह बिखरा हुआ अथवा किसी महाकाव्य का एक खण्ड है। प्रत्युत यह 'खण्ड' शब्द उस अनुभूति के स्वरूप की ओर संकेत करता है जिसमें जीवन अपने सम्पूर्ण रूप में कवि को न प्रभावित कर आंशिक या 'खण्ड' रूप में ही प्रभावित करता है।"[1]

(ग) महाकाव्य की वस्तु-संघटना की भाँति, नाट्य-सन्धियों के निर्वाह की अनिवार्यता भी खण्डकाव्य के लिए नहीं मानी गई। जीवन के सर्वांग का यथासंभव समाहार कर, अनेक प्रासंगिक कथाओं और उपाख्यानों से संयुक्त, संश्लिष्ट कथानक लेकर चलने वाले काव्य-रूप के लिए जिस सचेष्ट और सावधान वस्तु-संघटना की आवश्यकता है, उतनी एक ही प्रधान कथा को आद्यन्त लेकर चलने वाले काव्य के लिए नहीं, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि खण्डकाव्य की कथा में किसी प्रकार के पारस्परिक अनुपात और घटना-क्रम में औचित्य की अपेक्षा नहीं। खण्डकाव्य में प्रमुख घटना एक ही होती है, परन्तु कभी-कभी अन्य घटनाएँ कार्य-कारण या प्रासंगिक रूप में आ जाती हैं। जैसे 'जयद्रथ-वध' में प्रमुख घटना के कारण-रूप अभिमन्यु-वध की घटना। अतः खण्डकाव्य के लिए यद्यपि जटिल नहीं, किन्तु आकार लघु होने के कारण और भी सधे-सधाए वस्तु-विधान की अपेक्षा है। वस्तुतः बृहद् प्रबन्धों में सुचिन्तित घटना-क्रम की अपेक्षा होने पर भी विस्तृत वस्तु-विन्यास के बीच एकाध ऐसे स्थल उपेक्षणीय हो सकते हैं जो प्रबन्ध-निर्वाह की दृष्टि से अनावश्यक या शिथिल हों; परन्तु खण्डकाव्य में आकार की संक्षिप्तता और वर्णन-विस्तार के अभाव के कारण प्रत्येक प्रसंग की स्थिति आवश्यकता या सम्भाव्यता के अनुसार होनी चाहिए। अरस्तू ने महाकाव्य के लिए जिस सुनिश्चित आदि, मध्य और अवसान की आवश्यकता का उल्लेख किया था वह खण्डकाव्य के लिए और भी अनिवार्य है। उसका प्रत्येक प्रसंग व घटना परस्पर कार्य-कारण-सम्बन्ध से आबद्ध और कसी हुई होनी चाहिए। कार्य-व्यापार की पाँच अवस्थाओं के अनुसार आरोह-अवरोह की न खण्डकाव्य में आवश्यकता है न सम्भावना, परन्तु उसका सीमित वस्तु-व्यापार तथा प्रमुख व अन्य घटनाएँ परस्पर सुसम्बद्ध और इस प्रकार नियोजित होनी चाहिए कि उनमें कोई अंश अतिरिक्त न जान पड़े।

(घ) वर्ण्य-विषयों की जो सूची महाकाव्य के लिए बनायी गई थी—उसके अन्तर्भाव का खण्डकाव्य के सीमित कथा-विस्तार में प्रश्न ही नहीं उठा। जीवन के जिस क्षेत्र से खण्डकाव्य

१. काव्यरूपों के मूल स्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दूबे, पृष्ठ १४४

की कथावस्तु का चयन किया जायगा, उस पक्ष-विशेष के वर्णन उसमें होंगे ही; परन्तु महाकाव्य की भाँति खण्डकाव्य के लिए वर्णन-विस्तार अनिवार्य नहीं। कवि की दृष्टि वस्तुपरक या बाह्यार्थ-निरूपिणी न होकर भावपरक व आत्माभिव्यक्ति-प्रधान भी हो सकती है। खण्डकाव्य के उदाहरण-स्वरूप बहुधा 'मेघदूत' का उल्लेख इस बात का प्रमाण है। हिन्दी-साहित्य में—विशेषकर पूर्व-मध्य और मध्य-युग में, तथा आधुनिक युग के अधिकांश खण्डकाव्यों में कथा-सूत्र सबल है। आख्यान और घटना के कथन का आग्रह लेखकों की दृष्टि में प्रमुख है, भावाभिव्यंजना अपेक्षाकृत गौण। अतः व्यवहार में खण्डकाव्य की रचना वस्तु-प्रधान, इतिवृत्तात्मक दृष्टिकोण से जितनी की गई है, उतनी कुछ प्रयोगों को छोड़कर विषयी-प्रधान, आत्मपरक दृष्टि से नहीं। उसका स्वरूप समाख्यानात्मक शैली में लिखे गये आख्यान काव्य का ही अधिक रहा है।

शिल्प

(क) सर्ग-विभाजन—विस्तार की दृष्टि से बृहदाकार महाकाव्य के लिए अभीष्ट था, इसीलिए आठ से अधिक सर्गों की संख्या निश्चित कर आचार्य विश्वनाथ ने उसके संकोच की सीमा निर्धारित कर दी। इस प्रकार की कोई सीमा खण्डकाव्य के लिए निश्चित न करने के कारण ही आकार-सम्बन्धी जितना प्रयोग-वैविध्य खण्डकाव्य के नाम पर मिलता है उतना किसी और काव्य-रूप में नहीं। एक ओर हमारे कवि-वर्ग ने 'नूरजहाँ' 'हल्दीघाटी' और 'जौहर' जैसे महाकाव्यात्मक बृहद खण्डकाव्यों की रचना की, जिनका अनेक सर्गों में विभाजन किया गया, और दूसरी ओर 'रंग में भंग', 'पंचवटी', और 'तुलसीदास' जैसे सर्गविहीन लघु खण्ड-काव्य लिखे गए। खण्डकाव्य की "कथा सर्गों में होकर भी गूंथी जा सकती है, और उसके बिना भी उसका प्रणयन हो सकता है। क्योंकि जीवन के जिस विच्छिन्न अंश को अथवा घटना को लेकर कवि चलता है, उसमें विस्तार का क्षेत्र बहुत छोटा होता है।"[1] इस प्रकार विषय और विस्तार की आवश्यकता के अनुकूल खण्डकाव्य का विभाजन अनेक सर्गों में भी हो सकता है और वह सर्गविहीन भी हो सकता है, परन्तु विषय-वस्तु की परिसीमा के कारण खण्डकाव्य का विस्तार कुछ दूर तक ही सर्गों में किया जा सकता है। मनमाने ढंग से सीमित घटनावली का वर्णन-विस्तार कर उसका अनेकानेक सर्गों में विभाजन करने से विषय और अभिव्यंजना में परस्पर अनुकूलत्व और अनुपात की दृष्टि से जो अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी वह तर्क-सम्मत कैसे हो सकती है? अपने विषय के अनुकूल आकार-विस्तार और सर्ग-बन्धन की स्वतन्त्रता कवि को होगी ही। सर्ग-बद्धता खण्डकाव्य का अनिवार्य लक्षण नहीं हो सकता।

(ख) छन्द-विधान—की दृष्टि से एक ही छन्द में सर्ग-रचना, या सर्ग-विभाजन के अभाव में एक ही छन्द में काव्य-रचना, प्रबन्ध के अविच्छिन्न धारा-प्रवाह के लिए काम्य तो अवश्य है, परन्तु आवश्यक अनुबन्ध नहीं। महाकाव्य में ही सिद्धान्त और प्रयोग दोनों दृष्टियों से इस नियम के अपवाद की स्वीकृति हो जाने पर खण्डकाव्य के लिए इस नियम-पालन की अपेक्षा करना व्यर्थ है; यद्यपि महाकाव्य की तुलना में विस्तार कम होने के कारण खण्डकाव्य में एक छन्द का निर्वाह व्यावहारिक दृष्टि से अधिक सहज है।

१. काव्यरूपों के मूल स्रोत और उनका विकास—डा० श० दूबे, पृ० १४७

(ग) **शैली-सम्बन्धी अन्य वर्णन रूढ़ियाँ**—मंगलाचरण, वस्तु-निर्देश, सर्गान्त में भावी कथा-सूचना, सज्जन-प्रशंसा व दुर्जन-निन्दा, सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन आदि की अवमानना स्थल व गौण लक्षण मानकर महाकाव्यों में ही कर दी गई थी, अतः इस प्रकार के ऊपरी व अपेक्षाकृत अप्रमुख नियमों के पालन की आवश्यकता खण्डकाव्यकार के लिए स्वीकार करना अन्याय होगा। विस्ताराभाव के कारण इस औपचारिकता के पालन का अवकाश वहाँ और भी अल्प है।

निष्कर्ष रूप में खण्डकाव्य रूप-विधान की दृष्टि से ऐसा काव्य-रूप है जिसमें जीवन के किसी खण्ड, घटना, या प्रसंग-विशेष को विषय बनाया जाता है। सामान्यतः इसका स्वरूप समाख्यानात्मक एवं वर्णनात्मक होता है, किन्तु विषय की आवश्यकता के अनुकूल उसमें भावाभिव्यंजक, आत्म-संलापात्मक व प्रगीतात्मक शैली का प्रयोग भी हो सकता है। उसकी घटनाओं का रंगमंच वस्तुजगत् भी हो सकता है तथा उसमें पात्रों एवं कवि के मनस्थ प्रसंगों को स्वीकार कर आन्तरिक भावाभिव्यंजना व मनोविश्लेषण की प्रधानता भी हो सकती है। कहना व्यर्थ है कि सुगठित वस्तु-विन्यास महाकाव्य व खण्डकाव्य क्या, किसी भी प्रबन्ध-रूप के लिए अनिवार्य है। शैली की दृष्टि से प्रत्येक काव्य-रूप के लिए केवल एक नियम अनिवार्य है—और वह है विषय और अभिव्यक्ति का परस्पर अनुकूलत्व। इस नियम के अन्तर्गत रहते हुए कवि को पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह अपनी रुचि और अपने विषय को दृष्टि में रखते हुए काव्य को सर्गों में बाँधे या सर्गविहीन काव्य लिखे, एक छन्द में या अनेक छन्दों में रचना करे। वर्णन को प्रगीत और नाटकीय शैली में रूपान्तरित करे तथा विषय का विस्तार अथवा संकोच करे। इस विषय में खण्डकाव्य के शिल्प के सम्बन्ध में कोई विधि-निषेध नहीं किया गया जो इस काव्य-रूप के उन्मुक्त विकास और प्रयोग-वैविध्य की दृष्टि से एक ओर शुभ हुआ और दूसरी ओर इस क्षेत्र में परस्पर इतने भिन्न प्रयोग किये गए कि उन्हें केवल कथा-खण्ड या घटना-विशेष लेकर चलने के कारण एक ही वर्ग में बाँधना उचित प्रतीत नहीं होता। कुछ रचनाओं का रूप-विधान विस्तार की दृष्टि से महाकाव्य के बहुत समीप जा पहुँचा। 'नूरजहाँ', 'हल्दीघाटी', 'जौहर', 'कुणाल' आदि रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। दूसरी ओर खण्डकाव्य के नाम पर कुछ ऐसे काव्य लिखे गये जिनमें घटना-विशेष की एकपक्षीय झाँकी-मात्र प्रस्तुत की गई है। पाठक को प्रसंग की एक झलक मिलती है और घटना की समग्रता का आभास होते न होते काव्य समाप्त हो जाता है। मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित 'विकट भट', 'अर्जन और विसर्जन' आदि अनेक लघु पद्य-कथाएँ इसी प्रकार की हैं। इन दोनों अतिवादों के बीच एक मध्यवर्तिनी धारा उन काव्यों की है जिन्हें शब्द के सही अर्थ में खण्डकाव्य स्वीकार किया जा सकता है। इन काव्यों में घटना या कथा का तर्कसम्मत विस्तार और तदनुकूल आकार ग्रहण किया गया है। यद्यपि खण्डकाव्य के विषय और रूप-विस्तार के सम्बन्ध में आचार्यों द्वारा किन्हीं नियमों का निश्चय नहीं किया गया, किन्तु महाकाव्य से खण्डकाव्य का व्यावर्तन ही इस बात का प्रमाण है कि दोनों के सीमा-विस्तार में परस्पर अन्तर है और साथ ही केवल एक क्षणिक अनुभूति या प्रसंग को लेकर लिखी जाने वाली कोई लम्बी कविता खण्डकाव्य नहीं हो सकती। खण्डकाव्य में महाकाव्य की सर्वांग-पूर्णता और कविता की एकांगिता, दोनों से भिन्न जीवन के खण्ड-विशेष का अपनी समग्रता में अंकन होना चाहिए।

पाश्चात्य साहित्य में खण्डकाव्य जैसी किसी काव्य-विधा का पृथक् उल्लेख व विवेचन नहीं मिलता, इस प्रकार के काव्यों की परिगणना विद्वानों द्वारा 'नैरेटिव-पोअ्रटरी' अर्थात् समाख्यानात्मक काव्य के अन्तर्गत कर ली गई, और इनके लिए रचना-सम्बन्धी निश्चित नियम भी नहीं बनाये गए, अतः खण्डकाव्य के रूप-विधान के विषय में पाश्चात्य दृष्टिकोण से भी विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। आधुनिक काल में लिखे गए खण्डकाव्यों को रूप-विधान की दृष्टि से दो प्रमुख वर्गों में बाँटा जा सकता है—१. **महाकाव्यात्मक खण्डकाव्य, २. लघु प्रबन्धात्मक खण्डकाव्य।**

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती हैं जिनका रूप-निर्माण महाकाव्य के ढंग पर किया गया है। दूसरे शब्दों में जिनको अन्य विषयादि सम्बन्धी परिसीमाओं के कारण महाकाव्य नहीं स्वीकार किया जाता, परन्तु केवल रूप-विधा की दृष्टि से जिनका विस्तार महाकाव्यानुरूप है। दूसरे प्रकार के खण्डकाव्य हमने वे माने हैं जिनका काव्य-रूप महाकाव्य के समान तो नहीं, परन्तु जो किसी लम्बी प्रबन्धात्मक कविता या काव्य-निबन्ध से भिन्न मध्यम आकार की प्रबन्ध-रचनाएँ हैं। जिनकी शैली विषय की आवश्यकता के अनुरूप समाख्यानात्मक, वर्णनात्मक, विचारात्मक या विश्लेषणात्मक, अथवा भावात्मक है। इनके अतिरिक्त एक तीसरा प्रकार उन रचनाओं का है जिनकी गणना उनकी प्रबन्धात्मकता और कथा-तत्त्व को देखकर खण्डकाव्यों में की जाती है, परन्तु वस्तुतः उनमें एक कथाखण्ड न लेकर प्रसंग-मात्र को ग्रहण किया गया है। उनमें खण्डकथा न होकर आख्यान-मात्र है, जिसमें खण्डकाव्य की अपनी सीमा के अन्तर्गत विद्यमान पूर्णता का अभाव है। इस प्रकार की लघु पद्य-कथा अथवा आख्यान काव्यों का विवेचन व उल्लेख हम खण्डकाव्य के उपरान्त करेंगे। प्रस्तुत विषयारम्भ हम उन बृहद् खण्डकाव्यों के विवेचन से कर रहे हैं जिनका रूप-विधान बहुत-कुछ महाकाव्यानुरूप है।

महाकाव्यात्मक खण्डकाव्य

इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाली रचनाओं की संख्या बहुत नहीं है। वस्तुतः बहुत-सी ऐसी अन्य कृतियों की गणना महाकाव्य के अन्तर्गत कर ली गई है। कारण—इन रचनाओं में खण्ड-कथा को लेकर चलने पर भी शैलीगत कुछ अन्य विशेषताओं के कारण वे महाकाव्य के बहुत निकट हैं, अतः उनकी कथा-सम्बन्धी परिसीमाओं की ओर संकेत करते हुए भी उनका अन्तर्भाव महाकाव्यों में किया गया है—'प्रियप्रवास', 'वैदेही बनवास', 'तप्तगृह' आदि कृतियाँ इसी प्रकार की हैं। जिन कृतियों का विवेचन हम प्रस्तुत प्रसंग में करेंगे उनके काव्य-रूप में बहुत दूर तक महाकाव्य का अनुकरण किया जाने पर भी, तद्विषयक उनकी अनुपयुक्तता इतनी स्पष्ट है कि उन्हें खण्डकाव्य के अतिरिक्त कुछ नहीं माना जा सकता, यद्यपि कुछ कवियों ने उनके मुखपृष्ठ पर स्वयं उनके महाकाव्य होने की विज्ञप्ति की है। इस प्रकार के खण्डकाव्यों में मुख्य रूप से निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है—

गंगावतरण—रत्नाकर
नूरजहाँ—गुरुभक्तसिंह
कुणाल—सोहनलाल द्विवेदी

हल्दीघाटी, जौहर —श्यामनारायण पाण्डेय

कथानक

ऊपर जिन कृतियों का उल्लेख किया गया उन सभी के कथानक ऐतिहासिक अथवा प्रख्यात हैं, और सभी में प्रमुख पात्र के जीवन-खण्ड या घटना-विशेष का वर्णन है। 'गंगावतरण' की घटना राजा भगीरथ की तपस्या के परिणामस्वरूप भागीरथी के अवतरण और माहात्म्य की कथा है। 'नूरजहाँ' में नायिका के जन्म से पुनर्विवाह तक की घटनाएँ हैं, और 'कुणाल' में राजपुत्र कुणाल पर विमाता की आसक्ति और कुणाल की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप घटित होने वाले कुचक्र का वर्णन है। 'हल्दीघाटी' और 'जौहर' का सम्बन्ध मध्यकालीन राजपूती इतिहास की दो गौरव-गाथाओं से है। पहले में राणा प्रताप और मानसिंह के बीच होने वाले हल्दीघाटी के युद्ध की घटना, और दूसरे में अलाउद्दीन की चित्तौड़-नरेश की पुत्रवधू पद्मिनी के प्रति मोहासक्ति, आक्रमण और जौहर का वर्णन है। इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी प्रसिद्ध पात्र या पात्री की सम्पूर्ण जीवन-गाथा को इन कृतियों में विषय नहीं बनाया गया। 'गंगावतरण' और 'कुणाल' के कवियों का इन रचनाओं को महाकाव्य मानने का आग्रह भी नहीं रहा। 'कुणाल' के भूमिका-लेखक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने तो इस विषय में शंका का अवकाश ही नहीं छोड़ा। सम्भावित आशंका का समाधान उन्होंने स्वयं ही कर दिया—

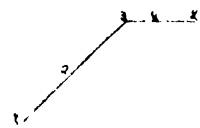
"यों तो साहित्य-शास्त्र की शाब्दिक व्याख्या के अनुसार 'कुणाल' भी महाकाव्य कहा जा सकता है, पर वास्तव में वह एक खंडकाव्य है। उसमें 'कुणाल' के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली एक ही घटना मुख्य रूप से चित्रित है, वह है सौतेली माँ की आसक्ति पर कुणाल की प्रतिक्रिया। इस एक घटना के सूत्र में सारा काव्य सँजोया हुआ है। देश, काल और चरित्र का इतना विस्तार इसमें नहीं है कि इसे हम महाकाव्य कह सकें। किन्तु खंडकाव्य की दृष्टि से यह एक सफल रचना है।"[1]

'गंगावतरण' के कवि ने भी इसे काव्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा। 'हल्दीघाटी' और 'जौहर' दोनों ही काव्यों के मुख-पृष्ठ पर काव्य के नाम के उपरान्त महाकाव्य विशेषण का उल्लेख किया गया है, यद्यपि 'हल्दीघाटी' में प्रताप के अत्यन्त समर्थ और घटनासंकुल जीवन में से एक युद्ध, और इसी प्रकार पद्मिनी के जीवन-काल की अन्तिम घटना को 'जौहर' में काव्य-विषय बनाया गया है। इस प्रकार विषयवस्तु के घटना, देश, काल-सम्बन्धी विस्तार की दृष्टि से ये काव्य खण्डकाव्य ही कहलाएँगे।

वस्तु-विन्यास—इन सभी रचनाओं के कथानक सरल हैं और उनका विकास सम गति से हुआ है। इनमें एक कथा है, उसका एक चरम या प्रमुख कार्य तथा अन्त या फल है। 'गंगावतरण' के अतिरिक्त अन्य सभी कृतियों का अन्त भौतिक दृष्टि से दुःखात्मक है, किन्तु पारलौकिक दृष्टि से उसमें एक उच्चतर फल या उद्देश्य की सिद्धि की व्यंजना है। कथानकों में बहुत मोड़-तोड़, उत्थान-पतन या बहुमुखी संघर्ष की योजनाएँ नहीं हैं। प्रमुख कथा में, प्रमुख पात्रों के मार्ग

१. कुणाल—सोहनलाल द्विवेदी, भूमिका, पृष्ठ २

में विरोधी पक्ष से दिशा-विशेष में बाधा या संघर्ष का चित्रण कवि ने किया है। आरम्भ प्रायः इस संघर्ष के कारणों को भूमिका-रूप में प्रस्तुत करने से होता है। इन निमित्त कारणों से उद्भूत द्वन्द्व बढ़ते-बढ़ते एक ऐसे चरम पर जा पहुँचता है, जहाँ से सफलता या असफलता, एक ओर वह अग्रसर हो जाता है और क्रमशः अन्त या फल तक पहुँचकर कथा समाप्त हो जाती है। इस कथा में उपाख्यानों की योजना से प्रमुख कार्य में बाधक व साधक प्रासंगिक वृत्तों का विधान नहीं किया जाता। अतः खण्डकाव्य के लिए उपयुक्त स्पष्ट, सरल और समप्रवाही कथानक की दृष्टि से वस्तु-विन्यास की यह पद्धति विशेष उपयोगी होने पर भी इसमें महाकाव्य के लिए अपेक्षित संश्लिष्ट, जटिल और महाप्राण कथानक का अभाव ही बना रहता है। अभिप्राय यह नहीं कि इनके कथा-विकास में नाटकीयता नहीं। नाटकीयता का गुण इनमें निश्चित रूप से वर्तमान है, परन्तु आधिकारिक और अनेक प्रासंगिक वृत्तों की जटिल योजना से कार्य-व्यापार में जो सप्राण घात-प्रतिघात उत्पन्न हो जाता है, घटनाओं में झंझावात आ जाता है और वस्तु-प्रवाह टकराता, थपेड़े खाता, विषम गति से आगे बढ़ता है, वह संश्लिष्ट वस्तु-संघटना इनमें नहीं मिलती। इनका कार्य-व्यापार इकहरा विरोध का सामना करता एक चरम की ओर बढ़ता जाता है और इस चरम स्थिति पर निर्णय हो जाने के उपरान्त सम गति से अन्त या फल की ओर अग्रसर हो बह निकलता है। इनमें कार्य-व्यापार की चौथी अवस्था 'कार्य-निगति' का इस प्रकार पर्याप्त संकोच हो गया है। प्रायः चरम घटना के उपरान्त किसी उल्लेखनीय बाधा-शमन के अवसर नहीं आते। रेखा के द्वारा इनकी वस्तु-संघटना को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—



पहली स्थिति में आरम्भ, दूसरी में प्रगति, तीसरी में चरम घटना, चौथी स्थिति निगति का विस्तार कुछ रचनाओं में अपेक्षाकृत अधिक तथा अन्य में कम हो सकता है। 'हल्दीघाटी', 'जौहर' और 'कुणाल' में चरम घटना और काव्य-फल या अन्त के बीच में विशेष अन्तराल या कार्य-व्यापार की योजना नहीं की गई है। 'हल्दीघाटी' में प्रताप और मानसिंह के बीच युद्ध, 'जौहर' में जौहर, और 'कुणाल' में आँखों का अर्पण करना चरम घटना है। इस चरम घटना के उपरान्त काव्य के अन्त में बहुत समय नहीं लगता। 'कुणाल' की भूमिका में इस विषय में शंका भी उठायी गई है—

"कथानक के सम्बन्ध में जैसे एक·····वैसे ही एक प्रश्न अन्त में भी उठता है। वह यह कि कुणाल के निर्वासन और उनके पाटलिपुत्र लौटने के बीच का समय जो कवि के संकेत के अनुसार कितने ही वर्षों का था, अत्यन्त शीघ्र समाप्त क्यों कर दिया गया? निर्वासन की अवधि में 'पथगीत' के अतिरिक्त किसी भी घटना की योजना नहीं की गई। नवम सर्ग में वे गीत हैं और दशम में ही पुनर्मिलन। इनके बीच का कथानक इतना संक्षिप्त है कि कुणाल के निर्वासित

जीवन का यथेष्ट विकास नहीं हो पाया।"[1]

कुछ आगे चलकर इस प्रश्न का समाधान स्वयं ही भूमिका-लेखक ने किया है—

"एक बात यहाँ स्मरण रखनी होगी। यदि कवि घटनाचक्र को स्वच्छंद रूप से बढ़ने देता तो खंडकाव्य न होकर 'कुणाल' महाकाव्य बन जाता। खंडकाव्य में घटनाओं को इतना विस्तार नहीं दिया जा सकता था। इसलिए रचना की सीमा का ध्यान रखते हुए कथानक पर की गई आपत्ति बहुत कुछ निर्बल हो जाती है।"[2]

'हल्दीघाटी' और 'जौहर' में भी मुख्य कार्य के उपरान्त कथा तत्काल अन्त की ओर मुड़ जाती है। 'नूरजहाँ' और 'गंगावतरण' में चरम-घटना और फल के बीच कार्य-व्यापार का अपेक्षाकृत कुछ दूर तक विस्तार किया गया है। 'नूरजहाँ' में शेर अफगन का वध काव्य की चरम घटना और नूरजहाँ व सलीम का मिलन फल है। 'गंगावतरण' में गंगावतरण प्रमुख घटना और पुत्रों का उद्धार फल है। 'नूरजहाँ' में कुछ अस्थायी बाधा नायिका की अपनी मनोवृत्ति से उपस्थित हुई है, जो अत्यन्त महत्त्वहीन है और 'गंगावतरण' में अवतरण की घटना से अन्त तक का अंश गंगा के माहात्म्य-वर्णन से भरा गया है। इस बीच में कोई घटना नहीं घटती। यह संपूर्ण अंश वर्णनात्मक है, जो कुछ लम्बा तो हो गया है परन्तु इस भाग में कथा के कार्य-व्यापार में किसी प्रकार के मोड़, विघ्न-बाधाएँ उपस्थित नहीं होतीं, अर्थात् मुख्य कार्य के उपरान्त ही कथा फलोन्मुख हो जाती है। इस प्रकार ऊपर से दिखाई पड़ने वाला यह अन्तराय वास्तव में अन्तराय नहीं है, क्योंकि इस बीच में कार्य-व्यापार समप्रवाही गति से एक ही दिशा में बढ़ता गया है, उसमें विशेष परिवर्तन नहीं आते। उसके मार्ग या गतिविधि में भी किसी प्रकार का अन्तर प्रस्तुत नहीं होता, एक ही दिशा में घटनाचक्र निर्बाध रूप से बढ़ता जाता है।

अतः इनका वस्तु-विधान नाटकीय परन्तु इकहरा और सरल गति से विकसित होने वाला है।

घटनाओं का स्वरूप—'कुणाल' के कुछ सर्गों को छोड़कर इन सभी काव्यों की घटनाएँ भौतिक हैं, जिनका धरातल नाना रूपात्मक वस्तुजगत् है। घटनाओं का क्षेत्र बाह्य जगत् और उनका रूप सक्रिय है। कार्य-व्यापार कहीं भी तलस्थ या मनोमय नहीं होता। नूरजहाँ, पद्मिनी, प्रताप सभी पात्रों के मन में होने वाले अन्तर्द्वन्द्व की व्यंजना की अपेक्षा, कवियों ने बाह्य क्रिया-कलाप तथा आन्तरिक मनोवृत्ति के सवाक् या सचेष्ट शारीरिक रूप को ही ग्रहण किया है। कहीं भी इन पात्रों के मन में होने वाली भीषण क्रिया-प्रतिक्रिया को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया गया। जौहर से पहले पद्मिनी के, आत्म-समर्पण से पहले नूरजहाँ के, और पराजित प्रताप के अन्तः का निरूपण किसी भी भौतिक या स्थूल घटना से कम सक्रिय या निष्प्राण नहीं होता; परन्तु अमूर्त घटनाओं की मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के आधार पर अभिव्यक्ति का प्रयत्न ही इन कवियों ने नहीं किया है। 'जौहर' और 'हल्दीघाटी' का प्रमुख विषय युद्ध या तत्सम्बन्धी घटनाएँ हैं। इस विषय के वर्णन में प्रत्यक्षता, ओज और उत्साह का भाव है। युद्ध

१. कुणाल—सोहनलाल द्विवेदी, भूमिका, पृ० ४
२. वही, पृष्ठ, ४-५

जैसी स्थूल, ओजमय प्रत्यक्ष घटना को लेकर, अप्रत्यक्ष, अशरीरी, या सूक्ष्म वर्णन सम्भव भी नहीं थे। इसका एक कारण और है—इस प्रकार की घटनाओं में अंकित संघर्ष आन्तरिक, व्यक्ति की अपनी चेतना या मनोवृत्तियों पर विजय के रूप में नहीं हैं, विरोध दूसरे पक्ष से राजनीतिक रंगमंच पर प्रस्तुत हुआ है। 'गंगावतरण' की घटनाएँ तो और भी स्थूल, भौतिक धरातल पर व्यक्त हैं। कवि का दृष्टिकोण ही भिन्न है, जिस कथा का वर्णन वह कर रहा है, उसके अधिकांश पात्र अलौकिक हैं, और उनके प्रति एक निश्चित श्रद्धा-भाव कवि के मन में वर्त्तमान है। इन पात्रों का चरित्र-निरूपण करना, या प्रबन्ध-विन्यास में किसी विशेष चमत्कृति का सायास प्रयत्न करना, अथवा व्यक्ति-वैचित्र्य की चरित्र-चित्रण पद्धति पर उनके अन्तर्द्वन्द्व की व्यंजना करना कवि का लक्ष्य नहीं। वह इन अलौकिक पात्रों और घटनाओं का माहात्म्य-वर्णन करके अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करना चाहता है। इस लक्ष्य के पीछे भी व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा लोक-मंगल और धर्मसिद्धि की कामना अधिक है, यह धर्म व्यक्ति-धर्म नहीं समाज-धर्म है। अतः वही प्रसंग आये हैं जिनका सम्बन्ध प्राणी-मात्र से है। व्यक्ति के धरातल पर उन्होंने अन्तर्वृत्ति-निरूपण का प्रयत्न नहीं किया। कहीं-कहीं गंगा को धारण करने के अवसर पर शिव और गंगा की भाववृत्ति कुछ भाव-चित्रों से अंकित की गई है—

कम्पित गात लखाति प्रेम-पुलकावलि विकसति।
उमगि कंठ लौ आइ बात हिचकी ह्वै निकसति॥[1]

परन्तु इस प्रकार के प्रसंग काव्य में गिनाने मात्र के लिए हैं, वह कवि की शैली नहीं। 'कुणाल' में अवश्य कवि ने अवकाश निकालकर पात्रों की आन्तरिक भावनाओं को शब्दों में बाँधा है। "पाँचवें सर्ग में प्रेम-प्रस्ताव अस्वीकार होने पर तिष्यरक्षिता का अनुताप और छठे में उसका प्रतिशोध दिखाया गया है। ये दोनों सर्ग मनोवैज्ञानिक हैं, इनमें कार्य-व्यापार सतह पर न रहकर तलस्थ और मनोमय हो जाता है।"[2] तिष्यरक्षिता की आत्मपीड़ा व मनोमन्थन का कवि ने अत्यन्त सुन्दर और स्वाभाविक विश्लेषण किया है—

मूढ़ मैं क्यों बन गई, एकान्त ही चुपचाप,
व्यक्त करने चली अपना स्नेह अपने आप,
.....
दोष किसका, नयन का, मन का, कि दैव-विधान ?
किया क्यों यों पास इतने रूप का निर्माण ?
प्रश्न थी मैं ही स्वयं, उत्तर स्वयं अनजान,
हो गई तन्मय न दुविधा का रहा कुछ ध्यान।
.....
हा ! विधाता आज भी यदि यह व्यथा हो शांत,
हो बड़ा उपकार मेरा, बढ़े अघ न नितान्त।

---

१. गंगावतरण—रत्नाकर—द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५६
२. कुणाल—सोहनलाल द्विवेदी, भूमिका, पृ० ३

अन्यथा, इस पाप के ही आवरण के हेतु,
कौन जाने बाँधने कितने पड़े छल-सेतु ?[1]

इस सम्पूर्ण सर्ग में तिरस्कृत नारी के मन की पीड़ा, शंका, क्षोभ, प्रतिशोध—एक शब्द में भावनाओं के विमन्थन का कवि ने विश्लेषण किया है। इन सर्गों में घटित घटनाओं का स्वरूप अमूर्त व मनोमय, तथा रंगमंच अन्तर्मन है। 'कुणाल' के कवि ने भौतिक घटनाओं का वस्तुपरक वर्णन करने के साथ मानसिक घटनाओं का मनोवैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण भी किया है। इस प्रकार 'कुणाल' की विषय-परिधि में मूर्त वस्तुरूप और अमूर्त आत्मरूप, दोनों प्रकार की घटनाओं का अन्तर्भाव है।

वर्णनात्मकता—इन खण्डकाव्यों का आकार-विस्तार वस्तुतः वर्णनात्मक प्रसंगों के द्वारा ही किया गया है। जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है, इनका कथानक एकदेशीय व एक-पक्षीय है। व्यक्ति या सामाजिक जीवन के सर्वांग का उसमें समाहार नहीं, अतः वर्णन भी उन्हीं प्रसंगों के किये गए हैं जिनका कथा से प्रत्यक्ष रूप से कोई सम्बन्ध है। महाकाव्य के समान, वर्णनों में समग्रता तो नहीं, परन्तु क्षेत्र-विशेष में वर्णन-विस्तार की प्रवृत्ति इनमें पर्याप्त मात्रा में मिलती है। 'जौहर', 'हल्दीघाटी' और 'कुणाल' का सम्बन्ध राजनीतिक पक्ष से है। पहली दो रचनाओं में राजनीति की सबसे सक्रिय घटना युद्ध, विषय बनायी गई है, अतः तत्सम्बन्धी सभी प्रसंग—मंत्रणा, सेना, प्रयाण, युद्ध, युद्धस्थल आदि का वर्णन काव्य में मिलता है। जहाँ-तहाँ अवसर निकाल कर प्रकृति, नगर, दुर्ग तथा पारिवारिक प्रसंगों का समावेश कर लिया गया है। इन वर्णनों में नामपरिगणन-शैली की सीमा का स्पर्श करने वाली वर्णनात्मकता तो नहीं, परन्तु वर्णनों में इतिवृत्तात्मक, वस्तुपरक दृष्टिकोण निश्चित रूप से मिलता है। 'हल्दीघाटी' के प्राकृतिक वर्णन कहीं-कहीं विशेष सुन्दर व रमणीय बन पड़े हैं। इन प्राकृतिक वर्णनों में छायावादी विशेषताएं—मानवीकरण, चेतना का आरोप, संश्लिष्ट वर्णन-पद्धति का प्रयोग तो कवि ने नहीं किया परन्तु कतिपय अत्यन्त सुन्दर चित्र अंकित है। युद्ध-वर्णनों में एकाध स्थल पर कवि ने दुराग्रहवश अत्यन्त वीभत्स वर्णन किए है। सम्पूर्ण चौदहवाँ सर्ग इसी प्रकार का है। 'जौहर' में भी कवि ने युद्ध, राजमहल, सम्पूर्ण जौहर के प्रसंग आदि का वर्णन विस्तारपूर्वक अनेक सर्गों में किया है।

'गंगावतरण' में इस प्रवृत्ति की अतिशयता हो गई है। घटनाओं की अपेक्षा गंगा और तटवर्ती स्थानों के माहात्म्य का वर्णन कवि की दृष्टि में अधिक प्रमुख है, अतः एक बार शिवजी की जटाओं से प्रवाहित होने के उपरान्त सगर-सन्तति के उद्धार की अन्तिम घटना तक किसी सक्रिय घटना का अभाव है। उत्तरार्द्ध के अनेक सर्ग—गंगा, निकटवर्ती नगर, ग्रामों, अन्य प्राकृतिक स्थलों, नगर और ग्रामवासियों—जिनमें वासिनियों का वर्णन अधिक है—के सचित्र विस्तृत वर्णनों से युक्त हैं। स्थान, प्रकृति, नगर आदि स्थूल जड़ उपकरणों से लेकर नारियों के रूप-सौन्दर्य, क्रीड़ा-कौतुक तक सभी विषय इनमें आ गए हैं। इनमें चित्रात्मकता भी है, गति और प्रवाह भी, और कहीं-कहीं परिगणन का स्पर्श भी; परन्तु कवि की दृष्टि सर्वत्र वस्तुनिष्ठ है,

१. कुणाल—सोहनलाल द्विवेदी, पृ० ५०-५१

अन्तर्वृत्ति निरूपिणी नहीं।

'कुणाल' में राजनीति का वह रूप अधिक लिया गया है जो संघर्ष और सक्रिय घटनाओं के मूल में, सूत्र-रूप से बाह्य घटनाओं का नियमन करता है। संक्षेप मे यदि कहें तो कहना होगा कि 'कुणाल' की कथावस्तु का सम्बन्ध कूटनीति से अधिक है। कूटनीति की सूत्रधारिणी मानव-बुद्धि, और सक्रिय परिणामों का क्षेत्र वस्तुजगत् होता है, अतः अन्तर्वृत्ति और वस्तुस्थिति, दोनों ही इस प्रकार के काव्य-विषय में आ जाते है, इसलिए अन्तर्मुख वर्णन का अवकाश तो 'कुणाल' में रहा ही है, परन्तु काव्य के आरम्भिक सर्गों में कवि ने भूमिका के रूप में पाटलिपुत्र नगर का वर्णन, कुणाल के बाल्य और तरुण जीवन की झाँकी, और सम्राट् अशोक का वर्णन किया है। खण्डकाव्य की दृष्टि से तीन सर्गों तक कार्य-व्यापार के लिए केवल भूमिका तत्पर करना कुछ अतिरिक्त प्रतीत होता है; परन्तु जिस रूप में इन खण्डकाव्यों का, इस प्रकार के वर्णनों से प्रबन्ध-विस्तार किया गया है, उस दृष्टि से यह बहुत अनुचित नहीं है। ऐसे वर्णनों में कवि का अपना एक उद्देश्य है—बड़े प्रबन्ध या महाकाव्य के लिए अपेक्षित वर्णनात्मक प्रसंगों का समावेश। ऐसे अनेक वर्णनों में विस्तार करके इन कवियों ने महाकाव्य की शैली तथा शिल्प का अनुकरण करने का प्रयत्न किया है।

गति-प्रवाह—किसी विशेष अंश या प्रसंग में इन प्रबन्धों का धारा-प्रवाह विकास बाधित हो, ऐसा तो प्रतीत नहीं होता, परन्तु अनेक प्रसंगों का विस्तार आवश्यकता से कुछ अधिक हो गया है। ऐसे स्थलों पर कार्य-व्यापार या घटनाचक्र में अस्थायी विराम आ जाता है। यद्यपि वर्णनों की रमणीयता तथा शैली की सामर्थ्य के कारण पाठक प्रायः ऊबता नही, फिर भी इन स्थलों पर उसका मन रमण करता है, प्रबन्ध और विशेषकर कथा-काव्य के लिए अपेक्षित जिज्ञासा और उत्सुकता उद्बुद्ध नहीं होती। महाकाव्य में घटनाओं की अनेकता, विविधता और संश्लिष्ट कार्य-व्यापार के कारण तीव्र गति की आवश्यकता होती है और विविध प्रसंगों के वर्णन में उचित अनुपात और वितरण अपेक्षित होता है। खण्डकाव्य में उतनी सचेष्ट वस्तु-योजना और वर्णनों में क्षिप्रता की आवश्यकता, इकहरे कथानक, अल्प घटनाओं, और सम विकास के कारण नहीं होती। परन्तु इसके साथ ही जब अल्पसंख्यक घटनाओं का विस्तार महाकाव्यानुरूप किया जाता है तो कृतिकार का उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है। उसे इस विषय में विशेष सतर्क रहना पड़ता है कि उसकी असावधानी से यदि विभिन्न प्रसंगों में वर्णन की दृष्टि से उचित अनुपात नहीं रहा, तो अनेक स्थलों पर अत्यधिक वर्णन-विस्तार के कारण एकरसता या कार्य-व्यापार में गत्यवरोध उत्पन्न हो जायगा। इन कृतियों में वर्णन के सहारे प्रसंग-विस्तार अनेक प्रसंगों में किया गया है। 'गंगावतरण' में पिछले अनेक सर्गों में गंगा, नगर, प्रकृति, नगरवासियों आदि के वर्णन से काव्य का कलेवर बढ़ाया गया है। 'कुणाल' के आरम्भिक सर्ग इसी प्रकार के हैं। 'नूरजहाँ' में भी मुख्य कथा मे असम्बद्ध एकाध प्रसंगों की योजना की गई है। अनारकली का सम्पूर्ण प्रसंग इसी प्रकार का है। नायक के चरित्र पर प्रकाश पड़ने के अतिरिक्त प्रबन्ध की दृष्टि से काव्य में इस अंश की कोई उपादेयता नहीं। इसी प्रकार आरम्भ में काफिले का वर्णन करते हुए, तथा छठे सर्ग में प्रकृति-वर्णन करते हुए लेखक ने कई पृष्ठ रंगे हैं। 'जौहर' की घटना भी आरम्भ से अन्त तक अनेक सर्गों में वर्णित है। अकेले पद्मिनी की शिव-पूजा के वर्णन में कवि

ने एक पूरा सर्ग लिख डाला है। एक-एक प्रसंग को लेकर इस प्रकार वर्णन-विस्तार करने पर भी इन रचनाओं में कहीं नीरसता या एकरसता उत्पन्न नहीं हुई है। 'गंगावतरण' में अवश्य ही एक बार प्रमुख कार्य के उपरान्त पाठक की जिज्ञासा सर्वथा शान्त हो जाती है। कथा के नाम पर ही बहुत कम रह जाता है, अतः घटनाओं के अदम्य प्रवाह का प्रश्न नहीं उठता। गंगावतरण के उपरान्त घटना-शृंखला टूटकर अन्तिम अंश में फिर जुड़ती है। बीच का भाग गंगा-स्तवन के रूप में किसी स्वतन्त्र रचना के उपयुक्त सिद्ध हो सकता है। इस प्रसंग में घटना-प्रवाह बिल्कुल है ही नहीं। 'नूरजहाँ' के कुछ प्रसंगों में इस दृष्टि से विषयान्तर-सा प्रतीत होने लगता है कि कुछ अंश मुख्य कथा से विशेष सम्बद्ध नहीं जान पड़ते। ऐसे स्थलों को पाठक छोड़कर आगे बढ़ जाना चाहता है। इस प्रकार प्रबन्ध का प्रवाह बाधित तो है परन्तु अवरुद्ध नहीं। 'जौहर' और 'हल्दीघाटी' में ऐसा नहीं हुआ। कारण, काव्य-विषय उत्साहमूलक है, अतः ओजमय वर्णनों के कारण पाठक की रुचि बनी रहती है। इसके अतिरिक्त वर्णन-शैली में कवि ने एक विशेष कौशल से काव्य को एकरस होने से बचा लिया है। जब वह एक ही विषय का वर्णन करने लगते हैं तो एक ही स्थल और स्थिति पर जमे रहने के स्थान पर वह प्रसंग और स्थल प्रायः बदल देते हैं। उदाहरण के लिए जौहर के वर्णन में कवि ने अनेक सर्ग खपाए हैं, परन्तु वह क्रमशः सखियों और पद्मिनी की सज्जा, सौन्दर्य, शृंगार, रतनसिंह से मिलन, रनिवास के पशु-पक्षियों की व्यथा, शिवपूजा और अन्ततः जौहर की घटना का वर्णन करता है। इस प्रकार एक विषय के अनेक पहलू बदल जाने के कारण विविधतावश रुचि बनी रहती है। यह तर्क 'गंगावतरण' के विषय में भी दिया जा सकता है, परन्तु 'गंगावतरण' के जिस प्रसंग की चर्चा हमने पहले की, उसमें और 'जौहर' की इस घटना में अन्तर है। 'गंगावतरण' में पाठक को अवतरण की घटना के बाद कुछ जानने के लिए शेष नहीं रहता, उसकी उत्सुकता सर्वथा शान्त हो जाती है। इसके विपरीत 'जौहर' में इस सम्पूर्ण वर्णन के बाद काव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण और कारुणिक घटना शेष रहती है। पाठक उसी तक पहुँचना चाहता है, और इस बीच में यह अंश उसकी पृष्ठभूमि तत्पर करता है। जब तक यह मध्यवर्ती प्रसंग नीरस या निष्प्राण न हो, काव्य की गति में कोई बाधा, या प्रमाता की जिज्ञासा-वृत्ति पर किसी प्रकार का भार नहीं पड़ता। वह इन प्रसंगों की विविधता, सजीवता, और करुणा के रस में भीगकर अपने लक्ष्य तक पहुंच जाता है। इस प्रकार इन कृतियों में उचित कथा-प्रवाह विद्यमान है। इनकी गति में अदम्य वेग व अबाध गति तो नहीं, परन्तु प्रायः इनकी कथा ऋजु-सरल एवं सम गति से आद्योपान्त प्रवाहित हुई है।

शिल्प

महाकाव्य के अनुकरण की प्रवृत्ति का सबसे अधिक शिकार इनकी शैली ही रही है। शैली-सम्बन्धी बाह्य विशेषताओं की जितनी स्वीकृति इन रचनाओं में हुई उतनी किसी अन्य विशेषता की नहीं। इन सभी काव्यों का सर्ग-विभाजन महाकाव्यानुरूप आठ से अधिक सर्गों में हुआ है। ये सर्ग प्रायः मध्यम आकार के, अर्थात् न बहुत बड़े और न बहुत छोटे हैं। परन्तु कहीं-कहीं स्वतन्त्र सर्ग-योजना के लिए काव्य-विषय पर्याप्त नहीं है। कदाचित् सर्ग-संख्या और काव्याकार बढ़ाने के लिए अत्यन्त छोटे-छोटे प्रसंगों को लेकर स्वतन्त्र सर्ग-रचना की गई है।

'हल्दीघाटी' के चौदहवें सर्ग में केवल युद्धभूमि का युद्धोपरान्त अत्यन्त बीभत्स और घृणास्पद वर्णन है। यह स्वतन्त्र सर्ग केवल चार पृष्ठों में समाप्त हो गया है। इसी प्रकार, आरम्भ में कुछ पात्रों के आत्मपरिचय पूरे-पूरे सर्गों में दिये गए हैं। 'जौहर' में भी एक ही प्रसंग कई सर्गों तक चलता रहता है। 'नूरजहाँ' में व्यर्थ के प्रसंगों से सर्गों की संख्या बढ़ाई गई है। 'कुणाल' में भी एक-एक पात्र का परिचय देने के लिए स्वतन्त्र सर्गों की रचना हुई है। इसी प्रकार निर्वासन-अवधि में राही कुणाल और कांचना के पथ-गीतों पर एक स्वतंत्र सर्ग का विधान किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है, कि सर्ग-संख्या बढ़ाने के आग्रहवश अपर्याप्त विषयों को लेकर स्वतन्त्र सर्ग-विधान इन रचनाओं में किया गया है। ये घटनाहीन अनेक सर्ग न खण्डकाव्य की कथा के लिए उचित हो सकते हैं, न महाकाव्य के लिए।

'जौहर' का विभाजन २१ चिंगारियों, और शेष का सर्गों में हुआ है। 'हल्दीघाटी' में १७ सर्ग, 'नूरजहाँ' में १८, 'कुणाल' में १६, और 'गंगावतरण' में १३ हैं। सर्गों का पृथक् नामकरण 'कुणाल' के अतिरिक्त किसी ने नहीं किया। 'कुणाल' में सर्गों का नामकरण वर्ण्य-विषय (पात्र अथवा घटना) के आधार पर किया गया है। सम्पूर्ण काव्य का नामकरण, प्रमुख पात्र यथा कुणाल और नूरजहाँ, प्रमुख घटना यथा गंगावतरण और जौहर, तथा घटनास्थल यथा हल्दीघाटी के आधार पर किया गया है।

मंगलाचरण की परिपाटी का पालन 'हल्दीघाटी' और 'गंगावतरण' में प्रत्यक्ष और परम्परागत रूप में हुआ है। 'जौहर' के कवि ने मंगलाचरण शीर्षक देकर नहीं, परन्तु नयी पद्धति पर परम सत्ता का स्मरण और स्तवन किया है। मंगलाचरण की यह विधि वन्दनात्मक की अपेक्षा परिचयात्मक अधिक है। अनेक छन्दों में कवि ने सर्वव्यापी निराकार ब्रह्म का परिचय देकर व्याख्या की है और अन्त में अवतार-रूप राम का इस सत्ता से अभेद स्थापित किया है। शेष दोनों रचनाओं—'कुणाल' और 'नूरजहाँ' में सीधे क्रमशः नगर और प्रकृति-वर्णन से काव्यारम्भ हो गया है।

वर्णन-शैली—प्रबन्ध के लिए पूर्व-प्रचलित समाख्यान शैली का प्रयोग 'कुणाल' के अतिरिक्त प्रायः सभी रचनाओं में किया गया है। 'नूरजहाँ' के कुछ प्रसंग अपवाद के रूप में गिनाए जा सकते हैं जहाँ कथा का विकास वर्णन के द्वारा न होकर संवादों के बीच हुआ है, परन्तु यह संवाद प्रायः निर्जीव और असफल हैं। कहीं-कहीं शैली में नाटकीयता है परन्तु ऊँचे स्तर के कलात्मक साहित्य की नहीं, कुछ-कुछ नौटंकी के ढंग पर यह संवाद-योजना की गई है। एक प्रसंग में अत्याचारी शेर-अफगन और विरोधिनी मेहरुन्निसा के बीच जिस संवाद की योजना की गई है, वह इस कथन की पुष्टि में उद्धृत किया जा सकता है—

ऐसी कठोरता लखकर यों बोली आंखें भर कर॥
अपने को मिला दिया है जिसने उसकी हस्ती में।
अपने को मिटा दिया है जिसने उसकी मस्ती में॥
है मस्त हुआ मौला मे मत उस गरीब को मारो।
.....

तब कहा शेर अफगन ने, 'बस थाह अक्ल की पाई।
सच है औरत के हिस्से में नहीं बुद्धि है आई॥
.....
है क्षमा, दया, कमजोरी, दिखलाते उसे जनाने।
तुम आई हो क्या मुझको यह उलटा पाठ पढ़ाने॥
मैं हूँ इक मर्द सिपाही मैं खेल मौत से करता।
होवे खिलाफ दुनिया भी मैं नहीं ज़रा भी डरता॥'[1]

इस संवाद में दो पात्रों के बीच में कथोपकथन के रूप में नियोजित होने के अतिरिक्त नाटकीयता के नाम पर एक भी विशेषता नहीं मिलेगी। 'नूरजहाँ' के अधिकांश संवाद इसी प्रकार विस्तृत वर्णन-शैली में लिखे गए हैं, संक्षिप्त प्रभावात्मक शैली में नहीं। संवाद की सफलता उसकी संक्षिप्तता, चुस्ती, प्रत्युत्पन्नमति और सजीवता में होती है, केवल दो पात्रों के बीच कहे-सुने जाने के कारण नहीं। 'नूरजहाँ' के संवादों में यह गुण कहीं नहीं है। संवाद हैं परन्तु समाख्यान शैली में, अन्तर केवल इतना ही है कि कवि अपनी ओर से वर्णन न कर बीच में पात्र लाकर खड़े कर देता है। एक पात्र बहुत दूर तक अपनी बात कहता रहता है और फिर दूसरा पात्र उतनी ही दूर तक उसका उत्तर देता जाता है। इसी क्रम से कथोपकथन मात्र को नाटकीय शैली का प्रयोग नहीं कहा जा सकता। यह विशेषता कोमल-सरस प्रसंगों में विनियोजित संवादों में भी है। 'जौहर', 'हल्दीघाटी' और 'गंगावतरण' में नाट्य शैली का प्रयोग कहीं नहीं किया गया। 'हल्दीघाटी' और 'जौहर' के कवि ने अनेक उपयुक्त अवसर प्राप्त होने पर भी इस प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं किया। इसी प्रकार गीति शैली के तत्त्वों का प्रयोग इन समाख्यानात्मक शैली में लिखे गए काव्यों में नहीं मिलता। 'हल्दीघाटी' और 'जौहर' दोनों में अनेक कारुणिक प्रसंग होने पर भी, प्रगीत-रचना जो पात्रों की भावाविष्ठ अभिव्यंजना का सबसे उपयुक्त वाहन है—इन कृतियों में नहीं मिलती। दोनों काव्य परोक्ष समाख्यान शैली में लिखे गये है, न उनमें प्रत्यक्ष नाटकीय शैली का प्रयोग है, न आत्माभिव्यंजक प्रगीत-शैली का। पाठक और पात्र के बीच कवि की स्थिति सर्वत्र बनी रही है। प्रगीतों का प्रयोग 'नूरजहाँ' में भी नहीं किया गया।

'कुणाल' इस वर्ग की वह एकमात्र कृति है जिसमें पथ-गीतों के रूप में कुछ सुन्दर कला-गीत ग्यारहवें सर्ग में कवि ने लिखे हैं। इन गीतों में लोक-गीतों की कला का संस्पर्श है। इनकी आत्मा और कला दोनों गीत-रचना के विशेष अनुकूल हैं। कवि ने भाव के आन्तरिक संगीत के साथ स्वर-लय आदि के बाह्य संगीत की योजना भी की है। पंक्तियों का अन्त्यानुप्रास-क्रम व टेक आदि का विधान स्वर-साधना के सर्वथा उपयुक्त है। एक गीत की कुछ पंक्तियाँ हैं—

तुम्हें हो मंगलमय अनुकूल!
न जाना हमें कभी भी भूल!

१. नूरजहाँ—गुरुभक्तसिंह, द्वादश आवृत्ति, पृ० ९५-९६

जो भी शूल मार्ग में हों।
प्रभु कर दे उनको फूल!¹

आगामी सर्ग में कुछ ऐसे पथ-गीतों की रचना कवि ने की है जिनमें लोकगीतों की कला का संस्पर्श है। ये गीत राही को सम्बोधित करके लिखे गए हैं, परन्तु इनकी कला अभिजात्य कला है—

आया सुभग सबेरा,
राही!
अग जग की निद्रा है टूटी
अरुण किरण अंबर में छूटी
किया मलय ने फेरा
राही!
आया सुभग सबेरा!
डाल डाल में फूटी कोंपल
स्वर्णिम, ताम्र नील औ उज्ज्वल
किसने रंग बिखेरा?
राही!
आया सुभग सबेरा!²

'कुणाल' में संवाद भी हैं, परन्तु इन संवादों में सर्वत्र भावप्रवणता है। इनकी आत्मा प्रगीतात्मक है। कुणाल और तिष्यरक्षिता, कुणाल और कांचना तथा अशोक और कुणाल के बीच होने वाले कथोपकथन में भी भावुकता और मृदुता है, जिसका एक कारण प्रसंगों की कारुणिकता भी है। तिष्यरक्षिता के प्रणय-निवेदन में, तिष्यरक्षिता की ओर से रति भाव की अभिव्यक्ति आत्म-निवेदन के रूप में हुई है, और कुणाल माँ के प्रति वाचाल नहीं, अतः इस प्रसंग में भी विशेष सजीवता नहीं है। वस्तुतः इन संवादों में नाटकीयता की अपेक्षा प्रगीतात्मकता, दूसरे शब्दों में नाट्य-गीतात्मकता अधिक है।

काव्य के ऐसे अनेक प्रसंग आत्माभिव्यंजक भावसंकुल शैली में रचित हैं। वस्तु-वर्णन की अपेक्षा आत्मनिरूपण इन प्रसंगों में प्रधान है, परन्तु विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग मनोगत कार्य-व्यापार का वर्णन करते हुए भी नहीं किया गया है। आत्माभिव्यंजन और आत्मविश्लेषण में दृष्टिकोण और शैली का भेद होता है। पहले में अनुभूति की प्रगाढ़ता, भावमयता और अन्तःस्फूर्त अभिव्यक्ति की अपेक्षा है और दूसरे के लिए अन्तःसाक्षात्कार, अन्तर्वृत्तियों का अभिज्ञान और विश्लेषण आवश्यक है। पहली प्रक्रिया अधिक भावमय है दूसरी बौद्धिक भी। 'कुणाल' की शैली पहले ढंग की, अर्थात् प्रगीतात्मक शैली है। अमूर्त की अभिव्यंजना है, वर्णन है, मनोविश्लेषण नहीं।

---

१. कुणाल—सोहनलाल द्विवेदी, पृष्ठ ८९-९०
२. वही, पृष्ठ ९१

अलंकरण—रूप-विधान सम्बन्धी अन्य विशेषताओं के सदृश ही 'कुणाल' के अतिरिक्त अन्य काव्यों की अलंकरण-कला में भी कोई उल्लेखनीय नवीनता नहीं है। रूप, प्रकृति, तथा अन्य विषयों के वर्णन में अधिकतर परम्पराभुक्त अप्रस्तुत-योजना मिलती है। इन कवियों के अलंकार भी अति प्रचलित साम्य और वैषम्यमूलक अलंकार ही हैं। 'हल्दीघाटी' और 'जौहर' में कहीं-कहीं कवियों ने भूले-भटके कुछ नवीन उपमानों का चयन किया है, परन्तु उनका बिम्ब-विधान विशेष तर्कसम्मत और उचित नहीं है। चमत्कारमूलक या चित्रात्मक नवीन अलंकारों का प्रयोग इन्होंने किया ही नहीं हो, ऐसा निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह इनकी शैली नहीं है। ऐसे स्थल इनकी सामान्यतः अभिधा-प्रधान, इतिवृत्तात्मक अभिव्यंजना में अपवाद के समान हैं। विशेष लाक्षणिक प्रयोग प्रतीकात्मकता अथवा व्यंजना का चमत्कार इनकी काव्य-रचना में नहीं मिलता। साधारणतः इनकी शैली स्पष्ट, प्रसादमय, अभिधात्मक और वर्णन-प्रधान है, जिसमें चित्रमयता सर्वत्र नहीं, परन्तु कहीं-कहीं वर्णन-सामर्थ्य के कारण मिल जाती है।

'कुणाल' के कवि ने अपनी अप्रस्तुत-योजना में अवश्य नवीन अलंकरण-पद्धति का परिचय दिया है। मूर्त के लिए अमूर्त अप्रस्तुत-विधान, गुण-साम्य के आधार पर प्रायः किया गया है, जिससे अलंकरण में नवीनता ही नहीं शैली में लाक्षणिक वैचित्र्य भी उत्पन्न हो गया है—प्रभावात्मकता की दृष्टि से जिसकी अपनी विशेषता है। कुछ उदाहरण हैं—

थी प्राचीर धैर्य-सी निर्मित

तथा

तर्क-सी **अलकें लहरातीं,**
दीप्त उन्नत भाल।[1]

इसी प्रकार अमूर्त के लिए मूर्त उपमानों का प्रयोग देखिए—

दूर्वा के नव-नव अंकुर-सी
जगती नव-नव अभिलाषा।[2]

कहीं-कहीं मूर्त के लिए अमूर्त बिम्ब-विधान का आग्रह इतना बढ़ गया है कि वर्णन से पाठक किसी प्रकार का बिम्ब-ग्रहण नहीं कर पाता। मूर्त विषय अमूर्त उपमानों के आवर्त्त में अपना रूप-आकार खो बैठा है। ऐसे स्थलों पर, विशेषकर रूप-वर्णन में अभिव्यंजना का प्राण-तत्त्व—(बिम्ब-ग्रहण कराने की सामर्थ्य) नष्ट हो गया है। किसी विषय का उपमानों के माध्यम से वर्णन करने का उद्देश्य केवल रमणीयता की सृष्टि करना नहीं, बल्कि विषय-सम्बन्धी अपने मन पर पड़े प्रभाव को यथासम्भव समग्रता में काव्य द्वारा प्रत्यंकित कर पाठक तक पहुँचाना होता है। इस उद्देश्य के लिए वह जितनी तर्क-सम्मत अप्रस्तुत-योजना कर पाता है उतनी ही काव्य की प्रेषणीयता में वृद्धि होती है। मूर्त के लिए अमूर्त उपमान का प्रयोग उसकी रूपाकार-सम्बन्धी विशेषता स्पष्ट करने के लिए ही नहीं, क्रिया, गुण व प्रभाव की समानता के आधार पर किया

१. कुणाल, पृष्ठ १९
२. वही, पृष्ठ ३९

जाता है। कहीं-कहीं इस प्रयत्न की अति के कारण चित्रमयता को विशेष आघात पहुँचा है। कवि के शब्दों में नायिका का वर्णन देखिए—

सुन्दरता की नव उपमा-सी,
नायिका नवीन निरुपमा-सी।
लावण्यमयी खिलने वाली,
यौवन की मादक सुषमा-सी।
मानस की मधुमय आशा-सी,
उर की मादक अभिलाषा-सी।
नयनों की नीरव भाषा-सी,
लज्जा की नव परिभाषा-सी ॥[1]

विशेषण-विपर्यय आदि नवीन चमत्कारमूलक अलंकारों का प्रयोग भी कवि ने किया है—

कैसी नीरव पीड़ा पाली ?
क्यों क्रूर बनी भोली भाली।[2]

इसके साथ ही कवि ने यमक आदि शब्द-चमत्कारमूलक अलंकारों के प्रयोग भी किये हैं—

वह अशोक बन गई स्वयं ही,
पाकर पृथ्वीपाल अशोक।[3]

वर्णनों में चित्रात्मकता—अलंकारों की नवीनता या प्राचीनता की अपेक्षा कवि की अपनी अनुभूति की स्पष्टता और अभिव्यंजना में वर्णन-सामर्थ्य पर निर्भर है। 'गंगावतरण' की अप्रस्तुत-योजना प्रायः परम्परासिद्ध होने पर भी चित्रमयता वर्णनों में सर्वाधिक प्राप्य है। वर्णन-क्षमता रत्नाकर की शैली में किसी भी नवीन खेवे के कवि से कम नहीं है। उन्होंने प्रायः स्थिर और कहीं-कहीं सुन्दर गत्यात्मक चित्र अंकित किये हैं। आधार कहीं रूप और रेखा, तथा कहीं वर्ण है। शिव का रूप-चित्रण निम्नांकित पंक्तियों में देखिये—

बाघंबर कौ कलित कच्छ कटि-तट सौं नाध्यौ।
सेसनाग कौ नागबंध तापर कसि बाँध्यौ॥
व्याल-माल सौं भाल बाल-चन्दहिं दृढ़ कीन्यौ।
जटा-जाल कौ झाल-व्यूह गह्वर करि लीन्यौ।[4]

उक्त चित्रांकन का आधार स्थूल उपकरण—रूप और क्रिया है। निम्नलिखित पंक्तियों के गंगा-वर्णन में कवि ने गति को शब्दों में बाँधकर उनमें रंग भरने का प्रयास किया है—

---

१. कुणाल, पृष्ठ ४०
२. कुणाल, पृष्ठ ५७
३. कुणाल, पृष्ठ २
४. गंगावतरण—रत्नाकर, पृष्ठ ६०

सहस-धार सुरधार मिली तिहिं अति आदर सौं,
बिज्जु-छटा मनु छहरि लहरि बिहरी बादर सौं।
किधौं नील-सत-सिखर परी ढरि बिखटि जुन्हाई।
कै मरकत कैं छत्र सेत चामर-छबि छाई ॥[1]

प्राचीन अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि, अत्यन्त सटीक व सुन्दर अप्रस्तुत-योजना के कारण कहीं-कहीं विशेष सुन्दर बन पड़े हैं। अलंकार प्राचीन, परन्तु बिम्ब-विधान नवीन है। उपमा के लिए अप्रस्तुत-चयन देखिये—

हलरति लहर दुरंग संग मिलि-जुलि मनभाई।
तरु-तर ज्यों चल-पत्र-बीच ह्वै परति जुन्हाई ॥[2]

'जौहर' और 'हल्दीघाटी' में इस प्रकार की अभिव्यंजना का अभाव नहीं, परन्तु यह उनकी सहज शैली नहीं है।

छन्द-योजना—छन्द-परिवर्तन की दृष्टि से इन कवियों ने दोनों पद्धतियाँ अपनायी हैं। सम्पूर्ण 'गंगावतरण' एक ही छन्द—रोला में लिखा गया है, और 'हल्दीघाटी', 'जौहर', 'नूरजहाँ' और 'कुणाल' में सर्ग-परिवर्तन के साथ प्रायः छन्द बदल गया है। कहीं-कहीं एक ही छन्द में एकाधिक सर्गों की रचना भी इन कवियों ने की है। सर्ग के अन्त में महाकाव्य-रचना के लिए निर्दिष्ट छन्द-परिवर्तन की रूढ़ि का नियमित रूप से पालन उन कवियों ने भी नहीं किया, जिन्होंने एक ही छन्द में सर्ग-रचना नहीं की है। 'नूरजहाँ' में सर्ग के मध्य में भी जहाँ-तहाँ कवि ने स्वेच्छापूर्वक छन्द-परिवर्तन किया है। 'कुणाल' में एक ही छन्द में सर्ग-रचना करते हुए बीच में गीतों का प्रयोग पात्रों की आत्माभिव्यंजना के प्रसंग में कवि ने किया है। दो स्थलों पर 'नूरजहाँ' में भी कवि ने गीत-रचना की है, परन्तु वह विशेष सफल नहीं हुआ।

छन्दों के प्रकार की दृष्टि से इन कवियों का क्षेत्र सीमित है। आधुनिक काल की अधिकांश काव्य-रचनाओं की भाँति उन्होंने भी प्रायः सम, व उल्लेख मात्र के लिए विषम मात्रिक छन्दों को आधार बनाया है। 'गंगावतरण' की रचना आद्यन्त रोला छन्द में हुई है। 'नूरजहाँ' में छन्द अनेक, परन्तु एक-दो प्रसंगों के अतिरिक्त सभी २८ मात्रा से अधिक मात्राओं के बड़े छन्द हैं। इनमें सार, ताटंक, वीर आदि पूर्वप्रचलित छन्दों, और मणिबन्धक, मत्तसवैया, तथा मानवीय आदि आधुनिक काव्य के लोकप्रिय और नवीन छन्दों का प्रयोग हुआ है। जिन छन्दों के लिए हमने नवीन विशेषण का प्रयोग किया है, उनमें नवीनता इतनी ही है कि उनकी मात्राएँ दंडक वृत्तों के समान होने पर भी उनकी गति और लय आदि का नियमन भिन्न पद्धति पर हुआ है। एक चरण में यति के बहुधा प्रयोग से प्रवाह-अवरोध के स्थान पर पादाकुलक या मानव जैसे किसी छोटे छन्द की एक चरण में दो आवृत्तियाँ की गई हैं। अर्थात् इन छोटे छन्दों के दो चरण मिलकर या एक चरण की दो बार आवृत्ति से इन नवीन छन्दों के एक चरण का निर्माण होता है। मात्राओं का मूल आधार इस प्रकार प्राचीन है। किन्तु नियमों के अपवाद 'नूरजहाँ' में हर रूप

---

१. गंगावतरण—रत्नाकर, पृष्ठ १०३
२. वही, पृष्ठ ९३

में मिलेंगे। न्यूनमात्रा, मात्राधिक्य, अन्त्यक्रम में नियत वर्णों के स्वच्छन्द प्रयोग, तथा यति का निश्चित मात्राओं के स्थान पर आवश्यकतानुसार मनमाना उपयोग आदि छन्द-विषयक स्वेच्छाचरण एक स्वतन्त्र और विस्तृत निबन्ध का विषय हो सकता है। उक्त मत की पुष्टि के लिए उदाहरण बिना आयास के सहज ही इस रचना में प्राप्त किए जा सकते हैं। एक बात और, कवि ने सम्पूर्ण काव्य में चार चरण के छन्दों के स्थान पर युग्मकों का प्रयोग ही अधिक किया है। ऐसा कदाचित् प्रायः बड़ी पंक्ति के छन्द में रचना करने के कारण हुआ है। छोटे छन्दों में शृंगार और प्लवंगम को अपनाया गया है। प्लवंगम में रचना अतुकान्त रूप में भी हुई है और कवि ने अन्त्यक्रम में एक प्रसंग में नव विकर्षाधार अपनाया है। पंक्तियाँ सम हैं परन्तु अन्त्यानुप्रास का क्रमायोजन क. ख. ग. के रूप में हुआ है।

'जौहर' और 'हल्दीघाटी' में भी इसी प्रकार ताटंक छन्द का प्रयोग बहुलता से किया है। उसके साथ वीर, सार, चौपाई, पीयूषवर्ष, हाकली आदि प्राचीन छंदों, और माधव मालती, मणिबंधक, मानवीय, समानिका, मत्तसवैया आदि अपेक्षाकृत नवीन छंदों में भी विविध सर्गों की रचना की है।

'कुणाल' के कवि का आग्रह अधिक मात्रा वाले छन्दों को विशेष रूप से अपनाने का नहीं रहा। बड़े छन्दों में वीर और मत्तसवैया, तथा लघु छन्दों में पद्धरि और रूपमाला, और उसमें भी रूपमाला का प्रयोग कवि ने अधिक किया है। 'कुणाल' में भी सातवें व अन्तिम सर्गों में कवि ने रूपमाला छन्द में युग्मकों की रचना की हैं। चौथे और पाँचवे सर्ग में अन्त्यक्रम क्रमशः क, ख, ग, ख तथा क, क, ख, ख रहा है। जहाँ उन्होंने गीतों की रचना की है, वहाँ छन्द-रचना का आधार विषम मात्रिक छन्द तथा मिश्र छन्द हैं। मिश्र छन्द से हमारा अभिप्राय परंपरागत मिश्र छन्दों से नहीं। कवि ने अपनी रुचि के अनुसार एकाधिक छन्दों की पंक्तियों के विषम विकर्षाधार द्वारा पंक्तियों की क्रमयोजना कर नवीन छन्दनिर्माण किया है।

निष्कर्ष रूप में इन कवियों ने छन्द के क्षेत्र में 'निराला' तथा परवर्ती प्रयोगवादी कवियों के समान आमूल परिवर्तन व क्रान्तिकारी नवनिर्माण तो नहीं किया, परन्तु साथ ही छन्दप्रयोग-सम्बन्धी जो नयी जागृति काव्य-जगत् में उत्पन्न हो रही थी उसके प्रति भी यह कवि-वर्ग उदासीन नहीं रहा। नये छन्दों का इन्होंने उदारता से स्वागत और स्वतन्त्रता से प्रयोग किया है। पुराने छन्दों में भी मात्रा, यति, अन्त्यक्रम आदि के प्रयोग-सम्बन्धी जो स्वच्छन्दता इनकी छन्द-रचना में मिलती है वह इनके रूढ़िमुक्त दृष्टिकोण की परिचायक है।

संक्षेप में, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन कतिपय खण्डकाव्यों में महाकाव्य की वे स्थूल व बाह्य रूप-सम्बन्धी सभी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं जिनका सम्बन्ध शरीर से है। परन्तु बाह्य रूप-विधान में भी दो प्रकार की विशेषताएँ सम्भव हैं। एक आरोपित विशेषताएँ जिनकी स्थिति काव्य-शरीर में आभूषणों के समान हैं। इनमें छन्द, सर्गबद्धता, नामकरण, वर्णन-रूढ़ियों की गणना की जा सकती हैं। दूसरी विशेषताएँ बाह्य होते हुए भी अन्तरंग से अविभाज्य और अभिन्न हैं। उनकी स्थिति अंग-संस्थान और रूप-आकृति के सदृश काव्य-शरीर में अपरिहार्य है। कथावस्तु, प्रबन्ध-संगठना, और वस्तुविन्यास ऐसी ही विशेषताएँ हैं। इन काव्यों में महाकाव्य के लिए अपेक्षित महत् आत्मा का ही नहीं, इस उचित वास्तुकला का भी अभाव

है, अतः आत्मगत और शरीरगत दोनों ही परिसीमाओं को दृष्टि में रखते हुए इन्हें अधिक से अधिक बृहद प्रबन्ध के स्थान पर बृहद खण्डकाव्य या महाकाव्यात्मक खण्डकाव्य कहा जा सकता है।

लघु प्रबन्धात्मक खण्डकाव्य

दूसरे अर्थात् अपेक्षाकृत सीमित आकार वाले खण्डकाव्यों में भी बन्ध की दृष्टि से दो प्रकार की रचनाएँ हुई (क) सर्गबद्ध और (ख) सर्गविहीन। इन रचनाओं में परस्पर इतना ही अन्तर है कि सर्गबद्ध कृतियों में विषय की आवश्यकता के अनुरूप काव्य का विभाजन एकाधिक सर्गों में कर दिया गया है, तथा सर्गविहीन रचनाओं में कथा को सर्गों में विभाजित न करके उसका धाराप्रवाह-रूप में वर्णन किया गया है। इस प्रकार दोनों प्रकार की कृतियों में प्रभाव-सम्बन्धी एक अन्तर आ गया है। सर्गविहीन रचनाओं में अखण्ड प्रभावान्विति और वस्तु-विन्यास में घनत्व है। सर्गबद्ध कृतियों में प्रबन्ध-शृंखला रक्षित तो है किन्तु सारभूत प्रभाव में घनत्व की अपेक्षा विस्तार और विविधता अधिक है। पारिभाषिक शब्दावली का यदि प्रयोग करें तो कहना होगा कि संकलनत्रय के गुणों की रक्षा सर्गविहीन काव्यों में सर्गबद्ध काव्यों की अपेक्षा अधिक सहज सम्भव हो सकी है। इस प्रकार की कोई स्थापना निश्चित रूप से नहीं की जा सकती, उक्त मान्यता दोनों प्रकार के काव्यों के विषय में तुलनात्मक दृष्टि से व्यक्त की गई है, अन्यथा अपवाद दोनों ही प्रकार की रचनाओं में प्राप्त होते हैं। 'मौर्य-विजय' में सर्गबद्धता होते हुए भी स्थान, काल और घटना-ऐक्य की रक्षा की गई है। दूसरी ओर 'तुलसीदास' में घटना-ऐक्य का निर्वाह तो हुआ है, देश और काल-ऐक्य का उतनी ही निश्चितता से पालन नहीं हुआ है, फिर भी काव्य के सारभूत प्रभाव में विशृंखलता या अन्विति-दोष कहीं नहीं है। एक प्रकार की गरिमा और घनत्व समग्र काव्य में प्राप्य है, यद्यपि घटनाएँ भी सर्वत्र अमूर्त हैं।

आकार-भेद से सर्गों में विभाजित अनेक खण्डकाव्यों की रचना इस काल के कवियों ने की जिनमें परस्पर भी पर्याप्त अन्तर है। यह अन्तर जिसकी ओर आगामी पृष्ठों में संकेत किया जायगा विषय, शैली, वस्तु-विन्यास सभी दृष्टियों से है। इस काल के प्रमुख सर्गबद्ध खण्डकाव्यों में रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न', 'मिलन' और 'पथिक', राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के 'जयद्रथ-वध', 'शकुन्तला', 'सिद्धराज', 'किसान', 'नहुष', 'अजित', और उनके अनुज सियारामशरण गुप्त की 'मौर्य-विजय', 'आत्मोत्सर्ग' और 'अनाथ' आदि कृतियों का उल्लेख किया जा सकता है।

ऊपर जिन काव्यों का परिगणन किया गया उनमें स्पष्ट रूप से दो वर्ग हैं—(१) वे खण्डकाव्य जिनमें प्रख्यात कथानक का ग्रहण किया गया है, तथा जिनमें कार्यव्यापार का घटनात्मक वस्तुरूप प्रधान है, (२) वे खण्डकाव्य जिनकी रचना किसी सामयिक समस्या, अथवा अन्य उद्देश्य को लेकर की गयी है तथा काल्पनिक कथा को अपनाकर कवि ने उसके माध्यम से अपना उद्देश्य व्यक्त किया है। पहले प्रकार के खण्डकाव्यों में 'जयद्रथ-वध', 'शकुन्तला', 'सिद्धराज', 'नहुष' 'मौर्य-विजय', 'आत्मोत्सर्ग', और दूसरे में 'किसान', 'अजित', 'स्वप्न', 'मिलन', 'पथिक' और 'अनाथ' की गणना की जा सकती है। विषय-ग्रहण के इस पारस्परिक अन्तर के परिणामस्वरूप इन काव्यों में शिल्प और शैली-सम्बन्धी जो अन्तर उपस्थित हुआ है उसका

आधार यही विषय-सम्बन्धी अन्तर है।

वस्तुविन्यास—प्रथम वर्ग के खण्डकाव्यों में लगभग सभी का वस्तु-विन्यास सुचिन्तित है। 'जयद्रथवध', 'नहुष', 'मौर्य-विजय' और 'आत्मोत्सर्ग' की प्रबन्ध-योजना अपेक्षाकृत अधिक सुगठित है, और 'शकुन्तला' और 'सिद्धराज' का प्रबन्ध-विधान भिन्न शैली पर किया गया है। पहले प्रकार के काव्यों में एक प्रमुख घटना है उसी का आदि, मध्य और अवसान तीनों सुनिश्चित क्रम से कार्य-कारण शृंखला में आबद्ध हैं। 'शकुन्तला' में कार्य-कारण सम्बन्ध तो विच्छिन्न नहीं हुआ परन्तु कवि ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर-सा प्रस्तुत करने के प्रयत्न में बहुत कुछ पाठक की कल्पना पर छोड़ दिया है। काव्य को पढ़ने के उपरान्त ऐसा आभास होता है कि कवि ने यह मानकर इस काव्य की रचना की है कि उसका पाठक 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' की कथा से अवगत है, अतः बहुत कुछ सूच्य और कल्पनापेक्षी है। 'सिद्धराज' के वस्तु-विन्यास में नाटक के तत्त्वों की अपेक्षा उपन्यास के तत्त्वों का उपयोग ही कवि ने अधिक किया है। इस काव्य के पाँच भागों में पाटन-नरेश सिद्धराज के जीवन के पाँच भिन्न प्रसंग हैं। नायक के राजत्वकाल में घटित होने वाली, परस्पर पूर्वापर-सम्बन्ध में आबद्ध घटनाओं का संग्रथन नहीं किया गया बल्कि नायक के उत्तरोत्तर चरित्र-विकास को व्यंजित करने के उद्देश्य से घटनाओं का संकलन और शोध किया गया है। इन पाँच प्रसंगों की सम्बन्ध-भावना को पाठक की कल्पना पर छोड़ दिया गया है। वे परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध से नहीं, प्रधान पात्र के चारित्रिक विकास द्वारा अन्विति-सूत्र में आबद्ध हुई हैं। ये पाँचों घटनाएँ स्वतन्त्र खण्डकाव्य का विषय बनने के लिए पर्याप्त हैं। इस काव्य के प्रबन्ध-शिल्प में नाटकीयता के अनुकूल सम्भाव्यता तथा आवश्यकता के नियमानुसार घटनाओं को बाँधने के स्थान पर, औपन्यासिकता के अनुरूप चारित्रिक विकास व कल्पना के सहारे छोड़ दिया गया है। काव्य के वस्तुविन्यास में निश्चय ही यह शिल्प नवीन है। 'आत्मोत्सर्ग' में कवि ने घटनाओं की सुनिश्चित योजना तो की ही है, घटनाओं के मध्य तत्कालीन सामाजिक व साम्प्रदायिक विद्वेष की वस्तु-स्थिति का भी स्पष्टीकरण बहुत अंशों में किया है। 'स्वप्न', 'मिलन', 'पथिक', 'किसान', 'अजित' और 'अनाथ' आदि काव्यों में समसामयिक राजनैतिक अथवा सामाजिक जीवन से सम्बद्ध समस्याओं को काव्य-विषय बनाया गया है। कवियों ने ये प्रयत्न दो रूपों में किए—सामाजिक व राजनैतिक दुरवस्था का प्रत्यक्ष चित्रण करके काल्पनिक कथा व पात्रों के माध्यम से जनता को जागृत करने का उपक्रम किया, अथवा जीवन के विभिन्न वर्गों और पहलुओं में वर्तमान दुष्कृतियों से पाठक का परिचय कराके विरोध की कामना की व्यंजना मात्र कर दी। रामनरेश त्रिपाठी का प्रयत्न पहले ढंग का और गुप्त बन्धुओं का दूसरे प्रकार का है। विषय और दृष्टिकोण के अनुसार ही इन काव्यों का वस्तु-विन्यास नियोजित है। त्रिपाठीजी के काव्यों के कथानक में यद्यपि प्रेम और राष्ट्रीय-भावना का विचित्र सम्मिश्रण कहीं-कहीं परी देश की कहानी का-सा आभास देने लगता है, किन्तु कथा का आदि, मध्य, अवसान तीनों स्पष्ट और उचित रूप से परस्पर सम्बद्ध हैं; क्योंकि कवि ने काल्पनिक पात्रों के माध्यम से भले ही हो, परन्तु अपना उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है। इसके विपरीत 'किसान', 'अजित', और 'अनाथ' में कथा के विभिन्न प्रसंग, बरबस पात्रों की सृष्टि करके जोड़ दिये गए हैं। कवि एक या अनेक समस्याएँ उभार कर सामने लाना चाहता है। इन

समस्याओं से सम्बन्धित जो प्रसंग काव्य में ग्रहण किये गए हैं उनमें प्रबन्धत्व की दृष्टि से परस्पर प्रत्यक्ष सम्बन्ध या तारतम्य नहीं है। वे एक कथा के विभिन्न अंग नहीं, एक समाज की विविध समस्याएँ हैं। कथा कहना कवि का लक्ष्य भी नहीं, पर वह अपनी बात कहना चाहता है, और विस्तार से, इसलिए वह पात्रों की काल्पनिक सृष्टि करके उनके जीवन में कुछ सैद्धान्तिक मान्यताओं व समस्याओं को व्यावहारिक रूप दे देता है। अलग-अलग प्रसंग इन सामान्य पात्रों के माध्यम से जुड़ जाते हैं, और बिखरा-सा कथानक व उसे जोड़ने वाले पात्र, समाज के वर्ग-विशेष के प्रतीक बन जाते हैं। इस प्रकार पात्र और कथा दोनों ही 'टाइप'-रूप में समक्ष आते हैं, व्यक्ति-रूप में नहीं।

'किसान' और 'अनाथ' में भारतीय कृषक के जीवन की दरिद्रता व दयनीय स्थिति का वर्णन कवि ने किया है। 'अनाथ' की कथा का प्रधान पात्र किसान है और उसके जीवन में घटित होने वाली घटनाएँ बहुमुखी हैं —दरिद्रता, जमींदार के द्वारा अत्याचार, पठान का ऋण, पुलिस और साहूकार के द्वारा बेगार तथा करुणाजनक अन्त आदि अनेक प्रकार की समस्याओं को एक ही व्यक्ति के जीवन में इस छोटे से काव्य में बेतरतीबी से बाँध दिया गया है। इसी प्रकार 'किसान' में, किसान, कुली और सैनिक तीन प्रकार की परिणतियां एक ही पात्र के जीवन में अंकित की गई हैं। ये तीनों प्रकार की समस्याएँ एक ही व्यक्ति कृषक के जीवन में घटित होती हैं, यही इनमें अन्विति है। कथा के विभिन्न भागों में भद्दे जोड़ ज्ञात न हों इसलिए कवि ने आत्म-कथात्मक शैली का प्रयोग किया है। 'अजित' की रचना भी इसी प्रकार जीवनी काव्य के ढंग पर की गई है। पात्र-विशेष की जीवनगत घटनाओं के रूप में कवि ने गांधीवादी जीवनादर्श की उपयुक्तता, व आतंकवादियों के सिद्धान्तों व कार्यों के प्रति अनास्था व्यक्त की है। इसी सिद्धान्त-निरूपण के लिए घटनाओं का उपयोग कर मानवतावादी जीवन-दर्शन का प्रतिफलन काव्य में हुआ है। स्थल निकालकर, सामाजिक विकृतियों का निरूपण भी कवि ने किया है। प्रबन्ध-गुण इस कृति में अन्य काव्यों की अपेक्षा अधिक है क्योंकि घटनाओं का रंगस्थल व पक्ष नहीं बदला है। सभी का सम्बन्ध तत्कालीन राजनैतिक अस्तव्यस्तता से है। कवि ने गांधीवाद और मार्क्सवाद की केवल सैद्धान्तिक व्याख्या न कर व्यावहारिकता की कसौटी पर उनकी सफलता-विफलता सिद्ध की है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विषय-भेद से इन घटनाप्रधान और समस्याप्रधान काव्यों का वस्तु-विन्यास भी भिन्न हो गया है, परन्तु एक तथ्य इन सभी काव्यों के विषय में समान रूप से देखा जा सकता है। इनकी वस्तु-संघटना अनेकांकी नाटक के ढंग पर न होकर एकाधिक दृश्यों में लिखे गए एकांकी नाटक या लघु-उपन्यास के ढंग पर है। इनमें एक कथा प्रधान या आधिकारिक कथा है (एकाध अपवाद को छोड़कर), उसमें अनेक उपाख्यान या प्रासंगिक वृत्तों का योग नहीं होता। इसी आधिकारिक कथा का आरम्भ, मध्य और अवसान तीनों अंकित हैं; किंतु आरम्भ और मध्य, तथा मध्य और अन्त के बीच में प्रासंगिक वृत्तों के द्वारा उत्पन्न लम्बा अन्तराल या दूर तक उतार-चढ़ाव नहीं होता। आरम्भ और यत्न तथा नियताप्ति और प्राप्त्याशा लगभग एकाकार हो गए हैं। इन काव्यों में फल-सम्बन्धी दृष्टिकोण भी महाकाव्यों की भाँति निश्चित रूप से फल-प्राप्ति का न होकर पाश्चात्य दृष्टिकोण के समान संघर्ष और कहीं-कहीं

असफलता-प्राप्ति का भी है। 'पथिक', 'किसान', 'अनाथ' आदि सभी काव्यों में असफलता में ही काव्य का अन्त होता है। इन काव्यों का कथानक फलागम की ओर प्रगति न करके अन्तिम परिणाम या कार्य[1] की ओर ही बढ़ा है। जिन काव्यों में प्रबन्ध-योजना अपेक्षाकृत तर्कसम्मत है उनमें आदि, मध्य और अन्त क्रमशः कारण, कार्य और परिणाम-सम्बन्ध से परस्पर जुड़े हैं, अन्यत्र यह सम्बन्ध उतना स्पष्ट और अनिवार्य नहीं है—'जयद्रथवध', 'नहुष', 'मौर्य-विजय', 'पथिक' आदि का प्रबन्ध-विधान पहले प्रकार का, और 'सिद्धराज', 'किसान', 'अनाथ' आदि का दूसरे प्रकार का है।

घटनाओं का स्वरूप—जिन काव्यों में प्रख्यात या ऐतिहासिक व पौराणिक कथानक को काव्य-विषय बनाया है, उनमें तो घटनाओं का वस्तुनिष्ठ आधार स्पष्ट ही है, परन्तु जिन कृतियों में सामयिक समस्याओं का अंकन किया गया है, उनमें भी उनका बाह्य, मूर्त, वस्तुरूप ही ग्रहण किया गया है, आन्तरिक, अमूर्त, भावात्मक या विचारात्मक आत्मरूप नहीं। अर्थात् इन समस्याओं के द्वारा बाह्य जीवन में उत्पन्न होने वाली विकृतियों का ही चित्रण किया गया है, व्यक्ति के अन्तर्मन में होने वाली क्रिया-प्रतिक्रिया का नहीं। इन सभी काव्यों में कथा के वस्तुपरक आधार की स्पष्ट व अत्यन्त आग्रहपूर्ण स्वीकृति हुई है; किन्तु इन कवियों ने आन्तरिक, अमूर्त, भाव या विचार-सत्यों की अवहेलना की हो, या यथाप्रसंग व्यक्ति के अन्तर्मन का अंकन न किया हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इन सभी काव्यों में आन्तरिक अभिव्यंजना को प्रसंग और पात्र की आवश्यकता के अनुकूल सर्वत्र स्थान मिला है, परन्तु अपेक्षाकृत प्रमुखता मूर्त की ही है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इन कृतियों में उसी प्रकार लक्ष्य नहीं, जिस प्रकार 'तुलसीदास' काव्य के कवि 'निराला' का। इन कवियों ने मूर्त घटनाओं के घात-प्रतिघात में पड़े पात्रों की मनोदशा का अंकन तो रम कर किया ही है, कहीं-कहीं वस्तु-वर्णन की अपेक्षा इनकी वृत्ति भावव्यंजना में अधिक रमी है। किन्तु घटनाओं का ग्रहण उनके मूर्त रूप में ही किया गया है, उनको अमूर्त, आत्मपरक रूप में चित्रित करने का प्रयत्न इनका नहीं रहा। उदाहरण से बात स्पष्ट हो सकेगी—तुलसीदास के जीवन में घटित होने वाली उन घटनाओं के दो स्वरूप संभव थे, जिनको 'निराला' ने काव्य-विषय बनाया। एक उनका वह सक्रिय रूप जो कवि के बाह्य जीवन में घटित हुआ, अर्थात्—कवि के हृदय में जनजागरण की लालसा, पत्नी में अति अनुरक्ति, उसके पीछे ससुराल तक दौड़े जाना, पत्नी की फटकार और तद्जनित प्रतिक्रिया—अर्थात् अति निवृत्ति और गृह-त्याग। इन घटनाओं को कवि ने इस रूप में ग्रहण न कर, इनका अमूर्त आत्मपरक रूप ग्रहण किया है। नायक के हृदयगत विप्लव का विश्लेषण कर उसी के द्वारा मूर्त घटनाओं की व्यंजना की गई है। बाह्य घटनाओं का अंकन न कर उनके आत्मगत कारणों और परिणामों—मन में घटित होने वाली क्रिया और प्रतिक्रिया का ही वर्णन किया गया है। नायक के ऊर्ध्व-संचारी मन के मार्ग के अवरोध, उनके शमन और सफलता-प्राप्ति के वर्णन से मूर्त घटनाएँ व्यंजित होती हैं। इससे भिन्न 'नहुष' तथा 'मिलन', 'पथिक' आदि काव्यों में किये गए प्रयत्न हैं। 'मिलन' और 'पथिक' में वस्तु-चित्रण की अपेक्षा भावव्यंजना अधिक है। कथा-तत्त्व दोनों ही

1. Catastrophe

कृतियों में क्षीण है। विस्तृत वस्तु-वर्णनात्मक शैली के स्थान पर कवि ने संक्षिप्त प्रभावात्मक शैली में पात्रों के मानसिक घात-प्रतिघात व राष्ट्रीय भावनाओं की मिली-जुली व्यंजना की है। प्रकृति-वर्णन के अवसर जहाँ भी कवि को मिले हैं, अनेक पृष्ठों में वह उसके स्फुट और संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करता चला है, परन्तु कथा-सूत्र क्षीण होने पर भी लुप्त नहीं होता। घटनाएँ पर्याप्त हैं परन्तु प्रायः उनके इतिवृत्तात्मक वर्णन से अधिक हृदयगत भावनाओं, अन्तर्द्वन्द्व, व्यक्ति के विचार, चिन्तन आदि के वर्णन में कवि की मनोवृत्ति रमी है। सामाजिक विकृतियों का वर्णन भी सतही और अन्तरंग दोनों रूपों में किया गया है, पर घटनाएँ व कथा गौण या व्यंजित नहीं होतीं। ये स्थल, कथा के प्रसंगों के रूप में चित्रित हैं। इसी प्रकार 'नहुष' के प्रख्यात आख्यान में भी वस्तु-वर्णन के साथ मनोविकारों के विश्लेषण-व्यंजना को पर्याप्त स्थान मिला है। काव्य का अधिकांश आत्मस्थ है। शची की मनःस्थिति की मनोयोगपूर्वक व्यंजना की गई है। वस्तुतः काव्य में नहुष की अधिकार-लालसा और काम-लिप्सा का उसकी पौरुषमयी चेतना के साथ संघर्ष व्यक्त है, जिसका सम्बन्ध अन्तर्मन से ही है। 'जयद्रथवध' का बाह्य स्वरूप आख्यानात्मक होते हुए भी, यह प्रसंग कारुणिक है, अतः उसमें यथावसर आन्तरिक भाव-व्यंजना को भी स्थान मिला है। इसी प्रकार 'किसान' में भी कवि की करुणा का अप्रतिहत तथा मर्मस्पर्शी प्रवाह विद्यमान है। परन्तु फिर भी इन सभी कृतियों में कथा या मूर्त घटना-सूत्र गौण नहीं है। इस प्रकार के सभी भाव या विचार-व्यंजक व आत्मकेन्द्रित प्रसंग कथा में प्रासंगिक रूप में प्रयुक्त हैं, प्रधान या आधिकारिक रूप में नहीं। यह वस्तुगत आधार 'सिद्धराज', 'शकुन्तला', 'आत्मोत्सर्ग', 'अनाथ', 'मौर्य-विजय' और 'अजित' आदि काव्यों में और भी स्पष्ट है। 'मौर्य-विजय', 'सिद्धराज', 'शकुन्तला' आदि की चेतना स्पष्टतः वस्तुगत है। ऐतिहासिक घटनाओं के अनुरूप बाह्य पृष्ठभूमि का निर्माण कवियों ने किया है। 'अजित', 'किसान', 'आत्मोत्सर्ग' आदि काव्यों में समस्याएँ सामयिक होने पर भी कथा का घटनात्मक रूप ही ग्रहण किया गया है, आन्तरिक व मनोवैज्ञानिक सूत्रों के उद्घाटन का प्रयत्न कहीं नहीं किया गया। सामयिक समस्याएँ अपने वस्तुनिष्ठ रूप में प्रस्तुत हैं। जीवन के अन्तरंग की अपेक्षा बहिरंग ने इन कृतियों में अधिक स्थान पाया है।

वर्णनात्मकता—महाकाव्यों या बृहदाकार प्रबन्ध काव्यों की-सी वस्तु-वर्णनात्मकता का समावेश इन काव्यों में न सम्भव था, और न हुआ है। यह इनके विषय और विस्तार की परिसीमा है, जो सर्वथा उचित है। फिर भी विषय की परिधि में रहते हुए प्रकृति, समाज, मानव-रूप-सौन्दर्य, सेना, युद्ध, मंत्रणा आदि राजनीतिक प्रसंग, तथा समस्यात्मक काव्यों में तत्कालीन सामाजिक स्थिति इत्यादि विविध वर्णनीय प्रसंगों के आवश्यकता के अनुकूल कुछ दूर तक सुन्दर वर्णन इन रचनाओं में प्राप्य हैं। जैसा घटनाओं के प्रसंग में पहले भी कहा जा चुका है, आन्तरिक भाव-व्यंजना व मनोविश्लेषण भी इन कृतियों में पर्याप्त है। रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी रचनाओं में प्राकृतिक प्रसंगों का विशेष भावमय वणन किया है। यथावसर अनेक पृष्ठ प्राकृतिक रमणीयता व सुषमा से रंजित हैं। 'सिद्धराज', 'आत्मोत्सर्ग', 'अनाथ', 'अजित' आदि काव्यों में राजनैतिक और सामाजिक वर्णन पर्याप्त हैं। मानव-जीवन के अंतरंग और बहिरंग दोनों ही पक्ष इन वर्ण्य-विषयों में अन्तर्भूत हैं। प्रधानता बाह्य अर्थात् मूर्त की ही है।

शिल्प

सर्ग-विभाजन—इन काव्यों का विभाजन हुआ है, परन्तु सर्वत्र सर्गों में नहीं। कहीं यह विभाजन परिच्छेदों में हुआ है और कहीं प्रसंग के आधार पर शीर्षकों में। 'जयद्रथवध', 'सिद्धराज', 'मौर्य-विजय', 'नहुष' तथा 'पथिक' का विभाजन सर्गों में हुआ है। 'मिलन' और 'अजित' परिच्छेदों में विभाजित हैं। सियारामशरण गुप्त ने कोई नाम न देकर 'आत्मोत्सर्ग' व 'अनाथ' का विभाजन क्रमशः तीन और चार भागों में किया है, तथा 'शकुन्तला' और 'किसान' वर्ण्य-विषय के आधार पर शीर्षकों में बद्ध हैं। कहीं-कहीं एक ही पृष्ठ के उपरान्त शीर्षक बदल गया है।

सर्ग-संख्या के विषय में इन कवियों ने कोई निश्चित संख्या या क्रम-बन्ध स्वीकार नहीं किया। तीन से लेकर सत्रह तक इनकी सर्ग-संख्या का संकोच और विस्तार हुआ है। सर्गों का पृथक् नामकरण अधिकांश कृतियों में नहीं किया गया। केवल 'नहुष' के कवि ने सर्गों में विभाजन करके उनका नामकरण पात्रों या घटना के आधार पर किया है, अन्यथा प्रसंग के आधार पर शीर्षकों में 'शकुन्तला' और 'किसान' के कवियों ने ही कथानक को बाँधा है। जो रचनाएँ सर्गों या परिच्छेदों में विभाजित हैं उनमें सर्गों का पृथक् नामकरण नहीं किया गया।

नामकरण—काव्य के नामकरण के लिए सामान्यतः प्रचलित परिपाटी को ही अपना लिया गया है और प्रधान पात्र या प्रमुख घटना के आधार पर नामकरण किया गया है। अन्य वर्णन-रूढ़ियाँ जिनका निर्देश महाकाव्यों के लिए किया गया था पूर्ण रूप से इन काव्यों में परिपालित नहीं हैं, और ऐसा आवश्यक भी नहीं था। इन रूढ़ियों की अवहेलना तो इस युग के महाकाव्यकारों ने भी कर दी थी। कुछ कृतियों में संस्कारवश कवियों ने फिर भी मंगलाचरण का विधान किया है।

वर्णन-शैली—शैली की दृष्टि से इन कवियों ने प्रधान रूप से दो प्रकार की रचनाएँ की हैं। उत्तम पुरुष में प्रमुख पात्र-द्वारा प्रत्यक्ष आत्मकथात्मक समाख्यान-शैली में, तथा अन्य पुरुष में कवि द्वारा परोक्ष वर्णन-शैली में। समाख्यान (narration) की प्रवृत्ति दोनों शैलियों में समान रूप से विद्यमान है। 'किसान' और 'अजित' पहली, और शेष कृतियाँ दूसरे प्रकार की शैली में लिखी गई। कवि ने जीवनी के ढंग पर आत्मपरिचयात्मक शैली का प्रयोग सम्भवतः काव्य में अन्यथा परस्पर असम्बद्ध घटनाओं को प्रबन्ध-सूत्र में बाँधने के लिए ही किया है। जीवन के विविध पक्षों में घटित होने वाली ये घटनाएँ एक ही कल्पित पात्र के जीवन के प्रसंग होने के कारण परस्पर सम्बद्ध ज्ञात हों, इसीलिए वे एक ही जीवनी के विविध प्रसंगों के रूप में प्रस्तुत की गई हैं।

सामान्यतः समाख्यानात्मक शैली के बीच में विशेषतः संवादों के रूप में नाट्य-शैली का प्रयोग अनेक प्रसंगों में इन कवियों ने कौशल से किया है। सभी कृतियों में यदा-कदा दो पात्रों के बीच वार्ता का विवरण प्रस्तुत न कर कथोपकथन की योजना की गई है, परन्तु 'नहुष' और 'सिद्धराज' काव्यों में इस शैली का बहुलता से सुरुचिपूर्ण प्रयोग है। पात्रों का मनोविश्लेषण, आत्माभिव्यंजन तथा कथावस्तु का विकास भी 'नहुष' में संवादों के द्वारा हुआ है। कहीं-कहीं सुन्दर नाटकीय व्यंग्य की योजना की गई है। संवादों का प्रमुख गुण सजीवता सर्वत्र विद्यमान

है। 'सिद्धराज' में भी वर्णनात्मक स्थलों और कतिपय सूच्य कथांशों के अतिरिक्त कथा प्रायः संवादों के द्वारा ही विकसित हुई है। वर्णनात्मकता भी इस काव्य में कम नहीं, अनेक लम्बे वर्णनात्मक स्थलों के लिए कवि ने अवकाश निकाल लिया है, परन्तु नाट्य गुण इस कृति में प्रचुर है।

आधुनिक काल की विशेष लोकप्रिय गीति-शैली का प्रयोग इन काव्यों में कहीं नहीं हुआ। 'पथिक', 'मिलन' आदि में कुछ विशेष पात्रों की भावाभिव्यंजना के प्रसंग में अन्तर्मुखी दृष्टिकोण, भावद्रवणता, अन्तःस्फूर्त भावोच्छ्वास आदि प्रगीत के तत्त्व तो प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु शिल्प की दृष्टि से गीत के टेकनीक का प्रयोग इन कवियों ने कहीं नहीं किया। विचित्र बात है, 'साकेत', 'यशोधरा' आदि बृहद् प्रबन्ध रचनाओं में अनेक सुन्दर गीतों की रचना करने वाले राष्ट्रकवि गुप्तजी ने भी अपनी इन रचनाओं में, इस ओर से उदासीनता का ही परिचय दिया है। पात्रों की आत्माभिव्यक्ति के अनेक स्थलों में, बाह्यार्थनिरूपण के स्थान पर इन कवियों की दृष्टि आत्मपरक और अन्तर्वृत्ति-निरूपिणी तो हो गई है, परन्तु स्वर के बाह्य संगीत की साधना इन्होंने नहीं की।

ये सभी कृतियाँ सीधी-सादी प्रसादगुणमय इतिवृत्तात्मक शैली में लिखी गई हैं। प्रसंग के अनुकूल करुणा, प्रेम आदि का माधुर्य, और वीरता का उत्साह व ओज भी इनमें समाविष्ट है, परन्तु एक विशेष प्रकार की स्पष्टता, स्फीतता और वस्तुनिष्ठ वर्णन की प्रवृत्ति सर्वत्र इनकी शैली में है। लक्षणा-व्यंजना के अतिशय प्रयोग, वर्णन की वक्रता, अनेक भंगिमाओं से युक्त कथन की शैली के अभाव से, एक ओर जहाँ कल्पना-विलास, अलंकरण-कला के वैभव और श्री से ये कृतियाँ वंचित रह गई हैं, वहाँ इस प्रसादमयता से एक प्रकार की स्पष्टता, सहज बोधगम्यता, निर्बाधगति और प्रभावोत्पादकता इनमें उत्पन्न हो गई है, जिसका अपना आकर्षण है। हम इनकी कला पर मुग्ध होने की अपेक्षा उससे प्रभावित अधिक होते हैं। इनकी शैली में हृदय को रमाने की अपेक्षा स्पर्श करने का गुण अधिक है।

अलंकृति—उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि इनकी कला सर्वथा अनावृत या अनलंकृत कला है। इस कला का सौन्दर्य वन्य या ग्राम्य सौन्दर्य का समकक्षी भी नहीं, उसमें नागर भाव है परन्तु अतिशय अलंकृति नहीं। अधिकांश स्थलों पर अलंकारों का प्रयोग परम्परानुमोदित है। शब्दालंकारों की चमत्कारप्रधान परम्परा तो नहीं, किन्तु अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, अपह्नुति आदि प्रचलित अलंकारों का ही प्रयोग अधिक मिलता है। अपेक्षाकृत नवीन अलंकारों—मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय आदि का मोह इन कवियों ने नहीं दिखाया। मूर्त-विधान में भी किसी प्रकार की उल्लेखनीय नवीनता उपलब्ध नहीं होती। चित्रमयता का गुण भी सर्वत्र तो नहीं परन्तु यत्र-तत्र वर्णनों में मिल जाता है। 'नहुष' में यह गुण विशेष रूप से विद्यमान है। कहीं-कहीं कवि ने अलंकृत शब्द-चित्र अंकित किये हैं। प्रकृति, मानव-सौन्दर्य, स्थान, वातावरण सभी के चित्र यथाप्रसंग अंकित हैं। इस कला का अवकाश उन रचनाओं में अधिक रहा है जिनमें कथा का वस्तुगत आधार स्पष्ट है। जहाँ समस्या काव्य-विषय है, वहाँ इस प्रकार का प्रयत्न कम हुआ है।

छन्द-विधान—इस सम्बन्ध में दो विशेषताएँ विवेच्य हैं : (१) छन्द-परिवर्तन की पद्धति (२) रचना के लिए गृहीत छन्दों के आकार। छन्द-परिवर्तन का जहाँ तक प्रश्न है, इन

कवियों ने, आद्योपान्त एक छन्द में काव्य-रचना, और पृथक् छन्दों में सर्ग-रचना—दोनों ही प्रणालियाँ अपनायी हैं। 'जयद्रथवध' की रचना आद्यन्त हरिगीतिका छन्द में, 'अजित' की रोला छन्द में, 'मिलन' और 'पथिक' की क्रमशः सरसी और सार छन्द में, तथा 'नहुष' और 'सिद्धराज' की क्रमशः तुकान्त और अतुकान्त अमित्राक्षर या हिन्दी छन्द-शास्त्र की शब्दावली में घनाक्षरी के उत्तरचरणार्द्ध में हुई है। 'किसान', 'शकुन्तला' और 'अनाथ' में प्रत्येक प्रसंग या सर्ग के उपरान्त छन्द-परिवर्तन हो गया है, परन्तु सर्ग के बीच में छन्द नहीं बदला है। प्रकार की दृष्टि से 'नहुष' और 'सिद्धराज' के अतिरिक्त इन सभी काव्यों में हिन्दी के प्रचलित मात्रिक छन्द अपनाए गए हैं, जिनमें प्रयोग-सम्बन्धी भी कोई विशेष नवीनता नहीं। कहीं-कहीं पंक्ति के अन्त में निर्दिष्ट गुरु-लघु के क्रम का व्यतिक्रम हो गया है और कहीं यति का प्रयोग गति और विषय की आवश्यकता के अनुकूल स्वच्छंदतापूर्वक किया गया है, अन्यथा मात्राओं का निर्वाह प्रायः नियमानुकूल ही हुआ है। गुप्तजी ने 'मेघनादवध' का अनुवाद करते हुए बंगला के पयार छन्द के वज़न पर जिस १५ वर्ण के अमित्राक्षर छन्द का प्रयोग किया था 'नहुष' में उसी का तुकान्त और 'सिद्धराज' में अतुकान्त रूप प्रयुक्त है। सौभाग्य से हिन्दी के घनाक्षरी छन्द की गति इस छन्द के समान ही है। इसलिए इस छन्द को घनाक्षरी का उत्तरचरणार्द्ध भी कहा जा सकता है। छन्द की आकार की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में यह छन्द निश्चय ही नवीन प्रयोगों में से है। अविद्यमान की सृष्टि की दृष्टि से नहीं, तो विद्यमान में परिवर्तन की दृष्टि से यह प्रयोग इसी युग की देन है।

सर्गविहीन खण्डकाव्य—सर्गबद्ध खण्डकाव्यों के समानान्तर अनेक सर्गविहीन खण्ड-काव्यों की भी रचना आधुनिक काल में हुई। जैसा सर्गबद्ध काव्यों के प्रसंग में पहले भी संकेत किया जा चुका है, इन दोनों प्रकार के खण्डकाव्यों में पारस्परिक अन्तर केवल सर्ग में बाँधने या न बाँधने का ही नहीं है, यह अन्तर स्वयं कारण न होकर परिणाम है—वस्तु-विन्यास सम्बन्धी उस विशेषता का, जिसके फलस्वरूप कुछ दूर तक अखण्ड धाराप्रवाह-रूप में काव्य-रचना करने की आवश्यकता इन कवियों को प्रतीत हुई। यहाँ वस्तुविन्यास-सम्बन्धी विशेषता से हमारा तात्पर्य काव्य के लिए गृहीत घटना के स्वरूप, उसके विस्तार, प्रबन्ध-संगठन और काव्य के वस्तुशिल्प-सम्बन्धी सारभूत प्रभाव से है।

सर्गविहीन खण्डकाव्य-रचना की शैली सर्गबद्ध खण्डकाव्यों की अपेक्षा, कवियों में अधिक लोकप्रिय रही। संक्षिप्त कथानक में प्रभाव की एकाग्रता, घनत्व और प्रबन्ध-निर्वाह की दृष्टि से कदाचित् इन कवियों को यही पद्धति अधिक रुचिकर प्रतीत हुई। इसीलिए इस युग के अधि-कांश खण्डकाव्य इसी सर्गविहीन प्रणाली पर लिखे गए। इस प्रकार के खण्डकाव्यों की संख्या प्रचुर है। मैथिलीशरण गुप्त की 'रंग में भंग', 'वक-संहार', 'वन-वैभव', 'पंचवटी', 'सैरन्ध्री', 'हिडिम्बा', 'युद्ध', 'कर्बला', 'प्रदक्षिणा', कवि प्रसाद की 'प्रेम-पथिक' और 'महाराणा का महत्त्व' रत्नाकर का 'उद्धव-शतक', कवि पन्त की 'ग्रन्थि', 'निराला' की 'तुलसीदास', बच्चन की 'बंगाल का काल' तथा अश्क की 'बरगद की बेटी' व 'चाँदनी रात और अजगर' आदि रचनाएँ इसी प्रकार के सर्गविहीन खण्डकाव्य हैं।

ऊपर जिन काव्यों का उल्लेख किया गया है उनमें से गुप्तजी की सभी रचनाएँ तथा

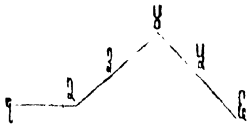
कुछ अतिरिक्त विशेषताओं के साथ कवि प्रसाद के 'प्रेम-पथिक' और 'महाराणा का महत्त्व' तथा अश्क का 'बरगद की बेटी' कथात्मक या घटनाप्रधान खण्डकाव्य कहे जा सकते हैं। शेष रचनाओं में एक बात समान है—घटनाओं के वस्तुरूप अंकन का या तो एकमात्र अभाव है, अथवा मूर्त की अपेक्षा अमूर्त की प्रधानता है यथा 'ग्रन्थि' और 'तुलसीदास' में। मूर्त घटनाएँ निमित्त मात्र हैं, कथा कहना या वस्तुस्थिति को स्पष्ट करना कवि का लक्ष्य नहीं, इतिवृत्त के माध्यम से वह किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन या किसी भाव की व्यंजना करना चाहता है—ऐसा 'उद्धव-शतक', 'बंगाल का काल', और 'चाँदनी रात और अजगर' में हुआ है। ये कृतियाँ केवल इसी विशेषता में समान हैं कि सभी में अमूर्त घटनाओं, विचार या भाव की प्रधानता है। इनकी घटनाओं का रंगस्थल बहिर्जगत न होकर पात्रों का अन्तर्मन है या कवि के विचार अथवा किसी पात्र की अनुभूति, काव्य का प्रेष्य है। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध-विषय, उसके नियोजन और निर्वाह की विधा परस्पर भिन्न है। इस वैषम्य और साम्य का विश्लेषण यथाप्रसंग आगामी पृष्ठों में किया जायगा। पहले हम घटनाप्रधान खण्डकाव्यों से आरम्भ करेंगे।

घटनाप्रधान खण्डकाव्य—कवि प्रसाद के 'प्रेम-पथिक' और अश्क के 'बरगद की बेटी' को छोड़कर शेष सभी का कथा-आधार इतिहास अथवा पुराणसम्मत, या प्रख्यात है। इनके कथा-स्रोत—महाभारत के विविध आख्यान, रामायण, मध्यकालीन इतिहास हैं, तथा कर्बला की कथा का आधार इस्लाम धर्म का इतिहास है। 'प्रेम-पथिक' एक कल्पित प्रेम-कहानी है। कथा के साथ कवि का एक अन्य लक्ष्य भी रहा है। लौकिक धरातल पर व्यक्ति के प्रेम से आरम्भ कर काव्य के उत्तरांश में इस प्रेम का उदात्तीकरण और उन्नयन किया गया है। व्यक्ति के प्रेम की परिणति विश्व-प्रेम में करने का प्रयास है। इसी आत्मविस्तार से चिरस्थायी आत्मतोष की उपलब्धि सम्भव है, यही इस काव्य की प्रबन्ध-ध्वनि है। परन्तु यह संदेश निहित होने पर भी आख्यान-तत्त्व गौण नहीं हुआ। सम्पूर्ण काव्य में भावप्रवण अभिव्यक्ति के मध्य भी कथा का वस्तुरूप आधार सुस्पष्ट है। 'बरगद की बेटी' का आधार भी कोई कल्पनारंजित लोक-कथा है। शोषित वर्ग (चरवाहों) की कन्या लहराँ का अपनेपन की रक्षा करते हुए प्रेम के लिए आत्म-बलिदान कर देना, इतनी ही इस काव्य की कथा है, जिसकी घटनाएँ मूर्त रूप में वर्णित हैं। कवि की सहानुभूति शोषित वर्ग के साथ है, और कथा की लपेट में ज़मींदार और किसान के संघर्ष की समस्या भी अंकित है।

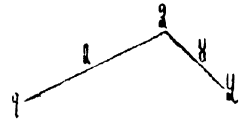
वस्तु-विन्यास—इन रचनाओं की प्रबन्ध-योजना में कहानी के टेकनीक का प्रयोग किया गया है। 'प्रदक्षिणा' इस प्रवृत्ति का एकमात्र अपवाद है—शेष सभी कृतियों के वस्तु-विन्यास में कहानी वाली पद्धति प्रयोग में लाई गई है। कहानी के कार्य-व्यापार में महाकाव्य की-सी आधिकारिक और प्रासंगिक कथा-सूत्रों की जटिल प्रबन्ध-योजना, और नानारूप संघर्ष से युक्त उतार-चढ़ाव तो होता ही नहीं, एकार्थ कथा के निरूपक लघु उपन्यास या प्रबन्ध काव्य का-सा वस्तु-विन्यास भी इसमें नहीं होता। कहानी में चरम-घटना और अन्त प्रायः एक ही साथ घटित होते हैं। जीवन का एक खण्ड नहीं, उसका एक प्रसंग, एक अंश, या एक चित्र कहानी का विषय होता है। आरम्भ इसी विषय की भूमिका से होता है, यह भूमिका व्याख्या में या बीज बिन्दु में परिणत हो जाता है। इस स्थिति के उपरान्त पताका, प्रकरी या अन्य किसी प्रकार के उल्लेखनीय प्रासं-

गिक वृत्त का योग नहीं होता। चरम घटना घटित होती है और उसी के साथ पटाक्षेप हो जाता है। कहानी का अन्त फल-प्राप्ति में न होकर दुःखद परिणाम में भी हो सकता है। वस्तु-विधान में इस प्रकार फल और चरम घटना (climax & catastrophe) एक ही साथ घटित होते हैं। रेखाओं के द्वारा महाकाव्य, वृहद् प्रबन्ध काव्य और लघु खण्डकाव्य के वस्तुविन्यास का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

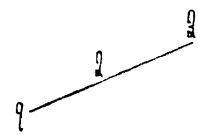
महाकाव्य



वृहद् प्रबन्ध काव्य
या महाकाव्यात्मक खण्डकाव्य



लघु खण्डकाव्य



जिन घटनात्मक खण्डकाव्यों का हमने उल्लेख किया, उनका वस्तुविन्यास उक्त कहानी वाली पद्धति पर ही हुआ है। कुछ उदाहरणों से हम व्यक्त धारणा को स्पष्ट एवं पुष्ट करेंगे। गुप्तजी की 'पंचवटी', 'वन वैभव', 'वक-संहार', 'सैरन्ध्री' आदि कृतियों में नायक के जीवन-खंड से एक विशेष प्रसंग या एक घटना को कवि ने काव्य-विषय बनाया है। 'पंचवटी' में लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा के विकलांग किये जाने का प्रसंग, 'सैरन्ध्री' में कीचक-वध की घटना, 'वक-संहार' में भीम-द्वारा पांडवों के अज्ञातवास में बकासुर-वध, 'वन-वैभव' में गन्धर्वों से कौरव-कुल-रक्षा आदि का वर्णन है। ये घटनाएं राम और पांडवों के वनवासी जीवन का, जो उनके समग्र जीवन का एक खण्ड है, एक अंश या प्रसंग मात्र है। 'पंचवटी' की चरम घटना शूर्पणखा के विकलांग किये जाने की घटना है। 'सैरन्ध्री' की चरम घटना कीचक-वध है एवं 'वन-वैभव' की यक्षों से कौरवों की रक्षा। 'वक-संहार' में वकासुर-वध, 'कर्बला' में इमाम हुसेन का संघर्ष, 'प्रेम-पथिक' में चिरवियुक्त प्रेमियों का मिलन आदि चरम घटनाएं है। यदि ध्यान से देखें तो ज्ञात होगा कि यह चरम घटना काव्य के फल से अभिन्न है। 'वक-संहार' में तो यह घटना घटती भी नहीं, अन्त में केवल उसकी कार्यान्विति की ध्वनिमात्र है। इन काव्यों में जो रचना का चरम है वही उसका फल भी है।

कुछ अन्य कृतियों में चरम घटना और फल की पारस्परिक अभिन्नता उतनी अतर्क्य नहीं। इनमें चरम घटना और काव्य-फल में कुछ अवकाश आ गया है। चरम घटना के पीछे-पीछे काव्य-फल लगा रहा है परन्तु वह उसका तत्काल अनुवर्ती है उससे अभिन्न नहीं। 'हिडिम्बा' की चरम घटना भीम और हिडिम्ब का परस्पर युद्ध, और फल हिडिम्बा-प्राप्ति है, 'महाराणा का महत्त्व' में खानखाना की पत्नी का महाराणा के साथियों द्वारा बन्दी किया जाना उसकी चरम घटना है और अकबर एवं महाराणा के बीच सन्धि, उसका फल। इस प्रकार इनके वस्तु-विन्यास में चरम-घटना और फल अभिन्न नहीं परन्तु फल चरम घटना का तत्काल अनुवर्ती है। दोनों में विशेष अन्तर या कार्य-व्यापार में क्रमिक निगति नहीं हुई है। दोनों अभिन्न नहीं परन्तु पूर्वापर-क्रम से जुड़े हुए हैं। 'बरगद की बेटी' में चरम और फल के बीच का यह अन्तराय कुछ और अधिक बढ़ गया है। लहरां के प्रेमी अनवर का उसके नौकर सादिक-द्वारा वध और लहरां को घायल करना,

इस काव्य की चरम घटना है, और ज़मींदार के वध के उपरान्त लहरा की आत्महत्या काव्य की अन्तिम घटना है, परन्तु यह न चरम से अभिन्न है और न उसकी तत्काल अनुवर्तिनी। चरम घटना के उपरान्त कथावस्तु में क्रमशः परिणाम की ओर निगति है। इसके बीच ज़मींदार के कोपभाजन—चरवाहों पर अत्याचार, लहरा का ज़मींदार के घर लाया जाना, उसके प्रति ज़मींदार का प्रेम-प्रदर्शन और परिणामतः लहरा द्वारा उसका वध आदि घटनाएँ घटती हैं। इनमें क्रमिक विन्यास और विकास है, सहसा पटाक्षेप नहीं।

'रंग में भंग' और 'प्रदक्षिणा' का वस्तु-विन्यास कुछ भिन्न ढंग का है। 'रंग में भंग' की कथा में प्रबन्ध-योजना खण्डित है। घटनाओं का क्रमिक विकास अनवरुद्ध सहज गति से नहीं होता। कथा में स्पष्ट रूप से दो घटनाएँ हैं—चित्तौड़ के महाराणा का विवाहोपरान्त अपने श्वशुर से विग्रह, और चित्तौड़ के नकली किले की रक्षा करते हुए हाड़ा-कुम्भ की मृत्यु। कथानक का अनुबन्ध सर्वथा शिथिल है। दोनों घटनाएँ परस्पर अविभाज्य वस्तु-सम्बन्ध में नहीं बाँधी गई। यदि कहें कि दोनों के बीच भद्दा जोड़ है तो ऐसा कहना भी अनुचित होगा, वस्तुतः दोनों में जोड़ है ही नहीं। पहली कारण है दूसरी परिणाम, परन्तु दोनों दो खण्डों में विभक्त हैं और पहली से दूसरी की ओर बढ़ते हुए तारतम्य झटके से टूट गया है।

'प्रदक्षिणा' को शब्द के सही अर्थों में खण्डकाव्य कहा ही नहीं जा सकता। डा० कमलाकान्त पाठक ने अपने शोधप्रबन्ध में इस काव्य को एक स्थल पर 'रामायणीय आख्यान-संकलन' और दूसरे स्थल पर 'प्रबन्ध-संकलन' नाम दिया है परन्तु काव्य की प्रबन्ध-योजना की दृष्टि से यह नाम सर्वथा अनुचित है। संकलन केवल इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि इसमें 'साकेत' के एकादश सर्ग के चौहत्तर छन्द, अष्टम का एक, और पंचवटी के तीन छन्द उद्धृत हैं। इनके अतिरिक्त ४८ नए छन्द रचकर कवि ने सम्पूर्ण कथा पूरी की है, परन्तु इस काव्य में राम के जन्म से राज्याभिषेक (वनवासोपरान्त) तक की सभी घटनाएँ संक्षिप्त वर्णन-शैली में अंकित की गई हैं। इन सब घटनाओं में उचित पूर्वापर-सम्बन्ध है। आवश्यकता और सम्भाव्यता के अनुसार घटनाओं में कार्य-कारण सम्बन्ध का निर्वाह करते हुए वस्तु-विन्यास किया गया है। कोई प्रसंग अतिरिक्त और प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से अनावश्यक प्रतीत नहीं होता, किन्तु इस काव्य में राम के जीवन के खण्ड-विशेष का वर्णन नहीं, सम्पूर्ण राम-कथा का सार है। राम-कथा के विभिन्न आख्यान केवल संकलित नहीं हैं—उनमें परस्पर सुनिश्चित प्रबन्ध-योजना मिलती है। इसलिए इस काव्य को आख्यान-संकलन तो कहा ही नही जा सकता। किसी कथा में आए आख्यानों का संकलन-मात्र करने, तथा उस कथा की प्रबन्ध-रूप में रचना करने में परस्पर बहुत अन्तर है। एक में तारतम्य होना अनिवार्य है, दूसरे में नहीं।

कुछ आगे चलकर डा० पाठक ने इसी काव्य को 'आख्यानक-पद्य-निबन्ध' नाम दिया है। उन्हीं के शब्दों में—"संक्षेप में 'प्रदक्षिणा' 'आख्यानक-पद्य-निबन्ध' है जिसमें राम-कथा का संक्षिप्त सरस और प्रवाहपूर्ण वर्णन हुआ है।"[1] उपर्युक्त प्रसंग में यदि विद्वान लेखक ने निबन्ध शब्द का प्रयोग विशेष व्यापक अर्थ में नहीं किया है, तो निश्चय ही उनके मत में विरोध है,

१. मैथिलीशरण गुप्त—व्यक्ति और काव्य, डा० कमलाकान्त पाठक, पृष्ठ २६६

और यदि निबन्ध का अर्थ साहित्य की वह रचना-विशेष नहीं है जिसके रूपविधान-सम्बन्धी मान्यताएँ निश्चित हैं, तो इस शब्द का प्रयोग विशेष स्वेच्छाचार से किया गया मानना होगा।

हमारे मत में एक ही काव्य-रूप को निबन्ध और संकलन दोनों संज्ञाएँ नहीं दी जा सकतीं। निबन्ध की एकसूत्रता और संकलन की विविधता परस्पर सर्वथा भिन्न और विरोधी विशेषताएँ हैं। इसके अतिरिक्त 'जयभारत' को भी विद्वान् लेखक ने आख्यान-संकलन माना है। जैसा हम महाकाव्य के विवेचन में पहले स्पष्ट कर चुके हैं 'जयभारत' में प्रबन्ध-गुण का सर्वथा अभाव है, और 'प्रदक्षिणा' में उसी प्रकार राम के जीवन के विविध आख्यानों का संकलन-मात्र नहीं किया गया। राम-कथा के सभी महत्त्वपूर्ण प्रसगों का चलता हुआ वर्णन करने पर भी 'प्रदक्षिणा' की प्रबन्ध-योजना सुचिन्तित और वस्तु-विन्यास गठा हुआ है। इसके विपरीत 'जयभारत' में कौरव-कुल की अनेक ऐसी घटनाओं व प्रसंगों का आकलन कर दिया गया है जो प्रबन्धत्व की दृष्टि से सर्वथा अनुपादेय हैं। दोनों की वास्तुकला में बहुत अन्तर है। एक आख्यान-संकलन है जिसमें प्रबन्धत्व की उपेक्षा करते हुए, कथा में आने वाले सभी प्रसंगों को संकलित कर दिया गया है और दूसरा ऐसा कथा-काव्य जिसमें खण्डकाव्य की खण्डता न होकर कथा की पूर्णता परन्तु महा-काव्य की महत् कथा का अभाव है।

निबन्ध के सभी प्रमुख प्रकारों में आख्यान की स्वीकृति नहीं है। निबन्ध और कहानी में अन्तर केवल बाह्याकार का ही नहीं, मूल दृष्टिकोण का है। निबन्ध के लिए विषयीप्रधान और कहानी के लिए सामान्यतः वस्तुप्रधान दृष्टि अपेक्षित है। आत्मीयता और व्यक्तित्व की छाप निबन्ध-रचना का प्रमुख अनुबन्ध है। विवरणात्मक और वर्णनात्मक ढंग के निबन्धों में जो वस्तु-आधार ग्रहण किया जाता है वह भी लेखक की तद्विषयक निजी प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति के लिए। इन दोनों रूपों की सीमा-रेखाएँ परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श कर सकती हैं। कहानी के आख्यान-तत्त्व का निबन्ध में, और निबन्ध के व्यक्तिगत भाव और विचार-तत्त्व का कहानी में विशेष रूप से प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु मूलतः दोनों विधाएँ पृथक् हैं। और इस विषय में मतभेद नहीं हो सकता कि 'प्रदक्षिणा' काव्य-निबन्ध नहीं पद्य-कथा है।

भाव या विचारप्रधान खण्डकाव्यों में विवेच्य कृतियाँ हैं—रत्नाकर का 'उद्धवशतक', पन्त की 'ग्रन्थि', 'निराला' का 'तुलसीदास', बच्चन का 'बंगाल का काल' और अश्क का 'चाँदनी रात और अजगर'। इन रचनाओं में से सशक्त घटनाएँ 'तुलसीदास' में ही घटित होती हैं, यद्यपि इनका क्षेत्र बाह्य-जगत् न होकर नायक का अन्तर्मन है। 'बंगाल का काल' विचार-प्रधान रचना है। 'ग्रन्थि' में कवि ने विशेष भावमयता का परिचय दिया है। घटनाएँ कम, भावुक मन का भावोच्छ्वास अधिक व्यक्त हुआ है। 'उद्धवशतक' में दार्शनिक सिद्धान्त या दूसरे शब्दों में विचार को अनुभूति का विषय बनाकर प्रस्तुत किया गया है। 'उद्धवशतक' और 'ग्रन्थि' में घटनाएँ हैं पर उनका बाह्य स्वरूप महत्त्वहीन है। 'ग्रन्थि' में एक प्रेम-वंचित भावुक हृदय की मर्म-व्यथा अंकित है, और 'उद्धव-शतक' में भक्ति की ज्ञान पर विजय-प्रतिष्ठा। 'चाँदनी रात और अजगर' का वस्तु-विन्यास कुछ भिन्न ढंग का है। शारदीय पूनो की रजत-ज्योत्स्ना में कवि अपने घर में वातायन के पास बैठा, पास पड़ी दिनभर के काम से श्रम-श्लथ जीवन-संगिनी को देखकर चिन्तालीन हो जाता है। उसके मानस पर आपबीते अन्तहीन जीवन-

संघर्ष के करुण चित्र उभर आते हैं। अवकाश-भोगियों और श्रमकरों के परस्पर विरोधी रूप कवि के मन में अनेक नैतिक प्रश्न उठाते हैं, और फिर मुक्त जीवन और सुख-समृद्धि की आकांक्षाओं में वह वस्तुनिष्ठ स्वप्नदृष्टा की तरह सपनों में रम जाता है। उसे प्रतीत होता है मानो शेषनाग सा मानव-श्रम का अजगर अब अपने सिर पर समस्त पृथ्वी का भार उठाये, क्षीरसागर में लक्ष्मीपति की सेज न बना रहेगा, बल्कि कुंडली खोलकर अपने क्रुद्ध श्वास से शोषण और शासन की पूंजीवादी सत्ता को मिटा देगा। उस मुक्त वातावरण में समस्त मानव-समाज एक साथ उन्नति-पथ पर अग्रसर होगा। इस प्रकार अन्तः और बाह्य इस काव्य में घुले-मिले से व्यक्त हुए हैं। मनोनिष्ठ होने पर भी जो प्राणवान घटना और नाटकीय वस्तु-विन्यास 'तुलसीदास' में प्राप्त होता है, वह अन्य कृतियों में नहीं।

'तुलसीदास' की वस्तु-कला में नाटकीयता किसी भी महाकाव्य या बड़े प्रबन्ध के समकक्ष ही है। अन्य खण्डकाव्यों की भाँति, इस काव्य का वस्तु-विन्यास कहानी के समान छोटे और सीमित पैमाने पर न कर, पाँचों कार्यावस्थाओं से युक्त किसी भी सफल नाट्य-कृति के समान किया गया है। 'तुलसीदास' में कहानी की एक संक्षिप्त रूपरेखा वर्तमान है जो स्पष्ट भी है किन्तु कवि का उद्देश्य कथा व घटनाओं का वर्णन करना नहीं है अतः काव्य प्रकथनात्मक नहीं है। कवि 'निराला' ने उनके बाह्य जीवन को ग्रहण न कर आन्तरिक रूप को काव्य का आलम्बन बनाया। उनके आध्यात्मिक जीवन में घटित होने वाली सब से महान् घटना—राजनैतिक व आर्थिक विषमताओं से पीड़ित भारतीय जन-जीवन का उद्‌बोधन इस काव्य का विषय है। इस प्रसंग से सम्बद्ध उनके भौतिक जीवन की घटनाएँ उद्दीपन या प्रतीक हैं—उस मानसिक विप्लव का, जो उनकी अन्तश्चेतना में घटित हो रहा था। इस प्रकार बाह्य दृष्टि से 'तुलसीदास' की कथावस्तु अत्यन्त संक्षिप्त व आकर्षण-शून्य है, परन्तु उसका अन्तर्विकास अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। इस आध्यात्मिक घटना का अभिज्ञान व इस काव्य-सत्य को हृदयंगम करना 'निराला' की प्रतिभा द्वारा ही सम्भव था। कथा की सफलता घटनाओं के उचित संयोजन व विकास पर निर्भर है, और इस दृष्टि से 'तुलसीदास' अत्यन्त सफल कृति है। कथा सर्वथा अमूर्त होते हुए भी मनस्थितियाँ इतने सघन रूप में प्रस्तुत हैं कि उनका विकास मानसिक घात-प्रतिघात के तीव्र और समर्थ चित्रण के बीच हुआ है। मूर्त घटनाओं की अपेक्षा अमूर्त घटनाओं, मनस्थितियों के वर्णन में बहक जाने या भाव-तरंग में बह जाने का अवकाश अधिक होता है, अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि घटनाओं की संख्या कम होने से बिखरने का अवकाश नहीं रहा। घटनाएँ जितनी अमूर्त और सूक्ष्म होती हैं उसी अनुपात में उनके वस्तु-संगठन में कवि-कौशल की अपेक्षा होती है और इस दृष्टि से 'निराला' अत्यन्त कुशल शिल्पी हैं। 'तुलसीदास' की घटनाओं का गुम्फन और संयोजना इतनी सतर्कता से की गई है कि एक भी घटना, एक भी प्रसंग बिखरना तो दूर, शिथिल भी प्रतीत नहीं होता। केवल घटनाओं का सन्निवेश ही कौशलपूर्ण नहीं है उनका विकास सर्वथा संगत एवं नाटकीय है। पौरस्त्य नाट्य-कला का आरम्भ यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम आदि कार्यावस्थाएँ तथा पाश्चात्य नाटकों की आरम्भ, विकास, चरम-स्थिति, निगति और अन्त आदि पंचावस्थाएँ इस अन्तर्मन में होने वाले संघर्ष में भी सहज प्राप्य हैं। काव्य का आरम्भ भारत की राजनैतिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर, अध्ययन के प्रभाववश तुलसी के संस्कार-

वर्णन से होता है। कार्य-विकास—प्रकृति-दर्शन और सांस्कृतिक चेतना की उद्‌बुद्धि में अंकित है, तथा माया के रूप में रत्नावली के आविर्भाव और तुलसी के मोहान्धकार के स्थल पर संघर्ष चरम सीमा को प्राप्त होता है। भाई के आगमन और रत्नावली के साथ प्रत्यागमन में कार्य-निगति और रत्नावली द्वारा उनके उद्‌बोधन के स्थल पर अन्त। काव्य का अन्त विशेष भव्य, नाटकीय तथा गरिमावान है, नाट्य तत्त्व का चरम परिपाक इसी स्थल पर हुआ है।

भारतीय दृष्टिकोण से भी आरम्भ का स्थल तुलसीदास के परिचय तक, यत्न का आरम्भ प्रकृति-दर्शन और सांस्कृतिक चेतना की उद्‌बुद्धि से और व्याप्ति रत्नावली के नैहर गमन तक, (इसी बीच फल-प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा उपस्थित हो जाती है)। रत्नावली के भाई के साथ जाने से तुलसीदास के ससुराल पहुँचने तक प्राप्त्याशा, रत्नावली द्वारा उनका उद्‌बोधन नियताप्ति, और तुलसी के अन्तःसाक्षात्कार व भविष्य के लिए संकल्प को फल अथवा फल की व्यंजना माना जा सकता है। इस प्रकार सुनिश्चित प्रबन्ध-योजना, घटनाओं के तीव्र घात-प्रतिघात और नाट्य-तत्त्व से यह कृति पूर्णतः युक्त है।

आधिकारिक कथा के साथ प्रासंगिक वृत्तों की योजना कवि ने नहीं की, इसके दो कारण सम्भव हैं। कथा का सीमित क्षेत्र और घटनाओं का अमूर्त रूप। यदि कवि ऐसा करता तो कदाचित् काव्य के वर्तमान रूप में प्रभाव-सम्बन्धी जो घनत्व और एकाग्रता, पर साथ में स्पष्टता रक्षित है, उसके स्थान पर वह कथा-सूत्रों को उलझाकर, गुत्थियाँ पैदा कर देता। विषय के मनोवैज्ञानिक होने के कारण इस बात की आशंका और भी थी।

'उद्धव-शतक' और 'ग्रन्थि' में घटनाएँ भी हैं, कथा भी ढूँढ़ी जा सकती है और प्रबन्ध-गुण भी, परन्तु जो घटनाएँ भौतिक रूप में ग्रहण की गई हैं, उनका प्रयोग न प्रतीक-रूप में किया गया है, न अमूर्त घटनाओं के उद्दीपन के रूप में। वे अत्यन्त विरल हैं और बड़े सीधे-सादे ढंग से प्रस्तुत कर दी गई हैं। उनको अपनाने का उद्देश्य इतना ही है कि कवि उनके अभिकर्ता पात्रों की भावनाओं, या उन पात्रों के माध्यम से अपने विचार या मान्यताओं को व्यक्त करना चाहता है। इस प्रकार घटनाओं का उपयोग केवल पृष्ठभूमि तत्पर करने के लिए किया गया है। भौतिक रूप में इस प्रकार कोई विशेष संघर्ष, घात-प्रतिघात घटित नहीं होता। मन में भी विशेष अन्तर्द्वन्द्व या भाव की क्रिया-प्रतिक्रिया का वर्णन नहीं किया गया है। कवि, पात्र की मनोग्रन्थियों व मनःस्थिति का विश्लेषण करने की अपेक्षा, पात्र की मनोगत बातों का वर्णन ही अधिक करता है। 'चाँदनी रात और अजगर' के कवि ने विचार-सूत्रों को एक संक्षिप्त भाव-कथा में कलात्मक रूप से जोड़ देने का प्रयास किया है। "इस कविता की कहानी का आन्तरिक तारतम्य घटनाओं की क्रम-सूचना के कारण नहीं, बल्कि भाव-प्रतिक्रियाओं के सहज-सम्बन्धों के कारण है। इसमें इतिवृत्त नहीं, लेखक के भावों, प्रतिक्रियाओं और विचारों के मनके पिरोये हुए हैं, जो उसके गत और वर्तमान जीवन के यथार्थ-अनुभवों और भविष्य की आकांक्षाओं के प्रतिबिम्ब हैं।[1]" इस प्रकार इस कृति में भी विचारों का क्रम-विन्यास ही प्रधान है। भौतिक घटनाएँ मानसिक प्रतिक्रिया की प्रेरक-मात्र हैं। आद्यन्त भौतिक घटनाओं की कड़ियाँ मिलाकर उनके आधार पर सुविन्यस्त

१. चाँदनी रात और अजगर— उपेन्द्रनाथ अश्क (अश्क की कविता—शिवदानसिंह चौहान), पृ० १६

वस्तु-योजना इस काव्य में नहीं की गई। घटनाएँ विचारों की प्रेरक, पोषक, अथवा स्मृत रूप में अंकित हैं, आख्यान का विधान इस काव्य में कवि ने नहीं किया। विचारों के उपस्थापन में भी कोई सुनिश्चित क्रम अथवा विधान नहीं। अन्तिम अंश के अतिरिक्त, जहाँ आख्यान-तत्त्व अपेक्षाकृत स्पष्ट और प्रबल हो गया है शेष काव्य में उखड़ी और बेतरतीब-सी विचार-शृंखला प्राप्त है।

यों तो नाट्य तत्त्व का सर्वथा अभाव इन रचनाओं में नहीं कहा जा सकता। आरम्भ, विकास, चरमस्थिति, निगति और फल सभी कुछ इनकी भौतिक कथा में इंगित किया जा सकता है, किन्तु यह कथा प्रमुख नहीं, अतः संघर्ष में तीव्र घात-प्रतिघात, घनत्व (tensity) अप्रतिहत गति (tempo) और नाटकीय स्थितियाँ (dramatic-situations) विशेष नहीं आतीं। इसका कारण है भौतिक घटनाओं का कवि की दृष्टि में महत्त्वहीन होना, और उन घटनाओं के अभिकर्त्ता पात्रों के भाव और विचारों की अभिव्यक्ति को महत्त्व देना। ऐसी स्थिति में अन्तर्मन में द्वन्द्व की योजना की जा सकती थी, परन्तु 'उद्धव-शतक' में तो इस प्रकार का विधान सम्भव ही नहीं था; क्योंकि भ्रमरगीत-प्रसंग में एक सिद्धान्त का दूसरे सिद्धान्त से, एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से विरोध है, अपने मन में दो विरोधी प्रवृत्तियों का नहीं। इस विरोध का रूप विचारात्मक तथा सैद्धान्तिक होने के नाते इसका सक्रिय या घटनात्मक चित्रण तो सम्भव था ही नहीं। इसका अंकन केवल उसी मुखर रूप में सम्भव था जिसमें उसे प्रस्तुत किया गया है। एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति के विचारों पर विजय, उसके लिए प्रस्तुत किए गये तर्क-वितर्क तथा वाचिक संघर्ष, जितने सस्वर रूप में उपस्थित किया गया है, उससे अधिक यदि संघर्ष में घनत्व लाने के लिए किया जाता तो नाटकीयता की अपेक्षा अस्वाभाविक वाचालता या उपदेशात्मकता निस्सन्देह उत्पन्न हो जाती। इस काव्य में इस प्रकार भौतिक या मानसिक घटनाओं की सक्रियता की अपेक्षा विचारों की वाचिक सक्रियता मिलती है।

'ग्रन्थि' में भी अधिक भौतिक घटनाओं का अभाव है। संयोगवश नौका डूबने पर किसी रमणी से भेंट, उसी प्रकार उससे सहसा प्रथम दृष्टि में प्रेम, बिना किसी तर्कसम्मत कारण के—कदाचित् संयोगवश, उसका किसी अन्य व्यक्ति से विवाह, और परिणामस्वरूप प्रेम-वंचित नायक की अन्तर्वेदना की अभिव्यक्ति—यही इस काव्य का विषय है। निश्चय ही खण्डकाव्य है, क्योंकि नायक के जीवन का खण्ड-विशेष वर्णित है, परन्तु घटनाओं में परस्पर तर्कसम्मत कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक घटना अपने से पूर्व होने वाली घटना की सम्भाव्यता या आवश्यकता के नियमानुसार अनुवर्तिनी नहीं। काव्य की चरम घटना, प्रेयसी के विवाह का कोई तर्कसम्मत कारण नहीं। नायक की ओर से प्रेम-प्राप्ति का जो भावुक प्रयत्न है, उससे शतांश भी नायिका-प्राप्ति की दिशा में नहीं दिखाई पड़ता। इस दिशा में नायक की ओर से कोई उपक्रम नहीं, अतः फल-प्राप्ति में बाधा उपस्थित होती है संघर्ष नहीं होता। इस विषय को लेकर नायक के मन में भी वेदना बहुत अधिक होती है, द्वन्द्व उसकी अपेक्षा बहुत कम। संघर्ष-योजना के लिए 'तुलसीदास' का कवि जिस प्रकार गहरे से गहरे उतरता जाता है, उतनी आन्तरिक संघर्ष की योजना 'ग्रन्थि' के कवि ने नहीं की। प्रेम-प्राप्ति के लिए हृदय की विह्वलता, सफलता के उपरान्त भावोच्छ्वास, और वियुक्त होने पर मर्मव्यथा का चित्रण इस काव्य में जितना हुआ है,

उतना मानसिक विप्लव या अन्तर्द्वन्द्व का नहीं। इस प्रकार की निष्क्रिय वेदना का कारण है—नायक के द्वारा बाधाओं की विवश स्वीकृति; इस दिशा में विरोध का उसकी ओर से प्रयत्न ही नहीं हुआ। अतः नाटकीयता, कार्य-व्यापार में घात-प्रतिघात, घटनाओं का परस्पर तर्कसम्मत गुम्फन, और सुसंगठित प्रबन्ध-योजना इस काव्य में नहीं मिलती। कुछ दूर तक मिलन-गीत के रूप में चलने के उपरान्त इसकी अन्त में परिणति विरह-गीत में हो गई है।

'बंगाल का काल' वस्तु-विन्यास की दृष्टि से इस वर्ग की विशिष्ट रचना है। समय की प्रगति के साथ मानव अधिकाधिक बुद्धिजीवी होता जा रहा है। अधिकांश भौतिक घटनाओं के मूल में भाव या विचार-सत्यों की वह खोज करता है, अथवा उनके कारण और परिणामों का बौद्धिक विश्लेषण। अतः कविता और गद्य के धर्म भी बहुत कुछ मिल-जुल गए हैं। गद्य के माध्यम से गद्य-गीत, और पद्य में काव्य-निबन्धों की रचना करना आज के कलाकार की उपर्युक्त प्रवृत्ति का ही परिणाम है।

जैसा नाम से ही स्पष्ट है इस कृति का विषय है एक ऐसी सामयिक घटना जिसका सम्बन्ध परोक्षतः राजनैतिक और प्रत्यक्ष रूप से समाज के इतिहास से है। बंगप्रदेश में पड़ने वाले भयंकर दुर्भिक्ष को काव्य-विषय बनाया गया है। इस प्रकार व्यक्ति के नहीं समाज के जीवन का खण्ड-विशेष काव्य-विषय है। परन्तु घटना को तथ्य रूप में स्वीकार न कर कवि ने उसे प्रेरक और उद्दीपक बनाकर विचारोत्तेजना के लिए सामग्री प्रस्तुत की है। यदि कहें कि कवि ने उस प्रकार घटनाओं के अमूर्त रूप को विषय बनाया है जिस प्रकार कवि 'निराला' ने 'तुलसीदास' में, तो अनुचित होगा। 'तुलसीदास' में अंकित घटनाओं का रंगस्थल अन्तर्मन है, भौतिक घटनाएँ प्रतीक या उद्दीपन मात्र हैं, परन्तु आन्तरिक रंगमंच पर अभिनीत होने वाली अमूर्त घटनाएँ ही कवि का प्रेष्य है। 'बंगाल का काल' में कवि का दृष्टिकोण ही भिन्न है। घटनाएँ यहाँ निमित्त हैं, उनके कारणों का विश्लेषण, और आततायी शासक के प्रति विद्रोहात्मक क्रान्ति के लिए उत्तेजित करना कवि का लक्ष्य है। इस प्रकार कवि का प्रेष्य घटना न होकर विचार है। अपने विचार की गवाही में कवि ने भिन्न देश-काल से उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, और भारतवासियों की कायर, शान्त, सर्वंसहा नीति को ललकारा है। काव्य में घटना-ऐक्य या विचार-ऐक्य का निर्वाह तो हुआ है देश और काल-ऐक्य का नहीं। कवि के विचार ने दूर-दूर तक दिग्भ्रमण कर सामग्री एकत्रित की है। घटना गौण और विचार प्रमुख होने के कारण इस दिशा में कोई बाधा कवि के सामने नहीं रही है। रचना बहुत कुछ निबन्धात्मक है। आख्यान-तत्त्व गौण और विचार-सूत्र प्रमुख है। परन्तु इसे काव्य-निबन्ध की अपेक्षा निबन्धात्मक खण्डकाव्य इसलिए कहा जा सकता है कि आख्यान-तत्त्व क्षीण भले ही हो वर्तमान अवश्य है और वह भी संस्मरणात्मक, वर्णनात्मक या विवरणात्मक निबन्ध की भाँति नहीं कथाश्रित काव्य के ढंग पर। इसके अतिरिक्त आकार भी निबन्ध के लिए विशेष बड़ा है। निबन्ध के अन्य तत्त्व—आत्मीयता, एकसूत्रता, तर्क और विचार, जो वास्तव में गद्य के गुण हैं, सभी वर्तमान हैं। परन्तु जीवन के पक्ष-विशेष—दुर्भिक्ष-समस्या और तत्सम्बन्धी विचारों का अंकन होने के कारण यह काव्य खण्डकाव्य ही माना जायगा, परन्तु इसे विचार-प्रधान खण्डकाव्य या निबन्धात्मक खण्डकाव्य ही कहा जा सकता है।

घटनाओं का स्वरूप—सर्गविहीन खण्डकाव्यों में भी कुछ काव्य तो इतिवृत्तात्मक शैली

में घटनाओं के वस्तुरूप को अपनाकर लिखे गए। गुप्तजी के 'रंग में भंग', 'बक-संहार', 'वन-वैभव', 'सैरन्ध्री', 'युद्ध', 'कर्बला' और 'प्रदक्षिणा', प्रसाद का 'महाराणा का महत्त्व' तथा अश्क का 'बरगद की बेटी' इसी प्रकार कथा के आग्रह की रक्षा कर लिखे गए हैं। 'पंचवटी', 'हिडिम्बा' और 'प्रेम-पथिक' में आख्यान-तत्त्व विद्यमान हैं, मूर्त घटनाओं का आधार स्पष्ट है, परन्तु कथा का विकास इतिवृत्तवर्णन-शैली में न होकर अनेक नाटकीय प्रसंगों और चरित्र-चित्रण की विशेषताओं द्वारा होता है। 'हिडिम्बा' की घटनाओं में भी चारित्रिक विशेषताओं का विकास और मानवीय गुणों का आरोप किया गया है। वस्तुवर्णन की प्रकथन-शैली के साथ संवादों की अभिनयात्मक पद्धति में कवि ने पात्रों के शील-निरूपण और भावाभिव्यंजना की योजना की है।

'प्रेम-पथिक' में कवि ने सर्वत्र विशेष रोमानी और भावमय अभिव्यक्ति की है। कहीं-कहीं प्रेम-सम्बन्धी कतिपय भावात्मक सत्यों की व्याख्या की है तथा कुछ प्रसंगों में उनका उपदेशक-रूप प्रबुद्ध है। एक स्थल पर खल व सज्जन-हृदयों की तुलना और व्याख्या इसी ढंग पर की गई है। 'बरगद की बेटी' के सभी प्रसंग साकार हैं। समस्त घटनाएँ वस्तुरूप हैं। यह एक प्रेम-कहानी है जिसमें लोककथा की मर्मस्पर्शिता और जीवन्तता दोनों ही गुण हैं, परन्तु इस कहानी को कवि ने व्यक्तिगत रूप न देकर इसमें सामाजिक समस्या का रंग भरा है, अतः प्रेम की उभयनिष्ठ योजना न कर वर्ग-वैषम्य के कारण—उच्च वर्ग की छलना और निम्न वर्ग के शोषण की समस्या के रूप में एकपक्षीय प्रेम का अंकन है। नायिका के पक्ष में भी प्रेम का जो स्वरूप खड़ा किया गया है, उसमें हार्दिकता की अपेक्षा शारीरिकता और लोलुपता की गंध अधिक आती है, फलतः मन में गहरे उतरने का प्रश्न ही नहीं उठा।

अन्य काव्यों में अमूर्त भावाभिव्यक्ति को यथाप्रसंग स्थान मिला है, पर इनकी घटनाएँ अशरीरी व सूक्ष्म नहीं। कार्यव्यापार से सम्बद्ध सभी प्रसंग बाह्य दृश्यरूप जगत् में घटित होते हैं। प्रबन्ध-शृंखला की सभी कड़ियाँ साकार हैं, स्थूल हैं। जो भी विरोध, संघर्ष या क्रियाव्यापार चित्रित हैं वे आन्तरिक नहीं। घटनाएँ आभ्यन्तरिक नहीं हैं, उनका रंगस्थल भौतिक जगत् है। केवल इन घटनाओं के अभिकर्ता व भोक्ता पात्रों की मनःस्थिति कहीं-कहीं व्यक्त की गई है।

इन कृतियों से भिन्न 'ग्रन्थि' में घटनाएँ बहुत कम घटती हैं, और जो घटती हैं उनका भौतिक रूप, दूसरे शब्दों में काव्य का अत्यन्त सरल और महत्त्वहीन कथानक, गीतिपूर्ण हृदयोद्रेकों में खो सा जाता है। विशेषकर काव्य के उत्तरार्द्ध में निराश प्रेमी के हृदय की टीस और उफान में—प्रेम, मानव-हृदय, सौन्दर्य, भाग्य, सभी को धिक्कारा गया है। इस प्रकार आभ्यन्तरिकता का प्रवेश प्रबन्ध की वस्तुनिष्ठता में हो गया है। 'उद्धवशतक' की भौतिक घटनाएँ अस्पष्ट और धुंधली तो नहीं, परन्तु महत्त्वहीन हैं। उद्धव के सन्देश लेकर आने, गोपियों से मिलकर तर्क-वितर्क करने, और अन्त में पराजय स्वीकार कर इस पराजय में भी प्रसन्न मन से लौटने में जो एक भव्यतर आन्तरिक उद्देश्य है वह उद्धव के आने-जाने और गोपियों से मिलने की घटना से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह उद्देश्य है—उनके ज्ञानी मन पर भक्ति की विजय, और काव्य की यह चरम घटना बाह्य जगत् में नहीं अन्तर्मन में ही घटित होती है। इसके पूर्व भी दो सैद्धांतिक मान्यताओं का पारस्परिक संघर्ष दो विरोधी चिन्ताधाराओं का संघर्ष है, और विचार या मान्यता

का आवास अन्तर्मन में होता है बहिर्जगत् में नहीं।

'बंगाल का काल' में स्पष्ट रूप से विचार-ही-विचार हैं। खण्डकाव्य भी उसे इसलिए स्वीकार किया गया है कि एक क्षीण-सा कथा-सूत्र उस काव्य में वर्तमान है। भौतिक जीवन में जिस भयंकर घटना का साक्षात्कार कवि-हृदय करता है, उसी की उसके मस्तिष्क पर होने वाली प्रतिक्रिया इस काव्य में नितान्त आत्मीय दृष्टि से वर्णित है, जो कुछ भौतिक घटनाएँ इस काव्य में प्रस्तुत की गई हैं, केवल उद्दीपन-रूप में।

'तुलसीदास' इस वर्ग की वह एकमात्र रचना है जिसकी घटनाओं का धरातल पूर्ण रूप से व्यक्ति का अन्तर्मन है। इस काव्य में इतिवृत्त शैली में लिखे जाने वाले कथात्मक खण्डकाव्यों की चिरप्रचलित परम्परा से सर्वथा भिन्न, मनोविज्ञान के स्तर पर मानव-मन की कुछ अस्पष्ट, कुछ खुली मुंदी, धुंधली, क्रिया-प्रतिक्रिया के उन्मीलन का प्रयत्न है। जिन भौतिक घटनाओं को यत्र-तत्र अपनाया गया है उनमें से कुछ तो प्रबन्धत्व की रक्षा के लिए प्रयुक्त हुई हैं—जैसे रत्नावली के भाई-सहित नैहर जाने का प्रसंग, कुछ भौतिक घटनाओं का महत्त्व उनके प्रतीकार्थ में ही है—जैसे तुलसीदास के चित्रकूट-भ्रमण के प्रसंग में प्रकृति का निम्नलिखित वर्णन :—

हनती आँखों की ज्वाला चल,
पाषाण खंड रहता जल-जल,
ऋतु सभी प्रबलतर बदल-बदल कर आते;
वर्षा में पंक-प्रवाहित सरि,
है शीर्ण-काय-कारण हिम अरि;
केवल दुःख देकर उदरंभरि जन जाते।[3]

इन पंक्तियों का शाब्दिक अर्थ प्रकृति का दयनीय वर्णन, परन्तु वास्तविक उद्देश्य भारत की दीन दशा की व्यंजना करना है। कुछ सामाजिक विषमताओं का वर्णन कवि की भावनाओं को उद्दीप्त करने के लिए प्रेरक-रूप में भी किया गया है। जाति और वर्ण-भेद से उत्पन्न विषमताओं का वर्णन इसी कोटि के अन्तर्गत आएगा। भारतीय समाज की दयनीय दशा का अभिज्ञान ही तुलसीदास की चेतना और उद्बोधन के संकल्प का प्रेरक-हेतु सिद्ध हुआ। परन्तु 'निराला' की समर्थ कला और उद्दाम प्रतिभा का वास्तविक परिचय उन स्थलों पर ही मिलता है, जहाँ उन्होंने तुलसीदास के अन्तर्मन का विश्लेषण, उसमें होने वाली भीषण क्रिया-प्रतिक्रिया और संघर्ष को शब्दबद्ध किया है। वे मन की सूक्ष्म से सूक्ष्म, तीव्र से तीव्र और क्षिप्र से क्षिप्र गतिविधि को अचूक रूप से पकड़ लेते हैं, और इन अस्पष्ट मनःस्थितियों को उनकी समग्रता में अपनी समृद्ध कला का परिधान पहना, शब्दों में बाँधकर उपस्थित कर देते हैं। कोमल और विराट्, मृदुल व सशक्त, सभी का वर्णन करने में उनकी कला समर्थ है, परन्तु उनके ऊर्जस्वित व्यक्तित्व के अनुकूल अधिक सफलता उन्हें विराट्, भव्य, पौरुषवान और ओजमय वर्णन में ही मिली है। तुलसीदास के ऊर्ध्वसंचारी मन का एक चित्र देखिये :

---

३. तुलसीदास—निराला, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ २०

कल्मषोत्सार कवि के दुर्दम
चेतनोर्मियों के प्राण प्रथम
वह रुद्ध-द्वार का छाया-तम तरने को—
करने को ज्ञानोद्धत प्रहार—
तोड़ने को विषम वज्र-द्वार,
उमड़े, भारत का भ्रम अपार हरने को।[1]

केवल जीवन्त और भव्य स्थलों पर ही नहीं, कोमल, मृदुल भावनाओं का अंकन करने में भी कवि ने भावानुकूल अभिव्यंजना-सामर्थ्य का परिचय दिया है। भारत के उद्धार और उद्‌बोधन के लिए कटिबद्ध कवि का ऊर्जस्वित मन सहसा ही प्रिया के सौन्दर्य पर मुग्ध हो मोहांधकार में अक्षम होकर रह जाता है। इस भावात्मक तथ्य की निम्नांकित मूर्त-विधान में कितनी सफल व्यंजना है—

उस ऊँचे नभ का, गुंजन पर,
मंजुल जीवन का मन-मधुकर,
खुलती उस दृग-छवि में बँधकर, सौरभ को
बैठा ही था सुख से क्षण-भर,
मुंद गए पलों के दल मृदुतर,
रह गया उसी उर के भीतर, अक्षम हो।[2]

ऊपर दिये गए उदाहरणों में घटित होने वाली घटनाएँ काव्य के मनस्थ कथानक की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं। किसी भी कथात्मक प्रबन्ध में होने वाली युद्ध या क्रान्ति की घटना से, किसी सम्पूर्ण देश के सांस्कृतिक उत्थान के लिए मन में किया गया संकल्प किसी प्रकार भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। इस संकल्प के मार्ग में उपस्थित होने वाली बाधाओं और तद्‌जन्य संघर्ष का महत्त्व किसी भौतिक बाधा-बन्धन से कम नहीं, परन्तु इन अमूर्त घटनाओं की अभिव्यक्ति बहुत कठिन है, और 'निराला' ने इस उत्तरदायित्व का सफल निर्वाह करके प्रबन्ध-रचना के क्षेत्र में एक नवीन, अभूतपूर्व, रचना-पद्धति का शिलान्यास किया है। इस नींव के पत्थर पर यदि वर्तमान या आगामी पीढ़ी के कलाकार भवन-निर्माण कर सकें तो निश्चय ही हिन्दी-साहित्य के लिए बहुत शुभ होगा। 'चाँदनी रात और अजगर' का वस्तुविन्यास जिस नए ढंग पर किया गया है उसके लिए काव्य-विषय उत्तरदायी है। जैसा पहले भी संकेत किया जा चुका है इस काव्य में घटनाएँ नहीं घटतीं, विचार-सूत्रों को भावकथा का रूप प्रदान किया गया है। घटनाओं का स्वरूप इस कृति में आभ्यन्तरिक नहीं, वस्तुतः घटनाएँ इसमें घटती ही नहीं—न भीतर न बाहर। कवि वर्तमान की समस्याओं, विगत-अनुभवों, और भविष्य की स्वप्निल आकांक्षाओं और आदर्श के निर्माण में विचारलीन है। काव्य के उत्तरार्द्ध में केवल कवि की आपबीती के रूप में—पिता की मृत्यु और उत्तरदायी कारणों का वर्णन है, इसके अतिरिक्त किसी उल्लेख-

---

१. तुलसीदास—निराला, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ २९
२. वही, पृष्ठ ३०

नीय मूर्त घटना का समावेश इस काव्य में नहीं हुआ। कवि के अन्तर्मन या विचारों में भी संघर्ष घटित नहीं होता, केवल एक के उपरान्त दूसरे विचार का क्रम या तारतम्य बना रहा है। अतः इसमें अमूर्त के नाम पर भी घटनाएँ नहीं विचार हैं। रागतत्त्व की अपेक्षा बुद्धितत्त्व अधिक प्रबुद्ध है।

वर्णनात्मकता

जैसा सर्गबद्ध काव्यों का विवेचन करते हुए पहले भी कहा जा चुका है इन काव्यों में महाकाव्यात्मक खण्डकाव्यों तथा महाकाव्यों आदि की भाँति लम्बे-लम्बे वर्णन नहीं किये गए। अतः उन्हीं सब बातों की पुनरावृत्ति इस प्रसंग में व्यर्थ होगी। अपने-अपने विषय के अनुकूल प्रत्येक घटनाप्रधान खण्डकाव्य में प्रकृति व अन्य प्रसंगों के यथावसर कुछ दूर तक वर्णन मिलते हैं। केवल आभ्यन्तरिक पद्धति को अपनाकर चलने वाले काव्यों की वर्णन-प्रणाली कुछ भिन्न प्रकार की है। जिन रचनाओं में भौतिक घटनाओं की प्रधानता है, उनमें कवि की दृष्टि वस्तु-केन्द्रित होती है, और जिस काव्य का विषय अन्तर्मन होता है, उसमें कवि की दृष्टि आत्म-केन्द्रित। अतः बाह्य जगत् के तत्त्वों का वर्णन करने में जिस इतिवृत्त कथन की प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं, वह प्रवृत्ति आत्मपरक वर्णनों में कुछ बदल जाया करती है। पहली का कवि पहले बाहर देखता है और उस निरीक्षण का उसके मन पर जो प्रभाव पड़ता है उसे अंकित करता है। अन्तर्वृत्ति-निरूपण जिस दृष्टि में प्रधान होता है वह बाहर देखती अवश्य है, परन्तु यह दृष्टि मन के रंग में कुछ इस प्रकार रंगी होती है कि दूरबीन के माध्यम से देखने वाले की भाँति उसे हर वस्तु अपनी मनोभावनाओं में रंगी दिखाई पड़ती है, और इसी कारण वह कभी-कभी, पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो अपनी भावनाओं का आरोप दृश्यमान जगत् पर कर देता है और फिर उसी रूप में उसका वर्णन करता है। यही भेद घटनाप्रधान खण्डकाव्यों में, और भाव तथा विचारप्रधान अथवा भावात्मक तथा बौद्धिक खण्डकाव्यों की वर्णन-पद्धति में है। प्रकृति-वर्णन के दो तुलनात्मक उद्धरण हमारे इस कथन को और स्पष्ट करने में सहायक होंगे। 'पंचवटी' का यह सबसे पहला प्राकृतिक चित्र देखिये—

चारु चन्द्र की चंचल किरणें
खेल रही हैं जल थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है
अवनि और अम्बर तल में।
पुलक प्रकट करती है धरती
हरित तृणों की नोकों से,
मानों झींम रहे हैं तरु भी
मन्द पवन के झोकों से॥[1]

उक्त पंक्तियों में कवि की भूमिका केवल एक तटस्थ निरीक्षक की सी है, किसी पात्र के

१. पंचवटी—मैथिलीशरण गुप्त, तेतीसवां संस्करण, पृष्ठ ५

माध्यम से भी मानवीय भावनाओं और प्राकृतिक तत्त्वों के बीच कोई हार्दिक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया। इसकी तुलना में 'ग्रन्थि' में कवि पन्त का यह करुणार्द्र प्रकृति-वर्णन देखिए—

गर्व सा गिरि उच्च निर्झर स्रोत से
स्वप्न सुख मेरा शिलामय हृदय में
घोष भीषण कर रहा है वज्र सा
वात सा, भूकम्प सा, उत्पात सा
तारकों के अचल पलकों से विपुल
मौन विस्मय छीन कर मेरा पतन
निर्निमेष विलोकता है विश्व की
भीरुता को चन्द्रमा की ज्योति में।[1]

'पंचवटी' और 'ग्रन्थि' के पूर्वोक्त दोनों प्रसंगों के दृष्टिकोण में बहुत अन्तर है। एक में बाह्यार्थनिरूपिणी दृष्टि से स्फुट वर्णन और दूसरे में आत्मनिष्ठ दृष्टि से संश्लिष्ट वर्णन किया गया है। वर्णनात्मकता दोनों में है परन्तु भिन्न प्रकार की। यही भिन्नता इन काव्यों में प्रकृति के अतिरिक्त अन्य वर्णनों में भी प्राप्त होती है। 'बंगाल का काल' में तो दुर्भिक्ष का वर्णन केवल विचारोत्तेजना के निमित्त, कारण के रूप में किया गया है। कवि उस मर्मस्पर्शी प्रसंग का वर्णन इसलिए नहीं करता कि वह स्थिति का शब्दों द्वारा साक्षात्कार करा हमारी करुणा को द्रवित करना या वस्तुस्थिति का परिचय कराना चाहता हो। वह हमारे सामने वह चित्र इसलिए उपस्थित करता है कि हम उसके कारणों को समझकर दूर करने का प्रयास करें। इसी प्रकार 'तुलसीदास', और 'चाँदनी रात और अजगर' में कतिपय प्राकृतिक और सामाजिक प्रसंगों का वर्णन विचारोत्तेजना के हेतु किया गया है। उन प्रसंगों में स्वतन्त्र रूप से कवि की मनोवृत्ति रमी नहीं, अतः इनका वर्णन-विस्तार करने की आवश्यकता भी उसे प्रतीत नहीं हुई।

गति-प्रवाह

कथा और घटना-सम्बन्धी विशेषताओं के विवेचन के उपरान्त इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि मनोवैज्ञानिक कथा, अमूर्त घटनाओं के महत्त्व, वर्णनों में विश्लेषणात्मक पद्धति, तथा सामान्यतः समाख्यानात्मक वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण के स्थान पर आभ्यन्तरिक या आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण से इन कृतियों की प्रबन्ध-योजना में गति और प्रवाह की दिशा में कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई है। प्रबन्ध की सफलता, जितनी उसकी कथा, चरित्र-चित्रण, अभिव्यंजना, वर्णन-भंगिमा आदि पर निर्भर है, उतनी ही काव्य की गति और समुचित काव्य-रूप पर। इस दृष्टि से कथा-प्रधान खण्डकाव्यों में तो विशेष कठिनाई उत्पन्न ही नहीं हुई है। छोटे से आकार में स्वतः पूर्ण कथा कहने से रुकने के अवसर बहुत कम आए हैं। इसके अतिरिक्त कवि का ध्यान घटनाओं पर इतना केन्द्रित है कि वह एक प्रसंग से दूसरे प्रसंग पर पाठक की जिज्ञासा को साथ लिये चलता जाता है। सीमित आकार के कारण कहीं विलम कर व्यर्थ वर्णन-विस्तार

---

१. ग्रन्थि—सुमित्रानन्दन पन्त, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४८

से कथा को रोक रखने के स्थल भी नहीं आए हैं। अधिकांश काव्यों में उनके विस्तार के अनुकूल घटनाएं भी पर्याप्त हैं—अतः घटना-विरलता के कारण जो गति-अवरोध उपस्थित हो सकता था वह भी नहीं है, बल्कि कहीं-कहीं घटनाएं व प्रसंग अनेक होने के कारण काव्य में विशेष गति है। 'कर्बला', 'प्रदक्षिणा' आदि काव्यों में घटना-बहुलता के कारण शैली विवरणात्मक होने पर भी कथा-प्रवाह में क्षिप्रता है व अन्य शैलीगत गुणों के अतिरिक्त धारावाहिक वर्णनों के द्वारा प्रभविष्णुता की रक्षा की गई है। आख्यान-वर्णन का प्रमुख आकर्षण उसकी गत्वरता है जिसमें बहकर इतिवृत्त की रुक्षता भी सरसता में प्रवाहित हो गई है। 'वन-वैभव', 'बक-संहार', 'सैरन्ध्री', 'हिडिम्बा', 'पंचवटी' आदि रचनाओं में कथानक इकहरा और घटनाओं की भीड़-भाड़ न होने पर भी कथा-प्रवाह में कहीं स्थिरता या मंथरता नहीं आती। 'पंचवटी' और 'हिडिम्बा' जैसी रचनाओं में, एक ही घटनास्थल पर दो पात्रों में बहुत समय तक संवाद या स्वगत-भाषण होता रहता है परन्तु संवादों की सजीवता तथा प्रसंगों की विविधता से कथानक-वैचित्र्य बराबर बना रहता है और पाठक का मन एक क्षण को भी नहीं ऊबता।

मूर्त घटनाओं में वस्तुरूप सक्रियता के कारण काव्य में प्रवाह और गति प्रायः बनी रही है, विशेषकर ऐसे काव्यों में जहाँ घटनाएँ पर्याप्त और विस्तार सीमित हो, बीच में विराम या स्थिरता बहुत कम आ पानी है और पाठक एक घटना से दूसरी की ओर निरन्तर बढ़ता रहता है। जहाँ काव्य-विषय अमूर्त होता है वहाँ मूर्त आधार के अभाव में हृदय को रमाने की सामग्री कम होती है। जो अमूर्त है, सूक्ष्म है, वह बुद्धिगम्य हो सकता है अनुभूतिगम्य नहीं। इसीलिए अमूर्त विषय को लेकर, या मनोवैज्ञानिक धरातल पर काव्य-रचना करने वाले कवियों को इस विषय में बहुत सावधानी बरतनी पड़ती है। यदि चिन्तन या भावव्यंजना बहुत दूर तक एक ही विषय को लेकर की जाती है तो काव्य की गति में ऊबा देने वाले स्थलों की सृष्टि, तथा गति-अवरोध की आशंका बराबर बनी रहती है। इसीलिए विचाराभिव्यक्ति को इन काव्यों में अनेक रूपों में मूर्त आधार, प्रबन्धात्मकता की रक्षा के लिए प्रदान किया जाता है। कहीं प्रबन्धात्मकता के निर्वाह के लिए क्षीण-सा कथा-सूत्र अपना लिया जाता है तथा बीच-बीच में भी प्रसंगवश कुछ स्थूल वर्णन किये जाते हैं किन्तु कथा का यह प्रयोग गौण होता है। ऐसा रत्नाकर ने अपने 'उद्धवशतक' में किया है। कहीं अमूर्त विषय का नियोजन ही कथा-रूप में किया जाता है। इस कार्य में कहीं-कहीं भौतिक प्रसंगों की सहायता से अमूर्त प्रसंग परस्पर बाँध दिये जाते हैं, और कहीं कवि सूक्ष्म की अभिव्यक्ति के लिए स्थूल मूर्त-विधान का आश्रय लेता है, जिससे वर्णनों में केवल चित्रात्मकता ही नहीं आती, बल्कि शैली में दोहरे चित्रों और व्यंजना से श्री और सौंदर्य की वृद्धि होती है। 'तुलसीदास' की पद्धति इसी प्रकार की है। 'तुलसीदास' के अन्तर्मन की घटनाओं को कहानी का रूप दे दिया गया है। जहाँ इन प्रसंगों में भौतिक घटनाओं के जोड़ आवश्यक हैं वहाँ वे भी लगाये गए हैं। अनेक स्थलों पर आन्तरिक व्यंजना के लिए वस्तुरूप बिम्बविधान से ओज, अबाध गति और प्रवाह उत्पन्न हो गया है, उदाहरण के लिए ससुराल में तुलसीदास की रत्नावली द्वारा भर्त्सना से पूर्व दोनों की मनःस्थिति निम्नांकित पंक्तियों में किस सफलता से व्यंजित की गई है। मूर्त उपादानों के सहारे अंकित इस चित्र में अपूर्व गत्यात्मकता है—

अस्तु रे विवश मारुत प्रेरित,
पर्वत समीप आकर ज्यों स्थित
घन नीलालका दामिनी जित ललना वह,
उन्मुक्त गुच्छ चक्रांक-पुच्छ,
लख, नर्तित कवि-शिखि-मन समुच्च
वह जीवन की समझा न तुच्छ छलना वह।[1]

प्रसंग और भाव के अनुकूल, समग्र काव्य में कहीं अदम्य प्रवाह, और कहीं मन्थर लास्य की सी थिरकन है। तुलसीदास के अन्तर्द्वन्द्व, भारतीय जीवन की सांस्कृतिक स्थिति, शासक वर्ग के अत्याचार आदि का वर्णन अत्यन्त स्फूर्त और निर्बाध गति से किया गया है। पारिवारिक प्रसंगों में यही अद्भुत प्रवाह सरल चटुल गति में परिवर्तित हो गया है।

'बंगाल का काल' में कथा का कोई सुनिश्चित बन्ध नहीं। विचारों को भी कथात्मक रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया, परन्तु कवि ने एक समस्या पर अनेक पहलुओं से विचार किया है। वह उसके कारणों का विश्लेषण करता है, समस्या की स्थिति से व्यथित होता है, और निदान प्रस्तुत करता है। इस निदान की गवाही में वह विश्व के अन्य देशों में क्रान्ति की समानान्तर घटनाओं का वर्णन भी करता है। इस प्रकार विचार की दिशा बहुमुखी होने के कारण एकपक्षीय विचार का अवकाश बहुत देर तक नहीं रहता। स्थूल भौतिक घटनाओं को प्रस्तुत करते हुए देश और काल सम्बन्धी जो परिसीमा कवि के सामने रहती है, वह भी विचार-प्रधान काव्य में नहीं होती। बुद्धि की गति इन सब बन्धनों से परे असीम देश-काल तक हो सकती है। कवि को अनन्त सीमा तक दिग्भ्रमण की स्वतन्त्रता होती है। ऐसा ही कुछ 'बंगाल के काल' में हुआ है। समस्या एक, परन्तु पहलू और विचार अनेक होने के कारण शीघ्र ही एक प्रसंग से दूसरे पर स्थानान्तरण हो जाता है और प्रवाह अबाधित रहता है।

प्रबन्ध के सहज प्रवाह की दृष्टि से 'ग्रन्थि' के कवि को विशेष सफलता नहीं मिली। कथा-सूत्र तो बहुत क्षीण है ही, जो कुछ भौतिक घटनाएँ घटित भी होती हैं उन्हें भी भावाभिव्यक्ति के सहारे व्यंजित किया गया है, अथवा अत्यन्त साधारण रूप में चलता कर दिया है। नाव-दुर्घटना की आकस्मिकता एक क्षण के लिए भी न जिज्ञासा उत्पन्न करती है और न चौंका पाती है। शेष घटनाएँ नायक के भावोन्माद में ही खो गई हैं। इस विषय में भाव-वैविध्य भी नहीं है। जैसा पहले भी कहा जा चुका है सारा काव्य एक लम्बा प्रगीत-सा है, जिसके पूर्वार्द्ध में मिलन का उल्लास और उत्तरार्द्ध में विरह का उच्छ्वास व्याप्त है। घटनाओं में नाटकीय आकस्मिकता तो है ही नहीं, सक्रियता भी नहीं है, अतः कथा में निर्बाध गति और समुचित धारा-प्रवाह विकास नहीं मिलता। कथा हर स्थल पर रुकी सी और भाव थके-से जान पड़ते हैं। विविधता और भाव-स्फूर्ति के अभाव में कथा में प्रवाह नहीं है और प्रबन्ध के लिए इससे बड़ी कमी दूसरी नहीं हो सकती। 'चाँदनी रात और अजगर' में—अमूर्त और मूर्त के ताने-बाने से निर्मित कथानक, नवीन पद्धति से विहित वस्तु-विन्यास—जिसमें कुछ दूर तक कवि का विचार-क्रम और फिर स्मृति-

१. तुलसीदास—निराला, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ५२

रूप में विगत कारुणिक घटना का वर्णन है, अतः पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में सुनिश्चित क्रम-बन्धन नहीं, परन्तु काव्य में प्रवहमानता और गति है। कवि विचार में आगे ही आगे बढ़ता जाता है, न कहीं रुककर सोचता है और न पीछे मुड़कर देखता है। विचारों में ओज अतः प्राणवत्ता और वैविध्य है, इसलिए गत्यवरोध का अवकाश ही नहीं आया।

शिल्प

शैली-सम्बन्धी बाह्य विशेषताओं में से सर्ग-विभाजन तो इन काव्यों में हुआ ही नहीं है। कुछ विद्वानों ने 'ग्रन्थि' का विभाजन चार अध्यायों में माना है। कवि ने चार भिन्न स्थलों पर चार शीर्षक दिये अवश्य हैं परन्तु उनके आधार पर उन्हें अध्याय नहीं कहा जा सकता। पहले दो शीर्षकों—'एक बार' और 'एक प्रातः' में क्रमशः दोनों प्रेमियों के परस्पर आकस्मिक मिलन और नायिका के हृदय में प्रेम के अंकुरित होने का वर्णन है। शेष दो शीर्षकों—'अब इधर' और 'प्रेमवंचित' में नायक के प्रेम-विभोर हृदय, प्रेमिका से वियुक्ति और प्रेम-वंचित हृदय का वर्णन है। वास्तव में विरह-वर्णन पहले ही शीर्षक के अन्तर्गत आरम्भ हो गया है और दूसरे में उसी का क्रमिक निर्वाह है, न घटनास्थल बदला है और न प्रसंग, अतः इन दोनों को पृथक् अध्याय मानना उचित प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार दूसरे शीर्षक में जिस प्रसंग का वर्णन है उसका आरम्भ पहले में ही कर दिया गया है। एक प्रसंग से दूसरे को पृथक् करने में उन्हें अध्यायों या सर्गों में बाँटने का उद्देश्य कवि का प्रतीत नहीं होता। गुप्तजी ने 'वन-वैभव' का विभाजन पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में किया है, वस्तुतः इस प्रकार के विभाजन की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि कथा में अविच्छिन्न धारा-प्रवाह विकास है।

रचना का नामकरण इन रचनाओं में प्रायः तीन प्रचलित आधारों पर ही किया गया है—प्रमुख पात्र, घटनास्थल, व प्रमुख घटना। पहले में 'सैरन्ध्री', 'हिडिम्बा', 'उद्धव-शतक', 'प्रेम-पथिक', 'तुलसीदास', 'बरगद की बेटी' दूसरे में, 'पंचवटी', 'कर्बला' और तीसरे में, 'बक-संहार', 'रंग में भंग', 'महाराणा का महत्त्व', 'वन-वैभव' व 'बंगाल का काल' आते हैं। 'प्रदक्षिणा' के कवि ने जैसा काव्य के आरम्भ में स्पष्ट किया है, नामकरण कथा की संक्षिप्तता के कारण अपने दृष्टिकोण के अनुकूल किया है। 'प्रदक्षिणा' में वे राम-कथा की फेरी-सी लगा जाते हैं, यही इस नामकरण के पीछे तर्क है। 'ग्रन्थि' का नामकरण यदि ध्यान से देखें तो प्रमुख घटना के आधार पर ही है। काव्य का प्रतिपाद्य प्रेम-वंचित नायक के मन की वेदना अर्थात् विरहजन्य मनोग्रन्थि का वर्णन है। इसी आधार पर कुछ मनोवैज्ञानिक पद्धति पर इस काव्य का नामकरण हुआ है। 'चाँदनी रात और अजगर' काव्य का नाम संकेतात्मक है, वह कवि के उद्देश्य का व्यंजक है। परन्तु इस नाम से एक बार ही काव्य-विषय या काव्योद्देश्य का आभास नहीं होता। नामकरण की यह विधि सर्वथा नवीन ही कही जायगी।

मंगलाचरण का प्रयोग गुप्तजी ने अपनी कुछ कृतियों में किया है, पिछली रचनाओं में उनका यह आग्रह कम हो गया है। 'पंचवटी' में उन्होंने भी मंगलाचरण का विधान नहीं किया। 'बक-संहार', 'वन-वैभव', 'रंग में भंग' आदि में मंगलाचरण की योजना है। प्रसाद, पंत, बच्चन और अज्ञेय ने इस रूढ़ि के प्रति नितान्त उपेक्षाभाव दिखाया है।

वर्णन-शैली—महाकाव्य की ही भाँति खण्डकाव्य का परम्परागत रूप कथात्मक, और

रचना-शैली समाख्यानात्मक या वर्णनात्मक होती थी। अधिकांश कथाश्रित काव्य इसी परोक्ष समाख्यान शैली में आधुनिक काल से पूर्व लिखे गये; परन्तु आधुनिक काल में शैली की दृष्टि से निर्बन्ध काव्य की भाँति प्रबन्ध में भी अनेक नवीन दिशाओं में विकास और प्रगति हुई। यह परिवर्तन दो रूपों में स्पष्ट देखा जा सकता है—(१) परोक्ष समाख्यान शैली के साथ प्रत्यक्ष नाटकीय शैली का संवादों के रूप में प्रयोग, और वस्तुप्रधान कथानकों में पात्रों की भावप्रवण आत्माभिव्यक्ति के स्थलों पर गीति-शैली का प्रयोग इस सिद्धि की एक दिशा थी (२) दूसरी ओर विचार के लिए वर्णन के स्थान पर कवियों ने विश्लेषण का आश्रय लिया। इस प्रकार बौद्धिक या विचारप्रधान काव्यों की शैली वर्णनात्मक, अभिनयात्मक, या प्रगीतात्मक होने के स्थान पर मनोविश्लेषणात्मक अधिक होने लगी। इसी शैली में 'निराला' के 'तुलसीदास' और 'बच्चन' के 'बंगाल का काल' के अधिकांश की रचना हुई। 'उद्धवशतक' में भी कहीं-कहीं तर्क-पद्धति का सहारा लिया गया है। 'निराला' ने नायक का मनोविश्लेषण और 'बच्चन' ने आत्मविश्लेषण प्रस्तुत किया है। 'चांदनी रात और अजगर' में भी कवि का अपना विचार-क्रम बहुत दूर तक इसी शैली में व्यक्त हुआ है। प्रगीतात्मक और विश्लेषणात्मक शैलियों में परस्पर अन्तर शिल्प का नहीं मूल दृष्टिकोण का अधिक है। एक की सृजन-प्रक्रिया अधिक अनुभूतिपरक अतः भावमय और दूसरी की बुद्धिपरक अतः विचारमय है। विषय दोनों का ही अमूर्त और सूक्ष्म होता है, केवल प्रगीत की अभिव्यंजना में भावनाओं के सहज उच्छलन की, और बौद्धिक काव्य में विश्लेषणात्मक विचार की प्रधानता होती है।

कुछ इनी-गिनी रचनाओं को छोड़कर, शेष सभी कृतियों में नाटकीय शैली का प्रचुरता से प्रयोग किया गया है। प्रगीत-शैली के प्रयोग के अधिक अवसर इन काव्यों में इनके सीमित आकार के कारण नहीं प्राप्त हो सके। एक पात्र की कुछ दूर तक भावमय आत्माभिव्यक्ति का अवकाश आकार की परिसीमाओं के कारण नहीं मिला। अभिप्राय यह नहीं कि अन्तर्वृत्ति-निरूपण इनमें हुआ ही नहीं। कहीं अन्य पात्र के द्वारा, कहीं आत्मसंलाप, और कहीं स्वगत-भाषण का प्रयोग कर, पात्रों की आन्तरिक विशेषताओं का निरूपण कवि ने किया तो है, पर स्वतन्त्र प्रगीतों में नहीं। परन्तु जितनी प्रचुरता से वर्णनात्मक शैली की नीरसता, अभिनयात्मक शैली की सजीवता में रूपान्तरित की गई है, उतनी प्रगीत की द्रवणशीलता एवं सरसता में नहीं।

कुछ कृतियाँ निपट समाख्यान शैली में भी लिखी गईं। उनमें खण्डकाव्य की परम्परा-भुक्त इतिवृत्त वर्णन-पद्धति रक्षित है। गुप्तजी की 'सैरन्ध्री', 'वन-वैभव', 'युद्ध' आदि रचनाएँ इसी ढंग की हैं। कुछ अन्य कृतियों में प्रगीत के तत्त्व तो नहीं मिलते परन्तु नाट्यशैली के प्रयोग से वर्णन की एकरसता दूर होकर सजीवता और नाटकीय कुतूहल उत्पन्न हो गया है। 'पंचवटी' और 'महाराणा का महत्त्व' आदि रचनाओं में इस काव्य-शैली का इतना प्रकर्ष हुआ है कि काव्य का विकास नाटकीय दृश्य-शृंखला में होता प्रतीत होता है। 'पंचवटी' में इस नाट्य गुण का चरम उत्कर्ष हुआ है। अन्यथा भी संवादों का प्रयोग गुप्तजी की प्रबन्ध-शैली की सहज विशेषता है। 'हिडिम्बा', 'कर्बला', 'बक-संहार' में स्थान-स्थान पर संवादों का प्रयोग किया गया है। 'प्रदक्षिणा' जैसे छोटे-से काव्य में घटनाएँ अनेक और सीमित आकार के कारण संक्षिप्त वर्णन-शैली का अनुवर्त्तन स्वाभाविक था, पर वहाँ भी गुप्तजी ने अनेक प्रसंग कथोपकथनों के द्वारा

आकर्षक बनाए है। कवि प्रसाद ने 'प्रेम-पथिक' की सम्पूर्ण कथा का विकास संवादों में किया है। परन्तु इस शैली का जितना सौष्ठव 'महाराणा का महत्त्व' और उससे भी अधिक वैभव 'पंचवटी' में उपलब्ध होता है उतना अन्य रचनाओं में नहीं। 'पंचवटी' में अनेक दृश्य परस्पर प्रबन्ध-रूप में बाँध दिये गए हैं। कवि जहाँ अपनी ओर से भी वर्णन करता है वहाँ भी नाटकीय आकस्मिकता और दृश्यात्मकता बनी रहती है। विचारमग्न लक्ष्मण के सामने अपूर्व सुन्दरी के रूप में शूर्पणखा का आगमन इसी प्रकार सहसा होता है। लक्ष्मण और निशा-सुन्दरी शूर्पणखा के लम्बे सम्वाद के बीच में ही सीता रंगमंच पर आ जाती हैं। सीता के इस प्रवेश में अपूर्व सौन्दर्य तथा नाटकीयता है। प्रसंग अपने-आप में नाटकीय दृश्य जान पड़ता है—

उसी समय पौ फटी पूर्व में पलटा प्रकृति नटी का रंग,
किरण-कंटकों से श्यामाम्बर फटा, दिवा के दमके अंग।
कुछ-कुछ अरुण सुनहली कुछ-कुछ प्राची की अब भूषा थी,
पंचवटी की कुटी खोलकर खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी?
अहा! अम्बरस्था ऊषा भी इतनी शुचि सस्फूर्ति न थी,
अवनी की ऊषा सजीव थी अम्बर की सी मूर्ति न थी।[1]

कथानक का विकास इसी प्रकार के दृश्यों और नाटकीय प्रसंगों में होता है, और वह पाठकों को प्राकृतिक रंगमंच पर अभिनीत नाटक सा जान पड़ता है। इस प्रकार के दृश्यों के अतिरिक्त चरित्र-चित्रण भी स्वगत-भाषण या कथोपकथन के द्वारा किया गया है कवि के शब्दों में नहीं। इसी प्रकार 'महाराणा का महत्त्व' का आरम्भ ही अत्यन्त नाटकीय शैली में संवाद से हुआ है। केवल संवादों के रूप में ही नहीं, गुप्तजी की शैली में यह नाटकीयता विद्यमान है। एकाकी लक्ष्मण का आत्मचिन्तन भी वे प्रश्नोत्तर के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वातावरण का निर्माण करके अपने पात्रों का प्रवेश और परिचय भी वे नाटकीय ढंग से देते हैं। कवि एक प्रश्न करके पाठक के मन में भी कौन? और क्या? सम्बन्धी जिज्ञासा उद्बुद्ध कर देता है, और फिर उत्तर के रूप में इस जिज्ञासा की परितृप्ति होती है। 'पंचवटी' के आरम्भ में प्राकृतिक पृष्ठभूमि तत्पर करने के उपरान्त लक्ष्मण, और उसके बाद राम-सीता के परिचय की शैली देखिये—

जाग रहा यह कौन धनुर्धर
जब कि भुवन भर सोता है
भोगी कुसुमायुध योगी सा
बना दृष्टिगत होता है?[2]

और इस प्रश्न के उत्तर में हम प्रहरी लक्ष्मण का परिचय पाते हैं। इसी प्रकार सीता और राम से परिचित कराने से पूर्व एक प्रश्न उपस्थित है:

बना हुआ है प्रहरी जिसका

---

१. पंचवटी—मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ ३७
२. ,, ,, पृष्ठ ६

उस कुटीर में क्या धन है ?[1]

जहाँ पात्र सजीव-साकार हैं, सामने प्रस्तुत होकर सवाक् तर्क-वितर्क, वार्तालाप और परस्पर विचार-विनिमय करते हैं, वहाँ तो संवादों के रूप में नाटकीयता का समावेश करने के अवसर सहज प्राप्य होते हैं, परन्तु जहाँ घटनाएँ मूर्त नहीं, जहाँ सजीव प्राणियों में नहीं अशरीरी सूक्ष्म भावनाओं में संघर्ष, द्वन्द्व या ऊहापोह चित्रित है, वे काव्य भी इस नाटकीय गुण से शून्य नहीं हैं। 'तुलसीदास' में इसी प्रकार का एक प्रसंग लीजिये—

बंध के बिना, कह, कहाँ प्रगति ?
गति-हीन जीव को कहाँ सुरति ?
रति-रहित कहाँ सुख ? केवल क्षति—केवल क्षति;
यह क्रम-विनाश; इससे चल कर
आता सत्वर मन निम्न उतर,
छूटता अन्त में चेतन स्तर, जाती मति।[2]

रत्नावली के प्रेम में तुलसीदास का मोहान्ध मन अपने लिए अनेक प्रश्नों की उद्भावना कर अनुकूल उत्तर की कल्पना कर लेता है। इस प्रकार की अनिश्चित मनःस्थिति की व्यंजना उपर्युक्त प्रश्नोत्तर शैली से अधिक सजीव और नाटकीय हो गई है। 'उद्धवशतक' की रचना तो आद्यन्त ही संवाद-शैली में हुई है। इन संवादों में तर्क की चोट, उपालम्भ की कसक, बुद्धि की सजीवता और भावजन्य मृदुलता सभी कुछ विद्यमान हैं। 'ग्रन्थि', 'बंगाल का काल', और 'चांदनी रात और अजगर' की शैली में नाटकीयता नहीं मिलती। 'ग्रन्थि में कुछ अत्यन्त निर्जीव और असफल संवादों की योजना कवि पन्त ने की है—आरम्भ में प्रेमी-प्रेमिका के प्रथम मिलन के अवसर पर, तथा दूसरे प्रसंग में सखियों की वार्ता के प्रसंग में। पहले में ये संवाद अत्यन्त निर्जीव आत्मसंलाप से जान पड़ते हैं। सजीवता और प्रत्युत्पन्नमति का गुण रंच-मात्र भी नहीं। इसी प्रकार जहाँ अनेक सखियाँ एकत्र होकर आत्मानुभव सुनाती हैं वहाँ भी संवाद की अपेक्षा वार्ता-क्रम सा अधिक बन गया है। एक पात्र कुछ दूर तक आत्मसंलाप करने के उपरान्त मौन हो जाता है, और दूसरा अपनी वार्ता आरम्भ कर देता है, और फिर तीसरा, इसी प्रकार यह क्रम बँध जाता है। एक ही पात्र दो बार बहुत कम बोलता है, अतः इस शैली को संवाद केवल इसीलिए भले ही कह दिया जाए कि वक्ता पात्र हैं, और एक से अधिक, इसके अतिरिक्त नाटकीयता इस काव्य में बिल्कुल नहीं।

'बंगाल का काल' में अन्तर्द्वन्द्व, तर्क-वितर्क उतना नहीं है जितना मान्यता का प्रतिपादन। कवि के मन में अपनी विचारधारा के विषय में किसी प्रकार की शंका नहीं। वह स्पष्ट सीधे ढंग से अपनी बात कहता चलता है, विचार व्यक्त करता जाता है। उसमें उत्तेजना है, ललकार और सजीवता है, परन्तु अन्तर्द्वन्द्व के अभाव में संवाद-योजना के अवसर उसे प्राप्त नहीं होते। 'चाँदनी रात और अजगर' में भी विचारों की ऊहापोह है, संघर्ष नहीं।

---

१. पंचवटी—मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ ६
२. तुलसीदास—निराला, पृष्ठ ३७

प्रगीत-शैली का प्रयोग सच्चे अर्थों में इस सम्पूर्ण काव्य-वर्ग में केवल 'ग्रन्थि' में हुआ है। अन्तर्वृत्ति-निरूपण, विचार-विश्लेषण तो अन्य काव्यों में भी हुआ है, परन्तु पात्र की भाव-प्रवण आत्माभिव्यक्ति के लिए प्रगीत का माध्यम कवियों ने नहीं अपनाया। 'प्रेम-पथिक' में भी कथा के बीच में अनेक स्थलों पर विशेष भावुक और रोमानी अभिव्यक्ति है, परन्तु भौतिक घटनाओं का वस्तुगत आधार सर्वत्र वर्तमान होने के कारण यह अभिव्यक्ति नितान्त आत्मनिष्ठ नहीं हो सकी है, और प्रगीत के लिए सर्वथा विषयीप्रधान दृष्टिकोण अनिवार्य है। 'ग्रन्थि' में इस शैली का परिपाक हुआ है, परन्तु जिस आशंका से अन्य कवि कदाचित् सीमित आकार के कारण इस शैली को बचा गए थे, वही दोष इस काव्य में उत्पन्न हो गया है। प्रबन्ध के स्थान पर यह रचना लम्बा प्रगीत-सा हो गई है, जिसमें एकरसता और कहीं-कहीं नीरसता है। भाषा और शैली की अभिव्यंजना-शक्ति का यद्यपि इस काव्य में विकसित और अत्यन्त निखरा रूप मिलता है, परन्तु सफल प्रबन्ध कृति के रूप में यह प्रगीत तत्त्व इसके लिए बाधक सिद्ध हुआ है। उक्त समस्त विशेषताओं से युक्त एक उदाहरण प्रस्तुत है जिसमें कवि ने प्रेम-वंचित हृदय की व्याख्या की है—

ओस जल-से सजल मेरे अश्रु हैं
पलक दल में दूब के बिखरे पड़े।
पवन पीले पात में मेरा विरह
है खिलाता दलित मुरझे फूल सा।
सुमन दल में फूट, पागल सी, अखिल
प्रणय की स्मृति हंस रही है, मुकुल में
वास है अज्ञात भावी कर रही
आज मेरी द्रौपदी सी परवशा।[1]

शैली की उक्त विशेषताओं के अतिरिक्त चित्रमयता, लाक्षणिकता एवं व्यंजनात्मकता, नवीन अलंकरण, पाश्चात्य अलंकारों का प्रयोग आदि विशेषताएँ गुप्तजी की आरम्भिक रचनाओं की अपेक्षा पिछली कृतियों में, और उनकी अपेक्षा भी छायावादी काव्य-शैली के उन्नायक कवि पन्त और प्रसाद के काव्य में अधिक मिलती हैं। गुप्तजी के 'रंग में भंग', 'बक-संहार', 'वन-वैभव', 'सैरन्ध्री', 'युद्ध' आदि काव्यों में अभिधा-प्रधान, प्रसादमय, समाख्यान शैली का प्रयोग किया गया है। 'कर्बला' और 'प्रदक्षिणा' भी इसी शैली में लिखे गए। इन काव्यों की अभिव्यंजना स्पष्ट, स्फीत, प्रसादगुण-युक्त तो है, परन्तु विशेष श्री, सज्जा से युक्त चमत्कारपूर्ण व अलंकृत नहीं। इसकी शैली को अनावृत्त भी नहीं कहा जा सकता। अलंकारों का प्रयोग भी किया गया है परन्तु उनमें विशेष नवीनता या कल्पना-विलास नहीं।

नाटच-शैली का प्रयोग किसी भी प्रबन्ध-रचना में दो रूपों में हो सकता है—वर्णन के स्थान पर सजीव और चुस्त संवाद-योजना से, तथा वर्णनों की चित्रात्मकता से, अर्थात् वर्णन इस रूप में किये जायँ कि उनमें रेखाओं या वर्णों, अथवा दोनों की इतनी निश्चितता (exactness) तथा

१. ग्रन्थि—सुमित्रानन्दन पन्त, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४७

समग्रता हो कि वे वर्ण्य-विषय को चारों ओर से घेरकर इस प्रकार अंकित कर दें कि सम्पूर्ण वर्णन एक शब्दमय चित्र-सा प्रतीत हो और शुक्लजी के शब्दों में प्रमाता केवल अर्थ-ग्रहण न कर, बिम्ब-ग्रहण में समर्थ हो सके। ये चित्र प्रकृति, राजनीति और समाज, किसी भी क्षेत्र के किसी विशद प्रसंग से सम्बद्ध विराट् और भव्य चित्र भी हो सकते हैं, तथा मानव-रूप, सौन्दर्य, मुद्रा या क्रिया के लघु, कोमल, सीमित फलक पर अंकित चित्र भी हो सकते हैं। सीमा-विस्तार के अतिरिक्त एक भेद इन चित्रों में गति और स्थिरता का भी होता है। विषय के अनुकूल कुछ चित्र स्थिर (static) तथा अन्य गत्यात्मक (dynamic) हो सकते हैं। वर्णनों में यह चित्र-मयता गुप्तजी की सभी कृतियों में तो नहीं, 'हिडिम्बा' के कुछ प्रसंगों में, और 'पंचवटी' में प्रभूत मात्रा में मिलती है। 'पंचवटी' में भव्य और विराट् चित्र तो नहीं परन्तु प्राकृतिक, पारिवारिक और सबसे अधिक मानवीय रूप के चित्र अंकित किये गए हैं। 'पंचवटी' के अधिकांश चित्र स्थिर चित्र हैं। मायाविनी शूर्पणखा का रूप-वर्णन नेत्रों के समक्ष एक चित्र-सा अंकित कर देता है—

कटि के नीचे चिकुर जाल में, उलझ रहा था बायाँ हाथ,
खेल रहा हो ज्यों लहरों में लोल कमल भौंरों के साथ।
बायाँ हाथ लिए था सुरभित चित्र विचित्र सुमन माला,
टाँगा धनुष कि कल्पलता पर मनसिज ने झूला डाला।[1]

इसी प्रकार रूप-परिवर्तन की भीषणता भी चित्रात्मक है। प्रसाद ने 'प्रेम-पथिक' और 'महाराणा का महत्त्व' में भी इसी चित्रात्मक शैली का अवलम्बन अनेक प्रसंगों में लिया है। 'बरगद की बेटी' में प्रत्यक्ष चित्र तो कवि ने अंकित नहीं किए, किन्तु कहीं-कहीं सुन्दर चित्र-व्यंजना है—

तरुणाई उसके अंगों की
सावन की सरि तूफानी।[2]

दूसरी पंक्ति में दी गई उपमा से नायिका के यौवन की मांसलता साकार हो उठी है।

वस्तुतः चित्रात्मकता कवि की संवेदनशीलता और कल्पना की उर्वरता पर सर्वाधिक निर्भर है। वह जिस विषय का वर्णन करता है, वह अनुभूत हो या कल्पित, दोनों के लिए उर्वरा कल्पना की अपेक्षा है। इसी समृद्ध कल्पना के सहारे पूर्वानुभव की स्थिति में वह इस अनुभव को पुनः सद्य बनाता है, और कल्पित विषय का अन्तःसाक्षात्कार कर अपने मन पर उसके छाया-चित्र अंकित कर लेता है, यही छायाचित्र पुनः मूर्तिविधायिनी कल्पना के सहारे शब्दों में बँधी रेखाओं और रंगों के सवाक्, स्वर्ण चित्र बन जाते हैं। यह समस्त प्रक्रिया बहुत कुछ फोटोग्राफी की—मूल विषय (object) के छाया-रूप (negative) और उसके स्पष्ट (positive) चित्र बनाने के समान है। परन्तु उसके समान यान्त्रिक और स्थूल नहीं, भावमय और सूक्ष्म है। इसी कारण 'निराला' ने काव्य-विषय अमूर्त होने पर भी, उद्दाम प्रतिभा और नवोन्मेषिनी कल्पना के सहारे सम्पूर्ण काव्य में चित्रों का क्रम बाँध दिया है। कथा, चित्रों के द्वारा ही आगे

---

१. पंचवटी—मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ २१
२. बरगद की बेटी—उपेन्द्रनाथ अश्क, पृष्ठ ५३

बढ़ती है। अधिकांश छन्द अपने आप में एक छोटा-सा चित्र हैं। अन्तर्मन की भावनाओं का विकास चित्रों के सहारे अंकित किया है। ऐसा करने के लिए कहीं कवि ने सांगरूपक और मानवीकरण, तथा अन्यत्र सूक्ष्म के लिए स्थूल मूर्तविधान का प्रयोग किया है। ऐसा प्रतीत होता है मानो रूप-रंग के अन्तरपट खुलते जा रहे हों। सारा उपक्रम पत्थर में मूर्ति अथवा चित्र उत्कीर्ण करने की कला के समान है जिसकी वाहक भाषा भी महाप्राण पत्थर की भाषा के समान समर्थ है। श्वसुर गृह में तुलसीदास के अनाहूत पहुँचने पर रत्नावली के इस रूप-चित्र में (तुलसीदास के मिलन के प्रसंग में) मनःस्थिति की भी व्यंजना है—

बिखरी छूटीं शफरी अलकें,
निष्पात नयन नीरज पलकें,
भावातुर पृथु उर की छलकें उपशमिता,
निःसंबल केवल ध्यान-मग्न,
जागी योगिनी अरूप लग्न,
वह खड़ी शीर्ण प्रिय-भाव-मग्न निरुपमिता।[1]

कहीं-कहीं उनकी इस कला का चरम उत्कर्ष, चित्रों के अंकन के स्थान पर चित्रव्यंजना के रूप में हुआ है। उपर्युक्त प्रसंग से कुछ ही छन्द पहले भाभी के व्यंग्य से मर्माहत रत्नावली की मनःस्थिति का वर्णन करते हुए कवि ने सम्पूर्ण चीर-हरण के दृश्य की रूपक के माध्यम से व्यंजना की है—

बोली मन में होकर अक्षम
रक्खो, मर्यादा पुरुषोत्तम!
लाज का आज भूषण, अबला, नारी का,
खींचता छोर, यह कौन और
पैठा उनमें जो अधम चोर?
खुलता अब अंचल, नाथ, पौर साड़ी का।[2]

ऐसे अनेक उदाहरण 'तुलसीदास' में आद्यन्त मिल जायँगे। चित्रों का यह वैभव सामान्यतः अन्य काव्यों में, और विशेषकर अमूर्त विषय को लेकर लिखे जाने वाले काव्यों में अत्यन्त दुर्लभ है। 'तुलसीदास' के अधिकांश चित्र 'पंचवटी' के समान स्थिर नहीं, गत्यात्मक चित्र हैं। 'ग्रन्थि' में सर्वत्र नहीं, परन्तु रूप और मुद्राओं के कुछ विरल चित्र मिल जाते हैं। निम्नांकित प्रसंग की आरम्भिक पंक्तियों में मुद्रा और फिर रूप का चित्र आंकने का प्रयत्न है—

एक पल, मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे,
चपलता ने इस विकंपित पुलक से
दृढ़ किया मानों प्रणय संबंध था।

१. तुलसीदास—निराला, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ५३
२. तुलसीदास, पृ० ५०

लाज की मादक सुरा सी लालिमा
फैल गालों में, नवीन गुलाब-से,
छलकती थी बाढ़ सी सौन्दर्य की
अधखुले गढ़ों से·····सीप से।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने चित्र की रेखाकृति ही अंकित नहीं की उसमें वर्ण भी भरे हैं। 'उद्धवशतक' में भी कुछ इने-गिने प्रसंग इस प्रकार के मिल जाते हैं परन्तु 'बंगाल का काल' और 'चाँदनी रात और अजगर' में इस विशेषता का अभाव है।

चित्रात्मकता के अतिरिक्त लक्षणा-व्यंजनाजन्य वक्रता का प्रयोग भी 'प्रेम-पथिक' और उससे भी अधिक 'तुलसीदास' में मिलता है। छायावादी काव्य की अन्य विशेषताएँ—प्रतीकात्मकता, अमूर्त-व्यंजना आदि भी इन्हीं कृतियों और 'ग्रन्थि' में प्राप्त होती हैं। गुप्तजी का अधिकांश काव्य अभिधाश्रित है, दूसरी ओर 'निराला' ने लक्षणा और व्यंजना का प्रयोग अत्यधिक किया है। 'निराला' की भाषा की अतिशय सांकेतिकता का कारण—विचार और भाव की सूक्ष्मता नष्ट न करने का लोभ ही है। इस आग्रहवश कवि को प्रायः व्यंजना के साथ बलात्कार करना पड़ा है।

अन्य कवियों ने लक्षणा पर आश्रित चित्र-भाषा का ही प्रयोग किया है। 'ग्रन्थि' में साध्यवसना गौणी लक्षणा का एक उदाहरण है—

हाय ! मेरे सामने ही प्रणय का ग्रन्थि बन्धन हो गया, वह नव कमल,
मधुप सा मेरा हृदय लेकर, किसी अन्य मानस का विभूषण हो गया।[2]

परन्तु 'निराला' ने व्यंजना का प्रयोग अधिक किया है। व्यंजना, लक्षणा पर आश्रित रहती है। अनुभूति जगाने के लिए प्रत्यक्षता अनिवार्य नहीं तो सहायक अवश्य है। 'निराला' ने प्रायः लक्षणा को छोड़कर सीधे व्यंजना का प्रयोग किया है—इसी कारण उनकी अभिव्यंजना में प्रत्यक्षता कम है। कहीं-कहीं नाद गुण पर अत्यधिक ध्यान देने के कारण भी इनके प्रयोग प्रचलित प्रयोगों से दूर पड़ जाते हैं। कहीं लक्षणा पर लक्षणा का आरोप कर दिया गया है और कहीं व्यंजना बहुत गूढ़ हो गई है। उनकी इस प्रवृत्ति का तत्काल प्रभाव उनकी भाषा पर पड़ा है, जिसकी विशेषताओं का अध्ययन अपने-आप में एक स्वतन्त्र विषय हो सकता है। प्रस्तुत प्रसंग में हमारा अभिप्राय इतना ही है कि शब्द की इन शक्तियों के प्रयोग से जो वक्रता, चमत्कार या सौन्दर्य तथा कहीं-कहीं अर्थ-दुरूहता काव्य में उत्पन्न हो सकती है, वह सब 'तुलसीदास' में वर्तमान है।

'अश्क' की दोनों कृतियों में विशेष चित्रमयता तथा लक्षणा-व्यंजना का चमत्कार नहीं मिलता, परन्तु उनकी शैली में उर्दू-कविता की-सी सफाई और परिमार्जन वर्तमान है। 'अश्क' की कविता, कथा की ही भाँति पद-रचना की दृष्टि से भी गढ़ी हुई नहीं, स्वाभाविक और सरल है। 'चाँदनी रात और अजगर' का विषय अपेक्षाकृत गम्भीर और वस्तु-विन्यास विषम है, परन्तु

---

१. ग्रन्थि—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० १०
२. ग्रन्थि—सुमित्रानन्दन पंत, पृष्ठ ३४

शैली वहाँ भी दुर्बोध नहीं है। कहीं-कहीं प्रतीकात्मक शब्दावली में भावाभिव्यंजना का प्रयत्न कवि ने अवश्य किया है। 'बरगद की बेटी' में धनिक वर्ग के प्रतिनिधि युवक अनवर के प्रेमपाश में भोली ग्राम्या लहरां के फँस जाने का प्रसंग देखिये—

फड़ फड़ सा करता आया, खग,
भोला उलझ गया तत्क्षण।
दुख का था आरम्भ जिसे वह,
समझा सुखमय नव जीवन।[1]

'चाँदनी रात और अजगर' में इसी प्रकार निम्न वर्ग की सन्तति की प्रतिभा को अननुकूल वातावरण में कवि इस प्रकार देखता है—

नया रक्त पा लाल बने, जो
फूल हुए जाते थे पीले।
तज कर सब संकोच खिले हैं,
गुल सिमटे, सिकुड़े, शर्मीले।[2]

अलंकृति—परम्परागत साम्य और वैषम्यमूलक अलंकारों के साथ नवीन चमत्कार-मूलक अलंकारों—मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, ध्वन्यार्थव्यंजना आदि का भी प्रयोग प्रसाद, पन्त, निराला और कहीं-कहीं अश्क ने अपनी काव्य-रचनाओं में किया है। मूर्त के लिए अमूर्त, और अमूर्त के लिए मूर्त अप्रस्तुत-विधान की पद्धति का अनुसरण भी इन कवियों ने किया है। 'ग्रन्थि' में इस प्रकार की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

अरुण आभा में रंगा था वह पतन
रज कणों सी वासनाओं से विपुल।
अचिरता से सहज आभूषित हुई
कीर्ति कितनी है नहीं छिपती त्वरित,
सांध्य महिमा सी, प्रभा अवसान से।[3]

इसी प्रसंग की अनुवर्ती पंक्तियों में यमक का चमत्कारप्रधान प्रयोग देखिये—

तरणि के ही संग तरल तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में,[4]

'तुलसीदास' में विशेषण-विपर्यय का प्रयोग कवि ने इस प्रकार किया है—

कल्मषोत्सार कवि के दुर्दम
चेतनोर्मियों के प्राण प्रथम।[5]

---

१. बरगद की बेटी—उपेन्द्रनाथ अश्क, पृष्ठ ९२
२. चांदनी रात और अजगर—उपेन्द्रनाथ अश्क, पृष्ठ ५४
३. ग्रन्थि—पन्त, पृ० ७
४. वही, पृ० ७
५. तुलसीदास, पृ० २९

उपर्युक्त पंक्तियों में चेतना उर्मियों का नहीं व्यक्ति के प्राणों का विशेषण है। उर्मियाँ चेतन कैसे हो सकती हैं? विरोधाभास का विरोधजन्य चमत्कार तो अनेक पंक्तियों में विद्यमान है। कुछ अंश देखिये—

रग-रग से रंग रहे जाग स्वप्नोत्पल।[1]

मैं बँधा एक शुचि आलिंगन,
आकृति में निराकार चुम्बन;
युक्त भी मुक्त ज्यों आजीवन लघिमा में।[2]

इनके साथ-साथ रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह आदि अनेक चिरपरिचित अलंकारों का प्रयोग मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, 'अश्क' आदि सभी कवियों ने किया है। अलंकरण-पद्धति की प्राचीन और नवीन दोनों सारणियों का समागम इन काव्य-रचनाओं में इस प्रकार हुआ है।

छन्द-योजना—सर्ग-विहीन होने के कारण इन रचनाओं में छन्द-परिवर्तन का उपक्रम कवियों ने नहीं किया, अतः विवेच्य विषय इनमें प्रयुक्त छन्दों के प्रकार हैं, और इस दृष्टि से इन कृतियों में प्राचीन प्रयोगों के साथ नवीनतम छन्द-निर्माण और छन्द-प्रयोग के उदाहरण विद्यमान हैं। इन कवियों ने परम्परासिद्ध छन्दाकार प्रयुक्त किये, अन्य भाषा के साहित्य से छन्द ग्रहण किये, एकाधिक प्रचलित छन्दों के योग से नवीन छन्द-निर्माण किया, और प्राचीन छन्दों का नए ढंग से प्रयोग किया। परम्परागत छन्दों में इन्होंने मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग किया है जिसमें कोई विशेष नवीनता नहीं। 'रंग में भंग' की रचना गीतिका छन्द में, 'वन-वैभव' की चौपई छन्द में, और 'सैरन्ध्री' की छप्पय छन्द में हुई है। 'प्रदक्षिणा' तथा 'पंचवटी' में वीर तथा ताटंक छन्द का, तथा 'बरगद की बेटी' में केवल ताटंक का प्रयोग हुआ है। 'कर्बला' की रचना रोला छन्द में हुई है। रत्नाकर कवि ने 'उद्धव-शतक' की रचना कवित्त छन्द में की।

नवीन छन्दों में दो प्रकार के प्रयोग इन कवियों ने स्पष्ट रूप से किये—(१) शास्त्र-विहित छन्दों का उनके यथावत् निर्दिष्ट रूप में प्रयोग न करके, उनमें यति, अन्त्यानुप्रास, पंक्तियों के क्रमादि में विषय की आवश्यकता के अनुकूल परिवर्तन किये; तथा साहित्य में उद्-भूत नवीन चेतना की स्वीकृति कर प्रचलित छन्दों का अतुकान्त रूप में, तथा मुक्त छन्द का उपयोग भी इन कवियों ने अपनी रचनाओं में किया। यह नवीनता की एक दिशा थी जिसमें विद्यमान को परिवर्तित रूप में, तथा अविद्यमान को अन्य स्रोतों से ग्रहण किया गया। (२) दूसरी दिशा में इन कवियों ने दो प्रचलित छन्दों के सुरुचिपूर्ण मिश्रण से अपने विषयानुकूल छन्द का निर्माण किया। कहीं-कहीं अपनी नवोन्मेषिणी प्रतिभा से इन्होंने मौलिक छन्द-रचना भी की है। ऐसे छन्दों का आधार मात्रिक गणना की अपेक्षा गति और लय अधिक है। भाव की गति-विधि के अनुकूल छन्द में भी गुरु-लघु मात्राओं के क्रम-विन्यास से उतार-चढ़ाव उत्पन्न किया गया है। छन्द के यति सम्बन्धी नियमों का पालन करते हुए पंक्ति में गति व विराम की योजना

१. तुलसीदास—निराला, पृ० ५१
२. वही, पृ० ३८

न करके, भाव की आवश्यकता के अनुकूल यति और विराम के प्रयोग किये गए। ऐसी स्थिति में प्रायः इन कवियों ने एकाधिक पंक्तियों में प्रवाहित होने वाले अन्तः प्रवेशी वाक्यों का प्रयोग किया है। कदाचित् इनकी धारणा उचित ही थी कि पंक्ति की समाप्ति के साथ अनिवार्य नहीं कि भाव-धारा समाप्त हो जाय, अथवा उसमें अस्थायी या क्षणिक विराम हो, अतः एक अभिप्राय या भाव-खण्ड के व्यंजक वाक्य की इति भी पंक्ति के साथ आवश्यक नहीं।

'बंगाल का काल' में सर्वत्र, और 'चाँदनी रात और अजगर' में अंशतः, अंत्यानुप्रास-हीन मुक्त छन्द का प्रयोग किया गया है। इन रचनाओं के अतिरिक्त अन्य कृतियों में प्रयुक्त नवीन अथवा निर्मित मिश्र छन्दों का आधार हिन्दी के प्रचलित मात्रिक छन्द ही हैं। केवल अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुकूल उनमें थोड़ा-सा परिवर्तन कर उन्हें भिन्न ढाँचे में ढाल लिया गया है अन्यथा उनके मूलभूत नियम तथा पद्धति मात्रिक छन्दों की ही है।

प्रचलित छन्दों का नव्य प्रयोग सबसे अधिक भिन्न तुकान्त रूप में किया गया। पन्त ने 'ग्रन्थि' में विप्रलम्भ के लिए विशेष अनुकूल छन्द पीयूषवर्ष का प्रवहमान भिन्न तुकान्त प्रयोग किया। इस छन्द के विषय में उनकी अपनी मान्यता थी—"पीयूषवर्षण की ध्वनि से कैसी उदासीनता टपकती है ? मरुभूमि में बहने वाली निर्जन तटिनी की तरह, जिसके किनारे पत्र-पुष्पों के शृंगार से विहीन, जिसकी धारा लहरों के चंचल कलरव तथा हास-परिहास से वंचित रहती, यह छन्द भी वैधव्यवेश में, अकेलेपन में सिसकता, श्रान्त गति से, अपने ही अश्रुजल से धीरे-धीरे बहता है।"[1] अतः उक्त धारणा के अनुकूल विरह-विधुर प्रेमी के हृदय की व्यथा कवि ने इसी छन्द में बाँधी है।

प्रसादजी ने इसी प्रकार प्लवंगम छन्द के अतुकान्त रूप में 'महाराणा का महत्त्व' की रचना की। इस विषय में उक्त रचना की भूमिका से एक भ्रान्ति का प्रचार हो गया। वहाँ इस काव्य में प्रयुक्त छन्द को अरिल्ल कहा गया है। वस्तुतः अरिल्ल छन्द में सोलह और प्लवंगम में इक्कीस मात्राएँ होती हैं और कवि ने सर्वत्र इक्कीस मात्राओं के छन्द का प्रयोग किया है। प्राचीन नियम के अनुसार इस छन्द में ग्यारह मात्रा पर यति होती है किन्तु प्रसादजी ने यति का प्रयोग प्रायः आठ मात्राओं पर कर इसका अन्त्यमुक्त प्रयोग किया है। इस भूल की ओर अपने शोधप्रबन्ध में संकेत करते हुए डा० पुत्तूलाल शुक्ल ने कहा—

"सन् १९१४ में प्रसादजी ने 'भरत' नाम की पहली कविता प्लवंगम छन्द में अतुकान्त रूप से लिखी। जिसे भूल से प्रकाशक ने अरिल्ल छन्द कहा है, जो सोलह मात्राओं का होता है, इक्कीस मात्राओं का नहीं।"[2]

डा० शुक्ल ने अपने मत के समर्थन में काव्य से कुछ उदाहरण भी दिये हैं, जो उनकी इस स्थापना को पुष्ट करते हैं। एक उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा—

घोर अंधेरे में उठती जब लहर हो
तुमुल घात-प्रतिघात-पवन का हो रहा

---

१. पल्लव—पन्त, प्रवेश, पृ० ३६
२. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना—डा० पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० ४००

भीमकाय जल राशि क्षुब्ध हो सामने
कर्णधार-रक्षित दृढ़ हृदय सुनाव को
छोड़, कूदना तिनके का अवलम्ब ले
घोर सिन्धु में, क्या बुधजन का काम है ?[1]

इसी काव्य में कहीं-कहीं कवि ने तिलोकी छन्द का प्रयोग भी किया है, परन्तु अतुकान्त रूप में ही। प्रसादजी ने अपनी दूसरी रचना 'प्रेम-पथिक' में ३० मात्रा के अतुकान्त छन्द का प्रयोग किया है। अन्त में प्रायः गुरु अक्षर का प्रयोग है परन्तु नियमित रूप से नहीं, यह छन्द बहुत कुछ ताटंक के वजन पर ही बनाया गया है।

एक विशेषता इन सभी रचनाओं की छन्द-रचना में द्रष्टव्य है। प्रचलित मात्रिक छन्दों के मात्रा-क्रम, या समानान्तर पंक्तियों का प्रयोग करने पर भी प्रायः भाव की अन्विति एक या दो पंक्तियों में होने के स्थान पर अनेक पंक्तियों में होती है। इन पंक्तियों को यदि यथावत् गद्य में रूपान्तरित किया जाय तो एक वाक्य या आशय की पूर्ति अनेक पंक्तियों में होगी। दूसरे शब्दों में इनके छन्द, छन्दों की अपेक्षा पद्यबद्ध अनुच्छेद अधिक प्रतीत होते हैं। पीछे दिये गए उदाहरण (महाराणा का महत्त्व से) में यह प्रवृत्ति सर्वथा स्पष्ट है।

मिश्र छन्द का प्रयोग दो रचनाओं में किया गया। गुप्तजी के 'बक-संहार' में और कवि 'निराला' के 'तुलसीदास' में। 'बक-संहार' के छन्द की पहली, दूसरी, चौथी तथा पांचवीं पंक्ति हाकलि छन्द की, और दूसरी तथा छठी पंक्ति चन्द्रायण छन्द की है। इस प्रकार यह छन्द छः पंक्तियों का है। छन्द के प्रयोग में कोई विशेष चमत्कार अथवा असाधारण कौशल नहीं। 'तुलसीदास' का छन्द-विधान इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। कवि ने 'बक-संहार' की ही भांति प्रथम दो और चौथी व पांचवीं पंक्ति एक छन्द की, तथा तीसरी व छठी दूसरे छन्द की मिलाकर इस नवीन छन्द का निर्माण किया है।

डा० पुत्तूलाल शुक्ल ने इस छन्द के निर्माण में सहायक छन्दों का विवेचन करते हुए कहा—"तीसरे और छठे चरण की २२ मात्राएँ चौपाई में समप्रवाही षष्ठक जोड़ने से बनी हैं। चौपाई के दो चरण और २२ मात्राओं के चरण के योग से छन्द का आधा भाग बनता है। इस प्रकार के दो खंडों से छन्द का निर्माण हुआ है। साथ ही २२ मात्राओं के चरणों का अन्त्यानुप्रास और १६ मात्राओं के बाद पूर्व चरण से अन्तरन्त्यानुप्रास मिलता है। विकर्षाधार का मात्राक्रम १६, १६, २२ (१६ + ६) १६, १६, २२ (१६ + ६) और अन्त्यक्रम क, क, ख (क, ख) ग ग ख (ग, ख)।"[2]

विद्वान लेखक ने जिस मात्राक्रम एवं अन्त्यक्रम का निर्देश प्रस्तुत प्रसंग में किया है वह सर्वथा तर्कसम्मत है, किन्तु छन्द के प्रकार के विषय में उनसे हमारा मतभेद है। चौपाई का लक्षण उनके अपने शब्दों में इस प्रकार है :—"इसे समप्रवाही मात्रिक छंदों का मेरुदण्ड कह सकते हैं। इसके अंत में ऽ।, जगण और सगण के अंश वर्जित हैं। अंत में दो गुरु श्रुति-मधुर

---

१. महाराणा का महत्त्व—जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ ११
२. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना—डा० पुत्तूलाल शुक्ल, पृष्ठ ३६०-३६१

होते हैं, परन्तु भगण (ऽ।।) और सगण (।।ऽ) एवं अपवादतः रगण (ऽ।ऽ) भी आ सकते हैं। इसका प्रवाह समतामूलक चलता है। इसमें सम मात्रिक शब्द के बाद सम मात्रिक शब्द ही आता है। जब चरण में विषम मात्रिक शब्द का प्रयोग होता है, तब तुरन्त ही उसके आगे विषम मात्राओं के शब्द के द्वारा समतामूलक मैत्री स्थापित की जाती है।"[1]

यद्यपि कुछ आगे चलकर लेखक ने यह भी कह दिया है कि "चौपाई के अन्त में ।।।, ।।ऽ, ऽ।।, ऽ।।ऽ आदि लय-निपातों का भी प्रयोग होता है।"[2] परन्तु यदि 'तुलसीदास' के छन्द का निर्माण चौपाई के आधार पर स्वीकार कर लिया जाय तो लगभग सभी छंद अपवादों के अंतर्गत आ जायंगे। 'तुलसीदास' के अधिकांश छंदों में छोटी पंक्ति का अन्त वर्जित लय-निपात से हुआ है। छोटी पंक्ति के अन्त में प्रायः कवि ने लघु अक्षर या अक्षरों का प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण देखिये—

बंध भिन्न-भिन्न भावों के दल
क्षुद्र से क्षुद्रतर, हुए विकल,
पूजा में भी प्रतिरोध अनल है जलता;[3]

तथा

प्रिय करालम्ब को सत्य यष्टि;
प्रतिमा में श्रद्धा की समष्टि;
मायायन में प्रिय शयन व्यष्टि भर सोई;[4]

इस प्रकार के उदाहरण काव्य में अनेक हैं। इसके अतिरिक्त जो समतामूलक प्रवाह चौपाई के लिए अपेक्षित है, वह भी 'तुलसीदास' की छन्द-रचना में इने-गिने छंदों में मिलेगा। सम के साथ सम और विषम के साथ तत्काल विषम मात्राओं की शब्द-योजना से समतामूलक मैत्री स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं। बल्कि भाव के अनुकूल ह्रस्व और दीर्घ स्वर-मैत्री एवं व्यंजन-मैत्री से नाद-गुण की सृष्टि कर कवि ने छंद की गति का नियमन स्वेच्छापूर्वक किया है। पंक्तियों का यह भावानुरूप उत्थान-पतन गति और लय की दृष्टि से पज्झटिका छंद के अधिक निकट है। यद्यपि नियमों की कसौटी पर वह विशुद्ध पज्झटिका भी नहीं ठहरेगा परन्तु उसकी गति चौपाई की सम गति की अपेक्षा पज्झटिका की विषम गति के अधिक अनुकूल है। अतः इस छन्द का निर्माण पज्झटिका के आधार पर ही मानना चाहिये। यह तो हुई इस छन्द की आकार-सम्बन्धी स्थूल विशेषता। इस आकार में भी गति और यति के स्वेच्छापूर्वक प्रयोग से उन्होंने प्रचलित छन्दों की लय में भावानुकूल परिवर्तन किया। यति का प्रयोग इस प्रकार किया गया है कि एक पंक्ति से दूसरी पंक्ति तक गति प्रवाहित होती है। पंक्ति के अन्त में निश्चित् रूप से विराम उन्होंने नहीं रक्खा। उनके विचार में यह आवश्यक नहीं कि भाव या विचार

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना—डा० पुत्तूलाल शुक्ल, पृष्ठ २६२-६३
२. वही, पृष्ठ २६५
३. तुलसीदास—निराला, पृष्ठ २३
४. तुलसीदास—निराला, पृष्ठ ४०

पंक्ति के साथ टूटे, अतः इस विधान को उन्होंने कृत्रिम माना। एकाधिक पंक्तियों में प्रवेश करने वाली वाक्य-रचना का प्रयोग हिन्दी में 'निराला' ने ही छायावाद में सर्वाधिक किया। इस प्रकार मुक्त विचार-प्रवाह और मुक्त भाव-धारा के अनुकूल इन्होंने परम्परागत छन्दों का विकास किया। निम्नांकित पंक्तियों में विशेषण और कर्म दूसरी, तथा कर्त्ता व क्रिया तीसरी पंक्ति में आए हैं—

अब धौत धरा, खिल गया गगन,
उर उर को मधुर ताप प्रशमन
बहती समीर, चिर आलिंगन ज्यों उन्मन।[1]

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में छन्द-विधान के क्षेत्र में, 'निराला' का योगदान छन्द की बन्धन-मुक्ति की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने हिन्दी के छन्द-विधान को परम्परामुक्त किया, परम्परा-विमुख नहीं। उनकी नवीन छन्द-योजना का आधार प्रायः मात्रिक छन्द ही रहे हैं जिनमें मात्रा, लय, गति, वर्ण-योजना आदि में मनोनुकूल परिवर्तन या दो छन्दों के मिश्रण अथवा एक छन्द के विकास से उन्होंने अनेक अलंकृत एवं समर्थ छन्दों का निर्माण किया।

खण्डकाव्य (नवीन प्रयोग)

पिछले पृष्ठों में जिन खण्डकाव्यों का रूप-विवेचन किया गया, उनके अतिरिक्त कुछ ऐसे काव्य भी इस युग में लिखे गए जिन्हें काव्य-विषय की दृष्टि से तो खण्डकाव्य ही स्वीकार किया जा सकता था, किन्तु उनका काव्य-रूप अन्य खण्डकाव्यों से, और परस्पर एक-दूसरे से भिन्न है, अतः काव्य-शिल्प की नवीनता के कारण इनका पृथक विवेचन अनिवार्य है। नवीन प्रयोगों में तीन रचनाओं के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं। मैथिलीशरण गुप्तजी की 'यशोधरा' और 'विष्णुप्रिया' तथा कवि दिनकर का 'कुरुक्षेत्र'। 'यशोधरा' और 'विष्णुप्रिया' में नवीनता शैलीगत अधिक है और 'कुरुक्षेत्र' का काव्य-विषय तथा प्रबन्ध-योजना नवीन पद्धति पर है। उसके रूप-विधान और शैली में अपेक्षाकृत उतनी उल्लेखनीय नवीनता नहीं। एक विशेषता तीनों रचनाओं के विषय में समान रूप से कही जा सकती है। ये तीनों कृतियां मूलतः खण्डकाव्य हैं। केवल कवियों ने दृष्टिकोण की नवीनता से प्रेरित होकर जो शैलीगत नवीनता अपना ली है, उसी से इनका काव्य-रूप अन्य खण्डकाव्यों से कुछ भिन्न हो गया है। एक बात और जो इन रचनाओं की शैली-सम्बन्धी नवीनता के लिए उत्तरदायी है—इनका विशेष प्रकार का दृष्टिकोण है जिसमें एक समानता है। इन काव्यों के आदर्श बाह्य न होकर आन्तरिक हैं, जिसमें एकान्त बहिर्मुखी चेतना के स्थान पर अन्तर्मुखी वृत्ति को प्रमुखता दी गई है। व्यक्तित्व के बहिरंग विस्तार की अपेक्षा उसे समेट-सिकोड़ कर मन में केन्द्रित किया गया है। पात्रों को माध्यम बनाकर, और समाज की समस्या को अपनाकर भी कवि सामाजिक व्यवस्था की स्वीकृति या नियोजना नहीं करता, वह व्यक्ति के मर्म को, मन की तड़प को और सामाजिक समस्या के परिणामस्वरूप व्यक्ति की बौद्धिक क्रिया-प्रतिक्रिया को व्यक्त करता है। कथानक का आश्रय लेकर भी इन कवियों

---

१. तुलसीदास—निराला, पृष्ठ १

का व्यक्तित्व आत्मकेन्द्रित है, उसमें नैतिक मूल्यों का नहीं आत्मा के अनुरोधों का आदर है। यह अन्तर्मुखी वृत्ति दो प्रकार की है—'कुरुक्षेत्र' का कवि समाज की विषमताओं, समस्याओं से चोट खाकर चिन्तनशील हो गया है। वह बुद्धि के स्तर पर उन समस्याओं का विश्लेषण और समाधान करता है और अपने मन की क्रिया-प्रतिक्रिया को बौद्धिक स्तर पर पात्रों के माध्यम से व्यक्त करता है। शेष दोनों रचनाओं की प्रक्रिया अपेक्षाकृत भावमय है। जीवन की बाह्य व्यवस्था और घटनाओं से उत्पन्न पात्रों की सुख-दुःखमय अनुभूतियों को कवि व्यक्तिगत स्तर पर व्यक्त करता है। वहाँ न समस्या है, न विश्लेषण, और न समाधान है। कुछ घटनाओं के परिणामस्वरूप व्यक्ति के मन पर पड़े प्रभाव, राग-विराग, हर्ष-शोकमय अनुभूतियाँ हैं, जो हृदय का बाँध तोड़कर बह जाना चाहती हैं और कवि ने उन्हें बहने दिया है। एक शब्द में यदि कहना हो तो कहा जा सकता है कि इन कृतियों की चेतना बाह्यार्थनिरूपिणी न होकर आत्मनिरूपिणी है। इस प्रसंग में एक बात स्पष्ट कर देनी और युक्तिसंगत होगी। इन सभी रचनाओं में विशुद्ध आत्माभिव्यंजन नहीं है। साधारण प्रश्न हो सकता है कि पौराणिक या विख्यात कथा का आश्रय लेकर आत्माभिव्यंजन कैसे सम्भव हो सकता है? परन्तु कथा के आवरण में प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति के उदाहरण 'सूरसागर', 'गीतावली' आदि के रूप में प्रस्तुत हैं। वहाँ घटना वर्ण्य-विषय नहीं उद्दीपन है। कवि का उद्देश्य उस घटना से प्रबुद्ध अपने मन की भावनाओं की अभिव्यक्ति है। आलम्बन की लीलाओं के प्रति अपने रागात्मक सम्बन्ध की अभिव्यक्ति होने के कारण ये पद प्रगीत मुक्तक में बाह्यसापेक्ष रागात्मक वर्णन के उदाहरण हैं। 'कुरुक्षेत्र' की चेतना बौद्धिक है, उसमें तो प्रगीत का प्रश्न ही नहीं उठता। शेष दो कृतियाँ भी शुद्ध स्वानुभूतिपरक प्रगीत के अन्तर्गत नहीं आतीं। इन कृतियों की मूल-प्रेरणा भिन्न है, अतः इनके काव्यरूप भी परस्पर भिन्न हैं। 'यशोधरा' और 'विष्णुप्रिया' के मूलवर्ती उद्देश्य और दृष्टिकोण में विशेष अन्तर न होने पर भी दोनों की रूप-विधा में भेद है।

काव्य की मूल प्रेरणा मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है—आत्माभिव्यंजन तथा मानव-जगत् का चित्रण। आत्माभिव्यंजन में व्यक्ति तत्त्व का प्राधान्य और रागात्मक तत्त्व का प्राचुर्य होने के कारण प्रगीत मुक्तक इसका माध्यम होता है। मानव-जगत् का चित्रण करने में वस्तु-तत्त्व की प्रमुखता होती है। कवि की दृष्टि बहिर्मुखी, और कार्य-व्यापार का बाहुल्य होने के कारण प्रायः प्रबन्ध इसका माध्यम होता है। प्रबन्ध में कवि आत्म के अतिरिक्त अनात्म, अहं के अतिरिक्त इदम् की व्याख्या करना चाहता है। इन दोनों प्रमुख भेदों में भी कवि के दृष्टिकोण और शैली के अनुरूप अनेक उपभेदों की सृष्टि सम्भव है। प्रबन्ध के अनेक रूपों में से कवि के उद्देश्य की दृष्टि से दो प्रधान हैं—१. प्रत्यक्ष या प्रस्तुत अंकन—नाटक, अथवा प्राचीन शास्त्रीय शब्दावली में दृश्य काव्य के माध्यम से सम्पन्न होता है तथा २. परोक्ष-वर्णन या समाख्यान, प्रबन्ध काव्यों या शास्त्रीय शब्दावली में श्रव्य काव्य के माध्यम से किया जाता है। इसी प्रकार प्रगीत मुक्तक के भी दो रूप सम्भव हैं। स्वानुभूतियों का एकान्त चित्रण शुद्ध प्रगीत के अन्तर्गत और वस्तुसापेक्ष रागात्मक वर्णन—मुक्तक के अन्तर्गत आता है। संस्कृत में मुक्तक के इसी रूप की स्वीकृति है। शुद्ध स्वानुभूतिपरक प्रगीतों की विधा अपेक्षाकृत आधुनिक है। हिन्दी के भक्ति-साहित्य में इष्ट के प्रति साधक का आत्मनिवेदन कहीं प्रत्यक्ष (मीरा, कबीर आदि के

काव्य में) और कहीं आलम्बन के प्रति आत्मा का यह उन्मुखी भाव पात्रों के माध्यम से व्यक्त हुआ है (सूरदास, तुलसीदास आदि कवियों के काव्य में)। इस काव्य में आलम्बन की लीलाओं को अपनी भावनाओं के उद्दीपन के रूप में ग्रहण किया गया है। अतः किसी भी काव्य की विधा का निर्णय उसकी मूल प्रेरणा और कवि के अन्तर्वर्ती दृष्टिकोण को प्रमाण मानकर किया जा सकता है। इसी आधार पर हम इन रचनाओं की काव्य-विधा को समझने और विवेचन करने का प्रयास करेंगे।

यशोधरा

इस काव्य की प्रेरणा की ओर कवि ने 'शुल्क' में स्वयं ही इंगित कर दिया है, अतः इस दृष्टि से किसी प्रकार की शंका का अवकाश नहीं—"भगवान् बुद्ध और उनके अमृत तत्त्व की चर्चा तो दूर की बात है, राहुल-जननी के दो-चार आँसू ही तुम्हें मिल जायँ तो बहुत समझना। और उनका श्रेय भी 'साकेत' की ऊर्मिला देवी को ही है, जिन्होंने कृपापूर्वक कपिलवस्तु के राजोपवन की ओर मुझे संकेत किया है।" कुछ आगे चलकर उन्होंने एक उद्देश्य की व्यंजना और की है—

"अथवा तुम्हारे शब्दों में मेरी वैष्णव-भावना ने तुलसीदल देकर यह नैवेद्य बुद्धदेव के सम्मुख रखा है।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर इस काव्य की मूल प्रेरणा—अमिताभ की आभा में चौंधियाए उनके भक्तों द्वारा राहुल-जननी की उपेक्षा की त्रुटि का परिमार्जन करना है। भक्तों के अतिरिक्त कवियों ने भी अमिताभ की आभा से अभिभूत होकर यशोधरा की चरित्र-गरिमा का उद्घाटन करने का प्रयास नहीं किया। इसी सम्भ्रान्त, गरिमामय महत् चरित्र का पुनस्सृजन कवि का लक्ष्य है। इसी प्रमुख लक्ष्य के साथ एक अन्य गौण लक्ष्य कवि के सामने है, यह गौण उद्देश्य बौद्ध-सिद्धान्तों का खण्डन है। "तथागत के अनुभवों एवं मान्यताओं को लेखक ने पुस्तक के आरम्भ में ही 'सिद्धार्थ और महाभिनिष्क्रमण' शीर्षक उपखण्डों में रख दिया है। यशोधरा के शेष भाग में उन्हीं की समीक्षा-परीक्षा हुई है। 'यशोधरा' शीर्षक उपखण्ड की अवतारणा तो स्पष्टतः 'महाभिनिष्क्रमण' में प्रतिपादित विचारों के खण्डन के लिए ही हुई है"।[2]

स्पष्ट है आत्माभिव्यंजन कवि का उद्देश्य नहीं है। यदि कवि के इष्ट बुद्ध होते और वह घटना का ग्रहण अपनी भावनाओं के उद्दीपन-रूप में करता, तो सूर आदि भक्त कवियों की भाँति आत्माभिव्यंजन सम्भव था, परन्तु ऐसा न होने के कारण यह काव्य प्रगीत-संग्रह की कोटि में नहीं आएगा। आत्म से इतर मानव-जगत् का चित्रण अभीष्ट होने के कारण, तथा कथासूत्र की स्थिति के कारण यह रचना प्रबन्ध के अन्तर्गत आएगी। काव्य की मूल प्रेरणा आत्म से भिन्न ऐतिहासिक पात्र की मर्मव्यथा और चरित्र-गरिमा का अंकन है, अतः यह काव्य प्रबन्ध काव्य है। प्रबन्ध के दो प्रमुख भेदों—महाकाव्य और खण्डकाव्य में से शैली-भेद से भी इसके महाकाव्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता। महाकाव्य के लिए अपेक्षित महत् आकार, समर्थ और समग्र जीवनव्यापी कथानक आदि सभी प्रमुख विशेषताओं का इसमें अभाव है। प्रमुख

---

१. यशोधरा—मैथिलीशरण गुप्त, 'शुल्क', पृष्ठ ५

२. मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता—डा० उमाकान्त गोयल, पृष्ठ ३७

पात्री यशोधरा के जीवन के केवल विरह-पक्ष का एकांगी वर्णन इस रचना में हुआ है। जाति व देशव्यापी होने के स्थान पर यह काव्य व्यक्ति और पक्ष विशिष्ट है। नायिका के जीवन का पक्ष-विशेष काव्य-विषय होने के कारण यह रचना खण्डकाव्य की ही समकक्षी है, परन्तु खण्डकाव्य के परम्परागत अर्थ में नहीं। उस दृष्टि से इस रचना में न इतिवृत्त-वर्णन है न समाख्यान। अन्य पुरुष में कथा-वर्णन की प्राचीन शैली से भी यह काव्य भिन्न है। प्रबन्ध-वर्णन की दो विधाएँ सम्भव हैं—१. प्रस्तुत को यथावत् प्रस्तुत किया जाय। २. कवि अपनी ओर से घटनाओं का वर्णन करे। नाटच कृतियों में प्रथम और महाकाव्य तथा खण्डकाव्य आदि समाख्यानात्मक काव्य-रूपों में दूसरी का प्रयोग किया जाता है। परन्तु आधुनिक युग में नाटच तत्त्व का प्रवेश सामान्यतः सभी काव्य-रूपों में हो गया है और समाख्यान काव्य इस प्रवृत्ति का अपवाद नहीं। यह कदापि अनिवार्य नहीं कि प्रबन्ध में समाख्यान व परोक्ष वर्णन-शैली का ही प्रयोग हो। स्वगत-भाषण, कथोपकथन आदि का ग्रहण किसी प्रकार प्रबन्ध-विरोधी नहीं है। प्रबन्ध काव्य में अंग-रूप में और गीति नाटच आदि विधाओं में भी प्रथम पुरुष में कथा-वर्णन और कथोपकथन के रूप में इस शैली का प्रवेश हो गया है। 'यशोधरा' की रचना भी अनेक काव्य-शैलियों के मिश्रण से की गई है। 'शुल्क' में कवि ने स्वयं कहा है—"लो कविता, लो गीत, लो नाटक, तुकान्त, अतुकान्त सभी कुछ..."[1] कवि के शब्दों में इस 'सभी कुछ' को हमें निश्चित संज्ञा प्रदान करनी है।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, कथा की अन्तर्धारा वर्तमान होने के कारण 'यशोधरा' प्रबंध, और जीवन के खण्ड-विशेष का वर्णन होने के कारण खण्डकाव्य है। काव्य की शैली खण्डकाव्य की परम्परागत समाख्यान-शैली से भिन्न है परन्तु 'यशोधरा' का वस्तु-विन्यास स्थूल विवरणात्मक शैली में नहीं किया गया। उसमें वस्तु-व्यंजना गौण है, एवं सूक्ष्म मनोगतियों का आकलन भाव-कथा के रूप में किया गया है। घटनाओं का वर्णन 'यशोधरा' में कवि की ओर से नहीं हुआ, कारण—वे केवल सूच्य हैं। शील-निरूपण और भाव-व्यंजना काव्य का उद्देश्य है। 'यशोधरा' इस प्रकार वर्णनात्मक खण्डकाव्य नहीं, उसमें घटनाओं की नहीं, चरित्रों की प्रधानता है। अतः समाख्यानात्मक वृत्त-वर्णन के अभाव में कवि प्रायः प्रबन्ध के दूसरे प्रकार—नाट्य-रूप का अवलम्बन लेता है। 'यशोधरा' का घटना-सूत्र अत्यन्त क्षीण, तथा चरित्रोद्घाटन लक्ष्य होने के कारण ही वृत्त-वर्णन के स्थान पर कवि ने नाट्य-रूप का आश्रय लिया है।

नाट्य-रूप में भी 'यशोधरा' विशिष्ट है। नाटक में जीवन के विभिन्न कार्य-व्यापारों का व्याख्यान होता है, परन्तु यशोधरा में कार्य-व्यापार का प्रयोग नहीं हुआ। काव्योद्देश्य की दृष्टि से जीवन-घटनाओं में कवि की अनुरक्ति भी नहीं, और यशोधरा के जीवन में वस्तुगत सक्रिय घटनाएँ विशेष उपलब्ध भी नहीं। अतः कवि ने कथा-विकास, कार्य-व्यापार की प्रस्तुति के द्वारा न कर, कथोपकथन और स्वगतोक्तियों के द्वारा किया है। नाटकीयता काव्य में यही है कि पात्र स्वयं एक के बाद एक उपस्थित होकर, आत्म-संलापों व कथोपकथन के माध्यम से चरित्र-उद्घाटन करते हैं। कथा के सूत्र इन्हीं अंशों में सूच्य और सम्बद्ध हैं। घटनाएँ कवि ने प्रस्तुत नहीं कीं।

---

१. यशोधरा—मैथिलीशरण गुप्त, 'शुल्क', पृष्ठ ४

'यशोधरा' की प्रमुख पात्री है विरहिणी यशोधरा और उसके वत्सल एवं विरह-भाव को वाणी देना कवि का उद्देश्य, अतः स्वगत में गीत को अपनाना आवश्यक हो गया है। विरहिणी नायिका के आत्मनिवेदन के लिए स्वगत प्रगीत से अधिक उपयुक्त माध्यम और नहीं हो सकता था। घटनाओं के अभाव में कार्य-व्यापार को ग्रहण न करके कवि ने गीतिमय कथोपकथन और स्वगत-भाषण को अपना लिया है। यशोधरा के अन्तर्द्वन्द्व के प्रसंगों में भी कवि कथोपकथनमय स्वगत का ही आश्रय लेता है—

मैं अबला ! पर वे तो विश्रुत वीर-बली थे मेरे,
मैं इन्द्रियासक्ति ! पर वे कब थे विषयों के चेरे ?
अयि मेरे अर्द्धांगि-भाव, क्या विषय मात्र थे तेरे ?
हा ! अपने अंचल में किसने ये अंगार बिखेरे ?
है नारीत्व मुक्ति में भी तो अहो विरक्ति-विहारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।'

इस प्रकार यशोधरा के मन में उत्तर-प्रत्युत्तर का क्रम अनेक प्रसंगों में बाँधा गया है। मन में तीव्र घात-प्रतिघात, अन्तर्द्वन्द्व में झंझावात एवं हलचल की अपेक्षा आत्मद्रव, विप्रलम्भ की करुण धारा, अन्तःसलिला की भाँति प्रवाहित है, अतः प्रबन्ध का नाट्य रूप होते हुए भी गीति तत्त्व की प्रमुखता है। काव्य के मध्य भाग में कवि ने यद्यपि कुछ अंश स्पष्ट रूप से गद्य-नाटक के रूप में लिखा है, पद्य में भी आदि और अन्तिम अंश में संवाद-योजना है, परन्तु यशोधरा की मर्म-व्यथा अधिकाधिक गीतों के माध्यम से ही व्यक्त हुई है। प्रगीतात्मकता समस्त काव्य में व्याप्त है। इस प्रकार 'यशोधरा' की प्रमुख विधा—प्रबन्ध, प्रबन्ध का खण्ड-रूप, विधि नाटकीय और कार्यव्यापार के अभाव में शैली प्रगीतात्मक है। एक शब्द में 'यशोधरा' प्रगीतात्मक-नाट्य शैला में रचित खण्डकाव्य है। इस प्रकार के किसी निश्चित काव्य-रूप का विधान प्राच्य या पाश्चात्य साहित्य में नहीं किया गया। इस दृष्टि से यह प्रयोग सर्वथा नवीन, परन्तु प्राचीन शास्त्रीय विधाओं के आधार पर निर्मित होने के कारण शास्त्रसम्मत है।

इस प्रसंग में विभिन्न विद्वानों के द्वारा 'यशोधरा' के काव्य-रूप के लिए प्रयुक्त संज्ञाओं पर एक दृष्टि डाल लेनी कदाचित् अप्रासंगिक न होगी। संस्कृत काव्य-शास्त्र में गद्य-पद्य मिश्र शैली में रचित काव्य को 'चम्पू' कहा गया है।[2] चम्पू शब्द में केवल दोनों शैलियों की स्थिति-मात्र का भाव है, किन्तु काव्य-विधा का संकेत इस शब्द से नहीं मिलता। गद्य-पद्यमयी शैली में प्रगीत, समाख्यान, नाटक सभी काव्य-पद्धतियों में रचना हो सकती है, अतः इस शब्द से किसी भी कृति की रचना-पद्धति की विशेषताएँ स्पष्ट नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त यद्यपि संस्कृत में चम्पू काव्य के रूप-विधान के सम्बन्ध में किसी प्रकार का विधि-निषेध नहीं किया गया, परन्तु उदाहरण-रूप में जिन काव्यों का उल्लेख किया गया है, उनके आधार पर डा० शकुन्तला दुबे ने

---

१. यशोधरा—मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ ३८
२. गद्य-पद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।
साहित्यदर्पण—विश्वनाथ, षष्ठ परिच्छेद, श्लोक ३३६

चम्पू काव्य की रूपगत विशेषताओं की दृष्टि से भी 'यशोधरा' को चम्पू स्वीकार नहीं किया—

"इस मिश्र काव्य रूप की गद्य-पद्यमय शैली इसे संस्कृत के 'चम्पू' काव्य के समकक्ष रखती हो ऐसी बात नहीं। संस्कृत का 'चम्पू' काव्य उसी प्रकार सर्गबद्ध होता है जैसे महाकाव्य। यद्यपि इसमें सर्ग-संख्या चाहे दो-तीन हो अथवा छः-सात इसका कोई प्रतिबन्ध नहीं। 'चम्पू' में प्रबन्ध काव्य की ही भाँति कोई कथा प्रवाहपूर्ण होती है। कवि प्रथम तो मंगलाचरण से काव्यारम्भ करता है और गद्य में कथा का सूत्रपात करता हुआ बीच-बीच में दृष्टान्त रूप से श्लोकों की योजना करता है। स्तुति के रूप में भी ये श्लोक नियोजित होते हैं। त्रिविक्रम भट्ट का नल-चम्पू सात उच्छ्वासों में दमयन्ती की कथा को लेकर रचा गया है। इसी प्रकार सोमदेव सूरि का 'यशस्तिलकम्' तीन आश्वासों में विरचित है। किन्तु स्वानुभूतिपरक अतिगीतात्मक मिश्रकाव्य 'यशोधरा' काव्य-रूप की दृष्टि से बिल्कुल ही नवीनता को लिए हुए है जो गीत के निकट अधिक है और प्रबन्ध से दूर होकर भी कथात्मकता के आग्रह को अपने निकट लिए हुए है। अपने ढंग का यह एक ही काव्य-रूप है।"[1]

उक्त मतानुसार चम्पू काव्य और विवेच्य कृति में वस्तुतः मूलभूत दृष्टिकोण का ही अन्तर है। संस्कृत में समाख्यानात्मक शैली में विरचित प्रबन्ध-रचना को केवल गद्य-पद्य माध्यम के मिश्रित रूप के कारण चम्पू कहा गया परन्तु 'यशोधरा' की रचना प्रगीतात्मक नाट्य शैली मे हुई है। चम्पू काव्य में इस प्रकार वस्तुगत (Objective) दृष्टि की अपेक्षा है और 'यशोधरा' का दृष्टिकोण भावगत (Subjective) है। चम्पू काव्य निश्चित रूप से समाख्यान शैली में लिखा गया प्रबन्ध ही हो सकता है, इस मत का यद्यपि कोई शास्त्रीय आधार नहीं, परन्तु लक्षणों का निर्देश प्रायः उपलब्ध लक्ष्य ग्रन्थों के आधार पर ही किया जाता है, और यदि संस्कृत के आचार्यों ने इस काव्य-रूप पर विस्तार और गंभीरता से विचार किया होता, तो उनके निष्कर्षों का आधार भी उपलब्ध चम्पू काव्य होते, अतः सम्भावना यही है कि उनके निर्णय भी उपर्युक्त मत से बहुत भिन्न न होते।

डा० कमलाकान्त पाठक ने इस विषय के समर्थक अन्य विद्वानों से अपना मतैक्य व्यक्त किया है—

"काव्य-शैली की दृष्टि से यह रचना निश्चय ही चम्पू अथवा मिश्र काव्य है। पर इस 'अबला जीवन की कहानी' का अनुबन्ध खण्ड-काव्यात्मक है।...इसका रचना-तंत्र खण्ड-काव्यात्मक है और विधान चम्पूवत...अतएव 'यशोधरा' रचना-शैली की दृष्टि से मिश्रकाव्य है और वर्णन-पद्धति की दृष्टि से खण्डकाव्य। अवश्य ही इसमें संवाद भी है और प्रगीत भी। खण्डकाव्य में जीवनांश-विशेष का अनुसरण किया जाता है,.....। मैं समझता हूँ कि इस रचना का काव्य-रूप खण्डकाव्य का है और विधान चम्पू का। यह नव्य काव्य प्रयोग भी है।"[2]

हम इस मत के केवल इसी अंश से सहमत हैं कि इसका अनुबंध खण्डकाव्यात्मक है। यदि इसी बात को इस प्रकार कहा जाय कि इस काव्य में खण्डकाव्य के समान एकदेशीय कथा

---

१. काव्य-रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे, पृष्ठ ५६६-५६७

२. मैथिलीशरण गुप्त—व्यक्ति और काव्य—डा० कमलाकान्त पाठक, पृष्ठ २०८

का आकलन किया गया है तो अधिक उचित होगा। रचना-शैली की दृष्टि से इसे मिश्र-काव्य कहना तात्त्विक दृष्टि से अनुचित नहीं, परन्तु 'मिश्र' शब्द अपने आप में सर्वथा अस्पष्ट है। इसके अतिरिक्त खण्डकाव्य का रचना-तंत्र भी इस काव्य में नहीं। प्रबन्ध के इन समाख्यानात्मक रूपों में जिस सगुफित और सुविन्यस्त वस्तु-विधान की योजना की जाती है वह 'यशोधरा' में नहीं मिलता। घटनाओं की सक्रियता (वस्तुगत अपना भावगत) का इसमें एकदम अभाव है। घटनाएँ बाह्य जगत् में ही नहीं, मन के रंगमंच पर भी घटित नहीं होतीं। 'यशोधरा' में कार्य-व्यापार है ही नहीं। उसके कथानक का स्वरूप बहुत कुछ भावात्मक है। अन्तर्द्वन्द्व कहीं-कहीं है, परन्तु उसमें भी जीवन्तता की अपेक्षा करुणा, अन्तर्द्वन्द्व की अपेक्षा अन्तर्वेदना या आत्मपीड़ा अधिक है। इसी कारण 'यशोधरा' का अधिकांश प्रगीतों के माध्यम से व्यक्त हुआ है। प्रबन्धत्व उसमें इतना ही है कि ये सभी प्रगीत एक क्षीण कथा-सूत्र से पूर्वापर-क्रम में बंधे हुए हैं, वे स्फुट व निरपेक्ष नहीं। इसी प्रबन्धात्मकता के साथ नाट्य तत्त्व इस कारण आ गया है कि कवि ने समाख्यान न करके स्वगतों के द्वारा पात्रों को रंगमंच पर उपस्थित कर दिया है। मध्यांश में एक छोटा-सा गद्य-नाटक भी है। प्रश्न हो सकता है कि गीति और नाटक के सम्मिलित तत्त्वों के सद्भाव में यशोधरा को गीति-नाट्य क्यों नहीं मान लिया जाय ? कार्य-व्यापार का क्षेत्र गीति-नाट्य में प्रायः व्यक्ति का अन्तमन होता है। 'यशोधरा' के प्रसंग में जैसा हमने पहले भी कहा है—नाट्य-तत्त्व की स्थिति की स्वीकृति-मात्र की जा सकती है, अधिक नही। गीति-नाट्य में कार्य-व्यापार का एकान्त अभाव और स्वगत-भाषणों का इतना प्राचुर्य नहीं होता। 'यशोधरा' के अन्तिम दृश्य में (मान के प्रसंग में) निश्चित् रूप से नाटकीयता है, संघर्ष भी है परन्तु उसके अतिरिक्त नाटकीय दृश्यात्मकता या कार्य-व्यापार कहीं नहीं है। स्वगतों के इतने अधिक प्रयोग, और कथोपकथन के अत्यल्प प्रयोग के कारण भी इसे गीति-नाट्य नहीं माना जा सकता।

जैसा पहले भी कहा जा चुका है यह कृति प्रगीत मुक्तक-संग्रह भी नहीं, न उसमें घटनाओं की पुनरावृत्ति है और न उद्दीपन-रूप में प्रयोग। उसके समस्त गीत, स्वगत-भाषण और कथोपकथन एक कथा-सूत्र में निबद्ध हैं, अतः प्रबंध का संस्पर्श उसमें स्पष्ट है।

महाकाव्य पद के लिए इस कृति की अपात्रता इतनी सुस्पष्ट है कि विस्तृत विवेचन की अपेक्षा नहीं। अतः 'यशोधरा' परम्परागत समाख्यान शैली से भिन्न प्रगीतात्मक नाट्य शैली में लिखा गया खण्डकाव्य ही है। इसमें प्रयुक्त स्वगतोक्तियों, कथोपकथन, गीतों का खण्डकाव्य की विषय-परिधि से कोई विरोध नहीं। आचार्य शुक्ल के मत में, गुप्तजी की रचनाओं में जो गीति-पद्धति का प्राचुर्य दृष्टिगत होता है, वह छायावाद की गीतात्मक प्रवृत्ति का प्रभाव है। यह काव्य छायावाद की विशेषताओं से युक्त है। "साकेत और यशोधरा इनके दो बड़े प्रबन्ध हैं। दोनों में उनके काव्यत्व का तो पूरा विकास दिखाई पड़ता है, पर प्रबंधत्व की कमी है। बात यह है कि इनकी रचना उस समय हुई जब गुप्तजी की प्रवृत्ति गीतकाव्य या नए ढंग के प्रगीत मुक्तकों (lyrics) की ओर हो चुकी थी।"[1]

डा० कमलाकान्त पाठक ने भी शब्द-भेद से यशोधरा के काव्य-रूप के सम्बन्ध में उक्त

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ७४१

मान्यता की स्वीकृति कर ली है। उन्होंने उसे चम्पू कहकर भी कुछ पृष्ठ उपरान्त उसकी विधा के सम्बन्ध में कहा—"कला-कृति के रूप में यह खण्ड-प्रबंध है, जिसका रचना-विधान काव्य के अनेक रूपों और प्रकारों से संयुक्त है। तत्त्वतः यह कथा-काव्य है, जिसमें यशोधरा की चरित्र-सृष्टि ही अपूर्व है। उसके करुण-विप्रलम्भ की नाना अंतर्वृत्तिमयी कथावस्तु को कवि ने साकेत के नवम सर्ग की भाँति नानावृत्तमयी ही नहीं बनाया, उसे अनेक रूपात्मकता भी प्रदान की। इन्हें खण्डकाव्य के अर्थात् यशोधरा-आख्यान के अंग ही समझना चाहिए। कवि ने खण्डकाव्य के स्वरूप-विधान का यह अभिनव प्रयोग किया है, जिसके द्वारा कथा-वस्तु को भावमय, चरित्रनिष्ठ और वस्तु-व्यंजक बनाया गया है। कवि ने घटना-प्रसंगों को वर्ण्य-वस्तु न बनाकर उन्हें केवल मानसिक अधिकरण में रख दिया है।"[1]

डा० शकुन्तला दुबे ने 'यशोधरा' को काव्य-रूप की दृष्टि से 'बन्धाबन्ध' काव्य-वर्ग में अंतिगीतात्मक काव्य के नाम से अभिहित किया। उन्होंने 'यशोधरा' को प्रबन्ध और मुक्तक दोनों के बीच की रचना माना है। उनका मत इस रचना को प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक मानने के ही पक्ष में अधिक है—

"स्वानुभूतिप्रधान काव्य रूप में कभी-कभी अंतिगीतात्मकता की नियोजना द्वारा प्रबन्ध का सूत्र पकड़ने का प्रयास कवि करता है। प्रसंग की मार्मिकता में गीत मानो उबले पड़ते हैं। संगीत का तत्त्व उनमें भरपूर होता है। ऐसा ही काव्य रूप 'यशोधरा' है···। प्रबन्धात्मकता और गीतात्मकता का ही इसमें मिश्रण नहीं, छन्दों की बहुलता ही नहीं, अपितु पद्य के साथ गद्य का मिश्रण भी है। बीच में छोटा-सा नाटक भी है।···

किन्तु ऐसे काव्यरूप में यह परमावश्यक नहीं कि उसमें कवि गद्य, नाटक आदि का मिश्रण भी करे।···

आत्म निवेदनात्मक मिश्रकाव्य-रूप की तुलना में यहाँ कथा का सूत्र कुछ अधिक बड़ा होता है। किन्तु प्रबन्ध-काव्य जैसा प्रवाह एवं क्रम आद्यन्त नहीं मिलता। वस्तुतः यह काव्य-रूप कभी-कभी स्फुट गीतों का ऐसा संग्रह लगता है जो प्रबन्धात्मकता की ओर झुकता-सा प्रतीत होता है।"[2]

'अंतिगीतात्मकता की नियोजना द्वारा प्रबन्ध का सूत्र पकड़ने का प्रयास' से लेखिका का क्या अभिप्राय है, स्पष्ट नहीं होता। प्रबन्ध और मुक्तक में मूल विधा का अन्तर है। यह भेद पूर्वापरक्रम-सापेक्षता और निरपेक्षता का है। अतः कोई भी रचना या प्रबन्ध हो सकती है या मुक्तक। कहीं-कहीं मुक्तक कथाश्रित होते हैं यथा सूरदास आदि भक्त कवियों के पद, परन्तु किसी काव्य के काव्य-रूप का निर्णय उसमें अपेक्षाकृत अधिक विशेषताओं के आधार पर किया जा सकता है। विशेषताओं में मात्रा-भेद से हम उसकी गणना उसी वर्ग में कर सकते हैं, जिसके वह अधिक निकट हो। 'यशोधरा' में प्रबन्धात्मकता और गीतात्मकता का मनमाना मिश्रण नहीं। वह प्रगीतात्मक शैली में लिखा गया प्रबन्ध है। प्रबन्ध उसका काव्य-रूप है और प्रगीत एवं नाट्य

१. मैथिलीशरण गुप्त—व्यक्ति और काव्य—डा० कमलाकान्त पाठक, पृष्ठ ३१४
२. काव्य-रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे, पृ० ५६५-५६६

उसकी शैलीगत विधि। डा० दुबे ने 'यशोधरा' के प्रबन्धत्व के विरोध में एक तर्क और उपस्थित किया है—"अस्तु, काव्य का रूप स्वतन्त्र पद्यों का संग्रह-सा प्रतीत होने लगता है जिसमें से यदि कुछ प्रसंग निकाल भी दिये जायँ तो प्रवाह में कोई अन्तर आने की सम्भावना नहीं। किसी भी प्रबन्ध काव्य में प्रथम तो किसी पूर्ण कथा का होना आवश्यक है फिर उस कथा का धारावाहिक प्रवाह भी परमावश्यक है। कहीं से कोई अंश निकला नहीं कि उसके प्रवाह में कमी आ गई। यह बात यशोधरा के लिए लागू नहीं होती। यदि उसमें कथा एवं प्रवाह का अभाव देखकर यह कहा जाय कि संपूर्ण काव्य स्फुट पद्यों का संग्रह मात्र है तो भी युक्तिसंगत नहीं। कारण यह कि काव्य पढ़ने के उपरान्त जो अन्तिम संकलित प्रभाव पड़ता है उससे यशोधरा की करुण कथा की एक मोटी रूपरेखा आँखों के समक्ष अवश्य आ जाती है।"[1]

इस प्रकार लेखिका ने 'यशोधरा' में "सुन्दर गीतों में कथात्मकता का हल्का-सा पुट" स्वीकार किया है। बात ऐसी नहीं, 'यशोधरा' के सभी गीत पूर्वापर प्रसंग-सापेक्ष हैं, उन्हें प्रसंग से निकालकर कथा-ज्ञान के अभाव में नहीं समझा जा सकता। वे प्रबन्ध की गीतिमय कड़ियाँ हैं जिनकी सत्ता निरपेक्ष नहीं है। जहाँ तक कथा के धारावाहिक प्रवाह का प्रश्न है यह वस्तु-विन्यास का दोष है, और इस त्रुटि से 'यशोधरा' तो क्या अनेक ऐसे महाकाव्य नामधारी प्रबन्ध ग्रस्त हैं, जिनमें से कुछ एक पद्य नहीं यदि सर्ग के सर्ग निकाल लिये जायँ तो भी कथा के धाराप्रवाह विकास में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। अतः प्रबन्ध की कथा-संघटना में शैथिल्य एक बात है, और स्फुट गीति-संकलन दूसरी बात। 'यशोधरा' में कथानक का स्वरूप भावगत होने के कारण अनुबन्ध में धाराप्रवाह विकास व प्रसंग-तारतम्य की दृष्टि से शिथिलता आ गई है, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह स्फुट काव्य के निकट है। उसमें घटना-क्रम नहीं भावधारा है और लेखिका के शब्दों में ही काव्य का अन्तिम संकलित प्रभाव इस बात का प्रमाण है। हम लेखिका के इस मत से भी सहमत नहीं कि "यशोधरा में इस प्रकार कथा का हल्का-सा सूत्र है, पर एकसूत्रता नहीं।"[2] 'यशोधरा' में एकसूत्रता आद्यन्त है, केवल यह एकसूत्रता घटनात्मक न होकर भावात्मक है। 'यशोधरा' के सभी प्रसंग यशोधरा की करुण कथा से सम्बद्ध हैं। इन प्रसंगों व घटनाओं के पूर्वापर-क्रम में भी किसी प्रकार का व्यतिक्रम या उलट-फेर नहीं है। कवि ने वियोग-पूर्व की घटनाओं का स्मृति-रूप में वर्णन करके कथा में स्थान-ऐक्य और प्रबन्धत्व की रक्षा की है।

यह निश्चित हो जाने पर कि 'यशोधरा' विधा की दृष्टि से खण्डकाव्य के क्षेत्र में नूतन प्रयोग है, उसके शिल्प और कला का परीक्षण और मूल्यांकन उचित ही होगा।

'यशोधरा' की कथा का पूर्वार्द्ध प्रख्यात और इतिहासप्रसिद्ध है। यशोधरा के पारिवारिक जीवन के कुछ स्मृति-रूप में वर्णित प्रसंग एवं काव्य का उत्तरार्द्ध कवि की उर्वर कल्पना की सृष्टि है। उसमें कथा है, और कथा में तारतम्य है, परन्तु उद्देश्य भिन्न होने के कारण, जैसा हम पहले निवेदन कर चुके हैं, कथा का स्वरूप घटनात्मक नहीं। जिन घटनाओं का वर्णन या उल्लेख

---

१. काव्य-रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे, पृ० ५६७-६८

२. वही, पृ० ५६९

मिलता है उनमें भी प्रत्यक्षता नहीं है, अधिकांश स्मृति, या सूच्य रूप में आई हैं। केवल दो घटनाएँ प्रत्यक्ष अंकित हैं—बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण, तथा कपिलवस्तु प्रत्यागमन एवं यशोधरा से मिलन। कथा में इसलिए प्रबन्ध-गुण का समुचित निर्वाह नहीं हो सका। काव्य में विकास कार्य-व्यापार या घटनाओं का नहीं भाववारा का है। संयोग के सुख से विप्रलम्भजन्य विरहानुभूति, और फिर क्रमशः मिलन, किन्तु मिलन में त्यागजन्य विरह का विरोधाभास—यही यशोधरा की भाव-कथा है। कथा की रेखाएँ सरल और स्पष्ट हैं। उनमें गहराई तो है, जटिलता नहीं। कथा का विकास वस्तुजगत् में समतल बाहर ही बाहर न होकर भावजगत् में गहरे और अन्तरंग होता है, परन्तु भावनाओं में विविधता नहीं। घटनाप्रधान कार्य-व्यापार में अनेक प्रासंगिक वृत्तों के योग से प्रधान कथावस्तु में जिस प्रकार जटिलता और विविधता उत्पन्न की जाती है, 'यशोधरा' में भावना के क्षेत्र में वैसा कोई विशेष उपक्रम नहीं है। वर्ण्य-विषय की विशेषता के कारण अन्तर्द्वन्द्व या किसी प्रकार के भाव-संघर्ष की योजना भी कवि नहीं करता। 'यशोधरा' के अधिकांश में अन्तर्द्वन्द्व नहीं आत्मपीड़न है, संघर्ष नहीं बेबसी है, भावनाओं का झंझावात नहीं करुणार्द्र समीर है। 'यशोधरा' के मध्यांश में विरह-व्यंजना है। अनेक अनुभाव, संचारी, और उद्दीपन-भेद से एक ही स्थायी भाव रति का विरहजन्य रूप अंकित है। एक विषय अनेक शीर्षकों में प्रसंग-भेद से आबद्ध है। यदि कुछ प्रसंग निकाल लिए जायँ तो भी कथा-प्रवाह में कोई बाधा नहीं आती। प्रबन्ध-निर्वाह में यदि इसे शिथिलता कहा जाय तो भी इसकी उत्तरदायी कवि की कला नहीं, काव्य-विषय है। कवि ने अपनी ओर से एकसूत्रता की रक्षा के लिए, और स्थान, घटना और काल-ऐक्य के निर्वाह के लिए पूर्ववर्ती घटनाओं का वर्णन स्मृति-रूप में किया है। कहीं-कहीं कवि ने स्वप्न का प्रयोग भी किया है। इसका एक कारण और है—काव्य की प्रमुख पात्री है 'यशोधरा' जो कुछ वर्ण्य है वह उसी की विरह-भावना से सम्बद्ध है, अतः कार्य-व्यापार का अवकाश ही कहाँ? बुद्ध के जीवन में भी भौतिक घटनाओं का घटाटोप नहीं। यदि कहीं कुछ है, तो भी अभिकर्त्ता पात्र गौतम की अनुपस्थिति में कवि उसे सूच्य बनाने पर बाध्य हो गया है। नाटकीय कार्यावस्थाओं की खोज यशोधरा में व्यर्थ है, नाटकीय संस्पर्श व दृश्यात्मकता निश्चय ही उसमें वर्तमान है। अंतिम दृश्य और मान के प्रसंग में विशेष नाटकीय भव्यता और गरिमा है।

शिल्प

'यशोधरा' का शिल्प भी परंपरागत प्रबन्ध-रचना के अनुरूप नहीं। यदि कहें उसका विभाजन सर्गों में हुआ है तो ठीक नहीं होगा। सम्पूर्ण काव्य उन्नीस शीर्षकों में बाँधा गया है जिनमें से आरम्भिक शीर्षकों में कार्य-व्यापार या कथासूत्र बढ़ता गया है और उनका विषय भी बदल गया है। इन शीर्षकों में आरम्भ के—सिद्धार्थ, महाभिनिष्क्रमण, नन्द, महाप्रजावती, शुद्धोदन, पुरजन, छन्दक, मध्य के—सन्धान, और अन्त के—बुद्धदेव, शीर्षकों को छोड़कर शेष सभी शीर्षक यशोधरा अथवा राहुल-जननी के नाम से हैं। इन सभी का विषय एक है—यशोधरा की विरह-व्यथा की व्यंजना। इनका विस्तार भी कहीं एक पद्य, कहीं एक गीत और कहीं दो-चार पद्यों में हुआ है। एक ही विषय पर लिखे गए ये गीत या पद्य, सर्ग नहीं माने जा सकते। कवि ने बीच में जिस गद्य-नाटक का विधान किया है, वह भी यशोधरा की हार्दिक

भावनाओं को स्वगत की एकरसता से हटाकर कथोपकथन द्वारा मुखरित करने का प्रयास है। कवि का उद्देश्य इस कथोपकथन की योजना के द्वारा यशोधरा का अन्तर्द्वन्द्व व्यक्त करना, या स्वगत की एकरसता को दूर करना हो, अथवा वह वर्णन में इतिवृत्तात्मकता लाने का आकांक्षी हो, पर कला की दृष्टि से यह योजना विशेष हितकारी नहीं हुई है। गद्य-शैली में ये संवाद किसी प्रकार का कलात्मक उत्कर्ष न करके प्रगीत की मृदुल-मसृण कला में पैबंद के सदृश प्रतीत होते हैं। सम्पूर्ण कृति आभ्यन्तरिक भाव-व्यंजना में गीति-कला के जिस ललित मार्दव से आप्लावित है उसमें यह गद्यांश भद्दे जोड़ के अतिरिक्त कुछ नहीं।

अपने अधिकांश प्रबन्ध काव्यों की भाँति कवि ने आरम्भ में मंगलाचरण का विधान किया है। वर्णनात्मकता का प्रश्न इस काव्य में उठता ही नहीं। केवल कुछ विशिष्ट पारिवारिक प्रसंग बुद्ध और यशोधरा, तथा यशोधरा और राहुल के बीच अंकित किये गए हैं। प्रकृति अवश्य अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ इस काव्य में आद्यन्त उपस्थित है। अलंकार, उद्दीपन, आलम्बन, समभोक्ता आदि, सभी सम्भव रूपों में प्रकृति का वर्णन कवि ने किया है। प्रकृति-वर्णन की छायावादी शैली का गुप्तजी की कला पर विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रकृति पर मानव भावनाओं का आरोप, तथा प्रकृति का मानव के दुःख-सुख की समभागिनी-रूप में परिज्ञान इस काव्य में छायावादी ढंग का ही है।

छायावादी काव्य की अन्य सभी विशेषताएँ भी 'यशोधरा' में सहज उपलब्ध हैं। प्रगीत और गीत के माध्यम से भाव एवं स्वर दोनों का संगीत, अन्तःस्फूर्त अभिव्यंजना, आत्मद्रव, व्यक्तिगत आत्मनिवेदन (कवि का नहीं पात्र का), और कला की दृष्टि से भी—प्रतीक-योजना, लाक्षणिकता, व्यंजना का वैचित्र्य, अप्रस्तुत-चयन में मूर्त के लिए अमूर्त, और अमूर्त के लिए मूर्त बिम्ब-विधान और मानवीकरण से 'यशोधरा' का कलेवर निर्मित है। उसके अनेक गीत भाव के ही नहीं, स्वर के बाह्य संगीत से आपूर्ण हैं। इन गीतों की स्वर-साधना सहज सम्भव है। भाषा भी इन गीतों की विशेष प्रौढ़, कान्तिमय, गीति काव्योपयुक्त मधुर-मसृण है। कहीं-कहीं अवश्य उनकी कला में अनगढ़ता एवं स्थूल इतिवृत्तात्मकता आ गई है, परन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं। कुछ गीत हिन्दी के गीतिकाव्य की अन्यतम विभूति हैं।

छन्द-योजना—'यशोधरा' का छन्द-विधान एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय बनने के लिए पर्याप्त है। जिस प्रकार, गीत, प्रगीत, मुक्तक, प्रबन्ध आदि शैलियों, और पद्य एवं गद्य-माध्यम का मिश्रण गुप्तजी ने इस काव्य में किया है, उसी प्रकार छन्दों के विविध प्रयोगों से यह कृति सज्जित है। सम और विषम मात्रिक शन्दों के अनेक चिरप्रचलित रूपों और मिश्र छन्द-निर्माण की विभिन्न नवीन सरणियों का आश्रय गुप्तजी ने लिया है। मुक्त छन्द का प्रयोग उन्होंने यद्यपि नहीं किया, परन्तु परम्परागत मात्रिक छन्दों के योग से केवल अनेक सम और विषम छन्दों का रूप-निर्माण ही नहीं किया वरन अन्त्यानुप्रास में अनेक नवीन क्रम—पद व गीत—रचना में प्रस्तुत किये। अपभ्रंशोत्तर हिन्दी-साहित्य में छन्द-रचना की दृष्टि से अन्त्यानुप्रास का आधुनिक युग से पूर्व निरपवाद रूप से निर्वाह हुआ, अतः यद्यपि तुकान्त छन्द-रचना का कोई निश्चित विधान या नियम पिंगल-शास्त्र में नहीं मिलता, परन्तु छन्द की पंक्ति के अन्त्यनिपात में किसी तर्कातीत पद्धति से अन्त्यानुप्रास का निर्वाह कुछ ऐसा अनिवार्य-सा हो

गया था कि द्विवेदीयुग के उपरान्त जब नवीन पीढ़ी के कवियों ने अन्त्यानुप्रास को छन्द का बाह्यावरण मात्र घोषित कर इस बन्धन से कविता को मुक्त किया तो परम्परावादी साहित्यिक इस नवीनता का सहसा ही अभिनन्दन न कर सके। मैथिलीशरण गुप्त ने 'यशोधरा' में भिन्न तुकान्त छन्द का प्रयोग तो नहीं किया परन्तु छन्द के चारों चरणों में समान अन्त्यक्रम का निर्वाह भी नहीं किया। कहीं एक ही लय वाले और कहीं भिन्न लय वाले छन्दों की पंक्तियाँ मिला-जुलाकर उन्होंने अनेक सम और विषम विकर्षाधार उपस्थित किये और मिश्र छन्दों का निर्माण किया। अत्यन्त संक्षेप में हम उनकी छन्द-योजना का सिंहावलोकन करने का प्रयास करेंगे।

'यशोधरा' के छन्द स्पष्ट रूप से दो प्रकार के हैं—परम्परानुमोदित छन्द और नवीन प्रयोग। परम्परानुमोदित छन्दों में उन्होंने सम मात्रिक, अर्द्धसम मात्रिक, मिश्र मात्रिक और नाम गिनाने के लिए एकाध वर्णिक छन्दों का प्रयोग किया है। सम मात्रिक छन्दों में प्रायः गीतिका, हरिगीतिका, रोला, वीर, आर्या, ताटंक, कुण्डल आदि में कवि ने रचना की है। प्रचलित अर्द्धसम मात्रिक छन्दों में दोहा, आर्यागीति, मिश्र छन्दों में कुण्डलिया, छप्पय आदि, और वर्णिक छन्दों में कवि ने कवित्त एवं सवैया का प्रयोग किया है। अक्षर-गणना पर आश्रित घनाक्षरी उत्तरचरणार्द्ध के आधार पर जिस अमित्राक्षर छन्द का कवि ने प्रयोग किया वह कवि का पुराना, पर आधुनिक युग का नया छन्द है। इन परम्परागत छन्दों में भी अन्तर्यतियों का प्रयोग आधुनिक युग के अधिकांश कवियों ने किया है। 'यशोधरा' इस प्रवृत्ति का अपवाद नहीं। 'यशोधरा' में पाठ के ढंग से नवीन अन्तर्यतियाँ अनेक स्थलों पर आ जाती हैं।

नवीन छन्दों में भी कवि ने परम्परागत छन्दों की भाँति विविधतापूर्ण नव-निर्माण किया। सम, अर्द्धसम, मिश्र, त्रिसम, विकर्ष के विविध प्रयोग, सभी उनकी नव्य छन्द-रचना में सहज प्राप्य हैं। सम छन्दों में उत्कंठा[1] आदि तथा अर्द्धसम मात्रिक छन्दों में कुछ अत्यन्त नूतन आकार के छन्दों का उन्होंने निर्माण किया—

दरक कर दिखा गया, निज सार जो, —१८ मात्राएँ
हँस, दाड़िम, तू खिल खेल, —१३ मात्राएँ
प्रकट कर सका न अपना प्यार जो, —१८ मात्राएँ
रो कठिन हृदय सब झेल।[2] —१३ मात्राएँ

"यह छन्द घत्तानन्द के समान है। इसका पहला चरण ११ और ७ मात्राओं के विराम से बनता है और दूसरा चरण दोहे के सम चरण के पहले दो मात्राएँ जोड़कर।"[3]

उपर्युक्त छन्द की कुछ पंक्तियों के उपरान्त कवि ने एक और नवीन छन्द का विधान किया—

फलों के गीत फलों में फिर आए, —१९ मात्राएँ

---

१. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना—पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० ३०३-३०४
२. यशोधरा—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ४५
३. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना—पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० ३१२

मेरे दिन फिरे न हाय ! —१३ मात्राएँ
गए घन कै कै बार न घिर आए ? —१६ मात्राएँ
वे निर्झर न झिरे हाय ।[1] —१३ मात्राएँ

इस छन्द का शास्त्रीय नामकरण अनुपलब्ध है। डा० शुक्ल ने सुझाव दिया है कि घत्तानन्द छन्द के आदि में एक मात्रा के योग से इस छन्द का निर्माण हुआ है अतः इसे 'गुरुघत्तानन्द' कहना चाहिए।[2]

मिश्र छन्दों में भी कुछ नवीन मिश्र योजनाएँ गुप्तजी ने प्रस्तुत कीं—

उन्हें समर्पित कर दिये, यदि मैंने सब काम, १३, ११।
तो आवेंगे एक दिन निश्चय मेरे राम। १३, ११।
यहीं, इसी आंगन में, १२।
सखि, प्रियतम हैं वन में ?[3] १२।

उपर्युक्त छन्द में प्रथम दो चरण दोहे के तथा तीसरा व चौथा चरण सारक छन्द का है। इस प्रकार के अनेक नवीन विधान, गीतों में गुप्तजी ने किये। डा० शुक्ल ने नवीन अन्त्यानुप्रास-क्रम के आधार पर छन्दों का एक वर्ग त्रिसम वर्ग के नाम से माना है। जैसा नाम से स्पष्ट है, इस वर्ग के छन्दों में अन्त्यानुप्रास छन्द के तीन चरणों में समान और चौथे में भिन्न होता है। गीतों में अन्त्यक्रम प्रायः क, क, क, और ख होता है। चौथा चरण छन्दक (टेक) होता है। किन्तु अन्त्यानुप्रास का क्रम क, क, ख और क भी हो सकता है। यशोधरा के गीतों में पहले क्रम का निर्वाह प्रायः हुआ है—

इस निधि के योग्य पात्र —१२ मात्राएँ
यदि था यह तुच्छ गात्र, ,,
तो यही प्रतीति मात्र, ,,
दैव, दया तेरी। —१० ,,
जीर्ण तरी, भूरि भार, देख, अरी एरी।[4] १२,१० ,,

इसी प्रकार—

पुष्कर सोता है निज सर में,
भ्रमर सो रहा है पुष्कर में,
गुंजन सोया अभी भ्रमर में,
सो मेरे गृह गुंजन सो।[5]

त्रिसम वर्ग के छन्दों में नवीनता अन्त्यक्रम सम्बन्धी ही है अन्यथा आकार व लय-निपात

---

१. यशोधरा—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ४५
२. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना—पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० ३१३
३. यशोधरा—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ३६
४. यशोधरा—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ४८
५. यशोधरा—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ६१

की दृष्टि से ये छन्द मिश्र-छन्दों के अन्तर्गत ही आ जायँगे।

विकर्ष (पंक्तियों का विशेष प्रकार क्रमायोजन या रिजोल्यूशन) के आधार पर आधुनिक साहित्य में पुरानी लयों को अपनाकर जो शत-शत नवीन छन्द-योजनाएँ प्रस्तुत हुई उनका भी 'यशोधरा' में अभाव नहीं। नव विकर्ष से अभिप्राय पुरानी लयों में भी पंक्तियों के अन्त्यक्रम, परिसंख्यान और मात्राक्रम की नवीनता से है। जहाँ विकर्ष की नवीनता सम छन्दों में होती है वहाँ तो यह नवीनता केवल अन्त्यक्रमायोजन में ही होती है, परन्तु विषम विकर्षाधार के छन्दों में विभिन्न मात्रा-संख्या के चरणों का संयोग कर कवि एक विकर्षाधार निश्चित कर लेता है और क्रमशः उसी की आवृत्ति होती है। मिश्र छन्दों की भाँति इनमें केवल दो निश्चित छन्दों का योग न होकर विभिन्न लयों के विविध परिसंख्यानों का योग किया जाता है। 'यशोधरा' में सम और विषम दोनों प्रकार के नव विकर्षाधार छन्द प्रयुक्त हुए हैं। हाकलि छन्द का विकृष्ट रूप क, क, क, ख, ख क्रम में देखिये—

आगे आगे अम्ब जहाँ,
मैं पीछे चुपचाप वहाँ।
खोज फिरी तू कहाँ कहाँ,
फिर कर क्यों न निहार गई।
हार गई माँ हार गई।[1]

इसी प्रकार राधिका, सार आदि छन्दों का आधुनीकरण कवि ने विभिन्न अन्त्यक्रम-योजनाओं द्वारा किया है। विषम विकर्षाधार की अनेकानेक योजनाएँ भी कवि की नवोन्मेषिणी प्रतिभा ने की हैं—

अब भी समय नहीं आया ?	—१४ मात्राएं
कब तक करे प्रतीक्षा काया, जिये कहाँ तक काया ?	१६, १२ ,,
होती है मुझको यह शंका, क्षमा करो हे नाथ,	१६, ११ ,,
समय तुम्हारे साथ नहीं क्या, तुम्हीं समय के साथ ?	१६, ११ ,,
कहाँ योग मन-भाया ?	१२ ,,
अब भी समय नहीं आया ?[2]	१४ ,,

विषम विकर्षाधार छन्दों के अनेकानेक सुन्दर व भावानुकूल आकार गुप्तजी के निम्नांकित गीतों व पदों में द्रष्टव्य हैं—

मरण सुन्दर बन आया री।[3]
मिला न हा ! इतना भी योग।[4]

---

१. यशोधरा—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ५३
२. वही, पृ० १३१
३. वही, पृ० ४०
४. वही, पृ० ३५

फिर भी नाथ न आए।[1]
सखि वे मुझसे कहकर जाते।[2]
दूँ किस मुँह से आज उलहना।[3]
मानिनी मान तजो लो, रही तुम्हारी बान।[4]

इनके अतिरिक्त भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण 'यशोधरा' से दिए जा सकते हैं जिनका विधान बिल्कुल नवीन है। जैसा हमने पहले निवेदन किया है, 'यशोधरा' की छन्द-रचना अपने-आप में एक स्वतन्त्र परिच्छेद का विषय बनने के लिए पर्याप्त है। ऊपर जिन गीतों या पदों का उल्लेख किया गया, उनका लयाधार क्या है तथा उनका रूप-निर्माण किन छन्दों की मात्रा-संख्या को आधार बनाकर किया क्या है, इसका विवेचन हम विस्तार-भय से नहीं कर रहे, वह कदाचित् विशेष प्रासंगिक भी नहीं होगा। पिछले पृष्ठों में किये गए विवेचन में लक्ष्य यही था कि हम इस तथ्य की ओर संकेत कर सकें कि गुप्तजी ने इस काव्य-रूप में माध्यम और शैलियों में जिस मिश्रण-प्रवृत्ति का परिचय दिया, उससे कम नवीनता छन्द-रूपों के ग्रहण में नहीं दिखाई। केवल एक बात उनके काव्य-रूप और छन्द-विधान दोनों के विषय में सामान्य रूप से कही जा सकती है। जिस प्रकार उन्होंने बड़े पैमाने पर 'यशोधरा' में अपनी रुचि के अनुकूल अनेक वर्णन-शैलियों का मिश्रण किया, परन्तु इस अभिव्यंजना-कौशल के पीछे भी शास्त्रीय आधार सर्वत्र सुरक्षित रहा, उसी प्रकार उनकी छन्द-रचना की बाह्य विविधता और अनेक-रूपता के मूल में तर्क-सम्मत शास्त्रीय आधार है। उनके छन्दों के लयाधार शास्त्र-विहित छन्द अथवा उनके ही कुछ घटा-बढ़ाकर बनाये गए नव्य छन्द हैं। ये प्रयोग काव्य-रूप की ही भाँति कहीं भी अनर्गल या परम्परा-विरोधी नहीं हैं। गुप्तजी की अभिव्यंजना में सामान्यतः रूढ़ि से मुक्ति का प्रयत्न परिलक्षित होता है, विरोध का नहीं।

विष्णुप्रिया

'विष्णुप्रिया' की प्रेरणा कवि तक बहुत कुछ उसी मार्ग से आयी है जिससे 'साकेत' और 'यशोधरा' की। उपेक्षिता परन्तु गरिमामयी नारी के चरित्रांकन के हेतु उनकी रचना-त्रयी —'साकेत', 'यशोधरा' और 'विष्णुप्रिया' का यह अन्तिम पुष्प है। 'साकेत' और 'यशोधरा' की ही भाँति कवि का लक्ष्य यहाँ भी स्वात्माभिव्यक्ति न होकर पात्रात्माभिव्यक्ति है। अतः आत्म से भिन्न इदम् की कथा कहने के कारण कवि ने प्रबन्ध-रूप को अपनाया है।

'साकेत' और 'यशोधरा' से 'विष्णुप्रिया' का काव्य-रूप फिर भी भिन्न है। इसका कारण—प्रेरणा, पात्र और उपलब्ध कथा-सूत्रों के स्वरूप में अन्तर है। कवि रामभक्त है और राम-कथा से सहज परिचित, अतः उपेक्षिता उर्मिला की विरहाभिव्यंजना के साथ राम के जीवन में घटित होने वाले सभी प्रसंगों को किसी न किसी रूप में समाविष्ट कर लिया गया है, इसके

---

१. यशोधरा—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १३०
२. वही, पृ० २४
३. वही, पृ० ३६
४. वही, पृ० १४३

अतिरिक्त कथा-नायक लक्ष्मण का भी इन सभी घटनाओं से अभिन्न सम्बन्ध है, अतः 'साकेत' में घटनाओं का, या घटनाओं के वर्णन का अभाव नहीं। महत् कथा, महत् चरित्र और तदनुकूल शैली के कारण वह महाकाव्य बन गया और उर्मिला की अधिकांश वेदना-व्यथा नवम सर्ग के गीतों और प्रगीतों में सिमटकर रह गई।'यशोधरा'के नायक गौतम के बाह्य जीवन में उतनी महत् घटनाएँ नहीं घटीं जितनी मर्यादा पुरुषोत्तम के जीवन में। उनका व्यक्तित्व कर्मठ तेजस्वी वीर पुरुष का न होकर धीर, गंभीर, शान्त और विरागी का ही है। परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से उनकी अंतश्चेतना में घटित होने वाली अनेकानेक घटनाओं के प्रति कवि का सहज आस्था-भाव नहीं रहा। निवृत्तिमूलक बौद्ध-दर्शन के प्रति उसका विश्वास नहीं, और बौद्ध न होने के कारण बुद्ध के जीवन की घटनाओं के प्रति उसका आग्रह भी नहीं था। अतः समस्त काव्य उन्हीं प्रसंगों से व्याप्त है, जिन्होंने प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से यशोधरा की चरित्र-गरिमा के उद्घाटन में योग दिया। यशोधरा की मूल वृत्ति विरह और तद्पोषक वृत्ति वत्सल भाव है। उसकी बाल रति का आलम्बन राहुल उसके सदा समीप है। अतः विरहाभिव्यक्ति गीतों-प्रगीतों में, और वत्सल-भाव संवादों में व्यक्त हुआ है। उसने पति का संयोग पाया, उसका सम्बन्ध राजवंश से था, अतः विरह में उद्दाम भावावेश, पीड़ा और मिलन की कामना है। रति-भाव का उत्सर्ग भी कुछ बेबसी की स्थिति में हुआ है। वह अपनी पीड़ा के प्रति सजग है—

"मेरे दुःख में भरा विश्व सुख,
क्यों न भरूँ फिर मैं हामी।"[1]

विरह में आक्रोश, विवशता, खीझ, पश्चाताप, उपालम्भ सभी कुछ है। उर्मिला के विरह से अन्तर यही है कि लक्ष्मण त्यागी होने के साथ रागी भी है, अतः उसका वियोग निश्चित अवधि तक है और बुद्ध के त्यागी होने के कारण यशोधरा का विरह निरवधि, परन्तु उसके पास सम्बल है राहुल। विष्णुप्रिया की स्थिति इन दोनों से कुछ भिन्न है—उसका वियोग न उर्मिला की भाँति आशा-समन्वित व सावधि है, और न यशोधरा की भाँति वात्सल्य-पोषित। उसका वियोग निरवधि भी है और निरालम्ब भी। चैतन्य का व्यक्तित्व भी लक्ष्मण और बुद्ध से विशिष्ट है। लक्ष्मण की कर्मठता और गौतम के अतिवैराग्य—दोनों का ही उनके व्यक्तित्व में अभाव है। प्रबन्धोचित घटनाएँ उनके जीवन में भी गौतम की ही भाँति नहीं हैं। गौतम के राजवंशीय होने के कारण जो औपचारिकता उनकी जीवन-घटनाओं में आ गई है, और जो व्यापक प्रभाव उनके गृहत्याग आदि घटनाओं का पड़ा उतना चैतन्य का नहीं। इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक क्षेत्र में भी गौतम की सिद्धि चैतन्य की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और उनका प्रभाव विश्वव्यापी है। चैतन्य, बुद्ध की भाँति किसी मौलिक जीवन-दर्शन के आख्याता और प्रतिष्ठाता नहीं थे। अधिक से अधिक उन्हें सूर, तुलसी आदि भक्तों का समकक्षी ठहराया जा सकता है। भाव-विह्वल भक्ति की तन्मयता के अतिरिक्त साहित्य और धर्म की दृष्टि से भी उनका योगदान और आदर्श विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। कवि, नायक के भौतिक वस्तुनिष्ठ जीवन में तथ्य के साथ कल्पना का प्रयोग कर सकता है, परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में निराधार

---

१. यशोधरा—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १४७

कल्पना का भी विशेष अवकाश नहीं। उपर्युक्त सभी कारणों से 'विष्णुप्रिया' के वस्तु-विधान पर दोहरा प्रभाव पड़ा—एक ओर उसमें वस्तुरूप कार्य-व्यापार तथा प्रबन्ध-योजना के लिए अपेक्षित शृंखलाबद्ध घटनाओं का अभाव हो गया, दूसरी ओर विशेष परिस्थितियों की पृष्ठ-भूमि में परित्यक्ता, परन्तु परिवार के उत्तरदायित्व से दबी निस्संबल परन्तु त्यागमयी विष्णु-प्रिया का व्यक्तित्व कुछ इस प्रकार अंकित किया गया है कि उसकी वेदना मुखर बहुत कम होती है। वह सारी पीड़ा बिना कुछ कहे अन्तर में समा लेना चाहती है, उसकी सवाक् अभिव्यक्ति की आकांक्षी नहीं। विरह-भावना का आत्मसंकोच नहीं, आत्मविस्तार के रूप में उन्नयन हुआ है। वह व्यक्तिगत संसर्ग की अपेक्षा विश्व-हित और प्रिय के हित के लिए लालायित है—

"मेरे भगवान सबके हो, मैं उन्हीं की हूँ,
मेरे भाग्य मुझमें मुंदे तो खुले सब में।"[1]

इसी दृष्टिकोण के कारण काव्य का समग्र प्रगीतात्मक नहीं है। कवि ने विरह-भावना की अपेक्षा पति-प्रेम की आत्माभिव्यक्तियां चालीस से अधिक प्रगीतों के रूप में प्रस्तुत की हैं। प्रेम की अन्तर्दशा और वियोग की अनुभूतियाँ इन छोटे-बड़े प्रगीतों में व्यक्त हुई हैं। इनमें कुछ गेय हैं, कुछ लम्बे और कुछ का विधान मुक्तकवत् किया गया है, यद्यपि उनकी आत्मा प्रगीतात्मक ही है। इन प्रगीतों की स्थिति उसी ढंग की है जैसी 'साकेत' और यशोधरा के 'प्रगीतों' की। अन्तर इतना ही है कि 'यशोधरा' का अधिकांश प्रगीतात्मक है। घटनाएँ भी प्रगीतों के बीच सूच्य या स्मृति रूप में उद्दीपन होकर आई हैं। 'साकेत' का अधिकांश वर्णनात्मक है। नवम सर्ग में विरह की अनेक अन्तर्दशाएँ, भाव-भंगिमाएँ, प्रगीतों में हैं और वह सम्पूर्ण सर्ग उर्मिला-केन्द्रित है। 'विष्णुप्रिया' में स्थिति कुछ भिन्न है। घटनाएँ बहुत कम हैं, जो हैं उनमें विशेष जीवन्त, या प्रभावात्मक प्रसंग नहीं। कार्य-व्यापार में विशेष गति, उद्वेलन, संघर्ष इत्यादि नहीं। अत्यन्त ऋजु-सरल गति से महाप्रभु के जीवन के कुछ प्रसंग और उनकी पत्नी पर पड़ने वाले प्रभाव व उसकी मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया व्यक्त है, परन्तु विष्णुप्रिया, उर्मिला और यशोधरा दोनों की अपेक्षा अधिक सहिष्णु, धीर, कर्त्तव्यनिष्ठ और त्यागमयी है। चैतन्य न केवल उसे स्थायी रूप से त्याग देते हैं, बल्कि यशोधरा के समान अवलम्ब छोड़ने के स्थान पर माँ और जीविका-वहन का उत्तरदायित्व भी छोड़ जाते हैं। अतः उसके जीवन में आन्तरिक ही नहीं बाह्य संकटों का विधान भी हो गया है, और इन कष्ट-कण्टकों में उसका जीवन-सुमन निरन्तर खिलता रहा है। उसने इस पीड़ा को प्राप्य समझकर आत्मसात् कर लिया और वह भी उत्तरदायित्व को कर्त्तव्य मानकर, अतः उसकी पीड़ा में आवेश, ज्वलन और उद्वेग नहीं है। ऐसी स्थिति में उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए घटनाओं का अंकन अनिवार्य था। इन समस्त प्रसंगों की पृष्ठभूमि में विष्णुप्रिया का चरित्र-विकास हुआ है, परन्तु स्वगतोक्तियों, संवादों और प्रगीतात्मक आत्माभिव्यक्ति के रूप में नहीं। बल्कि जैसा हमने पहले कहा—प्रगीतों के माध्यम से हृदयोद्गारों के करुणार्द्र उत्स तो फूट निकले हैं, परन्तु सर्वत्र संवादों और स्वगतों के माध्यम से मुखरता नहीं आई है। विशिष्ट परिस्थिति में पड़ी नायिका की मनःस्थिति

---

१. विष्णुप्रिया—मैथिलीशरण गुप्त, आवरण पृष्ठ

के अंकन से पाठक की करुणा व सहानुभूति उसके प्रति तीव्र से तीव्रतर और अन्ततः तीव्रतम होती गई है। घटनाओं व प्रसंगों का वर्णन परोक्ष समाख्यान-शैली में हुआ है, जिसमें कहीं-कहीं अंग-रूप में कथोपकथन का प्रयोग हुआ, और प्रचुर रूप में प्रगीतों का, परन्तु काव्य की प्रधान शैली वर्णनात्मक है। 'यशोधरा' के समान निपट प्रगीतात्मक नहीं और 'साकेत' के समान वर्णन-बहुल नहीं (नवम सर्ग को छोड़कर)। उसमें प्रगीतों का प्रयोग 'साकेत' की अपेक्षा अधिक और 'यशोधरा' की अपेक्षा कम हुआ है। अतः 'विष्णुप्रिया' को प्रगीतात्मक खण्डकाव्य कह सकते हैं। यह खण्डकाव्य की नितान्त परम्परागत शैली की रचना नहीं। अस्तु हम संक्षेप में इस कृति की वस्तु-कला के विभिन्न तत्त्वों का विवेचन करेंगे—

कथा-स्वरूप एवं प्रबन्ध-विधान—कवि ने अपने मूल उद्देश्य—पति द्वारा परित्यक्त मध्य-युग की निरावलम्ब, स्वजनों की सेवा में रत, आजीविका-अर्जन के उत्तरदायित्व-वहन करने में समर्थ नारी के गौरव-गान के अनुकूल प्रबन्ध-योजना की है। विषय-सम्बन्धी परिसीमाओं की स्वीकृति कवि ने स्वयं की है—"प्राप्त सामग्री तो आज भी मैं बहुत नहीं पढ़ पाया हूँ, परन्तु कथा मैंने संक्षेप में जान ली। वास्तव में मुझे महाप्रभु के विषय में कोई खोज नहीं करनी थी, इतना ही जानना था। विष्णुप्रिया का व्यक्तित्व तो मानों स्वयं उन्हीं ने मेरे अन्तस् में आकर स्पष्ट कर दिया था।"[१]

स्पष्ट है कवि ने उतना ही जानने का प्रयास किया जितना नायिका के व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक था। अतः कथा में वही प्रसंग आए हैं जो विष्णुप्रिया के प्रेम और वियोग, तप व त्याग, सेवा और कर्त्तव्यनिष्ठा आदि गुणों के प्रकाशन के लिए अपेक्षित हैं। नायक का शील-निरूपण कवि का लक्ष्य नहीं, अतः भक्ति के क्षेत्र में साम्प्रदायिक व सैद्धान्तिक भूमि पर महाप्रभु का अवतरण न करके, परमार्थ-साधन के लिए प्रयत्नलीन मानवीय शील का अंकन ही कवि ने किया, वह भी उतना भर जितना नायिका के चरित्र-विकास के लिए अनिवार्य था। परिणामस्वरूप जो प्रसंग व घटनाएँ अंकित हैं वे प्रबन्ध-गुण, सुसंगठित कथानक, सुनिश्चित वस्तु-विन्यास, कथा-चारुत्व की दृष्टि से न होकर, चरित्र-गरिमा के उद्घाटन की दृष्टि से हैं। आजीविका का दायित्व-वहन करने के कारण निश्चय ही नायिका के चरित्रांकन में सामाजिक जीवन की चेतना, और सामान्य परिवार की कुलवधू होने के कारण साधारण जीवन की समस्याओं का संस्पर्श भी उर्मिला और यशोधरा की अपेक्षा अधिक हो सका है। परन्तु परम्परागत खण्डकाव्यों से कवि का दृष्टिकोण भिन्न है। कवि की दृष्टि में वस्तु विन्यास (plot-construction) प्रधान न होकर चरित्रनिर्माण (characterisation) अधिक महत्त्वपूर्ण है। परिणामतः ऐसी स्थिति में प्रबन्धत्व की दृष्टि से सभी सम्भव गुण-दोषों का अन्तर्भाव हो गया है। सुसम्बद्ध और गठे हुए कथानक के लिए अरस्तू ने इसीलिए आवश्यकता और सम्भाव्यता के नियमानुसार घटनाओं का समावेश और सुनिश्चित आदि, मध्य और अवसान का नियम अनिवार्य माना था। परन्तु ऐसा, कथानक को त्रासदी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानकर कहा गया था। कालान्तर में जैसे-जैसे कथा-वर्णन स्वयं साध्य न होकर अन्य उद्देश्यों का साधक

---

१. विष्णुप्रिया—मैथिलीशरण गुप्त, निवेदन, पृष्ठ ५

साधन-मात्र बनता गया वस्तु-विन्यास के लिए निर्दिष्ट नियमों के अनुबन्ध शिथिल पड़ते गये।

एक ओर 'विष्णुप्रिया' में कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिनका सम्बन्ध कथा-विकास से नहीं चरित्र-विकास से है। जिनको यदि निकाल लिया जाय तो तारतम्य या कथा-विकास में कोई बाधा उपस्थित न होगी। दूसरी ओर "कवि ने चैतन्य देव के जीवनचरित की उन घटनाओं का भी विवरण प्रस्तुत किया है, जिनका विष्णुप्रिया के चरित्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। उनकी काव्य-स्थिति का औचित्य इसमें है कि वे कथा-वस्तु को वर्णनात्मक बनाते हैं और विष्णुप्रिया के चरित्र को वैषम्य पद्धति से उभारते हैं।"[1] उदाहरण के लिए गौर की भक्ति-भावना का विकास, उनकी मंडली में बड़े-बड़े विद्वानों का सम्मिलन, उनकी भक्तिचर्या, कीर्त्तन, उपासना, अनेक प्रकार के विस्मयकारी कार्यों का सम्पन्न करना आदि-आदि प्रसंगों का प्रत्यक्ष रूप से विष्णुप्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं, परन्तु इनका वर्णन इसीलिए हुआ है कि कवि विष्णुप्रिया के—निस्वार्थ भाव से उनकी रक्षा-कामना में संलग्न रहकर कर्त्तव्य-पालन के गुण को उभारकर लाना चाहता है। उनके अनुयायी उन्हें सँभालते और विष्णुप्रिया उनके कीर्त्तन में मग्न होकर नाचते-नाचते प्रायः अचेत होकर गिर पड़ने के समय चोट सहती। इस प्रकार कवि ने विष्णुप्रिया के संयोग में वियोग की प्रतिष्ठा की है। वह समीप होकर भी पति से वियुक्त है। उसका शृंगार, क्रमशः अशरीरी होता गया है। काव्यारम्भ की कुछ घटनाएँ—माता-पिता को गौरहरि की पुत्र-रूप में प्राप्ति, उनके अग्रज विश्वरूप का बाल्यावस्था में संन्यासी हो जाना, अपने सहपाठी रघुनाथ की महत्त्वाकांक्षा को देखकर गौर का न्याय-ग्रंथ को गंगा में बहा देना आदि, विष्णुप्रिया की कथा से, प्रबंधत्व की दृष्टि से अनिवार्यतः सम्बद्ध नहीं, परन्तु यह अंश कथा के पूर्वाभास के लिए कवि ने संक्षेप में चलता कर दिया है। गौर के गृहत्याग से आरम्भ होकर शेष सभी घटनाएँ विष्णु-प्रिया के उच्चाशयी चरित्र-विकास के लिए ही आयी हैं।

गौर का गृहत्याग का निश्चय, चुपचाप प्रस्थान, बिदा न लेने के कारण विष्णुप्रिया का दुखित होना, कर्त्तव्य-भाव से प्रेरित होकर सास को सँभालना आदि घटनाएँ उसके चरित्र की भावी गरिमा और करुणा की भूमिका तत्पर करती हैं। सास को सँभालकर भी विष्णुप्रिया के मन में गोद खाली रहने का संताप बना रहा और यहीं से उसकी वियोग-कथा का वास्तविक आरम्भ हुआ। यद्यपि उसकी उत्कट निराशा 'प्रस्तुत हूँ, मैं तज दूँ देह' कह कर व्यक्त हुई। उसे पति-वंचना से शोक हुआ, उनके संन्यासी होने का समाचार सुनकर उसका नारीत्व भी आहत हुआ—

अबला के भय से भाग गये वे उससे भी निर्बल निकले।
नारी निकले तो अ-सती है, नर यती कहा कर चल निकले॥[2]

परन्तु पति को उपालम्भ उसने बहुत कम दिया। उसके अनन्य प्रेम ने समाज के इस आरोप का—कि यह नारी पर नर का अत्याचार है, यह कहकर विरोध और समाधान किया कि वे स्वयं इसके लिए उत्तरदायी नहीं, यह उनकी प्रभु-प्रीति का दोष है, वे तो 'सुध भूले, भटके

---

१. मैथिलीशरण गुप्त—व्यक्ति और काव्य—कमलाकान्त पाठक, पृष्ठ २१८
२. विष्णुप्रिया—मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ ५७

नहीं।' उसकी विरह-भावना वत्सल-भाव से नहीं कर्त्तव्य-भार से पुष्ट हुई। गौर के नाते उसने प्रेम का फल सन्तान नहीं, उनका उत्तरदायित्व सेवा-भार वहन किया। वह स्वावलम्बी जीवन अंगीकार करती है। इसी प्रसंग में कवि ने उसकी चारित्रिक महिमा के लिए सामाजिक स्थिति का आख्यान किया। उसकी दिनचर्या का वर्णन उसकी कर्मण्यता के परिचय के लिए किया गया। कर्त्तव्य के इस भार ने उसके प्रेम की पीड़ा को संतुलन प्रदान किया, मर्यादा तोड़कर आवेग का बाँध टूटने से बचाया। इस विषम परिस्थिति में भी विष्णुप्रिया की सामाजिक चेतना प्रबुद्ध है। वह 'रोक निज दुःख हम मानें सुख सबका' को जीवन में स्वीकार कर सामाजिक पर्वोत्सवों के प्रति उदार भावना व्यक्त करती है। इस प्रकार व्यक्तिगत दुःख व संताप का समष्टिगत हित और सुख में उन्नयन व समाजीकरण कर दिया गया है।

इसके बाद की अनेक घटनाएँ प्रत्यक्ष रूप से गौर के जीवन में घटित होती हैं परन्तु वे उनके जीवन में भी विष्णुप्रिया के ही चारित्रिक उत्कर्ष और महत्त्व की व्यंजना करती हैं। उनके जीवन में घटित होने वाली घटनाओं का चरम—नित्यानन्द को गृहस्थ बन जाने का आदेश देने में हुआ, और इस घटना की, विष्णुप्रिया के मन में होने वाली प्रतिक्रिया का विश्लेषण सास के मुख से कवि ने कराया है—

"जीत हुई तेरी बहू, हारा वह अंत में।"
धीरे से बहू ने कहा ठंडी आह भरके—
"अम्ब, देना-लेना अब क्या है हार-जीत से?"[1]

वर्षों की वियोग-वेदना के उपरान्त मिलन के अवसर पर उसके मन में उर्मिला की भाँति पश्चाताप-मिश्रित करुण-आह्लाद नहीं, यशोधरा की भाँति उत्सर्ग करने को थाती भी नहीं। वह उपालम्भ भी नहीं देना चाहती और "मरने से कठिन हुआ जीना" की अनुभूति उसकी स्थिति को विषम बनाए रखती है, अतः वह पति के आदेशानुसार आचरण कर उनके मार्ग को अधिकाधिक सरल, निष्कंटक, और प्रशान्त बनाने में जीवन की सार्थकता खोज लेती है। पति के हेतु यह 'स्व' का उत्सर्ग ही उसकी विजय है। उसकी भावना में न मिलन-गीत की प्रसन्नता है, न उपालम्भ की वक्रता। एक विचित्र अवसाद और त्यागमय गम्भीर तल्लीनता का भाव है—

"अचल उस प्रभु में तुम्हारी रति वही,
और तुममें अटल मेरी मति वही।
मिले तुम्हें प्रभु, मिलो मुझे तुम, नहीं और कुछ कहना।"[2]

वह अपनी असमर्थता का निवेदन करती है कि वह भगवान का ध्यान इसलिए नहीं कर पाती, क्योंकि बीच-बीच में प्राणप्रिय आ जाते हैं अतः उसे जीवन-यापन के लिए विधि-आदेश अपेक्षित है। उत्तर में परकीया भाव के अनन्य उपासक स्वकीया भाव की इस पराकाष्ठा के सम्मुख निरुत्तर होकर सम्मान में खड़ाँऊ छोड़कर खड़े हो गये। इस प्रसंग में नाटकीय आकस्मिकता व वैषम्य तो नहीं परन्तु भव्यता व गरिमा है, और यही काव्य का चरम है; परन्तु

---

१. विष्णुप्रिया—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १०९
२. वही, पृ० ११४

विष्णुप्रिया की करुण कथा का अन्त यहाँ भी नहीं होता। सास के न रहने पर वह कर्त्तव्य-बंधनों से मुक्त होकर "मरने का अवकाश" अपना प्राप्य मानती है। परन्तु स्वयं प्रभु-मूर्ति में विलीन होकर भी पति उसके लिए "आयु शेष रहते मरण आत्मघात है" का आदेश स्वप्न में छोड़ गए। वह दानशीला तपस्विनी, नियम-संयम और पति की प्रतिमा का अवलंब लेकर "पल-पल से है मुझे जूझना लेकर ये कर रीते" संकल्प में ही अपनी शेष करुण जीवन-कथा का उपसंहार करने के लिए तत्पर हो जाती है।

कथा के उपर्युक्त सारांश को उपस्थित करने में हमारा अभिप्राय यही था कि हम अपनी पूर्वकथित मान्यता को एक बार फिर दोहरा सकें कि 'विष्णुप्रिया' काव्य नायिका-प्रधान होते हुए भी, उसकी व्यक्तिगत चेतना के साथ उसमें सामाजिक और कौटुम्बिक दोनों पक्षों का समागम हुआ है। व्यक्ति के साथ समाज, वस्तु के साथ आत्म, बाह्य के साथ अंतरंग और मूर्त के साथ अमूर्त को समान महत्ता देने के कारण उसमें वस्तुप्रधान व घटनात्मक प्रबन्धों की-सी सक्रिय व प्रखर गत्वरता तो नहीं मिलती परन्तु अनेक अंशों में इतिवृत्त-वर्णन निश्चित् रूप से आ गया है। दूसरी ओर आन्तरिक भाव-व्यंजना का वर्णन करते हुए कवि नितान्त व्यक्तिनिष्ठ, अमूर्त-व्यंजक व आत्मकेन्द्रित तो नहीं हुआ परन्तु प्रगीतात्मकता विषय और अभिव्यंजना दोनों में है। नाटकीय वैषम्य, आकस्मिकता, दृश्य-चित्रण आदि का भी प्रयोग गुप्तजी ने नहीं किया, कारण—कथा में चारुत्व व रोचकता की सृष्टि कवि का लक्ष्य नहीं। घटनाओं में क्रमिक विकास व अन्विति प्रबन्ध का अनिवार्य गुण है। 'विष्णुप्रिया' की समस्त घटनाओं में सहज अन्विति तो है ही क्रमिक विकास की दृष्टि से सभी घटनाओं में कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं पूर्वापर सम्बन्ध है। कुछ घटनाओं के विषय में पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि उनकी स्थिति अनिवार्य नहीं, परन्तु उनकी प्रयोजनीयता के समाधान में तर्क उपस्थित किया जा सकता है। काव्य का वस्तु-विन्यास अत्यन्त स्पष्ट, साफ-सुथरा और उज्ज्वल है।

वर्णनात्मकता—इस काव्य में विशेष नहीं। अनेक अंशों में इतिवृत्त का सहारा कवि लेता है, उसकी दृष्टि वस्तुगत कार्यकलापों पर टिकती है और वह कथा-तारतम्य के लिए वर्णन भी करता है, पर चलते हुए। कवि ने स्थिर चित्र बहुत कम अंकित किये हैं। देश, काल, वातावरण का भी जमकर वर्णन उन्होंने नहीं किया, क्योंकि वर्णन कवि ने उतने ही किये हैं जितने कथा-तारतम्य बनाए रखने के लिए अनिवार्य थे और कथा भी उतनी ही कही है जितनी विष्णुप्रिया के महिमा-मंडित व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण के लिए अपेक्षित थी। अतः वर्णनों का स्वतन्त्र महत्त्व बहुत कम है। प्राकृतिक वर्णनों का भी विशेष अवकाश कवि को नहीं मिला, क्योंकि विष्णुप्रिया के प्रेम में व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक तीनों पक्षों को कवि ने समन्वित किया है। व्यक्तिगत प्रेमाभिव्यक्ति में पात्र प्रकृति का आश्रय प्रायः तभी लेता है जब उसे सामाजिक धरातल पर सहानुभूति करने वाला या समभागी रक्त-मांस का प्राणी प्राप्त नहीं होता अथवा वह किसी कारणवश उसके प्रति विरह-निवेदन नहीं करना चाहता। 'विष्णुप्रिया' में ऐसे अवसर नहीं आए हैं। उसका सामाजिक पक्ष अत्यन्त समर्थ है। अतः परिवार और समाज के ही कुछ अत्यन्त इतिवृत्तात्मक वर्णन कवि ने किये हैं—

लौट देव-पूजन-प्रबन्ध कर सास का

चूल्हा सुलगाती, इसी बीच भृत्य गाय का
दूध दुह रखता, तपाती उसे छान के।
करती थी बाल-भोग प्रस्तुत मुकुन्द का।
थोड़े दाल-चावल निकाल उन्हें बीनती,
एक शाक लेकर सँवारती सुयत्न से।
साधारण भोजन, तथापि सास कहती—
"भाग्य में नहीं था हाय ! ऐसा स्वाद उसके !"
'स्वाद' बहू कहती—"है प्रभु के प्रसाद" में।
शाक और चावल थे विदुर-सुदामा के,
अर्पण में माँ, तुम्हारी श्रद्धा है उन्हीं की-सी।
भोजन के पीछे, लीप-पोत चौक चूल्हे को,
पात्र वह माँजती चमकते थे वे सदा।[1]

उपर्युक्त प्रसंग में कवि की दृष्टि सर्वथा बाह्यनिरूपिणी है, परन्तु इन्हीं पंक्तियों के समान एक विशेषता इस प्रकार के सब वर्णनों में है। दिनचर्या का वर्णन करते हुए भी कवि तुरन्त अवकाश निकालकर जहाँ बन पड़ता है, अन्तर्वृत्ति-निरूपण करने लगता है। सास-बहू का उपर्युक्त संवाद दोनों की मनःस्थिति का द्योतक है। अतः ये वर्णन भी आन्तरिक व्यंजना के साधक हैं। प्रकथन-पद्धति में स्वयं कथावस्तु का निरूपण करता हुआ कवि किस प्रकार अनुभावों द्वारा पात्र की मानसिक प्रतिक्रिया व्यंजित करता है निम्नलिखित पंक्तियों में और भी स्पष्ट है—

विष्णुप्रिया स्तब्ध हुई सुनकर पहले।
भ्रांत-सी उन्हीं की ओर कुछ क्षण देखा की
काँपी फिर और गिरी पैरों पर उनके,
निगढ़ लता-सी गति-रोधकर लिपटी।
रोई वह किन्तु बोल पाई नहीं कुछ भी,
आँसू बह निकले, वचन नहीं निकले।[2]

कवि ने प्रकथन के अंतर्गत वर्णन और चित्रण दोनों शैलियों का प्रयोग किया है। परन्तु चित्रण में भी रूपात्मक चित्रण के साथ भावात्मक चित्रण स्वतः आ गया है—

घर में प्रवेश करती थी वधू, सहसा
ठोकर खा रक्त बहा उसके अँगूठे से।
मानों उस देहली को देके बलि पहली,
घूंघट में ओंठ चाँपे, आह न की उसने।
वर ने अँगूठे से अँगूठे को दबा दिया।

---

१. विष्णुप्रिया—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ७०
२. वही, पृ० ४०

रक्त रुका, किन्तु बढ़ी दूनी अनुरक्तता।[1]

वर्णन-शैली में प्रसादमयता, स्पष्टता और सफाई सर्वत्र है। अलंकरण में विशेष नवीनता, लाक्षणिक वैचित्र्य, व्यंजनागत चमत्कार अधिकतर नहीं मिलता। समाख्यान और प्रगीत-रचना दोनों ही सीधी, स्वच्छ और प्रसादमय शैली में हुई हैं। कहीं-कहीं बिम्ब-विधान और अप्रस्तुत-चयन में नवीन अलंकरण-विधि का प्रयोग कवि ने किया है, परन्तु ऐसे स्थलों पर शैली में चमत्कार और नवीनता की अपेक्षा कवि का उद्देश्य प्रभविष्णुता की वृद्धि और स्पष्ट बिम्ब-ग्रहण कराना है। अमूर्त के लिए मूर्त बिम्ब-ग्रहण निम्नांकित पंक्तियों में देखिये—

करुणा हुई थी अब अन्तर्मुखी दोनों की
सोख यथा वृष्टि धारा भूमि भर लेती है।[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि का लक्ष्य केवल दोनों की मनःस्थिति को अधिकाधिक स्पष्ट करना ही नहीं, वृष्टि-धारा को सोख कर भूमि जिस प्रकार सर्वहिताय पुष्पित-पल्लवित होती है, उसी प्रकार दोनों की अन्तर्मुखी करुणा का प्रतिफलन कालान्तर में किस प्रकार परहित के लिए आत्मविस्तार के रूप में हुआ, इस भावसत्य की व्यंजना भी कवि ने इस साभिप्राय बिम्ब-विधान से की है। 'विष्णुप्रिया' की वर्णन-शैली सामान्यतः प्रकथनात्मक है, जिसमें कवि ने विशेष रूप से संवादों की योजना कर नाटकीयता का विधान किया है। संवाद विशेष सजीव, संक्षिप्त और प्रभावव्यंजक हैं। बीच-बीच में प्रगीतों की रचना भी की गई है, परन्तु विष्णुप्रिया के गीत एकांतिक विरह-व्यथा को मुखरित नहीं करते, उनमें सामाजिक चेतना भी व्यक्त हुई है। "गुप्तजी ने विष्णुप्रिया की आत्माभिव्यंजना को विस्तृत भाव-भूमि प्रदान की है। वह कर्त्तव्य-निष्ठ सक्रिय चरित्र है। उसने अपने उत्कट प्रेम की, विरह-पीड़ा की, प्रिय के दोष-प्रक्षालन की, असिद्ध मातृत्व और असफल गृहस्थाश्रम की, सास की सेवा और स्वावलंबन की, समाज से दया-दान न ग्रहण करने के आत्म-दर्प की, प्रिय के गुण-श्रवण की, लोक-मर्यादा के बंधन की, मरण-कामना की, स्वामिमरण और भक्ति-भाव की तथा षट्-ऋतुओं में अपने जीवन के एकरसत्व की मार्मिक व्यंजना की है। वह सप्राण और भावाविष्ट चरित्र है। उसकी वियोगानुभूति में अनेकतलस्पर्शिता व्यंजित हुई है…।"[3]

दूसरे शब्दों में इन प्रगीतों को केवल विरहिणी की आत्मानुभूति तक सीमित न रखकर उसकी एकनिष्ठ अंतर्वृत्ति को विभिन्न परिस्थितियों के मध्य विविध अर्थ-भूमियों की व्यापकता प्रदान की गई है। उनकी ये प्रगीतियाँ एकान्त आत्मनिष्ठ नहीं, उनमें वस्तुनिष्ठता विद्यमान है।

शिल्प

आरम्भ में मंगलाचरण के अतिरिक्त कवि ने खण्डकाव्य के किसी परम्परागत अनुबन्ध

---

१. विष्णुप्रिया—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १६
२. वही, पृ० १०७
३. मैथिलीशरण गुप्त—व्यक्ति और काव्य—डा० कमलाकान्त पाठक, पृ० ५६१

का पालन नहीं किया। कथा-विस्तार पर्याप्त होने पर भी कथा न सर्गों में विभाजित है और न प्रसंगों व शीर्षकों में बाँधी गई है। कवि ने सम्पूर्ण कथा का अखण्ड धारा-प्रवाह वर्णन किया है। बीच में क्षणिक विराम प्रगीतों की रचना द्वारा उपस्थित किये गए हैं, परन्तु ये प्रगीत भी अधिकतर कथाश्रित हैं। सर्गों के अभाव में भी कथा में किसी प्रकार की उलझन, अस्पष्टता या देश, काल, घटना में किसी प्रकार का विरोध या वैषम्य उत्पन्न नहीं होता। घटनास्थल बदलने पर अन्य स्थल की घटनाओं की सूचना या विवरण दे दिया गया है।

छन्द-विधान—'विष्णुप्रिया' की रचना गुप्तजी ने अपने १५ वर्ण वाले प्रिय छन्द घनाक्षरी-उत्तर-चरणार्द्ध में की है। बीच-बीच में प्रगीत-रचना में छन्द बदल गया है। प्रगीतों की रचना 'यशोधरा' की भाँति अनेक मात्रिक छन्दों में की गई है। छन्द विविध हैं परन्तु पद्धति वही है। उसी प्रकार कवि ने सम, विषम, अर्द्धसम, त्रिसम, मिश्र, और गीतों के लिए नव विकर्षाधार के सम व विषम छन्दों की योजनाएँ व प्रयोग किये हैं। 'यशोधरा' की ही भाँति कहीं कवि ने मुक्तक-पद्धति पर स्वतःपूर्ण छन्द-रचना की है—

गौरी हो काली हो गिरजे, तू ही भाग्यवती,
तेरे वश में हैं तेरे पति, हों योगीन्द्र, यती।
हम कुल ललनाओं की लज्जा तू आदर्श सती
मैं अबला हूँ तो क्या, मेरी तू सब शक्तिमती।[1]

और कहीं कवि सम या विषम परम्परागत छन्दाकार अपनाकर, व अन्यत्र छन्दों के मिश्रण से विषम विकर्षाधार इकाई बनाकर क्रमशः एक छन्द या इकाई की आवृति करता है—ऐसा गीत-रचना में हुआ है। निम्नांकित गीत में छन्द-रचना मिश्र, आधार मात्रिक छन्द, योजना विषम व विकर्ष नवीन हैं—

मानों अब निज से भी न्यारे,	**१६ मात्राएँ**
खोये से रहते हैं प्यारे।	**१६ ”**
सखि, मैं लाजों मर गई सुन उनकी यह बात,	**२४ ”**
रास रचो राधे, चलो आज दुपहली रात।	**२४ ”**

क्यों तुम यों अपना मन मारे ?
खोये से रहते हैं प्यारे।
झर-झर आँसू बह उठे भर-भर लाये मेह,
हर-हर मैं कहने लगी थर-थर काँपी देह।
वे यों सारी सुध-बुध हारे।
खोये से रहते हैं प्यारे।[2]

इस गीत में आवृत इकाई प्रथम दो पंक्तियाँ चौपाई की, और उसके उपरान्त दोहे के चरणों को मिलाकर बनायी गई है। सम्पूर्ण गीत में इसी इकाई की आवृति है। मात्रा संख्या-क्रम

---

१. विष्णुप्रिया—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ७८
२. वही, पृ० ३५

१६, १६, २४ (१३, ११) २४ (१३, ११) और अन्त्यक्रम क, क, ख, ख, क, क, ग, ग, है। दूसरी पंक्ति छन्दक (टेक) की पंक्ति है।

इस प्रकार 'विष्णुप्रिया' के प्रगीत—मुक्तक, पद, और गीत सभी रचना-पद्धतियों में लिखे गए हैं। छन्द-योजना की विधि जैसा पहले कहा जा चुका है वही है जो 'यशोधरा' की प्रगीत-रचना में कवि ने अपनायी है। विस्तार-भय से सभी छन्दों का विश्लेषण हम यहाँ नहीं करेंगे—वह हमारा विषय भी नहीं। हमारा अभिप्राय केवल विधि की ओर निर्देश करना है और इस काव्य के छन्द-विधान में वे सभी नवीनताएँ और परम्पराएँ हैं जो 'यशोधरा' की प्रगीत रचना में, अर्थात् छन्दों के आधार शास्त्रीय और नियोजन-विधि कवि की नितान्त मौलिक है।

कुरुक्षेत्र

कालक्रमानुसार 'कुरुक्षेत्र' की रचना 'विष्णुप्रिया' से पूर्व हुई, परन्तु हम उसका विवेचन बाद में केवल इसलिए कर रहे हैं कि रचना-पद्धति और काव्य-रूप की दृष्टि से 'विष्णुप्रिया' और 'यशोधरा' में कुछ अंशों तक समानता है, परन्तु 'कुरुक्षेत्र' का काव्य-रूप इन दोनों से भिन्न है।

'कुरुक्षेत्र' के काव्य-रूप के विषय में विद्वानों में 'यशोधरा' से कम मतभेद नहीं रहा। कारण—इस रचना में विस्तार है, सर्गबद्धता है, तारतम्य है, प्रबन्धत्व है, ऐतिहासिक पात्र हैं, परन्तु कथा नहीं समस्या है, समाख्यान नहीं विश्लेषण है, वर्णन नहीं चिन्तन है। प्रबन्ध के परम्परागत रूप में देश, काल और पात्रों से विशिष्ट कथा और घटनाएँ, 'कुरुक्षेत्र' में नहीं, परन्तु जो कुछ उसमें कहा गया है उसका सम्बन्ध भी जीवन के एक विशेष पक्ष, एक विशिष्ट समस्या से है, और इस प्रकार समस्त काव्य में विषय-सम्बन्धी प्रबन्धत्व या विचारों का तारतम्य विद्यमान है। काव्य का कोई अंश दूसरे से असम्पृक्त व निरपेक्ष नहीं। परम्परागत प्रबन्ध काव्य से 'कुरुक्षेत्र' में अन्तर यही है कि कवि यदि प्रबन्ध में उद्देश्य-रूप से किसी समस्या पर विचार भी करना चाहता है तो वह कथा के माध्यम से ध्वनित होता है, अथवा 'उन्मुक्त' के कवि की भाँति प्रतीकात्मक कथा का प्रयोग कर रूपक के विधान से कुछ परिणामों की व्यंजना करता है। 'कुरुक्षेत्र' के कवि ने न कथा का सहारा लिया है न देश-काल और वातावरण का। उसने समष्टि के धरातल पर देश-काल के बन्धनों से मुक्त एक अत्यन्त व्यापक समस्या उठा ली है। इस समस्या का सम्बन्ध व्यष्टि से नहीं समाज से है और इसका स्वरूप सर्वदेशीय व सार्वकालिक है। इसीलिए कवि ने 'इतिहास के अध्याय' पर इसी समस्या से दुःखित पात्र खोज कर उनके माध्यम से इस समस्या को वाणी दी है।

हम इस काव्य को प्रबन्ध इसलिए मानते हैं कि इसके सभी वर्ण्य प्रसंगों में परस्पर सम्बन्ध है, और सभी का सम्बन्ध एक समस्या से है—युद्ध की समस्या। उसमें एक कथा की विविध घटनाएँ, कार्य-व्यापार नहीं, परन्तु एक समस्या के विभिन्न कोण हैं। समस्त विचार-धारा उसी एक विषय से सम्बद्ध है। युद्ध का उत्तरदायी, युद्ध के कारण, परिणाम, नीति, युद्ध का प्रतिकार, तथा उससे सम्बन्धित अन्यान्य समस्याएँ, और कवि के अपने समाधान—यही इस

काव्य का विषय है। काव्य में विचार का आरम्भ, विकास और उपसंहार सभी कुछ है। प्रबन्ध के विभिन्न भागों में इस प्रकार संगुफन नहीं कि एक भी अंश इधर-उधर करने से समस्त प्रबन्ध-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाय या लड़खड़ाने लगे। एक सम्पूर्ण सर्ग (छठा) क्षेपक के समान यदि उड़ा लिया जाए तो भी काव्य के विचार-विन्यास में तारतम्य की दृष्टि से विशेष बाधा नहीं आएगी, परन्तु ऐसा तो कभी-कभी घटनाप्रधान प्रबन्धों में, और भावप्रवण रचनाओं में भी सम्भव होता है। प्रबन्ध-गुण की शिथिलता से भी ऐसा हो जाता है। 'कुरुक्षेत्र' में छठे सर्ग को छोड़कर सभी भागों की अपनी उपादेयता है, और वह निर्विवाद है। कथाश्रित मुक्तकों की भाँति विचार का (घटनाएँ इस काव्य में नहीं हैं) पुनराख्यान या आवृति भी कवि ने प्रायः नहीं की है। कहीं-कहीं 'कुरुक्षेत्र' की तर्क-पद्धति में अवश्य पुनरुक्ति है। कवि अंगी रूप में एक, और अंग रूप में अनेक समस्याओं को उठाकर उनका आरम्भ, मध्य, अवसान, अंकित करता है। इस प्रकार एक आधिकारिक कथा के साथ अनेक प्रासंगिक प्रसंग भी प्रबन्ध-योजना में आत्मसात् हैं। काव्य में घटना-ऐक्य नहीं परन्तु विचार-ऐक्य अवश्य है। अन्त के विषय में पाठक विशेष आश्वस्त नहीं हो पाता, परन्तु इसका कारण समस्या का स्वरूप है जिसका कोई स्थायी समाधान सम्भव नहीं।

प्रबन्ध-विधान—उल्लेख करने के लिए एक अत्यन्त क्षीण-सी कथा भी 'कुरुक्षेत्र' में प्रबन्धत्व को प्रमाणित करने के लिए ढूँढ़ी जा सकती है, परन्तु 'कुरुक्षेत्र' स्पष्ट रूप से समस्या-मूलक काव्य हैं। इसीलिए कवि ने जहाँ कहीं पात्रों के जीवन से असम्बद्ध विचारों का सन्निवेश किया है (छठे सर्ग में) वहाँ वह प्रबन्ध की दृष्टि से खटकता ही नहीं, कथा की वास्तविकता के भ्रम को भंग करने का कारण बन जाता है। 'कुरुक्षेत्र' में वस्तु-गौरव का अभाव है, कथानक में व्यापकता तो है ही नहीं, कहीं-कहीं उससे व्यक्त विचार भी तत्कालीन पृष्ठभूमि से अलग हो जाते हैं।

कवि ने काव्य का आरम्भ 'कुरुक्षेत्र' की युद्धभूमि में क्लान्तमना, विजय पर खिन्न युधिष्ठिर की मनःस्थिति के विश्लेषण से किया। कवि ने यह व्यंजना की, कि विजित और अन्यायी के पराभव से सदैव विजयी भी सुखी व आश्वस्त नहीं होता, और फिर क्रमशः तर्क व कथोपकथन-पद्धति के सहारे वह आगे बढ़ गया। युद्ध के कारण, विशेष परिस्थितियों में उसकी अनिवार्यता, युद्ध का उत्तरदायी, प्रतिकार, हमारी सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था, उसमें परिवर्तनों की अनिवार्यता, आदर्श व्यवस्था का कवि का अपना स्वप्न, और उसमें व्यंजित होने वाला इस शाश्वत समस्या का सम्भावित समाधान—यही 'कुरुक्षेत्र' काव्य की चिन्ताधारा का क्रम है। जैसा पहले भी निवेदन किया जा चुका है छठे सर्ग को छोड़कर शेष सभी प्रसंग मुख्य विचारणीय समस्या से सम्बद्ध हैं, अतः विचार सम्बन्धी प्रबन्धत्व इस काव्य में निश्चय ही वर्तमान है। कथा-निर्वाह के प्रति भी कवि उदासीन नहीं है, यह चतुर्थ सर्ग में भीष्म द्वारा आत्म-चरित की पर्यालोचना से स्पष्ट है। (हम उनके दृष्टिकोण से कहाँ तक सहमत हैं? यह एक भिन्न प्रश्न है) चरित्र-चित्रण के प्रति कवि का यह राग इस बात का प्रमाण है कि वह कथात्मक काव्य की विशेषताओं की पूर्णतः उपेक्षा नहीं करना चाहता।

'कुरुक्षेत्र' को हम खण्डकाव्य इसलिए मानते हैं क्योंकि यह काव्य जीवन की अनेक और

विविध समस्याओं का चित्रण और समाधान प्रस्तुत नहीं करता। जिस प्रश्न को 'कुरुक्षेत्र' में उठाया गया है, वह व्यापकता की दृष्टि से सीमित है। उसका सम्बन्ध जीवन की एक एकांगी, एकपक्षीय समस्या से है, जीवन की समग्रता और व्यापकता का उसमें अन्तर्भाव नहीं। उसकी समस्या मानव-इतिहास की दृष्टि से चिरन्तन है, परन्तु उसका स्वरूप सामयिक है। हमारा विनम्र मत उन विद्वानों के पक्ष में नहीं है जिन्होंने 'कुरुक्षेत्र' को महाकाव्य माना है।[1] महाकाव्य की बाह्य एवं अनिवार्य विशेषताओं की कसौटी पर भी 'कुरुक्षेत्र' किसी भी दृष्टि से सफल नहीं माना जा सकता। उसमें महाकाव्य की कुछ गौण विशेषताएँ निश्चय ही प्राप्त हैं। उदाहरण के लिए प्रख्यात कथानक, (कुरुक्षेत्र में ऐतिहासिक आधार भर है इतिहास की रेखाओं को कवि ने कल्पना के रंगों से ही अधिक भरा है) छन्द-वैविध्य, युद्धादि के वर्णन, उद्देश्य की महत्ता आदि, परन्तु रूढ़िवादिता को परे हटाकर भी 'कुरुक्षेत्र' को महाकाव्य नहीं स्वीकार किया जा सकता। उसकी खण्डित वास्तुकला, व्यापक जीवनगत मूल्यों का अभाव, पात्रों की न्यूनता, वर्णनों की एकांगिता, नायक का धीर परन्तु क्लान्त रूप, सर्ग-संख्या की अल्पता, रस-व्यंजना की सीमाएँ आदि परिसीमाएँ महाकाव्य के शाश्वत एवं अनिवार्य लक्षणों से सम्बद्ध हैं। इसके अतिरिक्त गौण एवं बाह्य रूढ़ियों का पालन भी 'कुरुक्षेत्र' में नहीं हुआ। महाकाव्य के व्यापक अथवा लक्षणबद्ध किसी भी रूप में 'कुरुक्षेत्र' महाकाव्य नहीं है।

'कुरुक्षेत्र' को महाकाव्य सिद्ध करने के दुराग्रह की अपेक्षा भी नहीं। स्वयं कवि ने उसे महाकाव्य बनाने का दावा नहीं किया। निवेदन में दिनकरजी ने 'कुरुक्षेत्र' की प्रेरणा और विधि को दृष्टि में रखते हुए जो कुछ कहा है वह उसके काव्य-रूप पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त है। हमारी समझ में उससे कम या अधिक 'कुरुक्षेत्र' और कुछ नहीं। कवि की अपनी दृष्टि में—

"मुझे जो कुछ कहना था वह युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाये बिना भी कहा जा सकता था, किन्तु, तब यह रचना, शायद, प्रबन्ध के रूप में नहीं उतरकर मुक्तक बनकर रह गई होती। तो भी यह सच है कि इसे प्रबन्ध के रूप में लाने की मेरी कोई निश्चित योजना नहीं थी···।"

और अन्त में कवि ने फिर निवेदन किया है—

"कुरुक्षेत्र में प्रबन्ध की एकता उसमें वर्णित विचारों को लेकर है। दरअसल इस पुस्तक में मैं प्रायः सोचता ही रहा हूं। भीष्म के सामने पहुँचकर कविता जैसे भूल-सी गई हो। फिर भी, कुरुक्षेत्र न तो दर्शन है और न किसी ज्ञानी के प्रौढ़ मस्तिष्क का चमत्कार। यह तो अन्ततः एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोल रहा है।"[2]

---

१. हमारे जीवन की भाँति हमारे महाकाव्य भी प्राचीनता और नवीनता के बीच में हैं किन्तु हमारी विचारधारा की भाँति उनमें भी कुछ नवीन विचार आ रहे हैं। दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' इसका प्रमाण है।

हिन्दी-साहित्य—डा० भोलानाथ, पृ० ४३८

लक्ष्मीनारायण सुधांशु का मत भी ऐसा ही है।

२. कुरुक्षेत्र—दिनकर, निवेदन, पृ० १-२

उपर्युक्त उद्धरण से कुरुक्षेत्र के काव्य-रूप के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष ग्रहण किये जा सकते हैं :—

(१) 'कुरुक्षेत्र' एक प्रबन्ध काव्य है।

(२) ऐतिहासिक पात्रों का प्रयोग काव्य में वर्णित विचारों के प्रबन्ध-रूप में संग्रथन के उद्देश्य से किया गया है।

(३) कवि ने इसका प्रबन्ध-विधान किसी निश्चित पूर्व योजना के अनुसार नहीं किया, अर्थात् उसकी इच्छा केवल विचारों को प्रबन्ध-रूप में प्रस्तुत करने की थी, प्रबन्ध में वस्तु-कौशल के प्रति वह विशेष सतर्क व आस्थावान नहीं रहा।

(४) 'कुरुक्षेत्र' में प्रबन्धात्मकता घटनाओं या कार्य-व्यापार की नहीं, विचारों की है। उसकी प्रेरक, कवि की हृदयगत अनुभूति भी, काव्य-रचना के क्षणों में मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर चिन्तनप्रधान व विचारात्मक वाणी में बोलती रही है। एक शब्द में 'कुरुक्षेत्र' विचारात्मक प्रबन्ध है।

जैसा हम पहले स्पष्ट कर आए हैं उसकी समस्या एकपक्षीय है। जीवन के एकांग से सम्बद्ध प्रश्न कवि ने उठाया, अतः खण्ड-विशेष का अंकन होने के कारण हम उसे 'विचारात्मक खण्डकाव्य' कहेंगे।

'कुरुक्षेत्र' के विचार-विन्यास की प्रबन्धात्मकता के विषय में आक्षेप करना बेकार है। आक्षेप का अवसर दिये बिना ही कवि ने उसका दायित्व अपने ऊपर ले लिया है।

"जहाँ कोई ऐसी उड़ान आई है, जिसका सम्बन्ध ऊपर से नहीं बैठता, उसका सारा दायित्व मैंने अपने ऊपर ले लिया है। ऐसे प्रसंग, अपनी प्रक्षिप्तता के कारण, पाठकों की पहचान में आप ही आ जायेंगे। पूरा-का-पूरा छठा सर्ग ऐसा ही क्षेपक है जो इस काव्य से टूटकर अलग भी जी सकता है।"[१]

इस स्वीकारोक्ति के उपरान्त कुछ कहने के लिए नहीं रह जाता।

डा० नगेन्द्र ने 'कुरुक्षेत्र' के लिए एक नयी संज्ञा का प्रयोग किया है। वे 'कुरुक्षेत्र' को प्रबन्ध काव्य मानने के पक्ष में नहीं। उनका मत है—

"पारिभाषिक रूप में तो इसे सप्त-सर्ग-बद्ध पौराणिक प्रबन्धकाव्य कहा जा सकता है, परन्तु वस्तुतः न तो यह पौराणिक ही है और न प्रबन्ध काव्य ही। यह तो अभी समाप्त होने वाले यूरोप के द्वितीय महासमर से प्रेरित एक लम्बी चिन्ताप्रधान कविता है। इसमें न तो कुरुक्षेत्र का घटना-चक्र है और न उसका क्रमिक निबन्धन, इसमें तो स्वयं कवि के शब्दों में उसका शंकाकुल हृदय ही मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोल रहा है। वास्तव में चिन्ता-प्रधान कविता की यही परिभाषा है—जब हृदय अपने उद्गार सहज और प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त करता है तब गीति-कविता का जन्म होता है और जब वह मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोलता है तो चिन्ता-प्रधान कविता का उद्भव होता है।"

उन्होंने दिनकर के विरोध में कहा—

---

१. कुरुक्षेत्र—दिनकर, निवेदन, पृ० २

"दिनकर ने स्वयं 'कुरुक्षेत्र' के प्रबन्ध-तत्त्व की सफाई में कहा है कि इसके प्रबन्ध की एकता वर्णित विचारों को लेकर है, परन्तु उनकी यह धारणा भ्रान्त है। इसमें एकता विचार की बिल्कुल नहीं है—वरन् युद्ध के औचित्य और अनौचित्य को लेकर उठने वाली उस शंका की है जिसने उनके मन को अस्थिर कर दिया था। इस काव्य में कुरुक्षेत्र युद्ध का प्रतीक है, युधिष्ठिर और भीम कवि के तर्क और वितर्क अर्थात् विचार के दोनों पक्षों के प्रतीक हैं, जिन पर आरूढ़ होकर उनके मन की द्विविधा समाधान की ओर दौड़ती है।"[1]

डा० नगेन्द्र के इस मत से 'कुरुक्षेत्र' के सम्बन्ध में उनकी निम्नलिखित धारणाएँ स्पष्ट हैं :

१. पारिभाषिक रूप से इसे सप्त-सर्ग-बद्ध पौराणिक प्रबन्ध-काव्य कहा जा सकता है।

२. वस्तुतः यह न पौराणिक है न प्रबन्ध, एक लम्बी चिन्ता-प्रधान कविता है।

३. इसमें न कुरुक्षेत्र का घटना-चक्र है न उसका क्रमिक निबन्ध।

४. कुरुक्षेत्र में एकता विचार की बिल्कुल नहीं है—वरन् युद्ध के औचित्य और अनौचित्य को लेकर उठने वाली उस शंका की है जिसने उनके मन को अस्थिर कर दिया था।

इस मत के उत्तर में हम एक बार पुनः अपनी बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। इस विषय में कि सच्चे अर्थ में 'कुरुक्षेत्र' को पौराणिक नहीं माना जा सकता तथा 'कुरुक्षेत्र' प्रतीक मात्र है—युद्ध का, और वास्तविक 'कुरुक्षेत्र' युद्ध की घटनाओं व उनके क्रमिक निबन्धन का इस काव्य में अभाव है, वैमत्य सम्भव नहीं है। इससे आगे 'कुरुक्षेत्र' को केवल चिन्ता-प्रधान कविता मानकर प्रबन्ध नहीं मानना शंका उत्पन्न करता है। डा० नगेन्द्र ने 'कुरुक्षेत्र' की रचना-पद्धति व प्रेरणा-स्रोत की दृष्टि से कवि के शब्दों को ही आधार मानकर इसे चिन्ता-प्रधान कविता कहा है। उनके अनुसार हृदय जब मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोलता है, या यों कहें कि कवि जब अपनी अनुभूति का बौद्धिक विश्लेषण करता है, बुद्धि द्वारा उसे समझने-समझाने का प्रयास करता है तभी चिन्ता-प्रधान कविता लिखी जाती है। इसके उपरान्त श्रद्धेय डा० साहब ने यह स्पष्ट नहीं किया कि चिन्ता-प्रधान प्रबन्ध-काव्य से चिन्ता-प्रधान कविता का व्यावर्त्तन किन आधारों पर किया जायगा। यदि हम उन्हीं की परिभाषा को थोड़ा और आगे बढ़ाकर कहें कि हृदय जब मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोलता है और वह कुछ दूर तक बोलता जाता है और जो कुछ वह बोलता है उसमें तारतम्य, क्रमबद्धता, निबन्धन, और एकसूत्रता होती है तो चिन्ता-प्रधान प्रबन्ध-काव्य का जन्म होता है, तो 'कुरुक्षेत्र' की विधा की कुछ-कुछ व्याख्या हो जाती है।

उन्होंने एक बात और कही कि 'कुरुक्षेत्र' में एकता विचार की बिल्कुल नहीं है—वरन् युद्ध के औचित्य और अनौचित्य को लेकर उठने वाली उस शंका की है जिसने उनके मन को अस्थिर कर दिया था। यदि हम उनके और कवि के आशय को गलत नहीं समझ रहे हैं तो हमें दोनों में मतान्तर की अपेक्षा शब्दान्तर अधिक प्रतीत होता है। विचार हमारे मन में किसी मूर्त व अमूर्त विषय का आधार लेकर उठते हैं, विचार कभी निरावलम्ब नहीं होता, स्वयं अमूर्त

---

१. विचार और विश्लेषण—डा० नगेन्द्र, पृ० १२८

अवश्य होता है । अतः विचारों में एकता के दो रूप सम्भव हो सकते हैं—विचार में विषय-सम्बन्धी एकता तथा विचारों में चिन्तन-पद्धति सम्बन्धी एकता। और स्पष्ट शब्दों में हम एक विषय के सम्बन्ध में अनुकूल प्रतिकूल तर्क-वितर्क करते रहे तो यह एक प्रकार की एकता होगी, और हम एक विषय या अनेक विषयों के सम्बन्ध में एक ही विधि से एक ही विशेषता के विषय में सोचते हैं तो यह दूसरे ढंग की एकता होगी। उदाहरण लीजिये—अमुक व्यक्ति का रूप हमारे विचार का विषय है। वह ऐसा है बहुत अच्छा है, वह ऐसा नहीं है इसलिए उसकी सुन्दरता में कुछ न्यूनता आ गई है, यदि ऐसा नहीं वैसा होता तो बहुत अच्छा रहता। उत्तरदायित्व वेशभूषा पर है फिर भी सब मिलाकर ठीक-ठाक है—यह सोचने की एक पद्धति है। दूसरी पद्धति में हम सोचेंगे, वह अच्छा है, उसमें यह विशेषताएँ हैं, उसमें ही नहीं अ, ब, में भी यही विशेषताएँ हैं; उसका अमुक अंग ऐसा है, वर्ण गौर है, आदि-आदि। एक सूक्ष्म उदाहरण लीजिये किसी दर्शन-विशेष में चरम सत्य का स्वरूप, उसकी साधक पद्धति, गुण-दोष, अनुकूल-प्रतिकूल तर्क, सुधार के उपाय आदि विषयक चिन्ता, चिन्तन का एक ढंग और एक या एकाधिक दर्शनों में केवल चरम सत्य का स्वरूप ज्ञान-चिन्तन की दूसरी पद्धति है। 'कुरुक्षेत्र' में पहली विधि है, दूसरे ढंग का विचार-ऐक्य नहीं। वास्तव में विचार की विषय-सम्बन्धी एकता बहुत दूर तक विचार-ऐक्य के लिए उत्तरदायी होती है। यदि हम ध्यान से देखें तो डा० नगेन्द्र ने जिसे शंका-सम्बन्धी एकता कहा है वह विचार-एकता से बहुत भिन्न नहीं। कवि के मन में जो शंका है उसका विषय है युद्ध, और जो विचार व्यक्त किये गए हैं उनमें से अधिकांश का सम्बंध युद्ध से ही है। विचार में अनेकता इसी दृष्टि से कही जा सकती है कि इस समस्या पर विचार कवि ने अनेक दृष्टिकोणों से, विभिन्न पहलुओं से किया है—एक ही पक्ष या एक ही कोण से नहीं। वह अनेकता की मूलवर्ती एकता की रक्षा करते हुए भी क्रमशः एकता से अनेकता की ओर अग्रसर हुआ है। घटनाप्रधान काव्य में भी घटना-ऐक्य इसी रूप में होता है कि काव्य के आधिकारिक वृत्त से समस्त घटना-चक्र प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सम्बद्ध होता है। कुछ घटनाएँ या प्रासंगिक वृत्त कार्य-विकास के साधक व अन्य बाधक होते हैं। कुछ फलप्राप्ति की ओर अग्रसर करने में सहायक व अन्य अवरोधक होते हैं, परन्तु किसी न किसी रूप में सब की स्थिति प्रयोजनीय होती है। समस्त कार्य-व्यापार एक ही दिशा में अग्रसर नहीं होता। 'कुरुक्षेत्र' में भी समस्या एक है युद्ध, और वही उसकी प्रमुख समस्या है। युद्ध के निमित्त कारणों और सम्भाव्य समाधानों पर विचार मानों इस समस्या के हेतु और निवारक तत्त्व या समस्या-निवारण रूपी फल या उद्देश्य के साधक व बाधक तत्त्व हैं। कुछ समस्याएँ और हैं जिनका प्रयोग प्रासंगिक विचारों के रूप में समझा जा सकता है। जहां उसकी वास्तुकला खण्डित है, अथवा कुछ स्थल मुख्य विषय से असम्बद्ध हैं उसका उत्तरदायित्व प्रबन्ध-कौशल पर है, प्रबन्धत्व के अभाव पर नहीं।

वर्ण्य-विषय—दोहराने की आवश्यकता नहीं कि 'कुरुक्षेत्र' का वर्ण्य विषय अमूर्त है, हृदय की शंका से प्रेरित विचार है। कवि ने पात्रों का प्रयोग व समस्या से सम्बन्धित विचारधारा के दो पक्षों को समाख्यान शैली में प्रस्तुत न कर नाटकीयता का समावेश व अभिवृद्धि की है। समस्त तर्क एक मुख में और वितर्क दूसरे मुख में रख दिया है। इस पक्ष-विपक्ष के प्रस्तुतकर्ता पात्र

ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, यही इसमें वस्तु तत्त्व है। इसके अतिरिक्त घटना, पात्र, देश, काल, वातावरण के नाम पर विषयप्रधान दृष्टि कहीं नहीं दिखाई पड़ती। कुरुक्षेत्र—जिसके नाम पर काव्य का नामकरण हुआ है, अपने समस्त प्रपंच सहित इस काव्य के रंगमंच से लुप्त है। कवि ने युद्ध-पूर्व कुछ घटनाओं का उल्लेख किया है (वर्णन नहीं) परन्तु या तो विचारोद्दीपन के लिए, अथवा विचार-समर्थन के लिए, या युद्ध के कारण या परिणामों के विश्लेषण के लिए, परन्तु इन घटनाओं का कवि प्रासंगिक रूप में उल्लेख भर करके रह गया है—द्रौपदी के केश-कर्षण और पाण्डवों द्वारा अश्वमेध यज्ञ के विधान की घटनाओं का उल्लेख ऐसा ही है।

कवि की विचारधारा में भी दो पक्ष हैं। युधिष्ठिर के माध्यम से कवि ने व्यक्तिवादी पक्ष—जिसमें पाप-पुण्य, नीति-अनीति, धर्म-अधर्म आदि के निर्णय की जिज्ञासा प्रस्तुत की है। यह दृष्टि आत्म-केन्द्रित और अन्तर्मुखी है। इसका समाधान भीष्म के पक्ष से हुआ है। उनकी प्रवृत्ति बहिर्मुख और लोकवादी है। युधिष्ठिर ने साधुमत के पक्षपात द्वारा त्याग, तपस्या, करुणा आदि को व्यक्ति-धर्म मान लिया, और भीष्म ने लोकमत और लोककल्याण की दृष्टि से युद्ध को व्यक्तिगत स्वार्थ न मानकर अनीति-विरोधी पक्ष का समर्थन किया है। परन्तु यह सब बुद्धि के अदृश्य रंगमंच पर घटित होता हुआ वाणी से प्रसारित होता है। कवि ने इन विचारधाराओं का सैद्धान्तिक स्वरूप प्रस्तुत किया है व्यावहारिक नहीं। वह भौतिक जीवन के धरातल पर समस्याओं के व्यावहारिक चित्रण और समाधान नहीं करता। इस प्रकार 'कुरुक्षेत्र' समस्या-प्रधान काव्य है, परन्तु ये समस्याएँ प्रेमचन्द द्वारा गृहीत समस्याओं के समान वस्तुनिष्ठ भौतिक समस्याएँ नहीं, इनका अंकित स्वरूप आत्मनिष्ठ और बौद्धिक है। समस्या का व्यावहारिक रूप नहीं, उसके प्रति व्यक्ति के मन की क्रिया-प्रतिक्रिया व्यक्त है।

विषय अमूर्त होने पर भी कतिपय अंशों के अतिरिक्त काव्य में प्रखर गत्वरता है। एकाध स्थल पर तर्क-पद्धति में पुनरुक्ति या एक ही विषय पर कुछ दूर तक चिन्तन करने के कारण एकरसता आ गई है, परन्तु अन्यत्र सर्वत्र ही उनकी विचारधारा में दुर्दम प्रवाह और अनवरुद्ध गति है, जो तदनुकूल ओजोद्दीप्त वाणी के माध्यम से व्यक्त हुई है। कवि ने पाठक की बुद्धि को विराम का अवकाश नहीं दिया, कहीं-कहीं असहमति के कारण ठिठकना अवश्य पड़ता है, परन्तु पैर जमने नहीं पाते, और पाठक शंका को अन्त के लिए स्थगित कर अनवरत गति के साथ फिर आगे बढ़ जाता है।

शैली व शिल्प

दिनकरजी ने घटनाओं के अभाव के कारण कथा-समाख्यान तो किया ही नहीं परन्तु अमूर्त विषय की अभिव्यक्ति भावप्रवण गीतियों के माध्यम से भी नहीं हुई है। गीतिकाव्य तीव्र किन्तु सरल प्रतीतियों एवं उच्छ्वासों के लिए उपयुक्त माध्यम हो सकता है, समस्यामूलक विमर्श या चिंतन के लिए नहीं, अतः 'कुरुक्षेत्र' में भावुकता व आत्मद्रव के स्थान पर बौद्धिकता और आत्म-चिंतन है जो विश्लेषणात्मक शैली में व्यक्त हुआ है। कहीं-कहीं वर्णनात्मकता विचार-समर्थन या उद्दीपन के लिए वर्णित घटनाओं के प्रसंग में आ गई है, परन्तु वह 'कुरुक्षेत्र' की प्रधान शैली नहीं है। समस्त विचार-विमर्श दो पात्रों के बीच संवाद के रूप में प्रस्तुत करके, कवि ने नाट्य तत्त्व

की भी रक्षा की है, परन्तु इसे नाट्य तत्त्व के स्पर्श-मात्र से अधिक कुछ स्वीकार नहीं किया जा सकता। सफल नाटकीय संवादों में इतनी लम्बी वक्तृताओं का अवकाश नहीं होता। अनेक स्थलों पर इनका स्वर मंचीय भाषण का सा हो गया है।

'कुरुक्षेत्र' की शैली में यद्यपि चित्रों की भरमार नहीं, उसका विषय अमूर्त है परन्तु जहाँ अवसर मिला है वहाँ कवि ने अत्यन्त समर्थ भाषा में विराट और कोमल चित्र उपस्थित किये हैं। ऐसे स्थलों पर मूर्त के लिए मूर्त, परन्तु अत्यन्त अनुकूल काव्य-सामग्री के चयन से अभीष्ट प्रभाव-व्यंजना उत्पन्न हो गई है। इन प्रसंगों में विराट और कोमल दोनों का समानाधिकार से कवि ने वर्णन किया है। भीष्म के आजीवन दीप्त पौरुष का अन्तिम समय वर्णन करने के लिए अप्रस्तुत-चयन देखिये—

शरों की नोंक पर लेटे हुए गजराज-जैसे,
थके, टूटे गरुड़ से, स्त्रस्त पन्नगराज-जैसे,
मरण पर वीर-जीवन का अगम बल-भार डाले,
दबाये काल को, सायास संज्ञा को सँभाले; [1]

वर्णन व चित्रांकन के लिए ही नहीं विचार-समर्थन के लिए भी अपनी बात को कवि इतने ही समर्थ दृष्टान्त देकर पुष्ट करता है। प्रतिशोध की भावना के औचित्य की पुष्टि इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

सटता कहीं भी एक तृण जो शरीर से तो,
उठता कराल हो फणीश फुफकार है,
सुनता गजेन्द्र की चिंघार जो वनों में कहीं,
भरता गुहा में ही मृगेन्द्र हुंकार है;
शूल चुभते हैं, छूते आग है जलाती, भू को—
लीलने को देखो गर्जमान पारावार है;
जग में प्रदीप्त है इसी का तेज, प्रतिशोध—
जड़-चेतनों का जन्मसिद्ध अधिकार है। [2]

कतिपय कोमल भावनाओं के, मानवीकरण के आधार पर बद्ध चित्र देखिये—

आनन सरल, वचन मधुमय है,
तन पर शुभ्र वसन है,
बचो युधिष्ठिर ! इस नागिन का
विष से भरा दशन है। [3]

अन्यायपूर्ण शान्ति को कवि ने चित्रांकित किया है। इसी प्रकार विजयश्री का मति-विधान देखिये—

---

१. कुरुक्षेत्र—दिनकर, पृ० ३८
२. वही, पृ० ३१
३. वही, पृ० ३६

अयि विजय ! रुधिर से विलग्न वसन है तेरा,
यम-द्रष्टा से क्या भिन्न दसन है तेरा ?
लपटों की झालर झलक रही अंचल में,
है धुआँ ध्वंस का भरा कृष्ण कुन्तल में।[1]

उपर्युक्त उद्धरणों में केवल अद्‌भुत वक्रता, चित्रमयता ही नहीं अर्थ-गौरव व समास गुण भी है। प्रत्येक पंक्ति की विस्तृत व्याख्याएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। इस प्रकार का अर्थ-गर्भत्व 'कुरुक्षेत्र' की अभिव्यंजना में प्रायः मिलेगा, परन्तु उनकी इस प्रौढ़ कला की एक विशेषता अद्‌भुत है, जिसकी संगति कला की इस स्तुत्य प्रौढ़ता के साथ विचित्र है। उनका कलाकार अभिव्यंजना के प्रति सचेष्ट नहीं। डा० नगेन्द्र के शब्दों में उनकी कला में "सुख-सरल गति है—'कुरुक्षेत्र' की काव्य-सामग्री के नियोजन में, शब्द-विन्यास में, छन्द और लय की योजना में, सर्वत्र यही सुख-सरल गति मिलती है। उसमें कहीं भी काट-छांट, जड़ाव या बनाव-सिंगार का प्रयत्न नहीं और इसका कारण भी उनकी सबल अनुभूति ही है जो अनायास ही वाग्धारा में फूट उठती है।"[2]

यों तो सर्वत्र ही यह अनायास प्रभावित करने और बहा ले जाने वाली अभिव्यंजना मिलती है, फिर भी एक उदाहरण इस बात का प्रमाण देने के लिए अप्रासंगिक न होगा कि भाषा व शैली पर कवि का पूर्ण अधिकार है। वह अनलंकृत शैली में भी अपने मनोनुकूल भाव व्यक्त करने में समर्थ है—

चाहिए उनको न केवल ज्ञान,
देवता हैं मांगते कुछ स्नेह, कुछ बलिदान,
मोम-सी कोई मुलायम चीज
ताप पाकर जो उठे मन में पसीज-पसीज;
प्राण के झुलसे विपिन में फूल कुछ सुकुमार,
ज्ञान के मरु में सुकोमल भावना की धार;
चांदनी की रागिनी, कुछ भोर की मुसकान,
नींद में भूली हुई बहती नदी का गान;[3]

उनके काव्य में इस प्रकार प्रसादमय, पौरुष-दीप्त और कहीं स्निग्ध वाग्धारा में युद्ध के विराट और करुण दोनों पक्षों के चित्रण के अनेक उदाहरण मिल जायंगे। कहीं-कहीं उनकी अभिव्यंजना में गर्जन-तर्जन भी आ गया है। वास्तव में उनकी शैली में स्निग्धता और तारल्य की अपेक्षा प्रखरता और वेग है, मसृणता, लालित्य और मृदुता की अपेक्षा चमक, कान्ति और दीप्ति ही अधिक है।

सर्ग-विभाजन—'कुरुक्षेत्र' का विभाजन सात सर्गों में किया गया है। कवि ने मंगलाचरण आदि का विधान न करके, किसी प्रकार की वर्णन सम्बन्धी अन्य औपचारिकताओं का भी साग्रह

१. कुरुक्षेत्र, पृ० ७१
२. विचार और विश्लेषण—डा० नगेन्द्र, पृ० १३४
३. कुरुक्षेत्र, पृ० ८९

समावेश नहीं किया।

छन्द-विधान—छन्द-वैविध्य 'कुरुक्षेत्र' में पर्याप्त है। छन्द-परिवर्तन सर्ग के उपरान्त, मध्य, आरम्भ सभी स्थलों पर कवि ने स्वेच्छया अपनी आवश्यकता के अनुकूल कर लिया है। छन्दाकार की दृष्टि से कवि ने मात्रिक छन्द ही अधिक अपनाए हैं, परन्तु उनमें परम्परागत सम, मात्रिक व वर्णिक छन्दों के साथ कवि ने कुछ नवीन, मिश्र व विषम योजनाएँ भी प्रस्तुत की हैं।

सम मात्रिक छंदों में दिनकरजी ने पीयूषवर्ष, गीतिका, वीर, दिगम्बरी, सार, राधिका, सरसी और रूपमाला में रचना की है। इन छंदों में भी प्रयोग-सम्बन्धी नवीनता है। पीयूषवर्ष और गीतिका का प्रयोग अन्त्यमुक्त रूप में कवि ने पहले और दूसरे सर्गों में किया है। अन्य छंदों में भी कवि ने अनिवार्यतः चारों चरण में रचना न करके कुछ विशेष छंदों के युग्मकों (दो चरण) में काव्य-रचना की है। पंचम सर्ग में सरसी छंद के चरण युग्मकों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। सप्तम सर्ग में सार छंद यति स्थान से विभाजित होकर चार चरणों में मुद्रित किया गया है, परन्तु वस्तुतः छन्द की दो पंक्तियां सार छंद की एक पंक्ति के बराबर हैं। जहाँ छंद के दो चरणों में कवि रचना करता है वहाँ तो उसने युग्मक अन्त्यानुप्रास में रचना की ही है—कहीं-कहीं चार चरणों में भी युग्मक अन्त्यानुप्रास का प्रयोग किया गया है। रूपमाला छन्द का इस रूप में प्रयोग देखिये—

किन्तु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष,
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश;
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्योहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।[1]

वर्णिक छन्दों में दिनकरजी ने कवित्त और सवैया ही अपनाए हैं। 'कुरुक्षेत्र' में दो छन्दों के योग से जो कुछ नवीन छंदाकार बनाये गए हैं उन्हें विषम तो इसलिए नहीं कहा जा सकता कि उनके चारों चरण असमान नहीं हैं, कहीं दो व कहीं तीन चरण एक ही छंद के हैं। उन्हें शब्द के परम्परागत अर्थ में मिश्र छन्द भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि कवि ने किन्हीं दो छन्दों के चारों चरणों का क्रम-विधान निश्चित योजनानुसार नहीं किया। दो या अधिक छन्दों के कुछ चरणों की मिली-जुली एक इकाई बनाकर कवि उस निश्चित इकाई की आवृति भी नहीं करता। इस प्रकार का कोई क्रमिक निबन्धन उनके इन छंदों में नहीं है। छन्दों के लयाधार परम्परागत मात्रिक छन्द ही हैं, परन्तु उनके चरण मनमाने क्रम से एक दूसरे के साथ गूँथ दिये गए हैं। काव्यारम्भ इसी प्रकार के छन्द से हुआ है—

वह कौन रोता है वहाँ—	**१४ मात्राएं**
इतिहास के अध्याय पर—	**१४ "**
जिसमें लिखा है नौजवानों के लहू का मोल है—	**२८ "**
प्रत्यय किसी बूढ़े कुटिल नीतिज्ञ के व्याहार का;	**२८ "**

---

१. कुरुक्षेत्र—दिनकर, पृ० ८९

जिसका हृदय उतना मलिन जितना की शीर्ष वलक्ष है;	२८ मात्राएँ
जो आप तो लड़ता नहीं—	१४ ,,
कटवा किशोरों को मगर—	१४ ,,
आश्वस्त होकर, सोचता—	१४ ,,
शोणित बहा, लेकिन, गई बच लाज सारे देश की[1]	२८ ,,

उपर्युक्त छंद का पहला, दूसरा, छठा, सातवां और आठवां चरण मधुमालती का और तीसरा, चौथा, पाँचवाँ व नवाँ चरण हरिगीतिका छन्द का अंश है। इन छंदों के क्रम-निर्वाह में कोई नियमित पद्धति नहीं परन्तु कवि ने समान लयाधार वाले दो छंदों का योग किया है। दोनों छंदों की लय सप्तक की आवृति के आधार पर चलती है। इसी प्रकार गीतिका और पायूषवर्ष छंदों के अंश मिलाकर कवि ने अनेक रूपों में उनका प्रयोग किया है (प्रथम सर्ग)।

कवि ने दूसरे छंद में रूपमाला के साथ १७ मात्राओं के चरण का प्रयोग कर नवीन छन्द बनाया है। एक स्थल पर कवि ने इस छंद में गीतिका के चरण भी मिला दिए हैं। इस प्रकार तीन छंदों के योग से यह छंद बना है—

भीष्म ने देखा गगन को ओर—	१७ मात्राएँ
मापते, मानो युधिष्ठिर के हृदय का छोर—	२४ ,,
और बोले—हाय नर के भाग। क्या कभी तू भी तिमिर के पार।	१७ ,,
उस महत् आदर्श के जग में सकेगा जाग—	२४ ,,
एक नर के प्राण में जो हो उठा साकार है,? आज दुख से, खेद से, निर्वेद के आघात से	२६ ,,

इस छंद का दूसरा और पाँचवाँ चरण रूपमाला का और छठा व सातवाँ चरण गीतिका का है। पहला, तीसरा, और चौथा चरण कवि का अपना है। उसकी लय कुछ उर्मिला छंद के ढंग पर है, परन्तु इस छन्द का शास्त्रीय लक्षण इस पर पूर्णतः घटित नहीं होता।[2] इसी प्रकार के कुछ छंद कवि ने छठे सर्ग में बनाये हैं। किसी-किसी छंद में १७ से भी कम मात्राओं की पंक्तियों का प्रयोग दिनकरजी ने किया है, परन्तु पंक्तियों के क्रमादि के विषय में किसी निश्चित नियम या योजना का पालन उन्होंने नहीं किया, परन्तु जैसा पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है, छन्द के विभिन्न चरणों का चयन किसी न किसी शास्त्रसम्मत छन्द के चरणाधार पर ही किया गया है। निश्चित क्रम न होने पर भी ये छन्द मुक्त छन्द नहीं कहे जा सकते।

---

१. कुरुक्षेत्र—दिनकर, पृ० १

२. दे० आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना—पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० २६८

तृतीय अध्याय

लघु प्रबन्ध-काव्य

प्राचीन आचार्यों ने बन्ध की दृष्टि से जब काव्य के दो मुख्य भेद—प्रबन्ध और मुक्तक किये, तो उनकी दृष्टि में छन्दों की परस्पर निरपेक्ष अथवा सापेक्ष स्थिति ही आधार-रूप में विद्यमान रही। काव्य के इन प्रमुख भेदों में से विस्तार-भेद के आधार पर महाकाव्य और खण्ड-काव्य, तथा निबद्ध व अनिबद्ध मुक्तक, आदि उपभेदों में विभाजन तो कर दिया गया, परन्तु कुछ ऐसी विधाएँ जो इन दोनों काव्य-रूपों के सीमान्तों पर स्थित हैं, प्रयोग में विरल होने के कारण सिद्धान्त-निरूपण में भी उपेक्षित ही रहीं। इनमें से कुछ का उल्लेख संस्कृत के काव्य-शास्त्रज्ञ आचार्यों ने किया, परन्तु अन्य विधाओं की तुलना में उनका प्रयोग अल्प होने के कारण उनका लक्षण-विस्तार नहीं हुआ। हिन्दी के आरम्भिक काव्य में विशेष रूप से काव्य-रचना प्रचलित काव्य-रूपों तक ही सीमित रही, तथा उपलब्ध काव्य के परीक्षण और रूप-निर्णय का प्रयत्न भी विद्वानों ने नहीं किया, अतः प्रचलित काव्य-भेदों के अतिरिक्त, नवीन प्रयोगों के लिए किसी विस्मृत शब्द के अनुसन्धान, अथवा नवीन शब्द-निर्माण का प्रयास नहीं किया गया। अतएव कुछ ऐसे प्रयोग जो उपर्युक्त भेदों में सही रूप में नहीं आते या तो बरबस खींचतान करके किसी न किसी वर्ग में समाविष्ट कर लिये गए, अथवा उपेक्षित रहे।

आधुनिक काव्य में एक ओर प्रबन्ध और मुक्तक के क्षेत्रों में वैविध्य की दृष्टि से अंतरंग विस्तार हुआ, और दूसरी ओर कुछ ऐसी रूप-विधाओं का प्रचलन हुआ जिन्हें इन काव्य-रूपों के परम्परागत भेदों में नहीं रखा जा सकता। परन्तु बन्ध के आधार पर काव्य के दो ही प्रमुख रूप सम्भव हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। किसी भी रचना में विरचित छन्दों की स्थिति या सापेक्ष होगी अथवा निरपेक्ष। यदि किसी रचना में मुक्तक के गुणों के साथ तारतम्य भी पाया जाता है, अर्थात् किसी भी कारण उस कृति के छन्दों में पारस्परिक सम्बन्ध या क्रमबद्धता विद्यमान रहती है, तब भी उस रचना को प्रबन्धात्मक मुक्तक ही कहेंगे, क्योंकि उसके छन्दों की स्थिति सावलम्ब नहीं होती, और प्रबन्ध और मुक्तक की व्यावर्तक विशेषता ही रचित छन्दों की सापेक्ष अथवा निरपेक्ष स्थिति है। इस स्पष्टीकरण के उपरान्त एक बात निश्चित हो जाती है—जिन काव्य-रूपों का प्रश्न उठाया जा रहा है वे मुक्तक नहीं प्रबन्ध हैं। क्योंकि उनकी रचना एकाधिक छन्दों में कुछ दूर तक इस प्रकार की गई है कि इनमें परस्पर कथात्मक प्रसंग, वस्तुवर्णन, अथवा विचार-प्रतिपादन को लेकर एकसूत्रता और सापेक्ष स्थिति उत्पन्न हो गई है। अतः इन्हें मुक्तक नहीं माना जा सकता।

दूसरा प्रश्न उठता है कि इन रचनाओं को निबद्ध या संयुक्त-मुक्तक क्यों नहीं माना जाय ? यदि शास्त्रीय, परन्तु स्थूल उत्तर देना हो तो विवाद बड़ी सरलता से यह कह कर मिटाया जा सकता है कि काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानों ने छन्द-संख्या के आधार पर मुक्तक के जो विविध रूप निश्चित किये हैं, उनमें से किसी में भी छन्द-रचना-संख्या पन्द्रह से ऊपर नहीं जाती, परन्तु ये सभी रचनाएँ पन्द्रह से अधिक छन्दों में विरचित हैं। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि निबद्ध मुक्तक यदि सोलह छन्दों में लिखा गया हो तो वह प्रबन्ध की कोटि में आ जायगा, तथा यदि पद्यात्मक निबन्ध अथवा आख्यानक गीति चौदह छन्दों में विरचित हो तो उसे निबद्ध मुक्तक स्वीकार कर लिया जायगा। निबद्ध-मुक्तक और इन लघु प्रबन्धों का भेद केवल उनके बाह्य आकार तथा छन्द-रचना की संख्या पर निर्भर नहीं है, वह स्वयं इस अन्तर का कारण न होकर कार्य अथवा परिणाम है, उस कारण का जो इन विविध विधाओं की प्रेष्य अनुभूति के स्वरूप में निहित रहता है। निबद्ध-मुक्तक की प्रेरक अनुभूति और विचार क्षणिक और अस्थायी होता है, उसमें कवि की विचारधारा या भावधारा सुविन्यस्त अथवा सुचिन्तित रूप में व्यक्त नहीं होती। मुक्तक की रचना किसी आवेगमयी भावस्थिति के परिणामस्वरूप होती है। कहीं यह क्षण इतना अस्थिर होता है कि उसकी इति एक ही छन्द में मुक्तक-रचना कर समाप्त हो जाती है, और कहीं यह भावधारा या विचारप्रवाह एकाधिक छन्दों में कुछ दूर तक प्रवाहित होता है। परन्तु इस प्रकार की रचना प्रायः कवि की एक बैठक में, बिना सुचिन्तित वस्तु या विचार-विन्यास के सम्पन्न की जाती है। बृहद प्रबन्ध-रचना इससे सर्वथा भिन्न, कवि की रागात्मक अनुभूति के साथ सुचिन्तित योजना, विन्यास-व्यवस्था, और दीर्घ चिन्तन-मनन के परिणामस्वरूप रूपनिर्माण-योजना के अनुसार होती है। वह किसी क्षणिक भावावेश या अनुभूति का परिणाम नहीं होता। अनेक भाव, विचार, और अनुभव-खण्डों के आकलन, उनमें व्यवस्था-निरूपण, विवेक के आलोक में ग्रहण-त्याग, नियमन, और रूप-विधान की निश्चित योजना के उपरान्त प्रबन्धकार रचना में प्रवृत्त होता है। इन लघु प्रबन्धों की स्थिति इन दोनों की मध्य-वर्त्तिनी है। इनमें प्रबन्ध-काव्य के रचना-क्रम की दीर्घ व्यवस्थित कड़ियाँ, और मुक्तक की आवेगमय रचना दोनों का अभाव होता है। इन प्रबन्धों में किसी घटना, विचार या वस्तु से प्रेरित कवि की वह अनुभूति व्यक्त होती है, जिसे भाव-खण्ड या विचार-खण्ड का नाम दिया जा सकता है। इनमें किसी समस्या, वस्तु या घटना को लेकर उसका सर्वांग-विवेचन, वर्णन या आख्यान तो नहीं किया जाता, किन्तु उसका उल्लेख-मात्र करके या सूत्र-रूप में कथन करके भी नहीं छोड़ दिया जाता। घटना की एक झलक, वस्तु का एकपक्षीय वर्णन, तथा समस्या के एक पक्ष पर विचार प्रायः इन प्रबन्धों में किया जाता है।

एक विशेषता जो मुक्तकों से इनमें अन्तर स्थापित करती है—इनके वर्ण्य का सुचिन्तित विन्यास है। अर्थात्, इनमें रचित छन्दों में परस्पर सुनिश्चित पूर्वापर-क्रम होता है और वे इस रूप में सम्बद्ध व ग्रथित होते हैं कि उनमें क्रम-परिवर्तन या तारतम्य-विच्छेद सम्भव नहीं होता। उदाहरण देकर स्पष्ट करें—आधुनिक गीति-काव्य के विभिन्न अनुच्छेदों में प्रायः पृथक्-पृथक् चित्र, अथवा भाव-खण्ड अंकित होते हैं। इनमें से एक अवतरण का पृथक् महत्त्व नहीं, क्योंकि वह शेष कविता में अर्थान्विति की दृष्टि से निबद्ध है और स्वतन्त्र रूप में अर्थ करने से यह

अन्विति खंडित हो जायगी। वस्तुतः इस अंश-विशेष की सापेक्ष स्थिति के कारण, अर्थ की पूर्णता विच्छिन्न होकर सिद्ध भी नहीं हो सकती। परन्तु अनेक निबद्ध कविताओं में, यदि इन छन्दों में परस्पर स्थान परिवर्तन कर दिया जाय तो सम्पूर्ण कविता की प्रबन्धात्मकता बाधित न होगी। कारण स्पष्ट है—कविता का विषय सुविन्यस्त रूप में सम्पूर्ण कविता में इस प्रकार अनुस्यूत नहीं कि उसमें शृंखलाबद्ध कड़ियों की स्थिति निश्चित और अपरिहार्य हो। प्रायः बीच में से एक कड़ी निकाल लेने पर भी शृंखला की शेष कड़ियाँ जोड़कर तारतम्य बनाये रखा जा सकता है। केवल आकार इस परिवर्तन से प्रभावित होगा। उदाहरण के लिए पन्त की 'मौन निमन्त्रण' और निराला की 'तुम और मैं' का उल्लेख किया जा सकता है। बीच में किसी अनुच्छेद-विशेष को निकाल लेने से, सम्पूर्ण कविता के अर्थान्वय में कोई बाधा न प्रस्तुत होगी। इस प्रकार एक विशेष अंश, शेष कविता पर निर्भर रहता है समग्र कविता उस अंश पर नहीं। इससे भिन्न लघु प्रबन्धों में अंगांगी सम्बन्ध अन्योन्याश्रित होता है। उसमें वर्ण्य-विषय प्रबन्ध के विभिन्न छन्दों में इस प्रकार अनुस्यूत रहता है कि प्रसंग में से निकाल कर किसी अंश-विशेष की स्थिति निरपेक्ष और स्वतन्त्र रूप में सम्भव नहीं हो सकती, और साथ ही प्रबन्ध का तारतम्य, अंश के अभाव में या स्थान-परिवर्तन से खंडित अथवा बाधित हो जाता है। अतः इन लघु-प्रबन्धों के अन्तर्गत वे समस्त कृतियां आती है जिनमें प्रबन्ध का तारतम्य वर्तमान होता है, परन्तु जो आकार में अति-विस्तृत नही होतीं, जिनका अनेक सर्गों अथवा खण्डों में विभाजन नहीं होता, तथा जिनके विषय का व्यापक धरातल ग्रहण कर, सर्वांग या समग्र विवेचन नहीं किया जाता। केवल विषय का एक पक्ष, पहलू, या एकांग-चित्रण होता है। आख्यानक प्रबन्धों में घटना की केवल एक झलक अंकित होती है।

इस प्रकार के लघु प्रबन्धों की परम्परा पूर्णरूपेण नवीन नहीं कही जा सकती। ऐसी कतिपय रचनाओं का उल्लेख और नामकरण प्राचीन साहित्य और काव्य-शास्त्र में किया जा चुका है, परन्तु आधुनिक काव्य में उपलब्ध सभी लघु प्रबन्धों का सम्बन्ध इन परम्परागत काव्य-रूपों से नहीं स्थापित किया जा सकता। रूप-भेद से इस प्रकार के उपलब्ध काव्य को मुख्य रूप से तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(१) पद्य-कथाएं तथा आख्यानक गीतियां।
(२) पर्यायबन्ध।
(३) काव्य-निबन्ध।

१. पद्य-कथाएं

इन कथाओं का स्वरूप बहुत कुछ प्राचीन बृहद् ग्रन्थों में वर्णित विविध आख्यानों का सा होता है जिनमें किसी प्रकार की अपूर्णता भी नहीं होती, परन्तु साथ ही उनमें वर्णित प्रसंगों का उचित आदि, मध्य, अवसान, अर्थात् कार्य-व्यापार का सुचिन्तित विकास भी अंकित नहीं किया जाता। इनमें कथा, प्रायः जिज्ञासा-वृत्ति के परितोष के लिए तथा रोचक शैली में रस-सृष्टि के लिए नहीं कही जाती, किसी अन्य सत्य या उद्देश्य को व्यंजित करने या प्रमाणित करने के लिए दृष्टान्त-रूप में कही जाती है। सर्वत्र यद्यपि ऐसा नहीं होता, इस

प्रवृत्ति के अपवाद-स्वरूप इस युग में कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण पद्य-कथाओं की रचना की गई जिनके सीमित कलेवर में महाकाव्य के प्राणों का स्पन्दन मिलता है, परन्तु ऐसा कभी-कभी छोटी कविताओं में भी हो जाया करता है, और यह केवल समर्थ कवियों की विरल कृतियों के विषय में सत्य है। परन्तु जिस विशेषता का इनकी कथा के विषय में उल्लेख किया गया, वह इस युग की अधिकांश पद्य-कथाओं में प्राप्त होती हैं। कम से कम इस काव्य-रूप का आरम्भ इसी रूप में हुआ।

दूसरे प्रकार की पद्य-कथाएँ द्विवेदी-युग में उसी रूप में लिखी गई जिस प्रकार इस युग के कथात्मक निबद्ध-मुक्तकों का आरम्भ हुआ था। समय-समय पर 'सरस्वती' में प्रकाशित होने वाले घटनाओं के व्यंजक चित्रों को लक्ष्य करके कवि उनकी पृष्ठभूमि में या आधार-रूप में स्थित, प्रख्यात या ऐतिहासिक घटना का वर्णन करता था। जहाँ केवल मूल प्रसंग का उल्लेख मात्र करके शेष को पाठक की कल्पना और ज्ञान पर छोड़ दिया जाता था, वहाँ निबद्ध-मुक्तकों की रचना होती थी, और जहाँ ये कवि सम्पूर्ण आख्यान का व्यवस्थित वर्णन करते थे, वहाँ वह एक संक्षिप्त पद्यबद्ध कथा का रूप धारण कर लेता। इन सभी रचनाओं में एक विशेषता सामान्य रूप से व्याप्त रहती थी—इनके सीमित विषय और आकार के कारण, कथानक प्रायः इकहरा और सरल गति से आरम्भ व समाप्त हो जाता है, प्रासंगिक या अवान्तर प्रसंगों की संयोजना से उत्पन्न जटिलता का प्रश्न ही इनमें नहीं उठता।

कुछ पद्य-कथाएँ रस-सृष्टि के लिए इतिहास और पुराणों के कुछ मार्मिक और कोमल प्रसंगों को अंकित कर मर्मस्पर्शी प्रभाव डालने, और नवीन शैलीगत प्रयोग की लालसा से लिखी गयीं। इनमें अद्‌भुत नाटकीय कौशल और अलंकृत भाषा-शैली का प्रयोग किया गया है। काव्य-रूपों की दृष्टि से ये प्रयोग इस युग की नूतन सृष्टि और सिद्धि हैं। कलात्मक प्रभाव और उत्कर्ष भी इनमें पर्याप्त बन पड़ा है। लघु आकार में महाकाव्य तथा नाटक जैसी विशद विधाओं का समीकरण और सफल प्रयोग इनकी रचना-सामर्थ्य का प्रमाण है।

इन नए ढंग की पद्य-कथाओं के अतिरिक्त एक धारा इस युग के काव्य में आख्यानक-गीतियों की मिलती है। इस प्रकार की गीतियां इस युग की सर्वथा मौलिक या नूतन सिद्धि तो नहीं कही जा सकतीं, परन्तु इस काव्य-रूप की सुनिश्चित और व्यवस्थित परम्परा भी हिन्दी-काव्य में नहीं मिलती। यों मूल रूप से इस काव्य-रूप का सम्बन्ध वीर-गीतियों (Ballads) से जोड़ा जा सकता है, जो रूप-भेद से विश्व की सभी भाषाओं के साहित्य के आरम्भ में प्राप्त होती हैं। इन आख्यानक गीतियों का स्वर यद्यपि वीर-गीतों से इस रूप में भिन्न होता है कि सर्वत्र इनमें युद्धादि, किसी साहसिक विषय से सम्बद्ध घटना का आख्यान न हो, परन्तु इनकी रचना की दो मूल विशेषताओं का सम्बन्ध 'बैलेड' परम्परा से जोड़ा जा सकता है और वे विशेषताएँ हैं—इनमें आख्यान-तत्त्व की प्रधानता, अर्थात् इनका घटनात्मक स्वरूप, तथा वस्तुप्रधान समाख्यान शैली के स्थान पर आत्माभिषिक्त शैली में आत्मपरक दृष्टिकोण से वर्णन। अर्थात् किसी सार्वजनिक घटना के प्रति किसी सार्वजनिक अनुभूति की इस रूप में व्यक्ति-संवेद्य अभिव्यक्ति, कि वह समष्टि के भाव का प्रतिनिधित्व करे, रचयिता का व्यक्तित्व उसमें तटस्थ व असम्पृक्त प्रतीत न हो, तथा आत्मोल्लास और व्यक्तिपरक दृष्टिकोण से उसमें अंकन किया

जाय। आख्यानक गीति का प्राचीनतम और बृहत्तर प्रयोग जगनिक के आल्हा-खण्ड के रूप में उपलब्ध है, परन्तु लघुतर प्रबन्धों के रूप में इस परम्परा का पुनरुज्जीवन इस युग की ही विशेषता है।

प्रथम प्रकार की पद्य-कथाओं का आरम्भ भी अन्य काव्य-रूपों की भाँति द्विवेदी-युग की काव्य-रचनाओं में ही हो जाता है। यदि कहा जाय उससे भी पूर्व, तो मिथ्या न होगा। इन कथाओं में वर्णित घटनाओं की पृष्ठभूमि में किसी उद्देश्य का प्रतिपादन, अर्थात् किसी आदर्श की व्यंजना, वस्तु-ध्वनि के रूप में निहित रहती है। इनमें यद्यपि घटनाएँ गौण नहीं होतीं फिर भी केवल कथा कहना कवि का प्रमुख उद्देश्य नहीं रहता। वह किसी आदर्श-व्यंजना के लिए दृष्टान्त-रूप में कथा कहता है। इसीलिए इन कथाओं में वस्तु-विन्यास सम्बन्धी विशेष चमत्कारिक योजनाएँ एवं संश्लिष्ट कथा-सूत्र नहीं होते। इनमें एक ही घटना व प्रसंग अंकित रहता है और वह भी अत्यन्त सीधे और सरल रूप में। अधिकांश आरम्भिक पद्य-कथाएँ ऐतिहासिक, पौराणिक या किसी ऐसे प्रख्यात प्रसंग को लेकर लिखी गयीं, जो आदर्श एवं शिक्षाप्रद थे। अतः इनका उद्देश्य अत्यन्त स्थूल, नैतिक आचार-सम्बन्धी शिक्षा देना रहा। इस प्रकार की रचनाएँ द्विवेदीजी के प्रभाव से पूर्व ही आरम्भ हो गई थीं। सन् १६०० की 'सरस्वती' के जुलाई अंक में किशोरीलाल गोस्वामी की 'सावित्री प्रबोधन' नामक पद्य-कथा प्रकाशित हुई, जिसमें भारतीय नारी के आदर्श धर्म की व्यंजना के लिए कवि ने सावित्री-सत्यवान के प्रसिद्ध आख्यान से सत्यवान की मृत्यु की घटना का वर्णन किया है। नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने 'पवित्र रामचरित्र' में राम के आदर्श चरित्र का संक्षेप में वर्णन किया है। इसी प्रकार की कुछ कथाएँ लोचनप्रसाद पांडेय की रचना 'मेवाड़-गाथा' में संकलित हैं। लोचनप्रसाद पाण्डेय ने 'मृगी-दुःख मोचन' नामक एक मार्मिक पद्य-कथा की रचना भी की, मेवाड़-गाथा में संकलित कथाओं की भाँति जिसका उद्देश्य न आदर्श-प्रतिष्ठा है न किसी का गौरव-गान, केवल एक कारुणिक प्रसंग का हृदयग्राही चित्रण ही कवि का लक्ष्य है।

इसी प्रकार की अनेक छोटी-छोटी पद्य-कथाएँ ला० भगवानदीन ने 'वीर बालक' और 'वीर क्षत्राणी' में लिखी हैं। जैसा नाम से स्पष्ट है पहली में अनेक ऐतिहासिक-पौराणिक एवं आदर्श वीर बालकों के आख्यान संकलित हैं और दूसरी में वीर क्षत्राणियों के आदर्श चरित्रों का वर्णन किया गया है।

इन कथाओं में नायक व नायिका के जीवन की किसी एक महत्त्वपूर्ण घटना का वर्णन किया गया है। जितने प्रसंग अथवा वर्णन आए हैं वे सभी इस प्रधान घटना से सम्बद्ध हैं। कथा का आदि, मध्य व अवसान क्रमशः इसी घटना के कारण, घटना और परिणाम का व्यंजक है, तथा प्रधान पात्र के आदर्श व्यवहार या आचरण से आदर्श की व्यंजना इनकी वस्तु-ध्वनि। घटना का विन्यास अत्यन्त सरल, स्पष्ट और सुलझे ढंग से होता है।

शैली और अभिव्यंजना में भी एक प्रकार की प्रसादमयता, स्पष्टता और सफाई इन सभी कृतियों में प्राप्त होती है। ला० भगवानदीन की रचनाओं में तो अनेक स्थलों पर बोल-चाल की उर्दू भाषा का प्रयोग व प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। कथा में विशेष उतार-चढ़ाव तथा मोड़ व खण्ड-विभाजन न होने के कारण सभी ने सम्पूर्ण कथा की रचना आद्यन्त एक ही

छन्द में की है। ऐसा सम्भवतः कथा के ऋजु-सरल प्रवाह की रक्षा के लिए किया गया है।

इन कथाओं में अंकित प्रसंगों का रंगस्थल बाह्य जगत् है और स्वरूप स्थूल और घटनात्मक। अन्तर्मन में घटित होने वाले सूक्ष्म, अमूर्त और उलझे प्रसंगों को इनमें स्थान नहीं मिलता। लघु-आकार के कारण विशेष वर्णनात्मक प्रसंग भी इनमें नहीं आते। अतः घटना की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए जितना भर आवश्यक है उतना ही इन कथाओं के वर्णन-वृत्त में आता है, उससे अधिक नहीं। इनकी रचना कुछ-कुछ उस रूप में हुई है जिस प्रकार धर्म-ग्रंथों में शिक्षा देने के लिए दृष्टान्त-रूप में, अथवा माहात्म्य-वर्णन के लिए आख्यानों का समाख्यान किया जाता है।

विशेष कलात्मक उत्कर्ष, अलंकरण, अभिव्यंजना में चमत्कार, अथवा महाप्राण शैली इनमें उपलब्ध नहीं होती। छन्द की दृष्टि से इनमें मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। लोचनप्रसाद पाण्डेय ने अधिकांश कथाएँ गीतिका और हरिगीतिका छन्द में लिखी हैं। 'स्वामिभक्त मन्त्री' की रचना स्रग्धरा वृत्त में की गई, और 'आत्म-त्याग' में रोला का प्रयोग करते हुए, छन्द के अन्त में नन्ददास के भ्रमरगीत के ढंग पर एक दस मात्रा की पंक्ति टेक के समान जोड़ी गई है। ला० भगवानदीन ने 'वीर क्षत्राणी' में तो मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया, परन्तु 'वीर बालक' की रचना उर्दू की बहर की लय पर षट्पदियों में की है। उर्दू की बहर में लघु-गुरु-क्रम और मात्राओं का नियमन उसी प्रकार दृढ़तापूर्वक नहीं किया जाता जिस प्रकार हिन्दी-छन्द-रचना में। ये छन्द लयाश्रित होते हैं जिसकी रक्षा के लिए विविध पंक्तियों में मात्राओं का न्यूनाधिक प्रयोग इनमें सम्भव हो सकता है।

उपदेश के लिए दूसरे प्रकार की पद्य-कथाएँ पंचतन्त्र और जातकों में वर्णित पशु-पक्षियों की शिक्षाप्रद कहानियों के ढंग पर लिखी गईं। इस प्रकार की कथाएँ संख्या में बहुत कम हैं। नाथूराम शर्मा 'शंकर' की 'वायसविजय', आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'जम्बूकी-न्याय' तथा रूपनारायण पाण्डेय की 'वन-विहंगम' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। शैली की दृष्टि से इन कथाओं की रचना भी उसी प्रकार की गई है जिस प्रकार पूर्वोक्त ऐतिहासिक आख्यानों की। उसी प्रकार का वस्तु-विन्यास, भाषा, शैली और अभिव्यंजना इनमें भी उपलब्ध है, परिवर्तन केवल विषय-वस्तु में दृष्टिगत होता है। इन कथाओं की परम्परा द्विवेदी-युग से आगे नहीं बढ़ी।

'प्रसाद' के 'चित्राधार' में कुछ ऐसी लघु-कथाएँ संकलित हैं, जिनकी रचना किसी उपदेश या आदर्श की व्यंजना के लिए नहीं हुई, केवल कथा कहने-भर के लिए ये प्रसंग पद्य-रचना का विषय बनाये गए हैं। इनमें—'अयोध्या का उद्धार', 'वन-मिलन', 'प्रेम-राज्य' आदि प्रसंग-कथाएँ प्रमुख हैं। 'वन-मिलन' में तो आख्यान-तत्त्व भी अपेक्षाकृत क्षीण है। दीर्घ वियोगोपरान्त दुष्यन्त और शकुन्तला के मिलन का वर्णन कवि ने किया है। रूढ़ परम्पराभुक्त शैली और ब्रजभाषा में प्रकृति-वर्णन प्रचुर मात्रा में हुआ है। शेष दो रचनाओं में भी कथा-वर्णन, छन्द-विधान, वस्तु-विन्यास, अभिव्यंजना आदि किसी भी दृष्टि से कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं मिलती। विषय और अभिव्यंजना दोनों ही दृष्टियों से ये रचनाएँ अत्यन्त सामान्य कही जायँगी। प्रसाद की कला का अत्यन्त साधारण, अविकसित रूप ही इनमें मिलता है। कथा में गति और रोचकता की दृष्टि से भी विकास अत्यन्त सहज रूप में समाख्यान शैली में हुआ है।

इसी ढंग पर राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने 'वामनावतार' और 'शकुन्तला-जन्म' के प्रसंगों को संक्षेप में काव्य-रूप दिया है। इन रचनाओं का तो आकार भी इतना सीमित है, और कवि चलते ढंग से अत्यन्त संक्षेप में इस प्रकार कथा कह गया है कि पाठक की कल्पना के लिए भी बहुत कुछ स्थान रिक्त रह जाता है। कथा का समग्र विधान इन रचनाओं में नहीं मिलता। अतः इनकी स्थिति आख्यानात्मक निबद्ध कविताओं और पद्य-कथाओं की मध्यवर्तिनी हो जाती है। इन्हें इस दृष्टि से यदि प्रसंग-कथाएँ कह दिया जाय तो बहुत अनुचित न होगा। इस प्रकार के एक प्रसंग 'एक पुण्य चरित' की रचना वियोगी हरि ने भी की है।

पद्य-कथा-रचना की उपर्युक्त विधा का कुछ अंशों में विकास कवि मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में मिलता है। उन्होंने इस प्रकार के अनेक लघु आख्यान काव्य लिखे। इनमें से जो अपेक्षाकृत बड़े और खण्डकाव्य के अनुकूल थे, उनका उल्लेख उस प्रसंग में किया जा चुका है, परन्तु कुछ रचनाएँ प्रबन्ध होते हुए भी खण्डकाव्य की सम्पूर्ण विशेषताओं से युक्त नहीं थीं, ऐसे आख्यान-काव्यों में—'विकट भट', 'शक्ति', 'अर्जन और विसर्जन' तथा 'काबा और कर्बला' में से 'कर्बला' का उल्लेख किया जा सकता है। कला की दृष्टि से इन रचनाओं का कवि इस प्रकार की पूर्ववर्ती रचनाओं से आगे विकास की एक सीढ़ी चढ़ा है, इसमें सन्देह नहीं। एक विशेषता और है, ये सभी आख्यान मूलतः एक ही विधा में रचित होने पर भी परस्पर भिन्न हैं।

'विकट भट' में कवि का लक्ष्य क्षात्र-तेज और वीरत्व की भावना को छोटी-सी कथा के माध्यम से व्यक्त करना रहा है। एक वंश की तीन पीढ़ियों का आख्यान इसी केन्द्रवर्ती भावना के चारों ओर लिपटा है। परन्तु घटनाओं के अनेक पहलू अंकित न होने के कारण अन्विति और प्रसंग-विन्यास कहीं खण्डित नहीं होता। इस कथा की सराहनीय विशेषता इसमें नाटकीयता का अद्भुत समावेश है। कथा का आरम्भ, विकास और उपसंहार सभी संवादों के बीच अपूर्व नाटकीय कौशल से होता है। दृश्यों के वर्णन में चित्रात्मकता और सजीवता से इस विशेषता में वृद्धि हुई है। कवि ने समाख्यान चित्रात्मक शैली में किया है, अतः प्रत्यक्ष रोचकता उसमें सर्वत्र वर्तमान रही है। कथा का आरम्भ अत्यन्त सजीव संवाद और नाटकीय दृश्य-योजना से इस प्रकार होता है—

ओठों से हटाके रिक्त स्वर्ण-सुरा-पात्र को,
सहसा विजयसिंह राजा जोधपुर के,
पोकरण वाले सरदार देवीसिंह से।
बोले दरबार खास में कि—"देवीसिंहजी,
कोई यदि रूठ जाय मुझसे तो क्या करे ?"[1]

कथा के अन्त में वीर क्षत्री बालक सवाईसिंह के सभा में प्रवेश का वर्णन भी कवि ने अत्यन्त सजीव ओजस्वी शैली में किया है—

निर्भय मृगेन्द्र नया करता प्रवेश है—
वन में ज्यों, डाले बिना दृष्टि किसी ओर त्यों,

---

१. विकट भट—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ३

भोर के भभूके सा प्रविष्ट हुआ साहसी,
बालबीर, मन्द मन्द धीर गति से धरा।
मानों धंसी जा रही थी, वदन गम्भीर था,
उठता शरीर मानों अंग में न आता था।"[1]

'शक्ति' की रचना कुछ भिन्न दृष्टिकोण को लेकर की गई है। इसमें कवि ने दुर्गावतार और राक्षस-संहार के आख्यान का वर्णन किया है। कथा कहने की अपेक्षा शक्ति-स्तवन या दुर्गा-माहात्म्य का वर्णन अधिक प्रधान रहा है। कथा या प्रबन्ध की अपेक्षा यही गुणनिरूपिणी दृष्टि इस कथा में प्रमुख है, अतः प्रबन्ध-संगठन के गुणों का सुचारु विन्यास इस रचना में उपलब्ध नहीं। दुर्गा-सप्तशती के आख्यान का संक्षिप्त विवरण होने के कारण इस कथा को कथा ही स्वीकार किया जायगा। 'शक्ति' में यद्यपि 'विकट भट' के समान कवि को अधिक अवकाश नहीं मिला, परन्तु यत्र-तत्र संवादों की योजना तथा नाटकीय परिस्थितियों का विधान कर वस्तु-विधान में चमत्कारिकता उत्पन्न की गई है।

'अर्जन और विसर्जन' की रचना करते समय तक कवि के दृष्टिकोण में और परिवर्तन आ गया है। इन दोनों ऐतिहासिक आख्यानों में एक-एक घटना का वर्णन किया गया है, परन्तु इनकी वस्तु-ध्वनि विचारात्मक है। पहले आख्यान में कवि त्याग का महत्त्व और अर्जन का विद्रूप अंकित करता रहा है और दूसरे में स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए बड़े से बड़े विसर्जन या त्याग के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इन काव्यों का प्रेष्य इस प्रकार विचार है, माध्यम घटनाएँ हैं और शैली भाव-व्यंजक है। आख्यान-तत्त्व इनमें उपेक्षित रह गया है। 'विसर्जन' में प्रत्यक्ष घटना की अपेक्षा उसकी प्रतिक्रिया का वर्णन अधिक है। लघु आख्यान की सीमा में पात्र-विशेष की एक लम्बी वक्तृता, विचार-प्रतिपादन और चारित्रिक महत्त्व की व्यंजना में तो साधक होती है, परन्तु लघु आख्यान की सीमा में अकाव्योचित। इन आख्यानों का स्वरूप घटना-प्रधान कथाओं का नहीं, चरित्र-प्रधान विचारात्मक आख्यानों का है। कहीं इनमें विचारात्मक निबन्ध का सा सिद्धान्त-प्रतिपादन है और कहीं चरित्र-व्यंजना की प्रधानता, आख्यान-तत्त्व का सम्यक् निर्वाह इनमें नहीं हो पाया।

जिस प्रकार गद्य में कहानी क्रमशः अपने घटना-प्रधान रूप से चरित्र-प्रधान और विचार-प्रधान रूप की ओर विकास करती गई, तथा शैली में समाख्यान के स्थान पर संवाद के रूप में नाट्य तत्त्व, और विश्लेषण के रूप में निबन्ध के तत्त्वों का समावेश होता गया, उसी प्रकार पद्य में इन कथाओं में घटनाओं की प्रधानता इनकी आरम्भिक स्थिति की द्योतक है, क्रमशः इनमें भी सभी दृष्टियों से जो विकास हुआ उसका आभास ही नहीं प्रत्यक्ष प्रतिफलन गुप्तजी की उपर्युक्त रचनाओं में मिलने लगा था।

इसी शैली में लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'कर्ण का अर्घ्य दान' नामक सुन्दर पद्य-कथा की रचना की। कथा में घटना का विन्यास है, परन्तु चारित्र्य का विकास अत्यन्त समर्थ नाटकीय शैली में हुआ है। इस कथा में आकर्षित करने वाली विशेषता इसकी घटना की रोचकता तथा

---

१. विकट भट, पृ० १४

सुन्दर विन्यास नहीं, पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व तथा भाव-संघर्ष की तीव्रता है, जिसको कवि ने अत्यंत सक्षम संवाद-शैली में नियोजित किया है। संपूर्ण कथा अपने आप में एक प्रभावशाली दृश्यात्मक चित्र के समान है। यह प्रसंग अपने प्रख्यात रूप में यूँ भी मर्मस्पर्शी और करुण है, अतः इसकी मूलवर्ती कारुणिकता और शैलीगत नाटकीयता एवं चरित्रगत वैशिष्ट्य, हृदय को प्रभावित करती है।

घटना-प्रधान पद्य-कथाओं का एक अन्य परन्तु अपेक्षाकृत कम कलात्मक रूप, उन अनेक रचनाओं में मिलता है जो द्विवेदी-युग में चित्रकला का आधार लेकर लिखी गईं। इस प्रकार की अधिकांश रचनाएँ आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कविता-कलाप' में संकलित हैं। इन कविताओं की प्रमुख विशेषता यही थी कि इनकी रचना न कहानी कहने के लिए होती थी और न समस्या-वर्णन अथवा चारित्र्य-व्यंजना के उद्देश्य से। कवि इनका आरम्भ चित्र-विशेष में अंकित प्रसंग-विशेष के वर्णन से करता था। जहाँ चित्र में केवल व्यक्ति का अंकन किया जाता था वहाँ तो कवि भी रूप-वर्णन या कभी-कभी महत्त्व-वर्णन करके संतुष्ट हो जाता था, परन्तु जब चित्र का विषय कोई घटना या प्रसंग होता, तब चित्र की दृश्यमान विशेषताओं के वर्णन से आरम्भ किया जाता था, और चित्रांकित प्रसंग का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए चित्र का बाह्य वर्णन करते हुए क्रमशः कवि उसकी पृष्ठभूमि के रूप में घटनाओं की सूचना दे दिया करता था। ऐसी स्थिति में घटना या कथा-वर्णन तो कवि का लक्ष्य रहता ही नहीं था अतः घटनाओं के सांगोपांग वर्णन, अन्विति और तारतम्य के प्रति वह सचेष्ट नहीं रह पाता। वह केवल उतनी ही घटनात्मक पृष्ठभूमि का स्पर्श करता जितनी वर्णन के संबंध-सूत्र मिलाने, अथवा चित्र की व्याख्या करने के लिए अनिवार्य होती थी। इससे अधिक विस्तार और सुनिश्चित विन्यास के फेर में वह पड़ने का प्रयत्न नहीं करता। इनमें से अधिकांश चित्र प्रख्यात प्रसंगों से सम्बद्ध हैं, अतः ऐसी स्थिति में कवि का कर्त्तव्य-भार और भी सरल हो गया है। वर्णन प्रायः यह मानकर किया जाता है कि उसका पाठक प्रख्यात कथानक से अभिज्ञ है अतः अत्यन्त परिसीमित और नियत फलक पर कुछ शृंखलाहीन घटनात्मक उल्लेख रहते हैं, जिनकी कड़ियाँ या सम्बन्ध सूत्र बहुश्रुत पाठक को अर्जित ज्ञान से मिलाने पड़ते हैं। इन कथाओं का आधार-फलक इतना सीमित और विन्यास इतना अनिश्चित है कि इन्हें 'कथा' कहने में भी संकोच होता है। किसी भी कहानी का स्वतःपूर्ण होना अनिवार्य है और इन कथाओं में बिना पूर्वज्ञान के इनका आदि व अन्त नहीं मिलाया जा सकता। चित्र में अंकित प्रसंग के कारण और परिणाम-रूप में घटित होने वाली घटनाओं का पूर्ण परिचय न देकर ये क व केवल घटना के यथाप्रसंग चित्रांकित रूप का वर्णन करने लगते हैं। अतः इन्हें प्रसंग-कथाएँ कहा जा सकता है।

इनका स्वरूप घटनात्मक तो है ही, इसलिए और भी कि इनका आधार स्थूल और वस्तुरूप होता है, और उस आधार में भी यथासंभव बाह्य और मूर्त विशेषताओं का वर्णन कवि का लक्ष्य होता है। अवकाश होने पर भी चित्र से संकेत-ग्रहण कर चारित्रिक विशेषताओं और अन्तःसंघर्ष के उद्घाटन, अतः भाव-वर्णन में वे प्रवृत्त नहीं होते। इस प्रकार अमूर्त भाव और विचार-तत्त्व का इन रचनाओं में महत्त्व नहीं है।

इन कथाओं की अंगी शैली समाख्यान या वर्णनात्मक शैली है जिसमें अंग-रूप में संवाद

शैली या नाट्य-तत्त्व का प्रयोग कवि यदा-कदा करता है। यह प्रयोग बहुत कुछ चित्र में अंकित प्रसंग और पात्रों की विशेषता पर निर्भर रहता है तथा किसी भी स्थिति में बहुत दूर तक नहीं जाता। आरम्भ इन सभी रचनाओं का चित्र की बाह्य विशेषता के इतिवृत्त-वर्णन से हुआ है।

कथा-वर्णन की यह विधा विशेष लोकप्रिय नहीं हुई। इसके आरम्भ और अन्त का इतिहास द्विवेदी-युग तक ही सीमित है। यद्यपि उस समय स्वयं द्विवेदीजी के सहित तत्कालीन सभी प्रसिद्ध कवियों ने इस शैली में रचनाएँ कीं। परन्तु इनकी परंपरा उस युग और कुछ विशेष कवियों की काव्य-रचना से आगे न बढ़ सकी।

मैथिलीशरण गुप्त ने ये रचनाएं संख्या की दृष्टि से सर्वाधिक कीं। 'रत्नावली', 'उत्तरा से अभिमन्यु की विदा', 'द्रौपदी-दुकूल', 'केशों की कथा', 'अर्जुन और उर्वशी', 'भीष्म-प्रतिज्ञा', 'रामचन्द्र जी का गंगावतरण', 'द्रौपदी-हरण', 'दमयन्ती और हंस', 'कीचक की नीचता' आदि इस शैली की प्रमुख रचनाएँ हैं। रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण' ने 'वामन', 'शकुन्तला-जन्म', 'रम्भा-शुक-संवाद' आदि का वर्णन किया। गुप्तजी की रचनाओं की अपेक्षा इन कथाओं में आख्यान-तत्त्व और भी क्षीण, तथा वर्णन की प्रधानता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'गौरी', 'गंगा-भीष्म', 'महाश्वेता' आदि कविताओं में भी वर्णन अधिक और आख्यान का संस्पर्श मात्र है। 'ऊषा-स्वप्न' में घटना अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है। कहीं-कहीं चित्र-वर्णन या चित्रित पात्र-विशेष की भावना का वर्णन करने में घटनाएँ सूच्य या महत्त्वहीन हो गई हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी की रचना 'गौरी' में काम-दहन के प्रसंग का उल्लेख देखिये—

हर को इसने वरना चाहा,
मोहित उनको करना चाहा।
बहुविध हाव-भाव कर हारी;
विफल हुई पर इच्छा सारी॥
शिव ने काम भस्म कर डाला,
बहुत निराश हुई तब बाला।
कठिन तपस्या तब विस्तारी;
गौरी गौरी-शिखर सिधारी॥[1]

इस प्रकार अनेक प्रसंग-कथाओं में हुआ है। घटनाएँ इनका विषय नहीं, अतः अधिकांश कथाओं में उनका सुबिन्यस्त सांगोपांग वर्णन नहीं मिलता। चित्र की प्रत्यक्ष विशेषता से आरंभ करके कवि उसकी पृष्ठभूमि में घटित होने वाले प्रख्यात प्रसंगों की सूचना भर दे देता है। वह मानकर चलता है कि उसका पाठक इन प्रख्यात प्रसंगों से अभिज्ञ है, इसलिए वह चित्र के आगे-पीछे के घटनात्मक सूत्र जोड़कर एक ओर हो जाता है।

पद्य-कथाओं का तीसरा रूप कवि सियारामशरण की 'आर्द्रा' में उपलब्ध होता है। ये कथाएँ न घटनात्मक हैं न वर्णनात्मक, और न व्यक्ति-प्रधान। इनमें प्रायः किसी समसामयिक

---

१. कविता कलाप—सं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६१

सामाजिक समस्या को कथा-रूप देकर उसके प्रति पाठक की करुणा जागृत करने का प्रयत्न किया गया है, अथवा कवि के तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण और विचारों की व्यंजना है। इस प्रकार कुछ कविताओं में संदेश प्रधान है व अन्य में समस्या। अनेक मार्मिक व समस्याप्रधान करुण आख्यान 'आर्द्रा' में संकलित कथाओं में पद्यबद्ध हैं। कहीं-कहीं किसी पात्र-विशेष के जीवन में घटित होने वाली किसी हृदयस्पर्शी घटना का वर्णन है। जब हम किसी समस्या का वर्णन करके उसके निवारण का उपदेश देते हैं, तो श्रोता पर उतना प्रभाव नहीं होता, पर जब इसी समस्या को हम किसी पात्र के जीवन में प्रत्यक्ष घटित होते देखते हैं, तो मानव-सुलभ सहानुभूति के कारण उसके प्रति हमारी संवेदना जाग्रत होती है। इस प्रकार अंकित समस्याओं का प्रभाव हृदय पर अधिक स्थायी और मार्मिक होता है। इन कथाओं में कवि एक घटना का वर्णन करता है और उससे समस्या वस्तु-ध्वनि के रूप में व्यंजित होती है। इस समस्या के निवारण की आवश्यकता का संदेश भी इन कविताओं में व्यंग्य रहता है।

इन कथाओं में वर्णित समस्याओं का सम्बन्ध समाज के निम्न, शोषित वर्ग के आर्थिक और सामाजिक जीवन से है। 'एक फूल की चाह'—में कवि ने छुआछूत की समस्या को उठाया है। 'डाक्टर' में कवि ने इस वर्ग के व्यक्तियों को उनके सामाजिक उत्तरदायित्व और कर्तव्य के प्रति सचेत किया है। लोभ और अवज्ञावश दरिद्र व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा या कठोरता का कवि ने विरोध किया है। 'अब न करूँगी ऐसा' में धनिक वर्ग द्वारा अपने कुत्ते-बिल्लियों के लिए निर्धन वर्ग के अन्यथा भी दीन संतप्त बालकों पर अत्याचार का एक अत्यन्त करुण चित्र खींचा गया है। 'अग्नि-परीक्षा' में कवि ने हिन्दू जाति की रूढ़िवादिता और संकीर्ण धार्मिक मनोवृत्ति पर कुठाराघात किया है। इस कहानी की मूलवर्ती समस्या व्यापक है। साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण अपहृत हिन्दू नारियों को अपनाने में आपत्ति के दुष्परिणाम इस कथा में अंकित हैं। इस प्रकार प्रत्येक आख्यान के मूल में कोई-न-कोई समस्या है।

इन कथाओं में घटना का विन्यास स्पष्ट और सरल है। उसमें किसी प्रकार का उतार-चढ़ाव, जटिलता, नाटकीय परिस्थितियाँ तथा चमत्कारिक अंश या मोड़-तोड़ नहीं मिलते। इसका कारण इन कथाओं का सीमित कलेवर, वस्तुगत धरातल, स्थूल व एकपक्षीय समस्याएँ, एवं उनका समसामयिक महत्त्व है। इन कहानियों में किन्हीं शाश्वत प्रश्नों अथवा मानव के अन्तरंग से सम्बन्धित गहन-गम्भीर समस्याओं को नहीं उठाया गया। बाह्य जीवन से भी सम्बद्ध विराट या सप्राण प्रसंग इनके विषय नहीं हैं। कवि ने अत्यन्त सीमित धरातल पर विशेष समय और समाज से सम्बद्ध कुछ विशिष्ट और एकपक्षीय समस्याएँ उठाई हैं। इनका कवि कम्युनिस्ट नहीं, गांधीवाद का आस्थावान कवि है। अतः वह पाठक के हृदय में क्रान्ति की चिंगारियाँ प्रज्वलित नहीं करना चाहता, उसकी सहानुभूति व करुणा जाग्रत करने का आकांक्षी है, फलतः वह समस्या के किसी मर्मस्पर्शी पहलू का स्पर्श करता है. उसके सम्भावित दुष्परिणामों का वर्णन करता है। अतः करुणा का एक मन्द स्रोत इन सभी आख्यानों में अन्तर्धारा के रूप में प्रवाहित है।

गुप्तजी शैली की दृष्टि से लक्षणा-व्यंजना के नहीं अभिधा के कवि हैं। उनकी कविता में सौन्दर्य की अपेक्षा सार अधिक होता है। हाँ, एक प्रकार की सफाई, सुलझन और स्फीतता

उनकी शैली में सर्वत्र व्याप्त रहती है और 'आर्द्रा' की ये कथाएँ इसका अपवाद नहीं। उनकी कला मनोमुग्धकारी नहीं मर्मस्पर्शी होती है। अतः इन कथाओं में कलागत सौन्दर्य व चमत्कार की अपेक्षा संदेश अधिक है। इन कथाओं की शैली वृत्त-वर्णन की शैली है जिसमें अन्तर्द्वन्द्व, गहराई और तीव्रता तथा अप्रतिहत धारा-प्रवाह नहीं, सरल मन्द गति से सहज विकास मिलता है।

छन्द की दृष्टि से सभी कथाओं में पद्धति एक ही अपनाई गई है तथा छन्दाकार विविध। इन सभी कथाओं की रचना आद्यन्त एक ही छन्द में हुई है। प्रकार की दृष्टि से—मात्रिक, वर्णिक और मुक्त तीनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग इनमें किया गया है। वर्णिक छन्दों का प्रयोग केवल चित्र-सम्बन्धी कथाओं में हुआ है। कुछ कथाएँ मात्रिक छन्दों में भी लिखी गईं। मैथिली-शरण गुप्त ने अपनी अन्य रचनाओं में वीर और पयार तथा घनाक्षरी के उत्तर-चरणार्द्ध का प्रयोग किया है तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी इसी छन्द का अन्त्यमुक्त प्रयोग किया है। सियाराम-शरण गुप्त ने अधिकांश कथाएँ मुक्त छन्द में लिखीं और ला० भगवानदीन ने अपनी कथाओं में उर्दू के बहर की लय का प्रयोग किया। परन्तु छन्द-परिवर्तन इनमें कहीं नहीं किया गया।

अब तक जिन कृतियों का उल्लेख किया गया वे कला की दृष्टि से साधारण स्तर की रचनाएँ कही जायँगी। इस विधा का उत्कर्ष सोहनलाल द्विवेदी की 'वासवदत्ता' और चरम विकास 'निराला' की 'राम की शक्ति पूजा' नामक रचना में मिलता है। ये दोनों रचनाएँ इस प्रकार की पूर्ववर्ती रचनाओं से, तथा परस्पर एक-दूसरे से इतनी भिन्न हैं कि इनका परिगणन न तो पूर्वोक्त किसी प्रकार के अन्तर्गत किया जा सकता है और न ही इनका एक पृथक् समवेत् वर्ग बनाया जा सकता है। अतः इनका परिचय पृथक् रूप से देना उचित होगा।

वासवदत्ता

इसमें सोहनलाल द्विवेदी ने अनेक लघु-आख्यानों की रचना की है, जिनमें से अधिकांश का सम्बन्ध कवि के शब्दों में किसी न किसी सांस्कृतिक पहलू से है। अपवाद रूप में एक अन्योक्ति 'एक बूंद' भी इन सांस्कृतिक प्रसंगों के साथ वर्तमान है। कुछ आख्यानों का चयन इतिहास से किया गया है, अन्य का प्राचीन साहित्य से, तथा अन्योक्ति की घटना काल्पनिक है। पहले प्रकार का प्रसंग 'सरदार चूड़ावत' में, दूसरे प्रकार के प्रसंग 'एक बूंद' के अतिरिक्त शेष सभी कथाओं में लिये गए हैं, और 'एक बूंद' में अन्योक्ति के रूप में काल्पनिक घटना-योजना की गई है।

इन कथाओं में सन्देश निहित है और इनका आधार घटनात्मक है। "इनमें से अधिकांश में प्रवृत्ति और आदर्श का संघर्ष, और अन्त में आदर्श की विजय की आनन्दपूर्ण स्वीकृति है। इनमें प्रायः सभी में वैभव-विलास की पृष्ठभूमि पर नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा है।"[1] संकलन की अधिकांश कथाओं में मोह और कर्त्तव्य के बीच संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व का आधार ग्रहण कर अन्त में आदर्श का जयघोष किया गया है। सांस्कृतिक विषय, घटनात्मक स्वरूप, और आदर्श के

---

१. विचार और विश्लेषण —डा० नगेन्द्र, पृ० १४०

धरातल पर नैतिक महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति—यही इन कथाओं की रूपरेखा है।

शैली का जहाँ तक प्रश्न है, मूलतः सोहनलाल द्विवेदी का दृष्टिकोण बहिर्मुखी है और इन कथाओं का सम्बन्ध है अन्तःसंघर्ष से। इनके कवि के पास वह सूक्ष्म अन्तर्निवेषी दृष्टि नहीं जो अपनी चेतन, अचेतन तथा विरोधी प्रवृत्तियों में संघर्ष को झाँककर, उसका अभिज्ञान कर सके। उनकी सत्ता की कल्पना कर, पात्रों से तादात्म्य कर, अनुभूति के आधार पर उन्हें पहचानकर, शब्द-रूप दे सके। वह पात्रों की स्थिति से तादात्म्य कर अपने अन्तर्मन में प्रवृत्तियों के इस तीव्र विरोध, घात-प्रतिघात की सृष्टि नहीं कर पाता। जब कवि स्वयं इस अन्तर्द्वन्द्व में होकर गुज़रता है, और अन्त में विजयी प्रवृत्ति के आनन्द की अनुभूति करता है तब उसके अंकन में गहराई और तीव्रता मिलती है, परन्तु जब वह केवल इस अन्तर्द्वन्द्व को पहचानता भर है तथा निश्चित् दृष्टिकोण और मान्यताओं के आधार पर एक पक्ष के पराभव और दूसरे की प्रतिष्ठा में आनन्द की स्वीकृति करता है तब उसके अंकन में केवल स्फूर्ति और ओज ही आ पाएगा। वासवदत्ता का कवि "इन कथाओं में विद्यमान सूक्ष्म सत्ता के मन्थनकारी अन्तर्द्वन्द्व का अनुभव नहीं कर पाया, केवल सानन्द स्वीकृति कर पाया है—उर्वशी, कुन्ती और कर्ण, कुणाल, महाभिनिष्क्रमण सभी में।"[1]

ऐसी स्थिति में इन घटनाओं का रंगस्थल अन्तर्मन नहीं हो सकता था। न इनमें भावनाओं के तीव्र घात-प्रतिघात को स्थान मिल सकता था, और न ही मानव-मन की सूक्ष्म विवृत्तियाँ इन कथाओं में उपलब्ध हो सकती थीं। अतः इन घटनाओं का स्वरूप अमूर्त व सूक्ष्म नहीं, बाह्य घटनाएँ इनमें साधक या प्रासंगिक नहीं, साध्य हैं, जिनमें आदर्श की विजय वस्तु-ध्वनि के रूप में व्यंग्य है।

ऐसी स्थिति में कवि के सामने एक मार्ग और था—इतिवृत्तात्मक सरल वृत्त-वर्णन शैली में नैतिक आदर्शों का उपदेश और प्रतिपादन, परन्तु निश्चय ही 'वासवदत्ता' के कवि की कलात्मक सिद्धि इससे कहीं अधिक है। उनके "वर्णन में स्फूर्ति, ओज और वाग्मिता असंदिग्ध है जिसकी प्रेरणा अनुभूति के नहीं वरन् स्वीकृति के आनन्द में है।" इसका एक कारण है कि इन आख्यानों के प्रति कवि ने तटस्थ द्रष्टा और निरपेक्ष कथा-वाचक का दृष्टिकोण नहीं रखा। वह जिन आदर्शों को इनके द्वारा प्रतिफलित देखना चाहता है, उनके प्रति उसे आस्था है, अतः जब वह इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए ऐसे सांस्कृतिक प्रसंगों का चयन करता है जिनमें अभीष्ट संघर्ष-चित्रण की सम्भावनाएँ निहित हैं, तो भले ही वह अन्तर्मुखी दृष्टि से सूक्ष्म भाव व विचार-प्रसंगों का स्वानुभूत उद्घाटन न कर सके, परन्तु उसे इन अनुभूतियों की, इनके संघर्ष की, पहचान अवश्य है और इसीलिए इनके वर्णन के मूल में अपने विशिष्ट दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा की कामना, उसके निर्वाह का उत्साह, इन कथानकों की शैली में अप्रतिहत धारा-प्रवाह का साधक हुआ है। भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों में कवि के विश्वास और आचार-निष्ठा ने इन कथानकों को गति प्रदान की है।

'वासवदत्ता' की शैली "व्यंग्य-संकेतमयी न होकर मुखर है।" निश्चय ही संकेत और

---

१. विचार और विश्लेषण—डा० नगेन्द्र, पृ० १४१

व्यंजना के द्वारा नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करना 'वासवदत्ता' के कवि के वश की बात नहीं। अनेक कथाओं के अन्त में कवि अपेक्षा से कुछ अधिक विस्तृत वर्णन व व्याख्या करके अन्तिम नाटकीय प्रभाव को नष्ट कर देता है। 'वासवदत्ता' में गौतम की अन्तिम परिचर्या, 'उर्वशी' में अर्जुन-उर्वशी का संवाद, 'चूड़ावत' के अन्त में कवि का उपसंहारात्मक वक्तव्य, 'कर्ण और कुन्ती' में कर्ण का रणक्षेत्र की ओर प्रस्थान आदि इसके साक्षी हैं। इन प्रसंगों के पूर्व कवि ने यदि समाप्त कर, शेष को पाठक की कल्पना के लिए व्यंग्य रूप में छोड़ दिया होता तो कथानकों में अन्तिम प्रभाव-सम्बन्धी गरिमा आ जाती।

इन कथाओं की शैली भी वक्ता-श्रोता के बीच कथा कहने-सुनने की परम्परागत पद्धति है। भारतीय और पाश्चात्य दोनों परम्पराओं में—'एक बार की बात है—(once upon a time...)' से कथारम्भ की विधि अत्यन्त प्राचीन है। आधुनिक युग में कथा-वर्णन की अनेक नवीन और नाटकीय पद्धतियों के आविष्कार के उपरान्त भी कवि कथा में अनेक स्थलों पर इसी शैली का उपयोग करता है—

(क) **एक बार—**
ऐसा दुर्भिक्ष पड़ा देश में,
सभी बड़े क्लेश में,—[1]

(ख) **एक बार—**
इसी सुरलोक में
सुरपति के ओक में
ऊर्ध्वगामी पुण्य सम, सौख्य सम
आये पाण्डु-पुत्र पार्थ
जैसे हो पुरुषार्थ।[2]

विशेष नाटकीय परिस्थितियों, आकस्मिकताओं की योजना भी कवि ने नहीं की। कथा में अप्रतिहत धारा-प्रवाह है परन्तु उसकी गति सरल है, मोड़-तोड़मय, ऊँची-नीची नहीं, समतल निचाट भूमि पर ये कथाएँ बढ़ती जाती हैं। संवादों में भी विशेष सजीवता, संक्षेपण व चुस्ती नहीं, विस्तृत मन्थर वक्तृता की विशेषता है। व्याख्या और मुखरता से बोधव्य को तिलमिला देने वाले व्यंग और मूक व्यंजनाओं का भी शैली में अभाव हो गया है। उर्वशी और अर्जुन, तथा कुन्ती और कर्ण के संवाद इस कथन की पुष्टि में उद्धृत किये जा सकते हैं। वर्णनों में दृश्यात्मकता के रूप में नाट्य-तत्त्व अवश्य इन कथाओं में मिलता है। कवि अपने पात्रों के रूप, क्रिया, गति, मुद्राओं आदि को शब्द-चित्रों में बाँधने का प्रयत्न निरन्तर करता रहा है। यद्यपि ये चित्र विशेष के नहीं सामान्य के प्रतीत होते हैं। इनकी रेखाएँ सूक्ष्म और नियत नहीं, स्थूल और विस्तृत हैं परन्तु दृश्यात्मकता इनमें है, निश्चय ही। नवपरिणीता पत्नी से वियुक्त होते हुए सरदार चूड़ावत का निम्नांकित वर्णन उदाहरण रूप में प्रस्तुत है—

जाते सरदार, हेरते मुड़-मुड़ अधीर,

---

१. वासवदत्ता—सोहनलाल द्विवेदी, पृ० ४७
२. वही, पृ० ६

उठती थी उर में रह-रह न जाने कौन पीर !
रास शिथिल चाल शिथिल, ढाल शिथिल,
शर औ' करवाल शिथिल,
बढ़ता था, अश्व भी न,
स्वामी का मुख देख, रुख देख ।[1]

इन कथाओं में विराट् और समर्थ प्रसंगों का अभाव है। संघर्ष के स्थल में किंचित् ओज और आवेश उत्पन्न होता है, परन्तु उसके अवसान में प्रायः करुण प्रभाव व्यंजित रहता है। विजित के प्रति पाठक की सहानुभूति जागृत होती है, उल्लास नहीं। जीवन के कोमल और करुण प्रसंगों का अंतर्भाव ही इनमें हुआ है। इनका माध्यम भी कोमल, मधुर आभरणों से युक्त तत्सम-प्रधान भाषा-शैली है, जिसमें दीप्ति और चमक कुछ दूर तक संघर्षमय स्थलों में ही उत्पन्न होती है, शेष अंश में लालित्य ही अधिक रहता है।

इनकी एक विशेषता—छन्द-विधान है। घनाक्षरी के आधार पर मुक्त-छन्द का विन्यास और विकास कर उसमें कवि ने इन प्रसंगों की रचना की है। इस छन्द का एक मात्र आधार भाव-लय है। उसके अतिरिक्त मात्रा, वर्ण, यति, विराम, चरण-संख्या आदि विषयक प्रतिबन्ध लेखक ने स्वीकार नहीं किये। वह भाव की गति, विराम, उत्थान-पतन के अनुसार छन्दों में वर्णों, यति, विराम, छोटी-बड़ी पंक्तियों का प्रयोग करता है। कहीं-कहीं घनाक्षरी का लयाधार स्पष्ट है, अन्यत्र नहीं—

तीक्ष्ण खड्ग धार पर,
विक्रम अपार पर,
निज भुज-दंड पर,
पौरुष प्रचंड पर,[2]

उक्त पंक्तियों में कवित्त घनाक्षरी के अष्टक का आधार स्पष्ट है। कहीं-कहीं कवि ने उक्त लयाधार न लेकर स्वतन्त्र रूप से भाव के आरोह-अवरोह के आधार पर वर्ण-संख्या, यति, विराम, अन्तर्यति, चरण-विस्तार आदि का नियमन किया है। छन्द का इतना सफल प्रयोग सिद्धहस्त कलाकार की लेखनी से ही सम्भव है—

सुन्दरी ज्यों विभावरी
सजकर नव हीरहार
पुष्पहार
अंग-अंग अंगराग,
केसर, मृगमद-पराग,
मस्तक कुंकुम सुहाग,
अरुण-चरण,

---

१. वासवदत्ता—मोहनलाल द्विवेदी, पृ० २६
२. वही, पृ० २३

नूपुर-ध्वनि,
बजती शत किंकिणी
बजती सी आगमनी,
मृदु-मृदु मधु झंकार
झंकृत-सी करती चर-अचर निखिल तार,[1]

नायिका के प्रत्येक पदक्षेप के साथ उसके शृंगार के प्रसाधनों पर भ्रमणशील कवि की दृष्टि के प्रत्येक परिवर्तन को छन्द की परिवर्तनमय गतिशील लय ने मानों बाँध लिया है।

राम की शक्ति पूजा

इसकी रचना हिन्दी-साहित्य की एक ऐतिहासिक घटना है। यदि महाकाव्य रचना की विशिष्ट रूढ़ियाँ और आकारगत विशेषताएँ इस दिशा में बाधक न हों, तो इस आख्यान को निस्संकोच रूप से महाकाव्य स्वीकार किया जा सकता है। महाकाव्य में कथा-सम्बन्धी एक निश्चित विस्तार और व्यापकता, अतः आकार में भी बृहदता अपेक्षित है, जो इस लघु आख्यान में लभ्य नहीं। परन्तु इसके सीमित कलेवर में महाकाव्य की महाप्राणता का स्पन्दन स्पष्ट सुनाई पड़ता है। कथा का स्वरूप अंशतः प्रख्यात और अंशतः कल्पना का सुपरिणाम है। राम-रावण युद्ध जैसी भयंकर और समर्थ घटना की पृष्ठभूमि में बारम्बार असफल राम की अन्तर्वेदना, सिद्धि के लिए शक्ति की आराधना और शक्ति द्वारा परीक्षित होने पर सफलता का निश्चय—यही इस कथा की संक्षिप्त रूपरेखा है।

इस कथा के पौराणिक सूत्र देवी-भागवत और शिव महिम्न स्तोत्र में रक्षित हैं। देवी-भागवत में—नारद के आदेश पर रामचन्द्र के नवरात्रि-व्रत के उपरान्त अन्तिम दिन के युद्ध से एक दिन पूर्व देवी-पूजा का उल्लेख मिलता है। शिव महिम्न स्तोत्र के एक श्लोक में विष्णु की शिव-भक्ति और पूजा के लिए एक सहस्र कमल चढ़ाने का उल्लेख है। इसी प्रसंग में एक कमल की कमी पड़ने पर पुण्डरीकाक्ष होने के नाते विष्णु के नयन-अर्पण का उद्यम और शिव की प्रसन्नता का वर्णन है। रावण को युद्ध में शक्ति-वरदान का प्रसंग भी प्रख्यात है। इन्हीं प्रमुख पौराणिक सूत्रों के आधार पर इस प्रबन्ध की कथा का निर्माण हुआ है। घटनाओं में कवि ने संगठना और प्रभाव की दृष्टि से कुछ क्रम-परिवर्तन और रूप-परिवर्तन किया है।

इस कथा की विलक्षण विशेषता सीमित आकार में अनेक समर्थ और महाप्राण प्रसंगों से युक्त विस्तृत कथा का विन्यास है। घटनाओं का फलक अत्यन्त व्यापक और विराट है तथा उसमें बाह्य और अन्तः, जीवन के दोनों क्षेत्र अन्तर्भूत हैं। संक्षिप्त आकार में भी, इस कथा में अनुस्यूत सभी प्रसंगों का नाटकीय विन्यास प्रत्यक्ष है। यद्यपि 'राम की शक्ति पूजा' में, जैसा नाम से स्पष्ट है राम के जीवन का एक खण्ड नहीं केवल एक प्रसंग, एक प्रकरण वर्णित है, परन्तु इस एक घटना का विन्यास महाकाव्य की महाप्राणता और औदात्य के साथ हुआ है, तथा कवि ने इस प्रमुख घटना को उचित पृष्ठभूमि, परिणाम और वातावरण के साथ प्रस्तुत किया है।

---

१. वासवदत्ता, पृ० १२

इस प्रसंग का मूलवर्ती रस वीर होने के कारण समग्र कथा में दुर्दम ओज और उत्साह का संचार है। परन्तु कथा के विस्तार की सीमा के कारण इस कृति को न महाकाव्य कहा जा सकता है और न खण्डकाव्य। यदि केवल आत्मा और शैली ही के आधार पर निर्णय सम्भव हो, तो निश्चय ही यह रचना अपने सीमित कलेवर में भी किसी भी महाकाव्य की समकक्षी कही जा सकती है। किन्तु बाह्य रूप-विधान की अवहेलना इतनी सहज सम्भव नहीं। अतः इस रचना को लघु पद्य-कथा से अधिक नहीं माना जा सकता।

प्रसंग का आरम्भ कवि ने युद्ध से लौटती निराश बानर सेना के वर्णन से किया है। शिविर में पहुँचकर मंत्रणा का प्रसंग अंकित है, और तदुपरान्त लंका का रात्रि वर्णन। इस प्रसंग में कवि ने संकलनत्रय के सिद्धान्त की रक्षा करते हुए कौशलपूर्वक राम के जीवन की विगत घटनाओं—पुष्पवाटिका-प्रसंग, धनुर्भंग, विश्व-विजय की आकांक्षा, विविध राक्षसों के वध को स्मृति के सूत्र से जोड़ा है। यह स्मृति-योजना मनोवैज्ञानिक है और सम्पूर्ण प्रसंग को कोमल मधुर स्पर्श प्रदान करती है। इसी अन्तःसाक्षात्कार के प्रसंग में राम के हृदय की आशंका से उनकी चेतना अभिभूत हो जाती है और वे रावण के विजयघोष की व्याप्ति का अनुभव करते हैं। इस प्रसंग के साथ कवि ने एक छोटी-सी अन्तर्कथा, उपाख्यान, या उपप्रसंग की योजना की है। इस प्रासंगिक कथा की, मूल प्रसंग के विकास और गति में कोई सार्थकता या साधक स्थिति नहीं। इसके पीछे केवल एक प्रेरणा व सम्भावना प्रतीत होती है—हनुमान के पौरुषदीप्त विराट व्यक्तित्व के अंकन के माध्यम से कवि की विराट चेतना अभिव्यक्ति का साधन पाती है, अन्यथा मूल प्रसंग से इस प्रसंग का कोई अन्तरंग व अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। इसके उपरान्त विभीषण के उत्साह-वर्द्धन, और जाम्बवान के द्वारा शक्ति-पूजन के परामर्श से कथा चरम घटना की ओर बढ़ती है। अन्त में कथा की चरम घटना—शक्ति-पूजा, हनुमान के लाए एक सौ आठ इन्दीवरों में से एक की कमी, और राम-द्वारा नेत्र की बलि देने के उद्यम पर शक्ति वरदान—सम्पन्न होती है। इसी के साथ पटाक्षेप हो जाता है।

कथा का विन्यास घटना के अनेक पूर्व और समानान्तर घटित होने वाले अनेक प्रसंगों की संश्लिष्ट योजना से हुआ है। कार्य-व्यापार का विकास किसी भी बृहद् प्रबन्ध की भाँति नाटकीय विधि से होता है। वर्णनों में भी विविधता है। यदि प्रयत्न किया जाय तो सुनिश्चित आदि, मध्य, अवसान के अतिरिक्त कार्यव्यापार की शास्त्र-निर्दिष्ट पाँच अवस्थाओं का भी कुछ दूर तक शोध किया जा सकता है। बाधा है केवल एक—हनुमान की प्रासंगिक कथा की। इस प्रसंग की योजना का मूल प्रसंग के विकास पर कोई तर्कसम्मत प्रभाव नहीं। आख्यान काव्यों में मूल प्रसंग के साथ अवान्तर प्रसंगों की योजना साधक या बाधक रूप में होनी चाहिए। अर्थात्, मूल प्रसंग के साथ इन उप-प्रसंगों की स्थिति और उपयोगिता प्रश्नातीत होनी चाहिए, तभी कथा का विन्यास सुगठित और नाटकीय स्वीकार किया जा सकता है, और इस दृष्टि से इस प्रसंग की मूल आख्यान के विकास में कोई प्रत्यक्ष अनिवार्यता प्रतीत नहीं होती। मूल कार्य इससे अग्रसर नहीं होता। इसका आरम्भ और समाप्ति, कथा के बीच, बिना किसी कार्य-कारण सम्बन्ध के मूलकार्य-विकास में योगदान दिये बिना ही हो जाती है, अतः प्रबन्ध के बीच में यह कथा आरोपित प्रतीत होती है। यदि कहा जाय कि हनमान के ओजस्वी विराट् रूप का परिचय देने के लिए, तथा घटनाओं

में प्राणवत्ता के संचार के लिए इस प्रसंग की योजना की गई है, तो भी इसकी उपयोगिता असिद्ध ही रहती है। हनुमान की इस दुर्दम शक्ति, विराट स्वरूप, और अदम्य उत्साह से कथा के किसी आगामी कार्य का सम्पादन भी नहीं होता, अतः यह प्रसंग वस्तु-विन्यास में किसी भी रूप में उपकारी नहीं माना जा सकता। मूल कार्य का आरम्भ तो इसी घटना के तुरन्त बाद होता है, जब जाम्बवान के द्वारा शक्ति-पूजा का प्रस्ताव प्रस्तुत किया जाता है। इस कार्य का आभास पहले ही राम की नैराश्यपूर्ण मनस्थिति और रावण को शक्ति-वरदान के उल्लेख के द्वारा हो जाता है, परन्तु क्रियात्मक रूप जाम्बवान के प्रस्ताव से ही आरम्भ होता है। उससे पूर्व का अंश इस प्रधान कार्य की भूमिका तत्पर करता है। आक्षेप किया जा सकता है कि इस लघु कथा की दृष्टि से इतनी देर में मूल कार्यारम्भ प्रबन्ध-दोष है, उत्तर देना असम्भव नहीं। शक्ति-पूजा अपने आप में स्वतन्त्र उद्यम नहीं, वह उस महत्तर प्रयत्न का एक अंशमात्र है जिसका समारम्भ राम-रावण-युद्ध में बहुत पूर्व हो चुका है। कवि ने यहाँ उस सम्पूर्ण खण्ड को नहीं उसके एक अंश, एक प्रकरण को पद्यबद्ध किया है। इस अपने आप में अपूर्ण प्रसंग को उचित संदर्भ में, कार्य-कारण सम्बन्ध-सहित प्रस्तुत करना आवश्यक था। मूलकार्य से पूर्व वर्णित पूर्वपीठिका का महत्त्व स्वतः सिद्ध है। उसके अभाव में शक्ति-पूजा की आवश्यकता की व्याख्या नहीं होती। इस कथा में प्रबन्ध-काव्यों की सी पंचावस्थाएँ, या वस्तु-विन्यास साग्रह ढूढ़ना व्यर्थ होगा। इसकी नाटकीयता इसके संघर्ष की तीव्रता, और सारभूत प्रभाव में रक्षित है, कार्यावस्थाओं के शास्त्रीय निर्वाह में नहीं।

'राम की शक्ति पूजा' में घटनाओं का अन्तरंग और बहिरंग—द्विविध प्रसार अंकित है। कवि ने जितना बाह्य घटनाओं का सशक्त और विराट् रूप अंकित किया है, उतना ही राम के मन में होने वाले भयंकर अन्तर्द्वन्द्व और अन्य मानसिक व्यापारों का। सभी बहिरंग घटनाओं के अन्तरंग सूत्र इस प्रकार स्पष्ट किये गए है। राम के अंतर्मन के प्रसंगों का यह वर्णन एक ओर मनोवैज्ञानिक चित्रण की कोटि में आएगा, दूसरी ओर कवि ने शक्ति-साधना के प्रसंग में—योग मार्ग के अनुरूप राम की आत्मस्थित शक्ति-साधना की व्यंजना की है। अधिक समय 'निराला' ने राघव के विविध अंतःचित्रों के वर्णन में लगाया है। कवि होने के नाते यही उचित भी था। अन्तः और बाह्य दोनों क्षेत्रों से 'निराला' ने समान रूप से कोमल और विराट्, मधुर और ओजस्वी दोनों पक्षों का चयन किया है। इनमें प्रसंग की आवश्यकता के अनुकूल विराट् पक्ष की महाप्राणता, कोमल-मधुर पक्ष के लालित्य की अपेक्षा अधिक चित्रित हुई है। बाह्य-वर्णनों में कवि ने विराट् दृश्य-शृंखला अंकित की है। अन्तर्पक्ष का सम्बन्ध—मधुर करुण-स्मृतियों से और नैराश्य से है, अतः अंतर्द्वंद्व में नैराश्यजन्य करुणा अधिक है।

शैली—इस कृति की शैली कवि की सबसे समर्थ सिद्धि है। 'निराला' की शैली में महाकाव्योपेक्षित औदात्य का पूर्ण परिचय इसी रचना में प्राप्त होता है। कवि ने समान अधिकार से विराट् और कोमल पक्षों को सफलतापूर्वक अंकित किया है। महाकाव्य के लिए जिस विराट् दृश्य-शृंखला की अपेक्षा होती है वह इस संक्षिप्त कलेवर में समाहित है। कवि ने आरम्भ युद्ध-स्थल के भयंकर वातावरण के वर्णन से किया है। युद्ध का चित्र तत्सम-प्रधान समस्त शैली में अंकित है। कवि ने संयुक्त वर्ण-प्रयोग और उपयुक्त शब्दावली से केवल युद्ध की भयंकरता ही

नहीं, गतिविधि को भी बाँध लिया है। युद्ध की हलचल उनकी शब्दावली से व्यंजित होती चलती है—

विच्छुरितवह्नि-राजीव-नयन-हत लक्ष्य बाण,
लोहितलोचन-रावण-मदमोचन-महीयान,
राघव-लाघव-रावण-वारण-गत-युग्म-प्रहर,
उद्धत-लंकापति-मर्दित-कपि-दल-बल-विस्तर,...[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि का शब्द-लाघव और प्रभाव-व्यंजना प्रशंसनीय है। इसके उपरान्त कवि ने विराट् चित्रों का क्रम बाँध दिया है। लौटती हुई निराश सेना के बीच राम के रूप का वर्णन भी विराट् उपमानों के सहारे किया है। कवि की मूर्तिविधायिनी कल्पना इस प्रसंग में द्रष्टव्य है—

वृद्ध जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर, विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार,
चमकती दूर ताराएँ ज्यों हो कहीं पार।[2]

इन पंक्तियों में कवि की कल्पना विराट् ही नहीं अर्थगर्भित और साभिप्राय है। राम के अदम्य पौरुषदीप्त व्यक्तित्व का उचित उपमान दुर्गम पर्वत है और उस पर उतरने वाला नैशान्धकार उनके नैराश्य-आवृत्त क्लान्त हृदय की व्यंजना करता है। इस प्रसंग के उपरान्त कवि ने मध्य में हनुमान के आकाशगमन का वर्णन और अन्त में शक्ति के विराट् स्वरूप का चित्रण भी ओजस्वी महाप्राण शैली और विराट् चित्र-कल्पना के आधार पर किया है। इन वर्णनों में विराट्-चित्रों और भावों को अल्प शब्दों में बाँध देने की कला महाकाव्यानुरूप है। प्रलय के विक्षुब्ध वातावरण में व्यक्त आतंक, युद्ध के वर्णन में भयंकरता और गति, अमानिशा में दिग्व्यापी अंधकारपूर्ण वातावरण का वर्णन, सृष्टि-व्यापी उपमानों के सहारे राम का रूप-वर्णन और शक्ति की मौलिक विराट् कल्पना—महाकाव्योचित मूर्तिविधायिनी कला, गरिमामय प्रतीक-योजना व महाप्राण शैली के उपयुक्त है। इन प्रसंगों में परुष भावनाओं और वीरत्व की वह्नि-वर्षक शब्दावली कोमल मधुर प्रसंगों में मधुस्नात हो जाती है। जो कवि उनचास पवनों की गति को बाँध लेता है—"तोड़ता बन्ध, प्रतिरुन्ध धरा, हो स्फीत वक्ष" में पृथ्वी टलमलाती है "जल-राशि राशि-जल पर चढ़ता खाता पछाड़", में समुद्र का आन्दोलन शब्दबद्ध हो जाता है, वही कवि नयनों के गुप्त सम्भाषण, उन्मद पलकों के गिरने, अधरों के कम्पन, और आशा-विहगों के मधुर कलरव के स्मृति-चित्र अंकित करते हुए तरंगों के अप्रतिहत वेग को ऊर्मियों की उन्मद सरल-चटुल गति में परिणत कर देता है। प्रसंग के अनुकूल प्रतीक कोमल, और शैली लालित्यमय व गति में थिरकन उत्पन्न हो जाती है। इस प्रभाव-व्यंजना के हेतु कवि शब्दध्वनियों का उचित प्रयोग जानता है—

१. अनामिका—निराला, पृष्ठ १४८
२. वही, पृष्ठ १४६

देखते हुए निष्पलक, याद आया उपवन
विदेह का,—प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का—नयनों से गोपन—प्रिय सम्भाषण,—
पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान-पतन,
काँपते हुए किसलय, झरते पराग-समुदय—
गाते खग नव-जीवन-परिचय-तरु मलय-वलय,—[1]

कोमल-मधुर भावों की व्यंजना के लिए ह्रस्व स्वरों और अल्पप्राण व्यंजन ध्वनियों का प्रयोग किया गया है। जीवन के विरोधी पक्षों का इस प्रकार एक ही प्रसंग में समानाधिकार से चित्रण, भाषा के असाधारण उत्कर्ष और गाम्भीर्य का द्योतक है।

इस प्रकार इस कविता में, जहाँ एक ओर सारभूत नाटकीय प्रभाव, महाकाव्योचित गरिमा प्रदान करता है, वहाँ विराट् चित्रांकन और भाषा का औदात्य व समर्थ प्रयोग भी इस दिशा में साधक होते हैं। परन्तु इस रचना को महाकाव्य नहीं कहा जा सकता। इसमें जीवन की व्यापक समग्रता नहीं। एक विशेष घटना—महाकाव्योचित गरिमा, प्राणवत्ता से युक्त उदात्त शैली में अंकित है। अतः यह सीमित क्षेत्र में महाकाव्य की कला-साधना है। परन्तु विस्तार के अभाव में इसे लघु पद्य-कथा ही कहा जा सकता है।

छन्द-विधान—इस कविता का छन्द-विधान भी विशिष्ट और मौलिक है। कवि ने चौबीस मात्राओं का नवीन छन्द बनाया है, जिसमें गति और लय का नियमन, भावानुकूल स्वच्छन्दता से किया गया है। इन मात्राओं में भी प्रसंगानुसार कवि परिवर्तन कर देता है। यति, विराम आदि का प्रयोग भी निश्चित नियमों में न बँधकर भाव के उत्थान-पतन के अनुसार स्वेच्छया किया गया है। छन्द की लय का नियमन कवि पदावली की विशेषता से भी करता है। भावना के विस्तार के साथ लय में स्फीतता लाने के लिए वह 'आ' की सन्धि पर आश्रित समासों का प्रयोग करता है—

उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार[2]

भावों में ऊर्ध्व उच्छ्वास के लिए, छन्द की गति में भी ओज और तीव्रता उत्पन्न करने के हेतु कवि उ, ए, ओ, आदि स्वरों की सन्धि पर आश्रित समास योजना—

बिंध महोल्लास से···[3]

और कोमल मधुर भावों के लिए ह्रस्व स्वरों और सरल शब्दावली का प्रयोग करता है।

तुक का प्रयोग कवि ने मध्य और अन्त दोनों में ही किया है। ऐसा प्रायः प्रवाह बढ़ाने के उद्देश्य से किया गया है—

तोड़ता बंध-प्रतिसंध···[4]

---

१. अनामिका—निराला, पृष्ठ १५१
२. वही, पृष्ठ १४९
३. वही, पृष्ठ १४९
४. वही, पृष्ठ १५३

विराम का प्रयोग भी भावनाओं के उत्थान-पतन, प्रवाह की गति आदि को दृष्टि में रखते हुए कवि करता है। इसीलिए सदैव विराम पंक्ति के अन्त में प्रयुक्त नहीं होता। कवि ने अधिकतर दूरान्तरप्रवाही पंक्तियों में रचना करके विराम का यथावश्यकता अन्त व मध्य में प्रयोग किया है। वह भावों के उद्दाम प्रवाह में विराम न देकर उसके प्रबल प्रवाह को तरंगाघात के समान बढ़ा देता है। यह योजना कवि की नितान्त मौलिक सिद्धि है, इसीलिए डा० पुत्तूलाल शुक्ल ने किसी परम्परागत नाम के अभाव में इस छन्द को 'शक्ति पूजा' छन्द कहा है।[1]

आख्यानक-गीतियां

आख्यानक गीतियां इस युग की पद्यबद्ध कहानी का दूसरा रूप हैं। जैसा पहले भी कहा जा चुका है—आख्यानक गीतियों को प्रायः बैलेड (Ballad) से तदाकृत कर दिया जाता है।[2] इनका मूल रूप भले ही वीर गीतात्मक रहा हो, परन्तु आधुनिक युग में विरचित गीतियों में केवल वीरतापूर्ण कृत्यों का आख्यान ही नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के आख्यान भी इन गीतियों का विषय बने। वास्तव में आख्यानक गीति के वर्तमान रूप को दृष्टि में रखते हुए उसमें दो ही विशेषताओं की अनिवार्य स्थिति स्वीकार की जा सकती है। आख्यान तत्त्व और आत्मपरक गीति-शैली में उसका वर्णन। इस समाख्यान का वक्ता कवि स्वयं भी हो सकता है, और पात्र को प्रस्तुत करके उसकी आपबीती के रूप में भी आख्यान-वर्णन करा सकता है। इन्हीं दोनों विशेषताओं से एक तीसरी शैलीगत विशेषता का उद्भव होता है, और वह है अन्तःस्फूर्त तथा सरल स्पष्ट शैली में वर्णन। यदि यह वर्णन आत्मपरक दृष्टि से नहीं किया गया हो, तो आख्यानक-गीति पद्यबद्ध कहानी रह जाती है। परन्तु आधुनिक आख्यानक-गीतियों में शैलीगत सरलता और स्पष्टता भी अनिवार्य नहीं रही। विज्ञान और भौतिक सभ्यता के इस बौद्धिक युग में भावों का प्रकृत उच्छ्वास और निष्कपट अभिव्यक्ति सरलता से संभव भी नहीं, अतः अन्य काव्य-रूपों की भाँति इन आख्यानक-गीतियों की शैली में साहित्यिकता, नाटकीयता, अलंकरण और परिष्कार के समावेश का सायास प्रयत्न किया जाता है।

सर्वत्र ये गीतियां—वीरता, युद्ध और पराक्रम के कृत्यों को ही विषय बनाकर लिखी भी नहीं गईं। परन्तु जहाँ इन काव्यों में वृत्त-वर्णन की प्रधानता है, और कवि उसका आख्याता मात्र है, उसका वर्णन वह अपनी तद्विषयक-संवेदना अथवा किसी सहज उच्छ्वसित भाव को अभिव्यक्त करने के लिए नहीं करता, उन्हें हम आख्यानक-गीतियां मानने के पक्ष में नहीं हैं। अतः डा० श्रीकृष्ण लाल के मतानुसार मैथिलीशरण गुप्त के उन अनेक खंडकाव्यों को तथा लघु पद्य-कथाओं को हम आख्यानक-गीतियां नहीं मानते जिन्हें उन्होंने इस वर्ग में रखकर विवेचन किया है। 'रंग में भंग', 'शक्ति', 'विकट-भट', 'वीर पंचरत्न' आदि रचनाओं

---

१. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना—डा० पुत्तूलाल शुक्ल, पृष्ठ २९०

२. "प्रसिद्ध अंगरेजी समालोचक हडसन के मतानुसार आख्यानक गीति एक पद्यबद्ध कहानी है। इसमें युद्ध, वीरता और पराक्रम के कृत्यों का प्राधान्य रहता है और प्रेम, घृणा, करुणा इत्यादि जीवन के सरलतम अभिन्न भाव इसे प्रेरणा-शक्ति प्रदान करते हैं। इसकी शैली बहुत ही सरल और स्पष्ट होती है।"
आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डा० श्रीकृष्ण लाल, पृ० ९८

में निश्चित रूप से आख्यान प्रधान है। उनमें सुनिश्चित वस्तु-विन्यास और उसके पीछे नियत उद्देश्य है, कवि के मन में उठी किसी भाव-तरंग का प्रकाशन नहीं। खंडकाव्य, पद्य-कथा तथा आख्यानक गीति में यही भेद होता है। आख्यानक गीति में भावना प्रधान होती है तथा घटना और पात्र उसके माध्यम। इससे भिन्न खंडकाव्यों और आख्यान-काव्यों में वृत्त-वर्णन प्रधान होता है। एक का दृष्टिकोण आत्मपरक होता है और दूसरे का वस्तुनिष्ठ।

आधुनिक युग की आख्यानक गीतियों में भावना का उतना प्रकृत, निश्छल, सहज संवेद्य, सरल और स्पष्ट रूप तो नहीं मिलता, क्योंकि इस युग में मानव इतना आत्मकेन्द्रित और व्यक्ति-निष्ठ हो गया है कि इस प्रकार के सर्वविद् आख्यान उस पर व्यक्ति-रूप में इतना मर्मस्पर्शी प्रभाव नहीं डालते, अतः वह जो कुछ कहता है वह वर्ग की भावना के प्रतिनिधि के रूप में। अथवा, वह कलाकार की भाँति आख्यान से सम्बद्ध पात्रों की अनुभूति का पर्यवेक्षण करने लगता है। फिर भी, कुछ सुन्दर आख्यानक-गीतियाँ इस युग में निश्चित रूप से लिखी गई। सुभद्रा कुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' का उल्लेख उत्कृष्ट आख्यानक-गीति के रूप में सर्वाधिक किया जाता है। इसका एक कारण इस रचना की सरल, निसर्ग-सुन्दर स्फूर्तिमय भावाभिव्यक्ति और अतिप्रकाशित गीतिमयता है। यह गीति, आख्यानक-गीतियों की सहज कला के अत्यन्त निकट है। इसका एक कारण है—इस कविता का प्रचलित लोक-गीत की लय के आधार पर रचित होना। लोक-गीत का भाव और लयाधार लेने के कारण इस गीति में भाव और अभिव्यक्ति के नैसर्गिक सौन्दर्य की रक्षा हो सकी है। सरलता, स्पष्टता और स्फूर्ति इसमें सर्वत्र व्याप्त है। इन आख्यानक-गीतियों में से जिनका सम्बन्ध किसी वीरतापूर्ण कृत्य से होता है, रचयिता के हृदय में आख्यान और पात्रों के प्रति प्रशंसा, गौरव और अभिमान का भाव वर्तमान रहने के कारण—ओज, अबाध गति और उत्साह की स्फूर्ति वर्तमान रहती है। यही 'झाँसी की रानी' की विशेषता है।

लोक-गीत की शैली का आभास उसमें आद्यन्त मिलता है, क्योंकि कवयित्री बुन्देलों हरबोलों के बीच परम्परा से चली आती कथा को अपने श्रोता को सुनाने बैठती है। कथा कहने की यह पद्धति अलाव के चारों ओर बैठे ग्रामीण समाज के आल्हा गाने की प्रथा से बहुत भिन्न नहीं है। वक्ता-श्रोता के बीच यही प्रत्यक्ष, अनौपचारिक सम्बन्ध इस शैली की विशेषता है। इन गीतियों में आख्यान तत्त्व के कारण, कभी-कभी जिस स्थल से सम्बद्ध घटना का गान किया जाता है, उसका कुछ दूर तक वर्णन भी किया जाता है। प्रवाहपूर्ण सरल शैली में आख्यान का ओजमय वर्णन इस काव्य-रूप की प्रमुख विशेषता है।

'झाँसी की रानी' की रचना के उपरान्त इन गीतियों की रचना का मार्ग ही बन्द हो गया। छायावाद के विकास के साथ शैली में बढ़ने वाले शृंगार-प्रसाधन इस विधा के अनुरूप नहीं थे। उपयुक्त विषयों की भी इस युग में कमी रही, फिर भी इन कवियों ने इस प्रकार के एकाध प्रयत्न किए। लहर में संकलित कवि प्रसाद की रचना 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' साहित्यिक आख्यानक-गीति का सुन्दर उदाहरण है, यद्यपि इसका स्वरूप लोक-साहित्य के ढंग पर रचित आख्यानक-गीतियों से सर्वथा भिन्न है। सबसे पहला अन्तर इस कविता में शैली-सम्बन्धी है। कवि और पाठक के बीच सम्बन्ध वक्ता और श्रोता का नहीं है। कवि स्वयं समग्र आख्यान का

भावोद्दीप्त सरल शैली में वर्णन न करके नाटकीय ढंग पर पात्र के मुख से उसकी आपबीती, आत्मग्लानि का कथन कराता है। यह शैली—अपने आप को विशेष पात्र व परिस्थिति में स्थित करके भावनाओं की अभिव्यक्ति की शैली है। दूसरा अन्तर—इस कविता की अलंकृत शैली और प्रयुक्त मुक्त छन्द है। अतः यदि आख्यानक-गीति को वीर-गीतों (Ballads) का पर्याय मान लिया जाए तो निश्चय ही यह रचना उस अर्थ में आख्यानक-गीति नहीं है, क्योंकि इसकी मूल भावना ही प्रेम और उत्साह नहीं, आत्म-ग्लानि और नैराश्य-जनित करुणा की भावना है। परन्तु आख्यानक-गीति के लिए—आख्यानात्मक कविता की गीति शैली में रचना आवश्यक है, और कुछ नहीं। प्रसाद की उक्त गीति में घटना की पृष्ठभूमि में पात्र की अन्तर्वेदना का अंकन किया गया है, केवल उसकी शैली विशिष्ट है, परन्तु यह इस कविता का गुण माना जायगा। गेयता भी इस आख्यानक-गीति में नहीं है। शैली भी सहज ओजमयी नहीं, सायास अलंकृत और साहित्यिक है।

डा० श्रीकृष्ण लाल ने मैथिलीशरण गुप्त के कुछ खंडकाव्यों और आख्यान-काव्यों को इसी विधा की रचनाएँ माना है।[1] ला० भगवान दीन की 'वीर पंचरत्न' को भी वे आख्यानक गीति-संग्रह मानते हैं। हम उनके इस मत से सहमत नहीं। इन कविताओं में वृत्त-वर्णन इतना स्पष्ट है और घटना-विन्यास समाख्यानात्मक प्रबन्ध शैली में इतने प्रत्यक्ष रूप से हुआ है कि गीति के तत्त्व उनमें उल्लेख के लिए भी नहीं मिलते। इन प्रबन्धों में कहीं-कहीं वर्णन व प्रसग-योजना नाटकीय शैली में अवश्य की गई है, परन्तु न इनमें आख्यान के प्रति इनके रचयिता की भावनाओं का उद्रेक मिलता है, न ही किसी पात्र की अन्तर्दशा या मनोवृत्तियों का उच्छ्वासपूर्ण प्रवाह है। इनमें केवल समाख्यान शैली में सरल विवेकपूर्ण वर्णन है। यदि इन प्रबन्धों को आख्यानक गीतियां स्वीकार कर लिया जाएगा तो समाख्यानात्मक प्रबन्धों से व खंडकाव्यों से इनके व्यावर्त्तन का आधार क्या होगा? केवल मैथिलीशरण गुप्त के 'गुरुकुल' को कुछ दूर तक आख्यानक गीति-संकलन माना जा सकता है। इसमें सिक्खों के गुरु-वंश से सम्बन्धित अनेक गीतियाँ संकलित हैं। स्वभावतः इनमें कवि की भावनाओं का उद्रेक तो नहीं है, परन्तु इन गुरुओं के प्रति आस्था और प्रशस्ति-भाव इनके जीवन की कुछ गौरवमय घटनाओं के वर्णन के द्वारा व्यक्त किया गया है। इनमें आख्यान का संस्पर्श है, सुनिश्चित विन्यास नहीं। केवल वृत्त-वर्णन नहीं कवि की भावना का संस्पर्श निश्चय ही है, अतः इनकी विधा आख्यानक-गीति के अधिक समीप है, यद्यपि विशुद्ध नहीं।

आख्यानक-गीतियों की परम्परा इस काल में बहुत आगे न बढ़ सकी। इसके लिए अलंकृत छायावादी शैली का विकास, मुक्त छन्द का विकास और चिर परिवर्तनशील सामाजिक व साहित्यिक परिस्थितियां उत्तरदायी थां, जो इस विधा के अनुकूल सिद्ध न हो सकीं। यूं नाम गिनाने के लिए सोहनलाल द्विवेदी की 'भैरवी' में संकलित गीति 'प्रताप' का उल्लेख इस दिशा में किया जा सकता है।

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास—(१९००-१९२५)—डा० श्रीकृष्ण लाल, पृ० ९८-१००

पर्यायबन्ध

कथात्मक लघु प्रबन्धों के अतिरिक्त एक वर्ग उन प्रबन्धों का है, जिनमें किसी विषय-विशेष का कुछ दूर तक वर्णन किया गया है। इन प्रबन्धों की परम्परा बहुत पुरानी है। इतनी पुरानी कि संस्कृत के प्राचीन काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में भी इनका उल्लेख मिलता है, यद्यपि विस्तृत विवेचन व लक्षण-निरूपण नहीं। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वन्यालोक में अन्य काव्य-रूपों के साथ एक काव्य-विधा का उल्लेख किया, जिसका नाम था 'पर्यायबन्ध'।[1] ध्वनिकार ने काव्य-रूपों में विस्तारपूर्वक लक्षण-निरूपण किसी भी विधा का नहीं किया, परन्तु काव्य-शास्त्र में उपलब्ध अन्य आचार्यों के विवेचन से, इस सम्बन्ध में व्याख्याता आचार्यों द्वारा निष्कर्ष निकाल लिये गए। आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार पर्यायबन्ध से आनन्दवर्द्धन का तात्पर्य एक ऐसे काव्य-रूप से है जो वसन्तादि एक ही विषय के वर्णन के उद्देश्य से लिखा गया हो। व्याख्याता आचार्य ने इस बात को स्पष्ट भी किया है—

वसन्तवर्णनादिरेकवर्णनीयोद्देशेन प्रवृत्तः पर्यायबन्धः।[2]

वसन्तादि किसी एक ही विषय के वर्णन के उद्देश्य से प्रवृत्त काव्य-विशेष को पर्यायबन्ध कहते हैं। काव्य का यह भेद काव्य-रूप अथवा रचना के आधार पर न किया जाकर काव्य-विषय के आधार पर किया गया है। साथ ही यह प्रबन्ध-काव्य का उपभेद मात्र मान लिया जाय ऐसा भी सम्भव प्रतीत नहीं होता—क्योंकि अपने विभाजन में और आगे बढ़कर आचार्य ने प्रबन्ध के खण्डकाव्य और महाकाव्य, दोनों भेदों का पृथक् उल्लेख किया है। स्पष्ट ही वह पर्यायबन्ध को मुक्तक और प्रबन्ध दोनों से ही पृथक्, विषय की दृष्टि से एक स्वतन्त्र काव्य-विधा मानते हैं। कारण सहज प्रकट है—पर्यायबन्ध में मुक्तक की संक्षिप्तता और प्रबन्ध के विस्तार, दोनों का ही अभाव है। एक प्रसंग का वर्णन निश्चय ही एक स्वतःपूर्ण मुक्तक छन्द में सम्भव नहीं, साथ ही एक विषय अथवा प्रसंग-विशेष के वर्णन में प्रबन्ध-काव्य के लिए अभीप्सित विस्तार की भी सम्भावना नहीं हो सकती। अब सहज प्रश्न है कि इस प्रकार के काव्य-रूप आकार-मात्र की दृष्टि से किस काव्य-भेद के अन्तर्गत आएँगे? अथवा उनके लिए रूप-विधा की दृष्टि से किसी स्वतन्त्र संज्ञा की उद्भावना वांछित है?

पहले भी जैसा अनेक प्रसंगों में कहा जा चुका है किसी भी काव्य का विषय और अभिव्यक्ति, भाव और कला एक अविभाज्य एकाई है—दोनों के बीच एक सहज अनुकूलता और पूर्ण सामंजस्य नितान्त अनिवार्य है—परन्तु काव्य के बाह्य तत्त्व का नियमन निश्चय ही उसके अन्तर्तत्त्व के द्वारा होता है। भाव अथवा विषय के अनुकूल ही उसकी अभिव्यक्ति, उसका कलात्मक अंश तथा बाह्य कलेवर होगा। अपवाद के स्थलों में इन दोनों तत्त्वों की पारस्परिक असंगति, काव्य के समवेत् प्रभाव में बाधक होगी। अतः 'पर्यायबन्ध' जैसी काव्य-विधा के लिए विषय की सीमा और विस्तार, आकार में भी सीमा और विस्तार की नियामक होगी। निष्कर्ष रूप में विषय के अनुकूल 'पर्यायबन्ध' का आकार न मुक्तक की भाँति संक्षिप्त और न ही प्रबन्ध की

---

१. ध्वन्यालोक—सम्पादक डा० नगेन्द्र, (सन् १९५२), पृष्ठ २४८

२. वही, पृष्ठ २५०

भाँति विस्तृत हो सकता है। उसकी स्थिति कहीं इन दोनों के बीच निर्धारित करनी होगी।

एक प्रसंगमात्र का क्रमबद्ध वर्णन जहाँ एक ओर पर्याप्त विस्तृत नहीं होगा, वहाँ वह मुक्तक की भाँति एक छन्द में स्वतःपूर्ण भी नहीं हो सकता। एक विषय अथवा प्रसंग-विशेष का वर्णन करने के लिए एक से अधिक परस्पर सम्बद्ध छन्दों की योजना नितान्त अनिवार्य होगी। इस काव्य-विधा को रूप-आकार की दृष्टि से किसी स्वतन्त्र संज्ञा से विभूषित न कर, यदि विस्तार और संक्षेप के आधार पर, अधिक विस्तृत प्रसंगों को वस्तु-वर्णनात्मक प्रबन्धों के अन्तर्गत, और अपेक्षाकृत सीमित कलेवर-युक्त प्रसंगों को संयुक्त मुक्तकों में समाविष्ट कर लिया जाय तो अनुचित न होगा।

आधुनिक युग तक आते-आते जैसा कि आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में विवेचन किया है—

"विषयों की अनेकरूपता के साथ-साथ उनके विधान का ढंग भी बदल चला। प्राचीन धारा में 'मुक्तक' और 'प्रबन्ध' की जो प्रणाली चली आती थी उससे कुछ भिन्न प्रणाली का भी अनुसरण करना पड़ा। पुरानी कविता में 'प्रबन्ध' का रूप कथात्मक और वस्तुवर्णनात्मक ही चला आता था। या तो पौराणिक कथाओं, ऐतिहासिक वृत्तों को लेकर छोटे-बड़े आख्यान काव्य रचे जाते थे—जैसे पदमावत, रामचरितमानस, रामचन्द्रिका, छत्रप्रकाश, सुदामा-चरित्र, दान-लीला, चीरहरन-लीला इत्यादि अथवा विवाह, मृगया, झूला, हिंडोला, ऋतुविहार आदि को लेकर वस्तुवर्णनात्मक प्रबन्ध। अनेक प्रकार के सामान्य विषयों पर—जैसे बुढ़ापा, विधि-विडंबना, जगत-सचाई-सार, गोरक्षा, माता का स्नेह, सपूत, कपूत—कुछ दूर तक चलती हुई विचारों और भावों की मिश्रित धारा के रूप में छोटे-छोटे प्रबन्धों या निबन्धों की चाल न थी। इस प्रकार के विषय कुछ उक्ति-वैचित्र्य के साथ एक ही पद्य में कहे जाते थे अर्थात् वे मुक्तक की सूक्तियों के रूप में ही होते थे। पर नवीन धारा के आरंभ में छोटे-छोटे पद्यात्मक निबंधों की परम्परा भी चली जो प्रथम उत्थानकाल के भीतर तो बहुत कुछ भावप्रधान रही पर आगे चलकर शुष्क और इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) होने लगी।"[1]

शुक्लजी के उपर्युक्त विवेचन से यह सर्वथा स्पष्ट है कि आचार्य आनन्दवर्द्धन ने जिसे पर्यायबन्ध संज्ञा से अभिहित किया है—उस विधा को शुक्लजी वस्तुवर्णनात्मक प्रबन्ध मानते हैं।

अतः उपर्युक्त मतों पर विचार करने के उपरान्त यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि जिस काव्य-विधा का आचार्य आनन्दवर्द्धन ने पर्यायबन्ध के रूप में विषयवस्तु को आधार बनाकर उल्लेख किया है, उसी विधा का रूप, आकार की दृष्टि से लघुप्रबन्धात्मक हो जायगा।

यदि किसी काव्य में प्रसंग-विशेष का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया हो, तो जैसा आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है ऐसे काव्य, प्रबन्ध के कथात्मक रूप के अन्तर्गत न आकर, वस्तुवर्णनात्मक रूप के अन्तर्गत आएँगे। उनकी शैली वर्णनात्मक होने पर भी जीवन

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—१९९७ में प्रकाशित संस्करण, पृ० ७१०

की समग्रता और अनेकरूपता के अभाव में, सीमित कलेवर के अन्तर्गत प्रसंग-विशेष का वर्णन होने के कारण ऐसा काव्य महाकाव्य न होकर प्रबन्ध-मात्र ही होगा। घटना के अभाव में प्रसंग-विशेष का वर्णन-मात्र खण्डकाव्य भी नहीं हो सकता। उसमें एक प्रसंग-विशेष का ही वर्णन किया जायगा जो विषय-वस्तु और शैली की दृष्टि से आख्यान-काव्य तथा कथा-काव्य न होकर वस्तु-वर्णनात्मक होगा। अतः इस प्रकार के काव्यों को वस्तुवर्णनात्मक लघु-प्रबन्ध या पर्यायबन्ध कहा जा सकता है। द्विवेदी-युग में इस प्रकार की कुछ वस्तुवर्णनात्मक प्रबन्ध रचनाएँ निश्चित रूप से की गईं जिन्हें पर्यायबन्ध कहा जा सकता है, परन्तु शैली और कलात्मक उत्कर्ष की दृष्टि से इन कविताओं का विशेष महत्त्व नहीं स्वीकार किया जा सकता। मध्ययुगीन कवियों की भाँति लीला के रसमय प्रसंगों का वर्णन तो इन कवियों ने किया ही नहीं, प्रकृति-वर्णन की परम्परा भी इस युग में क्षीण हो गई थी। काव्य-रचना के प्रति कवियों का दृष्टिकोण बदल चुका था। कविता के विषय नीति और समाज से सम्बद्ध हो गए थे, अतः उनकी प्रवृत्ति स्वतन्त्र प्रबन्धों में प्रकृति-वर्णन करने में नहीं रमी। द्विवेदी-युग के उपरान्त इन वर्णनों का माध्यम प्रगीत व छोटी कविताएँ हो गईं, अतः सम्पूर्ण आधुनिक काव्य में इस प्रकार के वस्तुवर्णनात्मक प्रबन्धों की संख्या बहुत कम है, और प्रायः वे सभी द्विवेदी-युग में ही लिखे गए।

इन प्रबन्धों के विषय विविध हैं। कुछ प्रबन्ध प्रकृति को आलम्बन बनाकर वस्तुवर्णन-शैली में लिखे गए। कवि 'शंकर' ने पावस और ग्रीष्म ऋतु का वर्णन क्रमशः 'पावस' और 'निदाघ दर्शन' नामक प्रबन्धों में किया। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने दो खण्डों में 'वसंत वियोग' की रचना की। ला० भगवानदीन ने भी 'वसंत-वर्णन' की रचना अनेक छन्दों में की। इस विधा में कुछ रचनाएँ यदा-कदा 'सरस्वती' के अंकों में भी प्रकाशित होती रहीं। परन्तु इन सभी की शैली वस्तुपरक वर्णनात्मक शैली है, जिनमें प्रायः वर्ण्य के विविध अंगों का एक के उपरान्त एक इतिवृत्त वर्णन रहता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित छंद लीजिये—

वाड़िम ने दीप माणिक के किस लिए हैं बाले।
कुछ पूज्य पाहुने क्या हैं इसके आने वाले॥
चित्रक ने फूल कर क्यों निज तन धवल किया है?
यह स्वेत छत्र किसके हित हाथ में लिया है॥[1]

इन सभी प्रबन्धों की शैली इसी प्रकार की है। तत्कालीन साहित्यिक परिस्थितियाँ और इस विधा का स्वरूप दोनों ही इस शैली को अपनाने के निमित्त कारण हैं। श्रीधर पाठक ने दो पर्यायबन्ध 'काश्मीर-सुषमा' और 'देहरादून' अपेक्षाकृत सुन्दर शैली में लिखे हैं। इन दोनों कृतियों में भी प्रकृति-वर्णन की प्रवृत्ति का प्राधान्य है, परन्तु 'काश्मीर-सुषमा' की अपेक्षा 'देह-रादून' की शैली अधिक आकर्षक है। इसके पीछे परिस्थिति का अनुरोध है। रुग्णावस्था में जलवायु-परिवर्तन के लिए कवि को इस स्थान पर जाना पड़ा। परन्तु इस स्थल की प्राकृतिक सुषमा ने शारीरिक उपचार ही नहीं किया, कवि के मन को भी मोह लिया। व्यक्तिगत आकर्षण और प्रेम के कारण इस कृति में कवि की आत्मानुभूति व्यक्त हुई है, अतः व्यक्तित्व की छाप इस

---

१. नवीन बीन—ला० भगवानदीन, 'वसंत वर्णन', पृ० १३

प्रबन्ध में सर्वत्र है। समस्त कृति में अद्‌भुत गति है, कवि ने रचना में वर्णन यात्रा के आरम्भ से किया है, परन्तु वह केवल विवरण ही नहीं देता रुककर प्रकृति के चित्र अंकित करता है। इन चित्रों में प्रकृति के रूप-रंग और गति को बाँधने का प्रयत्न है—

पल पल चमकि बिजुरिया छुपि छुपि जात
मनु कोउ सुरग मेहरिया उभकि लुकात
कहुँ सुठि सोन लतरिया सम लहरात
मनु सुचि सची चुनरिया-कोर लखात
पुनि पुनि लेत लहरिया सिमिटत गात
दउरत देव-दगरिया द्रुत द्रुति जात।[1]

कुछ पर्यायबन्ध प्रकृति के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी लिखे गए। मैथिलीशरण गुप्त ने 'राधा-कृष्ण की आँख-मिचौनी' में दोनों के सौन्दर्य और लीला का वर्णन किया। कवि पूर्ण' ने एक नए ढंग के विषय के लिए इस विधा को ग्रहण किया। उन्होंने 'दिल्ली-दरबार' शीर्षक में तीन भागों में दरबार के अवसर पर लम्बी वर्णनात्मक कविता लिखी। इसमें न प्रकृति का वर्णन है न मानव-सौन्दर्य का और न दरबार का। इस कविता में दरबार के उपलक्ष्य में पाठशाला के बालकों के मन में होने वाले आनन्द और दरिद्र भोजन आदि का वर्णन कवि ने किया है। परन्तु इनमें न आख्यान है न विचार-प्रतिपादन और न भाव-व्यंजना। अतः वर्णन-प्रधान होने के कारण इसे पर्यायबन्ध ही कहा जायगा।

छन्द की दृष्टि से उन्होंने एक छन्द में ही सम्पूर्ण कविता की रचना की है, और मध्य में भी छन्द-परिवर्तन कर लिया है। ला० भगवानदीन का 'वसन्त वर्णन' मुक्तामणि और हरि-गीतिका छन्दों में विरचित है और कवि 'पूर्ण' का 'वसन्त वियोग' मिश्र, तोमर और राधिका छन्दों में। शेष रचनाएँ आद्यन्त एक ही छन्द में लिखी गई। प्रयुक्त छन्द हैं—कवित्त, पादा-कुलक, रोला, बरवै और शृंगार-राग आदि।

पद्यात्मक-निबन्ध

संक्षिप्त प्रबन्ध-रचनाओं का अन्तिम प्रकार वे छोटी प्रबन्ध-कृतियाँ हैं, जिनमें पद्य के माध्यम से कवि वही लक्ष्य सिद्ध करता है जो गद्यकार निबन्ध-रचना के द्वारा। पर्यायबन्ध के प्रसंग में पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि इन रचनाओं को आचार्य शुक्ल ने पद्यात्मक-निबन्ध कहा है, और यह भी स्पष्ट किया है कि इस विधा का प्रचलन आधुनिक काल मे पूर्व नहीं मिलता। छोटे-छोटे प्रबन्धों में वस्तुवर्णन की परिपाटी तो पूर्ववर्ती कविता में भी प्रचलित रही, परन्तु अनेक प्रकार के सामान्य विषयों पर कुछ दूर तक चलती हुई विचारों और भावों की मिश्रित धारा के रूप में छोटे-छोटे प्रबन्धों या निबन्धों की चाल न थी।

इस सम्बन्ध में एक बात स्पष्ट है—इन निबन्धों में न घटना की प्रधानता होती है और न वस्तुवर्णन की। इनसे भिन्न किसी विषय को लेकर उससे सम्बद्ध अपने भावों और विचारों

---

१. देहरादून—श्रीधर पाठक, पृ० २५

की अभिव्यक्ति कुछ दूर तक कवि करता जाता है, अतः इन विचारों या भावों में विषय-सम्बन्धी एकसूत्रता निश्चय ही वर्तमान होनी चाहिए। वस्तु और घटना से भिन्न भाव या विचार की प्रधानता, इस विधा में दृष्टिकोण-सम्बन्धी एक अन्य विशेषता का निर्धारण करती है, वह है उनका आत्मीय दृष्टिकोण। भाव या विचार का सम्बन्ध व्यक्ति के आत्म से होता है, अतः साहित्य में जब इनकी प्रधानता होती है तो विषयीप्रधान साहित्य लिखा जाता है, और विषयी-प्रधान विधाओं में व्यक्तित्व की छाप अनिवार्य रूप से वर्तमान रहती है। विषय और दृष्टिकोण के भेद से इन निबन्धों के रूप भिन्न हो जाते हैं। जहाँ भाव की प्रधानता होगी वहाँ निबन्ध का स्वरूप भावात्मक कहा जायगा और जहाँ विचार की प्रधानता होगी वहाँ विचारात्मक। भावों की अभिव्यंजना प्रायः सहज उद्रेक के रूप में होती है और विचारों की प्रधानता की स्थिति में उपदेश या प्रतिपादन का स्वर प्रमुख हो जाया करता है।

पर्यायबन्ध और पद्यात्मक निबन्ध में अन्तर यही है कि एक में विषय-विशेष का वर्णन अतः वस्तु-तत्त्व प्रधान होता है और दूसरे में भाव या विचारों की निबद्ध अभिव्यक्ति अतः आत्म-तत्त्व की प्रधानता होती है। बाह्याकार की दृष्टि से दोनों ही संक्षिप्त प्रबन्ध रचनाएँ होती हैं। पर्यायबन्ध में एकसूत्रता वर्ण्य विषय को लेकर होती है, और निबन्ध में विचार या भाव की दृढ़ान्विति प्रधान होती है।

इन निबन्धों की रचना का आरम्भ भारतेन्दु-युग से ही हो जाता है। जैसा आचार्य शुक्ल ने उल्लेख किया है, पं० प्रतापनारायण मिश्र आदि ने अनेक छोटे-छोटे विषयों पर इस युग में निबन्ध-रचना की। निबन्धों की यही परम्परा आगामी कविता में भी परिपालित हुई, परन्तु विशेष लोकप्रिय न हो सकी। परन्तु एक अन्तर, जो भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग के गद्य-निबन्धों में मिलता है, वही इन पद्य-निबन्धों में भी स्पष्ट है। भारतेन्दुयुगीन पद्य-निबन्धों में जो ज़िन्दादिली, शैली में आत्मीयता और भावनाओं का सहज प्रवाह उपलब्ध है, वह इस युग की निबन्ध रचनाओं में नहीं है। साहित्य की अन्य सभी विधाओं के समान, इस युग के पद्य-निबन्धों में भी उद्देश्य प्रधान हो गया है। पहले का कवि इस प्रकार की रचनाओं में हृदय की बात करता था और द्विवेदी युग का कवि विवेक और उपदेश की। जहाँ कुछ दूर तक भाव-प्रधान शैली में रचना की भी गई है, वहाँ भी अंशतः उपदेश का मिश्रण हो गया है।

पद्य में निबन्ध-रचना स्वयं द्विवेदीजी ने भी की। उनके निबन्धों में भाव और विचारों का मिश्रण रहा करता था। वे प्रायः विचार की व्यंजना भावात्मक शैली में किया करते थे—ठीक उसी प्रकार जैसे गद्य में। 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' लिखकर वे इस विषय के प्रति अपने भावोद्गारों की अभिव्यक्ति करते हुए कवियों के लिए इस विषय में कर्तव्य-व्यंजना कर देते हैं। यही विशेषता उनके पद्य-निबन्धों में वर्तमान है। 'विधि-विडम्बना', 'हे कविते' आदि निबन्धों की रचना उन्होंने इसी शैली में की है। विधाता के सृष्टि-कार्यों में दोषान्वेषण करता हुआ कवि कहता है—

विश्व बनाने वाला तुझको सब कोई बतलाते हैं,
विहग बनाने में भी तेरी भूल किन्तु हम पाते हैं।

यदि तेरे कर में कुछ होता कला कुशलता लेश,
काक और पिक एक रंग के क्यों होते लोकेश ?[1]

'हे कविते' निबन्ध में उनकी अभिव्यक्ति और भी भावोच्छ्वासपूर्ण हो गई है। कवि इन सार्वजनिक विषयों के सम्बन्ध में व्यक्तिगत अनुभूति के रूप में अपनी भावनाओं की अभिव्यंजना करता है—

सुरम्यरूपे ! रसराशिरंजिते !
विचित्रवर्णाभरणे कहाँ गई ?
अलौकिकानन्दविधायिनी महा-
कवीन्द्र-कान्ते ! कविते ! अहो कहाँ ?[2]

द्विवेदीजी के सभी निबन्ध इसी शैली में नहीं लिखे गए। कहीं-कहीं उनका स्वर गम्भीर और विचारात्मक हो गया है। 'सन्देश' नामक निबन्ध में जैसा नाम से स्पष्ट है कवि ने भाषा के प्रश्न पर विचार किया है, और उसके उद्धार की लालसा प्रकट की है।

कुछ निबन्ध कवि 'शंकर' ने भी लिखे, परन्तु उनका स्वरूप द्विवेदीजी के निबन्धों से बहुत भिन्न है। 'अविद्यानन्द का व्याख्यान' में कवि ने आधुनिक अधःपतन को लक्ष्य करके समसामयिक अवस्था पर उपदेशात्मक व्यंग्य के रूप में निबन्ध-रचना की। 'परोपकारी' पत्रिका का गुणानुवाद करने के लिए भी उन्होंने एक निबन्ध की रचना की, परन्तु इसका स्वरूप न विचारात्मक है न भावात्मक, इसकी रचना परिचयात्मक शैली में हुई है।

शैली की दृष्टि से इन रचनाओं का योगदान काव्य के क्षेत्र में विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं। मैथिलीशरण गुप्त ने काव्य-रचना के आरम्भ-काल में अनेक छोटे-छोटे पद्य-निबन्धों की रचना की। बाद में ये निबन्ध 'पद्य-प्रबन्ध', 'मंगल-घट' और 'स्वदेशी-संगीत' में संकलित किये गए। ये निबन्ध भी स्वतन्त्र साहित्यिक रचनाओं की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं, कवि के काव्य-पथ के आरम्भिक चरण होने के कारण केवल ऐतिहासिक दृष्टि से इनका महत्त्व है।

इन निबन्धों के विषय सामाजिक भी हैं, सांस्कृतिक भी, और देशभक्ति की भावना से प्रेरित होकर भी इनकी रचना की गयी है। सामाजिक निबन्धों में उन्होंने समाज-सुधार की भावना से प्रेरित होकर प्राचीन सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति की पृष्ठभूमि पर सामयिक अधोगति के चित्र खींचे हैं। कुछ निबन्धों में कवि ने सामाजिक पर्व और धार्मिक त्योहारों के सांस्कृतिक पक्ष के उद्घाटन का प्रयास किया है। इस प्रकार के कतिपय निबन्ध 'पद्य-प्रबन्ध' में संकलित हैं। इन निबन्धों में कवि का सामाजिक रीति-नीति की रक्षा और सुधार के प्रति विशेष आग्रह व्यक्त हुआ है। कुछ निबन्ध कवि ने देश-भक्ति की भावना से प्रेरित होकर भी लिखे हैं, जिनमें अतीतकालीन भारत को श्रद्धा-भक्ति का आलम्बन बनाया गया है। 'मंगलघट' में संगृहीत निबन्ध, 'दो दृश्य' शैली की दृष्टि से विशिष्ट और प्रभावोत्पादक है। कवि ने अतीत और वर्तमान का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। कुछ निबन्ध भाषा और साहित्य से सम्बद्ध विषयों पर भी गुप्तजी ने लिखे। इनमें कवि का हिन्दी-प्रेम और साहित्य से सम्बन्धित

---

१. द्विवेदी काव्यमाला—सं० देवीदत्त शुक्ल, पृ० २९०
२. वही, पृ० २९१

धारणाएँ व्यक्त हुई हैं। ये निबन्ध उपदेशात्मक स्वरों में लिखे गए हैं और भाषा एवं साहित्य की आवश्यकताओं व कवि की तत्सम्बन्धी चेतना को प्रतिबिम्बित करते हैं। इन रचनाओं में विचारों का क्रमिक निबन्धन है। कवि वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन करता है आवश्यकताओं की ओर संकेत करता है, और सुधारों की अपील करता है। परन्तु स्वभावतः, कुछ आरम्भिक काल की रचनाएँ होने के कारण और कुछ उद्देश्य की स्थूलता के कारण, इनमें काव्यत्व अपेक्षाकृत कम है।

ये छोटे-छोटे निबन्ध कवि के आरम्भिक प्रयास हैं। इनमें कवि की उपदेश-वृत्ति, नैतिक भावना, युग-चेतना और काव्यकला का अत्यन्त सामान्य स्तर मिलता है। इनमें विषय-प्रतिपादन और नीति-कथन की प्रधानता है, अतः काव्य-कला का उत्कर्ष इनमें प्राप्त नहीं होता। कहीं-कहीं रुक्षता भी आ गई है। परवर्ती कृतियों में गुप्तजी ने इस शैली का परित्याग कर दिया।

बाद में गुप्तजी ने कुछ बृहद् निबन्ध-काव्य लिखे। 'भारत भारती', 'हिन्दू' और 'राजा-प्रजा' उनकी काव्य-रचना के तीन युगों की तीन कृतियाँ हैं। 'भारत भारती' उनकी वह पहली कृति है जिसने कवि की ओर हिन्दी-संसार का ध्यान आकर्षित किया। इस रचना में कवि की पुनरुत्थानवादी भाव-धारा व अविकसित राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति हुई है। 'हिन्दू' में दृष्टिकोण अपेक्षाकृत संकुचित है। उसमें जातीय-जीवन की भावना है, जिसमें सामाजिक शान्ति-व्यवस्था के लिए कवि ने नैतिक उपदेश दिए हैं। तीसरी कृति में कवि की दृष्टि और भी व्यापक हो गई है। लोकतन्त्र में उसकी निष्ठा, सर्वोदय और अन्तर्राष्ट्रीय सह-अस्तित्व की भावना प्रकट हुई है। कवि ने 'राजा और प्रजा' में दोनों की वक्तृताएं लिखी हैं जिनमें दोनों का विवाद और संघर्ष नहीं, सीमा और शक्तियों का परिचय दिया गया है। एक शक्ति का विलीनीकरण और दूसरी की प्रगति की व्यंजना है। इनके माध्यम से गुप्तजी ने राष्ट्रीय लोकतन्त्र की मानवतावादी नीति को प्रकट किया है। 'भारत भारती' में उद्बोधनात्मक चेतना है और 'हिन्दू' में उपदेश की प्रधानता है, 'राजा-प्रजा' में उद्देश्य विनम्र आदेश के रूप में व्यंग्य है।

उपर्युक्त तीनों निबन्धों में रचना-काल की परिस्थितियों और युग-चेतना के अन्तर से अन्तर आ गया है। 'भारत भारती' में दासता के बन्धनों में पड़ी जाति के उद्बोधन का प्रयास होने के कारण उत्तेजना व्याप्त है। भारत भारती पर 'मुसद्दसे हाला' का प्रभाव पड़ा। उसी प्रकार उन्होंने नव-जागरण की भाव-भूमि का उद्घाटन करने का प्रयत्न किया है। ये उद्बोध-निबन्ध-काव्य उसी ढंग पर जातीय और राष्ट्रीय नवोत्थान का प्रयत्न है। इस कृति में उन्होंने अतीत के गौरव और वर्तमान अवनति एवं सांस्कृतिक ह्रास का चित्रण किया है। कवि अतीत का स्मरण दिलाता है, निरुद्यमता के कारण उत्पन्न वर्तमान परिस्थिति का पर्यालोचन करता है, और भविष्य के लिए उपाय का निर्देश करता है। इस ज्वलंत राष्ट्रीय समस्या का भावनामय चित्रण इस निबन्धात्मक रचना में किया गया है। अतीत का आदर्श, वर्तमान की समस्या और भविष्य का समाधान इसका विषय है। कवि संक्षेप में अतीत की प्रदक्षिणा कर गया है और ऐसे स्थलों पर वर्णनात्मकता आ गई है। इस प्रकार इस कृति में सामयिक समस्या को स्थान मिलने के कारण शाश्वत मूल्यों का विन्यास न हो सका। कवि ने जातीय उद्बोधन, सांस्कृतिक पुनः-जागरण और राष्ट्रीय अभ्युत्थान का प्रयत्न किया है, अतः समस्त रचना में उत्साह, हृदय का

आवेग और गम्भीर उद्देश्य व्याप्त है, परन्तु साथ ही वर्तमान के प्रति दैन्य, ग्लानि, क्षोभ और अतीत के प्रति गौरवानुभूति और प्रशस्ति के भाव मिले-जुले हैं।

काव्यत्व की दृष्टि से इस रचना का विशेष महत्त्व नहीं। इस कृति का निबन्धन, रचना-शिल्प भी नए ढंग का है। कवि ने इसे तीन खण्डों में बांटा है, और ७०० पद्यों में इसकी रचना कुछ इस रूप में की है कि इसका यथेष्ट पाठ सम्भव हो सके, परन्तु इसे मुक्तक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसके विभिन्न छन्दों में वैचारिक सम्बन्ध वर्तमान है। इस रचना का विचार-क्रम भी निबन्धात्मक है, परन्तु निश्चय ही निबन्ध की दृष्टि से इसका कलेवर विशेष विस्तृत है। अतः निबन्ध के व्यापक अर्थ में इस कविता को उद्‌बोध निबन्ध या प्रबन्ध कह दिया जा सकता है।

'हिन्दू' 'भारत भारती' के उपरान्त की रचना है, परन्तु संकीर्ण जातीय चेतना के कारण इस रचना को विशेष ख्याति न मिल सकी। जिस समय इस कृति की रचना हुई वह समय राष्ट्रीय उत्थान का था, जातीय जागरण का नहीं, अतः धार्मिक एकता और सांस्कृतिक समन्वय के प्रयत्नों के बीच साम्प्रदायिक विद्वेष से संतप्त कवि की, समय से पूर्व की पिछड़ी मनोवृत्ति का प्रतीक स्वागत न पा सका। कवि यहाँ भी 'भारत भारती' की भाँति जातीय जीवन की वर्तमान अवनति और हीन दशा से क्षुब्ध है, अतः उसको उन्नति का सन्देश सुनाता है, नीति-कथन करता है और उपदेश देता है। प्राचीन भारतीय-आदर्शों में उसकी अगाध निष्ठा और आत्म-गौरव की भावना व्यक्त हुई है। वह अनेक वर्तमान समस्याओं व प्रश्नों को सुधारवादी दृष्टि से देखता है और जातीय रक्षा, संगठन, एकता और अभ्युन्नति की कामना करता है।

शिल्प की दृष्टि से इसमें 'भारत-भारती' से अन्तर है। आकार इसका भी बृहद् है और कवि ने अनेक उपशीर्षकों में इसका विभाजन किया है। परन्तु यह एक ही विषय पर अनेक रचनाओं का संग्रह नहीं है, निबद्ध रचना है। सभी उपशीर्षकों में मूलवर्ती मनःस्थिति एक ही है। उपदेशों की अत्यधिक नियोजना से काव्यत्व को क्षति पहुँची है। इतिवृत्तात्मक विषय-निरूपण के कारण इसमें रुक्षता आ गई है। वस्तुतः यह रचना कलात्मक काव्य-निबन्ध नहीं सोद्देश्य काव्य-निबन्ध है।

'राजा-प्रजा' कवि के प्रौढ़ि काल की कृति है, स्वाभाविक था—उसकी विचारधारा और शैली दोनों में ही पूर्ववर्ती निबन्ध-काव्यों की अपेक्षा निखार है। ये दो शीर्षकों में संवाद-शैली में लिखे दो व्याख्यान हैं। इनमें परस्पर विवाद, खंडन-मंडन या संघर्ष नहीं, केवल लोक-तन्त्र की स्थापना के प्रति सामंत-वर्ग और जन-साधारण के दृष्टिकोण का प्रत्यक्षीकरण है। राष्ट्रीयता का आदर्श इस निबन्ध में विश्व-मैत्री की भावना तक व्यापक हो गया है, और मानवतावादी जीवन-दर्शन व सर्वोदय के सिद्धान्तों को मान्यता दी गई है। इस कृति में अधिक गम्भीर विचारात्मकता प्राप्त होती है, जिसमें राष्ट्रीय समस्याओं का विश्लेषण तथा उनके समाधान का विवरण दिया गया है। सामयिक आदर्शों को ही इस कृति में भी स्थान मिला है, दृष्टिकोण में परिवर्तन कवि की कालानुसरण क्षमता का परिचायक है। पूर्ववर्ती निबन्ध-रचनाओं की अपेक्षा कला की दृष्टि से इसमें विकास दृष्टिगत होता है। उपदेश और आदर्श इस कृति में वाच्य नहीं, कवि ने अपने विचारों के लिए राजा और प्रजा प्रतीक-माध्यम चुन लिये

हैं, परिणामतः कवि का उपदेशक प्रच्छन्न रहकर भी इनके माध्यम से अपने मन्तव्य की अभिव्यक्ति कर देता है। 'भारत भारती' और 'हिन्दू' से भिन्न इस निबन्ध की शैली नाटकीय शिल्प की शैली है, वर्णनात्मक नही। इस प्रकार की विधा में यह प्रयोग प्रभावात्मक और नवीन है। प्रवाह की रक्षा के लिए तीनों निबन्धों में गुप्तजी ने एक छन्द में रचना की पद्धति को अपनाया है।

इस विधा का प्रचार गीति शैली के प्रचार और प्रसार के उपरान्त बहुत नहीं हुआ। भाव और विचार दोनों के लिए कवि लघु गीतियो व कविताओं का अवलम्बन लेते रहे। इस प्रकार बृहद् विचारात्मक पद्य-निबन्ध विशेष नहीं लिखे गए।

चतुर्थ अध्याय

काव्य-रूपक

प्राचीन तथा शास्त्र-विहित काव्य-विधाओं के अतिरिक्त आधुनिक काल में कतिपय ऐसी विधाओं का प्रयोग भी हुआ, जिनका इतिहास इस युग से पीछे नहीं जाता। इनमें से कुछ सर्वथा नवीन हैं तथा अन्य का निर्माण पूर्व-प्रचलित एकाधिक विधाओं के संयोग से किया गया है। काव्य-रूपक इसी प्रकार की मिश्र विधा है। इन रचनाओं के लिए व्यवहार में गीति-नाटच शब्द का पर्याप्त प्रचलन हो चुका है, परन्तु इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाली सभी रचनाओं में—जिनका माध्यम पद्य और विधि नाटकीय है, गीति और नाटच तत्त्व समान रूप से नहीं मिलता। जैसा आगामी विवेचन में स्पष्ट किया जायगा, उपर्युक्त तत्त्वों में से कहीं एक तथा कहीं दोनों की परिक्षीणता लभ्य है। इसके अतिरिक्त इन रचनाओं की शैली में परस्पर इतना भेद है, कि सब को गीति-नाट्य शब्द का अत्यधिक अर्थ-विस्तार किये बिना एक ही वर्ग में नहीं बाँधा जा सकता। इसलिए अर्थ-व्यापकता की दृष्टि से हम इन रचनाओं के लिए काव्य-रूपक शब्द का प्रयोग कर रहे हैं (कुछ कवियों ने स्वयं भी ऐसा ही किया है)। काव्य शब्द यहाँ पद्य माध्यम का वाचक है, और रूपक शब्द नाटच तत्त्व का। इस प्रकार पद्य माध्यम और नाटच शैली इन कृतियों की सामान्य रचनागत विशेषता है। इसके अतिरिक्त इन तत्त्वों के प्रयोग में अनुपात-भेद व परस्पर साम्य व वैषम्य के आधार पर इनका पुनः उपभेदों में विभाजन कर विवेचन किया गया है।

इस प्रकार के मिश्र काव्य-रूपों में सर्वाधिक महत्त्व (परिमाण और प्रवृत्ति दोनों दृष्टियों से) गीति नाटचों का है। गीति नाटच के अतिरिक्त नाटक के तत्त्वों की स्वीकृति जिन काव्य-रूपों में हुई उनमें दो प्रकार की रचनाएँ और उपलब्ध हैं। एक वर्ग गीति नाट्यों से भिन्न उन पद्यबद्ध नाटकों का है जिनका माध्यम पद्य और विधि नाटकीय है, अर्थात् जिनमें कवि का दृष्टि-कोण लगभग उसी प्रकार का है जैसा दृश्य-काव्य के लिए अपेक्षित है। इनकी प्रबन्धान्विति, कार्य-व्यापार, घटनाओं का स्वरूप सभी कुछ गद्य नाटकों का समकक्षी है। इनमें जो कुछ अन्तर और भिन्नता है वह माध्यम के कारण है। इन काव्य-रूपकों में भी दो प्रकार की कृतियाँ हैं—

(१) वे रूपक जिनकी रचना रंगमंच या पढ़ने की दृष्टि से की गई।

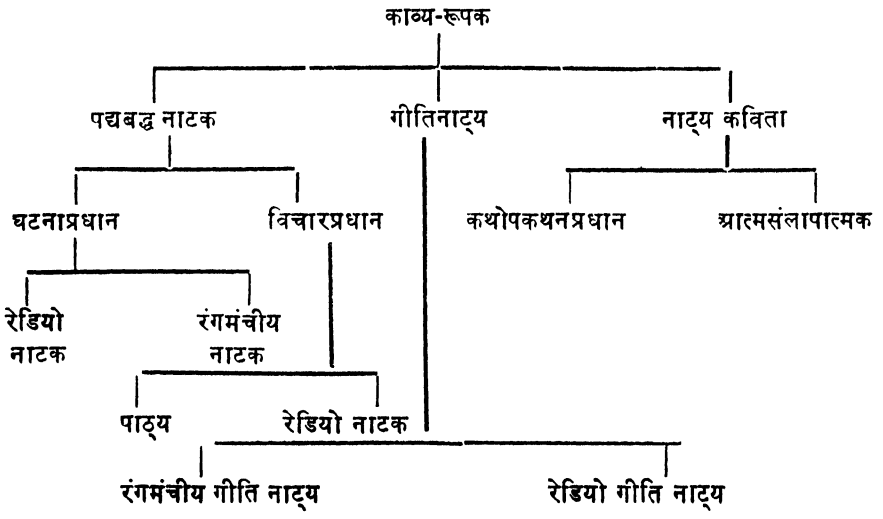
(२) वे कृतियाँ जिनको रेडियो के प्रसारित करने के उद्देश्य से लिखा गया।

उपर्युक्त दृष्टि-भेद से इनकी विधा या टेकनीक में जो अन्तर आ गया है उसका विवेचन यथाप्रसंग किया जायगा।

पद्यबद्ध नाटकों में एक अन्य वर्ग उन रचनाओं का है जिनमें न घटना प्रधान है, न भाव।

इन रचनाओं में किसी समस्या या विचार को विषय बनाया गया है, अत. इनमें गीति नाट्य की भावात्मकता और घटनात्मक काव्य-रूपकों की वस्तुरूप सक्रियता से भिन्न, अमूर्त विचार की बोझिल विश्लेषणात्मकता मिलती है। इन काव्यों का प्रेष्य न घटनाएँ होती हैं न भावानुभूति, प्रायः काल्पनिक या प्रतीकात्मक पात्रों के माध्यम से कवि का विचार या समस्या, और उसका विश्लेषण तथा चिन्तन-मनन नाट्य शैली में व्यक्त होता है। स्वभावतः अमूर्त विषय और बौद्धिकता के कारण इन काव्यों में अभिनेयता गीति नाट्य व घटनाप्रधान नाटकों की भाँति नहीं होती। इस प्रकार के काव्य भी दो रूपों में लिखे गए—(१) रेडियो नाटक (२) पाठ्य नाटक। इन बौद्धिक नाटकों में घटनाप्रधान नाटकों से अन्तर यही है कि इनका कथानक अमूर्त व चिन्तन-प्रधान होने के कारण इनमें घटनाप्रधान पद्य-नाटकों की भाँति अभिनेयता नहीं होती। कम से कम तुलनात्मक दृष्टि से यह गुण इनमें बहुत कम होता है। इनका आस्वादन पाठ्य रूप में ही होता है।

उपर्युक्त नाटकों के साथ एक वर्ग आधुनिक साहित्य में उन लम्बी कविताओं का है जो नाट्य शैली में लिखी गई। इन कविताओं में नाट्य तत्त्व अर्थात् प्रदर्शनीयता होती तो है परन्तु गौण रूप में। ये कविताएँ इस प्रकार पाठ्य ही हैं, अभिनेय नहीं। गीति नाट्य तथा पद्यबद्ध नाटक से नाट्य कविता मे अन्तर यही है कि उनमे नाट्य तत्त्व मुख्य होता है और नाट्य कविता में गौण। ये कविताएँ शैली-भेद से दो रूपों में मिलती हैं। दो या अधिक पात्रों में कुछ दूर तक होने वाले संवाद के रूप में, अथवा एक पात्र के आत्मसंलाप के रूप में। यह संलाप प्रायः उत्तम पुरुष में आत्मपरिचयात्मक शैली में होता है। विषय की भिन्नता के अनुसार घटना, भाव या विचार की प्रधानता की स्थिति में क्रमशः यह पात्र आपबीती सुनाता है, आत्माभिव्यक्ति या आत्मविश्लेषण करता है। नाट्य तत्त्व इन कविताओं में यही है कि कवि इनमें समाख्यान नहीं करता, वरन् इनकी रचना संवादों या लम्बे आत्मसंलापों के रूप में की जाती है। इस प्रकार काव्य-रूप की दृष्टि से काव्य-रूपकों के निम्नलिखित प्रकार उपलब्ध है—



आंग्ल साहित्य में काव्य-रूपक

अँगरेज़ी साहित्य में उपलब्ध काव्य-रूपकों का इतिहास भी बहुत प्राचीन नहीं। महाकाव्य, प्रगीत आदि की भाँति काव्य-रूपकों की गणना प्राचीन काव्य-विधाओं में नहीं की जाती। हिन्दी साहित्य की ही भांति अँगरेज़ी के गीति नाट्यों के उद्भव और विकास की गाथा आधुनिक काव्य तक ही सीमित है। दो प्रचलित काव्य-रूपों या शैलियों के मेल से निर्मित नवीन मिश्र काव्य-रूपों का इतिहास पाश्चात्य साहित्य में बहुत प्राचीन नहीं, ऐसा मत अनेक विद्वानों ने इन विधाओं के विषय में व्यक्त किया है।[1] संस्कृत तथा प्राचीन एवं मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य की ही भांति प्राचीन ग्रीक व अँगरेज़ी नाटकों की रचना में पद्य का प्रचुर प्रयोग किया जाता था; परन्तु १९वीं शताब्दी के उपरान्त जिन नाट्य कविताओं, गीति नाट्यों तथा पद्यबद्ध नाटकों की रचना अँगरेज़ी साहित्य में हुई उनमें काव्य-तत्त्व नाट्य-तत्त्व की अपेक्षा अधिक या समान मात्रा में विद्यमान है। पद्य-शैली इन कविताओं का केवल माध्यम नहीं, उनका प्राण है। कहीं-कहीं काव्य-गुण नाट्य-गुण की अपेक्षा इनमें इतना अधिक हो गया है कि कार्य-व्यापार की सघनता, कुतूहल, एवं दृश्यात्मकता का उसी अनुपात में ह्रास हुआ है। आधुनिक युग के कवियों की कविता में नाट्य-गुण के इस अभाव की ओर विद्वानों ने बारम्बार संकेत किया है।[2] नाट्य कविता में रंगमंच पर अभिनेयता का गुण होना चाहिए और ऐसा तभी सम्भव है जब इस काव्य में वक्तृता का गुण विद्यमान हो। टेनीसन, ब्राउनिंग, आर्नल्ड, स्वीनबर्न आदि सभी कवियों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया, ऐसा उनके काव्य से स्पष्ट है। अँगरेज़ी साहित्य के आलोचक विद्वानों ने इस काव्य-विधा के स्थायित्व और सफलता का कारण भी प्रगीत तत्त्व का प्राचुर्य और नाट्य तत्त्व की न्यूनता को स्वीकार किया है। ब्रैडले के अनुसार आधुनिक युग के गीति नाट्य साहित्य के महत्त्व और स्थायित्व का कारण उनकी प्रगीतात्मकता ही है नाट्य गुण नहीं।[3]

---

1. It might even be said that modern literature takes a pleasure in mixing the kinds. We have 'dramatic lyrics' like Brownings' and 'lyrical-dramas' like the 'Promethus Unbound' of Shelley.
   The Classical back ground of English-literature—J. A. K. Thomson, Page 33.
2. For dramatic poetry is meant to be spoken, and unless it has the qualities of spoken poetry it will not make itself felt on the stage. Neither Tennyson nor Browning, neither Arnold or Swinburne seems to have appreciated this. At least their dramatic verse does not get across the foot-lights. Ibid, Page 241.
3. Byron's regular dramas, for instance, if they ever lived, are almost forgotten; but 'Heaven and Earth' which is still alive, is largely composed of lyrics, and the first two acts of 'Manfred' are full of them, 'Promethus Unbound' is called a 'lyrical-drama.' Though it has some very fine and some very beautiful blank-verse passages (usually-undramatic) its lyrics are its glory...It would be untrue to say that the comparative failure of most of the dramas of the time is principally due to the lyrical

इस प्रकार यद्यपि काव्य-रूपकों तथा गीति-नाट्यों में कवि-वर्ग काव्य-तत्त्व को प्रामुख्य देता रहा, परन्तु आलोचक विद्वान बारम्बार कविता और नाटक के संतुलित प्रयोग पर बल देते रहे। उनके मतानुसार इस विधा में पद्य माध्यम का प्रयोग इस प्रकार होना चाहिए कि वह नाट्य का अनिवार्य अंग प्रतीत हो, अतिरिक्त अथवा स्वतन्त्र तत्त्व नहीं। यदि काव्य-रूपक में कविता और रूपक पृथक् और स्वतन्त्र रूप में प्रमाता का आस्वाद्य बन गए तो यह इस विधा की असफलता होगी। टी० एस० इलियट के मतानुसार यदि कविता नाटक की अलंकृति व शोभा-विधायिनी है, यदि वह सहृदय पाठक को केवल नाटक के प्रेक्षण के साथ काव्य-श्रवण के आनन्द की अनुभूति कराती है तो उसकी स्थिति व्यर्थ है। उसका प्रयोग नाटकोचित रूप में होना चाहिए, केवल नाट्य रूप में ढली ललित कविता के रूप में नहीं। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी ऐसे नाटक की रचना पद्य में नहीं होनी चाहिए जिसके लिए गद्य, नाट्योचित और पर्याप्त माध्यम हो सकता हो। पुनः हम यह निष्कर्ष ग्रहण करते हैं कि नाटक के कार्यव्यापार में बँधी प्रमाता की मनोवृत्ति, विभिन्न पात्रों के बीच उद्भूत स्थितियों से उद्वेलित उसकी भावनाएँ, नाटक में कुछ इस प्रकार एकाग्र व लीन रहनी चाहिएँ कि वह उसके माध्यम से अभिज्ञ व उसके प्रति सचेत भी न रह सके।[1]

इस प्रकार पद्य में रचित रूपकों में प्रमाता को अभिभूत करने के लिए नाट्य गुण का प्राधान्य होना चाहिए। इलियट ने तो सच्चे अर्थों में कविता का प्रयोग केवल ऐसी सघन नाटकीय स्थिति में अनिवार्य माना है, जहाँ कविता में भाव-प्रकाशन सहज और स्वाभाविक हो, क्योंकि उनके मतानुसार ऐसी स्थिति में कविता ही भावनाओं की अभिव्यंजक एकमात्र भाषा होती है।[2] इस प्रकार काव्य-रूपक में कविता का महत्त्व भी उन्होंने स्वीकार किया है। उन्होंने

---

spirit, but many of them show it.

Oxford Lectures on poetry—Bradley, Edition 1955. Page 183.

1. For I start with the assumption that if poetry is merely a decoration, an added embellishment, if it merely gives people of literary tastes the pleasure of listening to poetry at the same time that they are witnessing a play then it is superfluous. It must justify itself dramatically and not merely be fine poetry shaped into a dramatic form. From this it follows that no play should be written in verse for which prose is dramatically adequate. And from this it follows again that the audience, its attention held by the dramatic action, its emotion held by the situation between the characters should be too intent upon the play to be wholly conscious of the medium.

Poetry & Drama—T. S. Eliot, Page 12

2. It will only be 'poetry' when the dramatic situation has reached such a point of intensity that poetry becomes the natural utterance, because then it is the only language in which the emotions can be expressed at all.

Ibid—Page 15.

पद्य की उपादेयता नाटकीय प्रभाव को तीव्रतर बनाने के कारण मानी है। पद्य का महत्त्व अनजाने ही हमें प्रभावित करने में है। इस प्रकार उसका प्रभाव केवल काव्येच्छुक प्रमाता-वर्ग ही नहीं, वे प्रेक्षक भी ग्रहण करते हैं जो केवल नाटक-प्रेक्षण के लिए आते हैं।[1] पद्य-माध्यम अतः इन रूपकों का केवल शोभा-विधायक आलंकारिक तत्त्व नहीं, सहज और अनिवार्य अंग होता है।

उपर्युक्त मान्यता के कारण इलियट ने सिद्धान्त-रूप में ऐसी कविता का प्रयोग बचाया जो नाटकीय उपयोगिता की कसौटी पर पूरी न उतरती हो। वे नाटकों में ऐसे कार्यव्यापार को महत्त्व देते रहे जिसमें प्रेक्षक की जिज्ञासा-वृत्ति को निरन्तर उद्‌बुद्ध रखने की सामर्थ्य हो। इस प्रकार नाट्य विधाओं में सामान्यतः अंकित घटनात्मक सक्रियता की रक्षा पर उन्होंने विशेष बल दिया और काव्य-माध्यम का प्रयोग साधक रूप में ही स्वीकार किया।[2] इस विषय में उनके मन में शंका वर्तमान थी कि इस प्रकार के प्रयोग में सफल होने पर इन नाट्यो में काव्य-गुण की स्थिति ही शंकास्पद हो सकती है, परन्तु फिर भी नाट्य-तत्त्व की प्रमुखता का वे पुनः-पुनः समर्थन करते रहे।

अतएव पाश्चात्य विद्वानो ने इस काव्य-विधा में नाट्य रूप को साध्य और पद्य-माध्यम को साधन माना है, हिन्दी के गीति नाट्यों पर 'लिरिकल ड्रामा' का प्रभाव अन्य नाट्य रूपों की अपेक्षा अधिक रहा।

काव्य-नाटक या पद्यबद्ध-नाटक

(क) घटनाप्रधान नाटक

जैसा पद्य नाट्य शब्द से स्पष्ट है, वे सभी नाटक जिनका माध्यम गद्य न होकर पद्य हो

1. But I think that the examination of this...is enough to show us that verse is not merely a formalization, or an added decoration, but that it intensifies the drama. It should indicate also the importance of the effect of verse upon us. And lastly, I do not think that this effect is felt only by those members of an audience who 'like poetry' but also by those who go for play alone.

   Ibid, Page 19.

2. In the second place, I laid down for myself the ascetic rule to avoid poetry which could not stand the test of strict dramatic utility, with such success, indeed, that it is perhaps an open question whether there is poetry in the play at all. I tried to keep in mind that in a play, from time to time, something should happen; that the audience should be kept in constant expectation that something is going to happen; and that, when it does happen, it should be different, but not too different, from what the audience had been led to expect.

   Ibid, Page 32.

इस विधा के अन्तर्गत आएँगे। सामान्यतः हर प्रकार के पद्यबद्ध नाटक के लिए गीति नाट्य शब्द का प्रयोग समीक्षा-साहित्य में प्रचलित है। परन्तु पद्यबद्ध नाटक का व्यावर्तन हमने गीति नाट्य से इसलिए किया है कि इन दोनों विधाओं में दृष्टिकोण का अन्तर होता है। पद्यबद्ध नाटक के लिए भावमयता अनिवार्य नहीं और गीति नाट्य में गीति-तत्त्व की स्वीकृति भाव की प्रमुखता के कारण ही की जाती है। इस प्रकार एक के लिए कार्य का महत्त्व अधिक है व दूसरे के लिए भाव का। पद्यबद्ध नाटक में बाह्य संघर्ष की योजना की जाती है और गीति-नाट्य में आन्तरिक संघर्ष की। घटनाप्रधान नाटकों में प्रस्तुत संघर्ष का रूप वस्तुगत और घटनाक्षेत्र भौतिक जगत् होता है, तथा गीति व विचारप्रधान नाटकों में संघर्ष आत्मगत व घटनाक्षेत्र व्यक्ति का अन्तर्मन होता है। इन नाटकों के संवादों में भी कार्य की प्रधानता के कारण सजीवता एवं चुस्ती होती है। अमूर्त भाव या विचार की व्याख्या की इनमें अपेक्षा नहीं होती, अतः इनके संवाद गीति नाट्य की भाँति लम्बे नहीं होते। घटनाप्रधान नाटक में संघर्ष का विधान बाह्य जगत् में होता है, अतः विरोध दूसरे व्यक्ति या पक्ष की ओर से प्रस्तुत होने के कारण संघर्ष-योजना के लिए दो या अधिक पात्रों के बीच संवाद के द्वारा कार्य-व्यापार का विकास होता है। स्वगत का प्रयोग कवि कुछ विशिष्ट स्थलों पर पात्र-विशेष के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करने के लिए करता है। ऐसे स्थल विस्तार और संख्या दोनों दृष्टियों से बहुत नही होते। गीति-नाट्य या विचारप्रधान नाटकों में संघर्ष जहाँ विरोधी मनोवृत्तियो के प्रतीक पात्र खड़े कर अंकित किया जाता है, या भिन्न-भिन्न पात्र अलग-अलग भाव या विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं वहाँ तो कवि संवाद-योजना करता है, परन्तु एक ही पात्र के अन्तर्द्वन्द्व का प्रदर्शन करने की स्थिति में प्रायः कुछ दूर तक स्वगत का प्रयोग ही किया जाता है। स्वगतोक्तियों द्वारा कथाविकास, घटनाप्रधान नाटकों की अपेक्षा अन्य नाट्य रूपों में अधिक होता है। गीत-रचना इन काव्यों में कहीं-कहीं गद्य-नाटकों की ही भाँति की जाती है परन्तु गीति शैली इन नाटकों की प्रमुख शैली नहीं। इन नाटकों में नाटक के तत्त्व—घटनाओं में अन्विति, परिस्थितियों में सघनता, प्रसंगों का नाटकीय विधान, रोचकता आदि का उपयोग तो किया जाता है परन्तु गीति-तत्त्व का उपयोग नहीं होता। आकार की दृष्टि से इस वर्ग के अन्तर्गत एकांकी और अनेकांकी दोनों ढंग के नाटकों की रचना हुई है। हमारा अभिप्राय केवल कथा-विस्तार से है, अन्यथा इन नाटकों को अंकों में इनके रचयिताओं ने नहीं बाँटा। कुछ कृतियों में दृश्य-परिवर्तन है तथा ये शीर्षक घटनास्थल या प्रमुख पात्र के आधार पर दिये गए हैं। घटना-ऐक्य तो इन सभी रचनाओं में मिलता है, कुछ में स्थान और काल के ऐक्य की भी रक्षा की गई है, अन्य में नहीं। इनमें कुछ कृतियाँ पाठ्य या अभिनेय हैं, व अन्य की रचना रेडियो-नाटकों के रूप में हुई है। रेडियो-नाटकों की कला और शिल्प पर इस उद्देश्य का प्रभाव पड़ा है। इन नाटकों की रचना समय की परिधि को दृष्टि में रखते हुए की गई है—इसके अतिरिक्त रंगमंच सम्बन्धी प्रदर्शन की व्यावहारिक कठिनाइयों के अभाव में, कवि ने देश और काल दोनों दृष्टियों से प्रसंग-परिवर्तन में स्वच्छन्दता से काम लिया है। रेडियो-नाटक—यदि ध्यान से देखा जाय तो नाट्य शैली में प्रस्तुत श्रव्य-काव्य का कार ही हो जाता है। रंगमंच परँ अभिनेयता की दृष्टि से नाटककार को जिन व्यावहारिक कठिनाइयों के प्रति सावधान रहना पड़ता है, रेडियो-नाटक

के लेखक को नहीं। इसके अतिरिक्त पात्रों के अभिनय के विविध प्रकारों में से भी केवल वाचिक अभिनय का उपयोग ही इस कला में संभव है। पद्यबद्ध नाटकों की विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार है।

१. कथानक

(क) इन नाटकों का कथानक ऐतिहासिक, प्रख्यात अथवा काल्पनिक होता है।

(ख) कथानक में प्रस्तुत घटनाओं का वस्तुरूप ही प्रधान होता है।

२. शैली व शिल्प

(क) नाटक के तत्त्व—अन्विति, रोचकता, नाट्य संगठन, परिस्थितियों की सघनता, आदि का समावेश इनके कथानक में होता है।

(ख) कथा-विकास इन नाटकों में कार्य-व्यापार और संवादों के द्वारा होता है, स्वगत का प्रयोग इनमें अपेक्षाकृत बहुत कम किया जाता है।

(ग) इनके संवाद सजीव, चुस्त, प्रायः संक्षिप्त और रोचक होते हैं।

(घ) गीत का प्रयोग कहीं-कहीं प्रसंगानुकूल कर लिया जाता है, परन्तु इनकी शैली गीतिमय नहीं होती।

(ङ) आकार की दृष्टि से इनमें प्रायः संक्षिप्त रचनाएँ व एकाध बड़े नाटक मिलते हैं। एकांकी की भाँति छोटे नाटकों का विभाजन दृश्यों में होता है, और बड़े नाटकों को अनेक शीर्षकों में विभाजित किया गया है। रेडियो-नाटकों के विस्तार में समय के प्रतिबन्ध की रक्षा की गई है।

(च) संकलनत्रय की दृष्टि से घटना-ऐक्य की रक्षा तो सभी कवियों ने की है। शेष दो—स्थान व समय के ऐक्य का निर्वाह इन कवियों ने नहीं किया। विशेषकर रेडियो-नाटकों में रंगमंच-सम्बन्धी व्यावहारिक कठिनाई के अभाव में कवियों ने इस दिशा में सावधानी नहीं दिखाई।

(छ) रेडियो-नाटकों में ध्वनि-संकेत व कुछ अन्य नाटकों में रंग-संकेत भी मिलते है, परन्तु सब में नहीं।

समग्र रूप में—पद्यबद्ध नाटक रूपक का ही एक प्रकार है, जिसमें नाटकीयता व अन्य विशेषताएँ गद्य-नाटकों के समान होती है व जिसका माध्यम पद्य होता है। इस प्रकार के घटना-प्रधान पद्य-नाट्यों में प्रमुख कृतियाँ हैं—कवि प्रसाद का 'करुणालय', मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' व 'दिवोदास', हरिकृष्ण प्रेमी का 'स्वर्ण-विहान', तथा रेडियो-नाटकों में भगवतीचरण वर्मा के 'कर्ण' व 'द्रौपदी'।

कथानक

उपर्युक्त कृतियों में—उत्पाद्य व प्रख्यात दोनों प्रकार के कथानकों को विषय बनाया गया है। 'अनघ' और 'स्वर्णविहान' के कथानक कल्पित हैं। 'करुणालय' में वैदिक युग की कथा है तथा 'कर्ण' व 'द्रौपदी' में महाभारत की कथा के दो प्रमुख चरित्रों को कवि ने उभारा है। 'करुणालय' वैदिक युग की कर्म-भावना पर व्यंग है। 'अनघ' और 'स्वर्णविहीन' में कल्पित

कथानकों के द्वारा गांधी-नीति का पोषण किया गया है। 'अनघ' में युगधर्म के प्रतीक की सर्जना की गई है, और 'स्वर्णविहान' में कवि अहिंसा के द्वारा हिंसा को जीतने की बात करता है। वर्माजी ने अपने ध्वनि-रूपकों में प्राचीन चरित्रों का मनोविज्ञान के प्रकाश में आख्यान किया है। 'द्रौपदी' में उन्होंने द्रौपदी के अन्तर्दाह का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है और 'कर्ण' में नायक की उस अहम्मन्यता का अंकन जिस पर कवि स्वयं मुग्ध है। हमने इन नाटकों को घटनाप्रधान पद्य-नाट्यों में इसलिए स्थान दिया कि इनमें पात्रों का चरित्र-निरूपण भौतिक घटनाओं के पृष्ठाधार पर ही हुआ है। ये घटनाएँ गौण नहीं होतीं, इनका प्रतीकात्मक, अथवा भाव या विचारों के उद्दीपक रूप में भी उपयोग नहीं किया जाता। इन घटनाओं के बीच प्रधान भूमिका के निर्वाहक पात्रों का मनोविश्लेषण, मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया का अंकन व परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में चारित्रिक-विकास का प्रयत्न ही कवि करता है। परन्तु इस मनोविश्लेषण का स्वरूप न गीति नाट्यों की भाँति उद्गीतिमय है और न एकान्त बौद्धिक। इनमें केवल वस्तुरूप घटनाओं के मनःसूत्र तथा उनसे मन पर पड़ने वाले वे प्रभाव अंकित हैं, जिनसे विशेष पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ व्यंजित होती हैं। इनके चरित्र-विकास में भौतिक कार्यव्यापार या घटनाओं का महत्त्व अक्षुण्ण है। ये पात्र जितना सोचते हैं उतना ही कार्य-व्यापार का संचालन भी करते हैं—कम से कम कार्य-व्यापार इन कृतियों में गौण नहीं होता।

नाटकीय सघनता, कार्यान्विति, प्रभावात्मकता आदि गुणों की दृष्टि से 'करुणालय', 'अनघ' और 'स्वर्णविहान' तीनों कृतियों में नाट्य तत्त्व अत्यन्त क्षीण है। ये तीनों कृतियाँ कवियों की आरम्भकालीन रचनाएँ हैं, अतः इनकी कला में प्रौढ़ता का अभाव है।

'करुणालय' के कथानक में कवि ने अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए कुछ विचित्र ढंग से संघर्ष-योजना की है। संघर्ष के तर्कसम्मत विधान में उसकी कला असमर्थ है—इसका आभास अनेक स्थलों पर मिलता है। प्रसंग-परिवर्तन के लिए वह दैविक व संयोगजन्य घटनाओं का आश्रय लेता है। आरम्भ से अन्त तक कुछ बेतुके ढंग से घटनाएँ घटती हैं। सहचरों के साथ राजा हरिश्चन्द्र के नौकाविहार-प्रसंग से कथा का आरम्भ होता है। सहसा नौका स्तब्ध हो जाती है, और नेपथ्य गर्जन के साथ राजा को पुत्रबलि के पूर्वकृत वचन का स्मरण कराया जाता है। राजा कर्त्तव्य-पालन का निश्चय करता है—रोहित मृत्यु के लिए तैयार नहीं होता—उसे अपने अस्तित्व पर ममत्व है—वह देश-विदेश पर्यटन का संकल्प करता है। कवि फिर नेपथ्य से किसी शक्ति द्वारा उसका उत्साह बढ़ाता है। तीसरे दृश्य में क्षुधा-पीड़ित अजीर्गत और तारिणी से रोहित की भेंट होती है और अजीर्गत रोहित के प्रस्ताव पर अपने मध्यम पुत्र शुनःशेफ का विक्रय सौ गायों के बदले कर देता है। यहाँ तक कथा बिना किसी चमत्कार के बढ़ती है। रोहित शुनःशेफ के साथ दरबार में पहुँचता है और राजा के धिक्कारने पर बड़े असमर्थ तर्क से अपने व्यवहार का औचित्य-निरूपण करता है। पुत्र के न रहने पर पिता का 'पिण्ड तिलोदक' देने वाला अलभ्य हो जाता—यह तर्क अशक्त ही नहीं, पुत्र के मुख से अभद्र भी प्रतीत होता है। वशिष्ठ के आ जाने से पिता-पुत्र में बिना किसी उल्लेखनीय संघर्ष के यज्ञ का कार्यक्रम निश्चित हो जाता है। वशिष्ठ के पुत्र शक्ति के विफल होने पर अजीर्गत स्वयं ही सौ गायों के बदले पुत्र-वध करने के लिए प्रस्तुत होता है। यह घटना नाट्य की चरम, भयंकर व सशक्त घटना है।

यहाँ कार्य-व्यापार में सघनता और गति में तीव्रता आ जाती है, परन्तु यह स्थिति शीघ्र ही विश्वामित्र के आगमन से बदल जाती है। सुव्रता के द्वारा इस रहस्य के उद्‌घाटन से, कि शुनः-शेफ उसका और विश्वामित्र का पुत्र है अजीर्गत का नहीं, अजीर्गत के पक्ष से प्रस्तुत संघर्ष-बल नष्ट हो जाता है। रोहित के द्वारा पिता के प्रति कर्त्तव्य-भावना और जीवनेच्छा के बीच संघर्ष बहुत कुछ शुनःशेफ के क्रय की घटना से पहले ही क्षीण हो गया है। और कहीं कवि ने विशेष अंतरंग अथवा बाह्य संघर्ष का विधान ही नहीं किया था। नाटक का अन्त और भी निर्जीव है। शास्त्रीय दृष्टि से कार्यान्विति व प्रभाव-ऐक्य कार्य-व्यापार में ढूँढ़ा जा सकता है परन्तु परिस्थितियों की सघनता, उत्थान-पतन, नाटकीय परिणति आदि से यह कृति सर्वथा शून्य है।

स्पष्ट है कवि प्रसाद को बाह्य संघर्ष के विधान में विशेष सफलता नहीं मिली और आन्तरिक संघर्ष का विधान उन्होंने किया नहीं। हरिश्चन्द्र के मन में कर्त्तव्य और पुत्र-प्रेम के बीच तीव्र संघर्ष की योजना सम्भव थी, परन्तु अवसर मिलने पर भी ऐसा नहीं किया गया। वस्तुतः 'करुणालय' में घटनाओं का धरातल वस्तुगत ही है, केवल आरम्भिक प्रकृति-वर्णन में किंचित् भावुकता आ गई है। जो संघर्ष इस पद्य नाट्य में अंकित है उसका सम्बन्ध भी धार्मिक कुप्रथा के विरोध से है और यह धर्म व्यक्ति-धर्म नहीं समाज-धर्म है। आंशिक रूप से राजकीय व्यवस्था का भी अंकन हुआ है। इस प्रकार इस नाट्य के मूल्य वस्तुगत हैं।

कथोपकथन में विशेष सजीवता या चमत्कार सर्वत्र नहीं है। कहीं कथोपकथन लम्बे और निर्जीव हो गए हैं, और कहीं मार्मिक एवं सजीव हैं। आरम्भ के दृश्य में पहले प्रकार के संवाद हैं। इस प्रसंग में प्रकृति-सौन्दर्य की कोमल अभिव्यंजना और कवित्व तो है, संवादों में नाट्य गुण, सजीवता और चुस्ती नहीं। क्षुधा-पीड़ित अजीर्गत की उक्तियाँ मार्मिक हैं। तृतीय दृश्य संवाद-योजना की दृष्टि से विशेष सफल है। स्वगत के प्रयोग द्वारा कवि ने रोहित का आत्म-चिन्तन द्वितीय दृश्य में व्यक्त किया है। यह प्रसंग लम्बा है परन्तु विद्रोह की शक्ति और कर्त्तव्य-पालन की कोमल भावनाओं के बीच द्वन्द्व अंकित होने के कारण निर्जीव नहीं। स्वगत का प्रयोग अन्तर्द्वन्द्व के बहुत स्थल नहीं होने के कारण कवि ने अधिक नहीं किया। नाट्य के बाह्य संघर्ष का उचित माध्यम संवाद ही है।

रंगसंकेत प्रसादजी ने नहीं दिए, परन्तु इस नाट्य के रंगमंचीय अभिनय में व्यावहारिक दृष्टि से कोई कठिनाई नहीं। घटनास्थल, दृश्य-परिवर्तन, दृश्य-योजना, पात्र-संख्या—सभी दृष्टियों से यह नाट्य अभिनेय है, परन्तु घटनाओं में अभीष्ट नाट्य गुण के अभाव में यह कृति दृश्य रूप में प्रभावात्मकता की दृष्टि से सफल नहीं हो सकती।

कवि की अपनी योजना इस काव्य को दृश्य रूप में गीति नाट्य के ढंग पर लिखने की थी। नाटक से पूर्व दी गई सूचना से यह स्पष्ट है—

"यह दृश्यकाव्य गीति नाट्य के ढंग पर लिखा गया है।"[1]

'करुणालय' की शैली में गीति तत्त्व और अनेक स्थलों पर नाट्य तत्त्व का अभाव है, परन्तु कवित्व का अभाव नहीं। भाषा सर्वत्र शुद्ध और सुथरी है। आरम्भ के प्रकृति-वर्णन

---

१. करुणालय—जयशंकरप्रसाद, सूचना

अत्यन्त भावमय और सुन्दर हैं। परन्तु 'करुणालय' की शैली में गीति का लालित्य और नाटकीय संघर्ष को व्यक्त करने वाली सप्राणता नहीं है। उसमें स्पष्टता, सफाई और कवित्व है। 'करुणालय' का छन्द भी प्रयोग की दृष्टि से नवीन है, परन्तु उसकी गति में सर्वत्र मन्थरता है। इस छन्द की नवीनता की ओर कवि ने स्वयं 'सूचना' में संकेत किया है—

"तुकान्त विहीन मात्रिक छन्द में वाक्यानुसार विराम-चिह्न दिया गया है। यद्यपि हिन्दी में इस ढंग की कविता का प्रचार नहीं है, तथापि अन्य भाषाओं में (जैसे संस्कृत में कुलक, अँगरेजी में ब्लैंक वर्स, बँगला में अमित्राक्षर छन्द) इसका उपयुक्त प्रचार है।[1]

इस प्रकार इस छन्द के स्वरूप की नवीनता और अन्य साहित्य से गृहीत प्रेरणा पर प्रकाश पड़ता है। निश्चय ही 'करुणालय' के रचना-काल की दृष्टि से यह प्रयोग नवीन है, पर बहुत उपयुक्त नहीं।

अनघ की गणना विद्वानों ने गीति तत्त्व और भावमयता के अभाव की ओर संकेत करते हुए भी गीति-नाट्यों में की है, परन्तु गीति तत्त्व के अभाव में इस रचना को अधिक से अधिक पद्य नाट्य ही माना जा सकता है। इस नाटक में एक लम्बी कल्पित कहानी है। बुद्ध के साधनावतार के रूप में एक आदर्श नायक की कल्पना करके कवि ने उसके व्यक्तित्व में युग धर्म के प्रतीक का सृजन किया है। मघ का चरित्र गांधी-नीति के व्यावहारिक पक्ष का मूर्तिमन्त रूप है। मघ उस नीति का प्रतीक है जो निःस्वार्थ भाव से परोपकार का उपदेश देती है। विरोधी पक्ष के पात्र हैं गाँव के मुखिया आदि। अनेक षड्यन्त्रों के द्वारा नायक को बन्दी बनाने के उपरान्त, अन्तिम स्थलों में रानी के गुप्तचरों द्वारा रहस्योद्घाटन और नायक की मुक्ति में काव्य का अन्त होता है। कुछ गीतों की रचना के अतिरिक्त काव्य की सभी घटनाएँ और संघर्ष बाह्य व मूर्त हैं। सुरभि, मघ की माँ, मगध-महिषी आदि स्त्री-पात्रों की अवतारणा से एक अत्यन्त क्षीण-सा गीति स्वर कहीं-कहीं सुनाई पड़ता है, परन्तु सूक्ष्म मधुर आन्तरिक व्यंजना व रसमयता कार्य-व्यापार में कहीं नहीं है। कथानक में प्रधानता मघ के कर्मठ चरित्र और क्रियाशीलता की ही है।

नाटक के कथानक में सुख-सरल प्रवाह न होकर उसकी गति वक्रतापूर्ण होनी चाहिए। इस दृष्टि से 'अनघ' की वस्तु-संघटना में कोई चमत्कार नहीं। कार्यव्यापार अत्यन्त सरल व स्थूल है। उसमें प्रभावित करने वाली कोई विशेष आन्तरिक व बाह्य उथल-पुथल नहीं है, किसी प्रकार का वैचित्र्य, वक्रता या संघर्ष में घनत्व नहीं। नाटक की सभी घटनाएँ यन्त्र-चालित सी अन्त में मुख्य कार्य में पर्यवसित हो जाती हैं, अन्तिम दृश्य में अवश्य कुछ घनत्व और सबलता आ गई है, परन्तु वहाँ भी पर्यवसान के लिए कवि ने जिस कौशल का प्रयोग किया है उसमें किसी प्रकार का चातुर्य नहीं। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में यह कौशल बड़ा 'घटिया' है।[2] विरोधी पक्ष के विश्वासपात्र व्यक्ति न्याय के समय पढ़ा पाठ भूलकर मघ के पक्ष में साक्षी दे देते हैं। संघर्ष को मोड़कर मुख्य कार्य तक पहुँचाने के लिए यह कौशल वास्तव में अभिनन्दनीय नहीं। वस्तु-

---

१. करुणालय, सूचना

२. आधुनिक हिन्दी नाटक—डा० नगेन्द्र, पृष्ठ ९२

विन्यास में जटिलता तो है ही नहीं। कथा-क्रम सीधा-सादा है। कथा-क्रम में अशक्ति का एक कारण प्रतिपक्ष की शक्ति को उभार कर उसका विवरण नहीं देना भी है।

'अनघ' में वस्तु की एकता मिल जायगी। सभी घटनाओं व प्रसंगों का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में मुख्य कथा से है, परन्तु इन घटनाओं के क्रम-बन्धन व विन्यास में विशेष कौशल नहीं है। इसके अतिरिक्त 'अनघ' का आकार एकांकी के समान नहीं, अतः इस प्रकार के नाटक में वस्तु को वांछित विस्तार और वैविध्य प्रदान करने के लिए प्रासंगिक वृत्तों की न्यूनता खटकती है। प्रासंगिक के नाम पर कुछ स्थल गिनाये जा सकते हैं, पर वे पर्याप्त नहीं हैं। इस प्रकार कथावस्तु-सम्बन्धी जटिलताओं के अभाव में एक ओर उसके विन्यास में कौशल व्यक्त नहीं हुआ—दूसरी ओर वह एकदम सपाट हो गई है।

कथोपकथन का सामान्य गुण है स्वाभाविकता, और नाटक में उसका विशेष गुण है सजीवता और परिस्थिति के अनुकूल प्रेक्षक को प्रभावित करने की क्षमता। किन्तु 'अनघ' के अधिकांश कथोपकथन निर्जीव हैं। उनके कथोपकथन में न कार्यव्यापार का व्यंजक चांचल्य व शक्ति है, और न गीति-नाट्यों की सी कान्ति एवं धार। कहीं-कहीं ये कथोपकथन पद्य के प्रयोग से अव्यावहारिक और बोझिल हो गए हैं, और कहीं उनमें अन्त्यानुप्रास के प्रयोग से विचित्र छन्दोबद्ध लय उत्पन्न हो गई है जो नाटक के संवाद में उचित नहीं जान पड़ती। पहले दृश्य में चोरों के वार्तालाप से एक उदाहरण लीजिए—

तीसरा—(पहले से)
अरि जा रहा है, मार,
चौथा—कर झपट पीछे वार।
पहला—पर मैं गया हूँ हार,
दूसरा—यह चिह्न है उपहार।
पहला—तो अब किया क्या जाय?
दूसरा—सोचें चलो सदुपाय।[1]

छोटे और तुकान्त छन्द में रचना के कारण लय में जो गीतात्मकता (Sing-song-tone) उत्पन्न हो गई है वह प्रसंगानुकूल नहीं। कहीं-कहीं संवादों में सजीवता और चमत्कार है, पर ऐसे स्थल बहुत कम हैं।

स्वगत का प्रयोग इस नाट्य में 'करुणालय' की ही भाँति बहुत नहीं हुआ, एकाध प्रसंग में ही ऐसा हुआ है—कारण, पात्र मनन और आत्मचिन्तन कम करते हैं, कार्य अधिक। वैसे गुप्तजी के संवादों और स्वगतों में सरलता और स्पष्टता है, उनमें विस्तार कहीं नहीं मिलता—हाँ, चमत्कार और वाग्वैदग्ध्य की उनमें कमी है।

जैसा कथानक के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है इस नाट्य के कार्य-व्यापार का स्थल भौतिक जगत् है अतः घटनाओं का स्वरूप मूर्त है। गीति-नाट्य वा बौद्धिक रूपकों की भाँति इसकी घटनाएँ अन्तर्मन में घटित नहीं होतीं। निश्चय ही यह नाट्य सिद्धान्त-निरूपक है, परन्तु

---

१. अनघ—मैथिलीशरण गुप्त, षष्ठावृत्ति, पृष्ठ १६

कवि ने गांधीवादी सिद्धान्तों का सैद्धान्तिक व अमूर्त रूप अंकित न कर उन्हें व्यावहारिक रूप में कार्यान्वित करते हुए प्रस्तुत किया है। कवि का प्रेष्य विचार और सिद्धान्त हैं, परन्तु उनका माध्यम है वस्तुरूप घटनाएँ, जिनसे ये विचार या सिद्धान्त व्यंजित होते हैं। इस प्रकार अमूर्त इस काव्य में व्यंग्य है वाच्य नहीं।

'अनघ' की रचना, ऐसा प्रतीत होता है गुप्तजी ने पाठ्य रूप में की है। यद्यपि दृश्यों में कोई ऐसी अद्‌भुत व अनभिनेय बात नहीं, फिर भी उनमें पाठक को रमाने की सामर्थ्य भी नहीं है। इसके अतिरिक्त कवि ने सम्पूर्ण कथानक का विभाजन इतने अधिक दृश्यों में कर दिया, और ये दृश्य इतनी जल्दी-जल्दी बदलते हैं कि इनको प्रस्तुत करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अभिनय की दृष्टि से कुछ अत्यन्त अनावश्यक प्रसंगों का समावेश, पात्रों की इतनी अधिक भीड़-भाड़, और दृश्यों में अपेक्षित नवीनता का अभाव, इस बात का प्रमाण है कि गुप्तजी इस विषय में सचेत नहीं रहे। इसके अतिरिक्त संवादों की निर्जीव एकरसता भी अपने प्रेक्षक को उबा देने के लिए पर्याप्त है। रंग-सज्जा, पात्रों की वेश-भूषा, अथवा रंग-व्यवस्था से सम्बद्ध किसी भी अन्य विषय में रंग-संकेत गुप्तजी ने नहीं दिए। 'अनघ' की अभिनेयता के विषय में यही कहा जा सकता है कि इस रचना का अभिनय असम्भव नहीं, परन्तु इस दृष्टि से यह कृति सफल भी नहीं।

'अनघ' की शैली में सर्वत्र गीति शैली का मधुर मसृण लालित्य तो नहीं परन्तु कवि ने कुछ गीतों की रचना की है। सुरभि और मालिन की विनोद वार्ता में उल्लास तथा सुरभि के प्रतीक्षाकुल हृदय की व्यंजना में विशेष द्रवणशीलता आ गई है, परन्तु ऐसे प्रसंग इने-गिने हैं। सामान्यतः 'अनघ' की शैली में वही विशेषताएँ हैं जो उसके संवादों में। कहीं-कहीं भाषा के अशुद्ध प्रयोग, व तुक के आग्रह से अग्राह्य प्रयोग भी मिल जाते हैं। गीतों में अवश्य काव्योत्कर्ष है।

इस नाटक का विभाजन सत्रह दृश्यों में हुआ है और लगभग सभी का नामकरण घटना-स्थल के नाम पर किया गया है, परन्तु इतने अधिक दृश्यों में विभाजन और परिवर्तन मे शीघ्रता रंग-व्यवस्था की दृष्टि से बहुत शुभ नहीं हुई। कवि ने दृश्य-परिवर्तन कुछ नियत दृश्यों में भी नहीं किया। अधिकांश दृश्यों में घटनास्थल नवीन है। कवि ने प्रत्येक दृश्य में स्थल-परिवर्तन के साथ छन्द-परिवर्तन भी कर दिया है। इस प्रकार 'अनघ' में सत्रह से अधिक मात्रिक छन्दों का प्रयोग हुआ है। छन्दों का यह वैविध्य गुप्तजी के विपुल छन्दाधिकार का परिचायक है, परन्तु उन्होंने प्रायः छोटे छन्दों का प्रयोग किया है जिनमें स्पष्टता तो है परन्तु वांछित सजीवता नहीं।

नाट्य-रूपों और समाख्यानात्मक विधाओं में व्यावर्तन इसी आधार पर किया जाता है कि नाट्य में घटनाएँ अभिघटित होती हैं और समाख्यानात्मक काव्य में उनका वर्णन किया जाता है। 'अनघ' से इस दृष्टि से निराशा ही होती है। यह पद्य नाट्य, नाट्य-गुण, कवित्व, शैली, छन्द-विधान किसी भी दृष्टि से विशेष सफल नहीं स्वीकार किया जा सकता। वास्तव में नाटक-रचना गुप्तजी का अपना क्षेत्र नहीं, वे जितने समर्थ कवि हैं उतने कुशल नाटककार नहीं और 'अनघ' तो उनकी कला के प्रौढ़ि-काल की कृति भी नहीं है।

स्वर्णविहान—स्वर्णविहान का कथानक बहुत कुछ 'अनघ' का समकक्षी है। एक कल्पित

कथा के द्वारा पिछले युग की जाग्रत भारतीय चेतना की अभिव्यक्ति है। देश की दुर्दशा के लिए उत्तरदायी अत्याचारी शासन को अहिंसात्मक साधनों से जीतने की बात कवि ने की है। अनेक पात्रों के द्वारा कवि ने सामाजिक धरातल पर देश की दुर्दशा का अंकन किया है, विद्रोह का स्वरूप खड़ा किया है, और अहिंसक क्रान्ति के सामने अत्याचारी को घुटने टेकने पर बाध्य कर दिया है। इस प्रकार गांधीवादी दर्शन के आधार पर प्रेम, शान्ति और असहयोग का सन्देश कवि ने दिया है। नाट्य-तत्त्व इस नाटक में भी अत्यन्त क्षीण है, और इसका कारण है परिस्थितियों में सघनता का अभाव। अत्याचारी शासन ने किस प्रकार देश की दुर्दशा कर दी इसका करुण चित्र कवि अंकित करता है। किसान, रुग्णा और बाला के द्वारा यह दयनीय दशा प्रस्तुत की गई है। नायक मोहन और विजय, अधम नृपति को मार डालने का विचार करते हैं पर तभी संन्यासी प्रेम और असहयोग की बांसुरी बजाता है और उसके प्रेम के सन्देश का प्रभाव बिना उल्लेखनीय संघर्ष के हो जाता है। मोहन विचार बदलकर असहयोग में प्रवृत्त होता है और किसानों को यही संदेश देता है। तभी उसके अन्तर्मन में भावनाओं का असहयोग भी आरम्भ होता है। वह अनुभव करता है कि प्राणों की भूख आदर्श, देश-सेवा, कर्मठता से नहीं मिट सकती, उसे कुछ और भी चाहिए। और जब उसे लालसा मिलती है तो कुछ देर के लिए उसके मन का संयम बह जाता है, परन्तु लालसा भी उसे प्रेमपूर्ण क्रान्ति का संदेश देती है। इस स्थल पर नायक का अंतःसंघर्ष अत्यन्त सघन रूप में प्रस्तुत हो सकता था, उसके अन्तर्द्वन्द्व का सशक्त चित्रण किया जा सकता था, परन्तु ऐसा हुआ नहीं। मन की उथल-पुथल की इतनी मुखर अभिव्यक्ति कवि ने कर दी है कि भावों के उद्घाटन में गंभीरता नष्ट होकर सस्ती अस्वाभाविकता आ गई है। इसके उपरान्त इस प्रेम का विस्तार हुआ है। यह प्रेम व्यक्तिगत कामना की परिधि में संकुचित न रहकर उत्कट देशभक्ति के साथ तदाकार हो गया है। वस्तु और प्रभाव-सम्बन्धी ऐक्य इस नाटक में वर्तमान है। सभी घटनाएं एक अन्तिम कार्य में पर्यवसित हो जाती हैं। आरम्भ से अन्त तक घटनाओं में गति है परन्तु वक्र नहीं, सरल। कार्य-व्यापार में धाराप्रवाह विकास है परन्तु जटिलता का अभाव है। प्रासंगिक वृत्तों की योजना इस नाटक में भी नहीं। 'अनघ' में चरित्र-गौरव तो है, इस नाटक के चरित्र भी विशेष शक्तिमान नहीं।

'स्वर्णविहान' की घटनाएँ भौतिक घटनाएँ हैं, और उनका क्षेत्र समाज के एक वर्ग-विशेष का जीवन है। जिन समस्याओं का चित्रण इस नाट्य में हुआ है उनका सम्बन्ध समाज के बाह्य, भौतिक जीवन से है, अन्तरंग आध्यात्मिक जीवन से नहीं। 'अनघ' की ही भाँति जिन गांधीवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन कवि ने किया है, उनका भी व्यावहारिक रूप ही अंकित है अतः अशरीरी व सूक्ष्म को इस कृति में भी स्थान नहीं मिला। कहीं-कहीं नाट्य का स्वर सैद्धान्तिक हो गया है। ऐसे स्थलों पर वाणी उपदेशात्मक है, और इन उपदेशों में विचार का प्रतिपादन है, परन्तु वह क्षणिक और जीवनगत समस्याओं के समाधान-रूप में है। विचार, इस नाट्य की नाट्य ध्वनि है, प्रत्यक्ष विषय नहीं। कहीं-कहीं प्रासंगिक रूप में सिद्धान्त-प्रतिपादन अवश्य हुआ है। अत्याचार के विरोध में प्रतिक्रियाशील दृप्त यौवन को गांधी की अमृत वाणी का अहिंसावादी संदेश देखिये—

नहीं नहीं ऐ पगले यौवन,

जीत प्रेम से पापाचार ।
अरे पाप से पाप मिटाना
महा भूल है, व्यर्थ विचार ।
० ० ०
कहीं आग से आग बुझाना
है सम्भव, ऐ युवक विचार ।
धर्म सत्य जिस ओर रहेंगे
उसी ओर होंगे करतार ।

इस प्रकार के स्थल काव्य में बहुत नहीं हैं। काव्य की घटनाएँ भौतिक हैं, और उनके द्वारा निकले परिणामों से व्यंजित होने वाले सिद्धान्त अमूर्त ।

दिवोदास 'पृथ्वीपुत्र' का प्रथम नाट्य है। स्वयं कवि ने भूमिका में तीनों संकलित प्रसंगों को संवाद कहा है। 'जयिनी' और 'पृथ्वीपुत्र' के विषय में उनका कथन मान्य है, परन्तु 'दिवोदास' संवाद से कुछ अधिक है, इसीलिए उसकी गणना हमने पद्य-नाट्यों में की है । शेष दोनों कविताओं से भिन्न उसे इसलिए माना है कि 'जयिनी' और 'पृथ्वीपुत्र' में एक ही घटना या व्यापार को केन्द्र बनाया गया, परन्तु 'दिवोदास' में संक्षिप्त कथानक का विन्यास हुआ है। इसके अतिरिक्त इस छोटे से एकांकी पद्य नाट्य में गुप्तजी को नाट्य-गुण की दृष्टि से आशातीत सफलता मिली है, अतः हम इसे न केवल संवाद कहने के पक्ष में हैं न नाट्य-कविता। कवित्व का उसमें निश्चय ही उत्कर्ष है परन्तु नाट्य गुण भी न्यून नहीं ।

'दिवोदास' के कथानक की घटनाएं काशी-तीर पर राजर्षि रिपुंजय के छोटे से आश्रम में घटती हैं। रिपुंजय तपस्वी है पर वैरागी नहीं, मानव के पुरुषार्थ का प्रबल समर्थक, और देवाश्रय लेकर विपन्न और विवश बनी मानव-जाति के, पुरुषार्थ-बल से उद्धार के लिए कृत-संकल्प। ब्रह्मा ने उसे गृहस्थ बनने के लिए सन्नद्ध किया, अकाल-पीड़ित काशी का राज-पद प्रदान किया, और बदले में रिपुंजय ने वर-याचना के रूप में माँगा—अपने राज्य से देवताओं का निष्कासन। वह मानव के पौरुष, कर्म, सत्ता, सब पर विशेष आस्थावान है। वर दान के उपरान्त ब्रह्मा के अन्तर्धान होने के साथ कथानक में एक छोटा सा मोड़ आता है। नागकन्या अनंगमोहिनी का मंत्रीपुत्री रंगिणी के साथ आश्रम में प्रवेश होता है। क्षणिक अन्तर्द्वन्द्व के उपरान्त वह रिपुंजय का वरण करती है और उसके नव्य जीवनादर्श की आशांसा। इसके उपरान्त कथानक अपने मुख्य कार्य की ओर उन्मुख होता है। अकाल-पीड़ित प्रजाजन और मंत्री आदि को रिपुंजय कर्म का संदेश देकर उद्योगशील बनाता है। जीवन के अभिशापों को वह पापों का परिणाम व देवगण की कुदृष्टि नहीं, मानव की निरुद्यमशीलता का फल स्वीकार करता है। कथानक का उपसंहार मानव के पुरुषार्थमय उत्कर्ष के जयगान से होता है।

गुप्तजी को अपने इस छोटे-से पद्य-नाट्य में नाटकीयता की दृष्टि से अद्भुत सफलता मिली है। घटनाएं कम हैं परन्तु सुविन्यस्त। संक्षिप्त से कार्य-व्यापार में भी कवि ने वस्तु-विन्यास के लिए जिस नाटकीय कौशल का प्रयोग किया है वह श्लाघ्य है। आद्यंत विषय के अनुकूल कथा-विकास में सुदृढ़ घटनान्विति ही नहीं, प्रभाव में गरिमा और प्राणरस का संचार

है। ब्रह्मा से वर-याचना के प्रसंग में विशेष नाटकीय चमत्कार है। वर-याचना से पूर्व ब्रह्मा और रिपुंजय के मध्य गृहस्थ के पक्ष-विपक्ष में तर्क-वितर्क का प्रसंग है, उसी के बीच जब वह सहसा पृथ्वी से देव-निष्कासन की बात कर बैठता है तो एक क्षण के लिए वरदाता के साथ पाठक भी अवाक् हो जाता है—

ब्रह्मा—

.....

कहाँ रहेगी वह मनुष्यता, जिसका तुमको गर्व ?
काम्य काम भी सृष्टि-धर्म है, करो उसे मत खर्व।

दिवोदास— **इसका क्या निश्चय, जैसे का हो वैसा ही जन्य ?**

ब्रह्मा— **यह विधि है विपरीत दशा में कारण होंगे अन्य।**
तुम्हें द्विधा क्या है ?

दिवोदास— **प्रस्तुत मैं, किन्तु नियम है एक—**
माने इसे भले ही कोई मेरा अति अविवेक।
चला जाय मेरी धरती से सारा सुर-समुदाय।

ब्रह्मा— **वत्स, वत्स, विस्मित मैं सुनकर, क्या कहते हो हाय ?**[1]

इसी प्रकार अनंगमोहिनी के आगमन के प्रसंग में कवि ने सम्भाव्य की असम्भावित उपस्थिति नाटकीय आकस्मिकता के साथ की है—

दिवोदास— **अनुगृहीत मैं, एकाकी भी रक्खूंगा निज रंग।**

ब्रह्मा— **तुम एकाकी क्यों, वह देखो नित्य नया चिर संग।**[2]

(अन्तर्धान)

और अनंगमोहिनी का तत्काल प्रवेश इस वाक्य का अनुवर्ती है। घटनाओं के क्रम-बन्धन में इस प्रकार की सचेष्ट नाटकीयता 'दिवोदास' में सर्वत्र व्याप्त है। एकांकी की भाँति कवि ने संकलनत्रय के गुणों की भी सावधानी से रक्षा की है। कार्य-व्यापार में वस्तु, देश, काल, तीनों से सम्बन्धित ऐक्य और तद्जन्य प्रभाव-ऐक्य मिलता है।

'दिवोदास' के संवाद भी विशेष प्राणवान हैं। उनमें सर्वत्र पौरुष की दीप्ति, प्रत्युत्पन्न-मति की धार, और सजीवता विद्यमान है। इन संवादों में न कहीं भाषणों की सी व्याख्यात्मकता या एकरसता है, और न विचारात्मकता का धुंधला कुहासा, भावनाओं का गीतिमय तारल्य भी इनमें कहीं नहीं, अपितु सर्वत्र दुर्दम प्राण-रस के संचार से सजीवता रक्षित है। रिपुंजय जैसे समर्थ व्यक्ति के चरित्र में पुरुषार्थ पर आस्था के कारण विश्वासजन्य कान्ति और तर्कपुष्ट प्रखरता संवादों में सर्वत्र आ गई है। वर-याचना के प्रसंग में ब्रह्मा और रिपुंजय के बीच देव-निष्कासन-विषयक कथोपकथन से एक उदाहरण लीजिये—

ब्रह्मा—**पर देवों पर हुई तुम्हें क्यों ऐसी विषम विरक्ति ?**

---

१. पृथ्वीपुत्र—मैथिलीशरण गुप्त, दिवोदास, पृष्ठ ११
२. वही, पृष्ठ १५

दिवोदास— **नहीं, नहीं, उन पर है मेरी समुचित श्रद्धा-भक्ति।**
पर सबकी अपनी सीमा है—
ब्रह्मा— **सुर तो सुकृति-सहाय !**
दिवोदास— **सिद्ध इसी से तो मनुष्य है अकृति, अगति अनुपाय !**
नहीं मानता इसे किसी विध मेरा नर-पुरुषार्थ,
सब मेरे ही अर्थ अन्त में जितने प्राप्य पदार्थ।[1]

स्वगत-संलाप की नियोजना अत्यन्त संक्षेप में एक-दो स्थलों पर अनंगमोहिनी के अन्तर्द्वन्द्व का संकेत देने और मनोभावों को व्यक्त करने के लिए की गई है। परन्तु अन्तर्द्वन्द्व की क्षणिकता के समानान्तर स्वगत भी बहुत दूर तक नहीं टिक पाता।

'दिवोदास' में मानवतावादी जीवन-दर्शन का प्रतिपादन कवि ने किया है, परन्तु अन्य पद्य नाटकों की भाँति कार्यव्यापार के बीच यह विचार-तत्त्व व्यंग्य है। सम्पूर्ण नाटक में बहिर्द्वन्द्व ही है अन्तर्द्वन्द्व कहीं नही। नायिका के मन में आत्मसमर्पण से पूर्व क्षणिक अन्तर्द्वन्द्व होता है परन्तु उसकी स्थिति भी संकेतवत् है। नायक अपने विश्वास और मान्यताओं के प्रति शंकाकुल नहीं होता अतः द्वन्द्व का प्रश्न उठा नहीं। अपने सिद्धान्तों को वह वास्तविक जीवन में प्रतिफलित होते देखना चाहता है, और इसके लिए कर्मक्षेत्र में प्रवृत्त होता है, उसका साधना-क्षेत्र बहिर्जगत् है, अतः नाटक की घटनाएं भौतिक हैं।

रंग-संकेत जैसा कोई विधान इस नाट्य में नहीं मिलता। कवि ने पात्रों की वेश-भूषा, आंगिक अभिनय या रंग-विधान-सम्बन्धी किसी प्रकार का नियत निर्देश इस कृति में नहीं किया परन्तु अन्यथा व्यावहारिकता और प्रभावात्मकता दोनों ही दृष्टियों से 'दिवोदास' की सफलता प्रश्नातीत है। एकांकी के ढंग की रचना होने तथा अपने लघु आकार के कारण यह कृति अभिनय की दृष्टि से विशेष उपयुक्त है।

'दिवोदास' की शैली में भी प्रौढ़ कला का परिचय मिलता है। अत्यन्त स्पष्ट, स्फीत और प्रसाद गुणयुक्त अभिव्यंजना नाटक में सर्वत्र है। गीत-काव्य के गुण, मधुरता, मसृणता, चित्रात्मकता व लालित्य और संगीत तो इस काव्य में नहीं, सजीवता और स्पष्टता है। छन्द-निर्वाह में गुप्तजी अत्यन्त कुशल हैं। उन्होंने 'दिवोदास' की रचना के लिए जो छन्द चुना है, वह बहुत छोटा नहीं, २७ मात्रा का सरसी छन्द है। कवि ने आवश्यकतानुसार उसे छोटा-बड़ा किया है। अर्थात् जहाँ विचार या प्रसंग में मन्थर गति, विस्तार या व्याख्या की अपेक्षा है वहाँ उन्होंने पूरे चरण का प्रयोग किया है, अन्यथा छन्द का एक चरण मध्य में से विभाजित होकर कहीं दो व अन्यथा तीन पंक्तियों में बँट गया, परन्तु मात्रा-प्रयोग व अन्त्यानुप्रास के निर्वाह में त्रुटि नहीं आने पाई है। एक उदाहरण देखिये—

(दिवोदास से) **क्षमा कीजिए, सुकृति हमारी राज—**
दिवोदास— **सकीं क्या सोच**
स्वयं सिद्ध ये राजकुमारी, तो क्या भय संकोच ?[2]

---

१. पृथ्वीपुत्र, पृष्ठ १३
२. वही, पृ० १८

निष्कर्ष रूप में गुप्तजी का यह पद्य-नाट्य इस वर्ग की श्रेष्ठतम कृतियों में से है। अपने पूर्ववर्ती अन्य पद्य-नाट्यों की तुलना में ही नहीं कवि की अपनी पूर्ववर्ती नाट्य-कृतियों में भी इस कृति का स्थान श्रेष्ठतम है। इस लघु नाट्य के प्रणयन में यह कौशल इस बात का व्यंजक है कि नाटक-रचना में प्रवृत्ति न होने पर भी इस रचना में आशातीत सफलता पाने का कारण इस काव्य का सीमित आकार ही है—और फिर यह रचना कवि की प्रौढ़ि-प्राप्त कला का परिणाम है। केवल इसकी भाषा और अभिव्यंजना ही नहीं, नाट्य कला भी प्रभावक्षम है।

कर्ण, द्रौपदी—जैसा हम पहले कह आए हैं—इन दोनों नाट्यों की रचना ध्वनि-रूपकों की दृष्टि से, रेडियो से प्रसारण के निमित्त हुई है। रेडियो-नाटकों में एक ओर रंगमंच की प्रत्यक्षता और आकर्षण नहीं होता, परन्तु दूसरी ओर नाटककार को असम्भाव्य और व्यावहारिक दृष्टि से अनभिनेय प्रसंगों की योजना का अवकाश और स्वतन्त्रता रहती है। नाट्य तत्त्व की अवस्थिति रेडियो-नाटकों में उसी प्रकार अनिवार्य है जैसी रंग-नाटकों में, क्योंकि उसका स्वरूप बहुत कुछ नाट्य-गुणयुक्त श्रव्य काव्य का सा होता है। रंगमंच पर जिन दृश्यों और कार्य-व्यापार का प्रत्यक्ष दर्शन सम्भव है वे सब रेडियो-नाटकों में पाठक की कल्पना के लिए छोड़ दिये जाते हैं। नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने का गुण रेडियो-नाटक में भी उतना ही अनिवार्य है जितना रंगमंचीय नाटक में।

इन नाटक द्वै की कथा का स्रोत महाभारत का बृहद् आख्यान है। कवि ने अपने समय की भौतिक कुंठाओं से प्रेरित विद्रोह को प्राचीनकाल के पात्रों के साथ तदाकार कर दिया है। उसने इन पात्रों के जीवन में घटित होने वाली महत्त्वपूर्ण घटनाओं को ग्रहण किया है परन्तु आस्तिकता और प्रश्नातीत विश्वास के साथ नहीं। वह इन घटनाओं के मानसिक कारणों का मनोविज्ञान के प्रकाश में अभिज्ञान करता है और प्रत्येक घटना के पीछे कार्यकारण-शृंखला को स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है। 'कर्ण' का आरम्भ—युद्ध में प्रवृत्त कर्ण और शल्य के बीच संवाद से होता है। कर्ण के विगत जीवन के तीन महत्त्वपूर्ण प्रसंग—द्रौपदी-स्वयंवर की घटना, उसके जन्म का रहस्य और इन्द्र को कवच-कुण्डल का दान, युद्धभूमि में स्मृति-रूप में वर्णित हैं। इन तीनों घटनाओं से उसके मन पर होने वाली प्रतिक्रिया, व्यक्तित्व-निर्माण में इनका प्रभाव, और उसके दृप्त पौरुष में पलने वाला विद्रोह, उसके अन्तर की आग, अहम्मन्यता, दर्प आदि सभी चारित्रिक गुण घटनाओं के साथ कार्यकारण-रूप में बँधे हैं। कुछ घटनाओं के परिणाम-स्वरूप उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। परिस्थितियों से पराभूत उसका जीवन्त अहंकार द्विविध अभिव्यक्त होता है—एक ओर वह अधिकाधिक विद्रोह और शौर्य-प्रदर्शन में प्रवृत्त होता है दूसरी ओर वह दान के द्वारा इस पराभव के उन्नयन का प्रयत्न करता है। सामाजिक तिरस्कार से पराभूत यह उसके अहंकार की अभिव्यक्ति का प्रयत्न है। इस प्रकार कुछ घटनाएँ इस अहंकार के पोषण का कारण व कुछ परिणाम हैं।

द्रौपदी के चरित्र का भी मनोविज्ञान के प्रकाश में आख्यान, महाभारत में घटित होने वाली घटनाओं के पृष्ठाधार पर किया गया है। कवि उसके व्यक्तित्व में पलने वाली सर्वभक्षी प्रतिहिंसा को क्षत्राणी का दर्प समझकर अतर्क्य रूप से आस्तिक विश्वास के साथ स्वीकार नहीं करता। वह नारी के इस विकृत रूप के पीछे प्रत्येक मानसिक और भौतिक घटना का कारण खोज

निकालता है। पितृगृह से पतिगृह तक उसके जीवन की समस्त घटनाएँ मानो अत्याचार की गाथा थीं। कवि द्रौपदी के स्वयंवर की घटना को उसके अधिकार पर कुठाराघात मानता है। द्रुपद के अपमान का प्रतिशोध करने में समर्थ कोई भी शूर उसके जामाता पद का अधिकारी था। ऐसी स्थिति में द्रौपदी की स्थिति जड़ पुरस्कार से अधिक क्या हो सकती थी? इसके बाद कुन्ती का आशीर्वाद जिसके फलस्वरूप उसे पाँच पतियों की भार्या बनना पड़ा, उसके जीवन का दूसरा भयंकर व्यंग्य था। विवाह के उपरान्त तो उसका जीवन यातनाओं और अपमानों का वह भीषण अट्टहास बन गया जिससे उसका आहत नारीत्व अवचेतन में उस प्रतिहिंसा और सर्वग्रासी घृणा का संचय करता रहा जिसका परिणाम हुआ—महाभारत।

कथानकों की उपर्युक्त रूप-रेखाओं से स्पष्ट है कि चारित्र्य-व्यंजना इन कथानकों में अधिक महत्त्वपूर्ण है, परन्तु कवि ने चरित्रों को भौतिक घटनाओं की पृष्ठभूमि में समझा और उनका विश्लेषण किया है। कवि के विचार की प्रेरक उसकी अनुभूति है, अतः दैहिक प्रवृत्तियों की उपेक्षा उसने कभी नहीं की। उन्होंने जीवन की अन्तर्मुखी साधना और सूक्ष्मतर अधिमानसिक मूल्यों की स्वीकृति कर रक्त-मांस से निर्मित देह—उसकी आवश्यकताओं और प्रवृत्तियों को झुठलाने का प्रयत्न नहीं किया, अतः भौतिक पक्ष उनकी नाट्य-कृतियों में गौण नहीं हुआ।

"भगवती बाबू की कविता का प्राण-तत्त्व अहंकार है। किन्तु इसमें आत्मा की अद्वैत स्थिति अथवा सोऽहं की अनुभूति नहीं है वरन् भौतिक कुण्ठाओं से पीड़ित मन और देह के असफल विद्रोह की हुंकार है।"[1] मन और देह की इस पीड़ा और विद्रोह को व्यक्त करने के लिए कुण्ठाओं के भौतिक कारण कवि ने सर्वत्र स्पष्ट किए हैं और इन्हीं भौतिक घटनाओं के आधार फलक पर चरित्र-निर्माण किया है। भौतिक घटनाओं के प्रति होने वाली अनुभूतियों और प्रतिक्रियाओं को कवि ने उनके पृष्ठाधार सहित व्यक्त किया है, उन्हें अशरीरी या सूक्ष्म रूप देकर, बौद्धिक उन्नयन करके या चिंतन-दर्शन आदि का बौद्धिक कवच पहनाकर नहीं। इन नाट्यों में विचार हैं, परन्तु वह अनुभूति से प्रेरित हैं, और वस्तुरूप घटनाएँ इन अनुभूतियों का कारण है। "इस कवि ने कहीं भी शास्त्र से विचार उधार लेकर अपनी अनुभूति की स्वच्छन्द गति को बाँधने का प्रयत्न नहीं किया, कहीं भी इसने संस्कृतिवादियों की तरह दार्शनिक सत्यों के साथ अथवा प्रगति प्रयोगवादियों की तरह अर्थशास्त्र या मनोविज्ञान के तथ्यों के साथ प्रयत्नपूर्वक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा नहीं की।"[2] अतः इन नाटकों में सूक्ष्म, अशरीरी, प्रतीकात्मक घटनाओं के माध्यम से विचार-प्रेषण की आवश्यकता नहीं पड़ी। भौतिक घटनाएँ पूरी सजीवता, मांसलता और जीवन्त स्पर्शों के सहित इन नाटचों में विद्यमान हैं।

वस्तु-संघटना इन नाटच-कृतियों में उस प्रकार की नहीं जैसी वस्तुप्रधान कृतियों में होती है। जिस नाटक में घटनाओं की प्रमुखता होती है उसमें समस्त प्रमुख व प्रासंगिक घट-

---

१. विचार और विश्लेषण—डा० नगेन्द्र, पृ० १६८
२. वही, पृ० १६८-६९

नाओं का सम्बन्ध नाटक के प्रमुख कार्य से होता है, परन्तु इन रचनाओं में प्रमुखता चारित्र्य की है। चरित्र की वृत्ति अहंकार का व्यक्तीकरण कवि का लक्ष्य है। उसने इन पात्रों के अहंकार के साथ व्यक्तिगत और युग की समष्टिगत चेतना का तादात्म्य स्थापित किया है। अतः घटनाओं का पर्यवसान किसी चरम या अन्तिम घटना में न होकर इस अहम्मन्यता के पोषण में होता है, और समस्त कार्य-व्यापार की इति इस चरित्र-वृत्ति के चरमोत्कर्ष की स्थिति में होती है। अतः कवि ने देश-काल से निरपेक्ष रहकर वे प्रसंग जुटाये हैं जिनका सम्बन्ध इस वृत्ति के स्पष्टीकरण या पोषण से है—यही इनमें एकसूत्रता है और इसी सूत्र से विभिन्न प्रसंगों का—जिनमें देश और काल की दृष्टि से पर्याप्त अन्तराल है, परस्पर क्रम-बन्धन किया गया है। वैसे कवि ने स्थान-ऐक्य की रक्षा के लिए कर्ण के विगत जीवन की घटनाओं का वर्णन स्मृतिरूप में किया है। 'द्रौपदी' में कवि पीछे नहीं लौटा है, अतः ऐसे कौशल की अपेक्षा नहीं रही। इन नाटकों की घटनाओं का पारस्परिक संबंध पूर्वापर-क्रम या कार्य-कारण का नहीं है, अलग-अलग घटनाएँ चारित्र्य-व्यंजना की दृष्टि से विन्यस्त हैं, यही इनकी वस्तु-सघटना के विषय में सत्य है। परन्तु कहीं किसी प्रसंग की स्थिति व्यर्थ या अवांछित नहीं प्रतीत होती। नाटकीय स्थितियों की उद्भावना और चारित्रिक द्वंद्व की व्यंजना करने में भी वर्माजी कुशल है। 'कर्ण' में पहला और 'द्रौपदी' में दूसरा कौशल अधिक मिलता है। कर्ण कुन्ती संवाद में नाटकीयता और 'द्रौपदी' के अन्तिम दृश्य में उसके अन्तर्द्वन्द्व की सफल व्यंजना हुई है।

इन नाटकों के संवादों में सजीवता और स्पष्टता है और प्रवाह भी, परन्तु इनमें विशेष वैदग्ध्य, अलंकरण और लालित्य नहीं है। संवाद, दृश्य नाटकों की अपेक्षा लम्बे हैं। स्वाभाविक है, जिन कार्यों का अभिघटन आंगिक व आहार्य अभिनय, व रंग-विधान द्वारा सम्भव है, रेडियो-नाटकों में उन्हें वाचिक अभिनय और ध्वनि-प्रभावों तक ही सीमित कर देना पड़ता है। अतः अनिवार्य मुद्राओं, वेशभूषा या चेष्टाओं का इन नाटकों में प्रदर्शन नहीं, उनकी व्याख्या की जाती है। इसी प्रकार मूक अभिनय से जिन मनोगत भावों की अभिव्यक्ति सम्भव है, श्रव्य नाटकों में उनकी वाचिक अभिव्यक्ति करनी पड़ती है। इन नाटकों में संवाद इस प्रकार कुछ लम्बे होते हैं। पात्रों की आत्माभिव्यक्ति के लिए स्वगत का प्रयोग भी इनमें अधिक किया गया है। ये स्वगत भी कुछ लम्बे हैं, क्योंकि रंगमंच पर एक पात्र के बहुत देर तक आत्मभाषण करने से जो अस्वाभाविकता उत्पन्न हो सकती है, उसकी भी आशंका नहीं। विभिन्न प्रसंगों को परस्पर जोड़ने और दृश्यों के शब्दों द्वारा काल्पनिक चित्र खड़े करने के लिए कवि ने एक 'वाचक' कंठ का विधान भी किया है। इस प्रकार के अंशों में स्वभावतः विवरणात्मकता आ गई है। युद्ध का वर्णन 'वाचक' के शब्दों में देखिये—

वाचक— **है तेज कर्ण में, अर्जुन में है लाघव**
धीरता शल्य में, और कृष्ण में कौशल!
सुर असुर देखने को यह रण घिर आए
मच गई सकल इस कुरुक्षेत्र में हलचल[1]

---

१. त्रिपथगा—भगवतीचरण वर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० ३२

'कर्ण' के संवाद अनेक स्थलों पर इस प्रकार के वर्णनात्मक स्थलों से जोड़े गए हैं। संवादों में सामान्यतः स्पष्टता, सफाई और जिंदादिली है, वाग्वैदग्ध्य, वक्रता और चमत्कृति नहीं।

इन नाटकों की रचना ध्वनि-रूपकों के रूप में ही हुई है, अतः कवि ने रंग-संकेत नहीं, ध्वनि-संकेत ही दिए हैं। दृश्य-परिवर्तन तथा असम्भव या अलौकिक घटनाओं के प्रदर्शन में जो कठिनाई रंगमंच पर हो सकती है, उसका प्रश्न रेडियो-नाटकों में नहीं उठता। वहाँ ध्वनि-घोषों से श्रोता पर अभीष्ट प्रभाव की सिद्धि कर ली जाती है। अतः किसी प्रकार की नाट्य-वर्जनाओं या स्थान व काल-ऐक्य के विषय में कवि ने प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं किये। युद्ध आदि के विराट् प्रसंग तथा स्वयम्वर आदि सामूहिक घटनाओं से लेकर दो पात्रों के बीच साधारण संवादों तक इन नाट्यों की घटनाओं का अभिनिवेश है। इसी प्रकार दृश्य-परिवर्तन में कोई कठिनाई कवि के सामने नहीं रही। 'कर्ण' में कवि तीन बार युद्धभूमि से तीन भिन्न विगत प्रसंगों पर लौट गया है, परन्तु इसे इन नाटकों में टेकनीक की त्रुटि नहीं माना जायगा। रेडियो-नाटकों में इस प्रकार के प्रतिबन्धों का प्रश्न नहीं उठता। विस्तार की दृष्टि से इन नाटकों की रचना समय के बन्धन को स्वीकार कर की गई है, अतः इनमें न अवांछित विस्तार हुआ है, न निरर्थक प्रसंगों की भीड़भाड़। 'द्रौपदी' का विभाजन दस दृश्यों में हुआ है और 'कर्ण' में भी दृश्य-परिवर्तन अनेक स्थलों पर है। 'कर्ण' में घटनाएँ स्मृति-रूप में वर्णित हैं, परन्तु 'द्रौपदी' में नवीन दृश्य के साथ घटनास्थल और काल दोनों बदल गए हैं। उसका विभाजन यदि मंच की दृष्टि से किया जाता तो अंकों में हो सकता था।

विषय के अनुकूल इनकी शैली अहम्मन्यता की व्यंजक होने के नाते सजीव एवं नाट्य-प्रभावक्षम है। उसमें कल्पना का वैभव, सूक्ष्म अवयवों से ललित क्रीड़ा, आलंकारिक प्रसाधन, शब्दों का संगीत नहीं है, परन्तु प्राण-रस है। उनकी कला में नक्काशी और जड़ाव की अपेक्षा निर्माण और गढ़न अधिक है। इन नाटकों में कई पृष्ठों तक अलंकार नहीं मिलेंगे पर अभिव्यक्ति में मार्मिकता, सजीवता और नाटकीयता सर्वत्र है। इनकी कला में कल्पना का ललित विलास नहीं अहम्मन्यता की कान्ति और धार है।

कुल मिलाकर भगवतीचरणजी के ये दोनों नाटक शिल्प के श्री-विलास की दृष्टि से नहीं, नाट्य-गुण, अहंवाद की ऊर्जस्वित अभिव्यक्ति, वक्र व्यंजना और नाटकीय परिस्थितियों की समर्थ अभिव्यक्ति की दृष्टि से अत्यन्त प्रभावक्षम और सप्राण रचनाएँ हैं।

विचारप्रधान काव्य-रूपक

काव्य की अन्य विधाओं की भाँति आधुनिक युग के बुद्धिवादी कवि ने विचारों के प्रतिपादन का माध्यम पद्य-नाट्य को भी बनाया। नाट्य का सम्बन्ध दृश्यात्मकता से है और विचार का चिन्तन से। नाट्य-विधाओं के लिए गृहीत काव्य-वस्तु में जितनी प्रत्यक्षता व दृश्यात्मकता होगी उतनी ही प्रेक्षक की चित्तवृत्ति को रमाने की सामर्थ्य। इसीलिए नाटक के लिए जब अमूर्त विषय अपनाया जाता है तो कवि उसे यथाशक्ति प्रतीकों की उद्भावना या मानवीकरण आदि के द्वारा मूर्त रूप प्रदान करता है तथा उसमें नाट्य के तत्त्व, वस्तु-संगठना, सजीव संवाद-योजना आदि का विधान करता है। गीति-नाट्य का विषय भी अमूर्त भाव होते हैं, वस्तुतः भाव

या अनुभूति का सम्बन्ध राग-तत्त्व से है, अतः भावों का जब प्रदर्शन किया जाता है तब उनमें प्रेक्षक के हृदय को रमाने, रागात्मक अनुभूति उत्पन्न करने की सामर्थ्य होती है। विचार का सम्बन्ध बुद्धि से है, और विचार अनुभूति का विषय तभी हो सकता है जब घटनाओं के माध्यम से व्यंजित हो। जब उसका प्रत्यक्ष कथन या विश्लेषण किया जाता है तब हम बुद्धि से उसे समझते और ग्रहण करते हैं, उसमें हृदय को रमाने की शक्ति नहीं होती। यदि विचारों का उचित रूप में दृश्यात्मक विधान कर दिया जाय एवं उनका क्रम-विन्यास संगठित और स्पष्ट हो तब तो नाटक उनका उचित माध्यम हो सकता है। परन्तु जब विचार को उसके अमूर्त, बौद्धिक रूप में, बिना नाटकीय विधान के प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है तब नाटक, और विशेष रूप से पद्य-नाट्य उसका उचित वाहन नहीं हो पाता।

इस युग का कवि, प्रौढ़ि के साथ-साथ बौद्धिकता की ओर अग्रसर होता जाता है। वह प्रौढ़ि काल में भावाभिव्यक्ति की अपेक्षा विचार की बात अधिक करता है। यह प्रवृत्ति सामान्यतः सभी अग्रिम कवियों में परिलक्षित होती है। परन्तु उसके अन्तः का सजग कलाकार यह भी जानता है कि कविता के माध्यम से विचारों की प्रेषणा या तो उन्हें अनुभूति का विषय बनाकर हो सकती है या घटनाओं के माध्यम से उनकी व्यंजना की जा सकती है अथवा मूर्त प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्ति। विचार को अधिकाधिक ग्राह्य और सरस बनाने के लिए वह अनेक रूप-विधाओं का आश्रय लेता है। नाटक में रोचकता, प्रत्यक्षता, अतः प्रमाता को आकर्षित करने का गुण अन्य काव्य-रूपों की अपेक्षा अधिक होता है—कदाचित् इसीलिए इस युग के कवियों ने विचार-प्रतिपादन के लिए इस काव्य-रूप को भी ग्रहण किया है। जहाँ कवि विचार को जितना अधिक मूर्त रूप प्रदान कर सका है, उसे व्यवस्थित और विन्यस्त रूप में संयोजित कर सका और जितने तीव्र संघर्ष का विधान कर सका है, उतनी ही उस कृति की नाटकीयता में वृद्धि हुई है। इन नाटकों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(क) इन सभी नाटकों के कथानक काल्पनिक है। कवि ने या कल्पित प्रतीक-रूपकों का आश्रय लिया है, अमूर्त विचारों का मानवीकरण किया है, या कल्पित पात्रों द्वारा सिद्धान्त-प्रतिपादन कराया है। घटनाओं का स्वरूप या तो सर्वथा अमूर्त है, अथवा मूर्त घटनाएँ अपने मूर्त रूप में महत्त्वहीन हैं, प्रधानता अमूर्त व विचार की है।

(ख) वस्तु-संगठन की दृष्टि से इस वर्ग के नाटचों में सफलता बहुत कम प्राप्त हुई है। कथा-सूत्र प्रायः उलझे-से और अस्पष्ट हैं। कवियों ने कहीं-कहीं मनोविश्लेषण-शास्त्र की पद्धति में अवचेतन और अर्ध-जाग्रत मन के सूक्ष्म विचार-खण्डों को अवतरित करने का प्रयत्न किया है। ऐसे स्थलों पर विचार की बोझिलता बढ़ गई है और नाटच का प्राण रस सूख गया है।

(ग) उचित संघर्ष-विधान के अभाव में नाटच तत्त्व की क्षीणता इन अधिकांश कृतियों में दिखाई देती है। कवि का अपना मत एक विशेष चिन्ताधारा के पक्ष में है। उसका प्रतिपादन करने से पूर्व वह विरोधी पक्ष से समर्थ विरोध का स्वरूप बहुत कम खड़ा कर पाया है, अतः प्रमाता की जिज्ञासा-वृत्ति का उन्मेष और परितोष नहीं होता। परन्तु इस प्रवृत्ति के अपवाद भी इनमें अलभ्य नहीं।

(घ) जिन कृतियों में संघर्ष का उचित विधान नहीं है उनके संवादों में सजीवता का

भी अभाव है। शैली में मंचीय भाषण का स्वर प्रायः मिलता है। दो पात्र परस्पर समर्थ कथोपकथन में बहुत कम प्रवृत्त होते हैं। प्रायः एक पात्र विचार-सूत्र दूसरे को पकड़ाकर कथा-विकास की एकरसता को दूर करता है। स्वगत का प्रयोग भी इन्होंने किया ही है।

(ङ) गीतों का प्रयोग कवियों ने बीच-बीच में किया है। ये गीत भी कहीं-कहीं भाव-प्रेरित न होकर विचार से बोझिल हैं। इनकी शैली में न गीति-शैली का माधुर्य है, और न संवाद की चमत्कृति व सजीवता। इसमें विश्लेषण है विचार का, जिसके अतिशय से कहीं-कहीं गद्यमयी निविड़ता आ गई है। गति और प्रखरता का प्रायः इनमें अभाव है, ये रचनाएँ विचारोत्तेजना की सामग्री भी प्रस्तुत नहीं करतीं।

(च) जिन नाटकों की रचना रेडियो के लिए हुई है उनमें ध्वनि-संकेत, कुछ में ध्वनि और रंग-संकेत दोनों, व अन्य में केवल रंगमंच की दृष्टि से संकेत दिए गए हैं। परन्तु ये नाटक रंगमंच पर अभिनय की दृष्टि से विशेष सफल नहीं हो सकते। इन के लिए विशेष स्तर के प्रेक्षक-वर्ग की अपेक्षा है, जो इनसे आनन्द-लाभ कर सके। यदि वे भी यह गरिष्ठ बौद्धिक आहार पचा लें तो भी इनकी नीरसता और एकरसता से कहाँ तक भागेंगे। इसके अतिरिक्त इनके स्वप्न-चित्रों, अमूर्त-वर्णनों, और कहीं-कहीं लौकिक व विराट् प्रसंगों के अभिनय में व्यावहारिक कठिनाई हो सकती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस प्रकार के काव्य-विषय के लिए यह माध्यम बहुत अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ता। हर काव्य-रूप को अपनाने के पीछे तर्क का औचित्य और सार्थकता होनी चाहिए। नाट्य-विधि में रचित कृतियों में जो गुण वांछित हैं, एकाध को छोड़कर इन अधिकांश कृतियों में उनका अभाव है। इस वर्ग की रचनाएँ हैं—सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त', कवि प्रभात का 'संवर्त्त', सुमित्रानन्दन पन्त के 'शिल्पी', 'सौवर्ण' और 'रजत-शिखर' में संकलित काव्य-रूपक एवं भगवतीचरण वर्मा का 'महाकाल'। इनमें से अन्तिम तीन की रचना रेडियो से प्रसारण के उद्देश्य से की गई है। 'उन्मुक्त' बड़े स्तर पर लिखा गया बृहद् नाट्य है, अन्य रचनाएँ मध्यम आकार की हैं। हम इन कृतियों में से पृथक् विवेचन 'उन्मुक्त' का ही करेंगे, शेष में उपलब्ध विशेषताएँ लगभग समान हैं, अतः उनकी सामान्य विशेषताओं का पृथक् उल्लेख किया जायगा।

उन्मुक्त में कथा का विधान है। रुग्ण कवि की अन्तरात्मा बाह्य-जगत् में भी विप्लव देखकर विक्षुब्ध हो उठी है। हृदय के इसी विक्षोभ ने उसे उस समय की ज्वलन्त समस्या—युद्ध का निदान ढूंढ़ने पर बाध्य किया। हृदय की इस दुःखद अनुभूति के निवारण के लिए उसने बुद्धि को टटोला और परिणाम हुआ 'उन्मुक्त'। इस प्रकार समस्या का चित्रण कवि की अनुभूति से प्रेरित—अतः आत्म-रस से भीगकर हुआ है और सम्भावित समाधान उसके चिन्तन-मनन का परिणाम है। इस प्रकार इस नाट्य में अनुभूति और विचार में प्रेरक-प्रेरित का सम्बन्ध है। गुप्तजी ने एक कथानक की कल्पना करके उसका विधान रूपकवत् किया है, अर्थात् दृश्यरूप उपस्थित घटनाओं के मूल में हिंसावादी युद्ध-नीति और अहिंसावादी गांधी-नीति का संघर्ष व्यक्त है। उसके कर्त्ता और भोक्ता पात्र भी इन दोनों पक्षों का संचालन करने वाली मानव-मन की प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। इन दोनों कथाओं में एक का सम्बन्ध इस प्रकार युद्ध की समस्या के

व्यावहारिक वस्तुरूप से है, और दूसरी का इसके मानसिक व सैद्धान्तिक रूप से। नाट्य का आरम्भ कुसुमद्वीप में होता है। कुसुमद्वीप की अधिष्ठात्री कुसुमावती को, सेनापति जयकेतु से लौह-द्वीप के सेनानी द्वारा क्रमशः अनेक द्वीपों को ध्वस्त करने के उपरान्त, कुसुमद्वीप की ओर बढ़ने का समाचार मिलता है। इसके उपरान्त कवि समस्या के चित्रण और निदान के शोध में प्रवृत्त हो जाता है। कवि ने तीन पात्रों की कल्पना की है—पुष्पदंत, गुणधर और मृदुला। तीनों में कवि ने तीन प्रकार के सम्भावित निदानों की प्रतिष्ठा की है। आरम्भ में तीनों प्रत्यारोध के निमित्त युद्ध में प्रवृत्त होते हैं, परन्तु युद्ध की एक घटना—जिसमें गुणधर स्वयं आहत हो जाता है, उसकी विचारधारा में आमूल परिवर्तन कर उसे अहिंसा का पोषक बना देती है। पुष्पदंत हिंसा का उत्तर हिंसा से देने के पक्ष में है और मृदुला जो सामान्यतः अहिंसा की पोषक है, विवशता की स्थिति में हिंसा का अवलम्ब ग्रहण करती है, परन्तु संयोगवश शत्रु के लिए निर्मित ध्वंसक विमान, उसी के हाथ पड़कर निर्माता-पक्ष के विनाश का निमित्त हो जाता है, अतः हिंसा का अवलम्ब लेने पर भी निराशा और असफलता हाथ आती है—और तब पुष्पदंत अपनी भूल समझकर आध्यात्मिक बल पर आश्रित शान्ति-नीति का आश्रय लेता है। इस बाह्य संघर्ष को चित्रित करने वाली घटनाएं प्रतीकात्मक हैं, और दो विरोधी नीतियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। कवि ने पात्रों और द्वीपों का नामकरण जिन संज्ञाओं के आधार पर किया है वे भी साभिप्राय और मन के तमस्, रजस् और सत्व की प्रतीक है।

'उन्मुक्त' में अंकित घटनाओं का बाह्य स्वरूप कवि की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण नहीं, यह उनकी वर्णन-पद्धति से स्पष्ट है। अधिकांश भौतिक घटनाओं को कवि ने सूच्य बनाकर विचारोद्दीपक-रूप में उनका प्रयोग किया है। युद्ध के सभी समाचार, गुणधर के आहत होने की घटना, ध्वंसक विमान का निर्माण, उसका शत्रु के हाथ में पड़ जाना आदि, नाटक के सभी समर्थ प्रसंग कहीं संवादों के, और कहीं पात्रों के आत्मचिन्तन के बीच में सूच्य हैं। वस्तु-वर्णन के लिए कवि केवल एक प्रसंग पर रुका है—वह है शत्रु के आक्रमण के परिणामस्वरूप ध्वस्त द्वीप का, और विशेषकर मृदुला के पुत्र ज्ञानधर के मृत शरीर की खोज का वर्णन। इसका भी एक कारण है—इस हृदयद्रावक प्रसंग के करुणार्द्र वर्णन से वह पाठक के मर्म का स्पर्श कर हमारी करुणा का विश्व-व्यापी प्रसार करना चाहता है तथा युद्ध के दुष्परिणामों के प्रति हमें सजग और सचेत करना चाहता है। इस प्रकार इन घटनाओं का महत्त्व भी सापेक्ष है, स्वतन्त्र नहीं। कवि की दृष्टि भौतिक घटनाओं से चोट खाकर अन्तर्मुखी हो गई है और इस नाटक में वह बहिर्जगत की समस्याओं का समाधान अन्तर्मन में ढूँढ़ता रहा है। कहीं-कहीं मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना और मृदुला जैसे पात्र की अवतारणा से प्रगीतात्मकता का समावेश भी इस काव्य में हो गया है, परन्तु उसमें व्यक्त संघर्ष भावनाओं का नहीं सिद्धान्तों और विचारों का—नीतियों का संघर्ष है। अतः इसका प्रतिपाद्य अमूर्त विचार है, जिनका प्रतिपादन कवि ने व्यावहारिक धरातल पर उपयुक्तता सिद्ध करके किया है।

नाट्य-तत्त्व इस कृति में बाह्य संघर्ष या कार्य-व्यापार के चित्रण के रूप में नहीं मिलता। व्यक्ति के मन का अन्तर्द्वन्द्व भी इसमें अधिक नहीं है। दो विरोधी चिन्ताधाराओं के प्रतीक दो पक्षों या व्यक्तियों के विचारों का संघर्ष है। क्षणिक अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि मृदुला और गुणधर के

मन में की गई है। जहाँ बाह्य संघर्ष-विधान है वहाँ वह विचारों के प्रेरक, उद्दीपक या मान्यताओं के संघर्ष के परिणाम-रूप में अंकित है। इसी कारण कथा में विशेष सुगठित प्रबन्ध-योजना नहीं मिलती। कहीं वह प्रत्यक्ष हो जाती है और कहीं पृष्ठभूमि में चली जाती है। प्रासंगिक वृत्त व अवान्तर प्रसंग-योजना से कथानक कहीं जटिल भी नहीं होता। घटनाओं को मोड़ देने के लिए कवि ने जिस कौशल का सहारा लिया है, उसमें देवबल का अवलम्ब अधिक लिया गया है, नाटकीय चमत्कार व वक्रता उससे कम है। शत्रुओं के हाथ में विमान के पड़ने की घटना इसी प्रकार की है। गुणधर के विचार-परिवर्तन का प्रसंग अवश्य समर्थ और नाटकीय है, उसमें आकस्मिकता भी है। इस नाटक के प्रबन्ध-निर्वाह में वेग नहीं सहज क्रम है। फिर भी कथा में किसी प्रकार का संगठन-सम्बन्धी दोष नहीं। कथा का विकास सहज क्रम से होता है, उसकी गति में अनुकूल प्रवाह भी है और वृत्त-वर्णन में कवि ने रोचकता लाने का प्रयास भी किया है। युद्ध की विभीषिकाओं का वर्णन पढ़-सुनकर जो भावनाएं कवि के मन में उठी हैं, उन्हें उसने अपूर्व कौशल से अन्वित कर कहानी का रूप दिया है।

कथोपकथन में कवि की वर्णन-शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। इन कथोपकथनों में व्याख्या और विस्तार, विचार-प्रतिपादन के कारण है। चांचल्य, प्रत्युत्पन्नमति, और संक्षेपण के अभाव में उनमें वर्णनात्मक शक्ति और विचार-प्रतिपादन की क्षमता ही अधिक मिलती है। यह सिद्धि शैली की सामर्थ्य के कारण है, नाट्य गुण के उत्कर्ष के कारण नहीं। वैसे सम्पूर्ण कथा का विकास कथोपकथन या स्वगत के द्वारा ही हुआ है। स्वगतों में भी कहीं-कहीं बड़ी दूर तक पात्रों के माध्यम से कवि का चिन्तन व्यक्त हुआ है। कहीं कवि ने अमूर्त भावों का मानवीकरण कर स्वगत की एकरसता दूर करके नाट्य गुण का समावेश किया है—मृदुला से जागरिकता का अवचेतनात्मक वार्तालाप इसी प्रकार का है।

'उन्मुक्त' की शैली में—जैसा पहले कहा जा चुका है, वर्णन-सामर्थ्य है; परन्तु नाट्य शैली की विदग्धता, वक्र-व्यंजना आदि नहीं। कवि ने यथाशक्ति समस्या को अंतरंग बनाकर और आत्म-रस में डुबोकर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, परन्तु आत्म-रस में भीगी होने पर भी चिन्तन-प्रधान होने के कारण काव्यगुण को क्षति पहुँची है। कवि दिनकर के शब्दों में—

"सियारामशरणजी में कला की आराधना कम, विचारों का सेवन अधिक है। उनका उद्देश्य सौन्दर्य-सृष्टि नहीं, प्रत्युत् कविता के माध्यम से सत्य का प्रतिपादन है। प्रसन्नता उन्हें इसलिए नहीं होती कि वह सुन्दर सुरों में गाते हैं, प्रत्युत् इसलिए कि उनका गान सार-संयुत है।···उनकी कविताओं में से रंगीनियों की एक पूरी दुनिया ही गायब है।"

गुप्तजी की कविता में इस प्रकार आत्म से उद्देश्य की अभिव्यक्ति अधिक प्रमुख हो जाती है फिर भी यत्र-तत्र कोमल और कठोर पक्षों के सुन्दर वर्णन मिल जाते हैं। ऐसे वर्णनों में कवि की वर्णन-सामर्थ्य और काव्य-गुण स्पष्ट है, परन्तु साथ ही इस प्रकार के विवरणात्मक प्रसंग संवाद के अंश-रूप में विशेष नाटकीय नहीं हो सकते। कहीं-कहीं ऐसे स्थल भी हैं जहाँ काव्य का स्तर अत्यन्त साधारण हो गया है।

वैसे कल्पित रूपक-विधान द्वारा इस समस्या को काव्य-रूप देना कवि की सुन्दर कल्पना का प्रमाण है। द्वीपों की कल्पना विशेष सुन्दर बन पड़ी है। पुत्र-वंचिता मृदुला के हार्दिक उद्-

गारों की भी अत्यन्त मार्मिक अभिव्यक्ति कवि ने की है।

इस नाट्य की रचना अभिनय की दृष्टि से नहीं की गई, अतः रंगसंकेत, दृश्यात्मकता और संवादों में नाटकीय गुण की रक्षा का सायास प्रयत्न कवि ने नहीं किया। रंग-संकेतों का एकान्त अभाव भी इस कृति में नहीं है। कहीं-कहीं स्पष्ट रूप से कवि ने रंग-संकेत दिए हैं, परन्तु सर्वत्र नहीं। 'उन्मुक्त' की रचना पाठ्य रूप में हुई है। यूं कुछ विद्वानों ने इसे गीति-नाट्य कहा और दिनकर व डा० नगेन्द्र ने काव्य-रूपक। गीति तत्त्व जैसा हम पहले कह आए हैं, इस कृति में इतना नहीं मिलता कि इसे गीति-नाट्य मान लिया जाय। नाट्य तत्त्व की भी इस रचना में परिक्षीणता है। यह तो नाट्य शैली में लिखा विचारात्मक काव्य है, और इस रूप में नवीन ही नहीं महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। तत्कालीन सर्वाधिक ज्वलन्त समस्या को रूपक के माध्यम से आत्मरस-सिक्त करके काव्यात्मक शैली में इस प्रकार प्रस्तुत करना, कि उसमें विचार की शुष्कता न रहकर काव्य-रस बना रहे, गुप्तजी की समर्थ लेखनी द्वारा ही सम्भव था।

संवर्त्त, महाकाल—संवर्त्त और महाकाल की मूल भावना एक-दूसरे से बहुत भिन्न नहीं है। दोनों में मानव-अहंकार के पराजय की स्वीकृति है, परन्तु दोनों के विधान और माध्यम में अन्तर है। एक बात में दोनों समान हैं। अमूर्त तत्त्वों, मनोवृत्तियों का इनके कवियों ने मानवीकरण करके इन्हें नाटक के पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया है। ये दोनों कृतियाँ प्रतीक-रूपक हैं।

'महाकाल' के कथा-निर्माण में कवि ने विज्ञान और दर्शन दोनों का आश्रय लिया है। विज्ञान इस ब्रह्माण्ड को संकुचन और विस्तारण की क्रिया से निरन्तर गतिशील शक्ति का पुंज मानता है। कवि ने आस्तिक दर्शन के आधार पर इसमें चेतना की अवतारणा कर ली है। वह संकुचन और विस्तारण को चेतना की सुषुप्ति और जागृति का क्रम मानता है। इस प्रकार महाकाल चेतना-विशिष्ट शक्ति-पुंज का प्रतीक है, और चेतन तत्त्व की जागृति ही सृजन है। महाकाल के गर्भ से चेतना-जागरण और क्रमशः सृष्टि का उदय होता है, और प्राणियों में श्रेष्ठ मानव अपने साथ निर्माण और विनाश की प्रवृत्तियाँ लेकर उत्तरोत्तर विकास करता है। निर्माण और विनाश का यह क्रम प्रकृति के तत्त्वों और मानव की अन्तरात्मा, दोनों में समान रूप से व्याप्त है। मानव अपनी प्रत्येक विजय के साथ अधिकाधिक अहंवादी होता हुआ अन्त में इसी अहंता में नष्ट हो जाता है। सब कुछ फिर महाकाल में विलीन हो जाता है। चेतना भी थकी और पराजित-सी महाकाल में लय हो जाती है और एक बार विस्तृत शक्ति-पुंज निष्क्रिय-सा रह जाता है, जहाँ चेतना सोई है।

'संवर्त्त' के कवि ने धर्म और विज्ञान या हृदय और बुद्धि का संघर्ष दिखाया है। आधुनिक युग के अहंवाद में धर्म और ईश्वर में आस्था नहीं। परन्तु इस अहंकार का अन्त ज्ञान के द्वारा हो जाता है और मानव का कल्याण अहंकार, क्रोध, तृष्णा, हिंसा आदि वृत्तियों से विहीन आध्यात्मिक भावना में निहित रहता है। इसी विचार को प्रतीक-रूपक के माध्यम से कवि ने प्रस्तुत किया है।

वस्तु-संगठन इन दोनों कृतियों में पूर्णतः मिलता है। समय की परिसीमा के कारण 'महाकाल' की रचना सीमित स्तर पर तीन दृश्यों में की गई है। एक प्रसंग से दूसरे पर द्रुत गति से कवि बढ़ता गया है—इसके अतिरिक्त इस काव्य की ऊर्जस्वित कल्पना अहंवाद से प्रेरित

है अतः सम्पूर्ण कृति में प्राण-शक्ति का संचार है। 'संवर्त्त' की वस्तु-संगठना तो निर्दोष है, परन्तु उसकी रचना अपेक्षाकृत विस्तृत रूप में हुई है। उसमें तीन खण्ड और प्रत्येक में दृश्य हैं। घटनाओं के इस विस्तारण से प्रभाव में वह घनत्व और संगठन नहीं जो 'महाकाल' में है। घटनाओं में उतना दुर्दम वेग भी नहीं है। नाटक का आरम्भ अहंकार के जिस गर्जन-तर्जन से होता है, तथा क्रोध, हिंसा आदि पाशविक वृत्तियों के आत्मकथन और आतंक-वर्णन में जो हुंकार और ओज है, वह दूसरे खण्ड में पृथ्वी और प्रार्थना के कथोपकथन, और तीसरे खण्ड में धर्म के चिन्तित रूप के वर्णन में शान्त हो गया है। परन्तु यहीं अहंकार द्वारा धर्म के नाश में एक बार कथा में उद्वेलन उत्पन्न होता है, जो अन्त में ज्ञान द्वारा अहंकार-नाश के प्रसंग तक बना रहता है। स्पष्ट है 'संवर्त्त' का वस्तु-विधान शिथिल या विशृंखल तो नहीं, परन्तु 'महाकाल' के समस्त वस्तु-विन्यास की तुलना में व्यस्त प्रतीत होता है।

घटनाओं का उनके यथावत् रूप में इन प्रतीक-रूपकों में कोई महत्त्व ही नहीं। इन नाट्यों में महत्त्व है उस अमूर्त प्रतिकार्थ का, जिसकी व्यंजना इन घटनाओं द्वारा की गई है।

संवादों में विषयानुकूल महाप्राणता और कहीं-कहीं गर्जन-तर्जन विद्यमान है। 'महाकाल' में विराट् तत्त्व की प्रधानता है ही, 'संवर्त्त' के प्रथम और अन्तिम खण्ड में तामसिक वृत्तियों के परिणामस्वरूप होने वाले ध्वंस और इन वृत्तियों का आत्मपरिचय है, अतः इनके सम्वादों में प्राण-शक्ति की धारा विद्यमान है। व्यंजना और वक्रता, कोमलता और सारल्य इनमें कहीं नहीं। ध्वन्यात्मक भाषा से निनादित चोट है—प्रत्यक्ष और तीखी।

अभिनेयता की दृष्टि से 'महाकाल' का रेडियो-नाटक के रूप में श्रोता के मन पर निश्चय ही प्रबल प्रभाव पड़ेगा। कवि प्रत्येक प्रसंग में ध्वनि-प्रभाव-सम्बन्धी संकेत सतर्कता से देता रहा है। "कवि ने अपने विराट अवाक् कल्पना-चित्रों को नाद-गांभीर्य में मूर्त करने का अत्यन्त सफल प्रयत्न किया है।"[1] 'संवर्त्त' रेडियो-प्रसारण के लिए कुछ लम्बा है। इस प्रकार के विचारात्मक नाट्यों का रंगमंच पर अभिनय विशेष सफल नहीं हो सकता। कारण—विचार-प्रधान रूपकों में मानवीय रागात्मकता का तो अभाव होता ही है, अतः रागात्मक तादात्म्य के अभाव में इतनी देर तक विचारों के प्रतीक पात्रों की रंगमंच पर उछल-कूद से प्रेक्षक अपने धैर्य की परीक्षा देने में भी धैर्य खो बैठेगा। ऐसे विचारप्रधान पद्य-नाट्यों का पठन, या अधिक से अधिक रेडियो के माध्यम से श्रवण ही सम्भव है, प्रेक्षण नहीं।

विषय के अनुकूल इन रचनाओं की शैली अत्यन्त समर्थ और महाप्राण शैली है। 'महाकाल' में तो कवि ने सर्वत्र विराट् चित्र अंकित किये ही हैं, जहाँ अन्त में नैराश्य है, वहाँ चेतना की व्यक्त निराशा महाकाल के एकोऽहम् के समर्थ विश्वास में खो जाती है। विराट् चित्रों की शृंखला पंचतत्त्वों के सृजन-प्रसंग में कवि ने आँकी है।

संवर्त्त' में निर्माण नहीं, संघर्ष और व्यापार अधिक है। चित्रात्मकता और सप्राणता इतनी नहीं, फिर भी शैली सजीव है। महाप्राण और संयुक्त वर्णों के प्रयोग से शैली में झंकृति व ध्वनि का निनाद उत्पन्न हो गया है।

---

१. विचार और विश्लेषण—डा० नगेन्द्र, पृष्ठ १७०

गीति नाट्य और घटनाप्रधान नाटकों की अपेक्षा विचारप्रधान या मनोवैज्ञानिक नाटकों में जो कथा-सम्बन्धी उलझन, विचारों की बोझिलता और शैली में कभी-कभी दुरूहता उत्पन्न हो जाया करती है, उससे पाठक का मन प्रभावित होने की अपेक्षा बौद्धिकता से आक्रान्त अधिक होता है। इस प्रकार की उलझन, हम आगामी पृष्ठों में जिन विचारप्रधान नाट्यों का विवेचन करेंगे उनमें मिलती है। 'महाकाल' और 'संवर्त्त'—कथानक की स्पष्टता, सफल वस्तु-विन्यास, समर्थ और प्रभावक्षम शैली की दृष्टि से उन सभी गुणों से युक्त हैं जो विचारप्रधान नाट्यों में विरल होते हैं।

'रजतशिखर', 'शिल्पी', 'सौवर्ण'—इन तीनों कृतियों में कविवर पन्त के ऐसे पद्य-नाट्य संकलित हैं जिनका स्वर एकान्त बौद्धिक है। 'शिल्पी' और 'रजतशिखर' के नाटक अंशतः और सौवर्ण' के पूर्ण रूप में रेडियो से प्रसारित हो चुके हैं, उनकी रचना कदाचित् इसी उद्देश्य से की गई थी। कालक्रमानुसार 'रजतशिखर' और 'शिल्पी' पहले की रचनाएँ हैं, और 'सौवर्ण' बाद की। उत्तरोत्तर इन नाटकों की कला में एक विशेषता के दर्शन किये जा सकते हैं। प्रौढ़ि-प्राप्त कवि का भावुक मन यद्यपि 'शिल्पी' में ही बौद्धिक हो गया है, परन्तु 'शिल्पी' से 'सौवर्ण' तक क्रमशः उनका चिन्तनशील कलाकार अधिकाधिक उनकी भावना पर हावी होता गया है और उत्तरकालीन रचनाओं तक पहुँचते-पहुँचते इन नाट्यों में हृदय-रस बिल्कुल सूख गया है।

इन सभी नाट्यों के कथानक काल्पनिक हैं, और किसी-न-किसी विचार का प्रतिपादन इनका लक्ष्य। कवि ने 'शिल्पी' के 'विज्ञापन' में स्वयं स्वीकार किया है—"इन रूपकों में वर्तमान विश्व संघर्ष को वाणी देने के साथ ही नवीन जीवन निर्माण की दिशा की ओर इंगित करने का प्रयत्न किया गया है।"[1]

'रजतशिखर' में किसी प्रकार की विज्ञप्ति तो नहीं है, परन्तु प्रत्येक रूपक के आरम्भ में कवि ने रूपक का उद्देश्य व्यक्त किया है। पहले तीन रूपक उसी ढंग के हैं जैसे 'शिल्पी' में। उत्तरार्द्ध के दो रूपकों में विचार-तत्त्व की अपेक्षा भाव की प्रधानता है। इनमें से 'शुभ्र पुरुष' "जागरण मन अधिनायक गांधीजी के राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक व्यक्तित्व के प्रति युग की विनम्र श्रद्धांजलि है।"[2] जिसकी रचना उनकी जन्म-तिथि के अवसर पर की गई थी, और 'शरद-चेतना' प्रकृति-सौन्दर्य का कल्पना-प्रधान रूपक है। 'शुभ्र पुरुष' में युग की श्रद्धांजलि के रूप में कवि ने इस महान आत्मा के प्रति अपनी भावनाओं को युग-भावना के रूप में प्रस्तुत किया है। 'शरद-चेतना' में वर्णनात्मकता है। विचार-प्रतिपादन, सिद्धान्त-निरूपण का दोनों में अभाव है। शेष चारों रूपक सैद्धान्तिक हैं, जिनमें कवि ने किसी-न-किसी रूप में संदेश देने का प्रयत्न किया है।

इस संकलन के प्रथम रूपक 'रजतशिखर' में "जीवन के ऊर्ध्व तथा समतल संचरणों का द्वन्द्व प्रदर्शित किया गया है। मानव-मन के विकास की वर्तमान स्थिति में ऊर्ध्व के अवरोहण तथा समतल के आरोहण पर बल देकर दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया

---

१. शिल्पी—सुमित्रानन्दन पन्त, विज्ञापन, पृष्ठ ३

२. रजतशिखर—सुमित्रानन्दन पन्त, पृष्ठ १०५

है।"[1] रजतशिखर इस रूपक में मनुष्य की अंतश्चेतना का शुभ्र प्रतीक है। दूसरे रूपक में कवि ने वस्तुवाद और अध्यात्मवाद के संघर्ष का समाधान करने का प्रयत्न किया है। कवि के शब्दों में, "फूलों का देश सांस्कृतिक चेतना का धरातल है। प्रस्तुत काव्य-रूपक में इस युग के अध्यात्मवाद, भौतिकवाद तथा आदर्शवाद वस्तुवाद-सम्बन्धी संघर्ष को अभिव्यक्ति देकर उनमें व्यापक समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की गई है एवं विश्व-जीवन में बहिरंतर सन्तुलन तथा परिपूर्णता लाने के लिए दोनों की ही उपयोगिता दिखाई गई है।"[2] तीसरे रूपक 'उत्तर-शती' में पन्तजी ने समस्या-निदर्शन के साथ आदर्श-कल्पना भी की है। इस रूपक में उनका उद्देश्य सिद्धान्त-प्रतिपादन नहीं, भविष्य के विषय में आदर्श-कल्पना का अंकन है। सिद्धान्त इस रूपक में इस प्रकार व्यंग्य है। भविष्य का काल्पनिक और स्वर्णिम चित्र अंकित करने का अभिप्राय यही है कि वे संसार में अपने आदर्श को यथार्थ बनते देखने के आकांक्षी हैं। कवि के अपने शब्दों में—"विंश शती का विश्व सभ्यता के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा। प्रस्तुत रूपक में उसके पूर्वार्ध के संघर्ष संग्राम का संक्षिप्त निदर्शन तथा उत्तरार्ध के आशा कल्याण-प्रद क्रमविकास की ओर संकेत किया गया है। उत्तरशती मानव-जगत् में नवीन स्वर्णयुग का समारम्भ कर सकेगी, इसमें सन्देह नहीं।"[3] 'रजतशिखर' में अन्तिम विचारात्मक रूपक है 'विद्युत वसना'। यह "स्वाधीनता की चेतना का रूपक है, जो स्वाधीनता दिवस के अवसर पर लिखा गया था। स्वाधीनता ध्येय नहीं, साधनमात्र है। ध्येय है अन्तरनिर्भरता तथा एकता। इस युग में जन-स्वतन्त्रता की उपयोगिता लोक-एकता तथा विश्व-मानवता के निर्माण ही में चरितार्थ हो सकती है; यही इस रूपक का सन्देश है।"[4]

इन सभी रूपकों में कथानक का विन्यास कवि ने नहीं किया। केवल कुछ काल्पनिक पात्रों का विधान करके बिना किसी पारस्परिक सम्बन्ध के उन्हें संवाद में प्रवृत्त किया गया है। ये पात्र भी विशेष व्यक्ति नहीं टाइप हैं। वे या तो किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं अथवा किसी विचारधारा के प्रतीक हैं। एक क्षीण-सा कथासूत्र प्रथम रूपक 'रजतशिखर' में अवश्य मिलता है।

'शिल्पी' के पहले रूपक 'शिल्पी' में कलाकार के अन्तःसंघर्ष का अंकन करने का प्रयत्न कवि ने किया है। आरम्भ 'शिल्पी' के अर्न्तद्वन्द्व के वर्णन से होता है—वह ऐसा सत्य अंकित करने का आकांक्षी है जिसमें निखिल चेतन युग-वैभव, जन-आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित करने का गुण वर्तमान हो। इसी समय दर्शकों का आगमन होता है, और होता है विभिन्न मूर्तियों का वर्णन और कला का साधुवाद। इसी बीच एक श्रेष्ठिपुत्र को मुरलीधर की मूर्ति का विक्रय किया जाता है। दूसरे दृश्य में मुरलीधर की मूर्ति की प्राणप्रतिष्ठा के अवसर पर उपस्थित दर्शकों के बीच मूर्तिपूजा के प्रश्न को लेकर विवाद उठ खड़ा होता है। 'शिल्पी' इस अवसर पर कला के आदर्श का प्रश्न उठाकर, जीवन के विगत मूल्यों में परिवर्तन की आकांक्षा करता हुआ उन दोनों

१. रजतशिखर, पृष्ठ ३
२. वही, पृष्ठ ४७
३. वही, पृष्ठ ७७
४. वही, पृष्ठ १२१

पक्षों का समाधान कलावादी तर्कों से कर देता है। तीसरे दृश्य में नवीन जनवादी आदर्शों की प्रतीक कल्पना को प्रस्तर पर अंकित करने के प्रयास में बारम्बार असफल, अपनी असमर्थता और उद्भ्रान्ति पर स्वयं खिन्न कलाकार, अन्त में सफल हो जाता है। इसी समय दर्शकों के बीच श्रमिक और कृषक वर्ग के जननायक का जनसमूह सहित आगमन होता है। यह जनसमूह कला के रूढ़ मूल्यों—अतिशय कल्पनाविलास, और अतृप्त वासना की अभिव्यक्ति का सस्वर विरोध करता हुआ, कलाकार की नूतन सृष्टि पर मुग्ध हो जाता है। उस कृति के जनवादी आदर्शों की व कला के प्रयोजन की व्याख्या कलाकार के द्वारा कराकर नाटक का अन्त होता है।

इस कृति के दूसरे नाट्य 'ध्वंस-शेष' का स्वर कुछ और बौद्धिक हो गया है। इस नाट्य का लक्ष्य है—जीवन के भौतिक मूल्यों पर आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना। पहले दो दृश्यों में आणविक आविष्कारों द्वारा भीषण ध्वंस, और इसी बीच संघर्ष-रत कुछ श्रमिक व सैनिक-वर्ग के मनुष्यों द्वारा नव-निर्माण का संकल्प वर्णित है। तीसरे दृश्य में दस वर्ष बाद कुछ लोग नव-निर्माण के लिए खोदते हुए विभिन्नाकृतियों की प्रतिमाओं को पाकर उन्हें विगत मूल्यों और आदर्शों का प्रतीक मानकर फिर दबा देते हैं। इस दृश्य की सभी घटनाओं का महत्त्व उनके प्रतीकार्थ में है। इन मूर्तियों में कवि ने उन आदर्शों की प्रतिष्ठा की है जिन्हें वह ध्वस्त होते देखना चाहता है। पूंजीवाद, वर्ग-वैषम्य की अनुकृति नारी, भौतिक विज्ञान, जीर्ण धार्मिक अंधविश्वासी रूढ़ि-रीतियाँ, युग को खण्ड-खण्ड में विभाजित करने वाली राजनीति और अर्थनीति। इनमें से विज्ञान के ध्वंसक रूप का वह विरोध करता है और उसे निर्मायक रूप में देखने की कामना। तभी तिमिर-क्षय और नवल चेतना के उदय में, किरणों से दीप्त आशाओं के बीच, अन्तर के प्रकाश से चिर प्रकाशित संस्कृति की आभादेही प्रतिभा का अवतरण होता है। चौथे दृश्य में एक कल्पित पात्र-'द्रष्टा' द्वारा आश्रम में नवयुग का वर्णन और आवाहन और तभी लोक-सत्ता के प्रतिनिधि, सद्भावों से प्रेरित सैनिकों का आगमन होता है। द्रष्टा और इन सैनिकों के प्रतिनिधि के बीच वार्ता में लोकतांत्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा, नव-जीवन के आदर्शों की व्याख्या, विगत राजनीतिक और आर्थिक तंत्रों पर मानव-तंत्र की प्राण-प्रतिष्ठा पर सब आश्वस्त और आह्लादित होते हैं।

'शिल्पी' का तीसरा और अन्तिम नाटक कवि के शब्दों में 'सौन्दर्य चेतना का रूपक' है। प्रथम दृश्य में एक कलाकार किसी अप्सरा के सम्मोहन में अपने आपको बँधा पाता है। इस सम्मोहन के प्रति स्वयं अवाक्, वह यह भी निर्णय नहीं कर पाता कि इसमें सत्य और भ्रम का अंश कितना-कितना है। मन में इस नये सौन्दर्य-ज्वार के उठने से ज्ञान के दीप इस चंचलता में बुझते प्रतीत होते हैं। सुनहले आदर्श, निष्प्रभ फीके पड़ते जान पड़ते हैं। अप्सरा के स्वरूप के विषय में उससे संवाद और फलस्वरूप मानसिक संघर्ष के उदय से इस दृश्य का अन्त होता है। द्वितीय दृश्य में कलाकार का मानसिक संघर्ष व्यक्त है। ऐसा प्रतीत होता है मानो बाह्य और भीतर के जग में घोर असंगति उत्पन्न हो गई है—संशय-तम में कोई पुकारता प्रतीत होता है। कुछ परुष और कोमल ध्वनियों में युग-चेतना की पुकार सुनाई पड़ती है। युग की वर्तमान व्यवस्था की आलोचना और, कलाकार-द्वारा नवीन चेतना के विधान की प्रतिष्ठा के संकल्प से दृश्य का अंत होता है।

तृतीय दृश्य अप्सरा के द्वारा निज की शिव-सुन्दर रूप में घोषणा से आरम्भ होता है। कलाकार द्वारा नए चैतन्य और नए अध्यात्म की सूचना, सीता-स्वयंवर के रूपक से जीर्ण मान्यताओं के जर्जर चाप को खंडित कर स्वयंवरा धरती के नव जीवन की श्री शोभा वरने को आकुल मन का वर्णन, और जगत्, जीव, सत्य आदि दर्शन के विषयों की अतिबौद्धिक व्याख्या की जाती है। चतुर्थ दृश्य में नवीन सौन्दर्य-चेतना के स्वरूप का वर्णन, जन-मंगल की कामना, कलाकार का वर्तमान स्थिति पर आक्रोश और अनास्था व्यक्त है। ऐसा आभास होता है मानो प्राण-चेतना अधोमुखी हो अवचेतन के तम में लिपटी रेंग रही है तथा जीवन को शोभा-मंडित करने की वांछा है। अन्त में प्राण-चेतना के गीत में जीवन में मंगल-उत्सव, सुख-सुषमा, नव-विकास और प्रगति के आवाहन से नाट्य का उपसंहार होता है।

'रजतशिखर' और 'शिल्पी' का कवि 'सौवर्ण' में समस्याओं और उनके समाधानों तथा आदर्श की कल्पनाओं से और भी त्रस्त है। 'रजतशिखर' और 'शिल्पी' के नाटचों में उसने अपना क्षेत्र सीमित रखकर, किसी पक्ष-विशेष की समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का उपक्रम किया है। 'सौवर्ण' के पहले रूपक 'सौवर्ण' में ही उसकी कल्पना और बुद्धि उन्मुक्त विहार कर जीवन के अनेक क्षेत्रों में संचरण करने लगी है। अतः वे देश, काल, क्षेत्र किसी भी दृष्टि से कोई प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करते। क्षेत्र का यह विस्तारण चिन्ताधारा की दृष्टि से विकास का द्योतक है, परन्तु नाटच-कला की दृष्टि से विशेष शुभ नहीं हुआ। 'सौवर्ण' में कवि ने वर्तमान जीवन की विडम्बना, विगत युगों की रूढ़िवादी सभ्यता, उसके दोष, उनका नाश, पश्चिमी और पूर्वी सभ्यताओं का पारस्परिक वैषम्य अंकित करके आदर्श स्वप्निल युग की स्थापना की है। नाटच का समापन इसी आदर्श के मानवीकरण से हुआ है।

'सौवर्ण' का दूसरा नाटक 'स्वप्न और सत्य' आदर्श और वास्तविकता के बीच युग-संघर्ष का द्योतक काव्य-रूपक है। एक कलाकार के प्राकृतिक सुषमा का चित्रांकन करते समय दो आगत मित्रों के बीच कला के उद्देश्य को लेकर विवाद से संघर्ष का सूत्रपात होता है। मित्रों के जाने पर उनके तर्कों को शब्दाडम्बर, नीरस और बोझिल मानकर कलाकार विश्राम करने के लिए सो जाता है, और तब कलाकार का भावाक्रान्त मन स्वप्नावस्था में अन्तर्जगत् के सूक्ष्म प्रसारों में विचरण करता है। अर्धजाग्रतावस्था में अनेक प्राचीन महाकवियों और महापुरुषों से मनसा-साक्षात्कार, स्वर्गलोकों के अनेक सूक्ष्म स्तरों का आभास और तदुपरान्त दुःस्वप्न-छायांधकार-पूर्ण लोकों में जीवन की समस्त कुत्सा, विडम्बना, घृणत्व, अमानुषता और दूषित वातावरण का साक्षात्कार, जिससे कला पहले अपरिचित थी—अंकित हैं। तदुपरान्त स्वप्न-चित्र-परिवर्तन के साथ लोक-जागरण का उत्सव-गीत और कलाकार के द्वारा आदर्श जन-समाज की सुखद कल्पना—इसी बीच रण का कोलाहल—इस शोषण, मानव-उत्पीड़न के प्रति कलाकार क्षुब्ध—मन में संघर्ष के भाव और अन्धकार का उदय—क्रमशः आशा और उल्लास में पर्यवसान। इस नाटच में संघर्ष अधिक है, समाधान और आदर्श कम।

इन सभी नाटचों को वस्तु-संगठन की दृष्टि से बहुत सफल नहीं माना जा सकता। शिल्पी' में अन्य रचनाओं की अपेक्षा वस्तु-विन्यास स्पष्ट और संगठित है। अन्य कृतियों में विभिन्न घटनाएँ और प्रसंग परस्पर उचित कार्य-कारण-सम्बन्ध में आबद्ध नहीं। वस्तु-विन्यास

में सहज क्रम का सर्वथा अभाव है। इसका एक कारण है—कवि यदि विचारों को प्रतीकों के माध्यम से अथवा रूपक-विधान या मानवीकरण के द्वारा प्रस्तुत करता, तथा उसमें विभिन्न प्रसंगों को सुविन्यस्त रूप देता तो इन कृतियों के वस्तु-विधान में जटिलता उत्पन्न नहीं होती। कवि ने कुछ विचारों की अभिव्यक्ति के लिए शरीरधारी पात्रों की कल्पना की है। कतिपय कल्पित पात्रों का रूप अलौकिक व निराकार है, व कहीं विचारों का मानवीकरण किया गया है। कलाकार, शिल्पी, जनसमूह, जननायक आदि पहले प्रकार के, तथा अप्सराएँ, देवता, स्वर्दूत, स्वर्दूती आदि दूसरे प्रकार के अन्तर्गत आते हैं। मनश्चेतना, प्राणचेतना, युगचैतना आदि अमूर्त तत्त्व हैं जिनका मानवीकरण हुआ है। इसके अतिरिक्त कुछ घटनाएँ स्वप्न, अवचेतन में मानसिक साक्षात्कार आदि के रूप में जोड़ दी गई हैं। सब कृतियों में संघर्ष भी बहुत स्पष्ट नहीं है। कवि प्रायः एक पक्ष का दोष-निरूपण करता हुआ क्रमशः आदर्श की स्वप्निल कल्पना में प्रवृत्त हो जाता है। दो विरोधी पक्षों में उचित संघर्ष-व्यवस्था के उपरान्त एक पक्ष की तर्क-सम्मत कारणों से विजय और दूसरे की पराजय का चित्रण वह नहीं करता। 'रजतशिखर' में कुछ दूर तक विचारों के संघर्ष को अंकित करने का प्रयास किया गया है, परन्तु इस संघर्ष में भी विशेष सजीवता नहीं है। पर्याप्त तनाव उत्पन्न होने से पहले ही संघर्ष का उपशमन हो जाता है। एक प्रसंग से दूसरे प्रसंग पर कथा के विकास में सहज क्रम व स्वाभाविकता की रक्षा नहीं हो पाती। विचारों की अभिव्यंजक कहीं आन्तरिक और कहीं बाह्य घटनाओं का घटाटोप इन नाट्यों में उलझे रूप में वर्तमान है। घटनाओं की दृष्टि से 'रजतशिखर' में स्पष्टता है। उसमें संकलित नाटकों में प्रसंगों का घटाटोप, उलझन या अस्पष्टता नहीं, परन्तु प्रसंगों में कार्य-कारण सम्बन्ध तथा उचित विन्यास कहीं नहीं मिलता। काल्पनिक पात्रों व प्रसंगों की उद्भावना विचारों के प्रतिनिधित्व की दृष्टि से कर ली गई है। उत्तरकालीन रचनाओं में विशेषकर 'सौवर्ण' में, इतने विविध क्षेत्रों से समस्याएँ उठायी गई हैं कि कथानक अतिशय बौद्धिक होकर उलझ गया है। स्वप्न और अवचेतन में घटना-चित्रण की शैली भी नाटकीयता की दृष्टि से बहुत शुभ नहीं हुई। कारण—इस प्रकार की घटनाओं में स्पष्टता और स्थिरता नहीं है। ऐसे विषय और इस रूप में उनकी प्रस्तुति नाटक और विशेषकर पद्य-नाट्य में उचित प्रतीत नहीं होती। वस्तु-संगठन की दृष्टि से 'शिल्पी' सबसे अधिक सफल है।

घटनाओं का स्वरूप इन काव्यों में कहीं मूर्त है—जहाँ वे विचार के उद्दीपन, और प्रेरणा के रूप में आई हैं, परन्तु अधिकांश प्रसंगों का स्वरूप अमूर्त और बौद्धिक है। कहीं-कहीं बौद्धिकता इतनी बढ़ गई है कि इन नाट्यों में पद्य के माध्यम से दर्शन और मनोविज्ञान की व्याख्या की गई प्रतीत होती है। 'अप्सरा' में कलाकार के मुख से सत्य, जीव, और ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या किसी दार्शनिक प्रसंग से कम नहीं—

कलाकार— **ईशावास्यमिदं सर्वं कहते द्रष्टा ऋषि**
उपनिषदों के, जगती में जो कुछ अक्षय है
वह भगवत् सत्ता है! जग की निखिल वस्तुएँ
ईश्वरमय हैं, वही सत्य है सार रूप में!
पर विकास प्रिय भू जीवन के द्वन्द्व क्षेत्र म

ईश्वर के सांप्रत स्वरूप से उसके भावी
महत् रूप ही का आकांक्षी है मानव मन।
जगत् भागवत् जीवन भिन्न पदार्थ नहीं हैं,
ईश्वर का ही अंश जगत, आरोहण पथ पर,
जिसका पूर्ण प्रकारांतर होना निश्चित है।[1]

इसी प्रकार सक्रिय अवचेतन, अर्धचेतन और स्वप्नावस्था के चित्र और विचार-शृंखला अंकित करने में कवि ने मनोविज्ञान का आश्रय लिया है। ऐसे बौद्धिक विषय नाट्य विधाओं के लिए बहुत उपयुक्त नहीं होते। उनके ग्रहण और आस्वादन में जिस बौद्धिक व्यायाम की अपेक्षा तथा रागात्मक सम्बन्ध का अभाव होता है, वह हमें बौद्धिक परितोष प्रदान कर सकता है, अनुभूतिजन्य हार्दिक आनन्द नहीं। 'रजतशिखर' की घटनाएँ कहीं-कहीं वस्तुगत हैं। ऐसे प्रसंगों में शैली भी वर्णनात्मक है और अनुभूति की प्रगाढ़ता भी है। अमूर्त-चिन्तन का कैवल्य 'रजत-शिखर' में संगृहीत नाट्यों में नहीं। कुछ प्रसंगों में पात्र ठोस यथार्थ अनुभव के धरातल पर पाँव जमाए खड़े प्रतीत होते है। एक उदाहरण देखिये—

युवक— **कितनी बार शरद के रेखा शशि की मैंने**
एक और मुख की रेखाओं से तुलना कर
उसे सदोष बताया है, तुमको कूंई के
अपलक नयनों का विस्मय अर्पित कर सादर···।
और तुम्हारी वेणी के चिर कोमल तम में
गूंथ कभी जब मधु के मुकुलों की सद्यः स्मिति
मैं मन ही मन तुम्हें हृदय स्वप्नों के मुकुलित
प्रीति पाश में भर लेता था, तब प्रसन्न मन,
तुम अनिमेष दृगों से मेरी ओर देख कर
मन्द हास्य से निज गोपन स्वीकृति देती थीं।[2]

विषय के स्वरूप के कारण इनमें से अधिकांश नाट्य-कृतियों के संवादों में नाटकोचित चांचल्य और संक्षेपण का अभाव है। 'शिल्पी' के अतिरिक्त अन्य कृतियों के अधिकांश संवाद बड़े-बड़े आत्मसंलाप से हैं। उनमें कहीं-कहीं सजीवता है, परन्तु उनके स्वर में अधिकांश स्थलों पर व्याख्या-विश्लेषण है। इसके अतिरिक्त इन संवादों की व्यावहारिकता व स्वाभाविकता एक विशेष वर्ग के पाठक तक ही सीमित हो सकती है, वह पाठक मात्र के प्रेक्षण या श्रवण का विषय नहीं हो सकते। इन संवादों का स्वरूप बहुत कुछ भाषणात्मक है। पात्रों के बीच में सर्वत्र संवाद का क्रम उत्तर-प्रत्युत्तर का भी नहीं है। एक विचार-क्रम को अनेक स्थलों पर एक पात्र से लेकर दूसरा पात्र आगे बढ़ाने लगता है। इन संवादों को संवाद इसीलिए कह सकते हैं कि इनमें एक से अधिक पात्र बोलते हैं, अन्यथा इनका स्वर कहीं उपदेशात्मक, कहीं व्याख्यात्मक और कहीं मनो-

---

१. शिल्पी—सुमित्रानन्दन पन्त, पृष्ठ १०५
२. रजतशिखर—सुमित्रानन्दन पन्त, पृष्ठ १५

विश्लेषणात्मक हो गया है। अधिकांश स्थलों पर नाटकीयता की दृष्टि से ये संवाद बहुत लम्बे हैं। 'शिल्पी' और 'रजतशिखर' के नाट्यों में अवश्य कुछ छोटे, सजीव और चुस्त संवादों की योजना मिलती है। जहाँ-जहाँ कार्य-व्यापार मनस्थ या प्रज्ञास्थित है और व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व तक सीमित है, वहाँ कवि ने आत्मविश्लेषणात्मक स्वगत-कथन का प्रयोग किया है। इस स्वगत का रूप उद्‌गीतिमय या आत्माभिव्यंजक नहीं विश्लेषणात्मक और आत्मचिन्तन-प्रधान है।

शैली की सामर्थ्य का जहाँ तक प्रश्न है यदि नाट्य गुण से निरपेक्ष रहकर इन कृतियों की शैली का विवेचन किया जाय, तो चिन्तन-प्रधान काव्य की शैली में जो गुण वर्तमान होने चाहिएँ वे अपने चरम उत्कृष्ट रूप में इन कृतियों में उपलब्ध हैं। मनोवैज्ञानिक और अमूर्त विषय को शब्दों में इतने समर्थ रूप में बाँधना बहुत दुष्कर कार्य है। कवि ने अनेक भाव और विचार-सत्यों को अधिकारपूर्वक अंकित किया है। सभी कृतियों की शैली में बौद्धिक काव्य के अनुरूप समास गुण का परिचय मिलता है। कवि ने अनेक विचारों और कल्पनाओं का समाख्यान इसी शैली में किया है।

कवि की कला समय की प्रगति से प्रभावित हुई है। उसकी विचारधारा का अन्तर-सौन्दर्य और भावुकता की बौद्धिकता में परिणति—अप्रस्तुत-विधान मे स्पष्ट है। भारतीय ग्राम का, एक समय "मरकत डिब्बे-सा" कहकर चित्रांकन करने वाले कवि के आदर्श अब बदल गये हैं—

धीरे सोये ग्राम जग रहे जीवन चेतन,
नव शोभा से लिपे-पुते जन संस्थानों-से
सौम्य शील संस्कारों के उर्वर निकुंज ये
लोक चेतना स्पर्शों, यत्नों से अनुप्राणित।[1]

पन्तजी की शैली जीवन के सुन्दर-कुरूप, कोमल-विराट्, अमूर्त और मूर्त सभी प्रकार के क्षेत्रों में समान रूप से गतिमान है। वे समानाधिकार से हर प्रकार के वर्णन करते हैं। इन नाट्यों में कवि ने जिन गीतों की रचना की है कहीं वे विशेष सुन्दर हैं परन्तु अधिकतर बौद्धिकता से बोझिल। इन नाट्यों को पढ़कर कामना होती है—

बौद्धिकता मरु में लुप्त हो गया उत्स भाव का!
इसे इन्द्रियों के स्वर्णिम पट में लिपटाओ
रूप गन्ध रस से झंकृत भूषण पहनाओ,……
इसे खुले द्वारों से, भाव पगों से गुंजित,
जन भू के विस्तृत पथ पर चलना सिखलाओ।

वास्तव में पन्तजी के काव्य में कला की अपेक्षा शिल्प अधिक है। वे नाटकीय प्रसंग-योजना, वस्तु-विन्यास, प्रबन्ध-विधान आदि में उतने पटु नहीं, जितने अंश-अंश वर्णन में, सुन्दर अप्रस्तुत-विधान में, काव्य की नक्काशी और जड़ाई-कढ़ाई में कुशल हैं। अतः उनके काव्य में प्रसंग-प्रसंग में जो सुन्दर शिल्प, समर्थ अभिव्यंजन मिलता है वह उसके समग्र रूप में नहीं। इन विचार-

१. रजतशिखर, पृष्ठ ४०

प्रधान नाट्यों तक आते-आते जनवादी मूल्यों की स्वीकृति के कारण उनकी कला में कोमल, सूक्ष्म, मधुर और मसृण के लालित्य के स्थान पर, वर्णन-सामर्थ्य, शक्ति, चिन्तन और सन्देश बढ़ चला है। नाट्य की दृष्टि से ये कृतियां उतनी सफल नहीं जान पड़तीं जितनी पाठ्य साहित्य की दृष्टि से सुन्दर और उपयोगी। हम यह कहकर इन कृतियों की कला का अवमूल्यन नहीं करना चाहते। हमारा निवेदन केवल इतना ही है कि इन रचनाओं में जितना काव्यत्व है उतनी नाटकीयता नहीं।

गीति-नाट्य

जैसा शब्द से स्पष्ट है इस काव्य-विधा में गीति और नाटक के तत्त्वों का विशेष विधि से मिश्रण किया जाता है। बात कुछ विचित्र है—गीति-काव्य के लिए आत्मगत व नाटक के लिए वस्तुगत दृष्टि अपेक्षित है। गीतिकार की वृत्ति अधिकाधिक आत्मकेन्द्रित, भावप्रवण व अन्तर्मुखी होती है, तथा नाटककार का दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ, इतिवृत्तात्मक और बहिर्मुख होता है। इस प्रकार इन दोनों विधाओं के मूल दृष्टिकोण, अतः सृजन-प्रक्रिया भिन्न होने के कारण दोनों के योग से उद्भूत विधा में एक विरोधजन्य चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। बाह्याकार की दृष्टि से भी गीत किसी विशेष मनःस्थिति या मनोवेग का सहज व अन्तःस्फूर्त उच्छ्लन होने के कारण आकार में संक्षिप्त होता है। इस प्रकार के भावावेग में प्रायः स्थैर्य का अभाव होता है। इससे भिन्न नाटक की रचना किसी क्रमबद्ध उचित योजना (proper planning) और प्रक्रिया (process) से होती है, परन्तु गीति-नाटक में जब उपर्युक्त विधाओं का मिश्रण किया जाता है तो गीति-काव्य का अन्तर्मुखी भावात्मक दृष्टिकोण, नाटक का कथात्मक संस्पर्श और समाख्यान (narration) के स्थान पर दृश्य काव्य की प्रस्तुति (presentation) की शैली अपना ली जाती है। नाटक में दृश्यात्मकता के लिए शैली में प्रदर्शन का गुण तीन रूपों में लाया जाता है—

(क) कार्य-व्यापार की प्रस्तुति अर्थात् घटनाओं का वर्णन न करके प्रदर्शन।

(ख) संवादों के द्वारा कथा-विकास और

(ग) आत्माभिव्यक्ति के लिए स्वगत का प्रयोग।

गीति-नाट्य में पहली का नहीं दूसरी और तीसरी विशेषता का उपयोग होता है। इसका कारण गीति तत्त्व की प्रमुखता है। गीतिकाव्य में कार्य की अपेक्षा भाव की प्रमुखता होती है, अतः जब गीति के साथ नाटकीयता का संयोग होता है तो गीतिकाव्य की भावमयता में नाटक के संघर्ष के मिलने से कार्य का रंगस्थल बदल जाता है और गीति-नाट्य में स्वभावतः बाह्य संघर्ष के स्थान पर आन्तरिक संघर्ष का विधान होता है। आन्तरिक संघर्ष से हमारा अभिप्राय एक भावना के दूसरी भावना से संघर्ष अथवा अन्तर्द्वन्द्व से है। जहाँ कहीं बाह्य परिस्थितियों में संघर्ष का चित्रण भी होगा वहाँ भी वह आन्तरिक द्वन्द्व को तीव्रतर बनाने अथवा आन्तरिक द्वन्द्व के कारण प्रस्तुत करने के लिए होगा। इस प्रकार अन्तर्मुखी दृष्टिकोण और भावमयता, गीति-नाट्य को पद्यबद्ध नाटक से पृथक् करती है, अतः नाटक और गीति-नाट्य में अन्तर केवल माध्यम का नहीं दृष्टिकोण और शैली का है। गीति-नाट्य पद्यबद्ध नाटक का

गीति-विशिष्ट रूप है। अँगरेज़ी साहित्य में कवि ब्राउनिंग द्वारा रचित गीति-नाट्यों में भी यही विशेषताएँ मिलती हैं, अर्थात् उनका विषय मानव का भाव-जगत् है और उनका अंकन नाट्य शैली में किया गया है। हिन्दी के गीति-नाट्यों पर ब्राउनिंग और स्वीनबर्न आदि के गीति-नाट्यों का प्रचुर प्रभाव पड़ा। आंग्ल-साहित्य में भी यह विधा परम्परागत या रूढ़ नहीं, आधुनिक युग के कवियों द्वारा आविष्कृत नवीन विधा थी।[1]

प्रचुर भावमयता होने पर भी दृश्यात्मकता गीति-नाट्य के लिए अनिवार्य है। गीति-नाट्य में कवि अपनी अनुभूति को पात्रों के माध्यम से दृश्य काव्य का सहारा लेकर सँजोता है। यह अनुभूति व उसके अपने मन का अन्तर्द्वन्द्व अन्यान्य पात्रों के रूप में विभक्त होकर नाटकीय कथोपकथन के सहारे व्यक्त होता है। यह कथोपकथन गीतिमय होता है। परन्तु गीति-नाट्य में पर्याप्त भावमयता होने पर भी उसे 'भाव नाट्य' कहना उचित नहीं—

"जीवन के ऐसे व्यापार जो सूक्ष्म हैं, कोमल हैं, भावात्मक हैं और मर्मस्पर्शी हैं यहाँ शब्दों का सहारा लेकर मूर्त रूप धारण करते है। उनमें भावों की अन्विति भी उसी भाँति आवश्यक होती है जैसी गीतिकाव्य के लिए अपेक्षित होती है। ...कहना न होगा कि भावावेश के साथ 'गीति-नाट्य' का प्रवाह आगे बढ़ता है। उनमें भावों के आवेग को जितना महत्त्व दिया जाता है उतना कथा को नहीं। इसलिए गीति नाट्य-लेखक उदयशंकर भट्ट ने अपने गीति-नाट्यों को 'भाव नाट्य' कहकर पुकारा है और उसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि भाव नाट्य एक प्रकार की मानसिक उथल-पुथल मचाने वाली भावधारा को लेकर चलता है और अपनी शृंखलाएँ लम्बे-लम्बे छोरों से जोड़कर समन्विति को ग्रहण करता है। प्रकृति और गीति उसके आलम्बन हैं और विचार उद्दीपन, इसलिए परिणति रस है। कायिक व्यापार उसमें नहीं होते, यदि होते हैं तो बहुत थोड़े। केवल मानसिक चिन्तन का सतत प्रदर्शन होता है।"[2]

हम इस काव्य-विधा को भाव नाट्य कहने के पक्ष में नहीं हैं। 'गीति-नाट्य' शब्द में काव्य-रूप की विषयगत विशेषताओं को स्पष्ट करने के साथ शैलीगत विशेषताओं को भी स्पष्ट करने का गुण है। भाव नाट्य कहने के लिए जो तर्क भट्टजी के मत के आधार पर डा० दुबे ने दिये हैं उनका उत्तर यह कहकर दिया जा सकता है कि भावमयता का भाव 'गीति' शब्द में और भावान्विति एवं दृश्यात्मकता का भाव 'नाट्य' शब्द में अन्तर्भूत है। इसके अतिरिक्त 'गीति' शब्द इस विशेषता की ओर भी संकेत करता है कि इन नाट्यों की नाटकीयता—गीति शैली में संवादों से व्यक्त होती है। 'भाव' शब्द से रचना-शैली और माध्यम का स्पष्ट निर्देश नहीं होता।

---

1. The significant thing about Browning is that he invaded still another province in the interests of poetry; he showed that the psychological analysis of the motives underlying human conduct was full of dramatic possibilities, and because the atmosphere of such an analysis could not be conveyed by the accepted poetic action, he invented a new poetic diction of his own.

Phases of English poetry—Herbert Read, page 152.

२. काव्यरूपों के मूलस्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे, पृ० ५३५

यह ठीक है कि भावपूर्ण उच्छ्वास का उचित माध्यम गीतिकाव्य ही होता है। परन्तु गद्य के माध्यम से भावमय रचना न हो सकती हो, ऐसा कोई नियम नहीं। गद्य भी अत्यन्त भावात्मक शैली में लिखा जा सकता है। भावमय रचना के लिए गीति का आवरण अनिवार्य नहीं, परन्तु गीतिकाव्य के लिए भावप्रवण दृष्टि अनिवार्य है—इसलिए हमारे मत में 'भाव नाट्य' की अपेक्षा 'गीति-नाट्य' शब्द इस विधा की विशेषताओं को अधिक स्पष्ट और व्यापक रूप में व्यक्त करता है। इसके अतिरिक्त भट्टजी ने स्वयं स्वीकार किया है कि—"जहाँ गीति-पद्य में स्वरसभावों का संचालन होता है, उसे गीति-नाट्य कहते हैं। गीतिकाव्य भाव नाट्यों का बहिरंग है।"[1] हम उन्हीं के कथन का विपर्यय करके यदि कहें कि भावमयता गीति-नाट्य का अन्तरंग है तो हम इस काव्य-रूप की अन्तरंग और बहिरंग दोनों विशेषताओं की ओर एक ही शब्द 'गीति-नाट्य' से संकेत कर सकेंगे। 'भाव नाट्य' में ऐसा सम्भव नहीं है। जब हम किसी काव्य को गीति-नाट्य कहते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि हमारा अभिप्राय ऐसे काव्य-रूप से है जो :—

(क) अनिवार्यतः पद्यबद्ध है।
(ख) दृश्य काव्य की विशेषताओं से युक्त है।
(ग) दृष्टिकोण भावमय—अतः कार्य-व्यापार और संघर्ष बाह्य न होकर अन्तरंग है।
(घ) माध्यम पद्य का भी विशेष प्रकार गीतिकाव्य है, अर्थात् उसमें गीतिमय संवाद-योजना है।

एक बात और, गीति-नाट्य में कथोपकथन-सम्बन्धी एक व्यावहारिक विशेषता की ओर श्री भट्ट ने संकेत किया है, और इस सम्बन्ध में उनसे मतभेद का प्रश्न नहीं उठता—

"यह भाव नाट्य मानव के भाव-जगत् से सम्बन्धित होने के कारण संवादों में उच्च-स्तर का विशद मानसिक विश्लेषण करते हैं। यह विश्लेषण बहुमुखी होना संभव नहीं। भाव अपने में एक अदृष्ट क्रिया है। अतः उसे साधारण रूप में अल्प शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। एक भाव के उत्तर में दूसरा भाव समुपस्थित किया जाता है, जिनके व्यक्तीकरण में शब्दों का लोभ किया ही नहीं जा सकता; अतः भाव नाट्यों या कल्पना-प्रधान नाटकों में सम्वाद कभी-कभी लम्बे होने स्वाभाविक हैं।"[2]

जहाँ कवि की दृष्टि वस्तुनिष्ठ है वहाँ उसकी अभिव्यक्ति में संक्षिप्तता संभव है, परन्तु अनुभूतियों या भाव-चित्रों के मानस-बिम्ब अंकित कराने के लिए व्याख्या की अपेक्षा है। उदाहरण लीजिए, प्रकृति के किसी पदार्थ का वर्णन करने के लिए उसका मानस-चित्र एक शब्द से अंकित किया जाता है। 'नदी' और 'निर्झर' का अन्तर इन दोनों शब्दों के प्रयोग मात्र से हमारे मन में अंकित हो जाता है, परन्तु 'श्रद्धा' और 'भक्ति' का अन्तर स्पष्ट करने के लिए व्याख्या की अपेक्षा है। किसी पशु-पक्षी का नामोल्लेख हमारे मन में तत्सम्बन्धी धारणा स्पष्ट कराने व बिम्ब-ग्रहण कराने के लिए पर्याप्त है। ऐसा अमूर्त भावों के विषय में नहीं होता। 'कमल' और

१. विश्वामित्र और दो भाव नाट्य—उदयशंकर भट्ट, भूमिका, पृ० १
२. वही, पृष्ठ २

'करुणा' इन दो शब्दों से पाठक के मन में उत्पन्न प्रतिक्रिया सर्वथा भिन्न होगी। एक से वह बिम्ब-ग्रहण करेगा और दूसरे से अर्थ-ग्रहण और इस अर्थ को जितना अधिकाधिक स्पष्ट किया जायगा उतनी ही व्याख्या और विस्तार होगा। भावों की संक्षिप्त अभिव्यक्ति केवल एक ही मार्ग से हो सकती है—व्यंजना के प्रयोग-द्वारा। ऐसा करने से अभिव्यंजना में समास-गुण व अर्थ-गौरव की सृष्टि संभव है, परन्तु गीति-नाट्य में उसकी प्रदर्शनीयता के कारण ऐसा भी नहीं किया जा सकता। शैली में व्यंजना और वक्रता की जितनी अभिवृद्धि होगी उतनी ही वह उसकी प्रेषणीयता में बाधक होगी और दृश्य काव्य में प्रसादगुण तथा प्रेक्षक को तत्काल अर्थ-ग्रहण कराने की सामर्थ्य अन्य काव्य-रूपों की अपेक्षा अधिक वांछनीय है, क्योंकि उसमें रुककर समझने का अवकाश प्रेक्षक को बिल्कुल नहीं होता। अपवाद की स्थिति में वह प्रबन्ध के धारा-प्रवाह कार्य-व्यापार को समग्र रूप से ग्रहण नहीं कर पाएगा, अतः रस-ग्रहण में बाधा होगी। इसलिए गीति-नाट्य में कथोपकथन प्रायः लम्बे होते है। इसका एक कारण और है—साधारण नाटक में संघर्ष की आंशिक अभिव्यक्ति कार्य-व्यापार या कायिक चेष्टाओं द्वारा भी की जाती है, परन्तु गीति-नाट्य में बहिरंग कार्य-व्यापार के अभाव में समस्त अन्तर्द्वन्द्व वाचिक रूप में ही व्यक्त होता है।

अभिनेयता की स्वीकृति सभी ने गीति-नाट्य में अनिवार्य रूप से की है—"नाटक शब्द का सम्बन्ध ही नाट्य-अभिनन्दन से है। यह भाव नाट्य रंगमंच पर सफलता के साथ खेले जा सकते हैं। पर इनके लिए इनके उपयुक्त रंगमंच तथा इस स्तर के भावुकता-प्रवण दर्शक हों।"[1] इन गीति-नाट्यों में इसीलिए नाटकीय संकेत अवश्य दिये जाते हैं, यद्यपि विस्तृत नहीं। आकार भी इनका छोटा ही होता है। प्राप्त गीति-नाट्यों में से अधिकांश में चार या पाँच से अधिक दृश्यों की योजना नहीं की गई। गीति-नाट्य में पात्रों की बहुलता भी प्रायः नहीं होती। अदृष्ट कार्य-व्यापार में यथासंभव स्पष्टता की रक्षा के लिए कदाचित् ऐसा किया जाता है, क्योंकि गीति-नाट्य के अधिकांश पात्र संघर्ष में किसी न किसी पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं; उनकी व्यक्तिगत सत्ता की महत्ता नहीं होती, अतः अधिकाधिक पात्रों का आशय संघर्ष की बहुविध योजना, अथवा अनेक गुत्थियों का विधान है। गीति-नाट्य में पात्र-संख्या अनिवार्यतः कम होनी चाहिए, ऐसा प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता, हम इस विशेषता का निर्देश केवल व्यावहारिक दृष्टि से उपलब्ध सामग्री के आधार पर कर रहे हैं।

गीति-नाट्य की कथावस्तु का आधार इतिहास, पुराण, जनश्रुति व कल्पना कुछ भी हो सकता है। उपलब्ध गीति-नाट्यों की रचना उपर्युक्त सभी स्रोतों से सामग्री ग्रहण करके की गई है। वस्तुतः गीति-नाट्य की कथा ऐतिहासिक, पौराणिक या काल्पनिक कैसी भी हो, उसका स्वरूप वर्णनात्मक या घटनात्मक न होकर भावात्मक होता है। जहाँ पात्र ऐतिहासिक होते हैं वहाँ उनका अन्तर्वृत्ति-निरूपण और काल्पनिक पात्रों के माध्यम से स्वानुभूति व अन्तर्द्वन्द्व का अंकन कवि का उद्देश्य होता है। सफल चित्रण के लिए जिस अन्तःप्रवेशी व अन्तःसाक्षात्कार करने में समर्थ दृष्टि की अपेक्षा होती है वह बहुत कुछ कवि की समृद्ध अनुभूति और समर्थ कल्पना

१. विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य - उदयशंकर भट्ट, भूमिका, पृष्ठ २

पर निर्भर है। गीति-नाट्य का उत्कर्ष कथा-स्रोत की अपेक्षा कवि की उर्वरा कल्पना पर आश्रित है।

गीति-नाट्य में कथा का विकास जैसा हम पहले भी कह चुके हैं—कथोपकथन के द्वारा होता है, कार्य-व्यापार के प्रदर्शन से नहीं; और ये कथोपकथन गीतिमय होते हैं। कहीं-कहीं गीतों की योजना भी की जाती है।

इस प्रकार संक्षेप में गीति-नाट्य की काव्य-रूप-सम्बन्धी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :-

(१) **कथानक**

(क) गीति-नाट्य का कथानक ऐतिहासिक, प्रख्यात व काल्पनिक कैसा भी हो सकता है।

(ख) कथानक का स्वरूप घटनात्मक व वस्तुरूप न होकर भावात्मक होता है।

(२) **चरित्र**

(क) गीति-नाट्य में प्रायः पात्रों की संख्या बहुत अधिक नहीं होती।

(ख) पात्र कार्य-व्यापार के कर्त्ता व भोक्ता रूप में चित्रित नहीं किये जाते। वे वक्ता होते हैं—अपने भाव व विचारों के, अथवा उनके माध्यम से कवि की अनुभूतियाँ या अन्तः-संघर्ष व्यक्त होता है। अतएव चारित्रिक विशेषताओं का अभिज्ञान व चरित्र-विश्लेषण उनके क्रिया-व्यापार से नही कथोपकथन के द्वारा होता है।

(३) **शैली व शिल्प**

(क) गीति-नाट्य मूलतः प्रबन्ध और प्रबन्ध का नाट्य रूप है, अतः उसकी भाव-संगठना में अन्विति अनिवार्य है।

(ख) नाट्य-रूप होने के कारण उसमें परिस्थितियों की सघनता (Tensity), नाटकोचित उत्थान-पतन (भले ही भाव-सम्बन्धी हो) के रूप में नाट्य-तत्त्व वर्तमान रहना आवश्यक है।

(ग) नाट्य-गुण के लिए गीति नाट्य में कार्य-व्यापार का प्रदर्शन नहीं होता। गीति-नाट्य की कथा का विकास घटनाओं के चित्रण के द्वारा नहीं, कथोपकथन व स्वगत के माध्यम से होता है।

(घ) गीति-नाट्य के संवाद गीति-शैली में लिखे जाते हैं, अर्थात् ये संवाद गीति-संवाद होते हैं।

(ङ) गीति-नाट्य की आत्मा गीतात्मक और शैली नाट्यात्मक होने के कारण उसकी अभिव्यंजना में गीतिकाव्य के गुण—भावप्रवणता, अन्तःस्फूर्त अभिव्यंजना, भाषा में लालित्य, मृदुता, कान्ति, और नाट्य के गुण—सजीवता, प्रभावात्मकता, प्रसादमयता आदि का सहज समावेश हो जाता है।

(च) विषय अमूर्त होने के कारण, गीति-नाट्य में कथोपकथन, घटनाप्रधान नाटकों की अपेक्षा लम्बे होते हैं।

(छ) आन्तरिक अर्थात् भाव-संगीत की स्वर-लहरी तो आद्यन्त गीति-नाट्य में अनुस्यूत रहती ही है, आवश्यकता पड़ने पर स्वर के संगीत का उपयोग कर गीतिमय कथोपकथन के बीच में गीतों की योजना भी प्रायः की जाती है।

(ज) गीति-नाट्य का आकार संक्षिप्त और नाटक की भाँति विभाजन दृश्यों में होता है। प्राप्त रचनाओं में दृश्यों की संख्या चार या पाँच से अधिक नहीं है।

(झ) अभिनेयता के प्रति सचेष्ट होने के कारण अधिकांश रचयिताओं ने रंगसंकेत तो दिये ही हैं। कुछ कवियों ने रेडियो के लिए रचना करने के कारण ध्वनि-संकेत भी दे दिये है।

समग्र रूप में

एक ओर गीति-नाट्य का गीति-तत्त्व उसे सामान्य पद्य-नाट्य से भिन्न करता है, दूसरी ओर उसमें अभिनेयता नाट्य-कविता से उसका व्यावर्तन करती है। अतः गीति-नाट्य काव्य-रूपक का ही एक भेद है जिसमें अन्तर्मुखी संघर्ष का अंकन गीति के माध्यम से होता है। इस प्रकार डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में इसका "प्राण तत्त्व है भावना अथवा मन का संघर्ष, और माध्यम है कविता।"[1]

गीति-नाट्य शब्द के व्यापक प्रयोग की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में गीति-नाट्यों का आरम्भ 'करुणालय' से, और सही अर्थ में भगवतीचरण वर्मा के 'तारा' से मानना चाहिये। ऐसी रचनाओं की संख्या इस युग में बहुत नहीं। 'तारा' के उपरान्त उदयशंकर भट्ट के तीन गीति-नाट्यों, 'विश्वामित्र', 'मत्स्यगंधा' और 'राधा' का उल्लेख किया जा सकता है। इस नाम पर जो अन्य रचनाएँ हुई उन्हें हम गीति-नाट्य नहीं स्वीकार करते यह हम पिछले पृष्ठों में कह आए हैं, तथा उनकी रूप-विधा-विवेचन का सम्यक् प्रयत्न भी हमने किया है। अतः हम यहाँ किसी प्रकार का विवाद न उठाकर, उक्त गीति-नाट्यों के रूप-विवेचन से आरम्भ करेंगे।

तारा के कथानक का आधार है ऋषि-पत्नी तारा और चन्द्रमा के प्रेम और अभिशाप का प्रख्यात आख्यान, और इस नाट्य का प्राण है वासना और धर्म-भावना का उत्कट संघर्ष।

ऋषि-पत्नी तारा का अतृप्त यौवन एक साथ विद्रोह कर उठता है, वह तुरन्त ताड़कर मन को संयत करने का प्रयत्न करती है, परन्तु उसकी कर्तव्य-भावना और कामना के बीच संघर्ष तत्काल उपस्थित होता है। बृहस्पति उसे पूजा के पात्र प्रतीत होते हैं प्रेम के नहीं, और यह असह्य विरोध की भावना बृहस्पति पर प्रकट हो जाती है। वे सुनकर चकित हो जाते हैं और वासना की पापमूलक प्रवृत्ति और संसार की असारता का व्याख्यान कर उसके उद्वेलन को शान्त कर, मनोवृत्तियों को समाहित करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु उनके अपने मन में प्रश्न उठ खड़ा होता है—

पुण्य शुष्क है रसमय केवल पाप है।[2]

दूसरे दृश्य में चन्द्रमा को पढ़ाते समय भी यही पाप-पुण्य के स्वरूप का प्रश्न छिड़ता है। बृहस्पति अपने तर्कों द्वारा वासना का तिरस्कार करते हैं। परन्तु उनके मुख से निकला एक वाक्य जिसमें वे प्रकृति की एकमात्र सत्ता को स्वीकार करते हैं, पाप-पुण्य की नहीं, चन्द्रमा के मन में पैठ जाता है। उसी समय तारा का प्रवेश होता है और वह चन्द्रमा को देखकर विचलित होती है। चन्द्रमा तभी गुरुपत्नी को माता कहकर प्रणाम करता है और यह सम्बोधन तारा की

१. आधुनिक हिन्दी नाटक—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ८८
२. मधुकण—भगवतीचरण वर्मा, तारा, पृष्ठ ५८

वासना से टकराकर सद्भावना को प्रेरित करता है। तभी आश्रम का भार चन्द्रमा को सौंपकर बृहस्पति बाहर जाने का संकल्प करते हैं। तारा और बृहस्पति का प्रस्थान—तारा के अकलुष सौन्दर्य से प्रभावित चन्द्रमा वहीं रह जाता है।

तीसरे दृश्य में तारा और चन्द्रमा के हृदयों का उद्वेलन, और एक-दूसरे को पाने की कामना प्रबलतर हो जाती है। दोनों विवश से आत्म-संयम का प्रयत्न करते हैं। परन्तु शिक्षा के समय बृहस्पति का कहा वाक्य चन्द्रमा के मन में पाप-पुण्य की भावना मिटाकर उसे विचलित कर देता है। सामने ही तारा दिखायी देती है। दोनों का संयम बाँध तोड़कर बह जाना चाहता है। चन्द्रमा प्रस्ताव करना है, तारा अपनी उद्दाम वासना पर धर्म-भीरुता के कारण संयम पाना चाहती है, परन्तु चन्द्रमा पुरुषत्व से तर्क की छाया का सहारा लेकर, उसकी धर्म-भीरुता पर विजय पा लेता है। तारा इस दुस्तर प्रवाह में आत्मविस्मृत-सी बह जाती है। अन्तिम दृश्य में बृहस्पति कुटीर की शून्यता को देखकर तपोबल से रहस्य जान लेते हैं, और दोनों को शाप देकर अपना क्रोध शान्त करते हैं।

तारा एक सफल गीति-नाट्य है। उसमें अंकित संघर्ष बहुत प्रबल और मनोवैज्ञानिक है। नाटक में आद्यन्त प्रत्येक पात्र की भावनाओं में नाटकोपयुक्त उत्थान-पतन है। बृहस्पति भी इस मन-संघर्ष से नहीं बचे हैं। धर्म और वासना का तुमुल संघर्ष तारा और चन्द्रमा के मन में अत्यन्त सबल रूप में अंकित है। कवि के मत में वासना की रंगीनी और शक्ति अपरिजेय है, और इस नाटक में उसने वस्तु की गतिविधि का संचालन बड़े कलापूर्ण ढंग से बृहस्पति के मुख से निकले उस वाक्य के द्वारा किया है जो चन्द्रमा के मन में उलझकर उसके स्खलन में सहायक बन गया—

प्रकृति स्वयं है, पाप-पुण्य कुछ भी नहीं। [1]

इस वाक्य का अवलम्ब लेकर वह ऐसा गिरता है कि सँभल नहीं पाता। आरम्भ में तारा के मन का विद्रोह अत्यन्त स्वाभाविक रूप में व्यक्त है। वह मन को संयत करती है, समाधान करने का प्रयत्न करती है—

भ्रम है, भ्रम है निपट पाप की प्रेरणा,
है कर्त्तव्य प्रधान और आराधना।

परन्तु यह समाधान एक नया प्रश्न बन जाता है, वह सोचती है आराधना किसकी?

मनोभाव की प्रकृति के नियम की?
या स्वामी के पूज्य चरण-रज की? [2]

और वह आश्वस्त नहीं हो पाती। व्यक्ति जब पाप की ओर प्रवृत्त होता है तो वह अनजाने पापवृत्ति के पक्ष में तर्क जुटाता जाता है। वासना का अजेय आकर्षण और दुर्दम शक्ति तारा और चन्द्रमा दोनों के मन में सबल विद्रोह की सृष्टि करते हैं। दूसरे दृश्य में तारा के स्वगत और तीसरे में चन्द्रमा की उक्ति में इस कथन के प्रमाण मिल जायंगे। नाटक का अन्त उस युग

---

१. मधुकण—भगवतीचरण वर्मा, तारा, पृष्ठ ५९
२. वही, पृष्ठ ५६

के लिए स्वाभाविक है। ऋषि के अमर्ष में करुण व्यथा है, पर तारा और चन्द्रमा भी नैसर्गिक मनोवृत्तियों के विद्रोह से पराभूत दुर्बल प्राणियों के रूप में पाठक की करुणा के पात्र ही होते हैं, आक्रोश के नहीं। वस्तु में एकता, गठन, प्रत्येक प्रसंग की अनिवार्यता और प्राण-धारा है।

संघर्ष का केन्द्र समस्त नाटक में पात्रों का अन्तर्मन है, और यह आन्तरिक संघर्ष विचारों का नहीं, भावनाओं का संघर्ष है। अतः नाट्य के साथ गीति-तत्त्व भी अक्षुण्ण है। नाट्य के संवादों में इस अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त करने की पूरी क्षमता है। विजयी भावना के पक्ष से प्रस्तुत तर्कों में जान है, शक्ति है, और धर्म-भावना तो अन्त में पराजित होते-होते धर्म-भीरुता मात्र रह जाती है। नाटक के स्वगत और कथोपकथन दोनों ही विशेष समर्थ और मार्मिक हैं।

वर्माजी की शैली में विषय को यथावत शब्दों में उतारने की पूरी सामर्थ्य है। वे अपने कथन की अलंकारों के प्रसाधन और कल्पना के विलास से सज्जा नहीं करते, उसमें प्राण-शक्ति का संचार करते हैं। उनकी शैली में सजीवता, धार और सामर्थ्य, उनकी अनुभूति की प्रबलता और भावों के वेग के कारण होती है, शिल्प की बारीकी के कारण नहीं। मन की सघन और तीव्र अनुभूतियाँ बिना व्यंग और वक्रता का आवरण पहने अत्यन्त स्वाभाविक रूप में पृष्ठों पर उतर आती हैं। उनकी नाटकीय परिणतियों, उत्थान-पतन और संघर्ष-विधान में वर्माजी अत्यन्त कुशल कलाकार हैं, अभिव्यंजना की श्री और विलास की दृष्टि से उतने कुशल शिल्पी नहीं। इस गुण की नाट्य-कला के लिए उतनी आवश्यकता भी नहीं। नाट्य-गुण गीति-नाट्य में अधिक अनिवार्य है, और वह रंग-संकेतों के अभाव में भी इस रचना में पूर्णतया वर्तमान है। 'तारा' में इस प्रकार सर्वप्रथम गीति-नाट्य की कला का उत्कर्ष आधुनिक काल में परिलक्षित होता है।

'विश्वामित्र', 'मत्स्यगन्धा', 'राधा'—'विश्वामित्र' और 'मत्स्यगंधा'—दोनों की कथा-वस्तु में साम्य है। 'राधा' का कथानक कुछ भिन्न है। संघर्ष 'मत्स्यगन्धा' और 'विश्वामित्र' में भी भिन्न है। अक्षय यौवन की कामना—'मत्स्यगन्धा' की प्रेरक भावना है। धीवर-कन्या मत्स्यगन्धा यौवन के प्रथम स्पर्श से चंचल है। प्रकृति-विलास को देखकर उसका मन मचल उठता है, उसके अन्तः में हूक उठती है। भोली सखी सुभू के समाधान के प्रयास निरर्थक होते हैं और मत्स्यगन्धा की इच्छा सीमा तोड़कर बिखरती जाती है। उसे अपनी सामाजिक स्थिति का ध्यान आता है पर उसकी दुरभि आकांक्षा उसे दबा देती है। इसी समय मत्स्यगन्धा का मनो-विकार अनंग के रूप में मूर्तिमान होकर सामने आता है। अनंग उसे चिर यौवन का वरदान देना चाहता है—परन्तु कातर मत्स्यगन्धा उसके वरदान को अस्वीकृत कर देती है। यह अस्वीकृति परिस्थिति-ज्ञान के कारण है। अतः यह क्षणिक दमन उसकी यौवन-लालसा को उद्दीप्त कर उसके मन में तूफान उठा देता है। दूसरे दृश्य में वृद्ध पाराशर को तूफान में नदी पार कराती केवट-कन्या पाराशर के कामार्त होने पर संघर्ष के उपरान्त उनसे अक्षय-यौवन का वरदान माँग-कर आत्म-समर्पण कर देती है। यहाँ नाटक का संघर्ष अपने चरम पर आकर चौथे दृश्य में निगति की ओर उन्मुख होता है। मत्स्यगन्धा अनन्त यौवना विधवा सत्यवती के रूप में प्रासाद पर खड़ी है—उसका वरदान आज अभिशाप के रूप में उसे कातर बना रहा है। इसी समय अनंग का दर्शन होता है, वह उसकी मनुहार करती है, दान को लौटा लेने का आग्रह करती है, परन्तु वह उसकी दुर्दशा पर व्यंग्य कर चल देता है।

'विश्वामित्र' की कथावस्तु में कवि के अपने शब्दों में पुरुष और नारी का संघर्ष है। पुरुष का प्रतीक हैं विश्वामित्र, नारी का मेनका, और उर्वशी। पुरुष के गुण अहंकार, बल, शक्ति और अभिमान से युक्त विश्वामित्र नर है। प्रेम, कोमलता, नम्रता, जीवन, स्फूर्ति व भाव-प्रबलता से युक्त मेनका नारी है। इन विशेषताओं के प्रकाश में कवि ने विश्वामित्र और मेनका के प्रसिद्ध आख्यान को नाट्य-रूप दिया है। विश्वामित्र का अहंकार उनके समक्ष मूर्तिमन्त है, साक्षात् है। उनका यह अम्बर-चुम्बी अहं ार उन्हें विश्व पर सतत् अधिकार की कामना से समाधि में प्रवृत्त करता है। उर्वशी और मेनका वहाँ प्रकट होती हैं। मेनका एकरस माधुर्य-भावना की प्रतीक है, और उर्वशी में माधुर्य के साथ कटुता भी है। इसीलिए विश्वामित्र को देखकर मेनका का नारीत्व चंचल हो उठता है, और उर्वशी के हृदय में कटुता उभर आती है। नर की दूसरों पर शासन करने की भावना उसके नारीत्व को सह्य नहीं। मेनका उसका समाधान करना चाहती है। वह नर के अहं के साथ उसकी दुर्बलता से भी परिचित है। उसके मन में राग के बल पर पुरुष को पराजित करने की सामर्थ्य पर विश्वास है। उर्वशी और मेनका के शब्दों में नारी के दो रूपों का व्याख्यान है। उर्वशी चिर-शासिता नारी की करुणा को व्यक्त करती है और मेनका महत्त्व को। अन्ततः प्रतिस्पर्धा की कामना से उर्वशी मेनका को प्रेरित करती है, और मेनका अपने प्रयत्न में सफल हो जाती है। विश्वामित्र के आत्मसंयम खोकर बेसुध हो जाने पर भी मेनका उनसे भूल की स्वीकृति कराए बिना उस क्षण तक समर्पण नहीं करती जब तक उसे विजय का निश्चय नहीं हो जाता, और विश्वामित्र आत्मघात करने को प्रस्तुत नहीं हो जाते। उनके अहं के घुलते ही मेनका समर्पण कर देती है।

बारह वर्ष बाद मेनका माता के रूप में प्रकट होती है, परन्तु इस नवीन रूप के विकास के पूर्व ही विश्वामित्र का अहं पुनः जागृत हो जाता है और मेनका को आत्मचेतना प्राप्त होती है। एक क्षण के लिए विश्वामित्र के मन में स्निग्धता आती है परन्तु पुरुष का अहं उन्हें नवजात बालिका को छोड़कर चले जाने पर बाध्य कर देता है।

'राधा' इन दोनों के उपरान्त की रचना है। कृष्ण के प्रति राधा का आकर्षण, समर्पण, और अन्त में निलय इस नाटक में चित्रित किया गया है। राधा नारी के उस रूप की प्रतिकृति है जिसमें उसका रूप के प्रति मोह, आवेग और अग्निमयी वासना सभी कुछ विद्यमान है। प्रेम की यह लालसा, आवेग, कृष्ण के पक्ष में निरूपित नहीं। कवि ने गीता के योगेश्वर कृष्ण का रागातीत जीवन्मुक्त रूप अंकित किया है, लीलाप्रिय नटवर रूप नहीं। स्वभावतः इस नाटक में आवेग और विवेक, या दूसरे शब्दों में प्रकृति और ज्ञान के बीच संघर्ष व्यक्त है। हमने इस नाटक को गीति-नाट्य इसलिए माना है कि इसमें आवेग और प्रकृति का वर्णन अधिक है, विवेक और ज्ञान के पक्ष से उतनी ही उत्कट तीव्रता से संघर्ष-विधान नहीं हुआ। अतः मानसिक चिंतन का प्रदर्शन होने पर भी भावुकता का आवेग ही अधिक है।

नाट्य-तत्त्व की दृष्टि से 'मत्स्यगन्धा' अन्य दो रचनाओं की अपेक्षा अधिक सफल है। काव्य और गीति-नाट्य में अन्तर यही होता है कि नाटक में सदैव द्वन्द्वमय परिस्थिति को विशेष महत्व दिया जाता है। इस संघर्ष के विधान में दो विशेषताएँ मुख्य रूप से होनी चाहियें—समस्त घटनाओं व प्रसंगों का सम्बन्ध परस्पर और एक मुख्य कार्य से हो, और इन घटनाओं

का विन्यास इस रूप में किया जाय कि नाटक की द्वन्द्वमय परिस्थिति एक क्षण-विशेष में संकुचित और केन्द्रित हो जाय। यह क्षण नाटक में जितना सघन (Tense) होगा उतना ही उसमें नाटक-तत्त्व अधिक होगा। यह विधान एकांकी और छोटी कहानी के समान होता है। वस्तु की एकता तो इन तीनों रचनाओं में मिलती है, परन्तु संघर्ष में घनत्व का क्षण जितना 'मत्स्यगन्धा' में सबल है उतना अन्य रचनाओं में नहीं। 'मत्स्यगन्धा' में यौवन की दुर्दाम लालसा के, प्रकृति एवं समाज के बन्धनों से संघर्ष और पराजय का दिग्दर्शन है। इस संघर्ष का चरम उस दृश्य में है जब नित्य अंतर्द्रोह में रत मत्स्यगन्धा पाराशर के समझाने पर भी उनसे अनन्त यौवन का वरदान माँगती है। यह दृश्य नाटक की दृष्टि से बड़ा प्रबल है। मन की हलचल, जिज्ञासा, संघर्ष यहाँ आकर एकदम स्तब्ध हो गया है। चौथे दृश्य से कार्यव्यापार में निगति आरम्भ हो जाती है, और नाटक का अन्त होता है उसके पतन में—जहाँ अनंग भी उस पर व्यंग कर चल देता है। वह उस अक्षय यौवन के अन्त की कामना करती हुई अपने आप को विह्वल और निरा असमर्थ पाती है—

अरे कब अन्त होगा मद का प्रमाद का भी।[1]

नाटक की समस्त घटनाएँ इस पराजय में पर्यवसित हो जाती हैं। आद्यन्त नाटक की घटनाएँ अप्रतिहत वेग से आगे बढ़ती हैं, नीरसता या अवकाश—कार्य-व्यापार की सघनता के कारण कहीं नहीं आता। मत्स्यगन्धा का अन्तर्द्वन्द्व सर्वत्र अत्यन्त सशक्त रूप में अंकित है।

'विश्वामित्र' और 'राधा' में संघर्ष के ये स्थल अपेक्षाकृत दुर्बल हैं। विश्वामित्र तो चरम घटना—मेनका के आत्मसमर्पण के स्थल पर अत्यन्त अशक्त और दुर्बल प्रतीत होते हैं। उनके जैसा प्रबुद्ध अहंकारी पुरुष नारी के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर सर्वथा असमर्थ और बेसुध हो जाय तथा आत्मघात के लिए प्रस्तुत हो—बहुत उचित नहीं लगता। यहाँ पुरुष और नारी का संघर्ष, व विश्वामित्र का अन्तर्द्वन्द्व अत्यन्त सजीव रूप में अंकित हो सकता था, परन्तु पुरुष के अहम् ने नारी के आकर्षण के सामने बहुत सरलता से हथियार डाल दिये। इसी कारण इस संयोजना में घनत्व का अभाव हो गया है। 'विश्वामित्र' में कवित्व 'मत्स्यगन्धा' की अपेक्षा अधिक है, परन्तु संघर्ष और उत्तरार्ध की घटनाओं में अन्विति का अभाव, उसका बहुत बड़ा दोष है। नाटक की पिछली घटनाएँ बिखरी सी जान पड़ती हैं।

'राधा' में भी राधा के अत्यन्त भावोद्वेलित और कृष्ण के रागातीत होने के कारण उचित संघर्ष का विधान नहीं हो सका। नाटक में यह अवकाश कवि को दो बार प्राप्त होता है। एक तो तीसरे दृश्य में—जहाँ राधा कृष्ण को आत्मसमर्पण करती है, और कृष्ण रागातीत रहते हुए भी उसका सखा बनना स्वीकार कर लेते हैं। राधा के मन में अन्तर्द्वन्द्व का विधान कवि ने नहीं किया। वह अपने निश्चय में अटल है और प्रेम में विभोर। कृष्ण रागातीत हैं, योगेश्वर हैं, अतः उनके मन में द्वन्द्व का प्रश्न नहीं उठा। कृष्ण और राधा के बीच द्वितीय दृश्य में आवेग और विवेक का संघर्ष कुछ देर तक हुआ है, पर इस संघर्ष में बल इसलिए नहीं आया कि यह संघर्ष कृष्ण पर रागात्मक प्रभाव नहीं डालता और दोनों पक्षों में से एक ने भी पराजय का भाव

---

१. विश्वामित्र और दो भाव नाट्य—उदयशंकर भट्ट, पृष्ठ ९०

स्वीकार नहीं किया। कृष्ण राधा की मनोवृत्ति पर विजय नहीं पा सके, और राधा उन्हें प्रेमी रूप में नहीं पा सकीं। राधा के आवेग-प्रवाह के कारण यह प्रसंग तरंगायित है पर घनीभूत नहीं। इस स्थल की अपेक्षा अन्त में निलय के चित्रण में अधिक प्रभावक्षमता है। कृष्ण स्वर बदलकर पहले राधा को उत्तेजित करते हैं और फिर सहसा प्रकट हो जाते हैं। इस आकस्मिकता से इस प्रसंग में तीव्रता आ जाती है। परन्तु इसके उपरान्त राधा आत्मविभोर होकर नाचती है, और निर्वाण के बाद तुरन्त ही कृष्ण एक लम्बा-सा भाषण देने लगते हैं जिससे प्रसंग की सारी तीव्रता नष्ट हो जाती है। यह व्याख्यान दो-तीन पृष्ठों तक चलता रहा है, अतः इस प्रसंग में व्यंजना से जो चमत्कार आ सकता था, वह वाचिक अभिव्यक्ति से नष्ट हो गया है।

संवादों और स्वगतों में नाट्य-गुण और कवित्व-गुण, दोनों का प्राचुर्य है। पात्रों की उक्तियाँ सजीव हैं, और शैली में मनोगत भावों, अन्तर्द्वन्द्व को शब्दान्तरित करने की विलक्षण सामर्थ्य। प्रसंगानुकूल उनकी तरल भावुकता, रंगीन कल्पना, चित्रों में खुलकर खेलती है, और अवसर आने पर यही भावुकता आवेग की प्रखर शिखाओं में रूपान्तरित हो जाती है। आरम्भ में विश्वामित्र के अहंकार का चित्रण, और अनेक स्थलों पर मत्स्यगन्धा और मेनका का अन्तर्द्वन्द्व, करुणा, और राधा के आवेग-प्रवाह का वर्णन इस कथन को पुष्ट करेंगे। कहीं-कहीं प्रसंगों में तीव्रता और तरलता दोनों का अभाव है। 'राधा' में कृष्ण का अन्तिम भाषण ऐसा ही है। कुछ प्रसगों में अतिशय कल्पना-विलास और भाषा की स्निग्धता में भाव की तीव्रता नष्ट हो गई है—परन्तु ऐसे अवसर बहुत नहीं आए। प्रसंग-परिवर्तन के साथ उनकी शैली भी विषयानुकूल रूप धारण कर लेती है। 'विश्वामित्र' के संवादों में ओज है, 'मत्स्यगन्धा' में गति और वक्रता और 'राधा' में भावावेश की तरल प्रवहमानता। 'राधा' के स्वगत कहीं कहीं अपेक्षाकृत एकरस और निर्जीव हैं, इसका कारण है मनोवेग का एकपक्षीय विधान। अतः कहीं-कहीं लम्बे स्वगतों का स्वर प्रलापात्मक-सा प्रतीत होने लगा है। वैसे भाव-नाट्य के संवादों के विषय में कवि की एक विशेष निजी धारणा है—

"मानव के स्वरूप-चित्रण की दृष्टि से नाटक दो प्रकार के हैं—वाचिक और मानसिक। वाचिक को ही आंगिक या कायिक कह सकते हैं। वाचिक में अंग निक्षेप का प्राधान्य रहता है अतः उसमें संवाद यथासाध्य छोटे होने चाहिएँ पर यह भाव-नाट्य मानव के भाव-जगत् से सम्बन्धित होने के कारण संवादों में उच्च स्तर का विशद मानसिक विश्लेषण करते हैं। यह विश्लेषण बहुमुखी होना सम्भव नहीं। भाव अपने में एक अदृष्ट क्रिया है। अतः उसे साधारण रूप में अल्प शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। एक भाव के उत्तर में दूसरा भाव समुपस्थित किया जाता है, जिनके व्यक्तीकरण में शब्दों का लोभ किया ही नहीं जा सकता, अतः भाव-नाट्यों या कल्पना-प्रधान नाटकों में सम्वाद कभी-कभी लम्बे होने स्वाभाविक हैं।"[1] कवि ने लम्बे संवादों की योजना का कारण स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है।

जैसा हम पहले कह आए हैं भट्टजी नाट्य-शैली की रचनाओं में अभिनेयता का गुण अनिवार्य मानते हैं, अतः उन्होंने अपनी तीनों कृतियों में अभिनय की व्यावहारिकता और

---

१. विश्वामित्र और दो भाव नाट्य—उदयशंकर भट्ट, भूमिका, पृष्ठ २

प्रभावात्मकता की बड़ी सतर्कता से रक्षा की है। रंग-संकेत भी उन्होंने दिए हैं। भले ही वह विशेष स्तर के प्रेक्षकों के लिए हों, परन्तु ये तीनों कृतियाँ अभिनय की दृष्टि से विशेष सफल हो सकती हैं। वस्तु-संकलन इनमें है, परन्तु घटनास्थल और समय की दृष्टि से इनकी घटनाओं में अन्तराल है, परन्तु इससे इनके सारभूत प्रभाव व अभिनय में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती।

इन नाट्यों के समग्र रूप में नाट्य-तत्त्व तो मिलता ही है, परन्तु गीति-तत्त्व उससे भी अधिक है। भट्टजी गीति-कवि हैं, अतः इन गीति-नाट्यों में घटनाएँ विरल और अन्तर्द्वन्द्व या भाव-वृत्ति का अंकन अधिक होने के कारण उनकी कवि-प्रतिभा उन्मुक्त विहार कर सकी है। ये रचनाएँ छायावाद काल की कृतियाँ हैं, अतः इनकी कला छायावाद की रेशमी कला है—इनमें महान घटनाएँ और महान दृश्य दुष्प्राप्य हैं। घटनाओं में नाटकीयता के स्थान पर गीतात्मकता अधिक है। इसी कारण—एक ओर घटना-विधान में नाटकीय आकस्मिकता नहीं होती, दूसरे उनके चित्रों की रेखाएँ धुँधली और कोमल होती हैं, उनमें स्पष्टता और तीखापन नहीं मिलता। इन चित्रों में रुककर रंग भी कवि ने नहीं भरे। कहीं-कहीं उनकी तूलिका से छिटककर रंग का एकाध बिन्दु बहती भावधारा को रंगीन बना देता है, पर बहुत कम। इनमें भी भास्वर नहीं, हल्के और स्निग्ध वर्णों का स्पर्श ही कवि ने दिया है। 'विश्वामित्र' और 'मत्स्यगन्धा' में भव्य चित्र अधिक मिलेंगे। 'राधा' में भावों का बहाव अधिक है, अतः रुककर चित्र अंकित करने का अवकाश कवि को नहीं प्राप्त होता। कहने को आवश्यकता नहीं कि इन गीति नाट्यों की चेतना व्यक्तिगत चेतना है। इनके सभी पात्रों का व्यक्तित्व आत्मकेन्द्रित है; उनमें व्यक्तित्व का बहिरंग प्रसार नहीं एकाग्रता मिलती है। और "गीति-तत्त्व व्यक्तिगत चेतना में ही मिलता है, उसमें जीवन के बहिरंग की नहीं, अन्तरंग की व्यक्तिगत अनुभूति होती है। व्यक्ति का तरल प्रभावमान रूप गीति-काव्य को जन्म देता है—व्यक्ति का विरोधी तत्त्वों के बीच तना हुआ द्वन्द्वमय रूप गीति-नाट्य को।"[1] भट्टजी की गीति-प्रतिभा उपर्युक्त विशेषता के विशेष अनुकूल थी—अचरज नहीं उनकी लेखनी से हिन्दी साहित्य को सुन्दरतम गीति-नाट्यों का उपहार मिला।

नाटकीय कविता

नाटकीय-कविता और पद्य-नाट्य तथा गीति-नाट्य में परस्पर वही अन्तर है जो अँगरेजी के 'पोएटिक-ड्रामा'(Poetic drama) और 'लिरिकल ड्रामा'(Lyrical drama) तथा 'ड्रामेटिक-पोएट्री'(Dramatic poetry) में। अर्थात्, दोनों में कविता और नाटक के तत्त्वों का समीकरण होता है, परन्तु नाटकीय कविता में कविता के तत्त्वों की प्रधानता रहती है तथा नाट्य के तत्त्वों में से संवाद और स्वगत का अधिक, व क्रिया-व्यापार का बहुत कम प्रयोग किया जाता है। ये प्रसंग समाख्यान या वर्णनात्मक शैली में नहीं संवादों के रूप में लिखे जाते हैं, परन्तु कविता में सजीवता और रोचकता लाने के लिए ऐसा किया जाता है अभिनेयता लाने के लिए नहीं। नाट्य-तत्त्व इन कविताओं में गौण होता है और गीति-नाट्य में नाट्य तत्त्व मुख्य होता है। यही दोनों

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक—डा० नगेन्द्र, पृष्ठ १०७-१०८

में अन्तर है। हमारा अभिप्राय यह नहीं कि प्रदर्शन या अभिनेयता नाट्य-कविता में तत्त्वतः वर्जित है, कहीं-कहीं प्रदर्शन, अभिनेयता या क्रिया-व्यापार भी आंशिक रूप से इन कविताओं में अंकित होता है; परन्तु इनकी रचना पाठ्य रूप में ही की जाती है, अभिनय या प्रदर्शन को लक्ष्य बनाकर नहीं। नाट्य-विधाओं में दूसरी ओर घटना अथवा भावों का संघर्ष, परिस्थितियों का तना हुआ द्वन्द्वमय रूप और क्रिया-व्यापार में सघनता, अनिवार्य रूप से वर्तमान रहनी चाहिये। नाटकीय कविता में भी द्वन्द्वमय परिस्थिति की उद्भावना तो की जाती है, परन्तु इसका स्वरूप प्रायः वाचिक संवाद तक ही सीमित रहता है, यह द्वन्द्व सक्रिय रूप धारण नहीं करता। ये सम्भाषण गीतिमय अथवा विषय-प्रधान, प्रसंग और विषय के अनुकूल कैसे भी हो सकते हैं। यह तो हुई इनमें अनुस्यूत दृष्टिकोण की बात। काव्य-रूप की दृष्टि से भी ये कविताएँ दो रूपों में मिलती हैं—सम्भाषण के रूप में तथा आत्मसंलाप शैली में। पहली में कविता एक से अधिक पात्रों के बीच संवाद-रूप में लिखी जाती है, और दूसरे में वक्ता पात्र एक ही होता है। इनकी रचना अंग्रेजी के 'ड्रामेटिक मोनॉलाग', (Dramatic Monologue) के ढंग पर होती है।

गीति-नाट्य और नाट्य-कविता में अन्तर इसी बात का होता है—एक में नाट्य-गुण अर्थात् अभिनय प्रमुख होता है, और दूसरे में काव्य-गुण। यदि दोनों में ही अभिनय प्रधान और व्यापार की प्रमुखता हो, तो क्या इनमें अन्तर केवल आकार का है? अपना विनम्र मत हम इसके विरोध में देते हुए कहेंगे कि इन विधाओं में आकार का नहीं प्रकार का अन्तर होता है। इन कविताओं में या तो व्यापार की व्यंजना, या सूचना होती है, और यदि कार्य-व्यापार का चित्रण होता भी है तो बहुत कम।

इस प्रकार की कविताएँ आधुनिक काल के साहित्य में उँगलियों पर गिनी जा सकती हैं। कवि 'निराला' का 'पंचवटी-प्रसंग', 'आर्द्रा' में सियारामशरण गुप्त की 'बन्दी', तथा 'पृथ्वी-पुत्र' के संवाद-'जयिनी' और 'पृथ्वीपुत्र'। ये सभी प्रसंग दो या अधिक पात्रों के बीच कथोपकथन शैली में लिखे गए हैं—स्वगत (soliloquy) या मोनोड्रामा अथवा आत्मसंलाप के रूपमें नहीं।

इन सभी कविताओं में कथा प्रत्यक्ष रूप से वर्तमान नहीं, अतः वस्तु-विधान में विशेष संघर्ष नहीं मिलता। 'बन्दी' 'जयिनी' और 'पृथ्वीपुत्र' में तो कथा है ही नहीं। 'बन्दी' में चित्रित प्रसंग से पूर्व घटनाओं की व्यंजना है। 'जयिनी' में मनीषी कार्ल-मार्क्स के दाम्पत्य-भाव की एक झलक भर है, और 'पृथ्वीपुत्र' में मानव-द्वारा विकसित वर्तमान सभ्यता के प्रति असन्तोष और मानव के आदर्श-रूप में नव-निर्माण की कामना व्यक्त है। 'पंचवटी-प्रसंग' में अवश्य अन्त में शूर्पणखा के विकलांग किये जाने की घटना घटती है परन्तु कवि ने घटना को विस्तारपूर्वक अंकित करने के स्थान पर कोष्ठक में उसकी सूचना भर दी है। वस्तु-विधान में इस प्रकार उल्लेखनीय संघर्ष का विधान सभी रचनाओं में नहीं मिलता। 'बन्दी' में अंकित संघर्ष में अपेक्षाकृत शक्ति है। एक सूक्ष्म गीतिमय स्वर आरम्भ से अन्त तक 'पृथ्वीपुत्र' के अतिरिक्त सभी कृतियों में अनुस्यूत है। 'पृथ्वीपुत्र' के संवाद का स्वरूप बौद्धिक है।

'पंचवटी प्रसंग' में रामायण का प्रसिद्ध शूर्पणखा-प्रसंग वर्णित है, परन्तु नाटकीय संघर्ष और कार्य-व्यापार को उपस्थित करने के स्थान पर, कवि ने पाँच दृश्यों में सुन्दर कवित्वमय शैली में पात्रों का चरित्र-विकास किया है। पहले प्रसंग में राम और सीता का वार्तालाप, दूसरे में

लक्ष्मण का आत्म-भाषण, तीसरे में शूर्पणखा की आत्म-रति, चौथे में राम, लक्ष्मण और सीता का वार्तालाप, तथा अन्तिम में शूर्पणखा का स्वगत-कथन, राम-लक्ष्मण से संवाद, और नाक-कान काटने की घटना की सूचना है।

'बन्दी' में एक कुलीन बन्दी और उसके बाल्यकालीन मित्र का बन्दीगृह में वार्तालाप है। दोनों पात्रों के बीच दो भावधाराओं का संघर्ष है। बन्धु स्वार्थ के लिए देश और साथियों से द्रोह और विश्वासघात के लिए प्रेरित करता है। माँ की दीनावस्था का वर्णन कर, उसे मातृद्रोही ठहरा कर, प्रायश्चित के लिए रहस्योद्घाटन कर मुक्ति पाने की प्रेरणा देता है। प्रतिक्रिया-स्वरूप बन्दी के हृदय में सहयोगियों के साथ विश्वासघात कर अनेक माताओं को दुखी करने के स्थान पर आत्मपीड़न का संकल्प दृढ़तर हो जाता है। इस प्रकार वह समष्टि के हित के लिए व्यक्ति के हित का, और वर्ग के लिए प्राणी का बलिदान कर देने के पक्ष में है। अंत में उत्सर्ग और त्याग की ही विजय होती है।

'पृथ्वीपुत्र' के दोनों संवादों में से एक में भी घटना-विधान नहीं है। 'जयिनी' में कवि ने आदर्श दाम्पत्य-भाव व्यंजित किया है। मार्क्स अपने सिद्धान्तों की कार्यान्विति के लिए जैनी का परित्याग करना चाहता है, और जैनी सहधर्मिणी के रूप में उसका साथ देने के लिए समुद्यत है। 'पृथ्वीपुत्र' के पात्र प्रतीक हैं। मातृभूमि के व्यक्तित्व में कवि ने आध्यात्मिक मूल्यों और मानवता के आदर्शों की प्रतिष्ठा की है और पृथ्वीपुत्र में यांत्रिक सभ्यता व पाश्चात्य पूँजीवाद की। कवि नाश की वृत्ति—युद्ध-लिप्सा, व्यक्तिगत उत्कर्ष की साधना, यांत्रिक बल पर आश्रित सभ्यता के पक्ष में नहीं है, अतः मातृभूमि की वाणी में उसने मानव की उत्कर्षविधायिनी आध्यात्मिक मूल्यों पर आश्रित मान्यताओं के द्वारा, शान्ति और आत्मिक उन्नति का संदेश दिया है। इस प्रकार मानवतावादी जीवन-दर्शन पर आश्रित शान्तिप्रिय प्रवृत्तियों की संवृद्धि इस कृति का उद्देश्य है। 'जयिनी' और 'पृथ्वीपुत्र' में कथा-विन्यास नहीं हुआ—इनमें कथा-वर्णन के अतिरिक्त अन्य वैज्ञानिक उद्देश्य समन्वित हैं।

इन सभी कविताओं की रचना पाठ्य-रूप में हुई है अभिनय के लिए नहीं। इनके वस्तु-विन्यास में इसलिए नाटकीय कार्य-व्यापार का अभाव है, किन्तु इन सभी कविताओं के संवाद केवल प्रभावात्मक व कवित्वपूर्ण ही नहीं, सप्राण हैं। कवित्व की दृष्टि से 'पंचवटी-प्रसंग' में राम और सीता की मधुर पूर्व-स्मृतियाँ, लक्ष्मण की भक्ति-भावना, शूर्पणखा की अभिमान-युक्त आत्म-रति आदि भावनाओं का अत्यन्त सुन्दर चित्रण है। इन सभी वर्णनों में एक गीतिमय स्वर आद्यन्त अनुस्यूत है। अन्तिम दृश्य में संघर्ष-योजना से सघनता भी आ गयी है। 'बन्दी' के संवाद कुछ लम्बे हैं, पर उनमें सजीवता सर्वत्र है। दो विरोधी भावधाराओं का संघर्ष बड़ी सशक्तता से व्यक्त हुआ है। कविता के अन्तिम अंश में कवि ने अद्भुत नाटकीय कौशल का प्रयोग किया है। कविता के दोनों पात्रों के बीच सम्भाषण की अन्तिम परिणति कवि ने सम्भाव्य की असम्भाव्य उपस्थिति के द्वारा सम्पन्न की है।

मातृप्रेम की दुहाई देने वाले बाल्यबन्धु से सहसा बन्दी कह उठता है कि वह उसकी बात मानकर मातृद्रोह कभी न ठानेगा। इस संकल्प से पाठक एक क्षण के लिए भुलावे में आ जाता है कि कदाचित् मातृप्रेम के वशीभूत होकर बन्दी देशद्रोह में प्रवृत्त हो गया, परन्तु अगले ही क्षण

अनुवर्त्ती पंक्तियां उसका भ्रम-निवारण कर देती हैं—

तुमने बचा लिया मुझे है मृत्यु-मुख से।
अन्य साथियों के नाम
कुछ भी हो, खोलूंगा न मैं कभी।
जैसा हो सकेगा मैं कलेजा थाम,
अत्याचार पीड़न, प्रहार सह लूंगा सभी।
आज रो रही है एक मेरी माँ,
कैसे मैं रुलाऊँ अब और बहुतेरी माँ ?[1]

और इस आकस्मिक निश्चय-बल से प्रतिवादी बन्धु निरुत्तर और पाठक स्तम्भित रह जाता है।

'जयिनी' और 'पृथ्वीपुत्र' में दार्शनिक मंतव्यों को काव्यात्मक बनाने का उपक्रम है अतः विशेष सजीवता तो इन संवादों में नहीं। 'जयनी' में दाम्पत्य भाव का रंग होने के कारण स्वर गीतिमय हो गया है, 'पृथ्वीपुत्र' में वैसा नहीं है। 'जयिनी' में मार्क्स और जयिनी के भाव-मय सम्बन्धों का उद्घाटन है, यद्यपि कवि ने आर्थिक वैषम्य को समाज के लिए अनुपयोगी सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया है, परन्तु जीवन के प्रेमादर्श को व्यंजित करने के कारण, वस्तु-विन्यास में घटनात्मक शक्ति के स्थान पर भावमय कोमलता आ गई है। संवाद सर्वत्र स्पष्ट और कहीं-कहीं सजीव हैं।

'पृथ्वीपुत्र' में युद्धैषणा का घोर विरोध और सार्वभौम सामाजिक अभ्युन्नति की कामना व्यक्त है। इस कविता के पात्र प्रतीक हैं—उनका पारिवारिक सम्बन्ध भावात्मक नहीं, केवल संवाद-योजना के लिए उनकी उद्भावना की गयी है। स्वर एकान्त बौद्धिक है, विचारधाराओं का संघर्ष, बहुमुखी समस्याएँ और उनका समाधान व्यंजित है। इस कविता की नाटकीयता इसकी सजीव संवाद-योजना में ही रक्षित है। इसमें गीति की कोमल भावमयता नहीं। पात्रों के बीच वत्सल सम्बन्ध केवल औपचारिक रूप से स्थापित किया गया है।

इन कविताओं का प्रणयन अभिनेय रूप में नहीं किया गया, परन्तु इनका अभिनय न हो सकता हो, ऐसा भी नहीं है। इनके रचना-विधान में दृश्य-वैविध्य का अभाव, एकांकी के ढंग पर संकलनत्रय की रक्षा, वर्णित प्रसंग की स्वतःपूर्णता और कथानक में कवित्वमयी संवाद-योजना—इन कृतियों में अभिनय की सम्भावना अवश्य उत्पन्न कर देती है। 'पृथ्वीपुत्र' के विस्तृत विचार-प्रसंग को भी कवि ने प्रतीक पात्रों की उद्भावना से सीमित कर दिया है। इनमें रंगमंच की दृष्टि से एक ही अभाव है—वस्तु-विन्यास में संघर्ष का अभाव और यह तत्त्व नाट्य-कृति का प्राण-तत्त्व है। कार्य-व्यापार के अभाव में ये शुद्ध नाट्य-कृतियाँ नहीं मानी जा सकतीं। संवाद-शैली में रचित होने के कारण इनमें नाट्य-तत्त्व की ही स्वीकृति की जा सकती है। इनमें नाटकीय प्रभावात्मकता नहीं परन्तु अभिनय की सम्भावना अवश्य निहित है, कहीं-कहीं कवियों ने अभिनय-सम्बन्धी संकेत (यद्यपि बहुत कम) भी अनायास दे दिए हैं।

---

१. आर्द्रा—सियारामशरण गुप्त, पृष्ठ १४१

छन्द-विधान और कवित्व के उत्कर्ष की दृष्टि से इन कविताओं का काव्य-वैभव प्रश्नातीत है। 'पंचवटी-प्रसंग' और 'बन्दी' की रचना मुक्त छन्द में हुई है तथा 'जयिनी' और 'पृथ्वीपुत्र' की घनाक्षरी के उत्तरचरणार्द्ध (अमित्राक्षर) के क्रमशः तुकान्त और अतुकान्त रूप में। छन्द सभी रचनाओं में विशेष अनुकूल है। मुक्त छन्द में अबाध गति है और पंक्तियाँ भावानुकूल छोटी-बड़ी होती गयी हैं। 'निराला' तो मनस्तत्त्व के सूक्ष्म विश्लेषण, तथा विराट् और कोमल के अद्भुत चित्रांकन में समर्थ हैं ही, 'बन्दी' की कला में भी कौशल और विलास नहीं, परन्तु विषयानुरूप सजीवता और सत्य की चोट व शक्ति शैली में सर्वत्र है। पूर्ववर्ती नाट्य-कृतियों में विशेष सफल न होने पर भी नाटकीय कविताओं में मैथिलीशरणजी भी नाटकीय कौशल, संवादों की सजीवता और शैली की समृद्धि की दृष्टि से विशेष सफल हुए हैं। ये कृतियाँ उनके प्रौढ़ि-काल की रचनाएँ हैं, अतः यहाँ तक आते-आते कवि की शैली में भी समास गुण, सामर्थ्य और समृद्धि आ गयी है।

निष्कर्ष रूप में—ये कविताएँ हर दृष्टि से हिन्दी-काव्य की विभूति कही जायँगी। काव्य-विधा की दृष्टि से निश्चय ही अपने वर्तमान रूप में यह प्रयोग नवीन है। पूर्ववर्ती काव्य ग्रन्थों में—बीच-बीच में प्रस्तुत संवाद-योजना या दो पात्रों के बीच कथाएँ कहने-सुनने की प्रवृत्ति से इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। इनका विषय, विधा तथा प्रेरक अनुभूति सभी कुछ उनसे भिन्न है।

स्वगतकथनात्मक नाटकीय कविता

नाटकों के बीच में पात्रों के स्वगत भाषण का प्रयोग प्राचीनतम कृतियों में ढूँढ़ा जा सकता है। स्वतन्त्र रूप में इस विधा का विकास यद्यपि आधुनिक काव्य में ही हुआ, परन्तु इसका आधार नाटकों के बीच पात्रों के आत्मभाषण के रूप में रचित पद्यांश ही हैं। एकपक्षीय भाषण के रूप में जो नाटकीय कविताएँ आधुनिक काल में लिखी गयीं उनका सम्बन्ध मूलतः नाटकों के स्वगत भाषणों से होने पर भी स्वतन्त्र और वर्तमान स्वरूप इन स्वगत भाषणों से बहुत भिन्न हो गया—ठीक उसी प्रकार जैसे पाश्चात्य साहित्य में, आरम्भ में नाटकों के बीच प्रयुक्त मोनॉलाग (Monologue) या स्वगत के आधार पर ड्रामेटिक मोनॉलाग (Dramatic-monologue) के रूप में आधुनिक काव्य में स्वतन्त्र विधा का विकास हुआ। आरम्भ में मोनॉलाग का प्रयोग स्वगत के रूप में नाटक तक ही सीमित था।

स्वगत—नाटक में पात्र-विशेष के उस सस्वर कथन को कहा जाता था जिसमें वह एकांकी या अन्य पात्रों की मौन उपस्थिति में अज्ञानवश सस्वर आत्मभाषण करता है। पद्य-बद्ध स्वगत में गीति-तत्त्व तथा कहीं-कहीं नाटकीयता भी मिलती है।[1] स्पष्ट है ये स्वगत, नाटकों में कथोप-

---

1. MONOLOGUE—A passage in a drama in which a personage speaks unconsciously aloud, either alone on the stage or with others keeping silent.·····There is something of a lyrical character about the monologue in verse;.....

Encyclopedia Britanica, Volume XV, Page 729.

कथन का प्रकार मात्र हैं काव्य-रचना में स्वतन्त्र विधा नहीं। इसी से मिलती-जुलती परिभाषा भारतीय नाटकों में प्रयुक्त स्वगत भाषण की मिलती है। कथोपकथन के प्रकारों में अश्राव्य या स्वगत उस कथन को कहा गया जो दूसरों—अर्थात् उपस्थित अन्य पात्रों के सुनने के लिए न हो।[1] नाटक में स्वगत का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि प्रेक्षक, पात्र के मनोगत भावों से अवगत हो जाय, परन्तु मंच पर उपस्थित अन्य पात्रों के लिए यह कथन नहीं किया जाता। कालान्तर में इसी कथोपकथन के आधार पर विकसित स्वगतकथनात्मक कविताओं को दृष्टि में रखते हुए अँगरेजी में 'मोनॉलाग' की परिभाषा में विस्तार किया गया। मोनॉलाग को केवल नाटक के अंग-रूप तक सीमित न रखकर, उसी के आधार पर विकसित ऐसी स्वतन्त्र नाटकीय कविताओं के लिए भी इस शब्द का प्रयोग किया जाने लगा जिनका अभिनेता या कार्य-सम्पादक एक ही व्यक्ति हो अथवा जिनकी रचना, जन समागम में एक ही व्यक्ति की लम्बी वार्ता के रूप में की गयी हो।[2]

संस्कृत काव्य-शास्त्र में रूपक के भेदों में एकपात्रीय नाटक-भेद 'भाण' की चर्चा की गयी है। परन्तु ये स्वगतकथनात्मक नाटकीय कविताएँ 'भाण' से अनेक रूपों में भिन्न हैं। इनमें न कार्यव्यापार का अंकन अनिवार्य होता है और न इनकी रचना अभिनेय रूप में की जाती है। 'भाण' के समान हास्य रस की सृष्टि करना भी कवि का लक्ष्य नहीं होता। नाट्य-तत्त्व इन कविताओं में इसी रूप में मिलता है कि कवि पात्र-विशेष की जीवनगत घटनाओं तथा मनोभावनाओं का वर्णन व समाख्यान न करके, उसी के मुख से आत्मपरिचय, आत्मचिन्तन या आत्मविश्लेषण के रूप में कथन कराता है।

स्वगत से इन कविताओं में अन्तर यही है कि स्वगत की स्थिति नाटक के अंग-रूप में प्रसंग-सापेक्ष होती है—उसे समझने के लिए सम्पूर्ण प्रसंग की जानकारी वांछित है, परन्तु ये स्वगतकथनात्मक कविताएँ इस दृष्टि से स्वतःपूर्ण और निरपेक्ष होती हैं। जिन घटनाओं की पृष्ठभूमि में पात्र आत्माभिव्यक्ति करता है उनका संकेत किया जाता है अथवा कविता में ही उनका वर्णन स्मृति-रूप में कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त इनमें ऐसे पात्रों की उद्भावना नहीं की जाती जो घटनाओं के कर्त्ता और भोक्ता हों, पर श्रोता नहीं। ये स्वगतकथनात्मक कविताएँ सामान्य रूप से सभी के लिए पाठ्य व श्रव्य होती हैं, नाटक के स्वगत की भाँति इनके श्रोताओं पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं। नाट्य-शैली की तीन विशेषताओं—कार्यव्यापार का अभिघटन, सम्भाषण, और स्वगत में से इनमें केवल अन्तिम का प्रयोग होना है। ये कवि-

---

१. अश्राव्य—जो दूसरों के सुनने के लिए न हो। यह एक प्रकार का मुखरित रूप से विचार करना है, इसे स्वगत या आत्मगत कहते हैं।

काव्य के रूप—गुलाबराय, पृ० ३७

२. Monologue—Scene in drama in which one person speaks by himself; dramatic composition for single performer; long speech by one person in a company; soliloquy.

The Concise Oxford dictionary, Page 766.

ताएँ अनिवार्य रूप से कथाश्रित भी नहीं होतीं—जहाँ घटनाओं का अन्तर्भाव इनमें होता है वहाँ वे प्रायः स्मृति रूप में वर्णित होती हैं—कहीं घटनाओं को पृष्ठाधार बनाकर केवल पात्र की भावनाएँ और विचार व्यक्त किये जाते हैं, तथा अन्यत्र घटनाओं के स्मृत स्वरूप और उनके परिणामस्वरूप पात्र के मन पर होने वाली भावात्मक प्रतिक्रियाएँ विषय होती हैं। इस प्रकार ये विषय-भेद से स्वगत शैली में लिखी प्रगीतात्मक अथवा आख्यान-गीतियाँ होती हैं। अभिनय की दृष्टि से न इनकी रचना की जाती है और न इस काव्य-रूप में इस प्रकार की कोई सम्भावना निहित है। डा० दुबे ने इनका सम्बन्ध कुछ दूर तक संस्कृत नाट्य-शास्त्र में कथित 'भाण' नामक रूपक-भेद से स्थापित किया है, किन्तु इन कविताओं में उस नाट्य-प्रकार की सबसे प्रमुख विशेषता—अभिनेयता का ही निषेध नहीं तो अवमानना अवश्य है। इनका सम्बन्ध उस विधा-विशेष से प्रत्यक्ष रूप से नहीं जोड़ा जा सकता। केवल इतना ही स्वीकार किया जा सकता है कि इनकी समानान्तर विधा प्राचीन साहित्य में भी वर्तमान थी।

डा० शकुन्तला दुबे ने इस प्रकार की कविताओं के लिए अभिनय की जिस सम्भावना की ओर संकेत किया है—"इसका पात्र आकाश की ओर मुँह उठाकर स्वगत कथन की भाँति कहता चला जाता है।"[1] उससे हमारा विरोध है। 'लहर' में संकलित 'अशोक की चिन्ता' और 'प्रलय की छाया' के वक्ता पात्र अशोक और रानी कमला यदि रंगमंच पर उपस्थित होकर आकाशद्रष्टा के रूप मे उक्त कविताओं का पाठ करें तो हमारी समझ में इनकी समस्त करुणा और मार्मिकता नष्ट होकर यह कविताएँ अभिहस्य हो जायँगी। इनका रसास्वादन पाठ्य रूप मे ही सम्भव है अभिनय के द्वारा नहीं। कथोपकथनमय नाटकीय कविताओं की भाँति इस प्रकार की कविताएँ भी हिन्दी-साहित्य में इनी-गिनी हैं। कवि सियारामशरण गुप्त के कविता-संकलन 'आर्द्रा' में इस शैली की कुछ कविताएँ हैं—हूक, प्रयाणोन्मुखी, डाकू, नृशंस व चोर आदि। ये सभी कविताएँ कथा का आश्रय लेकर लिखी गयी हैं। प्रयाणोन्मुखी के अतिरिक्त सभी में किसी घटना का आपबीती के रूप में वर्णन है। प्रयाणोन्मुखी में कवि ने मरणासन्न नारी की मनःस्थिति-अन्तर्वेदना का वर्णन किया है, अतः इस कविता का स्वर गीतिमय है। नृशंस में कवि ने सामाजिक समस्या दहेज प्रथा को पारिवारिक धरातल पर अंकित किया है। इस प्रथा के कारण परिवार के तीन प्राणियों—माता, पिता और पुत्री के मन में होने वाली प्रतिक्रिया स्वगतों के रूप में व्यक्त है, और पुत्री की आत्महत्या के उपरान्त माता-पिता की अन्तर्वेदना। इस कविता में पात्र तीन हैं परन्तु एक बार में पाठक के सामने एक ही पात्र रहता है। हूक, डाकू, और चोर में तीन भिन्न व्यक्तियों के जीवन के प्रसंग हैं। चोर की कथा में वर्ग-भेद की सामाजिक समस्या है। हूक में व्यक्ति-विशेष के पुत्री-वियोग का प्रसंग है, और डाकू में कवि ने उदार दृष्टि से एक डाकू के मन के उस तन्तु का स्पर्श किया है जो एक छोटी-सी घटना से करुणा-द्रवित हो उठता है। इस प्रकार समाज की दृष्टि में विगर्हित इन व्यक्तियों के प्रति पाठक की सहानुभूति आकर्षित करने का प्रयत्न कवि ने किया है।

इन कविताओं में काव्य-कला की दृष्टि से विशेष उत्कर्ष नहीं मिलता। इनकी विधा

---

१. काव्यरूपों के मूलस्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे, पृष्ठ ५५३

निश्चय ही नवीन है। बड़े स्तर पर सामाजिक समस्याओं का वर्णन उपन्यासों में, तथा विशिष्ट प्रसंगों की झलक व अंकन कहानी के माध्यम से गद्य-शैली में तो अप्राप्य नहीं—पद्य में भी मैथिलीशरण गुप्त इस शैली का प्रयोग अपने खण्डकाव्यों—'किसान' और 'अजित' में कर चुके थे, परन्तु आपबीती के रूप में छोटी-छोटी स्वगतकथनात्मक कविताएँ लिखने का प्रचलन अपेक्षाकृत बाद में हुआ। सियारामशरणजी की अन्य रचनाओं की ही भाँति इन कविताओं में भी जो प्रभावित करने की क्षमता है, वह इनमें वर्णित सत्य और समस्या की है। ये कविताएँ हमें आकर्षित इसलिए करती हैं—हमारी करुणा और मर्म का स्पर्श इसलिए करती हैं कि उनमें वर्णित प्रसंग जीवन के अप्रिय और करुण प्रसंग हैं। इसलिए नहीं कि उनकी शैली मुग्धकर है। इनमें व्यक्त समस्याएँ अत्यन्त स्पष्ट, सीधी-सादी भाषा-शैली में हमारे सामने आ जाती हैं। घटना का भोक्ता पात्र अपने पाठक के मनःचक्षुओं के समक्ष विद्यमान रहकर आपबीती सुनाता है—अतः सहज आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। किसी व्यक्ति के मुख से किसी और की बात की अपेक्षा उसकी अपनी बात श्रोता को सदैव अधिक प्रभावित करती है। यही इन कविताओं की सफलताओं का रहस्य है। शैली में वैभव और समृद्धि के नाम पर इनमें कुछ नहीं। कहीं-कहीं काव्य का स्तर अत्यन्त सामान्य बोलचाल के स्तर तक उतर आया है—

इधर बिस्तर-ट्रंक सिर पर लाद कर
पास ही नौकर खड़ा था व्यग्र-सा।
बोझ अपना साध कर उसने कहा—
"हो रही है देर बाबू जी बहुत।"[1]

इस प्रकार की अभिव्यक्ति कविता की अपेक्षा गद्य के अधिक अनुकूल जान पड़ती है। कहीं अन्तर्वेदना के प्रकाशन में अवश्य कुछ कवित्व मिलता है, पर ऐसे स्थल बहुत कम हैं। काव्य-रूप सीमित होने के कारण वर्णन-विस्तार का अवकाश विशेष नहीं रहा। उनकी कल्पना कविता के सूक्ष्म-ललित अवयवों से क्रीड़ा नहीं करती—जीवन की पीड़ा, करुणा का अनावरण करती है। यह वेदना व्यक्ति की नहीं समाज की है—अतः प्रतीकों के माध्यम से या लक्षणा-व्यंजना के आवरण में उसे व्यक्त करने की आवश्यकता भी कवि को नहीं रही है। वह जितनी अधिक से अधिक स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप में खुलकर व्यक्त हो सकती थी—हुई है। एक ओर उसमें प्रभावात्मकता की वृद्धि हुई है, दूसरी ओर कला की दृष्टि से ह्रास हुआ है। कवि ने परिस्थितियों के अंकन में भी किसी नाटकीय कौशल का प्रयोग नहीं किया। वे प्रायः घटनाओं को मोड़ देने के लिए या तो नियति-बल का आश्रय लेते हैं अन्यथा किसी अत्यन्त साधारण कौशल का। पात्रों के मनोवेगों व अन्तर्द्वन्द्व का अंकन भी सजीवता से, या मनोवैज्ञानिक शैली में नहीं किया गया। अन्तर्वेदना की कसक और भावनाओं का घात-प्रतिघात भी साधारण भाषा व सहज अनलंकृत शैली में व्यक्त किया गया है। उनके पात्र पर्याप्त मुखर हैं। आत्मपीड़ा में अभिव्यक्ति की स्पष्टता के आग्रह के कारण वे अक्सर भींखना आरम्भ कर देते हैं, जिससे भाव की तीव्रता और सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। कुछ स्थलों पर यदि कवि ने कार्य-स्थल अन्तर्मन रखकर, व्यंजना का प्रयोग किया होता तो

---

१. आर्द्रा—सियारामशरण गुप्त, पृष्ठ ४

अधिक उचित होता।

इस काव्य-विधा का चरम उत्कर्ष कवि प्रसाद की रचना 'लहर' की अन्तिम तीन गीतियों में हुआ है। 'अशोक की चिन्ता' और 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण' का स्वर गीतिमय है। 'प्रलय की छाया' में भावाभिव्यक्ति तथा नायिका के मनोमन्थन के साथ स्मृति-रूप में आख्यान का संस्पर्श है। कथा का पृष्ठाधार पहली दो कविताओं में भी है परन्तु सांकेतिक रूप में। ऐतिहासिक प्रसंगों की ओर प्रसाद की अभिरुचि आरम्भ से ही रही है। परन्तु इन कविताओं में इतिवृत्त बहुत कम तथा आत्माभिव्यक्ति व आत्मविश्लेषण अधिक है। घटनाओं के मनोगत कारण, प्रभाव, और मानव-मन का घात-प्रतिघात सभी कुछ इन कविताओं में है।

'अशोक की चिन्ता' का प्रसंग ऐतिहासिक है, परन्तु जैसा नाम से स्पष्ट है कवि ने कलिंग-युद्ध का वर्णन उतना नहीं किया जितना विजेता पर तद्जनित क्षोभ और पश्चाताप का। केवल मनोभावनाएँ ही नहीं कवि की बौद्ध-दर्शन में आस्था इस कविता में व्यक्त हुई। कलिंग-विजेता अशोक रणक्षेत्र के भीषण नरसंहार को देखकर करुणार्द्र है, उसी के आत्मोद्गारों के रूप में कवि की बौद्ध-दर्शन के प्रति अनुरक्ति और सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्रकट हुआ है। यह संसार दुःख-मय है, नश्वर है, क्षणिक और परिवर्तनशील है। सुख की स्थिति इसमें घन में चपला की दमक के समान है—इन्हीं समस्त तथ्यों की हृदयगत स्वीकृति इस कविता में है। बौद्ध-दर्शन में प्रतिपादित चार आर्य सत्यों का आख्यान और फिर जीवन में करुणा का स्वागत अशोक की वाणी द्वारा हुआ है। सम्पूर्ण कविता में अशोक की मनःस्थिति का मनोवैज्ञानिक, परन्तु काव्यमय विश्लेषण कवि ने बौद्ध-दर्शन के सिद्धान्तों के प्रकाश में किया है। कविता के अन्त में कवि ने मानो अशोक के माध्यम से अपने भावी कार्यक्रम की घोषणा की है—

जलती सिकता का यह मग,
बह जा बन करुणा की तरंग,
.....
जलता है यह जीवन पतंग।[1]

वे संसृति के डगमगाते विक्षत पगों में अनुलेप सदृश लगना चाहते हैं। इस प्रकार प्रख्यात ऐतिहासिक घटना की पृष्ठभूमि में आत्माभिव्यंजन-शैली में प्रमुख पात्र की भावनाएँ, और कवि के दार्शनिक सिद्धान्त व्यक्त हुए हैं। इस कविता में करुणा, पीड़ा और अंतर्क्षोभ की प्रमुखता होने के कारण गीति-शैली की द्रवणशीलता और ऋजु सरल प्रवाह मिलता है। अन्तर्द्वन्द्व या भावनाओं के संघर्ष को इस प्रसंग में स्थान नहीं मिला अतः तीव्र घात-प्रतिघात, सजीव नाटकीयता तथा अप्रतिहत वेग इस कविता में नहीं मिलता। कोमल भावनाओं को कवि ने तदनुकूल सादृश्य-विधान और दृष्टान्तों की सहायता से अंकित किया है। कहीं इन वर्णनों में प्रत्यक्ष चित्रांकन, और कहीं चित्र-व्यंजना है।

कहीं अपने चित्रों में कवि ने रंगों का स्पर्श भी दिया है, परन्तु ये रंग मधुर और पिंगल हैं, तीखे और भास्वर नहीं। ध्वनि को शब्दान्तरित करने का प्रयत्न भी यथाप्रसंग कवि ने किया

१. लहर—जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ ५०

है। इस कविता का छन्द मानव छन्द के चरणों के आधार पर निर्मित है। पांच पंक्तियों की एक इकाई बनाकर कवि ने सम्पूर्ण कविता में उसका आवर्त्तन किया है। छन्द विषय के सर्वथा अनुकूल है।

शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण—इस कविता में भी ऐतिहासिक घटना की पृष्ठभूमि में सिक्खों के नेता शेरसिंह के मन में होने वाली भावात्मक प्रतिक्रिया वर्णित है। अन्तर केवल इतना है कि 'अशोक की चिन्ता' में विजेता का पश्चाताप अधिक है और इसमें पराजित के मन की ग्लानि। यह पराजय प्रतारणा की थपकी से हुई है, अतः प्रवंचक के प्रति मन का आक्रोश भी अनेक रूपों में व्यक्त होने के कारण पंक्तियों में ओजस्विता का संचार है। इस प्रकार वीर भावना के साथ करुणा का समागम इस कविता में हुआ है। एक ओर शेरसिंह के हृदय की ज्वाला इसमें शब्दबद्ध है और दूसरी ओर सिक्खों की करुण पराजय, ग्लानि और क्षोभ। युद्ध की घटना का उल्लेख भी शेरसिंह के मुख से प्रसंग-कथा के रूप में कराया गया है, अन्यथा प्रमुखता शेरसिंह की आत्माभिव्यक्ति की ही है। शेरसिंह के मन की क्षण-क्षण परिवर्तित भावधारा को कवि ने पृष्ठों पर उतारा है। इन भावनाओं में राष्ट्र-प्रेम की धारा अन्तःसलिला की भाँति बह रही है। स्वगतकथनात्मक होने पर भी कवि ने इस कविता में नाटकीय शैली का प्रयोग किया है। वक्ता पात्र आत्म-कथन करता हुआ नहीं, किसी अन्य व्यक्ति के प्रति अपने उद्गारों को व्यक्त करता प्रतीत होता है। कविता की अधिकांश उक्तियाँ अत्यन्त ओजस्विनी शैली में किसी अन्य को सम्बोधित करके कही गयी हैं। कविता का आरम्भ इसी प्रकार के नाटकीय कथन से होता है—

ले लो यह शस्त्र है
गौरव ग्रहण करने का रहा कर में—
अब तो न लेश मात्र।
लालसिंह ! जीवित कलुष पंचनद का
देख, दिये देता है
सिंहों का समूह नख दन्त आज अपना।[1]

इस प्रकार इस कविता की स्वगत शैली नाटकीय है परन्तु इसमें भावनाओं का तुमुल संघर्ष 'प्रलय की छाया' की भाँति अंकित नहीं है। शेरसिंह के मन में ग्लानि है—पराजय के कारण, परन्तु आत्मविश्वास है भारतीयता पर—इस प्रकार दो विरोधी भावनाओं का अंकन तो है परन्तु परिस्थिति की विवश स्वीकृति है, भावनाओं में संघर्ष नहीं। कविता की रचना कवि ने मुक्त छन्द में की है।

प्रलय की छाया इस दृष्टि से सबसे अधिक सफल कविता है। आद्यन्त इस नाटकीय गीति में सूक्ष्म मनोविश्लेषण और अन्तर्द्वन्द्व व्याप्त है। आत्मिक तेज, गौरव और शील-चारित्र्य की तुलना में रूप-सौन्दर्य की क्षुद्रता गुर्जरेश की रूप-गर्विता रानी कमला के चरित्र द्वारा स्पष्ट की गयी है। अपना अतीत कमला के मनःचक्षुओं के समक्ष चित्रपट के समान आता है—अतः

१. लहर—जयशंकरप्रसाद, पृ० ५१

इन विगत घटनाओं के वर्णन में भी प्रत्यक्षता और चित्रमयता का समावेश कवि ने किया है। आद्योपान्त नारी के दो स्वरूपों की प्रतिष्ठा कवि ने कमला के चरित्र में करके उनमें सजीव द्वन्द्व का अंकन किया है। अनुपम-अलौकिक रूप-सौन्दर्य, जिसके अभिषेक का गौरव देव-बालाओं को मिला था, उसे उन्मत्त करने को पर्याप्त था। रूप-वर्णन और तद्जन्य गर्व का वर्णन प्रसाद की तूलिका ने कौशल से किया है। रूप का महोत्सव था—

पागल हुई मैं अपने ही मृदु-गन्ध से,
कस्तूरी मृग जैसी।[1]

उपर्युक्त अप्रस्तुत-विधान में अन्तिम परिणाम की भी व्यंजना है। इसी रूप के वैभव के साथ सत्ता के मद ने अभिमान में और वृद्धि की। गुर्जरेश के इंगित पर नाचने का परिणाम—उसके हृदय में भ्रांति का उदय हुआ—

पद्मिनी जली थी स्वयं किन्तु मैं जलाऊँगी,
वह दावानल ज्वाला
जिसमें सुलतान जले।[2]

उस समय वह भूल गयी कि इस महान् कार्य के लिए नयनाभिराम सौन्दर्य से अधिक हृदय की महानता और दृढ़ता की अपेक्षा है। नियति ने यह अवसर प्रदान किया—वे बन्दिनी रूप में सुलतान के समक्ष लायी गई। रूप-गर्व और कर्त्तव्य का संघर्ष समुपस्थित था—

कभी सोचती थी प्रतिशोध लेना पति का,
....
कितनी अबला थी और प्रमदा थी रूप की।[3]

आत्महत्या का प्रयत्न किया, परन्तु असफलता ने मनोगत भावनाओं को आत्म-प्रवंचना का अवकाश प्रदान कर दिया—

जीवन सौभाग्य है, जीवन अलभ्य है।[4]

और अन्त में हृदय ने निर्बल होकर भारतेश्वरी का पद ग्रहण करने की लोलुपता के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया—

यह उपहार है, यह शृङ्गार है
मेरी रूप माधुरी का।[5]

कवि ने अंतर्द्वन्द्व और आत्म-प्रवंचना का सुन्दर वर्णन किया है—

लोभ मेरा मूर्तिमान प्रतिशोध था बना
और सोचती थी मैं, आज हूँ विजयिनी
चिर पराजित सुलतान पद तल में।

१. लहर, पृ० ५९
२. वही, पृ० ६४
३. वही, पृ० ६८
४. वही, पृ० ७३
५. वही, पृ० ७६

भावना-परिवर्तन के इस क्षण की कितनी विवश स्वीकृति है--

बिखरे प्रलोभनों को मानती-सी सत्य में
शासन की कामना में झूम मतवाली हो।
एक क्षण, भावना के उस परिवर्तन का
कितना अजित था ?[1]

आन्तरिक संघर्ष का यह रूपान्तरण किसी श्रेष्ठतम नाट्य संघर्ष से कम नहीं। हृदय की इस मधुर छलना का समर्थन तुरन्त कवि ने बुद्धि के तर्क द्वारा कराया है।

दूर-दूर तक विस्तृत शासन, स्वर्ण-पिंजर में बंदिनी कमला के सौन्दर्य और नेत्र-भंगिमा के इंगितों से परिचालित था, और हृदय इसे ही जीवन की सार्थकता व विजय समझ बैठा। वास्तविक स्थिति का अभिज्ञान उस समय तक नहीं होता, जब तक शैशव का अनुचर मानिक जो गुर्जर-नरेश से कमला के लिए आत्महत्या का सन्देश लाया था, स्वयं अपने स्वामी का प्रतिशोध ले कर्त्तव्य-पालन करता है, और इस प्रकार वह क्षण-क्षण परिवर्तित चंचल हृदय अन्त में जीतकर भी जीवन की सबसे बड़ी हार स्वीकार कर लेता है। उन्हें भान होता है—

नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है
जिसमें पवित्रता की छाया भी पड़ी नहीं।[2]

और यहाँ आकर संघर्ष का अन्त होता है। प्रसाद के मनोगत आदर्श इस पराजय-स्वीकृति में व्यंजित हैं। सौन्दर्य के अमल आवरण की सत्ता हिमबिन्दु-सी ढुलकती प्रतीत होती है।

इस कविता में प्रसाद की कला अपने चरमोत्कृष्ट रूप में मिलती है। कमला के अन्तस्तल में होने वाले अनेक घात-प्रतिघात, उसके प्राणों का झंझावात, नारी-हृदय की सहज दुर्बलता है। सौन्दर्य का अत्यन्त सूक्ष्म वर्णन और घटनाओं के मानसिक पक्ष का, विशेषकर विरोधी प्रवृत्तियों का नाना-रूप संघर्ष सशक्त शैली में अभिव्यक्त हुआ है। स्वगत शैली में रचित होने पर भी इस कविता की नाटकीयता प्रश्नातीत है।

शैली की दृष्टि से भी छायावादी-शैली का अत्यन्त प्रौढ़ परिनिष्ठित रूप इस कविता में उपलब्ध है।

मानवीकरण—

श्यामा-सृष्टि युवती थी
तारक-खचित नील-पट परिधान था
अखिल अनन्त में
चमक रही थीं लालसा की दीप्त मणियाँ—
ज्योतिमयी, हासमयी, विकल विलासमयी।[3]

---

१. लहर, पृ० ७५-७६
२. वही, पृ० ८६
३. वही, पृ० ६१

विरोध-चमत्कार—

किन्तु दुर्भाग्य पीछा करने में आगे था।[1]

भाषा-संगीत और ध्वन्यात्मक सौन्दर्य—

मेरे उस यौवन के मालती मुकुल में
रंध्र खोजती थीं, रजनी की नीली किरणें।[2]

सचित्र प्रतीक-योजना—

कृष्णा गुरुवर्त्तिका
जल चुकी थी स्वर्ण-पात्र के ही अभिमान में;
एक धूम्र-रेखा मात्र शेष थी,
उस निस्पंद रंग-मन्दिर के व्योम में,
क्षीण गंध निरवलम्ब।[3]

कला का लालित्य, सुकुमारता और अन्तर्द्वन्द्व के अंकन में सजीवता—सभी कुछ इसमें वर्तमान है। आख्यान और गीति दोनों की विशेषताएँ स्वगतशैली की नाटकीयता के माध्यम से और भी प्रभविष्णु हो गई हैं। इस प्रकार शिल्प, नाटकीयता, शैली और रूपविधा सभी दृष्टियों से प्रसाद की यह कलाकृति हिन्दी-साहित्य का अलंकार है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आधुनिक काल के काव्य में इस प्रकार की जिन स्वगतकथनात्मक नाट्य कविताओं की रचना हुई, उनका काव्य-रूप केवल पूर्ववर्त्ती साहित्य की दृष्टि से मौलिक ही नहीं है, बल्कि इन रचनाओं में परस्पर भी पर्याप्त वैविध्य और वैशिष्ट्य उपलब्ध है। जिस रूप में इन कविताओं की रचना इस युग में हुई यथावत् उसी रूप में इससे पूर्व उपलब्ध नहीं। यह रचना-विधि आधुनिक काल के साहित्य की नितान्त निजी विशेषता है। अपने मूल रूप में इनका सम्बन्ध यद्यपि नाटकों के बीच में रचित स्वगतकथनात्मक उक्तियों से जोड़ा जा सकता है, फिर भी स्वतन्त्र कविताओं के रूप में इनकी रचना और काव्य-विधा का निर्माण आधुनिक काल के कवियों ने निजी अभिरुचि के अनुसार व्यक्तिगत शैली में किया। स्वतन्त्र और स्वतःपूर्ण नाट्य-कविताओं की रचना आधुनिक आंग्ल-साहित्य में भी हुई, परन्तु हिन्दी-साहित्य पर उसके प्रत्यक्ष प्रभाव का कोई निश्चित् प्रमाण नहीं, दोनों में समानताएँ अवश्य ढूंढ़ी जा सकती हैं, परन्तु एक, दूसरे का प्रत्यक्ष रूप से उपजीवी है, यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य में उपलब्ध इस प्रकार की कविताओं में परस्पर भी समानताएँ इतनी कम है कि किसी एक की रचना दूसरे के अनुकरण पर की गयी हो, यह नहीं माना जा सकता। सभी कविताओं पर कवि के व्यक्तित्व, विषय, दृष्टिकोण, बाह्य परिस्थितियों और शैली का इतना प्रभाव रहा है कि परस्पर उनमें अन्तर और विशिष्टताएँ अधिक उत्पन्न हो गई हैं। उनका विवेचन एक सामान्य वर्ग के अन्तर्गत इसीलिए किया गया है कि उनमें मूलवर्ती तत्त्व, और रचना-सिद्धान्त समान है और ये तत्त्व हैं—(१) स्वतःपूर्णता,

---

१. लहर, पृ० ६३
२. वही, पृष्ठ ५९
३. वही, पृष्ठ ७६

(२) नाट्य शैली—जिसके अन्तर्गत संवाद और स्वगत दोनों का यथाविधि प्रयोग किया गया है। (३) घटनाओं वा वस्तुरूप कार्यव्यापार का अभाव। (४) अनभिनेयता (५) संक्षिप्तता (६) पात्रों की नियत संख्या—जिसमें अधिकतर एक समय में एक ही पात्र के स्वगत-कथन की, व कहीं दो या तीन पात्रों के बीच संवाद की योजना मिलती है। पात्रों की भीड़-भाड़ इनमें अप्राप्य है। स्वगत-शैली में लिखी कविताओं में एक से अधिक पात्र-योजना का प्रश्न ही नहीं उठा। इन मूल समानताओं के होने पर भी इन कविताओं की निजी विशेषताओं के कारण ही अधिकांश का विवेचन पृथक् रूप में पिछले पृष्ठों में किया गया, उसका पुनरावर्त्तन यहाँ न अनिवार्य है न अभीष्ट, अतः इस प्रसंग का यहीं समापन कर आगामी खण्ड में मुक्तक-विधाओं का रूप-विवेचन किया जायगा।

खण्ड २

मुक्तक या अनिबद्ध काव्य

पंचम अध्याय
स्फुट मुक्तक

काव्य-रूप की दृष्टि से मुक्तक के दो प्रकार हैं—स्फुट मुक्तक तथा संयुक्त मुक्तक या निबद्ध कविता। इसके अतिरिक्त काव्य-विषय व कवि के दृष्टिकोण के आधार पर मुक्तक काव्य के अनेक भेद—गीत, प्रगीत व उनके उपभेद—उद्‌बोधन गीति, सम्बोधन गीति, शोक गीति, राष्ट्रीय गीति, तथा कला के आधार पर लोकगीत, कलागीत, पद आदि, बाह्य रूप या छन्द की विशेषता के आधार पर—दोहा शैली, कवित्त-सवैया शैली, सॉनेट आदि किये जाते हैं। काव्य में संगीत-साधना के अनुपात और प्रकार-सम्बन्धी अन्तर पर आधृत मुक्तकों के गेय और पाठ्य, भेद भी विद्वानों ने किये हैं, तथा आत्मगत और वस्तुगत दृष्टिकोण को क्रमशः प्रगीत और मुक्त-काव्य-रचना के क्षेत्रों में सीमित कर दिया गया है, परन्तु उपर्युक्त मुक्तक-विधाओं में पारस्परिक अन्तर अन्य कारणवश किया जाता है, रूप-विधा के भेद से नहीं। इसके अतिरिक्त प्रायः स्फुट छन्दों में भी प्रगीत के तत्त्व तथा कविताओं में वर्णनात्मक व पाठ्य-मुक्तकों की विशेषताएँ लक्षित की जा सकती हैं। इसी प्रकार प्रगीत में और अनेक छन्दों में बँधी नीतिपरक या वर्णनात्मक कविताओं में भी पारस्परिक अन्तर आकार का नहीं प्रकार का होता है। उपर्युक्त कारणों को दृष्टि में रखते हुए हमने मुक्तक का नितान्त रूपगत विभाजन दो भेदों—'स्फुट-मुक्तक' और 'संयुक्त-मुक्तक' में किया है, तदनन्तर अन्य विशेषताओं के आधार पर उनका विभाजन अन्य उपभेदों में किया गया है। उक्त विभाजन में प्राचीन संस्कृत आचार्यों के तद्‌विषयक आशय को दृष्टि में रखते हुए उनके मत को ही मान्यता दी गई है। अर्थात्, मुक्तक से हमारा आशय ऐसी रचना से है जो स्व-अर्थ-प्रकाशन में समर्थ और पूर्वापरक्रम से निरपेक्ष हो, व जिसके अर्थ की अन्विति व रसास्वादन के लिए पाठक को अन्य पद्यों का सम्बल ग्रहण न करना पड़े। ऐसी मुक्त रचनाओं में स्वतःपूर्ण छन्द-रचना के अतिरिक्त ऐसे पद्यांशों का भी अन्तर्भाव कर लिया गया है जिनका छन्द-विधान पिंगल-शास्त्र के नियमानुकूल नहीं परन्तु जिनमें अर्थ या भाव की अन्विति के लिए एक छन्द से दूसरे छन्द पर नहीं जाना पड़ता—अर्थात्, जिनका आशय अथवा कवि का प्रेष्य अपनी समग्रता में एकाधिक पद्य-खण्डों के सम्मिलित अर्थ से नहीं, एक विशेष स्वतःपूर्ण पद्यांश से स्पष्ट हो जाय। इस पद्यांश का निर्माण एक छन्द तक सीमित हो सकता है, अथवा कवि अपनी आवश्यकता के अनुसार इस छन्द में विस्तार, संकोच, मिश्रण, अथवा परिवर्तन करके नव्य आकार का निर्माण कर सकता है, परन्तु इस प्रकार के दो पद्यांशों या छन्दों की स्थिति सापेक्ष नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार के पृथक् पद्यांशों में अन्तराय न हो और अर्थ की अन्विति व पूर्णता की दृष्टि से उनका स्वरूप सावलम्ब नहीं हो—यही मुक्तक

(स्फुट) काव्य की विशेषता है। इसीलिए एक ही विषय पर लिखे गए अनेक छन्दों को, जिनकी स्थिति निरपेक्ष है, हमने स्फुट मुक्तक और सापेक्ष स्थिति वाले एकाधिक छन्दों को संयुक्त माना है।

संस्कृत काव्य-शास्त्र में मुक्तक काव्य का लक्षण जिस रूप में निर्धारित किया गया उसका आधार पूर्वापर निरपेक्ष स्फुट काव्य ही है—यह उन आचार्यों के विवेचन से स्पष्ट है। संयुक्त-मुक्तकों का उल्लेख व लक्षण-निरूपण इन आचार्यों ने पृथक् रूप से किया है जिसका उल्लेख यथाप्रसंग किया जायगा। मुक्तक के विषय में सर्वप्रथम उल्लेखनीय मत अग्निपुराण-कार का है—

मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।[1]

अर्थात् मुक्तक वह श्लोक है जो स्व-अर्थ की परिव्यक्ति में स्वतः समर्थ है। केवल अर्थ की अभिव्यक्ति में ही नहीं, अर्थजन्य चमत्कार उत्पन्न करने, दूसरे शब्दों में रसास्वाद कराने में सक्षम, निरपेक्ष छन्द-रचना मुक्तक कहलाती है। अग्निपुराण के उपरान्त अभिनवगुप्ताचार्य का निम्नांकित उद्धरण भी इसी आशय का निरूपक है—

मुक्तमन्येनाऽऽलिंगितम्। तस्य संज्ञायां कन्। तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकांक्षार्थ-मपि प्रबन्धमध्यवर्ती मुक्तकमित्युच्यते।···पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।

अर्थात् पूर्व और पर पद्यों से जो असम्बद्ध हो, स्वतन्त्र रूप से अपने विषय को प्रकट करने में अकेला ही समर्थ हो, ऐसे पद्य को मुक्तक कहते हैं। निराकांक्ष अर्थ-द्योतन में समर्थ होने पर भी वह प्रबन्ध के बीच में समाविष्ट हो सकता है। पूर्वापर अनालिंगित होने पर भी मुक्तक रसोद्रेक में समर्थ होता है। इस प्रसंग में एक बात स्पष्ट कर देनी उचित होगी। प्रबन्ध के बीच में मुक्तक की अंग-रूप में स्थिति को अभिनवगुप्ताचार्य ने केवल सम्भावना के रूप में स्वीकार किया है, वह उसका अनिवार्य अनुबन्ध नहीं। जैसा भूमिका भाग में पहले भी उल्लेख किया जा चुका है[2] आचार्य दण्डी और वामन ने मुक्तक की स्वतन्त्र महत्ता स्वीकार नहीं की थी। आचार्य दण्डी ने तो प्रकीर्ण और संयुक्त दोनों प्रकार के मुक्तकों को सर्गबन्ध काव्य का अंग ही स्वीकार कर लिया—

मुक्तकं कुलकं कोशः संघात इति तादृशः
सर्गबन्धांगरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः ।१।।१३।[3]

मुक्तक, कुलक, कोश, संघात आदि सर्गबन्ध महाकाव्य के अवयव मात्र हैं, अतः इनका विस्तृत पद्य-विस्तार नहीं किया गया। आचार्य वामन का मत भी इस मत से बहुत भिन्न नहीं, उसका विस्तृत उल्लेख भूमिका में किया जा चुका है। अन्य आचार्यों ने प्रायः शब्द-भेद से उक्त लक्षणों का पुनरावर्तन ही किया है। परन्तु क्रमशः परवर्ती आचार्यों के मत में मुक्तक और प्रबन्ध आदि के पारस्परिक

---

१. अग्निपुराण, अनुवादक—रामलाल वर्मा शास्त्री, पृ० ३१
२. दे० भूमिका—पृ० २२-२३
३. काव्यादर्श—दण्डी, प्रथम परिच्छेद, पृ० १२

संबंध के विषय में किसी प्रकार का भ्रम नहीं रहा। आचार्य हेमचन्द्र व विश्वनाथ आदि ने स्पष्ट रूप से मुक्तक काव्य को अनिबद्ध व मुक्त काव्य ही माना है।[1] इन आचार्यों का मत मुक्तक को निरपेक्ष रचना मानने के पक्ष में ही है। आचार्य दण्डी ने केवल मुक्तक के बाह्य रूप को ही दृष्टि में रखकर इस विषय में अपना मत व्यक्त किया है। यहाँ मुक्तक शब्द छन्द के पर्याय-रूप में प्रयुक्त हुआ है और संयुक्त मुक्तक के विभिन्न प्रकारों की परिगणना छन्द-संख्या के आधार पर की गई है। यदि आचार्य दण्डी का मत अग्निपुराणकार के मत के समान होता, तो वे मुक्तक-रूपों को सर्गबद्ध काव्य का अंग-मात्र नहीं मानते। इन दोनों काव्य-प्रकारों की विधा एक-दूसरे से भिन्न है। सर्गबद्ध या निबद्ध काव्य में विभिन्न छन्दों, पद्यांशों या प्रसंगों की सानु-बन्ध रचना की जाती है और अनिबद्ध या मुक्तक काव्य में प्रत्येक छन्द या पद्य-खण्ड निरपेक्ष होता है। प्रबन्ध-रचना में जितने पद्य या पद्य-समूह पूर्वापर सम्बन्ध से निरपेक्ष होंगे उतने ही जोड़ उस रचना में लक्षित किये जा सकेंगे, उसमें निर्बाध धाराप्रवाह वस्तु-विकास नहीं होगा और यह प्रबन्ध-रचना का बहुत बड़ा दूषण है। इससे भिन्न पूर्वापर-क्रम से निरपेक्ष स्व-अर्थ व्यंजक शक्ति, मुक्तक का प्रथम और आवश्यक अनुबन्ध है। प्रबन्ध का कोई ऐसा छन्द या पद्यांशमुक्तक नहीं हो सकता जिसकी स्थिति सापेक्ष हो। ऐसा हम उसी स्थिति में मान सकते हैं जब मुक्तक को छन्द का पर्याय स्वीकार कर लिया जाय, जो उचित नहीं। व्यवहार में प्रायः होता यही है—मुक्तक काव्य की प्रेरक अनुभूति या भाव-खण्ड अपने-आपमें इतना क्षणिक और सघन, अतः अभिव्यक्ति में संक्षिप्त होता है कि उसका माध्यम प्रायः एक ही छन्द हुआ करता है। इसी प्रकार चमत्कार-प्रधान अभिव्यक्ति की लालसा भी मुक्तककारों को अर्थगर्भित मुक्तक रचना में प्रवृत्त करती है, परन्तु मुक्तक काव्य, छन्द नहीं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने छन्द को साधन और अभिव्यंजना का उपकरण-मात्र माना है, रूप-विधा का पर्याय नहीं। अतः मुक्तक के प्रसंग में भी उसकी स्थिति महत्त्वपूर्ण अवयव के रूप में ही स्वीकार की जा सकती है, वह उसका पर्याय नहीं हो सकता। "छन्द आवेग का वाहन है।...एक चित्त के अनुभव को अनेक चित्तों में अनायास संचरित करने वाला महान साधन है।"[2] एक उदाहरण से हम अपनी बात को पुष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। 'रामचरितमानस' के एक दोहे और कबीर या रहीम के दोहों में छन्द या बाह्याकार की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं, परन्तु काव्य-रूप की दृष्टि से हम दोनों का अन्तर्भाव एक ही विधा के अन्तर्गत नहीं कर सकते। वास्तव में मुक्तक का काव्य-रूप विषय-सापेक्ष है। कहा जा सकता है कि स्फुट-मुक्तकों का माध्यम एक छन्द व संयुक्त-मुक्तक का—कुछ दूर तक परस्पर सम्बद्ध, परन्तु अन्यथा निरपेक्ष, एकाधिक छन्द होते हैं, किन्तु मुक्तक प्रबन्ध का अंग नहीं हो सकता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुक्तक केवल सर्गबद्ध काव्य का अंग नहीं, उसकी अपनी

---

१. अनिबद्धं मुक्तकादि।
काव्यानुशासन—हेमचन्द्र, अध्याय ८, पृ० ४६५
छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।
साहित्यदर्पण—विश्वनाथ, विमला व्याख्या षष्ठः परिच्छेद, पृ० २२४

२. साहित्य का मर्म—आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४१ तथा ४६

स्वतन्त्र सत्ता व महत्ता, निजी काव्य-रूप और उसकी विशेषताएँ हैं। मुक्तक की तीन मूल विशेषताएँ हैं—संक्षिप्तता, सरसता और निरपेक्ष सत्ता। स्फुट-मुक्तक के प्रसंग में संक्षिप्तता से अभिप्राय एक छन्द या एक पद्य-खण्ड में सीमित रचना से ही होगा। इसी संक्षेप के कारण इन रचनाओं में एक ही स्थिति, भाव या विचार का सघन वर्णन होता है, जीवन का समग्र व विशद चित्रण नहीं। एक ही छन्द में समाहृत होने के कारण मुक्तककार को इस वर्णन में बड़े कौशल से काम लेना पड़ता है। उत्कृष्ट मुक्तक-रचना में ग्रहण और त्याग के लिए विशेष विवेक और कौशल वांछित होता है।

मुक्तक का सौरस्य किस प्रकार संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों में समान रूप से मान्य रहा है, इस विषय का विस्तार प्रस्तुत प्रसंग में अनावश्यक है। आचार्य आनन्दवर्द्धन अमरूशतक के एक-एक श्लोक को सैकड़ों प्रबन्धों की अपेक्षा काव्य-गुण में अतिशायी स्वीकार करते थे। प्रबन्ध-काव्य के पक्षपाती आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी प्रबन्ध-काव्य को वनस्थली कहकर, मुक्तक को उसकी तुलना में चुना हुआ गुलदस्ता कह गये, और पं० पद्मसिंह शर्मा तो मुक्तक को मीठी रोटी के सदृश सर्वांग मधुर मानते थे। यह सब कहने का अभिप्राय यही है कि यद्यपि मुक्तक प्रबन्ध की भाँति चिरप्रभावक्षम नहीं होता परन्तु उसे प्रबन्ध का अंग मात्र मानकर उपेक्षणीय या अविवेचनीय भी नहीं कहा जा सकता। थोड़े में रसानुभूति करा देना मुक्तक की ही सामर्थ्य है, उसकी अपनी उपयोगिता व महत्त्व है।

मुक्तक और विशेष रूप से स्फुट मुक्तक की स्थिति किस प्रकार पूर्वापर निरपेक्ष होती है यह हम स्पष्ट कर आए हैं। अतः उसका पुनराख्यान न करके हम स्फुट मुक्तकों के प्रकारों का विवेचन करेंगे।

आधुनिक साहित्य के पूर्ववर्ती युग—रीतिकाल में काव्य-रचना के लिए मुक्तक शैली का प्रयोग निरपवाद रूप से हुआ। यही परम्परा यथावत् भारतेन्दु-युग के कवि-मंडल द्वारा अपना ली गई। विशेष रूप से काव्य के रूप-विधान के क्षेत्र में किसी विशेष उल्लेखनीय नवीनता के दर्शन नहीं हुए। "हरिश्चन्द्र के सहयोगियों में काव्यधारा को नए-नए विषयों की ओर मोड़ने की प्रवृत्ति तो दिखाई पड़ी, पर भाषा ब्रज ही रहने दी गई और पद्य के ढाँचों, अभिव्यंजना के ढंग तथा प्रकृति के स्वरूप-निरीक्षण आदि में स्वच्छन्दता के दर्शन न हुए। इस प्रकार की स्वच्छन्दता का आभास पहले-पहल पं० श्रीधर पाठक ने ही दिया।.....उन्होंने खड़ीबोली पद्य के लिए सुन्दर लय और चढ़ाव-उतार के कई नए ढाँचे भी निकाले और इस बात का ध्यान रखा कि छन्दों को सुन्दर लय से पढ़ना एक बात है, राग-रागिनी गाना दूसरी बात। ख्याल या लावनी की लय पर जैसे 'एकान्तवासी योगी' लिखा गया वैसे ही सुथरे-साइयों के सधुक्कड़ी ढंग पर 'जगत-सचाई-सार'.....।"[1] नाम गिनाने के लिए जो कतिपय मौलिक प्रयोग इस युग के काव्य में किये गए, तथा उर्दू, अंगरेजी आदि के प्रभाव से जो कुछ वैविध्य काव्य-रूपों की दिशा में प्रस्तुत हुआ, उसका विवेचन भूमिका में किया जा चुका है, अतः उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं। यहाँ इस ओर इंगित करने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि रीतिकालीन मुक्तक-

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ७२८-७२९

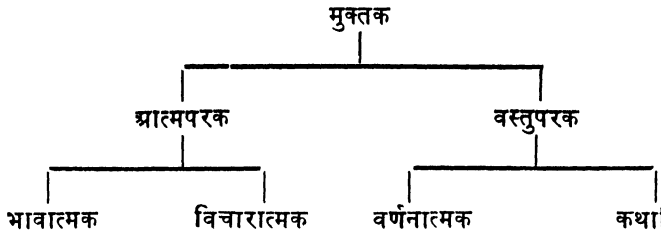
परम्परा, विषय-भेद और रूप-वैविध्य से भारतेन्दु काल से होती हुई द्विवेदी-युग तक चली आई—इस तथ्य की ओर संकेत कर दिया जाय। विवेच्य साहित्य (१९००-१९५७ ई०) में जो आरम्भिक मुक्तक काव्य मिलता है, उसमें विरासत में मिलने वाले काव्य-रूपों में कोई विशेष उल्लेखनीय मौलिकता नहीं थी। अतः इस युग के काव्य को काव्य-रूपों की दृष्टि से परम्परा से विशेष सम्बल नहीं मिला। इसके अतिरिक्त मुक्तक काव्य, कला के वैभव की दृष्टि से रीतिकाल में समृद्धि और उत्कर्ष की उस चरम सीमा का स्पर्श कर चुका था कि उसमें विशेष विकास का अधिक अवकाश नहीं था। अतः इस काल के आरम्भ में मुक्तक-रचना का बोलबाला तो रहा परन्तु उसमें विशेष चमत्कार, नवीनता या वैचित्र्य-सृष्टि सम्भव न हो सकी। परम्पराबद्धता और एकरूपता का एक कारण और भी था। काव्य-रचना के क्षेत्र में ब्रजभाषा के पाँव उखाड़कर खड़ीबोली के पाँव जमाने के प्रयत्न से कुछ समय तक कला के उत्कर्ष पर बाधक प्रभाव पड़ा। कवि-वर्ग अपनी शक्ति, काव्य-रूपों में नवीन प्रयोगों की अपेक्षा, नवीन भाषा के प्रयोग पर आजमाता रहा और परिणामतः सीधी-सादी, प्रसादगुण-सम्पन्न बोलचाल की भाषा और पुराने ढाँचों में इतिवृत्तात्मक मुक्तक रचनाओं के ढेर लगते गए। दूसरी ओर इन कवियों ने सरस मुक्तक-रचना की पूर्व-प्रचलित प्रणाली को छोड़कर खड़ीबोली में पद्य-प्रबन्धों की रचना की ओर ध्यान लगाया। द्विवेदीजी की अधिकांश कविताएँ इसी वर्ग की हैं। इस प्रकार की काव्य-रचना का प्रमुख कारण जीवन की हलचल और खड़ीबोली की अनिश्चित स्थिति थी "मुक्तकों की काव्य-माधुरी लाने के लिए अपरिपक्व खड़ीबोली की गागर में सागर भरना असम्भव था। खण्डकाव्य या महाकाव्य लिखने के लिए पर्याप्त अवकाश की आवश्यकता थी। बहुधंधी कवि इन परिस्थितियों के ऊपर न उठ सके।"[1] मौलिकता के अभाव का आंशिक कारण गद्य-विधाओं का प्रचलन और प्रोत्साहन भी था। लेखक की प्रतिभा दोनों क्षेत्रों में बँट गई। किन्तु इस युग की अधिकांश मुक्तक-रचना का श्रेय द्विवेदी-युग के कवियों को ही दिया जा सकता है, क्योंकि छायावाद के उन्मेष के उपरान्त कवियों की प्रवृत्ति, प्रगीत और अँगरेजी काव्य के प्रभाव से आने वाली विभिन्न गीति-विधाओं की ओर उन्मुख हो गई। इन कवियों ने काव्य-रचना आरम्भ करते हुए जो कुछ मुक्तक-रचना की उसमें भी विशेष कलात्मक उत्कर्ष सम्भव न बन पड़ा। छायावाद के उपरान्त भी विविध काव्य-धाराओं के कवियों ने मुक्तक शैली को विशेष प्रश्रय नहीं दिया। इस युग के उपरान्त मुक्तक रचनाएँ विरल और उनमें भी मौलिकता का लगभग अभाव ही हो गया। जो कुछ मुक्तक परवर्ती साहित्य में लिखे गए, उनमें से अधिकांश का अन्तर्भाव परम्परागत रूप-विधाओं में ही किया जा सकता है।

मुक्तक काव्य के बाह्य रूप-विधान का विवेचन, दूसरे शब्दों में छन्द-विधान का ही परीक्षण कहा जा सकता है। यह तो हुई बाह्याकार की स्थूल विशेषता की बात; परन्तु एक छन्द में अभिव्यक्त दो भिन्न विषयों में—भाषा, शैली, अप्रस्तुत-विधान, दृष्टिकोण—एक शब्द में समग्र अभिव्यंजना कला—अतः प्रभाव और बाह्य रूप में अन्तर होता है। उदाहरण के लिए एक ही छन्द कवित्त और सवैया का प्रयोग रीतिकालीन कवियों ने शृंगार और वीर दोनों रसों

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग—डा० उदयभानुसिंह, पृष्ठ १०५

के लिए किया। इन्हीं छन्दों का प्रयोग द्विवेदी-युग के कवियों ने नीति और उपदेश के लिए किया। अतः सहज प्रश्न है कि क्या केवल छन्द के आधार पर इन सभी रचनाओं को एक वर्ग में रखा जा सकता है? उत्तर होगा नहीं। यदि केवल छन्द-योजना का विवेचन ही लक्ष्य हो तो निश्चय ही ऐसा किया जा सकता है। परन्तु मुक्तक-रचना में विषय और भाव-तत्त्व की स्थिति आत्म तत्त्व के समान, छंद का स्थान अस्थिपिंजर या ढाँचे के सदृश, और रूप-विधान अस्थि-पिंजर समवेत् उस समस्त शरीर-रचना के समान है जिसका निर्माण अनेक अवयवों से होता है। वह उसके समग्र बाह्य रूप-आकार का पर्याय है। इस बाह्य शरीर पर काव्य के मूलवर्ती दृष्टिकोण और विषयस्वरूप का प्रभाव पड़ता है। अतः विवेचन की सुविधा और स्पष्टता के लिए, इस युग के मुक्तकों का विभाजन निम्नलिखित वर्गों में किया जा सकता है—



द्विवेदी-युग के मुक्तक काव्य में एक विशेषता सामान्य रूप से प्राप्य है, और यह विशेषता है अधिकांश कवियों का वस्तुपरक दृष्टिकोण। द्विवेदी-युग नैतिक आदर्शों और वस्तुगत मूल्यों का युग था। निपट आत्मानुभूति को अभिव्यक्ति का अवकाश सामाजिक प्रतिबन्धों के इस युग में बहुत कम मिला, अतः व्यक्तिगत भावनाओं या सुख-दुखात्मक अनुभूतियों के प्रकाशन का प्रयत्न इस युग के मुक्तकों में भी नहीं हुआ। छायावादी कवियों द्वारा व्यक्तिगत राग-विराग की अभिव्यक्ति के लिए, स्फुट मुक्तकों का आश्रय बहुत कम लिया गया और उसके बाद छोटी कविताओं या संयुक्त-मुक्तकों में काव्य-रचना की प्रवृत्ति कुछ इतनी लोकप्रिय हुई कि प्रगतिवादी काव्य में वस्तुगत मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा होने पर भी स्वतन्त्र और स्वतःपूर्ण छन्द-रचना की प्रवृत्ति पुनरुज्जीवन न पा सकी। इस प्रकार के कुछ इने-गिने प्रयोग होते रहे, परन्तु स्फुट छन्द-रचना की शैली लोकप्रिय न हो पाई। द्विवेदी-युगीन काव्य के उपरान्त अधिकतर मुक्तकों में कवि-वर्ग भावाभिव्यक्ति के लिए प्रगीत—उसके विभिन्न प्रकारों, तथा वर्णन और बुद्धि-प्रधान रचनाओं के लिए छोटी कविताओं का आश्रय लेता रहा। अतः मुक्तकों का विवेचन विशेष रूप से द्विवेदी-युग के प्रसंग में ही करना सम्भव होगा।

वस्तुपरक या विषय-प्रधान मुक्तक

द्विवेदी-युग की अधिकांश कविता इतिवृत्तात्मक कविता है, यद्यपि आत्मपरक काव्य का सर्वथा अभाव नहीं, परन्तु अधिकता वस्तुप्रधान मुक्तक की ही है। इसी कारण हम विवेचन का आरम्भ विषय-प्रधान रचनाओं से कर रहे हैं। वस्तुनिष्ठ मुक्तक भी दो रूपों में लिखे जा सकते हैं—(१) वे मुक्तक जिनमें मानव, प्रकृति, उत्सव, प्रसंग, या दृश्य का वर्णन किया जाय, अर्थात् वस्तुवर्णनात्मक मुक्तक (२) वे मुक्तक जिनमें किसी घटना, कथा, या आख्यान का विवरण

प्रस्तुत किया जाय—अर्थात् कथात्मक मुक्तक। इस प्रकार के आख्यानात्मक या कथाश्रित मुक्तकों में विस्तारपूर्वक कथा-वर्णन की संभावना तो नहीं होती, किन्तु इसमें कथात्मक संस्पर्श या कथा का आश्रय भर लिया जा सकता है। इस प्रकार इन दोनों ही प्रकार के मुक्तकों का स्वरूप मूलत. वर्णनात्मक है परन्तु एक में इतिवृत्त-वर्णन और दूसरे में कथा-वर्णन की प्रधानता होती है। दूसरे— अर्थात् कथाश्रित मुक्तकों की रचना भक्त कवियों द्वारा अपने आराध्य की लीला का वर्णन करने के लिए प्राय: सगुण भक्ति के साहित्य में की गयी, परन्तु आधुनिक युग तक आते-आते कविता के विषय बदल गए। आराध्य का लीला-वर्णन कुछ दूर तक भारतेन्दु व उनके सहयोगी कवियों ने किया; परन्तु द्विवेदी-युग में व्यक्तिगत भक्ति-धर्म की अपेक्षा समाज-धर्म और राष्ट्र-धर्म काव्य-चेतना में अधिक व्याप्त हो गया। काव्य-विषय बदलने से काव्य-रूप बदल गये। कथा-वर्णन की अपेक्षा सिद्धान्त-निरूपण और नैतिक उपदेशों की ओर कवि समुदाय की अभिरुचि हो गयी, अत: कथाश्रित मुक्तक-रचना का अवकाश ही नहीं रहा। इस प्रकार के प्रयोग इने-गिने हैं।

वर्णनात्मक मुक्तक इस काल में प्रभूत मात्रा में लिखे गये। केवल मात्रा की दृष्टि से ही इन मुक्तकों का आधिक्य नहीं था, वैविध्य की दृष्टि से भी इनमें अनेकरूपता उपलब्ध होती है। इन मुक्तकों में—प्रकृति, युद्ध, ऐतिहासिक स्थल और समाज जैसे व्यापक और विशद विषय भी अपनाए गये तथा मेंहदी, चातक, कोकिल और कृष्ण, वीरबहूटी, मुसकान और चकोर आदि, जैसे सीमित और छोटे-छोटे विषयों पर भी काव्य-रचना की गयी। किसी मानव, पदार्थ, प्रसंग या व्यापार आदि को विषय बनाकर इस प्रकार की कविता दो रूपों में की जा सकती है—काव्य-विषय के बाह्य रूपाकार का वर्णन, तथा उस विषय-विशेष के प्रति कवि की अपनी मानसिक प्रतिक्रिया का वर्णन। पहले प्रकार की कविता में कवि की दृष्टि बाह्य आकार-प्रकार पर टिकी रहती है और वह यथासम्भव रूपांकन का प्रयत्न करता है। दूसरे प्रकार की कविता में वह अंतर्मन में गहरे पैठकर अपनी अमूर्त व अंतरंग प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। वस्तुगत आधार, उसके प्रति कवि की आत्मगत प्रतिक्रिया एवं शब्दों के माध्यम से उसका प्रत्यंकन—इस प्रकार अनुभूति से अभिव्यक्ति तक एक वृत्त बन जाता है। काव्य-प्रकार का निर्णय और उसका श्रेणी-बंधन उसमें अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण विशेषता के आधार पर कर दिया जाता है। जहाँ कवि की आत्मगत भावनाओं का अंकन अधिक, और वस्तुगत आधार उद्दीपक मात्र होता है, वह मुक्तक विषयी-प्रधान होता है। तथा जब वस्तु की महत्ता और उसी के रूप को अधिकाधिक यथावत् रूप में शब्दों में बाँधने का उपक्रम किया जाता है तब विषय-प्रधान काव्य का सृजन होता है। द्विवेदी-युग की यह अधिकांश वर्णनात्मक मुक्तक कविता दूसरी अर्थात् वस्तुगत या इतिवृत्तात्मक मुक्तक-रचना की कोटि में आती है। स्वभावत: बाह्यार्थनिरूपिणी दृष्टि के कारण इनमें प्रत्यक्षता और स्पष्टता उत्पन्न हो गयी है। प्रसाद गुण और तत्काल अर्थ-ग्रहण कराने की विशेषता, अभिधा शक्ति में अन्य दो शक्तियों की अपेक्षा अधिक होती है, तथा उक्ति-वैचित्र्य, विलक्षणता और चमत्कार कम। अभिधा में वाक्यार्थ ही वाच्यार्थ होता है, अत: स्थूल वर्णनों में कवि इसी शक्ति का आश्रय लिया करते हैं। द्विवेदी-युग के अधिकांश मुक्तक इसी ढंग के हैं। वर्णनकइवियों ने विविध विषयों के किये हैं। इनमें अधिकता स्थान-विशेष, पशु-पक्षी, प्रकृति और

मानव-रूप के वर्णनों की है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने 'नवलनागरी सुनगरी वर्णन' तथा 'अलका-वर्णन' इसी प्रकार के इतिवृत्तात्मक ढंग पर किये हैं। कहीं-कहीं अप्रस्तुत-विधान में चमत्कार-योजना का प्रयत्न भी है, परन्तु प्रसाधन स्थूल और साकार है। कवि के शब्दों में अलकापुरी कुछ इस प्रकार है—

तोमें दामिनी है चारु कामिनी विराजें उतै,
तोमें सुरचाप उत चित्र संवारे हैं,
मधुर गजराज तो में गायन के काज तहाँ,
सुन्दर मृदंगन के शब्द होत प्यारे हैं।
तोमें जल जाल थल मनि के विसाल तहाँ,
तेरे सम तिनके शिखर तुंग भारे हैं,
अलकापुरी के विश्व धामन में धाराधर,
एते साज तेरी तुल्यताई के निहारे हैं।[1]

इसी ढंग पर कवियों ने बाह्य स्थूल विशेषताओं को मूर्तिमान करते हुए अनेक वर्णन किये हैं। शैली में कहीं प्रसादमयता है, और अन्यत्र अतिशय चमत्कृत वर्णन। ला० भगवानदीन के अधिकांश मुक्तक इसी प्रकार के कल्पनाविलास के आधार पर रचित हैं, भावप्रेरित वक्रता और सौन्दर्य-सृष्टि उन प्रसंगों में बहुत कम है। ताजमहल के वर्णन के लिए कवि का अप्रस्तुत-चयन देखिये—

कैधौं बासुकी को अंड खंड ह्वै परयो है आय,
चारिहू मीनार सो संपोलन समाज है।
चारि भुजा धारि के विराजो किधौं भूतनाथ,
जमुना निकट बहै सोई नागराज है॥
'दीन कवि' कैधौं वीर दन्तयुत देखियत,
ब्रजतट इन्द्रगज मस्तक दराज है।
जग के समस्त सौध संघन को सिरताज,
भारत में राजि रह्यो आगरे को ताज है।[2]

उक्त वर्णन में सहृदयता और भावप्रेरित सौन्दर्य-वर्णन उतना नहीं, जितनी दूर की सूझ और मौलिकता का दुराग्रह।

विशेष स्थलों के वर्णन के अतिरिक्त व्यापक दृष्टि से देश-सुधार का वर्णन भी कवियों ने किया है। 'भारतोदय' शीर्षक में कवि 'शंकर' ने इसी आशय की षट्पदियाँ लिखी हैं। स्वभावतः ऐसे वर्णनों में कवि विशेष स्थल तथा सूक्ष्म बातों का वर्णन उतना नहीं करता जितना सामान्य और स्थूल प्रसंगों का। अतः इस प्रकार के व्यापक विषय को लेकर रचे गये मुक्तकों का स्वरूप परिचयात्मक हो जाया करता है—

---

१. पूर्ण-संग्रह—राय देवीप्रसाद पूर्ण, पृ० २४२
२. नवीन बीन—ला० भगवानदीन, पृ० ७४-७५

कामना विज्ञान-वादी मुक्ति की करने लगे,
ध्यान द्वारा धारणा में ध्येय को धरने लगे।
आलसी, पापी, प्रमादी पाप से डरने लगे,
अन्धविश्वासी सचाई भूल में भरने लगे।
धूलि मिथ्या की उड़ा दी दम्भ-वाहक रो गया,
देख लो लोगो दुबारा भारतोदय हो गया।[1]

इस प्रकार के वर्णनों के अतिरिक्त द्विवेदी-युग में मुक्तक-रचना के लिए एक विशेष पद्धति प्रचलित थी। कतिपय प्रसिद्ध पौराणिक, ऐतिहासिक, घटनात्मक या स्थल-विशेष के चित्रों को लक्ष्य करके कवि उनकी विशेषताओं के वर्णन के लिए काव्य-रचना किया करते थे। यह पद्धति इस युग की विशेषता है। जहाँ चित्र का सम्बन्ध किसी घटना या प्रसंग से होता है वहाँ तो वर्णन में तारतम्य अतः छन्दों में पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और ये रचनाएँ कविताओं का रूप धारण कर लेती हैं, परन्तु जहाँ कोई प्रसिद्ध ऐतिहासिक या पौराणिक व्यक्ति चित्रांकित होता है, वहाँ कवि अपने को प्रायः उसके रूप-वर्णन तक ही सीमित रखता है। इस प्रकार की कविताओं का बहुलांश राजा रविवर्म्मा के चित्रों को विषय बनाकर रचा गया। अधिकांश ऐसी कविताएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई तथा कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाओं को आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने संकलित कर 'कविता-कलाप' नाम से प्रकाशित कराया। ला० भगवानदीन ने भी अपनी 'नवीन बीन' में इस प्रकार के कुछ मुक्तकों की रचना की है जिनमें से अधिकतर कथाश्रित हैं।

इस प्रकार के मुक्तकों में कवि की कल्पना चित्र में अंकित विशेषताओं से सीमित रहती है। इसके अतिरिक्त चित्रकला, प्रयुक्त मूर्त उपादानों की विशेषता के कारण समतल और सपाट होती है तथा उसमें घनत्व और गहराई का अभाव होता है, अतः आकारगत विशेषताएँ इस कला में अधिक स्पष्ट रूप से तथा मनोगत विशेषताएँ व्यंग्य रूप में अंकित रहती हैं। इन चित्रों पर आधारित मुक्तकों में इनकी सतही और बाह्य विशेषताओं का वर्णन तो किया गया है, परन्तु चित्रित पात्रों के मनोगत भावों और अन्तर्वृत्तियों का वर्णन नहीं किया गया। स्वभावतः इनका स्वरूप वर्णनात्मक है और वर्णन है बाह्य रूप का। बाह्य रूप में भी निश्चित रेखाओं और वर्णों से कवि चित्र की यथावत् प्रतिकृति नहीं कर पाता। उसने प्रायः स्थूल अवयवों का आश्रय ही लिया है। एक विषय पर अधिकतर इस प्रकार के एकाधिक मुक्तक लिखे गए, परन्तु एक शीर्षक में बँधे होने पर भी इनकी स्थिति सापेक्ष नहीं तथा इनमें परस्पर भावान्विति भी उपलब्ध नहीं है। इनके पात्र हैं—सरस्वती, लक्ष्मी आदि पौराणिक नारियाँ। इनके अतिरिक्त कुछ सामान्य पात्रों पर भी ऐसी मुक्तक-रचनाएँ की गईं, परन्तु उनमें अनेक मुक्तक परस्पर विषय-सम्बन्ध से निबद्ध हैं, अतः उनका उल्लेख यथाप्रसंग किया जायगा। स्फुट-मुक्तकों की रचना कवियों ने प्रायः उन्हीं पात्रों पर की है जिनका चरित्र और स्वरूप हमारा चिरपरिचित है अतः यदि कहीं वर्णनों में अन्विति या अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तराय भी उपस्थित होता है

---

१. शंकर सर्वस्व—सं० हरिशंकर शर्मा, पृ० ९९

तो अनजाने ही हमारी कल्पना तत्काल उन रिक्त स्थानों को अर्जित ज्ञान और संस्कार-ज्ञान से भर देती है (यद्यपि ऐसे अवसर बहुत कम आए हैं)। ऐसे मुक्तकों की रचना राय देवी-प्रसाद 'पूर्ण,' नाथूराम शर्मा 'शंकर', पण्डित कामताप्रसाद 'गुरु', बाबू मैथिलीशरण गुप्त व स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी ने की, परन्तु स्फुट मुक्तक अधिकतर राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने ही लिखे। जैसा पहले भी कहा गया है इन वर्णनों की शैली में विशेष निखार व अभिव्यंजना में सौष्ठव नहीं मिलता। इनकी रचना परम्परागत अलंकारों और छन्दों के सहारे ही की गई है। एक उदाहरण अब तक व्यक्त मान्यता को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त होगा—

कुन्द घनसार चन्द्र हूतें अंग शोभावन्त
भूखन अमन्द त्यों बिदूखत हैं दामिनी।
कंजमुखी कंजनैनी बीना करकंज धारे
सोहै कंजआसन सुरी हे अनुगामिनी।
भाव रस छन्दन की कविता निबन्धन की
पूरन प्रसिद्ध सिद्ध सिद्धिन की स्वामिनी।
जै जै मात बानी विश्वरानी बरदानी देवी
आनंद प्रदानी कमलासन की भामिनी।[1]

बिना चित्रों का आधार लिए कृष्ण आदि के रूप और महत्त्व का वर्णन भी कवियों ने किया है। ला० भगवानदीन ने 'कोकिल-कृष्ण' शीर्षक में कोकिल और कृष्ण की समानता और तुलना की दृष्टि से वर्णन किया है, किन्तु वहाँ भी कवि गुण-वर्णन की अपेक्षा रूप-वर्णन ही अधिक करता रहा है।

नख-शिख-वर्णन की चमत्कारमूलक शैली का भी इस काल में अभाव नहीं। कवि कहीं अंग-विशेष पर रुककर एक के बाद एक अप्रस्तुत-विधान का तारतम्य बाँध देता है। इन चित्रों में चमत्कार, किन्तु स्थिरता होती है। उक्त शैली में नायिका की 'लट' का वर्णन देखिये—

विधि लै के मृनाल के तार तें खीनता,
त्यों मकतूल तें कोमलताई।
घन तें घनता अरु भौंर तें स्यामता,
नेहिन के चित सों चिकनाई॥
मन-मोहकता मन-मोहन तें,
पुनि नागिन तें लहरान हि पाई।
मन मीन फंसावन की अंकुसी,
या लटूरी अरी! लट तेरी बनाई।[2]

नख-शिख-वर्णन रायकृष्णदास ने दोहों में भी किया है। इन दोहों पर हर रूप में बिहारी के समासगुण-प्रधान दोहों की व्यंजनात्मक शैली का प्रभाव है। अनेक दोहों में उन्होंने शृंगार,

---

१. कविता-कलाप—स० आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ० १
२. ब्रजरज—रायकृष्णदास, पृ० ३

रूप और मुद्राओं का वर्णन किया है—

वाके गौर बदन पै, यों तिल फबत अपार।
इन्दीवर फूलो मनों, रूप तड़ाग मंझार॥
सब विधि सुन्दर तासु मुख, नजर न कहुं लगि जाय।
तातें तिल-मिस दैव ने, दियो दिठौनो लाय॥[1]

रूप-वर्णन जब मुद्रा या क्रिया-वर्णन में रूपान्तरित हो जाता है तो उसमें गति उत्पन्न हो जाती है। रूप-वर्णन, कवि की स्थिर दृष्टि के निरीक्षण का परिणाम होता है, और क्षण-क्षण परिवर्तित मुद्राओं, चेष्टाओं व कार्य-व्यापार के साथ कवि की दृष्टि भी गतिशील रहकर गत्यात्मक चित्र अंकित करती है—

नासा मोरि, कराहि कै, अंगनि, भौंहनि ऐंठि।
काटो नहिं काढ़न दियो, कांटे-सी हिय पैठि॥[2]

प्रथम दो चरणों में कवि ने क्रमशः चार मुद्राएँ अंकित की हैं, जिनके परिवर्तन में समय का अन्तराल भी लक्षित नहीं किया जा सकता।

रूप-वर्णन की इस शैली में समय के साथ अन्तर प्रस्तुत हुआ। छायावादी कवि ने हर दिशा में स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म की ओर प्रयाण किया। उनके रूप-वर्णनों में भी स्थूल बाह्य विशेषताओं की अपेक्षा मानसिक प्रभावों को, आन्तरिक जगत् को शब्दान्तरित करने का प्रयत्न अधिक रहा। उनके उपरान्त स्वच्छन्द प्रेम की अभिव्यक्ति करने वाले कवियों ने भी मुद्राओं, नख-शिख और स्थूल बाह्याकार का वर्णन करने की अपेक्षा रेखाएँ अंकित कर उनमें रंग भरे हैं। रंगों से रंजित इन चित्रों में प्रभावात्मकता अधिक है—

मंहदी रंजित मृदुल हथेली पर माणिक मधु का प्याला,
अंगूरी अवगुण्ठन डाले स्वर्ण वर्ण साकी बाला,
पाग बैंजनी, जामा नीला डाट डटे पीने वाले,
इंद्रधनुष से होड़ लगाती आज रंगीली मधुशाला।[3]

उपर्युक्त उद्धरण में अनुप्रास का अनुरणन ही नहीं इंद्रधनुषी रंगों की एक पूरी दुनिया वर्तमान है। हाला, प्याला और साकी के साथ कवि ने मधुशाला के वातावरण को भी शब्दों में बाँधा है—

जलतरंग बजता, जब चुंबन
करता प्याले को प्याला,
वीणा झंकृत होती, चलती
जब रुनझुन साकी बाला,
डांट-डपट मधुविक्रेता की
ध्वनित पखावज करती है,

---

१. बजरंग, पृ० २९
२. वही, पृ० ३१
३. मधुशाला—बच्चन, पृ० ३१

मधुरव से मधु की मादकता
और बढ़ाती मधुशाला।[1]

उक्त प्रसंग में केवल मधुशाला का क्रियाव्यापार ही वर्णित नहीं, उससे उत्पन्न ध्वनियों की प्रेषणा का भी प्रयास किया गया है।

मानव-रूप के साथ कहीं-कहीं कवियों ने क्रियाओं या चेष्टाओं—शास्त्रीय शब्दावली में हाव-भाव का वर्णन भी किया है। किन्तु यहाँ भी कवि की दृष्टि ऊपरी विशेषताओं पर केन्द्रित रही है, कहीं उसने महत्त्व-वर्णन या प्रशस्ति-वर्णन के द्वारा कुछ आत्मगत दृष्टिकोण का संस्पर्श दिया है, परन्तु बहुत दूर तक नहीं। कवि भगवानदीन द्वारा कुछ छन्दों में हरि की मुसकान का वर्णन करने के उपरान्त, मुसकान मात्र का निम्नांकित वर्णन हुआ है—

देख तुझे प्रेयसी अधर पर जग जन होते हैं कुरबान।
शत्रु अधर पर देख तुझी को लड़कर नष्ट हुए बलवान॥
पुत्र अधर पर देख तुझी को माता के पूजें अरमान।
कहूँ कहाँ तक महिमा तेरी जगदाधार मन्द मुसकान॥[2]

इन पंक्तियों में विषय और विषयी दोनों की अन्तर्वृत्ति-निरूपण के स्थान पर 'मुसकान' के महत्त्व का वर्णन अधिक है। यद्यपि कवि ने उक्त कविता की रचना 'मुसकान के प्रति' शीर्षकान्तर्गत की है किन्तु प्रगीत-गुण और उदात्त शैली के अभाव में इसे सम्बोधन गीति (Ode) नहीं माना जा सकता।

कुछ कवियों ने इस प्रकार का सौन्दर्य-वर्णन रीतिकालीन अलंकृत और चमत्कार-प्रधान शैली में किया। इनमें नाथूराम 'शंकर' और अयोध्यासिंह उपाध्याय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'रस कलश' में हरिऔध द्वारा रचित दोहे—इसी शैली के अन्तर्गत आते हैं। उनमें रीतिकालीन शब्द-चमत्कार, अर्थ-गौरव और भाव-व्यंजना सभी कुछ है—

नवोढ़ा— **इत उत दौरि दुरति रहति दूरहि ते बतराति।**
प्रिय तन छाँह बनन चहत तिय लखि छाँह सकाति॥
विधु बदनी के बदन पै है बिलसत श्रम, बिन्दु।
किधौं सुधा-सीकरन-मय है राका-निसि इन्दु॥[3]

विषय-भेद से सम्पूर्ण 'रस कलश' उपर्युक्त शैली में ही रचा गया है। कवि ने नायक-नायिका-भेद और रस का वस्तुगत प्रपंच जिसके अन्तर्गत सभी प्रकार के विषय अन्तर्भूत हैं, इसी प्रकार की रचना-शैली में लिखा है।

इसी शैली के कुछ दोहे श्रीधर पाठक की रचनाओं में भी मिलते हैं—

अनियारे आयत बड़े कजरारे दोउ नैन
अचक आय जिय में गड़े काढ़ें ढीठ कढ़ैन।[4]

---

१. मधुशाला, पृ० ३०
२. नवीन बीन—ला० भगवान दीन, पृ० ४
३. रस-कलश—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पृ० ११४, ३४
४. मनोविनोद—श्रीधर पाठक, पृ० ११

नाथूराम 'शंकर' का इसी शैली में लिखा गया नख-शिख-वर्णन वर्षों काव्य-प्रेमियों को चमत्कार के कारण कंठस्थ रहा—

कज्जल के कूट पर दीपशिखा सोती है कि,
श्यामघन-मण्डल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है कि,
राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है।
शंकर कसौटी पर कञ्चन की लीक है कि,
तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि,
ढाल पर खांडा कामदेव का दुधारा है।

उक्त पंक्तियाँ राजा रविवर्म्मा के द्वारा अंकित 'वसन्तसेना' के रूप-वर्णन के प्रसंग में लिखी गई थीं।

व्यंग के निमित्त द्विवेदीजी और समसामयिक कवियों ने कहीं-कहीं अत्यन्त सामान्य विषयों का वर्णन भी किया है। द्विवेदीजी के इसी ढंग पर 'बलीवर्द' शीर्षक में रचित मुक्तक पर्याप्त लोकप्रिय रहे—

बलीवर्द! तुम पशु होने से अविवेकी कहलाते हो,
मद पर भी निज उन्मदता से विजय बड़ाई पाते हो।
साभिमान धनवान पास भी नहीं विवेक फटकता है,
अहंकार-मद में वह अपने चूर सर्वदा रहता है।[1]

वर्णनात्मक मुक्तकों में प्रकृति-वर्णन भी उतनी ही, कदाचित् अधिक मात्रा में हुआ जितना मानव-रूप का वर्णन। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने विभिन्न ऋतुओं—वसंत, पावस, ग्रीष्म, शरद, शिशिर आदि से लेकर चातक, वीरबहूटी, चकोर आदि प्राणियों पर अनेक कवित्त, रोला और दोहा छन्दों में रचना की। भगवानदीन ने भी 'पूर्णिमा की चाँदनी' और 'मेघ-स्वागत' आदि प्राकृतिक विषयों पर स्फुट रचनाएँ कीं, परन्तु स्वागत की दृष्टि से कविता करने पर भी कवि उसमें आत्माभिव्यक्ति न कर सका। प्रायः जिसके स्वागत के अवसर पर काव्य-रचना की जाती है, कवि उसका महत्त्व-वर्णन और अपने आत्मोद्गारों की मिली-जुली अभिव्यक्ति करता है। परन्तु वस्तुनिष्ठ वर्णन की प्रवृत्ति इस काल की कविता में युग-धर्म के रूप में कुछ इस प्रकार व्याप्त हो गई कि अवसर मिलने पर भी कवि अन्तः का उद्घाटन नहीं कर सके। वह न प्रकृति पर अपनी भावनाओं का आरोप कर पाता है, न उसके साथ यथाप्रसंग समानुभूति व विषमानुभूति करता है। केवल चमत्कारमूलक अप्रस्तुत-विधान के सहारे उसके बाह्य रूप का वर्णन करता है। 'मेघ स्वागत' शीर्षक के अन्तर्गत ला० भगवानदीन का इसी प्रकार का छप्पय देखिये—

---

१. वेदी काव्यमाला—संग्रहकर्ता देवीदत्त शुक्ल, पृ० २७५

वे पीताम्बर धरत तुमहुँ चित चपला धारी।
वे पहिरत बनमाल देवधनु तव छविकारी॥
वे सिर धारत पंख मोर तुम पर बलिहारी।
वे गोपिन सुखदानि तुमहुँ गोकुल सुखकारी॥
वे श्यामा को सुमनस हरत, तुम श्यामा छविवर करत।
हे घनवर तुम श्रीकृष्ण ते कछुक प्रबल ही लख परत॥[1]

प्रकट है कि कवि मेघों के सौन्दर्य पर मुग्ध और आत्मविभोर नहीं होता। उसकी बुद्धि कृष्ण की वेशभूषा और क्रियाओं से समानता स्थापन के प्रयत्न में भटकने लगती है। इसी प्रकार पूर्णिमा की चाँदनी का स्निग्ध, शीतल प्रभाव कवि को शान्ति दान नहीं करता। उसके व्यापक प्रसार में कवि उसकी उज्ज्वलता, मृदुलता से अभिभूत नहीं होता, वह उसे हर स्थान पर डटी प्रतीत होती है। इस प्रसार में क्षीरसागर का फेनोज्ज्वल प्रवाह नहीं किसी उद्दण्ड की मोर्चा-बन्दी का-सा आभास होने लगता है—

खिल रही है आज कैसी भूमितल पर चाँदनी।
खोजती फिरती है किसको आज घर-घर चाँदनी॥
जिस जगह देखो वहीं पर देख पड़ती है डटी।
कोट, घर, अट्टालिका दीवार, दर पर चाँदनी॥[2]

प्रकृति के विशिष्ट उपादानों के साथ प्राकृतिक स्थलों, वहाँ के वातावरण, पशु-पक्षियों आदि के वर्णन भी इन कवियों ने किये हैं। ला० भगवानदीन ने सोलह सौ छन्दों में 'रामगिर्याश्रम' का वर्णन किया है। ऋतुओं के वर्णन सर्वत्र चमत्कार-प्रधान नहीं, कहीं-कहीं सुन्दर बन पड़े हैं। 'पूर्ण' के शब्दों में वर्षा का आगमन देखिये—

सुखद शीतल सुचि सुगन्धित पवन लागी बहन,
सलिल बरसन लगो वसुधा लगी सुखमा लहन।
लहलही लहरान लागीं सुमन बेलीं मुकुल,
हरित कुसुमित लगे झूमन वृक्ष मंजुल विपुल।[3]

उक्त वर्णन में माधुर्य भा है, उल्लास और अनुप्रास के प्रयोग से उत्पन्न नाद-सौन्दर्य भी, किन्तु मौलिकता तथा विशेष कलात्मकता का यहाँ भी अभाव है। यह विशेषता इस युग की मुक्तक-रचना में सामान्य रूप से मिलेगी।

कुछ स्फुट वर्णन श्रीधर पाठक ने 'वनाष्टक' में किये। किन्तु ये वर्णन भी परम्परागत शैली में इतिवृत्तात्मक ढंग की मुक्तक-रचना के अन्तर्गत ही आते हैं। नवीन चेतना के द्योतक प्रकृति-वर्णन श्रीधर पाठक की निबद्ध कविताओं में मिलते हैं। 'वनाष्टक' के सवैये परम्परा-पालन के ही उदाहरण हैं—

---

१. नवीन बीन—ला० भगवानदीन, पृ० २२
२. वही, पृष्ठ ८०
३. सरस्वती—अगस्त १९०३, पृष्ठ ३०६

जेठ की दारुण आतप स,
तप के जगतीतल जावै जला
नभ-मंडल छाया मरुस्थल-सा
दल बाँध के अंधड़ आवै चला।
जलहीन जलाशय, व्याकुल हैं
पशुपक्षी, प्रचंड है भानुकला
किसी कानन कुंज के धाम में,
प्यारे, करें विसराम चलौ तौ भला।[1]

क्रमशः प्रकृति-वर्णन की शैली में तो छायावाद के प्रवर्तन के साथ क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रस्तुत हुआ ही, परन्तु इन वर्णनों के लिए कवियों ने रूप-विधाएँ भी बदल लीं। मुक्तक के स्थान पर निबद्ध कविताओं में रचना का प्रचलन हुआ, परन्तु अपवाद-रूप में नई कविता में इस परिवर्तित धारणा और दृष्टिकोण के व्यंजक कुछ प्रकृति-वर्णन मुक्तकों में मिल जाते हैं—

निर्जन की जिज्ञासा है निर्झर की तुतली बोली में
विटपों के हैं, प्रश्नचिह्न विहगों की वन्य ठिठोली में
इंगित है, 'कुछ और पूछ लूं' इन्द्रचाप की रोली में
संशय के दो कण लाया हूँ आज ज्ञान की झोली में।[2]

मानव-जीवन के छाया-संस्पर्श, गुण, क्रियाओं और चेतना का आरोप इन नए वर्णनों की विशेषता है। जहाँ चित्रण प्रधान है वहाँ भी ये कवि रूप की अपेक्षा सूक्ष्मतर उपकरणों—रंग और रेखा पर अधिक बल देने लगे—

शारदीया—

सोना ही सोना छाया आकाश में,
पश्चिम में सोने का सूरज डूबता,
पका रंग कंचन जैसे ताया हुआ,
भरे ज्वार के भुट्टे पक कर झुक गये।
'गला-गला' कर हाँक रही गुफना लिये,
दाने चुगती हुई गलरियों को खड़ी,
सोने से भी निखरा जिसका रंग है
भरी जवानी जिसकी पककर झुक गई।[3]

प्रकृति और मानव के अतिरिक्त भी विविध विषयों पर इस युग में मुक्तक-रचना की गयी। 'युद्ध' जैसे गम्भीर विषय से लेकर 'मेंहदी' जैसे चलते विषय तक इन मुक्तकों का विस्तार हुआ। इन विषयों में वैविध्य था—'कृष्ण का गाय से प्रेम', 'काम-कौतुक,' 'जीवन-संग्राम,'

---

१. वनाष्टक—श्रीधर पाठक, पृ० ३
२. तार सप्तक—प्रभाकर माचवे, पृ० ५४
३. वही—रामविलास शर्मा, पृ० ६५

'मेंहदी', 'आँख' और 'आँसू' आदि विषयों पर कवियोंने मुक्तक लिखे। ला०भगवानदीन के 'आँख' और 'मेंहदी' पर लिखे गए मुक्तक विशेष लोकप्रिय हुए। इन मुक्तकों की शैली पर उर्दू का प्रभाव होने से संस्कृत पदावली के प्रयोग पर भी इनमें जीवन्तता और चुहल उत्पन्न हो गई है—

कहो तो कह दें आपकी आंखों को क्या समझें,
सिता, सिंदूर मृगमद-युक्त अद्भुत कुछ दवा समझे
अगर इसको न मानो तो बता दें दूसरी उपमा।
सहित हाला हलाहल मिश्रिता सुन्दर सुधा समझे ॥[1]

इसी प्रकार मेंहदी पर कवि की उक्तियाँ हैं—

तुमने पैरों में लगाई मेंहदी, मेरी आंखों में समाई मेंहदी।
खूनी होते हैं जग के सब्ज रंग, दे रही है यह दोहाई मेंहदी।
कुल से छुटी, छूटकर पीसी गई, तब तेरे पद छूने पाई मेंहदी ॥[2]

परन्तु कहीं-कहीं विषय—सामान्य, अभिव्यंजना—चमत्कार प्रधान व छन्द—परम्परागत होने पर भी सूझ का चमत्कार अत्यन्त प्रभावक्षम है। 'आँसू' पर 'हरिऔधजी' की एक मुक्तक रचना देखिये—

आँख का आँसू ढलकता देखकर,
जी तड़प करके हमारा रह गया।
क्या गया मोती किसी का है बिखर
या हुआ पैदा रतन कोई नया ॥
ओस की बूंदें कमल से हैं कढ़ी,
या उगलती बूंद हैं दो मछलियां ॥
या अनूठी गोलियां चाँदी मढ़ी,
खेलती हैं खंजनों की लड़कियां ॥
या जिगर पर जो फफोला था पड़ा,
फूट करके वह अचानक बह गया।
हाय था अरमान जो इतना बड़ा,
आज वह कुछ बूंद बन कर रह गया ॥[3]

अन्तिम दो पंक्तियों में अनुभूति की मार्मिकता विशेष प्रभावशालिनी है। ऐसे विषयों पर स्फुट मुक्तक लिखने की परिपाटी छायावादी कवियों में उनकी प्रतीकात्मक और परोक्ष-व्यंजना के कारण विरल हो गई। किन्तु जब-जब इस प्रकार के विषयों पर परवर्ती साहित्य में

---

१. नवीन-बीन—ला० भगवानदीन, पृ० ४४
२. वही, पृ० ३१
३. कवि भारती—सम्पादक—सुमित्रानन्दन पन्त, बालकृष्ण राव, डा० नगेन्द्र } पृ० ५५

मुक्तक-रचना की गई तो उनमें वर्ण्य के बाह्य स्वरूप की व्याख्या की अपेक्षा भाव-व्यंजना पर बल दिया गया। बुद्धि, केवल अलंकार और मौलिक अप्रस्तुत-योजना के दाँव-पेंच जुटाने की अपेक्षा अप्रस्तुत-विधान की प्रभावात्मकता और भाव-व्यंजना का अधिक प्रयास करने लगी, फलतः अभिव्यक्ति के उपादान और प्रसाधन बदल गए। आज के कवि के शब्दों में 'चुम्बन' का वर्णन देखिये—

रख दिये तुमने नजर में बादलों को साध कर
आज माथे पर सरल संगीन से निर्मित अधर
आरती के दीपकों की झिलमिलाती छाँह में
बाँसुरी रखी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर।[1]

वर्णन का सम्बन्ध अधिकतर मूर्त उपादानों, घटनाओं व प्राणियों आदि से जोड़ दिया जाता है, क्योंकि वर्णन प्रायः उसी का किया जाता है जो नेत्रों का विषय हो, अनुभूति व विचार का वर्णन नहीं, प्रतिपादन, अभिव्यक्ति तथा विश्लेषण ही अधिक सहज सम्भव है। जब ये अमूर्त तत्त्व वर्णन का विषय बनाये जाते हैं, तो कवि इनकी व्याख्या करता है। इस प्रकार के अमूर्त विषयों पर भी व्याख्यात्मक मुक्तक-रचना द्विवेदी-युग से ही आरम्भ हो गई थी। परवर्ती साहित्य में इस विधा का और परिष्कार एवं निखार हुआ। कवि 'सनेही' के शब्दों में 'क्रान्ति में शान्ति' का वर्णन देखिये—

घूमता कुलाल-चक्र कितनी ही तीव्रता से,
एक रेखा सुस्थिर, छिपी है चक फेरे में।
छिपी रहती है मंद मुस्कान छवि छाया,
भाग्य-भामिनी के तीखे तेवर-तरेरे में।
आशा-द्वार खुलते भी लगती नहीं है देर,
डालती निराशा जब चित्त घोर घेरे में।
क्रान्ति में 'सनेही' एक शान्ति का निवास छिपा,
प्रबल प्रकाश छिपा अधिक अँधेरे में॥[2]

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने 'भक्ति और वेदान्त विषयक' छन्दों में 'जीवन की निस्सारता', 'बैस सब गई', 'तपस्वी की महिमा', 'संसार की असारता' आदि विषयों का वर्णन किया है। रूपनारायण पाण्डेय ने 'परिवर्तन' के सर्वव्यापी नियम का विवेचन इसी प्रकार छप्पयों में किया। इनमें किसी प्रकार का सिद्धान्त-प्रतिपादन या उपदेश नहीं, कतिपय अमूर्त सत्यों का वर्णन है। कवि शंकर का 'सरस्वती की महावीरता' प्रसंग भी इसी प्रकार का है।

कथाश्रित मुक्तकों की रचना आधुनिक युग में बहुत कम हुई। जैसा पहले भी कहा जा चुका है इस प्रकार के मुक्तक आराध्य के लीलावतार रूप को लक्ष्य करके ही प्रायः लिखे जाते थे। इस युग में इस प्रकार की रचनाओं का एकान्त अभाव नहीं तो न्यूनता अवश्य हो गई।

---

१. कवि भारती—सम्पादक—सुमित्रानन्दन पन्त आदि, पृ० ७३२
२. वही, पृ० १५१

विष्णु के दो प्रसिद्ध अवतारों राम और कृष्ण का चरित-वर्णन देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने 'विपद्विदारण स्तोत्र' में किया है। कहीं-कहीं इन कवित्तों का स्वर कथात्मक की अपेक्षा निवेदनात्मक हो गया है। ला० भगवानदीन ने बीरबल की प्रशस्ति में कुछ छप्पय लिखे हैं। नायक का महत्त्व वर्णन करने के कारण इनमें कथा का संस्पर्श आ गया है। परन्तु कला की दृष्टि से इनका स्तर अत्यन्त सामान्य कहा जायगा—

निर्धन विप्रकुमार बुद्धि में आगर थे ये।
चतुराई के कूप हास्य के सागर थे ये॥
कठिन समस्या पलकमात्र में हल करते थे।
प्रश्नोत्तर से चारवाक को शल करते थे॥
भर देते थे घटगर्भ में कुम्हड़े का अति दीर्घ फल।
गिन लेते तारे व्योम के लेते माप धरा सुतल।[1]

वियोगी हरि ने 'वीर सतसई' में ऐतिहासिक पात्रों पर कुछ स्फुट दोहों की रचना की है। इन दोहों में किसी घटना या तथ्य का समग्र वर्णन तो सम्भव नहीं हो सका, परन्तु इनमें प्रसंग-गर्भत्व के रूप में कथा का प्रयोग अवश्य मिलता है। ऐतिहासिक वीर पुरुष और नारियों के प्रति कवि ने अपने हृदय का प्रशस्ति-भाव व्यक्त किया है। इनमें घटनाओं का वर्णन नहीं, उल्लेख भर है—

ठौर-ठौर हुंकराय अरि, बनि बुर्गा राठौर।
राजी ठकुराई-हलक, मारवाड़-सिरमौर॥

तथा

निज प्रिय लाल कटाय जो प्रभु शिशु लियो बचाय।
क्यों न होय मेवाड़ में पूजित पन्ना धाय॥[2]

आत्मपरक-मुक्तक

द्विवेदी-युग के काव्य की विशेषताओं में सर्वसम्मति से वस्तु-तत्त्व और इतिवृत्तात्मक शैली की प्रमुखता की स्वीकृति कुछ इस प्रकार कर ली गई है कि इस प्रसंग में आत्मपरक मुक्तक-रचना का प्रश्न उठाना ही विवादास्पद प्रतीत होता है, अतः विवेच्य युग के आरम्भ में इस प्रकार के वर्ग-विभाजन से अपना अभिप्राय स्पष्ट करके इस प्रसंग को मूल विषय की ओर बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे। कविता का विषय और विषयी-प्रधान वर्गों में विभाजन, पाश्चात्य चिन्ताधारा के अनुकरण पर किया जाता है और पश्चिम के विद्वानों ने स्वयं इस बात की ओर इंगित किया है कि काव्य में इस प्रकार का भेद-स्थापन अन्तिम या आत्यन्तिक नहीं हो सकता। इन दोनों प्रकारों की सीमा-रेखाएँ परस्पर एक-दूसरे का स्पर्श करती हैं। अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण विशेषताओं के आधार पर इनके प्रकार का निश्चय किया जाता है, कदाचित् विवेचन की सुविधा

---

१. नवीन बीन—ला० भगवानदीन, पृ० ५७

के लिए। अतः एक बात स्पष्ट है—इन वर्गों का परस्पर विरोध नहीं है, तथा एक प्रकार की विशेषताओं की एकान्त स्थिति और दूसरे प्रकार की विशेषताओं का नितान्त अभाव भी किसी रचना-विशेष में सम्भव नहीं है। कतिपय रचनाओं में दोनों तत्त्व इस प्रकार घुले-मिले रहते हैं कि एक की सापेक्ष महत्ता का निर्णय करना दुष्कर हो जाता है।

इसी प्रकार आत्मपरक दृष्टिकोण भी कविता में एकाधिक रूपों में व्यक्त हो सकता है। व्यवहार में विषयी-प्रधान कविता और व्यक्तिगत कविता में अभेद स्थापित किया जाता है। अर्थात् वह कविता जिसमें इदम् के वर्णन की अपेक्षा अहम् का विश्लेषण प्रमुख है। जिसमें व्यक्तिगत राग-द्वेष, सुख-दुःख, आदि की अभिव्यक्ति प्रधान हो। दूसरे शब्दों में अन्तर्मुखी दृष्टिकोण, इस कविता का पर्याय है। यदि इस शब्द का अर्थ-विस्तार किया जाय, तथा इस पर मनन किया जाय, तो केवल अपनी बात नहीं, जग की बात भी इस प्रकार की कविता का विषय हो सकती है। वस्तुतः जब कवि की दृष्टि विषय पर, वस्तु-तत्त्व पर केंद्रित रहती है, और वह उसकी बाह्य विशेषताओं का वर्णन करने में प्रवृत्त होता है, तो कविता में विषय की प्रधानता हो जाती है; और जब वह बाह्य विषय का आधार लेकर भी उसका वर्णन नहीं करता बल्कि उसके प्रति अपनी भावनाओं या विचारों को व्यक्त करता है, तब उसमें व्यक्ति प्रधान होता है। अतः विषयी-प्रधान कविता में व्यक्तिगत विषय नहीं व्यक्तिगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। किसी सामाजिक विषय व घटना के प्रति अभिव्यक्त व्यक्ति के मन की भावात्मक व विचारात्मक प्रतिक्रिया भी इस प्रकार आत्मपरक कविता के अन्तर्गत आएगी। उदाहरण देकर बात को स्पष्ट कर दें—अपने इष्टदेव की लीला का वर्णन भक्त कवियों ने आत्मविभोर होकर किया तो हमें उसके लिए एक नए नाम की उद्भावना करनी पड़ी—कथाश्रित प्रगीत। यही कविता यदि बिना किसी रागात्मक सम्बन्ध के—किसी सामान्य मानव या बालक की लीलाओं का वर्णन करने के लिए लिखी जाय तो इसका स्वरूप वस्तुपरक हो जायगा। क्यों? पहले में कवि की अपनी अनुभूति होगी दूसरे में निरीक्षण-मात्र। और स्पष्ट शब्दों में—अपनी सन्तान के प्रति तथा किसी अन्य बालक की क्रीड़ाओं के प्रति मन की प्रतिक्रिया में जो अन्तर है वही आत्मपरक और वस्तुपरक दृष्टिकोण में। परन्तु आत्मपरक कविता का सम्बन्ध व्यक्तिगत विषयों पर व्यक्तिगत अनुभूति की व्यंजक कविताओं से जोड़ दिया गया अतः द्विवेदी-युग के उपरान्त छायावादी तथा स्वच्छन्द प्रेम के काव्य को ही अन्तर्निरूपिणी कविता मानकर—ऐसे समस्त काव्य का इस वर्ग से बहिष्कार कर दिया गया जिसमें वस्तुगत मूल्यों की प्रतिष्ठा हो भले ही वह आत्मपरक दृष्टिकोण से की गई हो अतः एक ही बार में समस्त द्विवेदीयुगीन काव्य इस परिधि से बाहर जा पड़ा।

द्विवेदी-युग में जो कुछ आत्मपरक साहित्य लिखा गया वह निश्चय ही परवर्ती साहित्य से सर्वथा भिन्न है। उसमें व्यक्ति के आत्म को, उसकी निजी अनुभूतियों को, प्रकाशन का अवकाश नहीं मिला। सामाजिक और नैतिक समस्याएँ तथा रीतिकालीन परम्पराओं के प्रति विद्रोह, बाह्य और सामान्य धरातल पर इतना प्रबुद्ध हो चुका था कि कवि को अन्तर्मुखी चिन्तन तथा आत्मकेन्द्रीकरण का अवसर ही नहीं रहा। उसके सामने प्रस्तुत समस्याएँ—सामाजिक, सार्वजनिक और जातिगत थीं। व्यक्ति की समस्याएँ इनकी तुलना में उपेक्षणीय और नगण्य, तथा उनकी

अभिव्यक्ति सामाजिक अपराध था। नैतिक प्रतिबन्धों की शृंखलाओं में बंधा कवि आत्मा की पुकार को झुठलाता रहा, अथवा आत्माभिव्यक्ति को कम से कम काव्य का विषय न बना सका। इसका अभिप्राय यह नहीं कि किसी रूप में भी आत्माभिव्यक्ति इस युग के काव्य में हुई ही नहीं। हुई अवश्य, परन्तु उसकी दिशा भिन्न थी और उसके स्वरूप में छायावादी, रोमानी, और स्वच्छन्द प्रेम की अभिव्यक्ति से बहुत अन्तर था। द्विवेदी-युग के कवि आत्माभिव्यक्ति करते रहे परन्तु सामाजिक विषयों, समस्याओं तथा मान्यताओं के प्रति। इन कवियों ने केवल सामाजिक वर्णन नहीं किये, इन विषयों के प्रति अपने उद्‌गार, समाज की दुर्दशा के प्रति अपनी करुणा, और सामाजिक समस्याओं के विषय में अपना चिन्तन व्यक्त किया। इस प्रकार सामाजिक विषयों को लेकर कविता दो रूपों में हुई—(१) इन विषयों का वस्तुनिष्ठ वर्णन तथा (२) इनसे सम्बन्धित कवि की अपनी भावात्मक या बौद्धिक प्रतिक्रिया। पहले प्रकार के मुक्तकों का परिचय पीछे दिया जा चुका है अतः प्रस्तुत प्रसंग में दूसरे, अर्थात् आत्मपरक मुक्तकों का विवेचन किया जायगा।

किसी बाह्य विषय के प्रति भी कवि की प्रतिक्रिया दो रूपों में सम्भव हो सकती है। जब विषय का स्वरूप घटनात्मक होता है तब वह हमारी अनुभूति अर्थात् राग-तत्त्व का स्पर्श करती है। ऐसी स्थिति में हमारी प्रतिक्रिया अनुभूतिपरक या भावात्मक होती है। जब विषय का स्वरूप समस्यात्मक होता है तो वह हमारी बुद्धि अर्थात् चिन्तन-शक्ति को उत्तेजना प्रदान करता है और ऐसी स्थिति में इस प्रतिक्रिया का रूप मननात्मक और बुद्धिपरक हो जाता है। द्विवेदी-युग में उक्त दोनों प्रकार की मुक्तक-रचना प्रभूत मात्रा में हुई। कवियों ने समस्याओं के सामाजिक दुःख-द्वन्द्व के प्रति आत्मोद्‌गार भी व्यक्त किये और इनका बौद्धिक निदान भी नीति और कर्तव्य के उपदेश द्वारा प्रस्तुत किया। इस प्रकार इन मुक्तकों के दो रूप हो गए—(१) भावप्रधान और (२) विचारप्रधान।

भावप्रधान मुक्तक

वर्णनात्मक मुक्तकों की भाँति भावप्रधान मुक्तकों की रचना भी बहुविध हुई। कहीं इनमें भक्तों की सी विनय है, आराध्य के प्रति आत्मनिवेदन है और कहीं देशोद्धार की याचना। कहीं देश के गत गौरव की स्मृति कर कवि का शोकोद्‌गार व्यक्त हुआ है और कहीं भारत के ऐतिहासिक वीरों का स्तवन-वन्दन कर कवि ने उनके प्रति अपने भावोद्‌गार व्यक्त किये हैं। कहीं देवी-देवताओं की वन्दना, उनका महत्त्ववर्णन और उनके स्वरूप और विरद की भावात्मक व्याख्या की गई है।

भक्ति-भाव से रचित मुक्तकों में आराधना का स्वर है। ऐसी रचनाएँ गेय पदों के रूप में हुई हैं। ये पद भक्त-कवियों के विनय-पदों की परम्परा के अन्तर्गत आएंगे। कहीं संसार की असारता का वर्णन है कहीं ईश्वर की महिमा का, कहीं अपनी असमर्थता और ग्लानि तथा उद्धार की कामना व्यक्त हुई है। कभी-कभी कवि इनमें संसार की असारता का उपदेश और चेतावनी भी देने लगता है। नाथूराम 'शंकर' ने इस प्रकार के अनेक पदों की रचना की है। कवि 'पूर्ण' ने कुछ विनय-प्रधान छप्पय लिखे हैं। कवि 'शंकर' का इस शैली का एक पद लीजिये—

हे प्रभु मेरी ओर निहार।
एक अविद्या का अटका है, पचरंगी परिवार,
मेल मिलाप एषणा तीनों, करता हैं कुविचार।
काट रहे कामादि कुचाली, धार कुकर्म-कुठार,
जीवन वृक्ष खसाया, सूखा पौरुष-पाल-पसार।
.....
जो तू करता है पतितों का, अपनाकर उद्धार,
तो शंकर मुझ पापी को भी, भव-सागर से तार।[1]

इन पदों में स्पष्ट रूप से उतनी अन्तःस्फूर्त अभिव्यक्ति नहीं, जितनी भक्त-कवियों की पद-रचना में। वे लोग ईश्वर से विनय इसलिए करते थे कि वे स्वयं संसार की विषय-वासनाओं से संत्रस्त और उद्धार के अभिलाषी थे। आधुनिक काल के कवि की ग्लानि और दैन्य व्यक्तिगत नहीं, वह समस्त समाज के, देश के दुःख से दुःखी हैं। वह व्यक्ति नहीं, अपने को टाइप समझता है, और समष्टि की भावनाओं का समभागी होने के नाते, प्रतिनिधि के रूप में उनका निवेदन करता है। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने भी ईश्वर-स्तुति में विनय-पदों की रचना की है।

सर्वत्र ये मुक्तक गेय रूप में नहीं लिखे गए तथा कहीं-कहीं कवियों ने केवल आराध्य के स्वरूप और विरद की व्याख्या तक अपने को सीमित रखा है—

हे आनन्द महासुख दाता, तू त्रिभुवन का त्राता है,
मुक्तक, माता, पिता हमारा, मित्र, सहायक, भ्राता है,
जो सब छोड़ एक तेरा ही, नाम निरन्तर लेता है,
तू उस प्रेमाधार पुत्र को, मंत्र, बोध, बल देता है।[2]

कहीं-कहीं यह स्वर बदल गया है। दैन्य की अपेक्षा विनय, और याचना की अपेक्षा कवि की कामना में आत्मविश्वास का बल प्रकट हुआ है। वह अधिकारपूर्ण स्वरों सें अपनी मनोकामनाएँ व्यक्त करता है, और परिवर्तन एवं उद्धार की अभिलाषा करता है। इस प्रकार के मुक्तकों में विश्वास का उल्लास और स्फूर्ति है—

मत-जाल जलें, छलिया न छलें, कुल फूल फलें, तज मत्सर को,
अघ दम्भ दबें, न प्रपंच फबें, गुरु मान नवें, न निरक्षर को,
सुमरें जप से, निरखें तप से, सुर-पादप से, तुझ अक्षर को,
बिन फेर पिता, वरदे सविता, करदे कविता, कवि शंकर को।[3]

भक्त कवियों के ढंग पर विनयप्रधान पद-रचना की शैली परवर्ती साहित्य में विशेष लोकप्रिय तो नहीं रही, परन्तु प्रसाद आदि छायावादी कवियों ने अपनी आरम्भिक रचनाओं में

---

१. शंकर सर्वस्व—स० हरिशंकर शर्मा, पृष्ठ १०
२. वही, पृष्ठ ३६
३. वही, पृष्ठ ३७

इस विधा और ब्रजभाषा, दोनों का अवलम्बन लिया है। इस शैली में रचित प्रसाद के पद अपनी मार्मिकता और अनुभूति की प्रगाढ़ता में सूर, तुलसी की पद-रचना के समकक्षी हैं—

आज तो नीके नेह निहारो।
पावस के घन तिमिर भार में बीती बात बिसारो।
चमकि गयो जो चपला सम यह प्रियतम बिरह तिहारो।
ताकि बहाओ रस बरसा में, हे घन आनन्द वारो॥
चातक लौं नित रटत रहत हम, हे सुन्दर पी प्यारो।
हरित करो यह मरुसम मो मन, देहु 'प्रसाद' पियारो।[1]

हरिऔध ने 'मर्मस्पर्श' में विनयप्रधान दोहों की रचना की है। प्रसाद ने कुछ पद 'भ्रमर गीत' प्रसंग से प्रभावित होकर भी लिखे हैं। इन पदों में वही निर्गुण-सगुण का झगड़ा, वाक्‌विदग्धता और उपालम्भ की वक्रता है। इस प्रकार के स्थलों पर कवि प्रतीयमान रूप से पात्र की तथा वास्तव में उससे तदाकृत अपनी अनुभूति की व्यंजना करता है—

ऐसे ब्रह्म लेइ का करि हैं?"
जो नहीं करत, सुनत नहिं जो कुछ, जो जन पीर न हरिहैं॥
होय जो ऐसो ध्यान तुम्हारो ताहि दिखाओ मुनि को।
हमरी मति तो, इन झगड़न को समुझि सकत नहिं तनिको॥
परम स्वारथी तिनको अपनो आनंद रूप दिखाओ।
उनको दुख, अपनो आश्वासन, मनते सुनो सुनाओ॥
करत, सुनत, फल देत, लत सब तुमहीं, यही प्रतीत।
बढ़ै हमारे हृदय सदा ही, देहु चरण में प्रीत।[2]

प्रश्न हो सकता है कि उक्त पंक्तियों में दो दर्शनों का झगड़ा है और कवि ने सगुण के पक्ष में मतदान करते हुए उस पक्ष की सैद्धान्तिक हिमायत ली है अतः इसे विचार-प्रधान रचना क्यों न मान लिया जाय। उत्तर होगा कि उक्त प्रसंग में प्रयुक्त सब तर्क काव्य के, अनुभूति के और व्यवहारसिद्ध तर्क हैं, दर्शन और बुद्धि-प्रेरित नहीं। गोपी-विरह सर्वत्र दर्शन-सम्बन्धी विचार-विमर्श के रूप में व्यक्त नहीं हुआ, उसमें विरहिणी के हृदय की पीर और प्रकृति के प्रति उपालम्भ और विरह-निवेदन की भावना पर्याप्त और स्पष्ट है—

आज रितुराज! तुम सुमन समाज साजि,
रच्यो राग-रंग महामोद बितरो हौ जू।
त्यों ही रस-निरत मधुव्रत के पालिबे को,
फूलनि अपार मधु-धारन ठरो हौ जू॥
किसलै-बसाय कल-कंठ हूँ को प्याय प्याय;
दूनों के गुमान, गान-गरक करो हौ जू।

---

१. चित्राधार—जयशंकरप्रसाद, पृष्ठ १८८
२. वही, पृष्ठ १८६

काहे पै वियोगिन विचारिन के जारिवें कों,
किंसुक-अंगार डार डारनि झरी हो जू।[1]

एक क्षीण सी धारा द्विवेदी-युग में उन विरह-व्यंजक सवैयों की भी मिलती है जिनमें आराध्य कृष्ण के प्रति विरहाकुल गोपियों की मर्म-वेदना व्यक्त हुई है। कृष्ण के प्रेम में आसक्त गोपियों के इस अन्तःस्फूर्त विरहोद्गार का स्वर बहुत कुछ रीतिमुक्त कवियों का सा है। इनका स्वरूप प्रगीतात्मक है :

सखियान की सीख लगे बिख-सी बँसुरी धुनि कान पगे सो पगे,
मति बौरी भई है अचेत दसा तन मैन के ज्वाल जगे सो जगे।
रंग त्यागि सबै दृग 'पूरन' ये घनश्याम के रंग रंगे सो रंगे;
अँखियाँ पल एक न रैन लगैं ब्रजचन्द सौं नैन लगे सो लगे।[2]

इस प्रकार के मुक्तक इस युग में बहुत कम संख्या में लिखे गए। इनमें पूर्ववर्ती परम्परा का पालन नहीं आभास मात्र खोजा जा सकता है। कवि प्रसाद ने इस शैली में कुछ अत्यन्त सुन्दर विरह-व्यंजक कवित्त-सवैयों की रचना की है। कहीं-कहीं हार्दिकता का, चमत्कृत अप्रस्तुत-योजना से अद्भुत समागम हुआ है :

प्रेम की प्रतीति उर उपजी सुखाई सुख,
जानियो न भूलि याहि छलना पतंग की॥
खेंचि मनमोहन ते काट-पेंच कौन करै,
चली अब ढीली बाढ़ प्रेम के पतंग की॥
मूंदें हम खोलें किन छाइ छबि एक तैसी,
प्यासी भरी आँखें रूप सुधा के तरंग की॥
उनतैं रह्यो न भेद बिछुरे मिले में,
भई, बिछुरनि मीन की औ मिलनि पतंग की।[3]

अन्तिम दो पंक्तियों में साधर्म्य के आधार पर जिस उपमा का प्रयोग किया गया है उसमें अर्थ-गौरव और व्यंजना का चमत्कार है। सर्वत्र उन्होंने इसी प्रकार भाव-व्यंजना नहीं की। कहीं-कहीं वे अनुभूति की व्यंजना के लिए, अनुभाव-वर्णन का आश्रय ले लेते हैं। ऐसे में वाक्यार्थ का सम्बन्ध बाह्य चेष्टाओं से और व्यंग्यार्थ का अनुभूति से हो जाता है :

पुलकि उठे हैं रोम-रोम खड़े स्वागत को,
जागत हैं नैन बरुनी पै छबि छायो तो॥
मूरति तिहारी उर अन्तर खड़ी है तुम्हें,
देखबे के हेतु ताहि मुख बरसाओ तो॥

---

१. ब्रजरज—रायकृष्णदास, पृष्ठ १८
२. पूर्ण संग्रह—रचयिता देवीप्रसाद पूर्ण, 'प्रेम-पथ', पृष्ठ २९०
३. चित्राधार—जयशंकरप्रसाद, पृ० १८२

भरिक उछाह सों उठे हैं भुज भेटिबे को,
मेटिबे को ताप क्यों 'प्रसाद' तरसाओ तो।।
हिय हरखाओ प्रेम रस बरसाओ आओ,
बेगि प्रानप्यारे नेक कण्ठ सों लगाओ तो ।।[1]

व्यक्तिगत अनुभूतियों के व्यंजक भी कुछ मुक्तक इस युग में मिल जाते हैं। ऐसे मुक्तकों में अनुभूति नितान्त आत्मीय है, किन्तु उसे रीतिकालीन शब्द-चमत्कारमय शैली में व्यक्त किया गया। इस शैली में कवि 'सनेही' का एक कवित्त देखिये :

आँखों आँखों में न मुसकाते कभी आते जाते,
घुटते ही लोचनों में जल भरते नहीं।
बनना न होता यदि उनको हृदय हार,
हँसते ही हँसते हृदय हरते नहीं ।
सच्ची जो लगन नहीं मिलन असंभव तो,
आशावान प्रेमी हैं निराश मरते नहीं।
अङ्गीकार करना न उनको 'सनेही' होता,
नहीं कर देते "नहीं-नहीं" करते नहीं।[2]

व्यक्तिगत राग-विराग का वर्णन करने के स्थान पर गोपियों के वियोग का वर्णन इस युग के आरम्भ में कवि अधिक करते रहे। इस प्रकार के मुक्तक यद्यपि संख्या में बहुत नहीं लिखे गये, परन्तु मार्मिकता और भावव्यंजना की दृष्टि से ये पद उत्कृष्ट हैं। इनमें भक्तों का दैन्य, वियोग-पीड़ा, उपालम्भ सभी कुछ है, और वैसा ही हृदयस्पर्शी जिससे कई शताब्दी पूर्व कृष्ण-भक्तों ने साहित्य का शृंगार किया था। रायकृष्णदास ने 'ब्रजरज' में इस प्रकार के अनेक मुक्तकों की रचना की है।

'छायावाद' के कवियों ने भावप्रवण और विषयीप्रधान काव्य की रचना अनुपात की दृष्टि से सर्वाधिक की। इस काव्य में जितना आत्मद्रव, अन्तःस्फूर्त और संस्कृत भाव-राशि उपलब्ध है, अन्यत्र कदाचित् ही मिले किन्तु इनका माध्यम प्रगीत और उसके विभिन्न प्रकार एवं निबद्ध कविताएँ रहीं। मुक्तक-रचना इन कवियों ने अधिक नहीं की। उल्लेख के लिए अपवाद रूप में कुछ अनिबद्ध मुक्तक आत्मानुभूति की व्यंजना के लिए लिखे अवश्य गये, परन्तु संख्या की दृष्टि से ऐसे मुक्तक कम हैं। निबद्ध कविताओं के बीच कहीं छिटके मिल जाते हैं। शैली की उदात्तता, उच्छ्वसित अनुभूति और संगीतमय अभिव्यक्ति इन मुक्तकों में प्रगीत-रचना की ही भाँति मिलती है—

नयन, मुँदेंगे जब, क्या देंगे ?
चिर-प्रिय-दर्शन ?

---

१. चित्राधार, पृ० १७७
२. कवि भारती—सम्पादक सुमित्रानन्दन पन्त आदि, पृ० १५२

शत-सहस्र-जीवन-पुलकित, प्लुत
प्यालाकर्षण ?
अमरण-रणमय मृदु-पद-रज ?
विद्युत-घन चुम्बन ?
निर्विरोध प्रतिहत भी
अप्रतिहत आलिंगन ?[1]

निराला ने इस प्रकार के कुछ अन्य मुक्तकों की भी रचना की है। बाद में बच्चन ने 'हलाहल', 'मधुशाला' आदि में चतुष्पदियाँ लिखकर व्यक्तिगत भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए मुक्तकों का आश्रय लिया। उनके उपरान्त तो उर्दू की 'रुबाइयों' के ढंग पर मुक्तक-रचना की परिपाटी नवीन खेवे के युवा कवियों में विशेष लोकप्रिय हो चली। कवि ने इनमें व्यक्तिगत भावनाओं की अभिव्यक्ति की है :

न मुझको मधुता ही पर्याप्त,
न मुझको कटुता ही पर्याप्त,
न ऐसे रस से ही अनुराग,
न हों दोनों ही जिसमें व्याप्त।
नहीं की अन्तरतम की खोज,
मगर इतना मुझको मालूम,
मुझे है जिस रस की दरकार,
नहीं बाहर के जग में प्राप्त।[2]

सर्वत्र इस युग के कवि की भावाभिव्यक्ति में दैन्य नहीं। वह कहीं-कहीं अपूर्व आत्म विश्वास से अपनी भावी कार्य-योजना और संकल्प का वर्णन करता है। ऐसे मुक्तकों में कवि ने आत्माभिव्यक्ति की है, किन्तु सामाजिक कर्त्तव्य और सार्वजनिक उद्देश्य के लिए—

हे जन्मभूमि जननी ! मैं तुझको आदरूंगा।
निज बाहुबल से तेरे संकट सभी हरूंगा॥
निज बुद्धि वाक्य बल से साहित्य घर भरूंगा।
सम्पत्ति अपनी सारी चरणों पै लै धरूंगा॥
तन मन वचन से धन से सेवा तेरी करूंगा।
तेरे लिए जिऊँगा तेरे लिए मरूंगा॥[3]

ऐसे मुक्तकों का सम्बन्ध वस्तुगत सत्यों से होने के कारण इनमें भावनाओं का विस्तार और सरलता तो मिलती है घनता और मार्मिकता उतनी नहीं। कर्त्तव्य के प्रति व्यक्तिगत अनुभूति के व्यंजक इन मुक्तकों में भाव की अपेक्षा उद्देश्य प्रधान रहता है। मुक्तकों की वह शैली

---

१. परिमल—निराला, पृ० ६३
२. हलाहल—बच्चन, पृ० ११५
३. नवीन बीन—ला० भगवानदीन, पृ० १२६

जिसमें राजभक्ति का स्वर है, और भारतेन्दु-युग में जिसका विशेष प्राबल्य रहा, अवशेष-रूप में इस काल में भी प्राप्त होती है। परन्तु क्रमशः देश की वास्तविक स्थिति का अभिज्ञान कर जनता में विद्रोह के स्फुलिंग उभर रहे थे, अतः राजभक्ति और शासकों के प्रशस्तिगान की भावना सामान्य रूप से कविता में व्याप्त नहीं मिलती। ऐसे प्रयास विद्यमान होने पर भी विरल हो गये थे। इनमें केवल आलम्बन का जयजयकार और स्तवन ही मिलता है, कवि की भाव-मणियाँ नहीं। इन मुक्तकों का स्वर अतः सहज और अन्तःस्फूर्त नहीं है—

जय जय पंचम जार्ज आर्ज अवनीस हमारे
जयति सेत-कुल-केतु, जयति इंगलैंड उज्यारे
जयति मनुज-कुल दयाद्रवित, दुखियन-दुख-भंजन
जय भारत-निज-प्रजा-प्रनय-भाजन, जन रंजन
जय ब्रिटिश-पुरातन वीरता-विदित हनोवर-बंसधर
जय विक्टोर्या-प्रिय-तनुज-श्री ऐडवर्ड-नृप-तनयवर।

विनय के इन मुक्तकों के अतिरिक्त देश की वर्तमान दशा के प्रति कवियों की भावनाएँ अनेक रूपों में व्यक्त हुईं। देश में उद्धार का प्रयत्न जहाँ उन्होंने कर्तव्याकर्तव्य सम्बन्धी उपदेश देकर किया वहाँ वे देश की तत्कालीन दुरवस्था से दुखी व खिन्न भी हुए। इसकी प्रतिक्रिया दो रूपों में हुई। एक ओर जनमी जन्मभूमि और उस पर जन्म लेने वाले ऐतिहासिक महापुरुषों की अनेक वन्दनाओं के रूप में कवियों ने देश के गत व अनागत गौरव का गान किया—यह प्रयत्न कदाचित् जन-जागरण के लिए और अपने आदर्श रूप की स्मृति दिलाने के लिए था। दूसरी ओर कवियों ने देश की समसामयिक दुरवस्था पर अपने मन का खेद और ग्लानि व्यक्त की। ऐसा वर्तमान, यथार्थ, किन्तु कठोर और कटु वास्तविकता का साक्षात्कार कराने के हेतु किया गया। 'हमारा अधःपतन' शीर्षक में कवि शंकर ने देश के गत गौरव पर शोक प्रकट किया है। परवर्ती गीति काव्य से भिन्नता यही है कि यह शोक व्यक्तिगत शोक नहीं, समाज की दुर्दशा और पतन पर अनुभूत होने वाला शोक है। जन्मभूमि का स्तव-गान इस युग के अधिकांश कवियों ने किया। जिनमें नाथूराम 'शंकर', रूपनारायण पाण्डेय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, श्रीधर पाठक आदि सभी हैं।

इस प्रकार भाव-प्रधान मुक्तकों में मुख्यतः दो प्रकार की रचनाएँ की गईं—(१) परम्परागत शैली के अनुसरण पर लिखे गए मुक्तक, (२) नवीन चेतना और प्रभाव के व्यंजक मुक्तक। पहले प्रकार के मुक्तकों में निम्नलिखित विधाओं का प्रयोग हुआ—

(क) भक्त कवियों की विनय-प्रधान गेय पद-रचना की शैली।

(ख) कृष्ण-भक्तों की गोपी-विरह-व्यंजक पद-शैली।

(ग) रीतिकालीन कवियों के विरह-वर्णन की चमत्कार-प्रधान मुक्तक शैली।

(घ) ईश्वर की महिमा में आत्मोद्गार के व्यंजक दोहों और मुक्तकों की शैली।

नवीन विधाओं में मुख्य रूप से निम्नांकित प्रकार के मुक्तक लिखे गये—

(क) तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित—जन्मभूमि, महान व्यक्तियों, और कहीं-कहीं शासकों के स्तवन, गौरव-गान के रूप में लिखे गये प्रशस्तिमूलक मुक्तक।

(ख) देश की समसामयिक अवस्था के प्रति कवि के आत्म-संकल्प और आत्मोद्‌गारों के व्यंजक मुक्तक।

(ग) व्यक्तिगत राग-विराग को विषय बनाकर लिखे गये अध्यन्तरिक मुक्तक। इनका स्वर अनेक स्थलों पर आत्मपरक दृष्टिकोण के कारण प्रगीतात्मक है।

(घ) उर्दू की रुबाइयों और बहर के ढंग पर रचित मुक्तक।

विचार-प्रधान मुक्तक

अन्य मुक्तकों की भाँति विचारप्रधान मुक्तक भी इस युग में अनेक रूपों में और विषयों पर लिखे गए। समग्र रूप में इस प्रकार के मुक्तकों की रचना इस युग में सर्वाधिक हुई। चिन्तन-प्रधान मुक्तकों को मुख्य रूप से तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—(१) उपदेशात्मक, (२) आलोचनात्मक और (३) विवेचनात्मक। सर्वाधिक संख्या पहले, अर्थात् नीति और उपदेश सम्बन्धी मुक्तकों की है। इस युग में समाज-सुधार का विशेष बोलबाला होने के कारण कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान कराने के लिए कवियों ने भी पद्य-रचना को माध्यम बना लिया। एक ओर काव्य की परिधि इस दृष्टिकोण-परिवर्तन के कारण—व्यक्ति से समाज तक विस्तृत हो गई; दूसरी ओर कविता—प्रचार और सिद्धान्त-प्रतिपादन का माध्यम बन गई, अतः वह लक्ष्य-भ्रष्ट होकर रसानुभूति की अपेक्षा शिक्षा-दीक्षा का साधन बनी। हृदय-रस से आप्लावित न होने के कारण उसका स्वरूप गद्यवत्, अनुभूति व राग-तत्त्व अत्यन्त परिक्षीण, व कला की दृष्टि से स्तर अत्यन्त साधारण हो गया।

उपदेशात्मक मुक्तक, सामाजिक जीवन ने सम्बद्ध अधिकांश विषयों पर लिखे गये। द्विवेदी-युग के सभी प्रसिद्ध कवियों ने इस दिशा में लेखनी चलाई। पं० रूपनारायण पाण्डेय ने 'पराग' में—'कौन कृति कहाते हैं', 'वैद्य', 'स्त्री-शिक्षा' आदि विषयों पर कर्त्तव्य का निर्देश करते हुए, एक-एक विषय पर अनेक छन्द लिख डाले। 'पूर्ण संग्रह' में राय देवीप्रसाद के अनेक उपदेशात्मक मुक्तक 'भक्ति और वेदान्त' शीर्षक में संकलित हैं। इनमें कवि ने नाना रूपों में कर्तव्य का उपदेश दिया है। जीव को चेतावनी देकर उसके उद्‌बोधन का प्रयत्न भी किया है। इसी प्रकार के मुक्तक नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने विविध शीर्षकों में लिखे हैं। कहीं कवि प्रत्यक्ष रूप से उपदेश देता है और कहीं उपदेश मुक्तक-ध्वनि के रूप में व्यंग्य है। शीर्षक और अभिव्यंजना दोनों में उपदेश की वाच्य स्थिति 'कर्मवीरता', 'नैसर्गिक शिक्षा', 'समालोचक-लक्षण' आदि शीर्षकों में रचित पद्यों में उपलब्ध है—

जो बड़भागी ब्रह्म-ज्ञान के जितने टुकड़े पाते हैं,
वे सब साधारण लोगों को देकर बोध बढ़ाते हैं।
तर्क-सिद्ध सद्‌भाव अनूठे विधि-निषेधमय मन्त्र,
संग्रह, ग्रन्थाकार उन्हीं के प्रकट प्रचलित तन्त्र॥[1]

पं० रूपनारायण पाण्डेय ने इसी प्रकार 'आर्य शीर्षक' में आर्य व्यक्ति के कर्त्तव्य का निर्देश किया तथा 'जाति-सेवक' के अन्तर्गत आत्म-संकल्पात्मक स्वर में अनेक संदेशात्मक व

१. शंकर सर्वस्व—सम्पादक हरिशंकर शर्मा, पृष्ठ ४५

उद्‌बोधनात्मक छप्पयों की रचना की है। इसी प्रकार 'देश-सम्बन्धी प्रोत्साहन', 'मातृ-भूमि', 'अहिंसा-संग्राम' आदि कविताओं में नीति-प्रधान उपदेश दिया गया है। उद्‌बोधन-प्रधान कुछ पद्य कवि ने संख्या के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से 'उद्‌बोधनाष्टक' शीर्षक में ही रख दिये हैं।

कभी कवि साधना-मार्ग की कठिनाइयों का संकेत करते हुए भी किसी विशेष चारित्रिक गुण की साधना का उपदेश देता है। ऐसे मुक्तकों में वर्णन और उपदेश का समागम मिलता है। 'सत्य की उपासना' पर गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' के मुक्तक पद्य इसी शैली के अन्तर्गत आएंगे—

होंगे शीतल तुम्हें आग के भी अंगारे,
मर न सकोगे कभी मौत के भी तुम मारे।
क्या गम है, गर छूट जाएँगे साथी सारे,
बहलावेंगे चित्त चन्द्र चमकीले तारे॥
दुख में भी सुख शान्ति का नव अनुभव हो जायगा।
प्रेम सलिल से द्वेष का सारा मल धो जायगा॥[1]

स्वयं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अनेक विषयों पर उपदेशात्मक मुक्तक-रचना की है। कहीं-कहीं यह उपदेश गम्भीर प्रसंगों पर न होकर सामान्य आचार-व्यवहार से सम्बन्धित विषयों पर दिये गए हैं। द्विवेदीजी ने सेवावृत्ति का विरोध इसी प्रकार किया :

सेवा समान अति दुस्तर दुःखदायी,
दुर्वृत्ति और अवलोकन में न आई
जीना कभी न उसका जग में भला है,
जो पेट-हेत पर सेवन को चला है॥[2]

'हरिऔध' ने इसी प्रकार विविध विषयों पर नीतिपरक दृष्टिकोण से दोहों में सतसई रचना की। 'हरिऔध सतसई' के समस्त दोहे उपदेशात्मक स्वर में लिखे गए। इनमें गुरुगौरव, मत्तमिलिन्द, नीति, विश्व-प्रपंच आदि अनेक विषयों पर कवि ने लिखा, परन्तु इनका मूल स्वर कर्त्तव्याकर्त्तव्य-सम्बन्धी मार्ग-निर्देश तथा उपदेश ही है और मूल्य वस्तुगत। 'मर्मस्पर्श' में भी 'हरिऔध' ने नीतिपरक प्रबोधनात्मक दोहे लिखे हैं। इन दोहों पर कबीर, रहीम आदि कवियों की नीति उपदेशपरक रचनाओं का प्रभाव प्रत्यक्ष है :

चींटी कन पावत रहत, पंखी तरुफल खात।
जन कत पापी पेट हित, पाप करत न अघात॥
सुख-समूह सुन्दर सदन, है सब रस-आधार।
तो किस मां है सार जो, है असार संसार ?[3]

उपदेशात्मक मुक्तक सर्वत्र इसी नीरस और व्याख्यानात्मक शैली में नहीं लिखे गए। जहाँ उनमें अनुभूति अधिक मार्मिक है और विनय और निवेदन का स्वर आ गया है वहाँ वे

१. कवि भारती—स० सुमित्रानन्दन पन्त आदि, पृ० १५०
२. द्विवेदी काव्यमाला—संग्रहकर्त्ता देवीदत्त शुक्ल, पृ० ३००
३. मर्मस्पर्श—हरिऔध, पृ० ३७-३८

भक्तों की भावमय विनम्र शैली में व्यक्त हुए हैं। उनमें प्रत्यक्ष निषेध व कटु आलोचना की अपेक्षा, आलोच्य तत्त्व या आचरण का दोष-दर्शन अधिक है। इनके विषय भी अपेक्षाकृत गम्भीर हैं। ये मुक्तक भक्तों की पद-रचना की परम्परा के अन्तर्गत आते हैं—

इक दिन खाक में खाक समैहै,
सिगरे जग झंझट झूठे हैं, इनमे सुख नहीं पैहै।
प्रिय पितु-मातु, बन्धु, सुत, दारा, कोऊ काम न ऐहै,
एक एक करि लाख बटोर्‌यौ, सोऊ संग न जैहै॥
सिर पर काल बली नाचत है, जब तब पकर दबैहै,
अजहूँ-गहु पद-पदुम राम के, समय गए पछतैहै॥[1]

प्रत्यक्ष उपदेश-कथन के अतिरिक्त उपदेश की दूसरी शैली सूक्ति-शैली थी। अनेक आचार-व्यवहार सम्बन्धी उपदेश सूक्तियों के द्वारा दिये गए। कहना व्यर्थ होगा कि इन सूक्तियों में विशेष कलात्मक उत्कर्ष, सरसता और वचन-वक्रता नहीं मिलती—

विचारो जो कुछ कहना है
कहो मत जिसे विचारा है।
नहीं वह सब कहने की है
विचारों की जो धारा है।[2]

उपदेश की तीसरी शैली अन्योक्ति शैली थी। सूक्तियों की अपेक्षा इस युग में रचित अन्योक्तियाँ अधिक सुन्दर बन पड़ी हैं।

राधाकृष्णदास ने 'रहीम विलास' शीर्षक में 'सरस्वती' के अनेक अंकों में क्रमशः नीति-उपदेश विषयक कुण्डलियों की रचना की। इन कुण्डलियों की रचना कहीं-कहीं अन्योक्तियों के रूप में की गई है। अन्योक्ति सदैव विवेक से नियमित अतः बुद्धि-आश्रित होती है। राधा-कृष्णदास द्वारा रचित इस प्रकार की कुछ कुण्डलियाँ अत्यन्त सुन्दर है—

रहिमन राज सराहिए जो विधु के विधि होय।
रवि को कहा सराहिए उगै तरैयाँ खोय॥
उगै तरैयाँ खोय नाहिनै तासु बड़ाई।
बड़े सराहन जोग सोई जो जग सुखदाई॥
प्रभुता मदजिनि भूलु प्रजापालहि किन सुख सन।
यह शरीर नसि जाय रहै इक कीरति रहिमन।[3]

रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण' ने 'अन्योक्ति विलास' में अनेक अन्योक्तिमूलक कवित्त-सवैये लिखे हैं। इनके विषय विविध हैं—चकोर, नैराश्य, अमंगल, उलूक, कोसने वाले, स्यार, निःशंक मृग, कपास, सुग्रा और सेमर आदि। कवि जब उपदेश या आलोचना का रूप-परिवर्तन कर उसे

---

१. ब्रजरज—रामकृष्णदास, पृ० ४०
२. मन के मोती—पुरोहित श्री प्रतापनारायण, पृ० ४२
३. सरस्वती—१९०३, संख्या ८, पृ० २४९

अधिक विनम्र व शिष्ट रूप में प्रस्तुत करना चाहता है, तो वह प्रायः अन्योक्ति का आश्रय लेता है। अन्योक्ति में उपदेश व्यंग्य होता है। अन्योक्तियों के अतिरिक्त कवियों ने अन्य रूपों में भी उपदेश-व्यंजना की। कहीं किसी गुण-विशेष की महत्ता का वर्णन मात्र करके कवि उसके पालन की अनिवार्यता की व्यंजना करता है और कहीं वह व्यक्तिगत संकल्प और मनोकामना के रूप में समष्टिगत नीति का संकेत करता है।

कभी-कभी केवल किसी विशेष दुरवस्था या दोष का वर्णन मात्र करके उसमें सुधार और परिवर्तन की कामना की व्यंजना कवि करता है। पं० रूपनारायण पाण्डेय ने 'दिग्दर्शन' (जाति-विषयक) शीर्षक में अनेक छप्पयों में देश की समसामयिक अवस्था का वर्णन किया।

द्विवेदी-युग के उपरान्त उपदेश की इस प्रवृत्ति का कविता में एकान्त अभाव तो नहीं हुआ किन्तु मात्रा कम अवश्य हो गई तथा इस प्रवृत्ति ने अधिक 'कान्ता-सम्मित' रूप धारण कर लिया, परिणामतः इन मुक्तकों में अधिक वैदग्ध्य, सरसता और अभिव्यंजना-कौशल व व्यंजनात्मकता उत्पन्न हो गई। 'हलाहल' का कवि जीवन की निस्सारता की व्यंजना सर्वथा भिन्न शैली में दृष्टान्त द्वारा करता है—

घूमती नूरमहल थी एक
दिवस बन जिन महलों की नूर
खड़े हैं खण्डहर से वे आज
किसी दिन हो जाएँगे धूर,

नूर भी थी मिट्टी का अंश,
महल भी है मिट्टी का भाग,
धरे वह चाहे जिसके पास
धरोहर अपनी लेती माँग।[1]

आलोचनात्मक मुक्तक अन्य दो प्रकारों की अपेक्षा संख्या की दृष्टि से कम लिखे गये। केवल इस प्रकार के मुक्तकों की मात्रा ही इस युग में कम नहीं थी, काव्योत्कर्ष की दृष्टि से भी इनका महत्त्व बहुत अधिक नहीं था। पं० रूपनारायण पाण्डेय ने 'सत्कवि' में तथा कवि 'शंकर' ने कहीं-कहीं 'समालोचक लक्षण' में आलोचनात्मक शैली में कर्त्तव्य-निर्देश किया है। पं० रूपनारायण पाण्डेय ने इसी प्रकार रूपासक्ति का घोर विरोध 'लज्जावती' कविता में किया। समालोचक-लक्षण का निर्देश करते हुए असमर्थ कवि की आलोचना देखिये—

कुछ ग्रन्थ किसी भाषा के पढ़ लेते हैं,
टूटी फूटी कविता भी गढ़ लेते हैं,
मिथ्याभिमान-कुंजर पर चढ़ लेते हैं,
लड़-भिड़ कलंक माथे पर मढ़ लेते हैं।

---

१. हलाहल—बच्चन, पृ० ८३

उनका घमण्ड जिसकी ठोकर खाता है
वह वीर समालोचक पदवी पाता है।[1]

उपर्युक्त पद्य में प्रत्यक्ष रूप से समालोचक के गुणों का और परोक्ष रूप में कवि के गुणों का निर्देश कवि ने किया है। द्विवेदीजी अपनी उपदेश-वृत्ति के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध थे। उन्होंने यह कार्य केवल गद्य-रचनाओं में ही नहीं किया, कविता में भी उनकी यह प्रवृत्ति मुखर रही। कहीं वे खेद-प्रकाशन के रूप में मार्ग-निर्देशन करते थे, और अन्यत्र प्रत्यक्ष और तीखी आलोचना के स्वरों में उनकी यह लक्ष्य-साधना हुई है। 'ग्रन्थकार लक्षण' वस्तुतः ग्रन्थकार-आलोचना है जिसमें प्रत्यक्षता और तीखापन दोनों ही वर्तमान हैं—

अपनी पुस्तक की सानन्द
स्वयं समीक्षा लिख स्वच्छन्द
अन्य नाम से अखबारों में जो शतबार छपाते हैं।
निज मुख से जो गुण विस्तार
करते सदा पुकार पुकार
ग्रन्थकार पद-योग्य सर्वथा वे ही समझे जाते हैं।[2]

द्विवेदी-युग में तो सुधारवादी दृष्टिकोण कविता के युग-धर्म के रूप में व्याप्त था ही, परन्तु छायावादी काव्य में नैतिक मूल्यों की अवहेलना और आत्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के कारण उपदेश की नीरसता और आलोचना की कटुता दब गई। समाजवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा के साथ देश में राजनैतिक आन्दोलनों और विद्रोह का सूत्रपात हुआ और आलोचनात्मक कविता का पुनः सृजन एवं पठन आरम्भ हो गया, परन्तु इस बार उसकी दिशा और शैली दोनों ही भिन्न थीं—

शक्ति और सिद्धान्त राजनीतिज्ञ जनों में
खूब चमकते हैं जब तक अधिकार न मिलता।
मंत्री बनने पर दोनों ही दब जाते हैं।[3]

कहीं विषय प्राचीन है, बात भी पुरानी, परन्तु कहने का ढंग बदल गया है, अतः इस आलोचना में अधिक वक्रता और चमत्कार उत्पन्न हो गया है—

रचना में क्या-क्या गुण होने चाहिए,
कूद-फांदकर भी तुम नहीं बताते हो।
पर, रचना के दुर्गुण अपनी ही कृति में,
कदम-कदम पर खूब दिखाये जाते हो।[4]

'छायावाद' के कवियों ने मुक्तक-रचना बहुत कम की और आलोचनात्मक मुक्तक और

---

१. शंकर सर्वस्व, पृ० १४२
२. द्विवेदी काव्यमाला—संग्रहकर्ता देवीदत्त शुक्ल, पृ० २६८
३. नये सुभाषित—दिनकर, पृ० २१
४. वही, पृ० १३

भी कम लिखे। इस वर्ग के अधिकांश कवि अपनी भावनाओं की अभिव्यंजना लक्षणा-व्यंजना और प्रतीकों के माध्यम से करते रहे। विचारात्मक कविताओं में भी आलोचनात्मक रचनाएँ वे बहुत कम कर सके। इनका उदार दृष्टिकोण और भावनाओं व विचारों के अतिशय संस्कार, और कभी-कभी गोपन के प्रयत्नों ने उन्हें इस प्रकार की कठोरता से दूर ही रखा। 'निराला' के पौरुषमय और आवेग-दीप्त व्यक्तित्व के अतिरिक्त इस दिशा में अन्य कवियों ने लेखनी नहीं उठायी। वे अपेक्षाकृत उदार, सहिष्णु और दृष्टिकोण में विनयी थे, अतः द्विवेदीयुगोत्तर काव्य में विचारात्मक कविताएँ दर्शन, राजनीति तथा जीवन के गम्भीर विषयों के विवेचन-विश्लेषण तक सीमित रहीं। परन्तु छायावाद के उपरान्त का कवि जब अधिक आत्मविश्वास और स्वच्छंद दृष्टिकोण को लेकर काव्य-रचना में तत्पर हुआ तो अपने मन का आक्रोश भी आलोचनात्मक स्वरों में यदा-कदा व्यक्त कर गया, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति निश्चय ही पूर्ववर्ती काव्य की अपेक्षा कहीं कलात्मक रही—

देखकर तुझको रचना-मग्न
निरंतर संहारों के बीच,
करेगा जो तेरा उपहास
सृष्टि के नीचों में वह नीच,
मर्त्य की मिट्टी तू म्रियमाण
साधना तेरी सब स्वर्गीय,
देवतों में तू ईर्ष्या-पात्र,
मानवों में तू हो दयनीय।[1]

विवेचनात्मक मुक्तक—तीसरे प्रकार के विचारात्मक मुक्तकों में कवियों ने प्रायः किसी गम्भीर विषय को अपनाकर उसका विश्लेषण प्रस्तुत किया है। द्विवेदी-युग में ये विषय अधिकतर दर्शन, धर्म, भक्ति आदि से ग्रहण किये गए। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने 'ब्रह्म विज्ञान' में अनेक कवित्त-सवैयों में ब्रह्म के स्वरूप और महत्ता का विवेचन किया है। इसी प्रकार 'ईश्वर प्राणिधान' में कवि 'शंकर' ने ईश्वर के स्वरूप और गुणों का परिगणन कराया है। 'ब्रह्म विवेकाष्टक' में विविध दार्शनिक विषयों पर विचार किया गया है। इनमें ईश्वर का स्वरूप, संसार का स्वरूप, सगुण-निर्गुण, सृष्टि-रचना आदि अनेक विषय अन्तर्भूत हैं। परन्तु विस्तृत और सांगोपांग वर्णन कवि ने किसी विषय विशेष का नहीं किया—

आदि, मध्य, अन्तहीन भूमा भद्र भासता है,
पूरा है, अखण्ड है, असंग है, अलोल है,
विश्व का विधाता परमाणु से भी न्यारा नहीं,
विश्वता से बाहरी न ठोस है न पोल है,
एक निराकार ही की नानाकार कल्पना है,
एकता अतोल में अनेकता की तोल है,

---

१. हलाहल—बच्चन, पृ० ८७

भेदहीन नित्य में सभेदों की अनित्यता है,
खोज ले तू शंकर जो ब्रह्म की टटोल है।[1]

विवेचन के लिए कवियों ने अधिकतर धर्म, दर्शन और जीवन की परिधि में आने वाले गम्भीर विषय ही अपनाये हैं। इनमें ईश्वर, जीव और संसार के स्वरूप और पारस्परिक सम्बंधों की विवेचना कवियों का प्रिय विषय रहा है। परन्तु इन विषयों पर अधिकतर एकाधिक छन्दों में अन्वित होने वाली निबद्ध कविताएँ ही लिखी गईं। परन्तु विविध प्रसंगों पर रचित मुक्तकों में बीच-बीच में इस प्रकार के विवेचनात्मक पद्य प्रायः बिखरे मिल जाते हैं। जीवन की विवेचना कवि 'बच्चन' के द्वारा इस रूप में की गई—

देखने को मुट्ठी भर धूलि
जिसे यदि फूंको तो उड़ जाय
अगर तूफानों में पड़ जाय
अवनि-अंबर के चक्कर खाय,
किंतु दी किसने उसमें डाल
चार साँसों में उसको बाँध,
धरा को ठुकराने की शक्ति,
गगन को बुलराने की साध।[2]

समय के साथ-साथ आधुनिक काल का कवि अधिकाधिक बुद्धिजीवी होता गया है, अतः वह जीवन के अनेक गम्भीर प्रश्नों पर गम्भीर दृष्टि से विचार, तथा दर्शन, मनोविज्ञान व मनोविश्लेषण-शास्त्रों के आलोक में उनका आख्यान और विवेचन करता रहा है। इस प्रकार का विवेचन प्रबन्ध-रचनाओं व निबद्ध कविताओं में मुक्तक की अपेक्षा अधिक सुगमता से और व्यवस्थित रूप में सम्भव होता है, परन्तु फिर भी कुछ हलके विषयों का गहरी और पैनी दृष्टि से बौद्धिक विवेचन कवियों ने यदा-कदा प्रस्तुत किया है। कहीं-कहीं यह प्रयास सूत्र शैली में हुआ है। कवि दिनकर ने अनेक विषयों पर कुछ सुभाषित इसी ढंग पर लिखे हैं। इन सुभाषितों की शैली में विशेष चमत्कार, वाग्विदग्धता तथा कला में वैभव और अलंकरण तो नहीं है, परन्तु विषय का ग्रहण और विवेचन सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण और तत्त्वग्राहिणी दृष्टि से किया गया है। कवि के शब्दों में—"इन सुभाषितों में 'व्यंग्य-विनोद' का काफी पुट है और जो हृदय तथा बुद्धि को गुदगुदाना जानते हैं।"[3] दिनकर के अनुसार 'कल्पना' कुछ ऐसा तत्त्व है—

आत्मा की है आँख, बुद्धि की पाँख है,
मानस की चाँदनी विमल है कल्पना।[4]

समझौते की शान्ति कवि को ज्वर में सिर पर रखी बर्फ के समान प्रतीत

---

१. शंकर सर्वस्व—सं० हरिशंकर शर्मा, पृ० ४२
२. हलाहल—बच्चन, पृ० १२७
३. नये सुभाषित—रामधारीसिंह दिनकर, 'दो शब्द'
४. वही, पृ० १४

होती है—

ज्वर में सिर पर बर्फ़ रखा करते हैं,
यही बहुत कुछ समझौते की शान्ति है।
किंतु, कभी क्या ज्वर भागा है बर्फ़ से ?
हिम को ज्वर की दवा समझना भ्रान्ति है।[1]

मुक्तकों की एक शैली जिसका अन्तर्भाव आत्मपरक और वस्तुपरक आदि भेदों में किसी एक के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता—समस्यापूर्ति के लिए मुक्तक-रचना की शैली है। समस्यापूर्ति के लिए रचे गए मुक्तकों के विषय विभिन्न हुआ करते थे—शृंगार, नीति-उपदेश, व्यंग आदि। अनेक चमत्कारमूलक रचनाएं भी इसी शैली में की गई। समस्यापूर्ति बहुधा कवित्त और सवैया छन्दों में की जाती थी। वस्तुतः मुक्तक-रचना की यह शैली भारतेन्दु-युग के कवियों में विशेष रूप से प्रचलित थी, वहीं से द्विवेदी-युग तक यह परम्परा चली आई। समस्यापूर्ति के पीछे कवि-गोष्ठियों में कवि-प्रतिभा की वाचिक प्रतियोगिता की प्रवृत्ति मुख्य रूप से विद्यमान रहती थी। द्विवेदी-युग तक आते-आते उस प्रकार की सभाएँ और बैठकें तो नहीं रहीं, परन्तु अवशेष रूप में काव्य-रचना की यह विधि रह गई। इन मुक्तकों की प्रेरणा सहज और अन्तःस्फूर्त तो स्वीकार की ही नहीं जा सकती, क्योंकि समस्यापूर्ति का विषय कवि का आत्मप्रेरित नहीं अर्जित विषय होता था। यदि संयोगवश समस्यापूर्ति के लिए दी गई पंक्ति, कवि के मनोनुकूल हुई अथवा वह उसे यथारुचि मोड़ देने में समर्थ होगया, तब तो ये समस्यापूर्तियाँ अत्यन्त मार्मिक, सरस और भावमय बन जाती थीं, अन्यथा बुद्धि के खिलवाड़ द्वारा कवि अपनी प्रतिभा का प्रमाण तो उपस्थिति कर देता, परन्तु इनकी रचना भावप्रेरित व प्रभावव्यंजक रूप में नहीं हो पाती थी। अतः वे बौद्धिक व्यायाम से अधिक कुछ नहीं जान पड़ती थीं। इस प्रकार समस्यापूर्ति की कलात्मक सिद्धि बहुत कुछ विषय और कवि की अभिरुचि की पारस्परिक अनुकूलता पर निर्भर रहती थी। परन्तु निरन्तर प्रयास से अभ्यस्त कवियों ने इस शैली में अनेकानेक सुन्दर रचनाएँ कीं। पंडित नाथूराम शर्मा इस शैली में रचना करने के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध थे। उन्होंने विविध विषयों पर प्रभूत मात्रा में सौन्दर्य-व्यंजक समस्यापूर्तियाँ कीं। उनके अतिरिक्त रूपनारायण पाण्डेय आदि ने भी कतिपय सुन्दर समस्यापूर्तियाँ कीं। कवि शंकर की 'उपमा न पाई है' पर की गई समस्यापूर्ति देखिये—

आपस में अँखियाँ लड़ें न कहूँ याही डर
मेंड़ मरियाद की बिरंचि ने लगाई है।
कैधों नोकी नाक-सी निवासथली पाय कर,
छबि ने छपाकर पै मोदमढी छाई है।
तो तन निहार हारि जाय दुरे हारन में,
तोतन ने तो तन पै नाक-सी कटाई है।

---

१. नये सुभाषित, पृ० २७

शंकर नकोले कवि खोज-खोज हारे पर,
एरी तेरी नासिका की उपमा न पाई है ।[1]

कविता में प्रगति-प्रयोगवाद के आरम्भ के साथ मुक्तकों के क्षेत्र में भी युगान्तर प्रस्तुत हुआ। यद्यपि इन कवियों में से अधिकांश छायावाद के ह्रास काल के कवि थे, अतः अपने को उस व्यापक काव्य-चेतना और शैली से सर्वथा असम्पृक्त तो नहीं रख सके, परन्तु वे काव्य-रचना में विशेष दृष्टिकोण और सिद्धान्तों का आधार लेकर प्रवृत्त हुए और काव्य-रचना के प्रति उनकी इन नियत धारणाओं ने उनकी शैली को पर्याप्त रूप में प्रभावित किया।

प्रगतिवाद के कवि ने काव्य की सृष्टि वैयक्तिक नहीं, सामाजिक चेतना के आधार पर की। सौन्दर्य का अनुसंधान ये कवि न अपने हृदय में करते थे, न दूसरों के नेत्रों में। इनके लिए सौन्दर्य के मानदण्ड बदल गये। इनका सत्य—भौतिक वास्तविकता, शिव—जन-कल्याण, और सुन्दर—स्वाभाविक, प्रकृत और स्वस्थ जन-जीवन बना। इस प्रकार जीवन के प्रति परम्परागत दृष्टिकोण और मूल्यों में उन्होंने अन्तर प्रस्तुत किया। केवल भावनाओं का विलास, रूप, रंग और रोमांस का मोह इनकी कला का प्रेरक नहीं था, अतः छायावादी रेशमी कला का परित्याग कर इन्होंने जीवन के प्रकृत, अनगढ़ रूप को ग्रहण किया। इनके वर्णनों में छायावाद की मधु-चर्या और रीति-काव्य की मसृणता और चमक दोनों का अभाव हो गया। परिणामतः इनके विषय भी बदले और शैली व रूप-विधाएँ भी।

शोषित वर्ग के साथ सहानुभूति के कारण इन कवियों ने उनके यथार्थ, प्रकृत, रूप को ग्रहण किया। विषय का यह ग्रहण दो रूपों में किया गया—(१) ये कवि इस शोषित, दलित किन्तु जीवन के यथार्थ और अनगढ़ रूप का सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से वर्णन करते रहे। (२) समाज की वर्तमान अवस्था के प्रति असन्तोष के कारण इन्होंने आलोचना, व्यंग और उपदेश के द्वारा क्रान्ति और परिवर्तन के लिए जनमन को प्रेरित किया। दोनों स्थितियों में मुक्तक इनके लिए उपयुक्त माध्यम नहीं सिद्ध हो सकता था। पहले प्रकार के वर्णनों में विस्तार इसलिए आया कि इन्होंने पूरी प्रत्यक्षता से अभिधा में इस वर्ग के जीवन और समस्याओं का खुलकर वर्णन किया। पाठक की सहानुभूति जागृत करने के लिए वे अपनी बात खुलासा रूप में अपने पाठक तक पहुँचा देना चाहते थे। जिस वर्ग का ये चित्रण कर रहे थे उसकी समस्याएँ विविध थीं और अनगढ़ता अनेकरूपिणी। इस सब को पाठक तक पहुँचाने में शब्दों की कृपणता या प्रयोग-कौशल इन्होंने नहीं दिखाया क्योंकि इनका उद्देश्य किसी प्रकार का कलात्मक चमत्कार या चकाचौंध उत्पन्न करना नहीं था। न इनमें अनुभूतियों के दुराव, प्रतीकात्मक व्यंजना या लक्षणा-व्यंजना के माध्यम से अभिव्यक्ति का प्रयत्न था। इस साहित्य में भाव-तन्मयता के स्थान पर बौद्धिकता, और आलोचनात्मकता अधिक मिलती है। ऐसी स्थिति में गागर में सागर भरने का प्रयत्न करने का न इनमें धैर्य था न अवकाश। ये जिस विषय को उठाते या जिस समस्या पर कुठाराघात करते प्रायः उसके कारणों, निदानों और स्वरूप का कुछ दूर तक विश्लेषण करते चले जाते थे। अतः वर्णनात्मक या कथात्मक मुक्तकों की रचना इन्होंने नहीं की। उपदेश और

---

१. शंकर सर्वस्व—सं० हरिशंकर शर्मा, पृ० २६७

आलोचना के लिए सूत्र या व्यंजना-शैली की अपेक्षा व्याख्या और विश्लेषण-शैली एवं निबद्ध विधाओं का ग्रहण स्वाभाविक ही था। कुछ मुक्तक जिनका सम्बन्ध किसी 'वाद' से नहीं जोड़ा जा सकता —गांधीजी के निधन पर अथवा उनका महत्त्व वर्णन करने के लिए लिखे गए। इस प्रकार के कुछ मुक्तक नरेन्द्र शर्मा की कृति 'रक्त-चन्दन' में संकलित हैं। नरेन्द्र शर्मा की कविता को निश्चित रूप से किसी एक 'वाद' की कारा में बन्दिनी नहीं किया जा सकता। उनके काव्य में प्रगतिवाद का जितना प्रभाव है, उतना ही उन्हें छायावाद और स्वच्छन्द प्रेम के गायक कवियों की कोटि में घसीटा जा सकता है। ऐसा बहुत से कवियों के विषय में सत्य है, परन्तु जिन कवियों ने मुक्तक-रचना नहीं की इस प्रसंग में हम उनका उल्लेख नहीं कर रहे हैं। प्रकृति-वर्णन के लिए लिखे गये नरेन्द्र शर्मा के मुक्तकों में परम्परा का बढ़ाव ही है—

तेजस्वी तरुण तपस्वी-सा,
गैरिक लपटों से तन लपेट,
यह कृष्ण पक्ष का प्रथम चंद्र,
है उदित अखिल आभा समेट!
आरूढ़ भूमि के मस्तक पर
प्रद्योत, विशाल प्रवालखंड,
मोहित पतंग-से मंदकान्ति
बिखरे बिखरे अनगिनत खेट![1]

प्रयोगवाद के कवि यद्यपि सिद्धान्त-रूप में छायावादी भाव, विषयवस्तु तथा शैली-शिल्प के विरुद्ध प्रतिक्रिया का नारा बुलंद करते हुए काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए। छायावाद की तरल अमूर्त अनुभूतियों की अपेक्षा सामाजिक मूर्त अनुभूतियों की माँग, और सुनिश्चित बौद्धिक धारणाओं का महत्त्व बढ़ा, परन्तु व्यवहार में, विशेषकर वर्णनात्मक कविता में बहुत दूर तक छायावादी प्रवृत्ति से अपना पल्ला न छुड़ा सके। मुक्तकों में यह प्रभाव इनकी अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। अपने मूल रूप में यह कविता बौद्धिक थी तथा इन कवियों ने छायावादी रोमानी काव्य की अतीन्द्रियता और वायवी सौन्दर्य-चेतना के विरुद्ध वस्तुगत मूर्त और ऐन्द्रिय-चेतना का विकास करने का प्रयत्न किया। सौन्दर्य की परिधि में मसृण और मधुर के अतिरिक्त परुष, ग्राम्य और अनगढ़ के अन्तर्भाव का प्रयत्न किया। रोमान्टिक काव्य की सौन्दर्य सम्बन्धी धारणा का पुनर्मूल्यन करने का दावा किया। इस काव्य की सीमित और एकांगी दृष्टि के स्थान पर व्यापक सौन्दर्य-चेतना का विकास किया। छायावाद के काव्य में व्यक्ति तत्त्व का प्राधान्य था। इन कवियों ने इसके विपरीत वस्तु की आन्तरिक अर्थ-व्यंजना को बिना अपनी भावना का रंग चढ़ाए अनूदित करना कविता का लक्ष्य माना। वे वस्तु के भावपरक वर्णन में विश्वास न करके, उसकी आत्मा को शब्दों द्वारा उद्घाटित करना समर्थ काव्य का गुण मानते थे। परन्तु इस वर्ग के अधिकांश कवि छायावाद के ह्रास काल के वे कवि थे जिनकी मूल प्रवृत्ति अन्तर्मुखी थी—जिनमें छायावाद का रूप रंग और रोमांस सर्वथा निःशेष नहीं हुआ था। अतः

---

१. अग्निशस्य—नरेन्द्र शर्मा, पृ० ६१

स्वभाव से व्यक्तिगत दृष्टिकोण और अपने लक्ष्य के रूप में वस्तु-सत्य के उद्घाटन को अपनाने से इनकी कविता में उभय प्रवृत्तियों का अद्भुत संगम परिलक्षित होता है। विशेष रूप से इनके वर्णनों में बाह्य वस्तु को महत्त्व देने पर भी उसके प्रति इनकी अनुभूति, इनका राग तत्त्व सर्वथा निःशेष नहीं हुआ है। इस मत की पुष्टि में प्रयोगवाद के अनेक प्रमुख कवियों की कविता से उदाहरण दिये जा सकते हैं। प्रकृति-वर्णन में इन्होंने कहीं तो समस्या की व्यंजना की है, कहीं उसके वस्तु रूप का उद्घाटन-मात्र, परन्तु सर्वत्र नहीं। उदाहरण के लिए अज्ञेय और भारतभूषण अग्रवाल के ये मुक्तक प्रस्तुत हैं—

(क) **भाले की अनी-सी बनी**
बगुलों की डार,
फुटकियां छिटफुट
गोल बांध
डोलतीं
सिहरन उठती है एक देह में।
कोई तो पधारा नहीं मेरे सूने गेह में—
तुम फिर आ गये, क्वांर ?[1]

(ख) **बादल, गरज ले !**
बिजली, विभूति से तू अपने अंग सज ले ॥
बज ले
ओ मेरे रोम-तार !
तू इस वर्षाघात से बज ले !
क्या पता, उतरती इस धार में ही धुलकर
मेरा मन मंज ले ![2]

प्रकृति के उपर्युक्त वर्णनों में केवल द्रष्टा की तटस्थ दृष्टि से वस्तु-सत्य का उद्घाटन नहीं, कवि की अपनी रागात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है। इस प्रकार के अनेक अन्य उदाहरण इन प्रतिनिधि व अन्य कवियों की रचनाओं से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कुछ अन्य मुक्तक इन कवियों ने प्रकृति के वस्तु-रूप का वर्णन करने के लिए लिखे हैं। इनमें कवि एक ओर खड़ा होकर केवल प्रकृति का निरीक्षण और उसका यथावत् वर्णन करने का प्रयत्न करता है, उसके द्वारा अपने मन पर पड़े प्रभाव अथवा उस पर अपनी भावनाओं का आरोप कर व्यक्तिपरक दृष्टिकोण से उसका अंकन नहीं करता। इन वर्णनों में निश्चय ही वस्तु प्रधान है परन्तु सौन्दर्य-चेतना, उसके मूल्य और मानदण्ड परम्परागत हैं। इनमें कवि ने मूर्त परन्तु मधुर और मसृण को स्थान दिया, अनगढ़, ग्राम्य और परम्परागत अर्थ में कुरूप को नहीं। प्रकृति के अनेक रम्य और कोमल चित्र प्रयोगवादी काव्य में बिखरे हैं—

---

१. बावरा अहेरी—अज्ञेय, पृ० २०
२. ओ अप्रस्तुत मन—भारत भूषण अग्रवाल, पृ० १३६

(क) व्योम-गंगा में आयी बाढ़,
चांद से टकरायी हिलकोर।
इधर से सुधा उधर से दूध,
भीगने लगे गगन के छोर।
दिशाओं में ढरका सब दूध,
धरा पर गयी सुधा सब फैल।
हो गयी सहसा गोरी-रात,
धुल गया युगों-युगों का मैल।[1]

(ख) चांद तो थक गया
गगन भी बादलों से ढक गया,
वन तो वनैला है
अभी क्या ठिकाना कितनी दूर तक फैला है ?
अन्धकार।
घनसार।
अरे पर देखो तो वो पत्तियों में
जगनू टिमक गया ![2]

कहीं-कहीं कवि अपने सिद्धान्तों के अनुरूप प्रकृति-वर्णनों के साथ जीवन की समस्याओं का गूँथ देता है। इन वर्णनों में व्यंजना यही है कि केवल प्रकृति के मनोरम और हृदयग्राही रूप ही सत्य नहीं जीवन की यथार्थ, आर्थिक, भौतिक समस्याएँ सत्य हैं। इन मुक्तकों में वस्तु-सत्य की प्रतिष्ठा है—

बह चुकीं बहकी हवाएँ चैत की
कट गईं पूलें हमारे खेत की
कोठरी में लौ बढ़ाकर दीप की—
गिन रहा होगा महाजन सेंत की।[3]

सर्वत्र यह वस्तु-तथ्य प्रकृति-वर्णन के माध्यम से व्यक्त नहीं होता। कभी कवि मन की निविड़ताओं और मन के उलझे अनुभव-खण्डों का वस्तुपरक अभिव्यंजन करता है। इन वर्णनों के मूल में कोई संघर्ष, कल्पना या विचार रहता है। मनोविश्लेषण-शास्त्र की पद्धतियाँ—मुक्त विचार-प्रवाह, स्वप्न-चित्र आदि का अंकन—इनमें सहायक हुई हैं। भारतीय पौराणिक संस्कृति और वर्तमान सांस्कृतिक जीवन के अन्तर को लेखक 'टूटे सपनों का सपना' में कुछ इस प्रकार के अर्धस्पष्ट रूप में प्रस्तुत करता है—

---

१. नाव के पाँव—जगदीश गुप्त, पृ० ६२
२. बावरा अहेरी, पृ० ५०
३. वही, पृ० २१

रात मैंने एक स्वप्न देखा।
मैंने देखा
कि मेनका अस्पताल में नर्स हो गई है,
और विश्वामित्र ट्यूशन कर रहे हैं,
उर्वशी ने डान्स-स्कूल खोल दिया है,
नारद गिटार सीख रहे हैं
गणेश टाफ़ी खा रहे हैं,
और बृहस्पति अंग्रेजी से अनुवाद कर रहे हैं।[1]

उपर्युक्त मुक्तक के मूल में एक अर्ध स्पष्ट विचार है जिसको यद्यपि वस्तुपरक रूप में अंकित किया गया है, परन्तु प्रयुक्त प्रतीक कवि का आशय पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर सके। इसके अतिरिक्त संगीतात्मकता (यह संगीत भाव, स्वर, नाद, लय, एक, दो या सभी का हो सकता है) और रागात्मकता का—जो कविता के प्राण तत्त्व हैं, इस प्रकार के मुक्तकों में अभाव है। इन रचनाओं में एक बात प्रायः दृष्टिगत होती है—जिन मुक्तकों में छन्द-विधान के अतिरिक्त अभिव्यंजना और समवेत रूप-विधान में छायावाद की परम्परा का विकास हुआ है, उनमें काव्य-गुण अधिक है, कविता की मूलभूत विशेषताओं की रक्षा हो सकी है। परन्तु जिन मुक्तकों में ये कवि नवीनता के दुराग्रह से परम्परा से सर्वथा उच्छिन्न होकर क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना चाहते हैं, वहाँ प्रायः इनकी रचनाओं में गद्यमयी निविड़ता आ जाती है। अथवा कुतूहलजनक वचित्र्य उत्पन्न हो जाता है, जिसके नएपन की सूझ पर दाद दी जा सकती है, तन्मय होकर आनन्दलाभ नहीं किया जा सकता।

कुछ मुक्तकों में वर्ण्य के वस्तुरूप को अधिकाधिक यथावत् रूप में शब्दों में बाँधा गया है। क्रियाओं, ध्वनियों आदि के द्वारा मन पर पड़ने वाले प्रभावों को ज्यों-का-त्यों कवि शब्दों में उतारता है। ध्वन्यार्थव्यंजक शब्दावली के प्रयोग के रूप में यह प्रयत्न अलंकार योजना की विशेषता बहुत पहले ही बन चुका था, परन्तु नई कविता में यह प्रयत्न वस्तु के प्रति संवेदना को वस्तु के माध्यम से ही व्यक्त करने के लिए किया गया, सौन्दर्य-बोध जगाने के लिए या यथा-प्रसंग शब्द-संगीत और रसानुभूति के वर्द्धन के लिए नहीं—

भोर बेला। सिंची छत से ओस की तिप्-तिप्!
पहाड़ी काक
की विजन को पकड़ती-सी बलाग्त बेसुर डाक—
'हाक्! हाक्! हाक्!'
मत संजो यह स्निग्ध सपनों का अलस सोना—
रहेगी बस एक मुट्ठी खाक।
'थाक्! थाक्! थाक्![2]

---

१. ओ अप्रस्तुत मन—भारत भूषण अग्रवाल, पृ० १०२
२. हरि घास पर क्षण भर—अज्ञेय, पृ० ३४

नए ढंग के कुछ मुक्तक कवि 'दिनकर' ने भी लिखे। यह प्रभाव उनकी पिछली रचनाओं में विशेष रूप से देखा जा सकता है। 'सीपी और शंख' में 'आधा चाँद' का वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

सरसी में लो उतर गया अब चाँद,
व्योम अभी कितना निश्चल लगता है।
तारों की जो फसल ताल में लहराती है,
हँसिया बनकर चाँद काटने को आया है।
किन्तु, एक मेंढक उस पर यों झपट रहा है,
मानों, वह चन्द्रमा नहीं, दर्पण हो कोई।[1]

इस वर्णन की विशेषता कवि की सौन्दर्य-चेतना नहीं—नवीन ढंग की अप्रस्तुत-योजना, वस्तुरूप मूर्त उपमानों का चमत्कारपूर्ण उपयोग है। यूँ उपमा का आधार रूप-साम्य है, परन्तु बिम्ब-विधान परम्परामुक्त है।

भावप्रधान मुक्तक-रचना का जहाँ तक प्रश्न है—व्यक्तिगत अनुभूति और संवेदनीयता को कविता से अलग तो कभी किया ही नहीं जा सकता केवल मात्राभेद से उसकी स्थिति में अन्तर हो सकता है, अतः प्रत्येक कवि की कविता में अनायास ही कभी-कभी झुठलाने पर भी अनुभूति या भाव-तत्त्व की प्रधानता हो जाती है। नई कविता में भी यद्यपि प्रायः भावुकता और अतिशय कल्पना-विलास का निषेध किया गया, परन्तु सर्वत्र ये कवि आत्मानुभूति का चिन्तन और वर्णन से दमन न कर सके, और ये भाव-स्फुलिंग अवसर पाकर इधर-उधर बिखरते ही रहे। जहाँ ईमानदारी से इन्होंने अपनी भावनाओं को बिना चीर-फाड़ किये पृष्ठों पर उतार दिया वहाँ वे अपने पाठक और काव्य दोनों के प्रति न्याय कर सके हैं। यदि ध्यान से देखें, तो संख्या की दृष्टि से भाव-प्रधान मुक्तकों की रचना नए कवियों ने छायावादी कवि की अपेक्षा अधिक की। इस विषय में कुछ कवियों की नियत धारणाएँ साधक हुईं—

"मैंने कुछ बहुत छोटी-छोटी कविताएँ लिखी हैं। छोटी कविता को महत्त्व भी देता हूं। 'नावक के तीर' वाली बात ही नहीं है, यों भी मैं मानता हूँ कि भावना-प्रधान कविता छोटी ही हो सकती है, नहीं तो अपने भावों का 'पैराफ्रेज' होने लगता है। 'जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति-सी छायी' वह एक आँसू बनकर आये यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु जब वह बरसाती झड़ी-सी बरसने लगती है, तब वह शायद वही पीड़ा नहीं रहती, और घनीभूत तो भला रह ही कैसे सकती है। लम्बी कविताएँ भी होती हैं, हो सकती हैं, अच्छी भी हुई हैं, पर उनको कलात्मक एकता और गठन देने वाली चीज़ फिर दूसरी हो जाती है—भाव की संहति और तीव्रता नहीं।"[2]

घनीभूत पीड़ा का बरसाती झड़ी के समान बरसकर बह जाना अधिक स्वाभाविक है,

---

१. सीपी और शंख—दिनकर, पृ० २५
२. आत्मनेपद—अज्ञेय, पृ० ३१

अथवा 'संहति, तीव्रता और गठन' के साथ घनीभूत रूप में सूत्र-शैली में व्यक्त होना, यह विवाद का प्रश्न हो सकता है। परन्तु उपर्युक्त मत से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि नयी कविता में मुक्तक का आश्रय लिया गया तो क्यों ? और उनसे पहले के कवि इस काव्य-रूप के प्रति ममत्व न दिखा सके तो क्यों ? कारण जो भी हो—यह स्पष्ट है कि 'नावक के तीर' वाली शैली में अभिव्यक्ति के लिए मुक्तकों का एक बार नयी कविता में पुनरुद्धार हुआ। यद्यपि सर्वत्र ये कवि (स्वयं अज्ञेय भी) मुक्तकों में इतना अर्थ भर नहीं सके, कि उन्हें 'नावक के तीर' कहा जा सके।

इन भावप्रधान मुक्तकों को यदि ध्यान से देखा जाय तो वे छायावाद की परम्परा के, दिशा-विशेष में विकास ही प्रतीत होंगे, इनमें किसी नयी काव्य-पद्धति का आरम्भ या पुरानी परम्परा का पुनः सृजन नहीं मिलता। जिस प्रकार छायावाद की अतिशय अन्तर्मुखी प्रवृत्ति, प्रतीकात्मकता, पलायन और गोपन के उपरान्त स्वच्छन्द प्रेम की निष्कपट अभिव्यक्ति 'बच्चन' आदि के काव्य में हुई, उसी प्रकार नयी कविता के कवियों ने अपनी भावनाओं को स्पष्ट रूप में व्यक्त किया है। इनके विषय भी वही थे और अभिव्यंजना में भी कोई विशेष उल्लेखनीय मौलिकता दृष्टिगत नहीं होती, केवल मुक्त छन्द में मुक्तक रचना की परिपाटी इन्होंने अवश्य आरम्भ की, परन्तु वह केवल भावप्रधान मुक्तकों की नहीं, इनकी रचना-शैली की ही विशेषता है। अन्यथा इन्होंने स्वच्छन्द प्रेम की धारा को ही आगे बढ़ाया है। अपने कथन की पुष्टि में कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

रो उठेगी जागकर जब वेदना
बहेंगी लूहें विरह की उन्मना
उमड़ क्या आया करेगा हृदय में
सर्वदा विश्वास का वारिद घना ?[1]

प्रतीकों का भी इनकी भावाभिव्यंजना में अभाव नहीं—

प्यासा तट जहाँ था वहीं रहा—
धारा ही आई।
प्लावन की बेला में
आज नई उपलब्धि पाई :
निश्चल समर्पण ही सिद्धि है,
रस की खोज में भटक
मैंने उम्र यों ही गँवाई।[2]

प्रकृति का इन्होंने प्रतीक-योजना और अप्रस्तुत-चयन के लिए ही उपयोग नहीं किया, अपनी भावनाओं की सहचरी और उद्दीपन के रूप में भी चित्रण किया है—

ओस में भीगी हुई अमराइयों को चूमता
झूमता आता मलय का एक झोंका सर्द

---

१. हरी घास पर क्षण भर—अज्ञेय, पृ० २३
२. ओ अप्रस्तुत मन—भारतभूषण अग्रवाल, पृ० १३७

काँपती मन की मुँदी मासूम कलियाँ काँपती
और खुशबू-सा बिखर जाता हृदय का दर्द।[1]

उपर्युक्त मुक्तक पर अंशतः उर्दू की अभिव्यंजना का प्रभाव है, परन्तु यह प्रभाव भी इन कवियों से पूर्व 'निराला', 'बच्चन' आदि के काव्य में पर्याप्त मात्रा में परिलक्षित होता है, अतः इसे भी मौलिक प्रभाव-ग्रहण नहीं माना जा सकता। उर्दू से प्रभावित कुछ मुक्तक भारतभूषण अग्रवाल ने 'मुक्ति मार्ग' में भी लिखे हैं। कहीं कुछ रुबाइयों के ढंग पर मुक्तक-रचना की गई। इस प्रकार के मुक्तक यद्यपि कम हैं, पर जो हैं वे स्पष्ट, सरस और हृदयग्राही। विधा हिन्दी में प्रयोग की दृष्टि से पुरानी है :

याद पिछली चाँदनी रातें करें आओ।
अनकहे स्वीकार सौगातें करें, आओ।
भोर होते जिन्दगी से जूझना होगा,
रात है, कुछ प्यार की बातें करें आओ।[2]

कुछ मुक्तक रचनाओं में शिल्प की दृष्टि से नवीन प्रयोग किये गए। यद्यपि हर प्रकार के संगीत का परित्याग करने से एक प्रकार की गद्यवत् जड़ता इनकी शैली और गति दोनों में आ गई है, परन्तु प्रयोग की दृष्टि से ये नवीन अवश्य हैं। ऐसे मुक्तक में कवि अपनी अनुभूति को सहज रूप में नहीं, बुद्धि के सहारे विश्लेषण करके अभिव्यक्त करता है। नरेश मेहता के निम्न-लिखित मुक्तक में समय रूपी दर्पण में अपनी छाप, अपनी प्रतिच्छाया अंकित करने की लालसा का विश्लेषण इस प्रकार किया गया—

आओ इस झील को अमर कर दें—
छू कर नहीं,
किनारे बैठ कर भी नहीं,
एक संग झाँक इस दर्पण में
अपने को दे दें हम,
इस जल को—
जो समय है!![3]

उपर्युक्त पंक्तियों मे भावव्यंजना बहुत स्पष्ट और पूर्ण नहीं। मुक्तक की विशेषता—स्व-अर्थ-प्रकाशन और चमत्कार उत्पन्न करने की क्षमता इन पंक्तियों में नहीं है। इनका अर्थ स्पष्ट हो जाता है, मूल भाव का आभास भी हो जाता है, परन्तु भाव खण्डित प्रतीत होता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नई कविता के भावप्रधान मुक्तक रूप-विधा की दृष्टि से 'बच्चन' आदि की स्वच्छन्द-प्रेम-व्यंजक कविता की परम्परा में ही आयेंगे। केवल मुक्त छन्द के प्रयोग के अतिरिक्त शैली, छन्द, अप्रस्तुत-योजना, भाव-भंगिमा सभी दृष्टियों से यह

---

१. ठण्डा लोहा—धर्मवीर भारती, पृ० २५
२. नाव के पाँव—जगदीश गुप्त, पृ० ७२
३. बनपाखी सुनो—नरेश मेहता, पृ० ५०

कविता परम्परासिद्ध है। उर्दू का जो प्रभाव उन्होंने ग्रहण किया वह भी बहुत पूर्व अन्य कवियों के माध्यम से हिन्दी काव्य में पहुँच चुका था।

विचारप्रधान मुक्तक भी नई कविता में कम नहीं लिखे गये। बौद्धिकता इस काव्य की प्रमुख विशेषता है और समाजवाद का प्रभाव भी अधिकांश कवियों की चिन्ताधारा पर रहा है। भारतीय वैष्णव-दर्शन मुख्यतः आस्था और विश्वास पर आधारित दर्शन है, अतः यदि इसकी स्वीकृति कवि काव्य में करता है तो रागप्रधान कविता का सृजन होता है। समाजवाद-अनास्था, विरोध और आत्मा के स्थान पर वस्तु के महत्त्व-प्रतिपादन पर आधृत चिन्ताधारा है। अतः इन वाममार्गीय विचारों पर आस्था रखने वाले कवि की कविता में बौद्धिकता और वस्तुगत मूल्यों की स्वीकृति, दोनों का समान स्थान होता है। इसी ताने बाने से नई कविता के मुक्तक निर्मित हैं। इन कवियों का विद्रोह बहुविध था। इन्होंने केवल सामाजिक नहीं, साहित्यिक रूढ़ियों के प्रति भी विद्रोह किया। अतः इनकी रचनाओं में उपदेश और आलोचना का लक्ष्य और स्वरूप बहुमुखी हो गया। जीवन में मिट्टी का महत्त्व-प्रतिपादन इस वर्ग का कवि इस प्रकार करता है—

मिट्टी का परस अभी जाना नहीं
मिट्टी का सम्मोहन ?
माना नहीं।
अपने हाथों उगाया कभी एक दाना नहीं
इसीलिए—
आया तुझे गाना नहीं।[1]

वह कला की सार्थकता मिट्टी के सम्मोहन में मानता है। जिस कला में यथार्थ जीवन, और मिट्टी में आस्था नहीं होगी वह कल्पनाविलासिनी, व्योमचारिणी कला, कला नहीं बेसुरा राग होगी। नरेन्द्र शर्मा ने स्वर्ग और अपवर्ग की रूढ़ धारणाओं पर कुठाराघात करते हुए कहा—

जो लौकिक है वही अलौकिक है,
सामान्य सत्य ही परम गूढ़।
मानव ही दिव्य मानवोपरि,
मानव ही दानव अधम मूढ़।
आचरण विचार कामना में
मानव देही की मुक्ति निहित,
है यह जगती ही आदि-अन्त,
अपवर्ग-स्वर्ग कल्पना रूढ़।[2]

उपर्युक्त मुक्तक के समान ही अन्य समानान्तर विषयों पर नरेन्द्र शर्मा ने कुछ मुक्तक लिखे। कुछ मुक्तकों में संसार की असारता आदि का उपदेश सन्त कवियों के ढंग पर दिया

---

१. ओ अप्रस्तुत मन—भारतभूषण अग्रवाल, पृ० १४७
२. रक्त-चन्दन—नरेन्द्र शर्मा, पृ० ६४

गया है।

जहाँ ये मुक्तक सिद्धान्तों व वस्तुजगत्, अध्यात्म या नीति-आचार की समस्याओं से सम्बद्ध हैं, वहाँ इनमें काव्यात्मकता और विचारों की गहनता उतनी नहीं मिलती। परन्तु जहाँ इनके कवि व्यापक क्षेत्र से विभिन्न विषयों का चयन कर तत्सम्बन्धी व्यक्तिगत बौद्धिक प्रतिक्रिया का विश्लेषण करते हैं, वहाँ इन मुक्तकों की शैली और अर्थ दोनों में गम्भीरता आ गई है। इनके विषय, विचार और उनकी अभिव्यक्ति सभी में नवीनता है। उपदेश भी आत्मरस में भीगकर नीरस से सरस हो गया है—

फूल को प्यार करो
पर झरे तो झर जाने दो,
जीवन का रस लो : देह-मन आत्मा की रसना से
पर जो मरे उसे मर जाने दो।
जरा है भुजा तितीर्षा की :
मत बनो बाधा
जिजीविषु को तर जाने दो
आसक्ति नहीं आनन्द है सम्पूर्ण व्यक्ति की
अभिव्यक्ति :
मरूँ मैं किन्तु मुझे घोषित यह कर जाने दो।[1]

केवल उपदेश नहीं, 'अज्ञेय' के मुक्तकों में आलोचना और विश्लेषण भी अत्यन्त गम्भीर और शिष्ट स्वरों में हुआ है। किसी विचार को अनुभूति का विषय बनाकर व्यक्त करने से वह जितना हृदयग्राही और उसका प्रभाव जितना रागात्मक हो सकता है, उतना विचार को विचार के रूप में प्रस्तुत करने से नहीं। अज्ञेय के कुछ मुक्तकों में विचार तत्त्व की प्रधानता होने पर भी वे सरस होने के कारण ग्राह्य हैं। कहीं अतिशय बौद्धिकता भी बुद्धि पर भार नहीं डालती—

क्रान्ति है आवर्त्त, होगी भूल उसको मानना धारा।
उपप्लव निज में नहीं उद्दिष्ट हो सकता हमारा।
जो नहीं उपयोज्य, वह गति शक्ति का उत्पात भर है,
स्वर्ग की हो—माँगती भागीरथी भी है किनारा।[2]

उपदेश-व्यंजना कवि 'दिनकर' के द्वन्द्व गीत के कुछ पदों में भी वर्तमान है। नरेन्द्र शर्मा के इस प्रकार के मुक्तकों में अर्थ—वाच्य, स्पष्ट और कवि का आशय प्रत्यक्ष है। उस पर कलात्मक शैली का आवरण नहीं लपेटा गया। जगदीशगुप्त के कुछ मुक्तक केवल विश्लेषण तक ही सीमित हैं। कहीं कवि स्वयं पथ-निर्देश करने के स्थान पर केवल जिज्ञासा की अभिव्यक्ति कर, प्रश्न उठाकर ही रह गया है। कवि के शब्दों में ज़िन्दगी की व्याख्या देखिये—

नाश और निर्माण के दोनों ध्रुवों के बीच,

---

१. हरी घास पर क्षण भर—अज्ञेय, पृ० ६१
२. वही, पृ० ४७

सारी जिन्दगी तिरती
जागरण में, स्वप्न में, सुख दुख संजोये—
ठीक पुतली की तरह फिरती
चिर शयन बन,
शीश पर जब मृत्यु आ घिरती,
फिर नहीं फिरती, नहीं तिरती।[1]

जगदीशगुप्त में कवि और चित्रकार की प्रतिभाओं का संगम है, अतः कवि ने जो कविता में लिखा है, उसे चित्रों में भी बाँधा है। प्रत्येक कविता के उपरान्त कविता के आशय का व्यंजक एक चित्र अंकित है। ये चित्र अधिकतर रेखाचित्र हैं जिनमें आधुनिक कविता की भाँति बाह्य रूप-आकार पर बल न देकर प्रभाव-साम्य या प्रभाव-व्यंजना पर बल दिया गया है। ये रेखाएँ स्थूल नहीं व्यंजनाप्रधान (Suggestive) हैं। यह विशेषता वर्तमान युग के समस्त कलात्मक प्रयत्नों की मूल है। वैसे कवि ने चित्रों का उपयोग कविता में अस्पष्ट भाव या विचारों के स्पष्टीकरण के लिए नहीं किया, क्योंकि उनकी कविता में इस प्रकार का उलझाव है ही नहीं।

बौद्धिक मुक्तकों की एक शैली जिसका मूल पुरातन और परम्परागत तथा रूप नवीन है—सूक्ति-शैली है। कुछ कविताएँ यद्यपि इस प्रकार की विज्ञप्ति देकर नहीं लिखी गई, परन्तु उनका अन्तर्भाव काव्य-गुण की दृष्टि से इसी विधा के अन्तर्गत किया जायगा। परन्तु कुछ मुक्तकों के सम्बन्ध में कवियों ने स्वयं स्वीकृति की है। भारतभूषण अग्रवाल की एक 'सूक्ति' इस प्रकार है—

रेत का महल
कोरी कल्पना है।
इसीलिए,
कोरी कल्पना की कला
रेत का महल है।

इन सूक्तियों में चमत्कार भावना का नहीं तर्क का है। 'दिनकर' के 'नए सुभाषित' भी इसी प्रकार के हैं। छन्द-प्रयोग, लय, संगीत अथवा अनुभूति का चमत्कार इन सूक्तियों में विलक्षण नहीं, इनकी नए ढंग की अप्रस्तुत-योजना ही, जो भाव-प्रेरित नहीं तर्कपुष्ट है, इनकी विशेषता है।

अभिव्यंजना शैली

मुक्तक के विभिन्न प्रकारों के समान ही उनमें प्रयुक्त शैली के भी विविध रूप मिलते हैं। परन्तु रूप, शैली, छन्द-विधान आदि का जितना वैविध्य और नवीनता निबद्ध-मुक्तकों में मिलती है उतनी स्फुट-मुक्तकों में नहीं। काव्य-विषय और रूप की भाँति अधिकांश मुक्तकों की

---

१. नाव के पाँव—जगदीशगुप्त, पृ० ८

रचना-कला भी रूढ़ है। विषय और रूप के भेद से इनकी शैली के भी अनेक भेद हो गए हैं, जिनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(१) **इतिवृत्तात्मक शैली**—मुक्तक काव्य का अधिकांश द्विवेदी-युग में और इसी शैली में लिखा गया। कारण, इस युग के कवियों का वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण आत्म की अवहेलना और नैतिक उपदेश देने की प्रवृत्ति है। उपदेश भी ये कवि बाह्य आचार-व्यवहार से सम्बद्ध विषयों पर देते रहे, आन्तरिक भाव-सम्बन्धी विषयों पर नहीं, इसलिए विश्लेषण और व्यंजना को बहुत स्थान नहीं मिला। भाषा की अनिश्चित स्थिति भी इस शैली के प्रचुर प्रयोग का एक कारण थी। कला-साधना की अपेक्षा भाषा-साधना में कवि अधिक संलग्न रहे, परिणामतः खड़ीबोली के प्रयोग में अपटु कवि प्रायः गद्यवत् उपदेश मात्र देकर सन्तुष्ट हो जाते थे। बाह्य जीवन में सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक सभी दृष्टियों से कुछ इस प्रकार की अव्यवस्था व्याप्त थी कि उनसे विमुख होकर आत्मसंस्कार आत्मविश्लेषण और आत्माभिव्यक्ति का प्रयत्न कवियों के लिए सम्भव न था, अतः उनका दृष्टिकोण सर्वथा वस्तुनिष्ठ हो गया। जिन मुक्तकों का विषय और भाषा (ब्रज) परम्परागत है उनमें अपेक्षाकृत अधिक भावतन्मयता और सरसता मिलती है। तुलनात्मक दृष्टि से खड़ीबोली के मुक्तक नीरस, व शैली चमत्कार-शून्य एवं गद्यात्मक है। इतिवृत्तात्मक शैली का प्रयोग मुख्य रूप से दो प्रकार के मुक्तकों में हुआ है—(१) वे मुक्तक जिनमें वस्तु-वर्णन प्रधान है तथा (२) वे रचनाएँ जिनमें नैतिक विषयों से सम्बद्ध उपदेश-कथन और आलोचना की गई है।

वस्तुवर्णनात्मक मुक्तकों में विषय की रूपाकारगत विशेषताओं को ही शब्दों में उतारा गया, उनके द्वारा द्रष्टा के मन पर पड़े प्रभाव या दूसरे शब्दों में विषय के प्रति कवि की आन्तरिक प्रतिक्रिया का विश्लेषण और वर्णन नहीं किया गया। यह विशेषता रूप, प्रकृति, समाज आदि से सम्बद्ध सभी वर्णनों में प्राप्त है। इन वर्णनों में विषय का रूप तो स्थूल चित्र के समान सम्मुख उपस्थित हो जाता है, परन्तु उसकी सूक्ष्म विशेषताएँ, अमूर्त भावनाएँ, गति और व्यापार आदि मन पर अंकित नहीं होते। इनमें विषय का स्थूल बाह्य रूप सामने आ जाता है, परन्तु रंग और नियत रेखाएँ स्पष्ट नहीं होतीं। केवल वस्तु-वर्णन ही नहीं द्विवेदी-युग की मुक्तक रचनाओं में कहीं-कहीं भाव-वर्णन और विचार-प्रतिपादन भी इसी शैली में किया गया है। वर्णनात्मक मुक्तकों के प्रसंग में पीछे दिये गए उदाहरणों में यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। छायावाद और परवर्ती कविता में, वस्तु-वर्णन की इस पद्धति में अन्तर आ गया। बाह्य रूप की अपेक्षा प्रभाव-व्यंजना पर अधिक बल दिया गया। कवियों की दृष्टि अन्तर्मुखी हो गई, अतः वस्तु-वर्णन में भी मानव-भावनाओं का आरोप किया जाने लगा, किन्तु इस प्रकार की रचनाओं का माध्यम भी बदलकर मुक्तक से प्रगीत हो गया। अभिव्यंजना के उपकरणों—भाषा, अलंकार, छन्द और शैली के साथ रूप-विधाएँ भी बदल गईं।

इतिवृत्तात्मक वर्णन-शैली, और रीतिकालीन चमत्कारप्रधान अभिव्यंजना, दोनों का ही छायावादी कविता में अभाव हो गया। पिछले खेवे के कवियों ने जहाँ मुक्तक-रचना की भी है, वहाँ भी उनकी शैली पूर्ववर्ती वर्णन-शैली से भिन्न है। उन्होंने चित्र आँके तो उनमें रंग भी भरे और गति व ध्वनि को भी शब्दों में बाँधा ('मधुशाला' के उदाहरणों में पहले स्पष्ट किया जा चुका

है) तथा वर्णन की अपेक्षा प्रभाव-व्यंजना पर बल दिया। इतिवृत्तात्मक शैली द्विवेदी-युग के मुक्तकों की विशेषता है, परवर्ती काव्य में यह शैली अलभ्य नहीं तो अल्प अवश्य हो गई। वस्तु-वर्णन के लिए तो इस शैली का प्रयोग प्रत्यक्ष रूप से किया ही गया, परन्तु भाव और विचार का भी इन्होंने वर्णन ही किया है, व्यंजना या विश्लेषण नहीं। भाव-वर्णन या तो विनयपरक पद-रचना में किया गया अथवा देश व समाज के प्रति व्यक्ति के कर्त्तव्य के आत्मसंकल्पात्मक-वर्णन के रूप में, अथवा देश और समाज की दुर्दशा का वर्णन कर देश के प्रति कर्त्तव्य-व्यंजना की गई। ईश्वर से विनय-निवेदन करते हुए संसार की असारता, कष्टों आदि का वर्णन है। अपने संकल्पों का वर्णन भी कवि प्रायः अत्यन्त अभिधात्मक और गद्यवत् शैली में करता है—

हे जन्मभूमि जननी ! मैं तुझको आदरूंगा।
निज बाहुबल से तेरे संकट सभी हरूंगा॥
निज बुद्धि वाक्य बल से साहित्य घर भरूंगा।
सम्पत्ति अपनी सारी चरणों पै ले धरूंगा॥
तन-मन वचन से धन से सेवा तेरी करूंगा।
तेरे लिए जिऊंगा तेरे लिए मरूंगा।[1]

यह अभिव्यक्ति मार्मिक स्थलों में भी कहीं-कहीं अत्यन्त साधारण है। देशोद्धार के लिए ईश्वर से की गई विनय में भाव-वर्णन की अपेक्षा देश की दयनीय अवस्था का वर्णन अधिक किया जाता है—

नाथ, कहां तुमने बिलंब लगाया ?
कोई आता नहीं, कोई नाता नहीं,
दुख जाता नहीं है दिखाया।
जिन्हें सब सिर झुकाते थे, वही अब सिर झुकाते हैं,
जिन्हें सब आर्य कहते थे, वही काले कहाते हैं।[2]

ये कवि बाह्य जीवन की अव्यवस्था से क्षुब्ध होते हैं। नैतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक सुधारों की आकांक्षा करते हैं, अतः आचार और कर्त्तव्य-सम्बन्धी उपदेश भी देते हैं, परन्तु ये उपदेश परोक्ष रूप में या वक्रतापूर्ण व चमत्कारयुक्त शैली में कलात्मक ढंग से नहीं, प्रत्यक्ष इतिवृत्तप्रधान अभिधात्मक शैली में व्यक्त हुए हैं। इनका प्रथम उद्देश्य है उपदेश देना, और काव्य-रचना उसका साधन-मात्र है, कलात्मक सिद्धि इनका साध्य नहीं। परिणामतः इनकी दृष्टि जितनी उपदेश के प्रत्यक्ष-कथन पर केन्द्रित है, उतनी कलात्मक काव्य-रचना पर नहीं। स्वयं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के अधिकांश उपदेशात्मक मुक्तक इसी शैली में लिखे गए। 'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार', 'ग्रन्थकार-लक्षण' 'कर्त्तव्य-पंचादशी' आदि शीर्षकों में इसी प्रकार का उपदेश-कथन है—

---

१. नवीन बीन—ला० भगवानदीन, पृ० १२६
२. पराग—रूपनारायण पांडेय, पृष्ठ ४०

विद्वज्जन जहाँ परकीय भाषा,
होती तिरस्कृत जहाँ निज मातृ-भाषा !
ऐसी अनर्थकार-रीति भला जहाँ है,
कर्त्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?[1]

इस प्रकार द्विवेदी-युग के अधिकांश वर्णनात्मक, कथात्मक,कहीं-कहीं भावात्मक और उपदेशात्मक व आलोचनात्मक मुक्तकों की शैली यही है। यह इतिवृत्त मुक्तक-रचना की प्रवृत्ति केवल द्विवेदी-युग की कविता तक ही सीमित रही हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। छायावादी काव्य का दृष्टिकोण आत्मसापेक्ष होने के कारण उसमें तो नहीं, परन्तु नयी कविता में कुछ भिन्न ढंग से इस प्रवृत्ति का पुनः आवर्त्तन हुआ। हाँ, इन कवियों की शैली सर्वथा अभिधाश्रित नहीं है। प्रभाकर माचवे का मुक्तक 'छलना' इस कथन की पुष्टि में उद्धृत किया जाता है—

हेमन्ती सन्ध्या है, सूरज जल्दी ही डूबा जाता है–
मन भी आज अकारज चिर-प्रवास से क्यों ऊबा जाता है ?
फसल कट गई, कहीं गड़रिया बचे-खुचे पशु हाँक रहा है,
सांध्य क्षितिज पर कोई अंजन-म्लान-गूढ़ छवि आंक रहा है।
बचे-खुचे पंछी भी लौटे, घर का मोह अजब बलमय है,
मानव से प्रकृति की छलना, प्रकृति से मानव छलमय है।[2]

इस शैली की प्रमुख विशेषताएँ हैं--वस्तु-तत्त्व की प्रधानता, गद्यात्मकता, अभिधात्मकता और स्पष्टता। स्वाभाविक है इन मुक्तकों में छन्दोबद्धता के कारण नियतलयता तो प्राप्त है किन्तु वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण और इतिवृत्तात्मकता के कारण आन्तरिक और बाह्य संगीत की योजना नहीं। इनकी शैली में प्रसादमयता तो है, माधुर्य का लालित्य नहीं। कहीं-कहीं आलोचना में उत्तेजना के कारण भाव-प्रेरित ओज आ गया है, परन्तु कला को उसका श्रेय नहीं दिया जा सकता। वह ओज और दीप्ति आक्रोश की है, परुषा वृत्ति की नहीं। सामान्यतः इस शैली में सघनता, महाप्राणता और गरिमा का अभाव है, हाँ स्फीतता, प्रसादत्व अवश्य मिल जाता है। छायावादोत्तर रचनाओं में अपेक्षाकृत लालित्य और मृदुता प्राप्त होती है। इसी प्रकार वियोगी हरि की 'वीर सतसई' में कुछ ओज-दीप्त वर्णन भी मिल जाते हैं।

(२) **प्रगीतात्मक शैली**—मुक्तक-रचना की दूसरी शैली भावप्रवण मुक्तकों में प्रयुक्त प्रगीतात्मक शैली है, परन्तु इस प्रकार की मुक्तक-रचना परिमाण की दृष्टि से इस युग में बहुत नहीं हुई। इसका एक निश्चित कारण था। कवि समुदाय भावप्रवण प्रगीतात्मक मुक्तकों की रचना दो स्थितियों में करता रहा है—(१) भगवद्भक्ति के प्रसंग में—आत्मविभोर होकर आराध्य के प्रति आत्म-निवेदन, और लीला के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया और तन्मयता की अभिव्यक्ति के लिए तथा (२) व्यक्तिगत प्रेम, विरह, उपालम्भ आदि की अभिव्यक्ति के लिए। पहले प्रकार की रचनाएँ इस युग की परिस्थितियाँ भिन्न हो जाने के कारण अधिक पनप न

---

१. द्विवेदी काव्यमाला—संग्रहकर्ता देवीदत्त शुक्ल, पृष्ठ ४१*

२. तारसप्तक (प्रथम)–प्रभाकर माचवे, पृ० ५७

सकीं। भौतिक और ऐहिक मूल्यों व समस्याओं की प्रमुखता के इस बौद्धिक और चिन्तनप्रधान युग में धर्म के प्रति अन्धविश्वास अतः आत्मविभोरता नहीं रही। आत्मविस्मृति और आत्म-निलय के अभाव में इष्ट के प्रति हृदयोद्गारों का अन्तःस्फूर्त उच्छलन सहज सम्भव न था। द्विवेदी-युग तक तो इष्ट के प्रति आत्मनिवेदन के लिए इस प्रकार के विनय-पदों की रचना कुछ दूर तक होती रही। कवि प्रसाद ने भी इस शैली में कुछ पदों की रचना की है। परन्तु उनके पश्चात् चिन्तन की विश्वव्यापी प्रवृत्ति धर्म पर भी कुछ इस प्रकार व्याप्त हो गई कि धार्मिक विश्वास, आस्थाएँ, दर्शन-विवेचन, विश्लेषण का विषय बन गए। उनके प्रति अगाध विश्वास और राग की अपेक्षा मन की जिज्ञासा और बुद्धि द्वारा अन्वेषण मुक्तकों में व्यक्त हुआ। वस्तुतः ऐसे विषयों पर मुक्तक लिखे ही नहीं गए, लम्बी कविताओं की रचना अधिक हुई। कवि 'शंकर', 'पूर्ण' तथा प्रसाद की आरम्भिक रचनाओं में विनय के कुछ सुन्दर आत्मनिवेदनात्मक पद प्राप्य हैं। कवि प्रसाद ने और राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने गोपियों के प्रेम और विरह-वर्णन के लिए कतिपय सुन्दर पदों की रचना की है जिनमें मार्मिकता, उपालम्भ, व्यंग्य-वक्रता सभी कुछ हैं। कहीं-कहीं इनमें रीतिमुक्त धारा के कवियों की सी अन्तःस्फूर्ति एवं भावदीप्ति भी वर्त्तमान है। विरहिणी नायिका की प्रेमविह्वलता निम्नांकित सवैये में देखिये :

सखियान की सीख लगे बिख-सी बसुरी धुनि कान पगे सो पगे,
मति बौरि भई है अचेत दशा तनमैम के ज्वाल जगे सो जगे।
रंग त्यागि सबै दृग 'पूरन' ये घनश्याम के रंग रंगे सो रंगे,
अँखियाँ पल एक न रैन लगैं, ब्रजचन्द सों नैन लगे सो लगे।[1]

प्रसाद ने गोपियों का प्रेम-वर्णन उपालम्भ-मिश्रित वक्रता से किया है। इनका स्वर सूर-दास आदि भक्त कवियों से भिन्न नहीं। अन्तर केवल इतना है कि उन्होंने गेय पदों की रचना अधिक की, और इस युग के कवियों ने कवित्त-सवैया शैली को अपनाया। उपालम्भ-शैली में जो मुक्तक लिखे गए, उनमें व्यंजना, वक्रता और चमत्कार सभी कुछ है। इनकी भाषा भी ब्रज है—

भई ढीठ फिरें चल चंचल-सी,
यह रीति नहीं इनकी है नई॥
नई देखि मनोहरता कतहूँ,
थिरता इनमें नहीं पाई गई॥
गई लाज सरूप-सुधा चखि के,
इनकी न तबों कुटिलाई गई॥
गईं खोजत ठौर-ही-ठौर तुम्हें,
अँखियाँ अब तो हरजाई भईं॥[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में परम्परागत भाषा और शैली में रूपक, अनुप्रास, विशेषोक्ति आदि के सहारे उपालम्भ-जन्य भाव-वक्रता के परिणामस्वरूप वचन-वक्रता उत्पन्न हो गई है। इस शैली

---

१. पूर्ण संग्रह—राय देवीप्रसाद पूर्ण, पृ० २६०
२. चित्राधार—प्रसाद, पृ० १८३

में चमत्कार और वक्रता परम्परागत ढंग की है, परन्तु ऊहात्मक नहीं, भावप्रेरित। इस पर भक्त कवियों की पद शैली की भाव-समृद्धि, और कथन-भंगिमा पर रीतिमुक्त कवियों की कवित्त-सवैया शैली की विदग्धता का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है, अतः मौलिकता की दृष्टि से इनकी सिद्धि विशेष नहीं। इनका सम्बन्ध पूर्व-परम्परा की किसी न किसी कड़ी से जोड़ा जा सकता है।

दूसरे प्रकार—अर्थात् व्यक्तिगत राग-विराग की अभिव्यक्ति के लिए द्विवेदी-युग में अवकाश ही नहीं था और परवर्ती कवियों ने निबद्ध गीतियों को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। रम्याद्भुत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए छायावाद और उत्तरकालीन कवियों ने मुक्तक का आश्रय नहीं लिया। कुछ गिने-चुने प्रयोग 'बच्चन' आदि स्वच्छन्द प्रेमधारा के तथा नए कवियों की रचनाओं में बिखरे हैं, परन्तु इन मुक्तकों में विशेष शैलीगत चारुत्व नहीं मिलता। वस्तुतः मुक्तकों में जहाँ अनुभूति व्यक्त होती है वहाँ उसकी एक झलक मात्र मिलती है विशेष तन्मयता की स्थिति से पूर्व ही क्षणिक भावोद्वेग का परिशमन हो जाता है। इसी कारण आत्म-निरूपिणी भावाभिव्यक्ति का माध्यम मुक्तक न होकर इस युग की कविता में प्रगीत ही रहे हैं। इस शैली में फिर भी जो कुछ विरल रचनाएँ हुईं उनमें अनुभूति की सत्यता, सघनता, अतः शैली में द्रवणशीलता और माधुर्य विद्यमान है। एक उदाहरण देखिये—

छलक कर आई न पलकों पर विगत पहचान
मुसकरा पाया न ओठों पर प्रणय का गान
ज्यों जुड़ी आँखें मुड़ीं तुम, चल पड़ा मैं मूक
इस मिलन से और भी पीड़ित हुए ये प्राण।[1]

इतिवृत्त-वर्णन की भाँति आत्मनिरूपक मुक्तक-रचना में कवि की दृष्टि विषय के बाह्य रूप पर ही केन्द्रित नहीं रहती। उसका आत्म या तो द्रवित होकर बह जाना चाहता है, अथवा वह बाह्य तत्त्वों पर अपनी मनसा का आरोप कर देता है। इष्ट या प्रिय के प्रति आत्मनिवेदन करने की स्थिति में भी उसे अपने अन्तःकरण को टटोलना पड़ता है। यदि वह भक्त के रूप में सामान्य जीवमात्र का प्रतिनिधित्व भी करता है, तब भी आत्मानुभूति के अभाव में वह उपदेश दे सकता है, दार्शनिक विषयों का विवेचन कर सकता है, विनय और आत्मनिवेदन नहीं कर सकता। अतः अन्तर्मुखी दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण भावात्मक मुक्तकों की शैली में माधुर्य, अन्तः-स्फूर्त अभिव्यक्ति और भावों की सघनता के कारण समृद्धि और घनत्व मिलता है। इस शैली में उपालम्भ, विरह-निवेदन आदि के स्थलों पर वाग्वैदग्ध्य, वचन-वक्रता, तथा सर्वत्र प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति न करने के कारण कहीं-कहीं लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार भी आ गया है।

(३) **चमत्कार-प्रधान अभिव्यंजना-शैली**—आधुनिक काल के मुक्तकों की तीसरी शैली चमत्कार-प्रधान अभिव्यंजना-शैली है। चमत्कार-नियोजना इन कवियों ने अनेक रूपों में की है। कहीं यह चमत्कार उक्ति का है और कहीं अलंकार का। अलंकारों का सहज स्वाभाविक प्रयोग इतिवृत्तात्मक मुक्तकों के अतिरिक्त अन्य सभी मुक्तकों में हुआ किन्तु कुछ मुक्तकों में अलंकार-जन्य चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार के मुक्तक भी अनुपात की

---

१. तारसप्तक (प्रथम) भारतभूषण अग्रवाल, पृ० ३७

दृष्टि से अन्य मुक्तकों की अपेक्षा कम लिखे गए। क्योंकि द्विवेदी-युग के कवि काव्य-कला की नहीं, काव्य-भाषा और उद्देश्य की साधना में लगे रहे, और छायावादी काव्य की रम्याद्भुत रोमानी कला में भी कलात्मक चमत्कार कवि का साध्य नहीं बना। इसके अतिरिक्त उस काव्य की कला स्निग्ध, मृदु-ललित, रेशमी कला है, उसमें चमक, चकाचौंध, और तड़क-भड़क नहीं है। उसमें चौंका देने वाला चमत्कार नहीं, रम्यता मिलती है। हम चमत्कृत होने की अपेक्षा उस पर मुग्ध होकर तन्मयता की अनुभूति करते हैं। इनकी कला का चमत्कार भी भावप्रेरित चमत्कार है, बाह्य प्रसाधनों से जुटाया हुआ चमत्कार नहीं।

जैसा पहले भी कहा जा चुका है, मुक्तकों में यह वैचित्र्य-साधना दो रूपों में की गई—उक्ति-वैचित्र्य के रूप में और अलंकार-वैचित्र्य के रूप में। उक्ति-वैचित्र्य प्रधान मुक्तकों के उत्कृष्ट उदाहरण अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध की रचना 'चोखे चौपदे' में मिलते हैं—

लालसा है रस बरसती ही रहे
पर तुम्हारी आँख रिस से लाल है।
यह चमेली है खिलाना आग में
यह हथेली पर जमाना बाल है ॥[1]

ला० भगवानदीन ने भी इसी शैली में कुछ वर्णन किए हैं जिनका उल्लेख और उद्धरण पीछे किया जा चुका है। मेंहदी, आँख आदि विषयों पर रचित मुक्तक इसी शैली के हैं। इनकी रचनाओं के विषय विविध, भाषा मुहावरेदार और शैली प्रभावात्मक है। इन मुक्तकों में उक्ति की स्पष्टता के कारण तीव्रता और प्रभावात्मकता है, अलंकारों की बोझिलता या वैचित्र्य के कारण नहीं। इस शैली पर उर्दू-कविता की जिंदादिली और प्रत्यक्ष कथनात्मकता का गहरा प्रभाव है। आँख के आँसू पर लिखा इस प्रकार का एक उदाहरण देखिये—

किस तरह वह कलेजा है बना,
जो किसी के रंज से हिलता नहीं।
आँख से आँसू छना तो क्या छना,
दर्द का जिसमें पता मिलता नहीं।
वह कलेजा हो कई टुकड़े अभी
नाम सुनकर जो पिघल जाता नहीं।
फूट जाए आँख वह जिसमें कभी,
प्रेम का आँसू उमड़ आता नहीं ॥[2]

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने उक्तिचमत्कार-युक्त ब्रजभाषा के सवैयों की रचना की है। एक अन्य शैली जो उक्तिवैचित्र्य-पूर्ण परन्तु कोरी चमत्कारवादी और रसविहीन है, खुसरो के अनुकरण पर रचित पहेलियों की शैली है। इनकी रचना मुख्य रूप से रामचरित उपाध्याय ने की, परन्तु इन पहेलियों में भावप्रेरित कलात्मक सौन्दर्य नहीं मिलता।

---

१. चोखे-चौपदे—हरिऔध—'केसर की क्यारी', पृ० ५६
२. पद्य-प्रमोद—हरिऔध, पृ० १४८

चमत्कारप्रधान मुक्तकों का दूसरा प्रयोग अलंकृत मुक्तक-रचना के रूप में मिलता है। अलंकारों का चमत्कृत प्रयोग यत्र-तत्र सभी कवियों ने किया है। 'हरिऔध', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', नाथूराम शर्मा 'शंकर' आदि सभी कवियों ने, विशेष रूप से वर्णनात्मक कविता में अलंकारों का यह चमत्कार दिखाया है। इन वर्णनों में भाव-प्रेरित सौन्दर्य कम, और कलागत चमत्कार अधिक है। इस प्रकार के प्रयोग शब्द और अर्थ दोनों से सम्बद्ध अलंकारों में किये गए। संदेहालंकार के आश्रित चन्द्रमा के बिम्बार्द्ध का वर्णन देखिये—

कै, कोऊ मात्रा, व्याकरनिन की अति प्यारी।
किधौं, शेष-फन, एक, धरातल-ऊपर आयो।
कै, कोऊ मुनिवर को चमकत, भाल सुहायो।
कै, शिशुमार चक्र की बीसत धुरी, अधूरी।[1]

उपर्युक्त अप्रस्तुत-विधान में कवि की सूझ की प्रशंसा मौलिकता की दृष्टि से भले ही कर दी जाय, किन्तु इस प्रकार की अप्रस्तुत-योजना भाव-प्रेरित कदापि नहीं स्वीकार की जा सकती। वियोगी हरि की 'वीर सतसई' में अलंकृत शैली आद्यन्त वर्तमान है। विभिन्न विषयों पर लिखे गए दोहे जैसे छोटे छन्द में केवल अर्थ-गर्भत्व और समास-गुण ही नहीं, चमत्कार भी है। यह चमत्कार-सृष्टि शब्दालंकार-साधना के द्वारा भी की गई। ला० भगवानदीन द्वारा 'जीवन संग्राम' के निम्नांकित वर्णन में श्लेषालंकार की त्रैअर्थक साधना द्रष्टव्य है—

मिलन को आवें धाय धाय रसवती बहु,
उठतीं तरंगें मकरध्वज को ग्राम है।
अमृत कलस कहुँ, अनल अपार कहुँ,
हय, गय, रतन की छटा अभिराम है।
गायन को शब्द कहुँ, रुदन को शोर अति,
कोऊ झष मोर कोऊ करत विराम है।
ससुर को धाम अभिराम कैधौं पारावार,
कैधौं जग जीवन, कै विकट संग्राम है।[2]

उपर्युक्त कवित्त में ससुराल, समुद्र, जीवन और संग्राम, तीनों पक्षों में घटित अर्थ की योजना है। सर्वत्र यह चमत्कार केवल शब्द या अलंकार-आश्रित नहीं, कभी-कभी भाव-प्रेरित चमत्कार के कारण अभिव्यंजना में अलंकाराश्रित चमत्कार उत्पन्न हो गया है, अतः ऐसे मुक्तकों में भाव-प्रेरित उक्ति-वैचित्र्य के साथ अलंकारजन्य चमत्कार का अद्भुत समागम हुआ। नायिका राधा के सौन्दर्य और चन्द्रमा में पारस्परिक 'होड़' का कवि के शब्दों में रूपान्तरण देखिये—

उत बाहन हैं इत नैन मृगा उत चाँदनी ह्यां तन तेज कनी,
उत कोस सुधा को सराहों इते बतरान है मंजु पियूष सनी।

---

१. सरस्वती—१९०५ रायकृष्णदास, पृ० १६०
२. नवीन बीन—ला० भगवानदीन, पृ० ८७

उत पूरन षोड़स पेखी कला इत सोरा सिंगार की सोभ बनी,
वृषभानु की नंदिनी नागरि की अरु चंद की होड़ ठनी सी ठनी।[1]

राधा के अतिशय सौन्दर्य का वर्णन कवि स्पष्ट शब्दों में न कर, उसे चन्द्रमा से प्रतिस्पर्धा का रूप देकर व्यंग्य बना डालता है। भाव-प्रेरित उक्ति-वैचित्र्य और अलंकाराश्रित चमत्कार-योजना में अन्तर यही है कि एक का साध्य भाव-वक्रता होती है, उसी से बाह्य अभिव्यंजना में चमत्कार उत्पन्न हो जाता है, और दूसरी में कलात्मक अथवा अभिव्यंजनागत चमत्कार ही कवि का साध्य होता है। इसी प्रकार की चमत्कारप्रधान अभिव्यंजना शैली में द्विवेदी-युग को समस्यापूर्तियाँ आ जाती हैं। समस्यापूर्ति की रचना भाव-प्रेरित व सहज नहीं होती। ऐसी मुक्तक रचना वस्तुतः कवि की कला-सिद्धि की कसौटी है। कवि विषय-चयन आत्माभिव्यक्ति की लालसा अथवा अन्तःप्रेरणा से नहीं करता। विषय उसे अनायास दे दिया जाता है तथा अपनी प्रतिभा और लेखनी के कौशल के अनुकूल कवि सम्पूर्ण छन्द की रचना यथासंभव उद्योग से करता है। जो कवि बाह्य कला की दृष्टि से जितनी अधिक सिद्धि कर पाता है उतनी ही उत्कृष्ट उसकी मुक्तक-रचना स्वीकार की जाती है, और यह उत्कृष्टता कलागत होती है भावगत नहीं। संयोगवश जहाँ विषय कवि की अभिरुचि के अनुकूल प्राप्त हो जाता है वहाँ अवश्य अभिव्यक्ति के चमत्कार के साथ भाव-सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है, परन्तु समस्यापूर्तियों का साध्य शैलीगत चमत्कार है, अन्य सिद्धियाँ प्रासंगिक रूप में हो सकती हैं। यथासंभव चमत्कृति-योजना मौलिकता के साथ करने का प्रयत्न भी कवि करता है। समस्यापूर्ति का चमत्कार इसी में नहीं है कि वह कैसे की गई, बल्कि इसमें भी है कि कितने नए ढंग से की गई। अतः मौलिकता की आकांक्षा, शब्द और अर्थ दोनों से सम्बद्ध चमत्कार-साधना की ओर रचयिता को प्रेरित करती है। 'बरसात में' विषय पर अनुप्रास-छटा से झंकृत कवि 'शंकर' की निम्नांकित समस्यापूर्ति उक्त कथन की पुष्टि करेगी—

उमड़ि-घुमड़ि घहरात घने घन घिर-घिर आये,
छोड़त छिति पर छवि छटान छिन-छिन छवि छाये।
और धूसर धूम धार सम श्याम सुहाये,
झंझा झोकन झूमि झूमि झुकि-झुकि झर लाये।
अब ताप न आतप में रह्यो पावक बहत न बात में,
सब जगतीतल सीतल भयो शंकर या बरसात में।[2]

(४) चौथी शैली जिसे विचारात्मक या विश्लेषणात्मक शैली कहा जा सकता है विचार या उपदेश-प्रधान मुक्तकों में उपलब्ध होती है। इस प्रसंग में एक बात स्पष्ट कर देनी संभवतः अनुचित न होगी। पहले हम कह आए हैं कि द्विवेदी-युग की अधिकांश नैतिक-उपदेशात्मक कविता इतिवृत्त-वर्णनात्मक शैली में लिखी गई, अतः पुनः विचारात्मक कविता की शैली का पृथक् उल्लेख इसलिए किया जा रहा है कि इस प्रकार की समस्त कविता में इतिवृत्त-वर्णन की

---

१. पूर्ण संग्रह—राय देवीप्रसाद पूर्ण, पृ० १७१-७२
२. शंकर सर्वस्व—स० हरिशंकर शर्मा, पृ० ३५६

प्रवृत्ति का प्राधान्य नहीं रहा। जहाँ एक ओर वर्तमान या विगत समस्याओं का यथातथ्य चित्रण और अपने मन्तव्य का उपदेश सीधी तथ्यात्मक, प्रसादमय और अभिधाश्रित शैली में किया गया, वहाँ दूसरी ओर व्यंग और वक्रता के आवरण में और अन्यत्र विश्लेषण द्वारा कवियों ने अपने विचारों का वाच्य से व्यंग्य बनाने का प्रयास किया। इस प्रकार इतिवृत्त शैली के अतिरिक्त विचारप्रधान कविता की दो अन्य शैलियाँ प्रचलित हुईं—व्यंग्यात्मक शैली और विश्लेषणात्मक शैली। कवि जब अपने उपदेश का प्रभाव अधिक स्थायी और तीक्ष्ण बनाना चाहता है तब व्यंग्य और वक्रोक्ति का आश्रय लेता है और जब वह अपने विचारों का स्पष्टीकरण या किसी विषय की व्याख्या प्रस्तुत करना चाहता है तब विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग करता है। व्यंग्य-प्रधान मुक्तकों में उपदेश और आलोचना इस प्रकार व्यंजित रहते हैं। व्यंग्य में जितनी सूक्ष्म व्यंजना का आश्रय लिया जाता है उतना ही वह शिष्ट होता है, परन्तु कहीं-कहीं यह आलोचना स्पष्ट और प्रखर हो गई है। 'बलीवर्द' शीर्षक में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी-द्वारा रचित निम्नांकित मुक्तक में धनी-वर्ग के प्रति व्यंग देखिये—

बलीवर्द ! तुम पशु होने से अविवेकी कहलाते हो,
मद पर भी निज उन्मदता से विजय-बड़ाई पाते हो।
साभिमान धनवान पास भी नहीं विवेक फटकता है,
अहंकार-मद में वह अपने चूर सर्वदा रहता है।[1]

विश्लेषणात्मक-शैली में मुक्तक रचना तुलनात्मक दृष्टि से कम हुई है। किसी विषय का विश्लेषण प्रायः उसको स्पष्टतर रूप में समझने और समझाने के निमित्त किया जाता है। अतः विश्लेषण में व्याख्या, और इस प्रकार विस्तार की प्रवृत्ति सहज है और विस्तार मुक्तक के सीमित कलेवर में सम्भव नहीं। फिर भी कुछ दर्शन और अध्यात्म से सम्बद्ध विषयों—ईश्वर, आत्म, जगत् आदि का स्वरूप-विश्लेषण मुक्तकों में किया गया। कहीं-कहीं समस्या-वर्णन और निवारण के लिए उपदेश देने के स्थान पर कवियों ने उनका विश्लेषण भी किया है, किन्तु कुछ ही दूर तक। सामान्यतः समस्याओं के प्रति इनका दृष्टिकोण सुधारवादी उपदेशकों का ही अधिक रहा है। आत्मविश्लेषण मुक्तकों में नहीं के बराबर ही हुआ है। स्वयं को समझने और दूसरों को समझाने के लिए मुक्तक में किया गया आत्मपरीक्षण पर्याप्त नहीं हो सकता। अतः विश्लेषणात्मक ढंग के वर्णन अधिकतर भक्त-कवियों की शैली के ढंग पर किये गए। इस प्रकार भक्ति और दर्शन से सम्बद्ध विषयों पर मुक्तक-रचना द्विवेदी-युग के अधिकांश प्रमुख कवियों ने की।

(५) मुक्तकों की एक और शैली सूक्ति और अन्योक्ति-रचना के रूप में प्राप्य है। जैसा नाम से स्पष्ट है इस शैली में रचित मुक्तकों में विशेष उच्च कोटि का कलात्मक चमत्कार और काव्यगत सौन्दर्य उपलब्ध नहीं। सूक्तियाँ अधिकतर रामचरित उपाध्याय तथा पुरोहित प्रतापनारायण ने लिखीं। पं० उपाध्याय ने तो सूक्ति और अन्योक्तियों के अनेक संग्रह रच डाले। इनमें भावाभिव्यंजना विविध विषयों पर की गई है। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने भी कुछ सुन्दर

---

१. द्विवेदी काव्यमाला—संग्रहकार देवीदत्त शुक्ल, पृ० २७५

अन्योक्तियों की रचना की है।

(६) नाम गिनाने के लिए मुक्तक-रचना की अन्तिम शैली—जिसमें कुछ इने-गिने पद्य ही रचे गए—स्तोत्र शैली है। स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी ने देवी की स्तुति में 'देवी स्तुति शतक' लिख डाला। स्तोत्र शैली में अन्य देवी-देवताओं की स्तुतियाँ अधिकांश कवियों ने लिखी हैं। संख्या में ये स्तुतियाँ बहुत नहीं हैं, तथा इनमें विशेष अभिव्यंजनागत सौन्दर्य भी उपलब्ध नहीं होता। प्रायः संस्कृत पदावली से युक्त समासबहुल भाषा में देवताओं का गुणानुवाद और उनके प्रति श्रद्धार्पण किया गया है। मुक्तक काव्य में इन स्तुतियों का महत्त्व कला की दृष्टि से उतना ही है, जितना किसी प्रबन्ध में मंगलाचरण का।

वर्णनों में चित्रमयता और सर्वांगीणता की दृष्टि से मुक्तक के संक्षिप्त आकार में अवकाश ही बहुत कम होता है। शब्दों के द्वारा जब चित्र अंकित किये जाते हैं तो सदैव एक रेखा का स्थानापन्न एक ही शब्द नहीं होता, प्रायः चित्रकला में जो प्रभाव कुछ नियत रेखाओं से व्यंजित किये जाते हैं, उनके लिए शब्दों में अधिक व्याख्या-विस्तार अपेक्षित होता है, अन्यथा लक्षक, व्यंजक शब्दावली का दूरारूढ़ प्रयोग अर्थ को दुरूह बना देता है, और तदाश्रित चित्र-व्यंजना प्रायः खंडित और अस्पष्ट होती है। शब्द के द्वारा किसी विषय का पूर्ण चित्र कल्पना के समक्ष खड़ा करने के लिए मुक्तक का संक्षिप्त आकार पर्याप्त नहीं हो सकता, उसके लिए बड़े काव्य-रूप की अपेक्षा है। विराट् चित्रों का तो प्रश्न ही नहीं उठता, विशद रूप में कोमल और मधुर चित्र भी मुक्तकों में नहीं आंके जा सकते, साथ ही गत्यात्मक वर्णनों का अवसर भी इनमें कम होता है। क्योंकि गति का अर्थ है स्थान एवं काल की दृष्टि से विषय का स्थानान्तरण और एक स्थल से दूसरे पर जाने के लिए विस्तार अतः बड़े काव्य-रूप की अपेक्षा है। चित्र अधिकतर मूर्त वर्णनों में अथवा अशरीरी विषयों को मूर्त रूप देकर ही आंके जाते हैं। विचारों, समस्याओं का विश्लेषण, भावों का अभिव्यंजन और वस्तुरूप विषयों का अंकन किया जाता है। आधुनिक काल के मुक्तककारों ने भी वर्णनात्मक प्रसंगों में सांगोपांग चित्र तो अंकित नहीं किये, किन्तु अंश-अंश के तथा मानव-रूप के प्रसंग में विशेष मुद्रा, क्रिया, अथवा भाव-भंगिमा को लघु शब्द-चित्रों में सूत्रबद्ध कर दिया है। स्वाभाविक है इस प्रकार के चित्रों में सूक्ष्म विवरण (details) लाने की गुंजाइश ही नहीं थी किन्तु स्थूल रूप से कुछ वस्तुगत विशेषताओं को शब्दों में पकड़ लिया गया है। इन मुक्तककारों को इसके लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। किसी भी विषय को उसकी समग्रता में चित्रांकित करने के लिए शब्द-विस्तार अतः बृहदाकार की अपेक्षा होती है, अतः चित्र-कला की दृष्टि से मुक्तक काव्य का अन्तरंग परीक्षण विशेष उपादेय नहीं होगा। इन कवियों ने वर्णनात्मक विषयों में जो कतिपय इने-गिने चित्र अंकित भी किए हैं, उनमें मधुरता और कोमलता तो है, विराट्ता और महाप्राणता नहीं।

अलंकरण-कला

अलंकार-योजना की दृष्टि से भी आधुनिक युग के मुक्तक काव्य में मौलिक या नवीन कहने के लिए बहुत कम मिलेगा। इस प्रवृत्ति का एक प्रमुख कारण यह था कि जिस समय तक मुक्तक विधाएँ कवियों को विशेष प्रिय रहीं, उस समय तक कला की दृष्टि से विशेष विद्रोहात्मक

प्रवृत्तियाँ तथा नूतन कलागत चेतना—अप्रस्तुत-योजना, काव्य-रूप, अभिव्यंजना आदि में नहीं मिलती, और जब से काव्य के कलागत प्रसाधनों में नवीनता आरम्भ होती है तब से परम्परागत काव्य-रूपों के प्रति भी क्रमशः ममत्व का अभाव दिखाई पड़ने लगता है। परिणामस्वरूप नूतन अलंकारों के साथ प्रगीत और उसके विभिन्न प्रकारों का प्रचलन द्विवेदी-युग के उपरान्त अधिक, और मुक्तक रचना अपेक्षाकृत विरल होती गई अतः नूतन अभिव्यंजना का जो वैविध्य और प्रसार छायावाद और परवर्ती नई कविता में मिलता है वह उससे पूर्व के काव्य में नहीं और आधुनिक युग के मुक्तक काव्य का बहुलांश द्विवेदी-युग में ही लिखा गया, अतः इस काव्य की अलंकरण-विधि भी अधिकतर रूढ़ और परम्पराभुक्त है। शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित अनेकानेक चमत्कारमूलक अलंकार-योजनाएँ इन मुक्तकों में प्राप्य हैं। इनकी समस्त अप्रस्तुत-योजना, मूर्त-विधान, साम्य व वैषम्यमूलक चमत्कार, पूर्ववर्ती साहित्य से अपना लिये गए। द्विवेदी-युग की अधिकांश नैतिक उपदेशात्मक कविता, अनलंकृत, सीधी सादी, प्रत्यक्ष और गद्यवत् नीरस व चमत्कारशून्य है। जहाँ इन्होंने उपदेश से इतर विषयों पर अपेक्षाकृत सरस कविता की है वहाँ अलंकार, छन्द, अप्रस्तुत-विधान सभी कुछ परम्परा से यथावत् अपना लिया है। छायावाद और तदनुवर्ती मुक्तकों में अवश्य अलंकार-विधान की दृष्टि से कुछ नए ढंग के प्रयत्न देखे जा सकते हैं, परन्तु इस प्रकार के प्रयत्न विरल ही कहे जायंगे। इनकी अलंकार-योजना में एक विशेषता स्पष्ट है। समय के साथ-साथ अधुनातन कवियों की सौन्दर्य-चेतना में परिवर्तन उपस्थित हुआ। नए खेवे के कवियों ने सौन्दर्य के मानदण्ड, सौन्दर्य-बोध, उसके व्यंजक प्रसाधनों और उपकरणों, सभी में अन्तर प्रस्तुत किया। किसी भी विषय के बाह्य स्वरूप के वर्णन की अपेक्षा उसके प्रति अपनी भावात्मक और विचारात्मक प्रतिक्रिया के रूपान्तरण का प्रयत्न इन कवियों का अधिक रहा। यह दृष्टिकोण समीक्षाशास्त्र की शब्दावली में विषयी-प्रधान कहा जायगा। इस विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण इनकी समस्त अभिव्यंजना प्रभावित हुई। अपनी मनसा का आरोप कर विषयों को शब्द-रूप देने के उपकरण भी बदले। अतः इनकी अप्रस्तुत-योजना में भी परिवर्तन हुआ। अन्तर्मुखी दृष्टिकोण या अन्तर्वृत्ति-निरूपण की इस प्रवृत्ति के कारण मूर्त के स्थान पर सूक्ष्म, अभिधा की अपेक्षा लक्षणा-व्यंजना, और विषयों के रूप-चित्रण की अपेक्षा प्रभाव-व्यंजना पर अधिक बल दिया जाने लगा, परन्तु स्फुट मुक्तकों में इस प्रकार के प्रयोगों की बहुलता और वैविध्य उतना नहीं मिलता जितना प्रगीत आदि संयुक्त मुक्तकों में।

एक बात और—द्विवेदी-युग के मुक्तकों में उपदेश, विचार और विश्लेषण आदि की प्रधानता के कारण अतिशय और चमत्कार-प्रधान अलंकरण की प्रवृत्ति कवियों में नहीं रही। केवल रूप-सौन्दर्य, नख-शिख और प्रकृति आदि के वर्णनों में साम्य और विरोधमूलक परम्परागत अलंकार-योजना के सहारे चमत्कार उत्पन्न किया गया। मुक्तक-प्रकारों के विवेचन के प्रसंग में दिये गए उदाहरणों में इस प्रवृत्ति के उदाहरण ढूंढ़े जा सकते हैं। छायावाद से सम्बद्ध काव्य में मुक्तक नहीं के बराबर लिखे गए। अन्यथा भी इन कवियों की दृष्टि शब्द और अर्थ के चमत्कार उत्पन्न करने की अपेक्षा भाव और अनुभूति की वक्र-व्यंजना और प्रभावशाली प्रेषणा पर अधिक टिकी रही। यह विशेषता इन्होंने वर्णनाद, सचित्र वर्णन और रूप के स्थूल वर्णनों की अपेक्षा रंग और रेखाओं के अंकन से उत्पन्न की, परन्तु मुक्तक के क्षेत्र में इनका योगदान विशेष

नहीं कहा जा सकता।

छायावादोत्तर कविता में विश्लेषण, व्यंग और आलोचना की प्रवृत्ति अधिक प्रबल हो गई। कविता राजनैतिक विचारधाराओं के पृष्ठपोषण का माध्यम, और तदुपरान्त पूर्व-नियत काव्य-रचना के सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति का साधन बनी। इस प्रवृत्ति ने उसके बाह्य और रूप-सज्जा को प्रभावित किया। प्रगतिवाद के कवि की दृष्टि काव्य-विषयों में सौन्दर्य का साक्षात्कार करने की अपेक्षा उपयोगिता की तुला पर उनका मूल्यांकन और आलोचना करने में अधिक रमी, अतः इनके वर्णनों में यथार्थ की वस्तु-रूप में स्वीकृति तथा उसे यथासंभव कल्पना के वायवी आच्छादन से अनावृत रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न रहा। इनके काव्य में चमत्कार अलंकार-योजना का नहीं, सत्य की प्रत्यक्षता और तीखेपन का था। विचारों के प्रतिपादन में भी विशेष नए ढंग की अलंकरण सामग्री का अनुसंधान करने की आवश्यकता नहीं थी। वे अपनी बात कहकर पाठक से मनवाने के, उसके समर्थन के आकांक्षी थे—अतः आवश्यकता इस बात की नहीं थी कि उसे कितने मोहक और सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया जाय, बल्कि उसे किस प्रकार अधिकाधिक प्रभावशाली बनाया जाय जिससे पाठक उस पर मुग्ध और तन्मय न होकर तिल-मिला कर सजग हो जाय। इसलिए अलंकार-योजना इनका साध्य नहीं रही। इधर नये खेवे के कवि अवश्य नये सौन्दर्य-बोध, नवीन दृष्टि, अतः नवीन अभिव्यंजना-शैली पर विशेष बल देते रहे। परन्तु इन्होंने भी अपना कौशल मुक्तक-रचना में विशेष नहीं दिखाया। अपने विचारों, अनुभव-खण्डों और तर्क और भावात्मक प्रतिक्रियाओं को उनकी समग्रता में पाठक तक हर संभव साधन से पहुँचाने का प्रयत्न करना इनका नारा था। इस प्रयत्न में कहीं इनकी अप्रस्तुत-योजना विचित्र हो जाती थी, और कहीं अलंकारों का एकान्त अभाव। इनका प्रयत्न अभिव्यंजना को सजाने-संवारने की अपेक्षा अपनी अनुभूति की अनौपचारिक प्रषणा का अधिक रहा, अतः कहीं-कहीं मात्र विश्लेषण के मध्य अनजाने, सहज भाव से कुछ अलंकार चले आये हैं। प्रभाकर माचवे का निम्नलिखित मुक्तक 'कविता क्या है' उक्त मत की पुष्टि करेगा—

कविता क्या है ? कहते हैं जीवन का दर्शन है—आलोचना,
(वह कूड़ा जो ढंक देता है बचे-खुचे पत्रों में के स्थल)।
कविता क्या है ? स्वप्न श्वास है उन्मन कोमल,
(जो न समझ में आता कवि के भी ऐसा है वह मूरखपन)।
कविता क्या है ? आदिम कवि की दृग-झारी से बरसा वारी—
(वे पंक्तियाँ जो कि गद्य हैं कहला सकती नहीं बिचारी)।[1]

इन पंक्तियों में कवि ने मुख्य रूप से उल्लेख और 'दृग झारी' में रूपक अलंकार का प्रयोग कर लिया है, परन्तु स्पष्ट है कि वे सायास या साध्य रूप में प्रयुक्त नहीं हुए। कहीं इस विषय में कवि ने और भी उपेक्षा दिखाई। वह केवल अपनी अनुभूति, अपना विचार व्यक्त करता है परन्तु बिना अलंकारों की सहायता के—

---

१. तारसप्तक—प्रथम, पृ० ५७

यहाँ मुक्ति की प्रबल चाह है उसी एक दुर्दान्त शक्ति की—
हमें न कोई पनाह अथवा शरण चाहिए अन्य भक्ति की।
यहाँ सरल अन्तर दो परस्परातुर, और चाहिए भी क्या ?
हमें न किंचित्मात्र जरूरत किसी तर्क की किसी युक्ति की।[1]

इस प्रकार इस युग के मुक्तकों की अलंकार-योजना में प्रमुख रूप से चार पद्धतियों का अवलम्ब लिया गया—(१) परम्परागत शैली का अनुसरण करते हुए अभिव्यंजना में प्रयत्न-पूर्वक चमत्कार-विधान की पूर्व-प्रचलित शैली और अप्रस्तुत-योजना का सायास अनुसरण। (२) उपदेश तथा नीति-कथन के लिए, सौन्दर्य के आभरणों से मुक्त अनलंकृत गद्यवत्, इतिवृत्त शैली में काव्य-रचना। (३) अन्तःप्रेरित भाव या विचार-चमत्कार के कारण साधन-रूप में अलंकारों का सहज प्रयोग। (४) भाव या विचार की प्रेषणा और विश्लेषण को प्रामुख्य देते हुए अलंकारों के प्रति उपेक्षा भाव।

छन्द-विधान

मुक्तक-रचना में बाह्याकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध छन्द के आकार-प्रकार से ही होता है। लम्बी कविताओं और प्रबन्ध-रचना में तो कवि को अवकाश रहता है कि वह भाव-वैविध्य के साथ छन्द में भी विविधता-पूर्ण प्रयोग कर सके, अतः किसी अंश-विशेष में यदि अन्तर और बाह्य का पूर्ण सामंजस्य घटित न भी हो तो समस्त प्रबन्ध या लम्बी कविता के कलेवर में वह अंश-विशेष उपेक्षित भी रह सकता है, परन्तु मुक्तक-रचना करते समय कवि 'नावक के तीर' का-सा लक्ष्य सम्मुख रखकर काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है, अतः उसे छन्द के चुनाव के विषय में विशेष सावधान रहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त मुक्तक का सीमित आकार कवि को कुछ दूर तक व्याख्या-प्रधान व्यस्त शैली मे अपनी बात कहने का अवसर नहीं देता, परिणामतः आवश्यकता इस बात की होती है कि वह प्रेष्य भाव या विचार-खण्ड को ऐसे छन्द के माध्यम-द्वारा अभिव्यक्त करे, कि वह समग्रता में पाठक तक पहुँच जाय। लक्षण-निरूपण की भाँति छन्द-चयन भी अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों दोषों से मुक्त होना चाहिए। इसीलिए कुछ विशेष रसों व भावों के लिए कुछ विशिष्ट छन्दों या लय-खण्डों को अन्य की अपेक्षा अधिक उचित स्वीकार किया गया है। विषय के अतिरिक्त छन्द का ग्रहण भाषा पर भी बहुत कुछ निर्भर है। कुछ विशेष छन्द, भाषा-विशेष की प्रवृत्ति के अधिक अनुकूल होते हैं, कुछ कम। अपभ्रंश से खड़ीबोली हिन्दी तक काव्य का क्रमिक विकास इस बात का साक्षी है।

आधुनिक काल में द्विवेदी-युग और उसके उपरान्त मुक्तक काव्य-रचना मुख्यतः दो भाषाओं में की गई—ब्रज और खड़ीबोली। इनमें भी मात्रा की दृष्टि से खड़ीबोली की रचनाएँ ब्रज की अपेक्षा कहीं अधिक हुईं। ब्रजभाषा में तो अधिकतर दोहा, कवित्त, सवैया का ही प्रयोग किया गया, परन्तु खड़ीबोली मुक्तक-रचना के लिए एक ओर तो परम्परा-विहित सम, विषम और मिश्र मात्रिक एवं वर्णिक छन्द प्रयोग में लाये गए, दूसरी ओर उर्दू-साहित्य के प्रभाव

---

१. तारसप्तक, पृष्ठ ५४

से कुछ उनके लयबन्धों को अपनाया गया, और कुछ नये ढंग पर अतुकान्त प्रयोग भी किये गए। स्फुट मुक्तकों के लिए मुक्त छन्द का विशेष प्रयोग इस काल के नए कवियों ने ही किया। इस छन्द का अधिक प्रयोग कुछ दूर तक निर्बाध रूप से प्रवाहित होने वाली भावधारा की अभिव्यक्ति के लिए छोटी-छोटी कविताओं में किया गया। मुक्तक—प्रयुक्त छन्द-विशेष की पंक्तियों की संख्या अथवा कवि की स्वनिर्मित इकाई से बँधा होता है। चार या कुछ अधिक पंक्तियों में आबद्ध भाव-खण्ड के लिए कवि अधिकतर किसी शास्त्रबद्ध छन्दाकार का आश्रय लेता है अथवा स्वयं किसी नवीन छन्द का निर्माण कर लेता है, परन्तु इतने छोटे आकार में प्रायः मुक्त छन्द का खिलवाड़ प्रस्तुत नहीं करता।

परम्परागत सम और विषम मात्रिक छन्दों में—रोला, दोहा, वीर, ताटंक, सार, हाकलि, सरसी, राधिका, हरिगीतिका, पद्धरि, भुजंगी आदि छन्दों का प्रयोग प्रचुर हुआ (विस्तार-भय से हम सभी के उदाहरण न देकर केवल उल्लेख कर रहे हैं)। मिश्र छन्दों में छप्पय और कुण्डलिया का, तथा आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से कुछ संस्कृत के वर्णिक छन्दों एवं अतुकान्त छन्दों का प्रयोग भी किया गया। अतुकान्त छन्द-रचना की प्रेरणा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने स्पष्ट निर्देश के रूप में कवि-वर्ग को प्रदान की।

"इस प्रकार के छन्द जब संस्कृत, अँगरेज़ी, बँगला में विद्यमान हैं तब कोई कारण नहीं कि हमारी भाषा में वे न लिखे जावें। अनुप्रासयुक्त पादान्त सुनते-सुनते हमारे कान इस प्रकार की पंक्तियों के पक्षपाती हो गए हैं। इसलिए अनुप्रासहीन रचना अच्छी नहीं लगती, बिना तुक वाली कविता के लिखने अथवा सुनने का अभ्यास होते ही वह भी अच्छी होने लगेगी इसमें कोई सन्देह नहीं।...अनुप्रासों के ढूंढ़ने का प्रयास उठाने में समर्थक शब्द न मिलने से अर्थांश की हानि हो जाया करती है जिससे कविता की चारुता नष्ट हो जाती है। अनुप्रासों का विचार न करने से कविता लिखने में सुकरता भी होती है और मनोऽभिलषित अर्थ को व्यक्त करने में विशेष कठिनाई भी नहीं पड़ती। अतएव पादान्त में अनुप्रासहीन छन्द भाषा में लिखे जाने की बड़ी आवश्यकता है।"[1] द्विवेदीजी ने इसी प्रकार अलंकार और अन्त्यानुप्रास के विरुद्ध अपनी धारणा 'हे कविते' नामक निबन्ध में व्यक्त की।[2] अतुकान्त छन्द में काव्य-रचना की प्रवृत्ति का खण्डन और मण्डन द्विवेदी-युग में ही सम्पन्न होकर काव्य में इसकी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। लोचनप्रसाद पांडेय ने इस छन्द के सम्बन्ध में १९१५ में 'इन्दु' पत्रिका के जुलाई-अगस्त अंक में एक प्रश्नावली प्रस्तुत की। जिसका उत्तर देते हुए, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मिश्रबन्धु, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकरप्रसाद आदि ने इस छन्द के समर्थन में लिखा, परिणामतः द्विवेदी-युग के समाप्त होते-होते इस छन्द को हिन्दी के सभी अग्रिम कवियों का समर्थन प्राप्त हो गया था, परन्तु अतुकान्त छन्द में काव्य-रचना १९१५ से पर्याप्त पूर्व ही आरम्भ हो चुकी थी। इतना

---

१. रसज्ञ रंजन—महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३

२. तुकान्त ही में कवितान्त है, यही
प्रमाण कोई मतिमान मानते।...
कवीश कोई यमकच्छटामयी...

अवश्य है कि अतुकान्त प्रयोग मुक्तकों की अपेक्षा संयुक्त-मुक्तक और प्रबन्धों में, और आरम्भ में मात्रिक की अपेक्षा वर्णिक छन्दों में अधिक किये गए और द्विवेदी-युग के उपरान्त तो अतुकान्त रचना अथक रूप से हर प्रकार के छन्द में होने लगी। मात्रिकों में अतुकान्त मुक्तक-रचना द्विवेदी-युग में भी (यद्यपि अत्यन्त विरल) प्राप्त हो ही जाती है—

मैं भारत सन्तान सत्य का भक्त हूँ,
न्यायनिष्ठ, कर्मिष्ठ, वीर, धर्मिष्ठ भी।
स्वावलम्ब की राह चलूँ उत्साह से।
स्वाभिमान की तान, और जातीयता,
राष्ट्र प्रेम के गीत, मुझे अच्छे लगें।[1]

उपर्युक्त क्रम में अन्य मुक्तक कवि रूपनारायण ने 'चन्द्रायण' छन्द में लिखे हैं।

वर्णिक छन्दों का प्रयोग मुक्तकों के लिए अपेक्षाकृत कम हुआ। कम से कम कोई विशेष उल्लेख योग्य नवीनता इस दृष्टि से दिखाई नहीं पड़ी। वर्णिक छन्दों के मुक्तक रूपों—कवित्त और सवैया का तो पूर्ववर्ती साहित्य पर एकछत्र आधिपत्य वर्तमान ही था। उसी परम्परा को आधुनिक युग के कुछ कवि आगे बढ़ाते रहे। माधूराम शंकर, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' आदि ने विशेष रूप से इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया। गोपालशरण सिंह ने खड़ीबोली में भी कुछ सुन्दर कवित्तों की रचना की तथा मैथिलीशरण गुप्त और स्वयं द्विवेदीजी भी इस परम्परामोह से सर्वथा अछूते न रह सके। परन्तु इस युग में इन छन्दों और दोहे आदि के प्रति अनुचित पक्षपात और अन्य छन्दों के प्रति उदासीनता के विरुद्ध कवियों में असन्तोष उत्पन्न हुआ और अनेकानेक मात्रिक छन्दों की पुनः प्रतिष्ठा के साथ मुक्तक-रचना में भी महेन्द्रवज्रा, वसन्ततिलका आदि वर्णिक छन्दों को वैविध्य के लिए अपनाया गया। 'हरिऔध' संस्कृत कविता में प्रयुक्त अतुकान्त वर्णिक वृत्तों के अनुकरण पर अतुकान्त रचना के ही पक्ष में थे और गुप्तजी अपनी रचनाओं में वर्णिक छन्दों का भी तुकान्त रूप में प्रयोग करने के पक्षपाती थे। वर्णिक छन्दों का प्रयोग मुक्तक-रचना के लिए बहुत कम हुआ। केवल कुछ चित्रों पर आधारित रूप-वर्णन वर्णिक मुक्तकों में किए गए।

मुक्तक-रचना में इन परम्परासिद्ध मात्रिक और वर्णिक छन्दों के अतिरिक्त उर्दू की बहर का प्रयोग प्रचुरता से किया गया। ला० भगवानदीन ने 'वीर पंचरत्न' की रचना बहर में ही की थी। उन्होंने प्रबन्ध रचनाओं के लिए इस छन्द को अपनाया, परन्तु यह शैली मुक्तक-रचना में भी पर्याप्त लोकप्रिय हुई। बहर वास्तव में पिंगल-शास्त्र के नियमों से आबद्ध—मात्रा व वर्ण-सम्बन्धी बन्धनों से बँधा कोई विशेष छन्द नहीं, उसका आधार केवल उसकी लय होती है। अतः हिन्दी में प्रयुक्त इस लय में मात्राओं की दृष्टि से कोई निश्चित क्रमबद्धता नहीं मिलती प्रायः मात्रा-गणना की दृष्टि से पंक्तियाँ असमान ही होती हैं। कवि 'हरिऔध' ने अपने चौपदे और छपदे उर्दू की बहर में ही लिखे हैं—

चुन सकें तो चाहिए चुन लें उन्हें।
आज तक काँटे न कम हैं बो गये।

---

१. पराग—रूपनारायण पांडेय, पृ० ४६-४७

आज भी क्यों है धड़क खुलती नहीं।
दिल धड़कते तो बहुत दिन हो गये ॥[1]

उनसे पूर्व रूपनारायण पाण्डेय भी इस लय का प्रयोग अपने काव्य में कर चुके थे :

मिलेगा फिर नहीं ताना, जो ताना-बाना अब ताना,
हम अपने चीर बाने को, न डर खा करके छोड़ेंगे।[2]

बहर के साथ कवि बच्चन ने उर्दू की रुबाइयों के ढंग पर 'मधुशाला' की रचना की। इन रुबाइयों का छन्दाधार मात्रा-गणना की दृष्टि से हिन्दी का सम मात्रिक ताटंक छन्द ही ठहरता है—पर कवि के शब्दों में उसकी रचना 'रुबाई' के ढंग पर की गई है—

मैं मदिरालय के अन्दर हूं, मेरे हाथों में प्याला,
प्याले में मदिरालय बिंबित, करने वाली है हाला,
इस उधेड़-बुन में ही मेरा सारा जीवन बीत गया—
मैं मधुशाला के अन्दर या मेरे अन्दर मधुशाला।[3]

बहर और रुबाई के अतिरिक्त 'गज़ल' का प्रयोग भी हिन्दी-कविता में प्रचुर मात्रा में किया गया—जिसका विवेचन आगामी परिच्छेद में गेय काव्य-रूपों के प्रसंग में किया जायगा।

मुक्तक काव्य की छन्द-सम्बन्धी विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार निर्धारित की जा सकता हैं—

(१) पूर्ववर्ती काव्य में प्रचलित कुछ विशेष छंदों—कवित्त, सवैया और दोहा आदि के साथ अन्य सम और विषम मात्रिक, मिश्र एवं कतिपय वर्णिक छन्दों का वैविध्यपूर्ण प्रयोग। नवीनता की उद्भावना और आविष्कार की दृष्टि से ही नहीं किन्तु प्राचीन के पुनरुद्धार की दृष्टि से विकास और वैविध्य।

(२) छन्दों के चिरप्रचलित अन्त्यानुप्रासबद्ध प्रयोगों से मुक्ति तथा वर्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के छन्दों में अतुकान्त छन्द-रचना, इस प्रकार प्रचलित में परिवर्तन या परिशोधन की दृष्टि से यह इस युग की नूतन सिद्धि कही जायगी।

(३) हिन्दी-इतर साहित्य से नियत लय-खण्डों का उदारतापूर्वक ग्रहण और प्रयोग।

(४) अँगरेज़ी साहित्य के व अन्य किसी प्रकार के उल्लेखनीय प्रभाव व मौलिक परम्परामुक्त प्रयोग का अभाव। यह नवीनता स्फुट मुक्तकों की अपेक्षा संयुक्त-मुक्तकों और विविध प्रगीत रूपों में उपलब्ध हुई जिसका विवेचन आगामी परिच्छेद में किया जायगा।

(५) नये कवियों द्वारा मुक्तक-रचना के लिए भी छोटे-छोटे मुक्त छन्दों का आविष्कार।

---

१. चुभते चौपदे—अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, पृ० ६८
२. पराग—रूपनारायण पाण्डेय, पृ० ३६
३. मधुशाला—बच्चन, पृ० ८४

छठा अध्याय
संयुक्त मुक्तक

संयुक्त मुक्तकों से संस्कृत के आचार्यों का अभिप्राय निरपेक्ष स्वतःपूर्ण स्फुट छन्द-रचना से भिन्न एकाधिक छन्दों में विरचित ऐसे मुक्तकों से था जिनमें प्रबन्ध की भाँति दूर तक कथा-निबन्धन या तारतम्य तो नहीं हो, परन्तु जो एकाधिक छन्दों में लिखे गए हों, तथा ये छन्द भावान्विति की दृष्टि से परस्पर सापेक्ष हों। यह विधा मुक्तक इसलिए स्वीकार की जाती है क्योंकि इसमें कवि प्रबन्ध की भाँति किसी स्थायी नहीं, क्षणिक अनुभूति को व्यक्त करता है। संयुक्त यह इसलिए है कि व्यक्त अनुभूति क्षणिक होते हुए भी एक से अधिक छन्दों में प्रवाहित रहती है। प्राचीन आचार्यों ने परस्पर निबद्ध छन्दों का संख्या-भेद के अनुसार नामकरण किया। इस प्रकार के संयुक्त मुक्तकों का उल्लेख 'अग्निपुराण' और तत्पश्चात् अनेक अन्य ग्रन्थों में मिलता है। इस प्रसंग में एक बात का स्पष्टीकरण कर देना अभीष्ट होगा। संयुक्त मुक्तक का सम्बन्ध एकाधिक छन्दों में विरचित काव्य-रचना से होने पर भी, परस्पर-निरपेक्ष मुक्तकों के संकलन अथवा सजातीय मुक्तकों के एक स्थान में सन्निवेश को संयुक्त मुक्तक नहीं माना जा सकता। संयुक्त मुक्तक में प्रयुक्त छन्दों की परस्पर सावलम्ब स्थिति अनिवार्य है। परस्पर निरपेक्ष श्लोक-समूह को आचार्य विश्वनाथ ने 'कोष' माना, और सजातीय छन्दों के एक स्थान में सन्निवेश को 'व्रज्या' कहा।[1] हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार के मुक्तक-संकलनों को अनेक आधारों पर विभिन्न नाम दिये गए—संख्या के आधार पर—सतसई, शतक, अष्टक आदि, तथा छन्द की विशेषता पर दोहावली, पदावली आदि। इस प्रकार के मुक्तक-संकलन की प्रवृत्ति आधुनिक हिन्दी-साहित्य में सर्वथा लुप्तप्राय नहीं तो विरल अवश्य है, तथा बन्ध की दृष्टि से ऐसे अनिबद्ध छन्दों का निर्देश स्फुट-मुक्तक के प्रसंग में किया जा चुका है।

संस्कृत काव्य-शास्त्र में संयुक्त मुक्तक नाम से जिस काव्य-विधा का विवेचन मिलता है उसमें छन्दों की सापेक्ष स्थिति अनिवार्य मानी गई है, परन्तु इनमें किसी प्रकार का कथा-विन्यास, प्रसंग-विन्यास, या वर्णन-विन्यास अपेक्षित नहीं। वे केवल कुछ दूर तक चलने वाली क्षणिक भाव या विचारधारा की अभिव्यक्ति के माध्यम-मात्र हैं।

---

१. कोषः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः ॥६॥३२६॥

तथा

सजातीयनामेकत्र संनिवेशो व्रज्या।

साहित्यदर्पण—विश्वनाथ, पृ० २२६

जैसा पहले भी संकेत किया जा चुका है, इस प्रकार के काव्य-रूपों का सर्वप्रथम उल्लेख 'अग्निपुराण' में मिलता है।[1] तदुपरान्त आचार्य दण्डी ने भी अपने 'काव्यादर्श' में इस काव्य-विधा की स्थिति का संकेत किया और उनके उपरान्त आचार्य आनन्दवर्द्धन और विश्वनाथ ने क्रमशः 'ध्वन्यालोक' व 'साहित्यदर्पण' में इनका प्रत्यक्ष वर्णन किया है।[2] आचार्य आनन्दवर्द्धन के मत की व्याख्या करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने आग्नेय पुराण के आधार पर इन विभिन्न मुक्तक-रूपों का विवेचन इस प्रकार किया—

(१) 'निबद्ध-मुक्तक—(स्वयं में परिपूर्ण स्फुट श्लोक जैसे, अमरूक शतक, गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती आदि के श्लोक)

(२) सन्दानितक (दो श्लोकों में क्रिया का अन्वय होने वाले युग्म)

(३) विशेषक (तीन श्लोकों में क्रिया समाप्त होने वाले)

(४) कलापक (चार का एक साथ अन्वय होने वाले श्लोक)

(५) कुलक (पाँच या पाँच से अधिक एक साथ अन्वित होने वाले श्लोक)[3]

ऊपर विवेचित काव्य-रूप, विशेष रूप से सन्दानितक, विशेषक, कलापक तथा कुलक आदि विचारणीय हैं। आगे चलकर साहित्यदर्पणकार ने भी इन संयुक्त मुक्तकों की स्वीकृति एवं पुनराख्यान किया है। परन्तु आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रयुक्त शब्दों में 'ध्वन्यालोक' से कुछ अन्तर है। जैसा पीछे दिये गए उद्धरण में स्पष्ट है उन्होंने माना कि छन्दोबद्ध पद पद्यकाव्य होता है तथा, वह यदि मुक्त अर्थात् दूसरे पद्य से निरपेक्ष हो तो मुक्तक, अन्यथा दो, तीन, चार और पाँच अथवा अधिक पद्यों में वाक्य-पूर्ति के स्थलों में क्रमशः युग्मक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक एवं कुलक कहलाते हैं। इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्द्धन ने दो और तीन छन्दों में अन्वित होने वाले मुक्तकों को क्रमशः सन्दानितक और विशेषक कहा था, तथा आचार्य विश्वनाथ ने युग्मक और सन्दानितक। इसके अतिरिक्त कोई मौलिक अन्तर उनके मत में नहीं प्राप्त होता।

यह काव्य-विधा निश्चय ही आकार और विषय दोनों की ही संक्षिप्तता के कारण मुक्तक के अन्तर्गत आएगी, इस विषय में वैमत्य नहीं हो सकता। परन्तु क्या यह संयुक्त मुक्तक किसी रूप में हमारे वर्तमान साहित्य में भी उपलब्ध हैं? यह सहज प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित

---

१. महाकाव्यं कलापश्च पर्याबन्धो विशेषकम्।
कुलकं मुक्तकं कोष इति पद्यकुटुम्बकम्।

अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग—अनु० रामलाल वर्मा शास्त्री, पृ० २६

२. यतः काव्यस्यप्रभेदा मुक्तकं संस्कृतप्राकृतापभ्रंशनिबद्धं, सन्दानितक-विशेषक-कलापक-कुलकानि,.....
ध्वन्यालोक—सम्पादक डा० नगेन्द्र, १९५२ में प्रकाशित संस्करण, पृ० २४८

तत्र पद्यमयान्याह—

द्वाभ्यां तु युग्मकं संदानितकं त्रिभिरिष्यते ॥६॥३१४॥
कलापकं चतुर्भिश्च पंचभिः कुलकं मतम्।

साहित्यदर्पण—विश्वनाथ, पृ० २२४

३. ध्वन्यालोक—सं० डा० नगेन्द्र, पृ० २४८-२४९

है। व्यवहार में भले ही प्राचीन संस्कृत-साहित्य की इन रूप-विधाओं में हमारे आधुनिक साहित्य से अन्तर रहा होगा। निश्चय ही युगों के उपरान्त काव्य की आत्मा युग-चेतना के अनुकूल परिवर्तित होती आई है, पर पारिभाषिक रूप से तथा आकार-मात्र को दृष्टि में रखते हुए आज के गीत या लघु आकार की मुक्तक कविताएँ इन्हीं संयुक्त मुक्तकों के अन्तर्गत आयेंगी। उनमें प्रयुक्त होने वाले विभिन्न छन्दों में भाव की अन्विति सम्पूर्ण गीत या कविता की पूर्ति के उपरान्त ही पूर्ण होती है। इनमें प्रयुक्त होने वाला प्रत्येक छन्द पूर्वापर सम्बन्ध से ग्रथित होता है, वह स्वतः पूर्ण नहीं होता। उदाहरण के लिए कविवर पन्त की पतझर के प्रति लिखी गई कविता द्रष्टव्य है—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र !
हे स्रस्त-ध्वस्त ! हे शुष्क-शीर्ण !
हिम-ताप-पीत, मधुवात भीत,
तुम वीत-राग, जड़, पुराचीन ।।
निष्प्राण विगत-युगमृत विहंग ।
जग-नीड़ शब्द औ' श्वास-हीन,
च्युत, अस्त-व्यस्त पंखों से तुम
झर-झर अनन्त में हो विलीन !
कंकाल जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर, पल्लव लाली !
प्राणों की मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली!
मंजरित विश्व में यौवन के
जगकर जग का पिक, मतवाली
निज अमर-प्रणय स्वर मदिरा से
भर दे फिर नवयुग की प्याली ![1]

केवल पन्त के ही गीत नहीं, निराला, महादेवी, प्रसाद आदि सभी आधुनिक कवियों द्वारा लिखे गए गीत अथवा स्फुट कविताएँ इसी रूप-विधा के अन्तर्गत समाविष्ट की जायंगी। इस प्रकार के संयुक्त मुक्तकों को इन कवियों ने शास्त्र-सम्मत विभिन्न परम्परागत छन्दों में बाँधा, अथवा प्राचीन छन्दों के मिश्रण से नवीन प्रयोग किये या—

खुल गए छन्द के बन्ध,
प्राण के रजत पाश,
अब गति मुक्त,
औ' युग वाणी बहती अयास ![2]

---

१. आधुनिक कवि—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० ६२
२. वही, पृ० ७२

का आवाहन कर मात्राओं और वर्णों की नपी-तुली शृंखलाओं से विमुक्त छन्दों का प्रयोग किया, या फिर नवीन युग-चेतना को भाव और विषय-वस्तु के साथ कला में भी अंगीकृत कर विदेशी साहित्य का प्रभाव अपनाया—यह सब अपने-आप में विस्तृत **विवेचना** का विषय है जिसका विवेचन आगामी पृष्ठों में किया जायगा, परन्तु इन सब बातों से भिन्न इनका एक सामान्य तत्त्व जो इन्हें संयुक्त मुक्तकों की परम्परा के अन्तर्गत परिगणित करने के लिए बाध्य करता है—वह इनमें प्रयुक्त विभिन्न छन्दों का पारस्परिक सम्बन्ध है। हर गीत अथवा इस प्रकार का संयुक्त मुक्तक अपने-आप में पूर्ण होते हुए भी उसमें प्रयुक्त हर छन्द एक स्वतन्त्र इकाई नहीं हो सकता। भाव, विचार अथवा कल्पना की अन्तर्निहित एकसूत्रता इस काव्य-रूप को आकार सम्बन्धी एक-सूत्रता प्रदान करती है।

श्री गुलाबराय ने भी आजकल के गीतों को इसी प्रकार के संयुक्त मुक्तक माना है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

"साहित्यदर्पणकार ने दो-दो, तीन-तीन, चार-चार और पाँच-पाँच मुक्तकों के समूहों को क्रमशः युग्मक, संदानितक, कलापक और कुलक नाम दिया है।"[1]

तथा

"साहित्यदर्पणकार ने दो-दो और तीन-तीन छन्दों के भी मुक्तक माने हैं। अँगरेज़ी स्फुट कविताओं के स्टेन्जा समूह और आजकल के गीत भी इसी प्रकार के संयुक्त मुक्तक गिने जावेंगे।"[2]

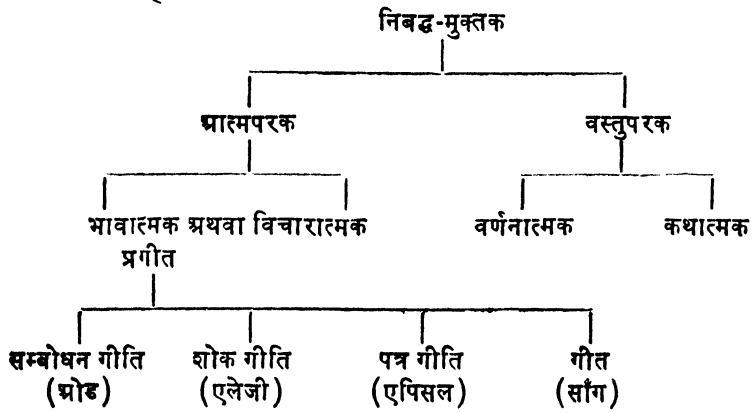
वस्तुतः मान्य लेखक ने जिन काव्य-रूपों के युग्मक, सदानितक, कलापक आदि नामों को साहित्यदर्पणकार की देन माना है वह उनकी निजी देन न होकर पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य-रूप सम्बन्धी विवेचन की पुनरावृत्तिमात्र है। संयुक्त मुक्तकों के लिए इन शब्दों का प्रयोग साहित्यदर्पणकार से पर्याप्त पूर्व आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रणीत 'ध्वन्यालोक' में, और उनसे भी पूर्व इनका संकेत आचार्य दण्डी के 'काव्यादर्श' में एवं विस्तृत विवेचन 'आग्नेय-पुराण' में प्राप्त है। 'साहित्यदर्पण' में आचार्यों द्वारा पूर्वकृत विवेचन का सार उपलब्ध है। संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रणीत काव्य-शास्त्रीय साहित्य के विशाल क्षीर-सागर के नवनीत रूप में उनकी यह रचना आज के जिज्ञासु पाठक के सामने प्रस्तुत है। परन्तु विद्वान् आचार्य की विभिन्न मान्यताएँ सर्वथा उनकी निजी उद्भावनाएँ ही हैं, अथवा उसमें कितना अंश पूर्ववर्ती साहित्य से गृहीत, परिवर्तित, प्रक्षालित और व्यवस्थित रूप में हमारे सामने है? यह विवाद और अनुसन्धान का विषय हो सकता है। जो भी हो, आधुनिक युग के गीतों का सम्बन्ध (आकार की दृष्टि से) गुलाबराय संस्कृत-साहित्य में विवेचित इन्हीं संयुक्त मुक्तकों से ही मानते हैं जो सर्वथा उचित ही है।

स्थूल व बाह्य आकारगत समानता के अतिरिक्त आधुनिक युग में विरचित इन निबद्ध मुक्तकों अथवा कविताओं में इतना वैविध्य उपलब्ध है कि इनका पृथक् वर्ग-विभाजन करने के उपरान्त ही सांग विवेचन अधिक सुकर और सहज हो सकेगा। इन कविताओं में एक प्रकार का दूसरे प्रकार से ही नहीं—भिन्न-भिन्न कवियों द्वारा और भिन्न-भिन्न समय पर लिखी जाने वाली

---

१. काव्य के रूप—गुलाबराय, पृ० ११६
२. वही, पृ० ८६

मूलतः एक ही प्रकार की रचनाओं में परस्पर पर्याप्त अन्तर और विविधता दृष्टिगत होती है। कारण—बीसवीं शती में हमारी प्रगति हर दृष्टि से विशेष क्षिप्र रही है। विदेशी प्रभाव, जीवन के बदलते मानदण्ड, सभ्यता और विचारधाराओं के नित नवीन प्रतिमान, और सबका हमारे व्यक्तित्व और कला पर समवेत् प्रभाव, इस नानारूपिणी रचना-विधि के लिए उत्तरदायी है। परन्तु एक सामान्य बात इस रूप-परिवर्तन के विषय में द्रष्टव्य है—इन पचास वर्षों के (बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध) अल्प समय में काव्य-रूपों के विकास और परिवर्तन की अनेकरूपात्मक गति काव्य-क्षेत्र की अभूतपूर्व घटना है। इतने थोड़े से समय में इतनी विविध और क्षण-क्षण परिवर्तन-शील कला और कृतियाँ आधुनिक युग से पूर्व हिन्दी-साहित्य के किसी भी युग में अप्राप्य हैं। विषय और रूप-विधान—दोनों दृष्टियों से नवीनता के ग्रहण में यह उदार भावना इस युग की अपनी विशेषता और सिद्धि है। प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक, और स्फुट मुक्तक-रचना की अपेक्षा संयुक्त मुक्तकों में यह नवीनता और विविधता अधिक उपलब्ध है। कारण स्पष्ट है—परिमाण की दृष्टि से मुक्तक काव्य की रचना प्रबन्ध की अपेक्षा इस युग में कहीं अधिक हुई—कारण अनेक हैं, जिनके विस्तार में जाना अप्रासंगिक होगा। इतना अवश्य है कि बीसवीं शती के आरम्भ से ही कवियों की अभिरुचि जहाँ प्रबन्ध-रचना की ओर उतनी नहीं रही, वहाँ एक-एक छंद में गागर में सागर भरने और चमत्कार-प्रधान मुक्तक-रचना करने का प्रयास भी कवियों ने नहीं किया। अपेक्षाकृत कुछ दूर तक एकाधिक छंदों मे छोटी-छोटी कविताओं की रचना की ओर कवियों की प्रवृत्ति अधिक हो गई। इनका प्रयास एक ही छंद में इतना चमत्कार भर देने का नहीं होता कि इनका श्रोता या पाठक चमत्कार की चमक से चौंधियाकर वाह-वाह कर उठे, बल्कि कुछ दूर तक अपने साथ भाव की तन्मयता में रमा कर सहानुभूति उत्पन्न कर देने का, अथवा विचारों की पैनी धार पर बौद्धिक उत्तेजना प्रदान करने का होता है। इन छोटी कविताओं में प्रेष्य चमत्कृत नहीं करके रमण कराता है, हमें चौंकाने की अपेक्षा मुग्ध करता है। यह विशेषता भावप्रधान और विचारात्मक कविताओं में और भी अधिक मात्रा में प्राप्त होती है। विवेचन की सुविधा के लिए इन कविताओं का भी उसी रूप में वर्ग-विभाजन किया जा सकता है, जिस प्रकार स्फुट मुक्तकों का। सामान्यतः आधुनिक युग में रचित संयुक्त मुक्तकों के निम्नांकित प्रकार उपलब्ध हैं—



उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त एक अन्य काव्य-रूप का प्रयोग इस युग की कविता में किया गया जिसका मूल विदेशी है, तथा पोषण कवियों ने अपनी मौलिक प्रतिभा और मान्यताओं के आधार पर किया। यह काव्य-रूप है—सॉनेट या चतुर्दशपदी। उक्त काव्य-रूप की गणना अन्य प्रकारों के अन्तर्गत न करके इसका पृथक् उल्लेख इस कारण किया गया है कि सॉनेट की रचना के सम्बन्ध में विषय और दृष्टिकोण-सम्बन्धी किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाए जा सकते। उसमें प्रतिबन्ध पंक्तियों की संख्या और अन्त्यानुप्रास से सम्बन्धित ही होते हैं। इसके अतिरिक्त कवि का दृष्टिकोण सॉनेट रचना में—आत्मनिष्ठ भी हो सकता है और वस्तुनिष्ठ भी, वह उसमें विचार भर सकता है, वर्णन कर सकता है अथवा उसे भावमय बना सकता है। अतः सॉनेट की विशेषता आकारगत है, जिसका प्रयोग किये गए विभाजन में किसी भी प्रकार के लिए किया जा सकता है।

बीसवीं शती के साथ आरम्भ होने वाली अधिकांश रचनाएँ वस्तुपरक दृष्टिकोण को लेकर लिखी गईं। इतिवृत्त-वर्णन की प्रवृत्ति का प्रथम दो दशाब्दों में रचित काव्य में विशेष प्राबल्य रहा, अतः हम अपना विवेचन वस्तुपरक कविता से ही आरम्भ करेंगे। स्फुट मुक्तक के प्रसंग में जैसा पहले भी उल्लेख किया जा चुका है, इस प्रवृत्ति की प्रधानता—अंशतः रीतिकालीन कविता के घोर ऐहिक जीवनगत मूल्यों के विरोध में नैतिक उपदेशात्मक सुधारवादी आन्दोलनों के कारण, अंशतः रीतिकाल की वस्तुपरक परम्परा के अनुसरण के कारण और कुछ खड़ीबोली की अनिश्चित स्थिति के कारण हुई। परिस्थितियों और विचारधाराओं में उत्तरोत्तर परिवर्तन और प्रगति के साथ सम्पूर्ण काव्य-क्षेत्र और काव्य-रचना के विशेष प्रकार—दोनों में ही परिवर्तन और वैविध्य दृष्टिगत हुआ। अतः इन कविताओं के प्रकार-विशेष में प्राप्त होने वाली अनेकरूपता के कालक्रमानुसार परीक्षण का प्रयास किया जायगा।

वर्णनात्मक कविताएँ

इस प्रकार की रचनाओं के विषय में एक बात सामान्य रूप से सत्य है कि कवि की दृष्टि आत्म से भिन्न इदम् पर केन्द्रित रहती है, और वह वस्तुनिष्ठ अभिव्यक्ति करता है। इतर सृष्टि में विषय दो प्रकार के हो सकते हैं। चेतन प्राणियों का रूप-वर्णन, अथवा जड़ तत्त्वों—प्रकृति आदि के वर्णन। इन्हीं दो प्रकारों से, एक तीसरे प्रकार की वर्णनात्मक कविताओं का उदय स्वयमेव होता है—चर और अचर जगत् में प्राणी या तत्त्व-विशेष का वर्णन न करके, उनसे सम्बद्ध किसी प्रसंग, उत्सवादि या वातावरण का अंकन। जब इस प्रकार के वर्णन घटनात्मक रूप धारण कर लेते हैं तो वे कथात्मक कविताओं की कोटि में आते हैं। कभी-कभी (यद्यपि ऐसा बहुत कम होता है) कवि किसी भाव या विचार का भी वर्णन व्याख्यात्मक शैली में कर देता है व्यंजना या संकेत नहीं, परन्तु इस प्रकार की रचनाएँ बहुत कम मिलेंगी। अधिकांश भाव या विचारप्रधान कविताएँ आत्मरस में सिक्त कर अत्यन्त व्यक्तिगत आत्मनिष्ठ शैली में लिखी जाती हैं।

वर्णनात्मक कविताओं का आरम्भ विवेच्य काव्य में सर्वप्रथम मानव-रूप के वर्णनों में मिलता है। द्विवेदी-युग के कवियों ने अपने समय में एक विशेष प्रकार की कविताओं की रचना

की जो इस युग के काव्य की निजी विशेषता है, जो पूर्ववर्ती साहित्य में अप्राप्य है और परवर्ती काव्य में उसका अनुसरण नहीं किया गया। ये कविताएँ चित्र-विशेष में अंकित नायिकाओं की चित्रांकित विशेषताओं को लक्ष्य करके उनके वर्णन के निमित्त लिखी गईं और समय-समय पर 'सरस्वती' के विविध अंकों में प्रकाशित होती रहीं। चित्रकार थे राजा रविवर्म्मा और कवियों में राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', नाथूराम शर्मा 'शंकर,' पण्डित कामता प्रसाद 'गुरु', स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा मैथिलीशरण गुप्त आदि। उस समय के लगभग सभी प्रसिद्ध कवियों ने इस प्रकार की कविताएँ लिखीं। इनमें पौराणिक नारियों—अहिल्या, सीता, इन्दिरा, गौरी, साहित्य की प्रख्यात नायिकाओं—कादम्बरी, रम्भा, प्रियंवदा, वसन्तसेना आदि से लेकर कुछ कल्पित सुन्दरियों—केरल की तारा, मोहिनी, सलज्जा, कुमुदसुन्दरी, सुकेशी अथवा मलावार सुन्दरी तक के चित्र तूलिका और लेखनी से आँके गए। ये सभी कविताएँ मानव रूप-सौंदर्य या कहीं-कहीं क्रिया-कलाप के स्थूल वस्तुपरक वर्णन के वृत्त से बाहर नहीं जातीं। कवियों की कल्पना भी इनमें उन्मुक्त विहारिणी नहीं, चित्रगत विशेषताओं से बँधी हैं। ये वर्णन नख-शिख वर्णन की परम्परा के अन्तर्गत आएँगे। कहीं-कहीं अपवाद-रूप में रूप-वर्णन के साथ मुद्राओं तथा भावनाओं का वर्णन भी कर दिया गया है। मैथिलीशरण गुप्त ने 'सलज्जा' कविता में किसी चित्रांकित सलज्जा नारी के रूप का वर्णन करने की अपेक्षा उसकी लज्जामय मुद्राएँ शब्दों में उतारी हैं। इस प्रकार अशोकवन-वन्दिनी सीता के एक चित्र के आधार पर कवि ने उसके विरह-विगलित रूप का नहीं, मनोव्यथा का वर्णन ही किया है और मालावार सुन्दरी का रूप-वर्णन करते समय कवि ने कुछ कवित्त मालावार के प्राकृतिक सौन्दर्य पर भी रच डाले, परन्तु ऐसा प्रायः नहीं हुआ। गुप्तजी के अतिरिक्त अन्य कवियों ने इस प्रकार के कल्पना-विलास का प्रयत्न नहीं किया। कहीं-कहीं इतिवृत्त शैली के स्थान पर रीतिकालीन कवियों के नख-शिख वर्णन की भाँति अप्रस्तुत योजना में चमत्कार की चकाचौंध अवश्य उत्पन्न हो गई है (अधिकतर कवि शंकर की कविताओं में), किन्तु अधिकांश वर्णन एक सधी-बंधी लीक पर किये गए हैं। हाँ, जहाँ पुरुषों के वर्णन किये गए हैं, वहाँ दिशा बदल गई है। कवि या तो महिमा-गान करता रहा है, अथवा रूप के स्थान पर शौर्य, शक्ति, पराक्रम आदि का गुणगान। मैथिलीशरण गुप्त की 'व्यास स्तवन' नामक कविता पहले प्रकार की है और कवि 'शंकर' की 'परशुराम' नामक रचना दूसरे प्रकार की। इस शैली में रचित अधिकांश महत्त्वपूर्ण रचनाओं को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'कविता-कलाप' नामक ग्रन्थ में संकलित कर प्रकाशित कराया।

नख-शिख वर्णन में क्रमशः दर्शन से प्रभाव-ग्रहण, और स्थूल से सूक्ष्म की ओर आधुनिक काल का कवि बढ़ता गया, अतः उसके वर्णनों में धीरे-धीरे रूप, गुण, क्रिया आदि वस्तुगत साम्य के आधार पर अप्रस्तुत-चयन कर, कल्पना में चित्र खड़े करने के स्थान पर, प्रभाव-साम्य के द्वारा हृदय में भावात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न करने का, अर्थात् प्रभाव-व्यंजना का प्रयत्न अधिक होने लगा। इस प्रवृत्ति का आभास प्रसाद की आरम्भिक रचनाओं में ही मिलने लगा था—

ये बंकिम भ्रू, युगल कुटिल, कुन्तल घने,
नील नलिन से नेत्र-चपल मद से भरे,

अरुण राग रंजित कोमल हिम खण्ड से—
सुन्दर गोल कपोल, सुढर नासा बनी,
.....
मुक्तागण हैं लिपटे कोमल कम्बु में।
चंचल चितवन चमकीली है कर रही—
सृष्टि मात्र को, मानो पूरी स्वच्छता—
चीनांशुक बनकर लिपटी है अंग में।[1]

कवि ने आरम्भ, सौन्दर्य-बोधक स्थूल उपकरणों के वर्णन से किया था, परन्तु अन्त तक उसकी उपमाएँ प्रभावव्यंजक हो गईं। मूर्त से अमूर्त, वस्तु से भाव, और रूप से प्रभाव की ओर कवियों का यह प्रयाण ही बाद में छायावादी काव्य में लक्ष्य-सिद्धि कर पाया।

इतिवृत्त-वर्णन की यह प्रवृत्ति केवल मानव के ही नहीं, प्राकृतिक तत्त्वों व दृश्यों के वर्णन में भी आरम्भिक कविताओं में यथावत् पायी जाती है। विवेच्य युग के काव्य में लगभग प्रथम दो दशाब्दों तक, इस प्रवृत्ति का काव्य-रचना के सभी क्षेत्रों और विषयों पर एकछत्र अधिकार रहा। प्राकृतिक वर्णन चित्रों को लक्ष्य करके तो नहीं किये गए, परन्तु प्राकृतिक तत्त्वों के प्रत्यक्ष चमत्कारमूलक शैली में चित्र अवश्य अंकित किये गए। इन कविताओं का आरम्भ भी 'सरस्वता' पत्रिका से हुआ। १९०० ई० में पं० किशोरीलाल के—चन्द्रोदय के बिम्बार्द्ध और पूर्ण बिम्ब पर दो अत्यन्त चमत्कार-प्रधान पद्यबद्ध वर्णन प्रकाशित हुए, जिनके अप्रस्तुत-चयन में कवि दूर-दूर तक दौड़ता रहा और सन्देहालंकार के सहारे उसने उपमानों का तांता बाँध दिया। इन कविताओं में प्रगाढ़ानुभूति भले ही न हो परन्तु कवि की विलक्षण सूझ-बूझ की सराहना अवश्य करते बनती है। इस शैली की अनेक कविताएँ प्रथम दशाब्द में सरस्वती में प्रकाशित होती रहीं। राधाकृष्ण दास और किशोरीलाल ने प्रकृति-वर्णन इसी परम्पराभुक्त ढङ्ग पर किये हैं, जिनमें या तो चमत्कारमूलक रूढ़िसिद्ध अलंकारों की ऊहापोह है या नामपरिगणन शैली का प्रयोग। इसी शैली का अनुसरण रायकृष्णदास ने किया है। 'प्रभात', 'सावन' आदि पर रचित उनकी कविताओं से उक्त प्रवृत्ति की व्यंजक पंक्तियाँ देखिये—

सावन-सरसावन सब रूख, रूखता सबै नसावन।
हरियारी चहुँ ओर करन, सरितान बढ़ावन।
बागन महँ विविध ललित नव कुंज बनावन।
रजनीगंधा, मौलसिरी, मालती, सुहावन,
कदम्ब, केतकी, कुटज, जुही चम्पक विकसावन।[2]

छायावाद के गौरव-स्तम्भ कवि 'प्रसाद' भी अपनी आरम्भिक कविताओं में इसी परम्परा को बढ़ाते रहे। 'करुणालय' में आत्मेतर विषयनिष्ठ दृष्टिकोण से उन्होंने प्रकृति के विविध विषय और रूपों—प्रभात, रजनी, चन्द्र, प्रभात कुसुम, रसाल मंजरी, वर्षा में नदी, कूल, आदि

---

१. झरना—प्रसाद, पृ० ६
२. नवरत्न—रायकृष्णदास, पृ० ४७

पर लघु आकार के निबद्ध मुक्तकों की रचना की, जिनमें पूर्वोक्त सभी वर्णन विशेषताएँ प्राप्य हैं। कवि के शब्दों में सन्देहालंकाराश्रित चमत्कारयुक्त चन्द्र-वर्णन देखिये—

कमला जल केलिहि हेतु रमें।
उडुराज किधौं नलिनीगन में॥
शुचि व्योम-सरोवर के जल में।
शशि के मुख-कंज विकासन में॥
समुहोत्पल है कि मयंक कला।
यह बारिधि कै शुचि व्योम झला॥
यह चारु पराग मरन्द सनो।
बरसै कि जुन्हाईहि चन्द मनो॥[1]

यह प्रवृत्ति ब्रजभाषा की कविताओं में अधिक प्रगट हुई। कवियों ने वर्णन के लिए परम्परागत शैली और अलंकार-योजना के साथ भाषा भी पुरानी ही अपना ली। उस भाषा में वे खुलकर अभिव्यंजना-चमत्कार की सृष्टि कर सके। परन्तु जब खड़ीबोली में काव्य-रचना की अनभ्यस्त लेखनियों ने शैशवावस्था में ही कविता का भार इस भाषा पर रखना चाहा, तो अत्यन्त सरल, चमत्कारशून्य, अनलंकृत, बालोपयोगी तुकबन्दियाँ होने लगीं। निश्चय ही यह कविता इतिवृत्तात्मक, प्रसादमय, परन्तु कला के आभरणों से विहीन थी—

कोकिल अति सुन्दर चिड़िया है,
सच कहते हैं अति बढ़िया है।
जिस रंगत के कुंवर कन्हाई,
उसने भी वह रंगत पाई॥[2]

इसी बाल-गीत (nursery-rhyme) की सी शैली में द्विवेदीजी ने वसन्त-वर्णन किया है। इस युग और भाषा में रचना करने वाले सभी कवियों ने इसी प्रकार की कविताएँ लिखी हैं—ऐसा नहीं कहा जा सकता। सौंदर्य-बोध की वह नवीन चेतना जो परवर्ती काव्य में पुष्पित-पल्लवित हुई, इसी युग के अनेक कवियों की रचनाओं में अंकुरित होने लगी थी। श्रीधर पाठक इनमें अग्रिम थे। आ० रामचन्द्र शुक्ल भी प्राकृतिक सौन्दर्य की अनुभूति और तद्जनित आनन्द, अणु-अणु में रमण करने, आत्मविस्मृत होकर तन्मय हो जाने में ही स्वीकार करके थे। परिणामतः इन कवियों की दृष्टि अपने वर्णनों में तटस्थ द्रष्टा की नहीं समभोक्ता की सी रही है, जिससे कविता का स्वरूप प्रभावित हुआ है। इन कविताओं ने छायावाद-पूर्व इतिवृत्तात्मक प्रकृति-वर्णनों और छायावाद के आत्मरस से आर्द्र चित्रों के बीच सेतु का सा कार्य किया। यद्यपि प्रकृति पर वे अपनी भावनाओं का आरोपण नहीं करते, परन्तु तटस्थ द्रष्टा की भाँति एक ओर खड़े होकर निरीक्षण के परिणामस्वरूप उसकी रूपात्मक विशेषताओं का वर्णन मात्र भी नहीं करते। छायावादी काव्य से इनमें अन्तर यही है कि प्रकृति इनकी भावनाओं के रंग में नहीं रंगती, इनका

---

१. करुणालय—जयशंकर प्रसाद, पृ० १४८
२. द्विवेदी काव्यमाला—संग्रहकर्त्ता देवीदत्त शुक्ल, पृ० २४७

अपना मन प्रकृति के रंग में रंग जाता है—अतः ये कवि वर्णन करते हैं परन्तु तन्मय होकर, केवल द्रष्टा के रूप में नहीं। उदाहरण देकर हम अपनी बात कदाचित् स्पष्ट कर सकेंगे—

ए हो वन, बंजर, कछार, हरे-भरे खेत !
विटप, विहंग ! सुनो अपनी सुनावें हम।
छूटे तुम, तो भी चाह चित्त से न छूटी यह,
बसने तुम्हारे बीच फिर कभी आवें हम।
.....
धुँधली-सी धूप धूल-सने वात-मंडल से
ढालती है मृदुता की आभा हर रंग में।
अंजित दृगंचल की कोर से किसी की खुल
रंजित रसा में रसी झूमती तरंग में—
मानों मदभरी ढीली दृष्टि है किसी की बिछी,
मन को रमाती रम जाती अंग अंग में॥[1]

आरम्भ में 'ए', 'हो' आदि सम्बोधनवाचक शब्दों के प्रयोग से कवि वर्ण्य विषय से और भी आत्मीय सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। गुरुभक्तसिंह ने भी प्रकृति के कुछ सुन्दर वर्णन किये हैं। कवि आत्मा से व्यक्तिगत रूप में ही नहीं वरन् मानव-जीवन के छाया-स्पर्शों द्वारा अखिल मानव-सृष्टि से प्रकृति को सम्बद्ध कर देता है। यही विशेषता मानव-रूप, क्रिया और भावनाओं के आरोप के रूप में बाद में वर्णन की विशेष शैली बन गई—

अंगड़ाई लेती शतदल पर, अरुणा नत शोभा के भार,
छक-छक रस, मन में उमंग भर, निकल पड़ी करने अभिसार।
दबे पाँव चलने पर भी नूपुर कलिका दल उठे चिटक
दृग तूली जिस ओर फेरती सप्तराग छवि गई छिटक,
उसके पावन पद प्रहार से विहँस विटप होते मुकुलित,
रश्मि चित्रलेखा ने कर दी चित्रों से भूपट मुद्रित।[2]

आधुनिक अलंकार-शास्त्र की शब्दावली में इसी को मानवीकरण अलंकार कहना होगा। कुछ कविताओं में मानव-जीवन के संस्पर्श और गहरे और स्पष्ट हो गए हैं। कवि मानवीय क्रिया-कलापों और रूप-सौन्दर्य का आरोप प्राकृतिक तत्त्वों पर करने लगा है। 'प्रसाद' द्वारा उद्यान-लता का नारी रूप में वर्णन इस प्रकार हुआ—

सुमनावलि सों लदि मोद-भरी,
पतियाँ सुलखात नवीन हरी॥

---

१. कवि-भारती—सं०, पन्त, राव, नगेन्द्र, पृ० १४६
२. वही, पृ० १७५

भरि अंक अहो तुम भेंटति हो,
तरु के हिय दाह समेटति को ।।
तुम देखति हो केहि आस-भरी,
नहिं बोलति हौ तरु-पास खरी ।।[1]

परन्तु मानवीय भावनाओं का आरोप करने पर भी इन वर्णनों में एक बात स्पष्ट है—इन कविताओं में रूप और क्रियाएँ ही स्पष्ट हो सकी हैं भाव-व्यंजना नहीं। परन्तु जैसे-जैसे काव्य-रचना के क्षेत्र में इदम् की अपेक्षा आत्म की प्रतिष्ठा बढ़ती गई, वस्तु-तत्त्व कवि की दृष्टि में गौण और आत्म प्रमुख होता गया। प्राकृतिक तत्त्व भावोद्दीपन के हेतु बन गए :

यह स्निग्ध सुखद सुरभित समीर,
कर रही आज मुझको अधीर,
किस नील उदधि के कूलों से,
अज्ञात वन्य किन फूलों से।
इन नव-प्रभात में लाती है,
जाने यह क्या वार्ता गंभीर ।।[2]

आलम्बन-रूप में भी प्रकृति-चित्रण के रूप बदल गए। कवि अधिकाधिक मानवीय क्रिया-कलापों, रूप और चेतना के छाया-स्पर्शों द्वारा प्रकृति को चेतन रूप प्रदान करने लगा—

दूर क्षितिज में जाकर सोता था जीवन का नव उल्लास
द्रुतगति से था दौड़ लगाता चक्कर खाता पवन हताश,
विह्वल सी थी दीन वेदना मुँह खोले मलीन आकाश।
हृदय एक निःश्वास फेंककर खोज रहा था प्रेम-निकेत,
जीर्ण काण्ड वृक्षों से हँसकर रूखा सा करते संकेत।[3]

इस प्रकार क्रमशः कवि ने प्रकृति के बाह्य रूप से उसके अंतरंग रूप में पैठने का प्रयत्न किया। उसकी बाह्य रूपगत विशेषताओं पर उसकी दृष्टि टिकी न रहकर, भाव-व्यंजना की ओर बढ़ी, बाह्य रूप-रंग की अपेक्षा अन्तरतम के पट-उन्मीलन का प्रयत्न अधिक होने के कारण वर्णनों में विस्तार की अपेक्षा गहराई उत्पन्न होती गई। इस शैली का विपर्यय उन रचनाओं में किया गया जहाँ प्रकृति-वर्णन के माध्यम से मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति को कवि ने अपना लक्ष्य बनाया। वह प्रकृति में चेतना का अनुसंधान करने के स्थान पर प्राकृतिक क्रिया-व्यापारों में अपनी ही भावनाओं की समानता पाता है, समानानुभूति या विषमानुभूति करता है। 'होली की रात' का उपसंहार आरम्भ में कुछ मनोरम और सुन्दर चित्र अंकित करने के उपरान्त कवि 'प्रसाद' ने इस प्रकार किया है—

---

१. चित्राधार—प्रसाद, पृ० १५३
२. कवि भारती—मुकुटधर पाण्डेय, पृ० २७६
३. झरना—प्रसाद, पृ० १४

पिये, गाते मनमाने गीत,
टोलियाँ मधुपों की अविराम।
चली आतीं,कर रहीं अभीत,
कुमुद पर बरजोरी विश्राम॥
उड़ा दो मत गुलाल सी हाय,
अरे अभिलाषाओं की धूल।
और ही रंग नहीं लग जाय,
मधुर मंजरियाँ जावें भूल।
विश्व में ऐसा शीतल खेल,
हृदय में जलन रहे, क्या बात।
स्नेह से जलती होली झेल,
बनाली हाँ, होली की रात।[1]

आलम्बन-रूप में प्रकृति-वर्णन की शैली का भी छायावादी कवियों द्वारा नवरूपान्तरण हुआ। 'पन्त', 'महादेवी', 'निराला' सभी ने प्रकृति के अनेक सुन्दर वर्णन किये। इन वर्णनों की एक विशेषता है। इसमें स्थूल रूपाकार सम्बन्धी विशेषताओं की अपेक्षा उनकी सूक्ष्म रूपगत, क्रियागत और गुण तथा प्रभाव-सम्बन्धी बारीकियों को उभारकर कवि सामने लाने लगा। उसकी सौन्दर्य-चेतना में परिवर्तन हुआ, प्रकृति में उसे चेतन सौन्दर्य तो प्रतिभासित हुआ ही, उसकी छोटी से छोटी विशिष्टता को वह शब्दों में रूपान्तरित करने का प्रयास करने लगा। इससे पूर्व के वर्णनों और, इन कवियों की तूलिका से अंकित चित्रों में वही अन्तर था जो क्ले मॉडल और चित्रकला में होता है। सम्पूर्ण विषय को उसकी सभी बारीकियों के साथ, प्रभाव के साथ ये कवि पृष्ठों पर उतार देते हैं। ध्वनि, गति और रूप को शब्दों में बाँधकर इन्होंने उन चित्रों में यथारुचि रंग भी भरे हैं। निश्चय ही इनकी अभिव्यंजना इस प्रयास में विशेष निखर आई। पन्त की 'नौका-विहार', महादेवी की 'वसन्त रजनी', निराला और पन्त की 'संध्या-सुन्दरी' आदि कविताओं में से इस प्रकार के अनेक सुन्दर चित्र बिखरे मिलेंगे।

प्रगतिवादी कवि अधिकतर वर्ग-वैषम्य और दीन-दलितों की समस्याओं में व्यस्त रहा, अतः उसे वस्तु-सत्य, यथार्थ जीवन, उसके संघर्ष और समस्याओं को छोड़कर प्राकृतिक सौन्दर्य-बोध का अवकाश कम ही मिला। परन्तु प्रयोगवाद के 'अन्वेषियों' ने इन विषयों को आलम्बन बनाया। इन कवियों का सम्बन्ध एक ही वाद से होने पर भी इनकी वर्णन-शैलियाँ, सौन्दर्य-चेतना और अभिव्यंजना के प्रसाधन बहुत भिन्न हैं। सबकी अपनी-अपनी मान्यताएँ, संस्कार और प्रतिभा है। परिणामतः सौन्दर्य-बोध, कल्पना, और विवेक भी अपना है, अतः वर्णन-पद्धति भी विशिष्ट है। जीवन की यथार्थता के प्रति सभी कवि सजग रहे (ऐसी उनकी निश्चित धारणा थी)। कुछ की दृष्टि इस यथार्थता से, वस्तु-तथ्य से, इतनी अभिभूत थी कि सौन्दर्यानुभूति के सामने यह कटुतर तथ्यवादिता आवरण बनकर रूप-रंग की चकाचौंध से मुग्ध नहीं

---

१. झरना, पृ० ४५

होने देती और कवि को 'शिशिर की राका-निशा' वंचना सी प्रतीत होती है—

वंचना है चाँदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार—
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार।
दूर वह सब शान्ति, वह सित भव्यता, वह
शून्य के अवलेप का प्रस्तार—
इधर केवल झलमलाते
खेत-हर दुर्धर कुहासे की हलाहल-स्निग्ध मुट्ठी में
सिहरते-से, पंगु टुंडे
नग्न, बुच्चे दई मारे पेड़ ।
पास फिर दो भग्न गुम्बद—
निविड़ता को भेदती चीत्कार-सी मीनार—
बाँस की टूटी हुई, टट्टी लटकती
एक खम्भे-से फटी-सी ओढ़नी की चिन्दियां दो चार।
निकटतर धंसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नत-ग्रीव
धैर्यधन गदहा।[1]

उक्त वर्णन में कवि की दृष्टि सित चाँदनी को दूर की वस्तु मानकर उसमें वंचना का साक्षात्कार करती हुई निकटतर तथा अधिक वास्तविक तथ्य—साढ़े तीन पाँव पर स्वनिर्मित मूत्र-सिंचित मृत्तिका-वृत्त में खड़े धैर्यधन गदहे महाशय पर टिक गई है। काव्य का लक्ष्य है सौन्दर्य की अभिव्यंजना और इसी विश्वास पर जीवन की कटुतर अनुभूतियाँ काव्य-विषय बनकर दंश-निःशेष सरस रूप में प्रस्तुत होती हैं। परन्तु उपर्युक्त दृष्टि का सौन्दर्य-बोध उस प्रकार का नहीं। सामान्य पाठक इन अनुभव-खण्डों और विचार-खण्डों की उपर्युक्त निरावृत शैली से आनन्दानुभूति और सौन्दर्यबोध नहीं कर सकता। इन वर्णनों में यथार्थता का दावा किया जा सकता है, परन्तु सभी यथार्थ सुन्दर और काम्य नहीं, अन्यथा कल्पना की अपेक्षा ही नहीं रहे, और जो सुन्दर नहीं वह काव्योचित विषय तभी बन सकता है जब काव्य-सृजन-प्रक्रिया में उसका पुनः रूप-निर्माण हो। सौन्दर्य-बोध और अभिव्यंजना के मानदण्ड अभी इतने नहीं बदले हैं कि ऐसे चित्र पाठक को रमा सकें। परन्तु यह बात सभी नई कविता में नहीं। गिरिजाकुमार माथुर ने 'विषय की मौलिकता का पक्षपाती होते हुए भी' अपने चित्रों में सौन्दर्य-व्यंजना का विघात नहीं होने दिया। उन्होंने चित्र ही नहीं आँके, सुन्दर चित्र आँके हैं और उनमें अभिव्यंजनात्मक शब्द-विन्यास के साथ वातावरण के रंग भरे हैं—

---

१. तारसप्तक—पहला—अज्ञेय, पृ० ७८

आज हैं केसर रंग रंगे वन
रंजित शाम भी फागुन की खिली पीली कली-सी
केसर के वसनों में छिपा तन
सोने की छाँह-सा
बोलती आँखों में
पहिले बसन्त के फूल का रंग है।
गोरे कपोलों पै हौले से आ जाती
पहिले ही पहिले के
रंगीन चुम्बन की सी ललाई।
आज है केसर रंग रंगे—
गृह, द्वार, नगर, वन
जिनके विभिन्न रंगों में है रंग गई
पूनों की चन्दन चाँदनी।[1]

उपर्युक्त वर्णन में कवि ने हल्के, स्निग्ध और रेशमी रंगों का ही प्रयोग किया है। इस विषय में कवि की अपनी मान्यता थी—"मैंने रंगों का आधार विशेष रूप से रक्खा है, किन्तु मैं चित्र को सदा हल्के रंगों की छाँहों के आवरण में लिपटा पसन्द करता हूँ। क्योंकि यथार्थ चित्र के सभी डिटेल मैं कला की दूरी से देखता हूँ।"[2] सभी कवियों में मात्रा-भेद से यह वर्ण-परिज्ञान वर्तमान है किन्तु सभी ने सर्वत्र इसी प्रकार रंगों के डिटेल नहीं भरे। नेमिचन्द्र जन की कविताओं में रूप और आकारगत विशेषताओं के स्पष्टीकरण का प्रयत्न अधिक है। कवि ने कहीं-कहीं सूक्ष्म निरीक्षण से मन पर पड़े प्रभाव को पृष्ठों पर उतारा है। 'डूबती संध्या' के समय पहाड़ी पत्थर, विभा के पार्श्व में कन्ट्रास्ट के कारण किस प्रकार अपनी कुरूपता में और भी भासमान हो उठते हैं यह सामान्य अनुभव की बात कवि ने उक्त प्रसंग में पकड़कर सम्पूर्ण चित्र में इसको उभारकर प्रस्तुत किया है—

इन पहाड़ी पत्थरों के हृदय में कुछ स्नेह-कम्पन
प्राण का संचार
वे खड़े हैं अचल चिर अविकार!
वह विचित्र कुरूपता—उनकी,
विभा के पार्श्व में,
है हो उठी कुछ और भी असमान।[3]

भारतभूषण अग्रवाल ने रंगों का प्रयोग किया है किन्तु उनके रंगों में भास्वरता और दीप्ति है, स्निग्धता और धूमिलता नहीं। उनका प्रभात वह्नि-बाण और ज्योतिशल्य के समान

---

१. तार सप्तक—गिरिजाकुमार माथुर, पृ० ४२
२. वही, पृ० ४०
३. वही, पृ० २५

फूट निकलता है—

फूटीं किरणें ज्यों वह्नि बाण, ज्यों ज्योति शल्य,
तरु वन में जिनसे लगी आग।
लहरों के गीले गाल, चमकते ज्यों प्रवाल,
अनुराग लाल[1]

प्रतीत होता है मानों जीवन के आलोक से दीप्त प्रकाश-पुंज, इधर-उधर सभी स्थलों पर छितरा गया है। वर्णन की यह शैली छायावाद से भिन्न परन्तु विरोधी नहीं, उसी का विकास और प्रसार कही जायगी।

मानव-रूप और प्राकृतिक वर्णनों के अतिरिक्त कवियों ने उत्सव और पर्व आदि के वर्णन भी किये। ऐसे विषयों में जहाँ रागात्मक अनुभूति अधिक प्रगाढ़ होती है, माध्यम प्रायः गेय काव्य हो जाता है, हाँ सामाजिक जीवन से सम्बद्ध इन उत्सवों के प्रति व्यक्त व्यक्ति के आत्मोद्गार सामूहिक भावना का प्रतिनिधित्व ही करते हैं। जब कवि इनके प्रति अपनी या जन-जीवन की रागात्मक अनुभूति का वर्णन न करके केवल इनके महत्त्व का वर्णन करता है, वहाँ कविता में वस्तुरूप वर्णन ही सम्भव होता है। ऐसी कविताएँ संख्या की दृष्टि से बहुत नहीं लिखी गईं।

राष्ट्रीय भावना से अभिभूत होकर देश के गौरव-गान व महिमा-वर्णन के लिए भी कवि-वर्ग काव्य-रचना करता रहा। ये कविताएँ दो रूपों में लिखी गईं—(१) राष्ट्र के गौरव-गान के उद्देश्य से सामान्य रूप में उसकी प्रकृति, आदि का वर्णन तथा (२) किसी स्थान या प्रसंग-विशेष से उद्दीप्त देश-प्रेम की भावना से प्रेरित होकर उसी स्थल का भावमय वर्णन। दोनों प्रकार की कविताएँ स्वतन्त्रता-संग्राम की साधनावस्था में ही रची गईं। रूपनारायण पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान आदि का इस प्रसंग में विशेष उल्लेख किया जा सकता है।

'झाँसी की रानी की समाधि' से प्रेरित कवयित्री सुभद्राकुमारी चौहान की भावाभिव्यक्ति उस स्थल-विशेष के गौरव-वर्णन के रूप में इस प्रकार हुई—

यह समाधि, यह लघु समाधि है,
झांसी की रानी की।
अन्तिम लीलास्थली यही है,
लक्ष्मी मरदानी की॥
यहीं कहीं पर बिखर गई वह,
भग्न विजय-माला-सी।
उसके फूल यहाँ संचित हैं,
है यह स्मृति-शाला-सी।[2]

देश-भक्ति के प्रसंग में कवियों ने देश-भक्तों के क्रिया-कलापों, शासकों के अत्याचार,

---

१. तारसप्तक, पृ० ३६
२. कवि-भारती—सुभद्रा कुमारी चौहान, पृ० २०१

आन्दोलन, असहयोग आदि का वर्णन भी जनता के हृदय में उत्साह-जागरण के निमित्त किया। स्वाभाविक था—इन कविताओं में कला की अपेक्षा उद्देश्य प्रधान होने के कारण वर्णन अधिकाधिक प्रत्यक्ष और प्रभावक्षम शैली में किये गए। अपनी बात को पाठक तक इस प्रकार पहुँचा देना कि उसके हृदय पर वांछित प्रभाव पड़ जाय, यही इन कविताओं का लक्ष्य था। अर्थ के तत्काल-ग्रहण में बाधा न हो, इसलिए इन्होंने यथासंभव शैली में प्रसादमयता की रक्षा की, भले ही कहीं-कहीं इस लक्ष्य-सिद्धि के लिए उर्दू से इन्हें शब्द-चयन करना पड़ा, कविता अनलंकृत रह गई और उसमें किसी प्रकार का वक्रतापूर्ण चमत्कार उत्पन्न न हो सका, कवि केवल कार्यों का लेखा ही करता रहा—

शौक से शोकत जाते जेल,
मोहम्मद को तो बह है खेल,
न 'शंकर' 'किचलू' होंगे फेल,
बढ़ रही वीरवरों की बेल।
हुआ है कारागार स्वगेह, विजय में अब क्या है संदेह।[1]

देशप्रेमी नेताओं की कारागार-यात्राएँ, चर्खा रूपी चक्र-सुदर्शन, विविध आन्दोलन, देश की गौरव-गाथाएँ, इन कविताओं का प्रधान वर्ण्य विषय रहीं।

देश के अतिरिक्त अन्य विषयों की ओर कवियों की भावधारा जब उन्मुख हुई तो इसी शैली में किंचित् परिवर्तन हो गया। राष्ट्र के गौरव-वर्णन में कवि जहाँ उसकी प्रकृति और वैभव के वर्णन में दत्तचित्त रहे, वहाँ जब आराध्य के प्रति श्रद्धा-निवेदन किया गया तो उसकी महिमा, विराट् रूप और कृत्यों का गौरव-गान अधिक हुआ। इस प्रकार की कविताओं में बिना तर्क और युक्ति का अवलम्ब लिए भक्त-हृदय की अपार श्रद्धा व्यक्त हुई है। अतः ईश्वर के स्वरूप को कवि व्याख्या-विश्लेषण के द्वारा दर्शन की तर्कमयी शैली में सिद्ध नहीं करता, उसका रागमय विश्वास से युक्त वर्णन करता है—

जो सर्व व्यापक तऊ सबसे परे हैं।
जो सूक्ष्म है पर तऊ बसुधा धरे हैं॥
जो शब्द में रहत शब्द न पार पावै।
ताकी महान महिमा कवि कौन गावै॥
जो भानु मध्य नित भासत ओज धारे।
शीतांशु जासु लहि कान्ति प्रभा पसारे॥
जाको सुगन्ध मलयानिल पाइ डोले।
ताके महान गुण ग्रंथिहि कौन खोले॥[2]

श्रद्धार्पण का आलम्बन केवल अलौकिक और आध्यात्मिक सत्ता नहीं, इस लोक के वीर पुरुष भी बनाये गए। राष्ट्र-गौरव के आधार-स्तम्भ कतिपय ऐतिहासिक और साहित्यिक

---

१. पराग—रूपनारायण पाण्डेय, पृ० ३२
२. चित्राधार—प्रसाद, पृ० १५५

व्यक्तियों को आलम्बन बनाकर कवियों ने उनके गुणों का इतिवृत्त-वर्णन किया है। इन कविताओं में वीर-पूजा की भावना से प्रेरित गौरव-वर्णन किया गया है। लोचनप्रसाद पाण्डेय ने 'मेवाड़ गाथा' में राणा सांगा, राणा संग्रामसिंह, राणा सज्जनसिंह आदि ऐतिहासिक महापुरुषों के महिमापूर्ण कृत्यों का वर्णन, और साहित्यिक क्षेत्र के महारथी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रशस्ति गान विभिन्न कविताओं में किया। इन कविताओं में ओज, उत्साह, सःप्रेरणा और वीर-पूजा का भाव तो प्रचुर मात्रा में है, किन्तु कलात्मक सिद्धि इनमें बहुत ऊँचे स्तर की नहीं हो सकी।

वर्णन का सम्बन्ध प्रायः मूर्त उपादानों से जोड़ा जाता है, अमूर्त भावों या विचारों से नहीं। जिस वर्ण्य का बाह्य रूपाकार नहीं उसका रूप-चित्रण तो संभव नहीं हो सकता, परन्तु कतिपय ऐसी अनुभूतियों या भावस्थितियों का निरूपण किया जा सकता है, जो नितान्त व्यक्तिगत और अन्तरंग तो नहीं परन्तु जिनका निवास अन्तर्मन में होता है, वस्तुजगत् में नहीं। अधिक स्पष्ट शब्दों में यह अनुभूतियाँ अन्तर्मुखी (Subjective) तो होती हैं, व्यक्तिगत (Personal) नहीं। कवि इस प्रकार की भावस्थितियों के वर्णन में कदाचित् स्वानुभूति को प्रमाण मानता हुआ भी सामूहिक धरातल पर उनकी विशेषताओं का निरूपण करता है। आत्म से उद्भूत ये मनोवृत्तियाँ बाह्य-जगत् में क्रमशः विस्तार पाती हैं, अतः अत्यन्त सूक्ष्म संवेदन जो व्यक्ति-विशेष की अनुभूतियों से सम्बद्ध होते हैं, इनका विषय नहीं बन पाते। परन्तु साथ ही अमूर्त विषयों—गुण, क्रिया या भाव के वर्णनों में स्वभावतः वस्तु-रूप के अभाव में विशेषताओं का वर्णन ही अधिक प्राप्त होता है। रामनरेश त्रिपाठी द्वारा 'प्रेम' के स्वरूप और महत्ता का वर्णन इसी प्रकार किया गया है—

प्रेम विचित्र वस्तु है जग में,
अद्भुत शक्ति-निधान,
निद्रा में जागृति, जागृति में,
है वह नींद समान !
.....
गन्ध विहीन फूल है जैसे
चन्द्र चन्द्रिका-हीन,
यों ही फीका है मनुष्य का
जीवन प्रेम-विहीन ![1]

प्रसाद ने 'चित्राधार' में इसी प्रकार 'कल्पना-सुख', 'मानस', 'नीरव-प्रेम' आदि विषयों पर छोटी-छोटी कविताओं की रचना ब्रजभाषा में की। इन कविताओं में वस्तु-तत्त्व की नहीं परन्तु वर्णन की प्रधानता है। हाँ, कभी-कभी साकार बिम्ब-विधान का आश्रय कवि अपने आशय के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से ले लेता है।

---

१. कवि भारती—रामनरेश त्रिपाठी, पृ० १११

कथात्मक निबद्ध-मुक्तक

इन निबद्ध-मुक्तकों और आख्यानक गीतियों तथा प्रसंग-कथाओं में परस्पर अन्तर होता है। इसी कारण लघु-प्रबन्ध-रूपों के अन्तर्गत इनका विवेचन न करके इनकी गणना मुक्तक-रूपों के मध्य की गई है। एक अत्यन्त स्थूल अन्तर इनमें बाह्य आकार-सम्बन्धी है। ये मुक्तक विस्तार में आख्यान-गीतियों तथा प्रसंग-कथाओं का अपेक्षा सीमित होते हैं। इस आकारगत परिसीमा का सम्बन्ध इनकी विषयगत विशेषता से है। इनमें कथा का उसी प्रकार सुनिश्चित विन्यास नहीं होता जिस प्रकार प्रबन्ध-रूपों में। इनमें कथा का संस्पर्श-मात्र किया जाता है, अथवा कथा प्रायः किसी अन्य उद्देश्य की सिद्धि का माध्यम-मात्र होती है। उद्देश्य से यहाँ तात्पर्य उसी प्रकार की सिद्धि से नहीं जो प्रबन्ध-ध्वनि के रूप में सभी बृहदाकार प्रबन्ध-रचनाओं में व्यंग्य रहता है। इन कविताओं में उपदेश प्रत्यक्ष कथित होता है और उसके दृष्टान्त या पृष्ठभूमि के रूप में आख्यान उसमें अनुस्यूत रहता है। इनके अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार की मुक्तक कविताएँ वर्णनात्मक कविताओं की भाँति चित्र को आलम्बन बनाकर लिखी गईं। किसी चित्र-विशेष में अंकित प्रसंग के वर्णन के लिए कवि उसके पूर्वापर प्रसंगों तथा घटनाओं के सूत्र मिलाता है, जिससे चित्रांकित घटना का वह कार्य-कारण-सम्बन्ध के सहित इस रूप में वर्णन कर सके कि वह पाठक को बिना किसी उलझन के ग्राह्य हो। परन्तु इन चित्रों का सम्बन्ध अधिकतर किसी प्रख्यात या ऐतिहासिक घटना से होता था और कवि यह मानकर चित्र-वर्णन करता था कि उसका पाठक प्रसंग से अभिज्ञ है। ये कथाश्रित वर्णन इस रूप में उचित आदि, मध्य और अवसान से युक्त नहीं होते कि इन कथाओं के प्रख्यात रूप से अनभिज्ञ पाठक बिना सहायता के इन्हें हृदयंगम कर सके और उसकी जिज्ञासा परितुष्ट हो जाय। यही इनमें और आख्यानक गीतियों तथा पद्य-कथाओं में अन्तर है। स्वतः पूर्णता और पूर्वापर निरपेक्ष स्थिति यद्यपि मुक्तक रचनाओं का अनिवार्य अनुबन्ध है, परन्तु इन मुक्तकों की रचना भारतीय संस्कृति, बल्कि हिन्दुत्व से परिचित पाठक की दृष्टि से हुई है और इस प्रकार के संस्कारी प्रमाता की कल्पना इनमें छूटे हुए कथा-सूत्रों को स्वयं मिलाती जाती है। अपवाद की स्थिति में निराशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्राप्त हो सकता।

इस प्रकार की अनेक कविताएँ रूपनारायण पाण्डेय, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', लाला भगवानदीन, लोचनप्रसाद पाण्डेय, महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि ने पुराने पौराणिक आख्यानों के ढंग पर लिखीं तथा अपेक्षाकृत नवीन प्रसंग और समस्याओं की कथा के संस्पर्श द्वारा व्यंजना की परिपाटी परवर्ती कवियों तक चली आई। रामनरेश त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त तथा भगवतीचरण वर्मा आदि कवियों ने अधिक कलात्मक ढंग से आख्यानात्मक कविताओं की रचना की।

प्रत्यक्ष उपदेश-कथन के लिए किसी घटना का दृष्टान्त-रूप में वर्णन पुरानी परिपाटी के कवियों ने अधिक किया। इन कविताओं में धर्मग्रन्थों की भाँति किसी प्रख्यात या ऐतिहासिक व्यक्ति के आदर्श आचरण का दृष्टान्त-रूप में वर्णन तथा तदुपरान्त नीति-कथन रहता था। कभी-कभी ये पात्र कल्पित भी होते थे, अथवा पंचतन्त्र या जातक-कथाओं आदि की भाँति मनुष्येतर जगत् की छोटी-छोटी घटनाओं और उनके परिणामों में उपदेश-व्यंजना की जाती थी। इस

प्रकार की उपदेशात्मक कविताएँ चित्रों को आलम्बन बनाकर भी लिखी गईं और इनके प्रमुख रचयिता हुए ला० भगवानदीन। उन्होंने अपनी रचना 'नवीन बीन' में चित्रांकित प्रसंगों पर अनेक उपदेशात्मक कविताएँ लिखीं।

कभी-कभी तो यह उपदेश सर्वथा वाच्य हो जाता है। 'गजेन्द्र गाथा' का आरम्भ ऐसे होता है :

पाठक प्रवर ! आज हम तुमको अद्भुत कथा सुनाते हैं।
शरणपाल श्री नारायण का रक्षक भाव दिखाते हैं॥

और अन्त में कवि कहता है :

कुछ भी हो, पर मेरे चित में यह सिद्धान्त समाता है।
यह गजेन्द्र का चरित विलक्षण हमको यह सिखलाता है।
अशरण-शरण एक ईश्वर है जिसके गुण जग गाता है।
हरि के हाथ निबाह सभी का अन्त समय हो जाता है।[1]

सर्वत्र ये कविताए उपदेश के निमित्त नहीं लिखी गईं। जैसा पहले भी कहा जा चुका है, चित्रांकित प्रसंगों के वर्णन में केवल चित्र की व्याख्या के निमित्त कुछ कविताओं की रचना हुई, परन्तु इनमें घटना-विशेष का कोई अंश अथवा झलक-मात्र है, सम्पूर्ण कथा नहीं और ये अधिकांश प्रसंग प्रख्यात हैं, अतः इन्हें समझने के लिए परम्परा का परिज्ञान अनिवार्य है। कवि इनमें कथा के लक्ष्य की पूर्ति अर्थात् जिज्ञासा का उद्बोधन और परितोष नहीं कर पाता, केवल जिज्ञासा उद्बुद्ध भर होती है। कवि का उद्देश्य चित्र की व्याख्या करना और उसकी पृष्ठभूमि का स्पष्टीकरण मात्र होता है :

देखिये पाठक प्रवर ! इस चित्र पट के चार चित्र।
कर रहे हैं व्यक्त कैसे भिन्न भाव महा विचित्र॥[2]

ला० भगवानदीन ने अनेक प्रख्यात प्रसंगों का चित्राश्रित वर्णन किया है। चित्रों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से भी महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'ऊषा-स्वप्न' व 'गंगा-भीष्म' आदि कविताओं में उषा और अनिरुद्ध की भेंट का, और भीष्म-जन्म के प्रसंग का छायाभास वर्णन किया है।

पशु-पक्षियों की कथा से उपदेश-व्यंजना अपेक्षाकृत कम की गई। रूपनारायण पाण्डेय की 'वन-विहंगम' और लोचनप्रसाद पाण्डेय की प्रसिद्ध कविता 'मृगी-दुःख मोचन' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।

कथात्मक मुक्तक-रचना की परिपाटी समय की प्रगति के साथ क्षीण होती गई, कम से कम कथा-तत्त्व गौण अवश्य हो गया। केवल कथा कहने के लिए तो इस प्रकार की रचनाएं क्रमशः अलभ्य ही हो गईं, जहाँ अन्य उद्देश्यों के लिए घटना का आश्रय लिया गया, वहाँ केवल उसका स्पर्श भर किया गया है, सांगोपांग वर्णन व सुनिश्चित विन्यास नहीं। अन्य उद्देश्य से यहाँ अभिप्राय—किसी समस्या की व्यंजना, किसी प्रसंग-विशेष में किसी भावस्थिति, अथवा किसी

---

१. नवीन बीन—ला० भगवानदीन, पृ० ११५, १२०
२. वही, पृ० १७

घटना या प्रसंग के प्रति किसी पात्र की या निजी भावात्मक प्रतिक्रिया को शब्द-रूप देने से है। कथात्मक वर्णन की यह पद्धति निश्चित रूप से अधिक कलात्मक सिद्ध हुई क्योंकि इनमें वस्तु तत्त्व साधन और आत्म तत्त्व साध्य हो गया, तथा उपदेश अथवा समस्याओं को ये कवि कथा का बाना पहनाकर कुछ सीमा तक अधिक रोचक और ग्राह्य बना सके। रामनरेश त्रिपाठी ने 'विधवा का दर्पण' शीर्षक कविता में हिन्दू विधवा की दयनीय स्थिति का अंकन किया है, और सियारामशरण गुप्त ने 'खिलौना' नामक कविता में खिलौने के प्रति दो बालकों—राजकुमार और दीना के लाल की मनोवृत्ति का वर्णन कर वर्ग-भेद की भावना के परिहार का संकेत किया है तथा अनेक छोटी-छोटी कविताओं—'स्वप्न भंग', 'सम्मिलित' आदि में जीवन की किसी घटना की पृष्ठभूमि में अपना भावात्मक प्रतिक्रिया को व्यक्त किया है। भगवतीचरण वर्मा ने इसी प्रकार 'नूरजहाँ की कब्र पर' रचना में अपनी अनुभूति को वाणी दी है। कवि को क्रमशः नूरजहाँ के जीवन की समस्त महत्त्वपूर्ण घटनाओं का स्मरण होता है, और वह अपने मन में उठने वाली भावनाओं की आवृत्ति कविता में करता जाता है। सम्पूर्ण कविता में अद्भुत नाटकीयता और घटना संयोजन में कला-कौशल है, कोरा इतिवृत्त नहीं। इसके अतिरिक्त वह एक महत्तर उद्देश्य के लिए इस प्रकार के घटनात्मक प्रसंगों का आश्रय लेता है। घटनात्मक तथ्य के मूल में निहित भावात्मक सत्य का उद्घाटन उसका लक्ष्य है। बाह्य घटनाएँ इस मूलभूत सत्य के अभिज्ञान और अनुसंधान का निमित्त अथवा दृष्टान्त बन जाती हैं। अतः कविता के अन्त में समस्त घटनाओं का संक्षेप में सिंहावलोकन कर लेने के उपरान्त कवि अपना निष्कर्ष देकर भावात्मक सत्य का उद्घाटन करता है :

ऐ रजकण के ढेर तुम्हारा है विचित्र इतिहास।
तुम मनुष्य की उन अभिलाषाओं के हो उपहास
कि जिनका असफलता है अन्त
और आशा जीवन।
बना अजान खण्ड ही यह लो आज तुम्हारा सदन,
कभी उत्थान, कभी है पतन।
वासनाओं का यह संसार
भयानक भ्रम का है बन्धन,
और इच्छाओं का मण्डल
आदि से अन्त रुदन है रुदन,
एक अनियन्त्रित हाहाकार
इसी को कहते हैं जीवन![1]

इस प्रकार इन घटनाप्रधान कविताओं में कवि क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म, मूर्त से अमूर्त और वस्तु से भाव और विचार की ओर बढ़ता गया है। आरम्भ में केवल घटनाओं के वस्तुरूप को महत्त्व देकर घटना का अंकन करने वाला कवि क्रमशः उनके अन्तर में पैठकर भाव और विचार-

१. कवि-भारती—'नूरजहाँ की कब्र पर'—भगवतीचरण वर्मा, पृ० ४४७

सूत्रों का अन्वेषण करने लगा है। घटनाओं का बाह्य रूप गौण और आन्तरिक रूप प्रमुख हो गया। कला की दृष्टि से यह परिवर्तन शुभ ही हुआ। अमूर्त की अभिव्यक्ति के उपकरण भी स्थूल से सूक्ष्म हो गए और अभिव्यंजना-शैली में उत्कर्ष हुआ। इतिवृत्त-वर्णन के स्थान पर भाव और विचार-व्यंजना की प्रमुखता के कारण शैली में भी भावप्रेरित वक्रता और व्यंजना का संचार हुआ। परिमाण की दृष्टि से कथाश्रित कविताओं की रचना इस युग में कम हुई।

भावात्मक निबद्ध-मुक्तक

आधुनिक काव्य में परिमाण की दृष्टि से सर्वाधिक संख्या भावप्रधान निबद्ध कविताओं की है। परम्परा की दृष्टि से इस विधा का सम्बन्ध प्राचीनतम काव्य से जोड़ा जा सकता है, परन्तु विशुद्ध आत्माभिव्यंजन के लिए इनकी रचना अत्यन्त विरल थी। भावप्रधान कविताओं की रचना आधुनिक युग से पूर्व निम्नांकित रूपों में की गई—

(१) किसी विशेष अवसर, पर्व, उत्सव आदि के अवसर पर बधाई या गेय रचनाओं के रूपों में। इन रचनाओं की चेतना व्यक्तिगत न होकर समष्टिगत होती थी। व्यक्ति की वाणी से सामूहिक भावना का उत्स इनमें प्रवाहित होता था।

(२) दूसरे प्रकार की भावोद्गीतियाँ भक्तों के कण्ठ से कहीं प्रत्यक्ष आत्मानुभूति के रूप में (मीरा, कबीर आदि के पदों में) तथा कहीं पात्रों के माध्यम से (कृष्ण-लीला के गायक सहृदय भक्तों के काव्य में) व्यक्त हुईं।

उपर्युक्त दोनों ही प्रकार की कविताओं में उसी प्रकार विशुद्ध आत्माभिव्यंजन नहीं मिलता, जिस प्रकार विवेच्य युग की गीति रचनाओं में। केवल कुछ दूर तक रीतिमुक्त कवियों के विरह-निवेदन की समानता इनसे स्थापित की जा सकती है परन्तु शैली के प्रसाधनों में विपुल अन्तर है।

आधुनिक काव्य में भावात्मक रचनाओं का आरम्भ प्रख्यात और महिमामंडित पुरुषों के स्तवन और प्रशस्तिगान के रूप में रचित कविताओं से हुआ। किसी वीर गौरवशाली व्यक्ति या महान अधिनेताओं की जन्मदात्री भूमि का गौरव-गान कर कवियों ने अपनी श्रद्धांजलि इनको अर्पित की। भावप्रधान कविताओं का दूसरा रूप उन रचनाओं में प्राप्त होता है जो किसी भौतिक तत्त्व से प्रेरित कवि की भावाभिव्यंजना के रूप में लिखी गई। इन कविताओं का प्रेरणा-सूत्र किसी व्यक्ति, घटना, या प्राकृतिक तत्त्व में निहित रहता था। इनमें कुछ सम्बोधन गीतियों के रूप में लिखी गईं अन्य सामान्य प्रगीत के रूप में। इन प्रगीतों में प्रेरक विषय को आलम्बन बना-कर नहीं, उद्दीपन-रूप में ग्रहण कर उससे भावोद्दीप्त, अपनी मनःस्थिति का वर्णन कवि करता है। यही सम्बोधन गीति और इन प्रगीतों में अन्तर है। एक में बाह्य विषय आलम्बन होता है दूसरी में उद्दीपन। वस्तुजगत् के किन्हीं विषयों से उद्दीप्त इस प्रकार की कविताओं में, और व्यक्तिगत सुख-दुखात्मक प्रगीतों में अन्तर यही है, कि दूसरे प्रकार की कविताओं के निमित्त कारण भी यद्यपि आत्मेतर घटनाओं में प्रायः निहित रहते हैं किन्तु वे तत्काल उद्दीपन का कार्य नहीं करतीं। इसके विपरीत पहले प्रकार की कविताओं की रचना किसी प्राकृतिक तत्त्व अथवा प्रसंग आदि के द्वारा तत्काल उद्दीप्ति के परिणामस्वरूप होती है। अतः मुख्य रूप से भावप्रधान निबद्ध-मुक्तकों में पाँच प्रकार की रचनाएँ प्राप्त होती हैं :

(क) उत्सव, पर्व या किसी अन्य मांगलिक व उल्लासमय अवसर पर लिखी गई कविताएँ।

(ख) व्यक्ति या देश के प्रति श्रद्धांजलि-अर्पण या स्तवन-वन्दन के स्वरों में रचित कविताएं।

(ग) विनय या प्रार्थना के रूप में रचित कविताएँ।

(घ) व्यक्तिगत सुख-दुखात्मक या अन्य भावनाओं की व्यंजक रचनाएँ, जिन्हें प्रगीत कहा जाता है (इनके अनेक अन्य प्रकार काव्य में उपलब्ध हैं)।

(ङ) किसी विशेष तत्त्व, व्यक्ति या प्रसंग से तत्काल उद्दीप्त व्यक्तिगत भावनाओं की अभिव्यंजक कविताएँ।

उपर्युक्त प्रकारों में से अनुपात (संख्या और कलात्मक उत्कर्ष) की दृष्टि से प्रथम तीन की अपेक्षा अन्तिम दो प्रकार की कविताओं का महत्त्व अधिक है।

मंगलमय पर्वों पर रचित कविताओं की संख्या अधिक नहीं। कारण—आधुनिक युग में उत्सवों के उल्लास और राग-रंग की अपेक्षा समस्याओं की प्रमुखता, विपत्तियों से संघर्ष, तथा सामाजिक और विश्वव्यापी समस्याओं का प्राबल्य रहा। भारतीय मन, जो वर्षों से विदेशी शासन के मोहांधकार में प्रायः चेतना-शून्य हो गया था, क्रमशः आत्मसाक्षात्कार कर रहा था, अतः संघर्ष-रत देश के जीवन में ये प्रसंग आत्मविभोर करने वाले उल्लास की सृष्टि नहीं कर सकते थे। शताब्दी के प्रथम दो दशाब्दों में तो कहीं-कहीं राजभक्ति और देशभक्ति की द्विधा में उलझे कवि की लेखनी से यदा कदा ऐसी रचनाएँ होती रहीं परन्तु तदुपरान्त आत्म और जगत् की समस्याओं में उलझा कवि-मन इनके प्रति उदासीन हो गया और ये कविताएँ विरल हो गईं।

उक्त प्रकार की रचनाएँ प्रायः द्विवेदीयुगीन कवियों ने ही कीं। ऐसे अवसरों पर काव्य-रचना की प्रेरणा सहज नहीं अर्जित होती है। स्वभावतः इन कविताओं में अवसर-विशेष पर उदित कवि की भावनाओं और कामनाओं के साथ प्रसंग या अवसर का वर्णन भी आंशिक रूप से मिला रहता है। नये वर्ष के अभिनन्दन 'सरस्वती' में प्रकाशित होते रहते थे। इनकी मूल भावना प्रायः सामूहिक होती थी। कवि इनमें समष्टिगत हित की कामनाएँ ही व्यक्त करता था। उदाहरण के लिए रायकृष्णदास की 'छप्पन की बिदाई नए वर्ष की बधाई' की जिसमें कवि ने कतिपय समाजगत समस्याओं और विपत्तियों का वर्णन, तथा गत वर्ष के प्रति आत्मोद्गार व्यक्त किया है, कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं :

कोउ कोउ भाँति चलो भैया
छप्पन की भई विदाई।
नए बरस की आओ हम सब
हिलिमिलि देहिं बधाई।[1]

कवि 'हिलिमिलि' बधाई देने की कामना करता है एकाकी नहीं। इन सर्वजन-सम्बद्ध अवसरों पर की गई सभी रचनाओं में सामूहिक भावना के ही दर्शन होते हैं।

---

१. सरस्वती—संख्या ३, १९०० मार्च, पृ० ९०

इसी प्रकार की सामूहिक भावनाओं की अभिव्यक्ति उन अनेक रचनाओं में मिलती है जो जन-जीवन का नेतृत्व व हित-साधन करने वाले महापुरुषों के अभिनन्दन के लिए लिखी गईं, अथवा जिनमें परम सत्ता या अन्य किसी शक्ति के प्रति श्रद्धा अथवा उद्धार की लालसा व्यक्त की गई। इन प्रशंसात्मक कविताओं में कभी-कभी माहात्म्य वर्णन के लिए घटनाओं का उल्लेख भी किया गया। लोचनप्रसाद पाण्डेय ने 'मेवाड़ गाथा' की कविताओं में कथात्मक संस्पर्श के साथ महाराणा प्रताप का गुणानुवाद किया है। ऐतिहासिक व्यक्तियों के प्रशस्ति-गान के अतिरिक्त कुछ कविताएँ तत्कालीन शासन-सत्ताधारियों की प्रशंसा में लिखी गईं। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने भारतेन्दु की परम्परा का पालन करते हुए—'राजदम्पति को आशीर्वाद' और 'भूपसप्तक' आदि शीर्षकों में शासकों की प्रशंसा की है।

देशभक्ति की भावना से प्रेरित अन्य कविताओं में से कुछ प्रार्थनाओं के रूप में लिखी गईं, जिनमें उद्धार के लिए कहीं ईश्वर से, और अन्यत्र शासकों से विनय-निवेदन किया गया है। ऐसी कविताओं में भी एक ओर प्रगति और उद्धार की लालसा व्यक्त हुई है, दूसरी ओर विद्यमान कष्टों और दुरवस्था का परिचय देने के लिए कुछ वर्णनात्मक स्थल आ गए हैं। इन कविताओं का सम्बन्ध भौतिक जीवन की बाह्य समस्याओं, तथा नैतिक आचार-व्यवहार से, और समष्टि से है, व्यक्ति से सम्बन्धित अन्तरंग व आत्मनिष्ठ प्रसंगों से नहीं। काव्य-शिल्प की दृष्टि से ये कविताएँ अति साधारण ही कही जायंगी।

वर्षों मुसलमानों के बर्बर शासन से संत्रस्त भारतीय जनता में अंग्रेजों की अपेक्षाकृत उदार नीति के प्रति कृतज्ञता की भावना वर्तमान थी। शासकसत्ता के प्रति कम-से-कम आक्रोश और विद्रोह उत्पन्न नहीं हो पाया था, अतः शासक में आस्थावान कवि ने देशोद्धार के लिए उससे भी प्रार्थना की एवं देश के कष्टों का वर्णन किया :

प्राचीन चिह्न अभिभावक लाटवीर।
हे दुर्ज्जनान्तर कर्ज्जन ! धर्म्मधीर।
लीजो बचाय म्रियमाण शरीर मेरो;
कल्याण होय सब काल दयालु ! तेरो।[1]

(अयोध्या का विलाप)

इस युग में सर्वाधिक संख्या व्यक्तिगत राग-विराग, सुख-दुःख की अभिव्यंजक गीतियों की है। इन कविताओं की वह विशेषता जिसके आधार पर इनका व्यावर्त्तन पूर्ववर्ती तथा तत्कालीन अन्य कविताओं से किया जाता है, इनके रचयिताओं का अन्तर्मुखी दृष्टिकोण है। ये कवि अपनी मनोवृत्तियों को चारों ओर से सिमेट-सिकोड़कर अन्तर्मन में केन्द्रित करते हैं। इनके व्यक्तित्व का बहिरंग विस्तार नहीं, आत्म में केन्द्रीकरण होता है, अतः इन कविताओं की प्रेरक अनुभूति स्फीत नहीं घनीभूत तथा अभिव्यक्ति सहज एवं अन्तःस्फूर्त होती है। कभी कवि का दृष्टिकोण नितान्त व्यक्तिपरक और आत्मनिष्ठ होता है और कभी वह बाह्य जगत् के उपकरणों तक अपनी अनुभूति और समवेदना का विस्तार करता है। किन्तु बाह्य जगत् के तत्त्वों का संस्पर्श भी आत्म-

---

१. द्विवेदी काव्यमाला—सं० देवीदत्त शुक्ल, पृष्ठ २७०

रंजित रूप में व्यक्ति की निजी अनुभूतियों के नाते होता है, आलम्बन-रूप में नहीं, उद्दीपन-रूप में। कवि इनमें अन्तः से बाह्य की ओर बढ़ता है, बाह्य जगत् से अन्तः की ओर नहीं। इस विधा-विशेष पर विदेशी साहित्य और अभिव्यंजनाशैली का प्रभाव बहुत अधिक मात्रा में रहा है। इसी कारण इसके लिए पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र में प्रचलित शब्द 'लिरिक' का भावानुवाद 'प्रगीत' प्रचलित हुआ, अतः इसे भलीभाँति समझने के लिए तद्विषयक पाश्चात्य मान्यताओं से अवगत होना अभीष्ट होगा।

प्रगीत—प्रगीत का इतिहास कालक्रम की दृष्टि से उतना ही प्राचीन है जितना काव्य-रचना का। भावप्रवण क्षणों की छन्दोबद्ध आत्माभिव्यक्ति काव्य-रचना के क्षेत्र में नवीन घटना नहीं, परन्तु जिस अर्थ में आधुनिक काल में 'प्रगीत' शब्द का प्रयोग किया जाता है उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध अँगरेज़ी की 'लिरिक' शैली से और परोक्ष सम्बन्ध हिन्दी-साहित्य में उपलब्ध पद और गीति शैली से जोड़ा जा सकता है। स्वाभाविक है—जिस काव्य-विधा के लिए अंगरेज़ी के शब्दानुवाद की आवश्यकता प्रतीत हुई, उस विधा में कुछ ऐसा विदेशी रंग रहा होगा जिसके लिए हिन्दी काव्य-शास्त्र में कोई ऐसा शब्द उपलब्ध न हो सका जो इस विधा की सर्वांग-व्यंजना में समर्थ हो। दूसरे शब्दों में भारतीय काव्य-शास्त्र में, उन काव्य-रूपों का सैद्धान्तिक विवेचन अथवा लक्षण-निरूपण किया गया जो साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे, अतः प्रगीत अथवा किसी समानान्तर विधा के सैद्धान्तिक विवेचन का प्राचीन काव्य-शास्त्र के इतिहास में एकान्त अभाव, इस तथ्य का प्रमाण है कि इस काव्य-रूप में किसी ऐसी व्यावर्त्तक अथवा महत्त्वपूर्ण विशेषता की प्रतीति मनीषियों को नहीं हुई जो इसे अन्य मुक्तक-विधाओं से पृथक् और विशिष्ट महत्त्व प्रदान कर सके। आधुनिककाल में जब स्वदेशी संस्कारों और विदेशी वेशभूषा के संयोग से इस काव्य-विधा का प्राचुर्य हुआ तो इसमें कतिपय पूर्ववर्ती शैलियों की समानान्तर विशेषताएँ तो परिलक्षित हुईं परन्तु किसी सर्वथा प्रचलित शैली का आधुनीकरण इस काव्य-रूप में हो गया हो, ऐसा नहीं था। स्वदेशी संस्कारों की रक्षा करते हुए भी, इस विधा पर अपेक्षाकृत चमक विदेशी रंग की ही अधिक थी। अतः उन विशेषताओं की व्यंजना के लिए विदेशी मूल 'लिरिक' का अनुवाद कर, 'प्रगीत' शब्द का प्रयोग व प्रचलन समीक्षा-शास्त्र की शब्दावली में हुआ। इस काव्य-रूप की अधिकांश विशेषताएँ भी वही स्वीकार कर ली गईं, जो अँगरेज़ी के लिरिक साहित्य में प्राप्त होती हैं; अतः आधुनिककाल की इस रम्याद्भुत कला और शिल्प को समझने के लिए आंग्ल साहित्य में प्रचलित प्रगीत-विषयक मान्यताओं को जान लेना अनिवार्य ही है।

आरम्भ में प्रगीत शब्द का प्रयोग सामान्यतः ऐसी समस्त कविता के लिए किया जाता था जो वाद्य-विशेष के साथ गेय हो। वस्तुतः महाकाव्य और प्रगीत काव्य में अन्तर इसी आधार पर किया गया कि महाकाव्य समाख्यानात्मक होता है और प्रगीत-काव्य गेय।[1] प्राचीन यूनानी कविता की विभिन्न काव्य-विधाओं में परस्पर अन्तर उनके सृजन के उद्देश्य और उत्तरदायी

1. Lyrical Poetry, a general term for all poetry which is, or can be supposed to be susceptible of being sung to the accompaniment of a

परिस्थितियों के आधार पर किया गया। प्रगीत काव्य की रचना गाने के लिए की जाती थी, तथा ये कविताएँ नियत अवसरों पर, निश्चित प्रसंगों के लिए, तथा निश्चित धार्मिक या ऐहिक उद्देश्य से गाई जाती थीं।[1] यूनानी प्रगीत रचना का संगीत से ऐसा अभिन्न सम्बन्ध स्थापित हो गया था कि कवि-वर्ग इनकी रचना गाने के लिए ही करता था, तथा अधिकांश प्रगीतकार काव्य-रचना के साथ ही सहायक लय का विधान भी कर देते थे। इस प्रकार शब्दों की लय संगीत का यथावत् निर्देश करती थी, और छन्दगत विशेषता संगीत-सम्बन्धी विशेषता की व्यंजक होती थी।[2]

व्यवहार में क्रमशः प्रगीत का स्वरूप उपर्युक्त प्राचीन और परम्परागत रूप से बहुत भिन्न हो गया। गेयता प्रगीत-रचना का अनिवार्य गुण न रहकर प्रगीत के विशेष प्रकार—गीत (song) तक सीमित हो गया। अतः प्रगीत की विशेषताएँ भी अपने मूल से बहुत भिन्न हो गईं। मध्ययुगीन और आधुनिक विदेशी और हिन्दी-साहित्य में जिस प्रगीत-काव्य की रचना हुई उसका स्वरूप प्रगीत की प्राचीन परिभाषा के आधार पर निश्चित नहीं किया जा सकता।

प्रगीत की परिभाषा या वर्णन दो आधारों पर सम्भव है—

(१) विशिष्ट और व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या।

(२) व्यावहारिक और सामान्य व्याख्या।

परन्तु उपर्युक्त आधारों पर निश्चित विशेषताओं में प्रायः परस्पर विलक्षण विरोध

---

musical instrument. However, the distinction between epic and lyrical, between—what was said, and—what was sung is accepted.

Encyclopedia Britannica, page 532.

1. The division was determined by the conditions under which each of the kinds named was to be produced, spoken on the stage, recited, intoned, chanted, sung to the accompaniment of music, and, it might be, of dance. Lyric poetry was poetry written to be sung, to be sung on quite definite occasions, for quite definite occasions, for quite definite purposes, religious or secular.

Lyrical Poetry from Blake to Hardy. by H. J. C. Grierson, Introduction, page 10.

2. Greek Lyrics were written expressly for song, and the poet in most cases simultaneously created the accompanying melody. Thus the rhythm of the words indicates exactly that of music, and as the metre is simple or involved, regular and stately or abrupt and impetuous, such must have been the character of the melody.

Ibid. (quoted from Farnell, Greek Lyric Poetry—1891) Page 11.

दृष्टिगत होता है। पहले प्रकार की व्याख्या का आरम्भ प्रगीत की प्राचीन परिभाषा से हुआ—जिसमें उसे गेय रचना माना गया, और दूसरी का आधार विशेष वर्ग के कवियों द्वारा रचित प्रगीत काव्य के सामान्य लक्षण हैं—विशेष रूप से रोमांटिक कवियों द्वारा रचित प्रगीत काव्य के।

पहले प्रकार के प्रगीतों में स्वभावतः ऐसी कविता के समस्त रीतिबद्ध लक्षणों को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया, क्योंकि गायक या वाचक-स्वर के मधुर उच्चारण पर बहुत कुछ निर्भर करता था कि इस विशिष्ट अर्थ में उन्हें 'लिरिक' (वह जो 'लायर' नामक वाद्य पर गाया जा सके) कहा भी जा सकता था या नहीं। ये प्रगीत प्रायः संक्षिप्त होते थे। इनकी रचना सुनाने के लिए की जाती थी अतः इनमें सार्वजनिक विशेषताएँ हाती थीं। इन प्रगीतों में व्यक्त भावनाएँ चाहे कितनी गम्भीर और अकृत्रिम हों परन्तु वे इस प्रकार की होती थीं, अथवा उनका प्रयोग इस रूप में किया जाता था, कि सभी श्रोताओं तक उनका प्रेषण सम्भव हो सके। अर्थात्, कविता का विषय—चाहे भाव हो अथवा भावों को उद्बुद्ध करने वाली परिस्थिति, उन समस्त तत्त्वों से मुक्त होना चाहिए जो व्यक्ति से उसका इतना अन्तरंग और घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर दें कि उनकी अभिव्यक्ति से कवि की एकान्तिकता पर आघात पहुँचे। अतः इन व्यक्तिगत भावों अथवा स्थितियों का कुछ दूर तक समाजीकरण कर दिया जाता था। इसी कारण, तथा इनमें काव्य-गुण के साथ संगीत की विशेषताओं के विद्यमान होने के कारण पाठ्य कविता की भाँति अर्थ-गाम्भीर्य होने पर भी चिन्तन का अवकाश कम रहता था, अतः इनकी भावना और अप्रस्तुत-योजना प्रायः सरल और स्पष्ट होती थी। इस प्रकार के प्रगीतों में प्रत्यक्ष रूप में कोई मौलिकता नहीं होती तथा इनकी रचना विषयीप्रधान रूप में नहीं की जाती। इनके रचयिता भी प्रायः अज्ञात रहते हैं। यह प्रगीत का वह प्राचीन स्वरूप है जिसकी व्याख्या शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ और उपलब्ध सामग्री के आधार पर की गई।

दूसरे प्रकार के प्रगीत, अवैयक्तिक गीतों से भिन्न, वह रचना होती है जिसमें पाठक किसी अत्यन्त तीव्र, व्यक्तिगत एवं आत्मीय अनुभूति के प्रकाशन की सम्भावना करता है। ऐसे प्रगीतों की रचना प्रायः गाने के लिए नहीं, पाठ्य रूप में की जाती है। इस प्रकार की रचनाओं में बाह्य संगीत-विधान के प्रयत्न अत्यल्प हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से वर्तमान समय तक आंग्ल साहित्य में इसी ढंग की प्रगीत-रचना कवि-वर्ग द्वारा बहुशः की गई, परन्तु सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व इस प्रकार के प्रयोग बहुत कम हुए। इन प्रगीतों में शब्द-ध्वनि की दृष्टि से उच्च कोटि की संगीतात्मकता का समावेश होता है, परन्तु इनकी अभिव्यंजना व रूप-आकार, विषय और मूलभावना का सहज अनुवर्ती होता है। ये प्रायः गेय प्रगीत से लम्बे होते हैं, क्योंकि इनका विषय अन्तरंग और भावनाएँ सूक्ष्म होती हैं, जिनकी सचेष्ट और बहुधा विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा होती है। इन प्रगीतों की अभिव्यंजना अपूर्व और अप्रस्तुत-योजना विलक्षण होती है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की प्रगीत-शैलियों में बहुत-सी समानताएँ हैं। ऐसा स्वाभाविक भी है, क्योंकि अपने समस्त प्रत्यक्ष विरोधों के होते हुए भी, दूसरे प्रकार की प्रगीत-शैली का विकास सीधे और अनिवार्य रूप से पहली से हुआ है। गीत में संगीतजन्य संक्षिप्तता के कारण आख्यान, अथवा किसी स्थिति-विशेष का विस्तृत विवरण नहीं हो सकता, वह केवल सघन अनु

भूति का वाहक होता है। अतः भावना या अनुभूति प्रगीत का सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्त्व है। इसलिए कवि प्रगीत को भावनाओं की अभिव्यक्ति का उपयुक्त वाहक पाकर, भाव-सामग्री का इतना विकास और विस्तार करता है कि वह सूक्ष्म, जटिल और प्रायः अन्तरंग और व्यक्तिगत तथा अपने समग्र रूप में गेयता की दृष्टि से अनुपयुक्त हो जाती है। इस विधा के, संगीत से मूल सम्बन्ध को स्मरण रखते हुए वह प्रयुक्त भाषा की संगीतात्मकता का तब तक विकास करता है जब तक उसकी भाषा अत्यन्त समृद्ध, स्वतः पूर्ण, सन्तोषप्रद और परिणामस्वरूप गाने की दृष्टि से पुनः अनुपयोगी नहीं हो जाती। कुछ कवि भाषा के संगीत की अपेक्षा भावतत्त्व का अधिक विकास करते हैं, और कुछ विषय-वस्तु की अपेक्षा भाषा की नादमयता का।

हिन्दी के आधुनिकयुगीन प्रगीत काव्य पर दूसरे प्रकार के प्रगीत काव्य का प्रभाव रहा है। उपर्युक्त कतिपय विशेषताओं—भावना की प्रधानता, आत्मकेन्द्रित दृष्टिकोण, अभिव्यंजना-कौशल में विलक्षण बिम्बविधान, भाषा का संगीत, नादमयता आदि के अतिरिक्त प्रगीत की कुछ अन्य विशेषताओं का निर्देश प्रायः किया गया है, जिनका उल्लेख अप्रासंगिक न होगा।

प्रगीत स्वतःपूर्ण रचना होती है जिसमें केवल भावना का प्राधान्य ही नहीं होता, वह किसी अनुभूति-विशेष का अखण्ड प्रतिबिम्ब होता है। हर्ष, शोक, आह्लाद, उत्कण्ठा, त्याग, प्रेम आदि किसी भी अमिश्र भाव की उद्वेगपूर्ण पुकार प्रगीत के माध्यम से व्यक्त होती है।[1] प्रगीत-रचना की प्रेरक अनुभूति की अखण्डता पर विद्वानों ने बारम्बार बल दिया है। हम प्रायः किसी भी छोटी कविता को प्रगीत कह देते हैं, परन्तु अपने मूल रूप में इसका अभिप्राय ऐसी कविता से होता था जो स्वर-साधन के लिए पर्याप्त होती थी, तथा जिसे क्षणिक आनन्दानुभूति के लिए गाया जाता था। कवि के दृष्टिकोण से प्रगीत की परिभाषा—वह कविता जिसमें सरल अथवा अमिश्र भावस्थिति का समावेश होता है, वह कविता जिसमें किसी अबाधित चित्तवृत्ति अथवा प्रेरणा की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होती है—कहकर की जा सकती है।[2]

संक्षिप्त आकार प्रगीत की प्रमुख विशेषता है। किसी क्षणिक अनुभूति का वाहक होने के कारण प्रगीत के लिए आकार-विस्तार सम्भव भी नहीं है। प्रगीत में वर्ण्य और आकार दोनों

---

1. The total poem, the poem which is also a single image, is most often a lyric—a single agonised cry of joy, delight, sorrow, longing, renunciation, love...

Poetic Process—George Whelley, page 158

2. We often call the short poem a lyric, which meant originally a poem short enough to be set to music and sung for a moment's pleasure. From the poet's point of view, we might define lyric as a poem which embodies a single or simple emotional attitude, a poem which expresses directly an uninterrupted mood or inspiration.

Forms in Modern Poetry—Herbert-Read, page 62.

वर्तमान होते हैं परन्तु सहज रूप में, उसका विस्तार इतना सीमित और अनुभूति इतनी तात्कालिक तथा अन्य काव्य-रूपों की तुलना में सरल होती है कि हमें प्रयुक्त समय का अनुभव नहीं होता। काव्य सृजन-प्रक्रिया में आकार और विचार, भाव और अभिव्यक्ति एकाकार हो जाते हैं।[1]

प्रगीत के सम्पूर्ण आकार के साथ कुछ विद्वानों ने पृथक् पंक्तियों में भी संक्षेपण की प्रवृत्ति की ओर इंगित करते हुए, संगीत से सम्बन्ध को इस विशेषता के लिए उत्तरदायी ठहराया है। भले ही प्रगीतकार स्वयं उसे न गाए, अथवा उसकी स्वर-साधना का अभिलाषी भी न हो, परन्तु फिर भी उसके मन में यह भावना विद्यमान रहती है कि प्रगीत-रचना गाने के उद्देश्य से की जाती है। वह स्वयं गेय है, यही छोटी पंक्तियों में रचना का कारण है।[2] क्योंकि नियमतः प्रगीत आकार में छोटा होता है, अतः उसकी पंक्तियों में विलक्षण गति उत्पन्न हो जाती है। कहा जा सकता है कि प्रगीत में तीर की-सी सीधी उड़ान के समान भावना की वह अन्तःस्फूर्त दीप्ति होती है जो स्वयं संगीतात्मक होती है।[3]

आधुनिक कवियों द्वारा रचित प्रगीतों में छन्दाकार को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। निर्दोष प्रगीतों में छन्द वह साधन होता है, जिसके अनुरूप शब्दों को ढालना होता है।[4]

प्रगीत की भूल भावना के विषय में एक विशेषता का स्पष्टीकरण प्रायः विद्वानों ने किया है। यद्यपि प्रगीत का मूल तत्त्व व्यक्ति-तत्त्व होता है, परन्तु इस बात को भूलना उपयुक्त नहीं कि संसार के अधिकांश महत् प्रगीत काव्य का स्थान साहित्य में इस कारण है कि उनमें नितान्त व्यक्तिगत व विशिष्ट की अपेक्षा आदर्श मानवीय मूल्यों का समावेश है। प्रत्येक पाठक उनमें ऐसे अनुभवों और भावनाओं की अभिव्यंजना पाता है जिनका वह स्वयं समभोक्ता हो सकता

---

1. Form and conception are present in the lyric, but they are unobtrusive, the duration of the poetry is so short, the emotion so immediate (and relatively simple) that we do not perceive (it is the poet's business to conceal) the time-structure. Form and conception are fused in the act of creation. Ibid, page 66.
2. It may be, as we have said, that one does not sing it oneself, or with it to be set to music, nonetheless one feels that it is intended to be sung. It sings itself. Hence the shorter lines.
   Lyrical Poetry from Blake to Hardy—H. J. C. Grierson —Introduction, page 14.
3. Since as a rule, the lyric is short, its lines attain unusual speed and direction It may be said that a lyric is a direct, arrow like flight, a spontaneous flash of emotion which makes its own music.
   Encyclopedia Britannica—Volume 14, page 532.
4. In a perfect lyric by a modern writer the instrument is the metrical form, to which the words have to adapt themselves.
   Ibid, page 533.

है। इसलिए ऐसी स्थिति में हमें कवि का स्थान ग्रहण करने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता क्योंकि वह स्वयं पहले ही हमारा स्थान ग्रहण कर लेता है।[1]

प्रगीत का विवेचन करते हुए हडसन ने प्रगीत काव्य के मूल्यांकन के लिए कुछ मानदण्ड निश्चित किए हैं जो उसकी विषय और शैलीगत विशेषताओं के व्यंजक हैं। उनके अनुसार प्रगीत को श्रेष्ठ स्वीकार करने के लिए यह आवश्यक है कि हमें सन्तोष हो जाय कि उसमें किसी बहुमूल्य अनुभूति का समावेश है। हमारे मन पर उसकी हार्दिक अभिव्यक्ति का प्रभाव भी अवश्य पड़ना चाहिए। उसकी भाषा और बिम्ब-विधान में केवल सौन्दर्य और सजीवता ही नहीं बल्कि वह औचित्य और अनुकूलता भी हो जो सब कलाओं के विषय और अभिव्यक्ति के बीच अपेक्षित है। साथ ही साथ शुद्ध प्रगीत में अभिव्यक्ति के लिए विशेष भाव या अनुभूति को अपनाने से संक्षेप, और घनत्व के कारण सामान्यतः भावात्मक शक्ति की दृष्टि से सिद्धि होती है, तथा अतिविस्तार प्रायः निश्चित रूप से प्रभाव की दृष्टि से हानिकारक होता है।[2]

प्रगीत की अब तक दी गई परिभाषाओं और विवेचन के आधार पर उसके मूल तत्त्वों का संक्षेप में निरूपण किया जा सकता है। प्रगीत की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. **आत्मपरक दृष्टिकोण या वैयक्तिकता**—प्रगीत काव्य विषयीप्रधान होता है, उसमें व्यक्तित्व की प्रधानता होती है। कवि का हर्ष-शोक, आशा-निराशा, क्षोभ-उत्साह, उत्कण्ठा-प्रेम, आदि हार्दिक अनुभूतियां प्रगीत के माध्यम से व्यक्त होती हैं। व्यक्ति तत्त्व से तात्पर्य किसी ऐसे व्यक्तिवैचित्र्य से नहीं जो सर्वथा विशिष्ट हो, बल्कि ऐसी अनुभूति से है जो व्यक्तिगत होते हुए भी सार्वजनिक हो सके। साधारणीकरण के द्वारा पाठक-मात्र उसका समभोक्ता बन सके, किन्तु उसमें प्रधानता आत्मानुभूति, निजी राग-विराग की हो, वस्तु तत्त्व की नहीं।

---

1. Though the essence of lyrical poetry is personality, it must yet be remembered that the majority of the world's great lyrics owe their place in literature very largely to the fact that they embody what is typically human rather than what is merely individual and particular, and that thus every reader finds in them the expression of experiences and feelings in which he himself is fully able to share. In such cases we do not have to put ourselves in the poet's place because he has already put himself into ours.

   An Introduction to the Study of Literature—W. H. Hudson, page 97.

2. ....., for a lyric, to be good of its kind, must satisfy us that it embodies a worthy feeling; it must impress us by convincing sincerity of utterance; while its language and imagery must be characterised not only by beauty and vividness, but also by propriety, or the harmony which in all art is required between the subject and its medium. It will also be found that the pure lyric, having for its purpose the expression of some single mood or feeling, commonly gains much in emotional power by brevity and condensation, and that over elaboration is almost certain to entail loss in effectiveness. Ibid, page 97.

२. **अन्तःस्फूर्त अभिव्यक्ति**—प्रगीत में किसी विशेष मनोदशा का उच्छलन होता है। कोई तीव्र अनुभूति जब कवि की चेतना को अन्तर्मुखी बना देती है, और वह उसी भावाविष्ट मनःस्थिति की अभिव्यक्ति का प्रयत्न करता है, तब वह आवेगदीप्त प्रगीत के रूप में शाब्दिक माध्यम के द्वारा अपनी मनोभावनाओं की अवतारणा करता है। इसी विशेषता को वर्डस्वर्थ ने काव्य-मात्र की परिभाषा बना दिया था।

३. **हार्दिकता या भावमयता**—प्रगीत-रचना के लिए अनुभूति की सचाई और मार्मिकता सर्वथा अनिवार्य है। प्रगीत-रचना के मूल में भावाविष्ट चित्तवृत्ति की अपेक्षा है, परन्तु प्रगीत की प्रेरणा सर्वथा बौद्धिक या निपट काल्पनिक नहीं हो सकती। यदि सहज अन्तःप्रेरणा का प्रगीत में अभाव होगा तो उसमें प्रभावक्षमता नहीं आ पाएगी। उसके लिए निश्छल भावना, हार्दिक अनुभूति और उसकी निष्कपट अभिव्यक्ति अभिप्रेत है।

४. **अखण्ड अनुभूति**—प्रेरक अनुभूति की अखण्डता भी प्रगीत-काव्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। प्रगीत में जिस विशेष सुख-दुखात्मक अनुभूति का अंकन होता है वह अखण्ड और अभिन्न होती है। अनुभूति की विविधता प्रगीत में अलभ्य होती है। वह कवि के मन में होने वाली एक प्रतिक्रिया, उसकी एक अनुभूति का परिणाम होता है। इस अनुभूति में उतार-चढ़ाव तो हो सकते हैं वैविध्य, संघर्ष एवं विस्तार नहीं होता।

५. **अन्विति**—अनुभूति की अखण्डता से ही प्रगीत में रागात्मक अन्विति का समावेश होता है। प्रगीत की रचना एक या अनेक छन्दों में हो सकती है। उसमें एक विशेष अथवा एकाधिक खण्ड-चित्रों का अंकन किया जा सकता है, परन्तु यह खण्ड-चित्र एक ही मूल भावना से अनुप्राणित होते हैं। प्रगीत की दृश्यमान विविधता एक ही केन्द्रवर्ती भावना से आबद्ध होती है। इसी विशिष्ट रागात्मक अनुभूति के पोषण के लिए इनकी रचना होती है। अतः रागात्मक अन्विति प्रगीत का अनिवार्य गुण है।

६. **संक्षिप्त आकार**—प्रगीत की मूल प्रेरक भावना इतनी क्षणिक, आवेगदीप्त और तात्कालिक होती है कि उसमें नियमित व्यवस्था और विस्तार का अवकाश कवि को नहीं मिलता। यदि वह आकार का विस्तार करता है तो कल्पना या चिन्तन का आश्रय लेकर। प्रगीत की प्रेरक भावाविष्ट मनःस्थिति बहुत समय तक स्थायी नहीं रह सकती, अतः इसका वाहक भी आकार में संक्षिप्त होता है।

७. **गति-प्रवाह**—आवेग, अन्तःस्फूर्ति, और संक्षिप्त आकार के कारण प्रगीत की पंक्तियों में अद्भुत गति और प्रवाह उत्पन्न हो जाता है। उसमें एक प्रकार की द्रवणशीलता, अतः हृदय की द्रुति का गुण होता है। प्रगीत की पंक्तियाँ अप्रतिहत वेग से पाठक के मन को प्रभावित करती हैं।

८. **संगीतात्मकता**—सदैव स्वर-ताल आदि के बाह्य संगीत की नहीं, परन्तु भाव के आन्तरिक संगीत और भाषा के शब्द-संगीत की अवस्थिति प्रगीत में अनिवार्य है। शब्द संगीत से यहाँ अभिप्राय स्वर और व्यंजन-मैत्री, भावानुकूल पदावली व सुचारु शब्द-विन्यास से भाषा में भावापेक्षी अनुरणन या नाद-गुण उत्पन्न करने से है। भाषा की यह नक्काशी प्रगीत काव्य में प्रभाव की दृष्टि से हितकारी होती है।

६. **कलात्मक-शैली**—प्रगीत में प्रायः किसी बहुमूल्य अनुभूति का समावेश होता है, अतः उसकी अप्रस्तुत-योजना प्रायः अपूर्व, सौन्दर्योन्मेषिनी और चमत्कारिक होती है। चमत्कार से यहाँ अभिप्राय कुतूहलवर्धन या मनोरंजन से नहीं, प्रभावक्षमता से है। प्रगीत की शैली की अलंकृति सहज, भावप्रेरित, विलक्षण अतः प्रभावक्षमा होती है। अनुभूति की वक्रता और चमत्कार से अभिव्यंजना में चमत्कृति स्वयं उत्पन्न हो जाती है।

प्रकार की दृष्टि से प्रगीत काव्य के विभिन्न आधारों पर अनेक भेद किये गए हैं। अधिकांश भेद विषय-भेद के आधार पर व कुछ आकारगत विशेषता की दृष्टि से किये जाते हैं। हमारा सम्बन्ध मुख्यतः रूप-विधा से है और इस दृष्टि से प्रगीत के निम्नांकित प्रकार उपलब्ध हैं :

१. सम्बोधन गीति (Ode)
२. शोक-गीति (Elegy)
३. पत्र-गीति (Epistle)
४. गीत (Song)
५. चतुर्दशपदी (Sonnet)

उपर्युक्त प्रकार, विशेष शैली में लिखे गए प्रगीतों के हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त आधुनिक काव्य में एक विपुल राशि ऐसी गीतियों की प्राप्त होती है जिसमें जीवन की किसी सुख-दुःखात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति उपर्युक्त पद्धतियों से भिन्न सामान्य शैली में की गई है। इन कविताओं में वे सभी विशेषताएँ वर्तमान हैं जिनका निर्देश पिछले पृष्ठों में किया गया। जिन प्रगीतों में उक्त विशेषताओं के अतिरिक्त कोई अन्य रचनागत या शिल्पगत वैशिष्ट्य वर्तमान है, उनका अन्तर्भाव उपर्युक्त प्रकारों में से किसी एक के अन्तर्गत किया जा सकता है। इन विविध भेदों में से केवल सॉनेट में नितान्त आकार-सम्बन्धी विशेषता है, शेष का परस्पर व्यावर्तन शिल्प या रचना-शैली की विशेषता के आधार पर किया जाता है।

आत्माभिव्यंजक भावप्रवण गीतियों की रचना द्विवेदी-युग से ही आरम्भ हो गई थी, परन्तु इस शैली का विशेष उत्कर्ष, छायावाद-वर्ग के कवियों की रचनाओं में, और उसके उपरान्त स्वच्छन्द प्रेम-धारा के कवियों में मिलता है। यहाँ तक कि प्रयोगवाद का बुद्धिजीवी कवि भी अपनी लक्ष्य-सिद्धि में अंशतः इस प्रभाव से खण्डित हुआ है।

इन प्रगीतों में मुख्य रूप से विगत की स्मृतियाँ, वर्तमान की अनुभूतियाँ और भविष्य के मोहक स्वप्न व्यक्त हुए हैं। इनके विषय का वृत्त अधिकतर व्यक्ति और उसके सम्बन्धों से उद्भूत निजी अनुभूतियों से आगे नहीं जाता। हाँ, कभी कवि किसी सामाजिक या राजनैतिक प्रतिबन्ध के कारण स्वयं अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति न कर किसी अन्य जड़ या चेतन तत्त्व पर अपनी भावना का आरोप कर देता है, अथवा प्रतीकों की उद्भावना कर उन्हें माध्यम बनाता है, अथवा कुछ काल्पनिक पात्रों की सृष्टि कर उनकी वाणी को अपनी अनुभूति का वाहक बना देता है। राष्ट्रीय कविताओं में अवश्य भावना का यह परिवेश कुछ व्यापक हो जाया करता है और व्यक्ति, व्यक्ति के, या समाज के प्रति अपनी अनुभूति को विस्तृत कर सम्पूर्ण देश या राष्ट्र को उसके कलेवर में समेट लेता है, परन्तु यह भी राष्ट्र या जन-जीवन के प्रति व्यक्ति की

भावनाओं की ही अभिव्यक्ति होती है।

भावप्रधान कविताओं में उत्तरोत्तर एक निश्चित परिवर्तन लक्षित होता है। द्विवेदी-युग का कवि अपनी अभिव्यंजना में अधिक स्पष्ट किन्तु औपचारिक है। कविता में प्रसाद गुण और स्पष्टता तो है, किन्तु उसमें अन्तःस्फूर्त उद्रेक और आत्मद्रव नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि जानता है कि अमुक स्थिति में ऐसा होता है अत. वर्णन करता है, इसलिए नहीं कि वह ऐसी अनुभूति कर रहा है। कभी-कभी इसी कारण अनगढ़ता आ गई है, भावप्रेरित वक्रता नहीं। प्रिय को 'उपालम्भ' रूप में रचित निम्नलिखित पंक्तियों में, किसी प्रकार का वाग्वैदग्ध्य, वचन-भंगिमा या वक्रता नहीं, स्पष्टता और अनगढ़ता मिलेगी :

रूठोगे, तो तुम्हें मनाना भी आता है,
बिगड़ोगे तो तुम्हें बनाना भी भाता है।
आओगे, तो तुम्हें हृदय में बिठलावेंगे,
आओगे जो नहीं, ढूंढ तुमको लावेंगे।[1]

उपालम्भ ही नहीं, आत्मोद्‌गार और प्रेम-निवेदन भी द्विवेदी-युग के कवियों ने उपर्युक्त शैली में ही किया है। द्विवेदी-युग में गीति काव्य का पुनःसृजन और नवीन दिशा-परिवर्तन लगभग सन् १९१४ के आसपास हुआ। जिस काव्यधारा का चरम शृंगार बाद में छायावाद के कवियों की लेखनी से हुआ उसका आरम्भ इसी समय मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय और बद्रीनाथ भट्ट आदि के द्वारा हो रहा था। परवर्ती कवियों द्वारा गृहीत गीतिकाव्य के सभी उपकरणों का समीकरण इन कवियों द्वारा कर दिया गया था। स्वानुभूति की अभिव्यंजना, भाषा में सरसता व संगीत, छन्दों में पर्याप्त स्वतन्त्रता सभी का परिचय इनकी गीतियों में मिलता है। कुछ बाह्य परिस्थितियों ने इस काव्य-रूप के उत्तरोत्तर विकास में सहयोग दिया। अँगरेज़ी साहित्य से प्रत्यक्ष सम्पर्क, ग्रे, वर्डस्वर्थ आदि कवियों की रचनाओं के अनुवाद, 'सरस्वती' में प्रकाशित होने वाले बंगला की कविताओं के अनुवादों के माध्यम से अंग्रेजी का परोक्ष प्रभाव, और 'गीतांजलि' का प्रकाशन—ये सभी परिस्थितियाँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आगामी काव्य-धारा का पथ-निर्माण करती रहीं और परिणामतः धीरे-धीरे उन सभी विशेषताओं से युक्त हो कर जो गीतिकाव्य का प्राण हैं, नवीन शैली के गीतिकाव्य का स्वरूप निर्माण हुआ। अँगरेज़ी भाषा की लाक्षणिकता और प्रतीक-उद्‌भावना का प्रभाव भी भाषा पर संगीतात्मकता में सारस्य के साथ नयन-गोचर होने लगा था। परवर्ती छायावादी कवि से अब भी गुप्तजी की कला में बहुत अन्तर था। गुप्तजी ने 'झंकार' की रहस्यवादी प्रगीतियों में सूक्ष्म भाव-संवेदनों के स्थान पर जीवन की परिस्थितियों के मध्य हृदय-सौन्दर्य का उद्‌घाटन ही किया है। आत्माभिव्यंजन इस काव्य का प्रतिपाद्य और ईश्वर-आराधन अभिप्रेत है। गुप्तजी की भक्तिमूलक रहस्यभावना का माध्यम प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है, परन्तु उन्होंने सूक्ष्म सौंदर्य की चित्रोपम प्रतीक-व्यंजना नहीं करके व्यक्त सौन्दर्य का भावनाशील चित्रण किया है। 'झंकार' के गीतों में विकासोन्मुख गीति-कला का आरम्भिक रूप ही मिलता है। अपने समसामयिक प्रगीतों में उसका स्थान

---

१. पराग—रूपनारायण पाण्डेय, पृ० १००

विशिष्ट और महत्त्व ऐतिहासिक है, परन्तु पद-लालित्य, शब्दों के माध्यम से अर्थों की झंकृति, और सौन्दर्यवादी अभिव्यंजना—एक शब्द में प्रौढ़ शिल्प का उसमें अभाव है। क्रमशः इन कविताओं में अधिक मर्मस्पर्शिता और अनुभूति की समृद्धि व अन्तःस्फूर्ति तथा समृद्ध कला की वृद्धि हुई। अनुभूतियों के बाह्य, क्रियात्मक रूपों—उद्दीपन और अनुभावों के वर्णन और व्याख्या की अपेक्षा ये कवि अन्तर्वृत्तिनिरूपक अधिक हो गए, अतः छायावाद की कविता कहीं अधिक भाव-समृद्ध है। उसमें इसी कारण वर्णन नहीं, चित्रण, व्याख्या, और व्यंजना मिलती है, और इस भावाभिव्यंजना की पद्धतियाँ भी अनेकानेक, अधिक चमत्कार और वैदग्ध्यपूर्ण हैं। कविता में लक्षणा-व्यंजना, प्रतीकात्मकता, जड़ में चेतन का आरोप, अचर जगत् में मानव जीवन के छाया-स्पर्शों से भाव-व्यंजना आदि, अनेक नूतन पद्धतियाँ छायावाद के साथ प्रचलित हुईं। छायावादी कवि की प्रिय को उपालम्भ-रूप में रचित निम्नांकित पंक्तियाँ उपर्युक्त विशेषताओं को स्पष्ट कर, पीछे दिये गए उदाहरण से अन्तर और शैली-परिवर्तन को स्पष्ट कर सकेंगी :

निधरक तूने ठुकराया तब
मेरी टूटी मृदु प्याली को,
उसके सूखे अधर माँगते
तेरे चरणों की लाली को।
जीवन-रस के बचे हुए कन,
बिखरे अम्बर में आँसू बन
वही दे रहा था सावन घन—
वसुधा की इस हरियाली को।[1]

इन कवियों ने जीवन के दुःख और सुख दोनों को समान रूप से अपनी गीतियों का विषय बनाया, परन्तु वेदना ने उल्लास से कुछ अधिक स्थान पा लिया है। प्रसाद और महादेवी की कविता में यह वेदना कण-कण में व्याप्त है। प्रसाद ने उसकी आवेगमय अभिव्यक्ति की है, और महादेवी ने उसे स्वीकार कर समझौता कर लिया है। 'निराला' में जीवन की पीड़ाओं से, असफलताओं से चोट खाया हुआ मन कविता में आक्रोश और विद्रोह कर उठा है। ये मन को जलाने और तपाकर निखारने में उतना विश्वास नहीं करते। इन कवियों के उपरान्त प्रेम की प्रत्यक्ष और स्वच्छन्द अभिव्यक्ति हालावाद के प्रवर्त्तक कवि 'बच्चन' और उनके अनुयायी कवियों में मिलती है। इन कवियों में अधिक प्रत्यक्षता तथा जीवन की अनुभूतियों को उनके यथावत् रूप में व्यक्त करने की प्रवृत्ति है। पूर्ववर्ती कवियों के रचना-काल में विद्यमान सामाजिक नैतिक प्रतिबन्ध अब उतने ही संकीर्ण, कठोर रूप में वर्तमान न थे, अतः वे छायावादी कला की रेशमी जाली उठाकर अधिक वास्तविक और प्रकृत रूप में सामने आए। इन्होंने न प्रेम के उन्नयन का प्रयत्न किया, न उसे बौद्धिक व कल्पनात्मक रहस्यवाद बनाने का, और न दुःख को काम्य मानकर जीवन में उसकी सैद्धान्तिक स्वीकृति की। वे जिस रूप में जिस बात का अनुभव करते हैं, उसी रूप में प्रत्यक्ष, बिना किसी दुराव-छिपाव के पाठक के सम्मुख रख देते

---

१. लहर—प्रसाद, पृष्ठ ४२

हैं। इस प्रकार वे सुख-दुख का खेल खुलकर खेलते रहे, और अपने पाठक को उसमें समभागी बनाते रहे। इसे पाठक के प्रति एक प्रकार की ईमानदारी माना जा सकता है। इस प्रवृत्ति ने इनकी अभिव्यक्ति को प्रभावित किया। इन्होंने न प्रतीकों का आश्रय लिया और न अतिशय लक्षणा-व्यंजना और वाग्विदग्धता का और न अपनी भावनाओं का बोझ जड़-चेतन प्रकृति को वहन करने के लिए बाध्य किया। इनकी कविता में अनुभूति का प्रकृत, वास्तविक और मांसल रूप, तथा अभिव्यक्ति में भावावेग, आत्मद्रव और प्रसादमयता मिलती है।

प्रगीत काव्य की इस प्राप्त राशि में कहीं मिलन (वास्तविक व काल्पनिक) का उल्लास और आत्मविभोरता है तथा अन्यत्र विरह की वेदना, व्याकुलता, आत्मविस्मृति और तन्मयता। पहले से दूसरे प्रकार की कविताएँ मात्रा में अधिक हैं। असफल प्रेमजन्य संताप ये कवि सिद्धि और सफलता की अपेक्षा अधिक सहते रहे। उपालम्भ गीतियाँ भी इन्होंने पर्याप्त लिखी हैं।

एक तीसरे प्रकार की भावसंकुल गीतियाँ किसी वर्तमान पदार्थ से उद्दीप्त कवि की भावनाओं अथवा किसी विगत प्रसंग की पुनः स्मृति के रूप में लिखी गईं। प्रिय अथवा किसी विगत मधुर घटना से सम्बद्ध कोई पदार्थ या प्राकृतिक तत्त्व, मन में स्थित स्थायी भाव को उद्दीप्त कर देता है, और कभी उसी उद्दीपक विषय को सम्बोधित कर, तथा कभी केवल अपनी मनोभावनाओं का अंकन कर, कवि हृदय का यह भार हलका कर लेता है।

सर्वत्र कवि का दृष्टिकोण व्यक्तिगत राग-विराग का व्यंजक नहीं होता। कभी-कभी वह किसी ऐतिहासिक पात्र, प्राकृतिक तत्त्व या प्रसंग के प्रति अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया का वर्णन करता है, और कभी देश-काल से विशिष्ट और आबद्ध पात्रों से किसी प्रसंग-विशेष में भाव-तादात्म्य करने का प्रयत्न भी करता है। पहले प्रकार की कविताओं के उदाहरण रामकुमार वर्मा की 'फूलवाली', 'नूरजहाँ', 'चट्टान' तथा प्रसाद की 'पेशोला की प्रतिध्वनि' आदि रचनाओं में मिल जाते हैं—

फूल-सी हो फूलवाली।
किस सुमन की साँस तुमने आज अनजाने चुरा ली।
जब प्रभा की रेख दिनकर ने
गगन के बीच खींची।
तब तुम्हीं ने भर मधुर
मुस्कान कलियाँ सरस सींची,
किन्तु दो दिन के सुमन से
कौन सी यह प्रीति पाली ?[1]

कभी-कभी इस प्रकार के प्रसंगों में आख्यान तत्त्व भी सिमट आया है। उदाहरण के लिए 'चट्टान' में कवि को शापित ऋषि-पत्नी अहल्या का स्मरण हो आता है। दूसरे प्रकार के उदाहरण कवि प्रसाद की 'लहर' में संग्रहित कविताओं 'अशोक की चिन्ता' तथा 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' में मिल जाते हैं। कवि ने इन दो इतिहासप्रसिद्ध वीरों के, प्रसंग-विशेष में उत्पन्न हृदय-

---

१. कवि भारती—रामकुमार वर्मा, पृ० ४६६

गत विप्लव और विक्षोभ को व्यक्त किया है। ऐसा प्रायः तभी होता है, जब वर्ण्य-विषय का सम्बन्ध इतिहास-पुराण के तथ्यपरक प्रसंगों से होता है, परन्तु इनमें भी कवि की दृष्टि व्यक्ति-निष्ठ होती है वस्तुनिष्ठ नहीं। कवि ऐतिहासिक पात्रों के बाह्य जीवन में घटित होने वाली वस्तुरूप घटनाओं का नहीं, उनकी मानसिक और हृदयगत सक्रियता का वर्णन करता है। केवल अपने हृदय की बात न कहकर किसी अन्य व्यक्ति के हृदय की बात कहता है। स्वभावतः ऐसा वह उस पात्र के साथ भावतादात्म्य स्थापित करके करता है। परन्तु काव्य-रूप की दृष्टि से ये कविताएँ गीति-काव्य के अन्तर्गत ही आयेंगी।

परिमाण की दृष्टि से जितनी अधिक रचना आधुनिक युग में प्रगीत काव्य की हुई उतनी किसी अन्य काव्य-रूप की नहीं। द्विवेदी-युग से इस काव्य की परम्परा विवेच्य साहित्य की अन्तिम कड़ी—प्रयोगवाद तक अनाहत, अबाधित रूप से चली आई है। छायावाद के कवि तो गीति कवि थे ही, परन्तु इस धारा के विरोध में जिन वादों का जन्म हुआ, उनके कवि भी प्रगीत-रचना के आकर्षण से अपने को नहीं बचा सके। यहाँ तक कि 'तारसप्तक' के 'अन्वेषी' कवियों ने भी जहाँ नई राहों के अन्वेषण का प्रयत्न किया, वहाँ इस पुरानी राह का भी लीक-लीक अनुसरण किया है। नये खेवे के इन कवियों की अनेक रचनाएँ प्रगीत के सुन्दर उदाहरण हैं। कहीं तो भाव के संगीत के साथ कवि ने बाह्य संगीत के सुकर विधान को दृष्टि में रखकर रचना की है :

मैं उनका ही होता, जिनसे
मैंने रूप भाव पाए हैं।
वे मेरे ही हिए बँधे हैं,
जो मर्यादाएँ लाए हैं।[1]

अन्यत्र इतनी नियतलयता व छन्द-बन्धन तो नहीं परन्तु आत्मद्रव, अन्तःस्फूर्ति और भाव-संगीत निश्चित रूप से मिलता है। इसके लिए बहुत दूर तक मुक्त छन्द का प्रयोग उत्तर-दायी है :

अनजाने चुपचाप अधखुले वातायन से
आती हुई जुन्हाई-सा ही
तेरी छवि का सुधि-सम्मोहन
आज बिखरकर सिमट चला है मेरे मन में।
छलक उठा है उर का सागर
किसी एक अज्ञात उभार से,
किन सपनों के मदिर भार से,
किन किरनों के परस प्यार से,
पल भर में यों आज अचानक।[2]

इस प्रकार की प्रगीतियों के उदाहरण 'तारसप्तक' में संकलित सातों कवियों की

---

१. तारसप्तक—गजानन मुक्तिबोध, पृ० २०
२. तारसप्तक—नेमीचन्द्र जैन, पृ० २६

कविताओं में प्राप्त हो जाते हैं।

कुछ प्रगीतियाँ कवियों ने प्रथम पुरुष में अपनी बात के रूप में न लिखकर प्राकृतिक उपादानों पर अपनी मनसा का आरोप कर पराभिव्यक्ति के रूप में लिखीं। ऐसी कविताओं में कवि प्रकृति के प्रति केवल द्रष्टा का दृष्टिकोण न रखकर, उस पर चेतना का आरोप करता है, और तदुपरान्त उनके साथ समानानुभूति और भाव-विनिमय करता है। इस प्रकार कवि की आत्माभिव्यक्ति का माध्यम ये प्राकृतिक उपादान बन जाते हैं। कभी-कभी इस शैली का अवलम्बन लेने से कविता में अद्भुत नाटकीयता का समावेश होता है। कवि उदयशंकर भट्ट की 'दीप कहता अँधेरे से', और 'पूछती मँझधार कवि से' इसी शैली में रचित सुन्दर गीतियाँ हैं—

कौन मेरा तट, कहाँ आधार कितनी दूर ?
पूछती मँझधार कवि से पार कितनी दूर ?
—कह उठा कवि तट नहीं तेरा कहीं है,
मध्य को किस अन्त ने घेरा कहीं है ?
तट हुआ मँझधार का मँझधार क्या फिर।
अन्त हो जिस प्यार का वह प्यार क्या फिर।
मुक्त पारावार में जाकर मिलेंगे,
लहरियों के प्यार में जाकर खिलेंगे,
आप ही सम्पूर्ण को अधिकार कितनी दूर ?
पूछती मँझधार कवि से पार कितनी दूर ?[1]

उक्त शैली में माखनलाल चतुर्वेदी ने भी कुछ अत्यन्त सुन्दर गीतियों की रचना की। उनकी 'पुष्प की अभिलाषा' तथा 'कैदी और कोकिला' विशेष लोकप्रिय हुई। कवि की क्रान्तिकारी राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति इन प्रतीकों और पात्रों के माध्यम से हुई है। राजनैतिक प्रतिबन्धों के कारण कदाचित् कवि ने ऐसा किया। साथ ही इस प्रकार के उपक्रम से इन गीतियों में अधिक नाटकीयता अतः रोचकता और परिणामस्वरूप प्रभावात्मकता उत्पन्न हो गई है।

किसी विशेष प्राकृतिक अथवा अन्य पदार्थ के दर्शन से उद्दीप्त अपनी भावनाओं को, जिनमें अधिकतर विगत की करुण-मधुर स्मृतियाँ संचित हैं कवि सियारामशरण गुप्त ने 'विषाद' में संकलित लघु गीतियों में बाँधा है। 'दूरागत गान', 'किरण', 'चित्रांकिता', 'एक चमक' आदि शीर्षकों में कवि ने उक्त उद्दीपक उपकरणों का वस्तुनिष्ठ वर्णन न करके हृदयगत प्रभाव का वर्णन किया है। इन प्राकृतिक उपकरणों व कार्यव्यापारों से वह समानानुभूति करता है अथवा वे उसकी भावनाओं के लिए उद्दीपक का कार्य करते हैं। कवयित्री सुभद्राकुमारी चौहान ने इसी शैली में 'मेरा बचपन' तथा 'इसका रोना' आदि वत्सल भाव की कविताएँ लिखी हैं।

प्रगीत-रचना सभी वादों तथा सभी चिन्ताधाराओं के कवियों के मध्य इतनी प्रचलित हुई कि जीवन की मधुर और मसृण व्यक्तिगत भावनाओं को वाणी और प्रतिष्ठा देने वाले

---

१. कवि-भारती—उदयशंकर भट्ट, पृ० ४७३

छायावादी कवि तो निरन्तर इसके साधक रहे ही, राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा में प्राण-संचार करने वाले कवि सियारामशरण, दिनकर, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन आदि, तथा प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के समर्थक कवि भी इस विधा की माया से असंपृक्त न रह सके। काव्य की रूप-विधा के क्षेत्र में प्रगीत-रचना की यह शैली वह एकमात्र विधा है, जिसका एकछत्र आधिपत्य और सभी अग्रणी कवियों द्वारा अपवाद-रहित प्रयोग विवेच्य युग के साहित्य में रहा।

प्रगीतों के कुछ विशेष प्रकार जिनका उल्लेख प्रसंगारम्भ में किया जा चुका है, कहीं अंशतः, और कहीं मूल रूप में पाश्चात्य कविता से प्रभावित हैं। अंशतः से यहाँ अभिप्राय ऐसी विधाओं से है जिनका मूल भारतीय है, कम से कम कुछ भिन्न रूप में वे प्राचीन भारतीय साहित्य में प्राप्त होती हैं, परन्तु विदेशी काव्य के संसर्ग से उनको पुनरुज्जीवन प्रदान किया गया, अथवा उनका पुनर्निर्माण किया गया। मूल रूप में पाश्चात्य कविता से प्रभावित रूप-विधाएँ वे हैं जिनका मूल विदेशी है, और प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव से, जिनके हिन्दी-काव्य में प्रवेश का इतिहास आधुनिक युग से पीछे नहीं जाता, भले ही कवियों ने कुछ पूर्व-प्रचलित रूप-विधाओं के आधार पर और कुछ अपनी प्रतिभा के बल पर तथा रुचि के अनुकूल उनमें रूप-परिवर्तन किया हो।

यद्यपि आधुनिक युग का बुद्धिजीवी कवि केवल भावुकता के आधार पर काव्य-रचना कम करता है, उसमें विचार तत्त्व किसी-न-किसी रूप में कुछ दूर तक निहित अवश्य रहता है, किन्तु काव्य-विधा का निर्णय अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण विशेषता के आधार पर कर लिया जाता है। अतः प्रगीत के जिन विभिन्न प्रकारों का उल्लेख पहले किया जा चुका है, उनमें विचार-तत्त्व की दृष्टि से परस्पर मात्रा-भेद अवश्य मिलता है परन्तु उनमें प्रधानता राग-तत्त्व की ही है। केवल चतुर्दशपदी अथवा 'सॉनेट' की रचना आकारगत विशेषता को आधार मानकर की जाती है और उसमें भाव और विचार में से किसी की भी प्रेषणीयता सम्भव है।

प्रगीत के इन विशेष भेदों में, सामान्य गीतिकाव्य से अन्तर यही होता है कि इनमें प्रगीत की पूर्वकथित सभी विशेषताओं के साथ कुछ अन्य व अतिरिक्त विशेषताएँ ऐसी होती हैं जो इन्हें सामान्य गीतिकाव्य से तथा उसके अन्य प्रकारों से पृथक् करती हैं। प्रगीत के इन विविध रूपों में प्रयोग और परिमाण की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्व सम्बोधन गीतियों का है। जिन्हें आंग्ल काव्य में 'ओड' कहा गया है। इसी विधा से हम आरम्भ करेंगे।

सम्बोधन-गीति (Ode)

पशु-पक्षियों के प्रति आत्माभिव्यक्ति, तथा चराचर जगत् के प्राणियों के प्रति मध्यस्थ सन्देशवाहक के रूप में आत्मनिवेदन की पद्धति संस्कृत और हिन्दी साहित्य में बहुत पुरानी है, परन्तु आधुनिक काल के काव्य में सम्बोधन गीतियों के रूप में जिन कविताओं की रचना हुई उनमें उक्त परम्परा का परिवर्द्धन नहीं, विदेशी साहित्य का प्रभाव अधिक है। अँगरेजी साहित्य में इस काव्य-रूप का प्रचार उन्नीसवीं शताब्दी के उपरान्त विशेष रूप से हुआ, अतः आंग्ल साहित्य में भी इसका इतिहास विशेष प्राचीन नहीं है।

ओड, प्रगीत-काव्य का प्रकार-विशेष है। उसकी अधिकांश विशेषताएँ वही हैं जो गीति-काव्य में सामान्यतः उपलब्ध होती हैं, किन्तु इस गीति में कुछ अन्य विशेषताओं का निर्देश

पाश्चात्य विद्वानों ने किया है, जिनके आधार पर अन्य गति-प्रकारों से इस काव्य का व्यावर्तन किया जाता है।

ओड, वैभवपूर्ण, विस्तृत, प्रगीतात्मक पद्य-रचना को कहते हैं। मूलतः ओड का अभिप्राय ऐसी कविता से होता था जो वाद्य-संगीत के साथ गेय हो। यूनान के आरम्भिक गेय काव्य की रचना मुख्यतः दो रूपों में होती थी—पहली प्रगीत, और दूसरी ऐसा वृन्द-गान जिसमें कवि आत्माभिव्यक्ति करता था, परन्तु यह आत्माभिव्यंजन सदा सहगानाश्रित व रूपान्तरित होता था। इसी काव्य-रूप से ओड का विकास हुआ।[1] यूनानी और रोम के प्राचीन काव्य में जिस रूप में यह काव्य-रूप व्यवहृत हुआ, १९वीं शताब्दी के अँगरेज़ी कवियों की रचना-विधि उससे सर्वथा भिन्न थी। वर्डस्वर्थ, कॉलरिज, टेनीसन आदि कवियों की सिद्धि इस दिशा में विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं स्वीकार की गई। तुलनात्मक दृष्टि से इन कवियों की रचना को अव्यवस्थित कहा गया।[2] स्वीनबर्न और कीट्स की सिद्धि इस दिशा में अपेक्षाकृत अधिक अभिनन्दनीय मानी गई। कारण—इन कवियों ने वस्तुतः कुछ विशदाकार प्रगीतों की रचना समान और क्रमबद्ध छन्दों में की और यूनानी ओड-शैली के विकास का प्रयास किया।[3] इस प्रकार ओड की मुख्य रूप से चार विशेषताएँ आरम्भ में स्वीकार की गई थीं—विशदाकार, भव्य-शैली, आत्मपरक दृष्टिकोण और गेयता। कालान्तर में इन विशेषताओं में कुछ वृद्धि हो गई, और इस गीति-रूप को गेय, परन्तु प्रायः सम्बोधनात्मक शैली में विरचित स्वीकार किया जाने लगा। साथ ही शैली में उत्कर्ष, स्वर में उत्साह और विविध या विषम छन्दों में रचना ओड शैली की विशेषताएँ मानी गईं। इस कविता के आकारगत संकोच और विस्तार का निश्चय भी ५०-२०० पंक्तियों के बीच में कर दिया गया। अव्यवस्थित छन्द-रचना की बात शायद अँगरेज़ी कवियों की रच-

---

1. ODE, a form of stately and elaborate lyrical verse. The original signification of an ode was a chant, a poem arranged to be sung to an instrumental accompaniment. There were two great divisions of the Greek melos or song. One of them—came close to what modern criticism knows as lyric. On the other hand, the choir song, in which the poet spoke for himself, but always supported or interpreted, by a chorus, led up to what is known as ode proper.

   Encyclopedia Britannica—Volume XVI, page 705

2. The odes of Wordsworth, Coleridge and Tennyson are entirely irregular. Shelley desired to revive the pure manner of the Greeks, but he understood the principle of form so little that he began his 'Ode to Naples...'

3. Swinburne, although some of his odes like those of Keats, are really elaborate lyrics written, in a succession of stanzas identical in form, cultivated the Greek form also, and some of his.....Ibid, page 705.

नाओं को दृष्टि में रखते हुए कही गई। प्राचीन और आधुनिक परिभाषाओं का यह अन्तर 'ऑक्सफोर्ड' शब्द-कोष में दिये गए शब्दार्थ से स्पष्ट है।[1] इस प्रकार आधुनिक काल तक आते-आते इस काव्य-विधा में जो अन्तर हो गया वह संक्षेप में इस प्रकार है—

१. ओड की रचना अनिवार्यतः वृन्द-गान या गेय रूप में नहीं की जाती थी।

२. सम्बोधन के रूप में इस प्रकार की कविताएं लिखना तत्कालीन रूढ़ि हो गई।

३. शैली में उत्कर्ष या भव्यता के साथ उत्साह-समन्वित स्वर ओड के लिए आवश्यक मान लिया गया।

४. छन्दों का वैविध्य या अनियमित प्रयोग जो प्राचीन ओड का दूषण माना जाता था, इस काव्य-विधा की सामान्य विशेषता स्वीकार कर ली गई।

५. पंक्ति-संख्या के रूप में इनका आकार निश्चित कर दिया गया।

६. सामान्यतः तुकान्त, व कहीं-कहीं अन्त्यमुक्त प्रयोग भी 'ओड' की विशेषताओं में परिगणित किये गए।

अंगरेज़ी साहित्य में क्रमशः इस काव्य-रूप का व्यवहार की दृष्टि से जो रूप स्थिर हो गया उसकी ओर निर्देश करते हुए एनिड-हेमर ने कहा कि 'ओड' शब्द का कवियों द्वारा ही शिथिल प्रयोग बहुधा गीति या प्रगीत के पर्याय-रूप में किया जाता रहा है, परन्तु क्रमशः इसका प्रयोग विशेष रूप से ऐसे संबोधनात्मक या चिन्तनप्रधान प्रगीत के लिए किया जाने लगा जिसकी रचना किसी आनन्दमय या मांगलिक अवसर पर औपचारिक रूप में की गई हो तथा अन्य अधिक अन्तःस्फूर्त प्रगीत-रचनाओं की अपेक्षा जिसकी छन्द-रचना विशद और जटिल हो।[2] इस प्रकार 'ओड' सामान्य अन्तःस्फूर्त प्रगीत से भिन्न, चिन्तनप्रधान, विशद और भव्य शैली व संश्लिष्ट छन्द-विधान में अवसर-विशेष पर लिखी औपचारिक प्रगीत-रचना है। स्पष्ट है, अंगरेज़ी साहित्य तक आते-आते 'ओड' का स्वरूप यूनानी काव्य से बहुत भिन्न हो गया।

अब तक हमने ओड की जिन विशेषताओं का पाश्चात्य विद्वानों के मताधार पर उल्लेख

---

1. Ode, n. (orig.) poem meant to be sung (choral—song of chorus in Greek play etc.); (mod.) rhymed or rarely unrhymed lyric often in form of address, usu. of exalted style and enthusiastic tone, often in varied or irregular metre & usu. between 50 & 200 lines in length.

The Concise Oxford Dictionary—IV edition, page 819.

2. The term 'ode' has been loosely used in English, especially by poets themselves, sometimes as synonymous with 'song' or 'lyric', but it has gradually come to be applied especially to a lyrical address or meditation on a solemn or joyful occasion, often with a ceremonial character, and demanding a metrical form of greater elaboration and complexity than the more spontaneous lyric.

The Metres of English Poetry—Enid Hamer, page 218.

किया, उनमें किसी ऐसे विशिष्ट और व्यावर्त्तक तत्व का निर्देश नहीं मिलता जिसके आधार पर अन्य प्रगीत-रचनाओं से उसमें अन्तर-स्थापन किया जा सके। इस काव्य-रूप के विषय में आलोचकों में परस्पर इतना मतान्तर है कि यह निश्चित कर पाना बहुत कठिन है कि 'ओड' के अन्तर्गत किस प्रकार की रचनाओं का अन्तर्निवेश किया जाय। अधिकांश उपलब्ध परिभाषाओं में उन्हीं विशेषताओं का पुनराख्यान किया गया है जिनका उल्लेख हम पीछे कर आए हैं—विषय, भाव और शैली की गरिमा एवं उदात्तता।[1] परन्तु इन परिभाषाओं में किसी ऐसे व्यावर्त्तक तत्व का उल्लेख नहीं मिलता जिसके आधार पर अन्य गीति-प्रकारों से इसमें भेद-स्थापन किया जा सके। इसी अनिश्चितता को लक्षित करते हुए हड्सन ने कहा कि यह संज्ञा अपने आप में अस्पष्ट और अनियत है। ओड की अधिक स्वाभाविक विशेषताओं में—विषय और शैली की भव्यता और उत्कृष्टता तथा विचार के तर्कसम्मत क्रम-विस्तार के साथ, आवश्यक रूप से नहीं, किन्तु सामान्यतः संश्लिष्टता और विशदाकार मिलता है। ओड का स्वर प्रायः पद्य-वक्तृता का सा होता है।[2] 'ओड' की शिल्पगत विशेषता पर आंग्ल साहित्य के विद्वानों ने अधिकतर बल दिया है। 'ओड' की रचना के लिए कुछ सीमा तक लयात्मक-रूपान्तरण की क्षमता आवश्यक मानी गई तथा उसे ऐसी काव्य-विधा स्वीकार किया गया है जिसकी समानता संगीत कला से होती है परन्तु केवल काव्यगत दृष्टिकोण से—सामान्य रूप से जो लम्बी कविता से भिन्न नहीं होती। ओड अनिवार्य रूप से विस्तृत या लघु नहीं, प्रगीत-रूप में ग्राह्य होना चाहिये।[3] आंग्ल साहित्य में प्रयोग और सिद्धान्त की दृष्टि से 'ओड' की निम्नांकित विशेषताएँ निश्चित की जा सकती हैं :

(१) सामान्य प्रगीत की अपेक्षा, आकार में सम्बोधन-गीति लम्बे होते हैं।

(२) 'ओड' का विषय प्रायः इस प्रकार की अनुभूति होती है, जिसमें विकास का अवकाश रहता है।

---

1. A rimed (rarely unrimed) lyric, often, in the form of an address, generally dignified or exalted in subject, feeling and style.

   New English Dictionary.

2. In addition to dignity or exaltation of matter and manner and a logical evolution of thought, which may be accepted among its more habitual characteristics, it is generally, though it would seem not necessarily, marked by a certain amount of complexity and elaboration, it has often something of the quality of a poetical oration.

   An Introduction to the Study of Literature—W. H. Hudson, page 99.

3. An ode, in practice implies a certain architectoric mastery of rhythmic variations, a structure which, I suppose, has its analogies in music, but which from a strictly poetic point of view, does not differ from the long poem in general.—The ode, that is to say, is not essentially long or short, it might conceivably be a lyric.

   Forms in Modern Poetry—Herbert Read, page 63-64

(३) भाषा शैली एवं विषय में भव्यता होती है, और उसका स्वर उदात्त होता है।

(४) संघटना अनियमित एवं सहज अलंकृत होती है।

(५) ओड का स्वर शुद्ध आत्मपरक, प्रायः सम्बोधनात्मक अथवा अपने मूल के अनुकूल वृन्द-गान का भी हो सकता है।

(६) सम्बोधन गीति का स्वर प्रायः काव्यात्मक वक्तृता (poetical oration) का सा होता है।

ओड, गीति-काव्य का एक भेद है, अतः गीति-काव्य के गुणों—आत्मनिष्ठा, एकसूत्रता या भावान्विति, भावमय कल्पना तथा संगीतात्मकता आदि का सहज समावेश इस काव्य-रूप में होता है। ओड के वर्तमान रूप में संगीतात्मकता से हमारा अभिप्राय गेयता से नहीं है। यह संगीत आरोपित या बाह्य संगीत न होकर भावना का संगीत भी हो सकता है, यद्यपि ओड का आरम्भ ग्रीक साहित्य में गेय रूप में ही हुआ था। ओड का मूल ग्रीक साहित्य का शब्द 'ओडे' है जिसका अर्थ ग्रीक भाषा में गीत होता है। इस काव्यरूप का आरम्भ भी वहाँ गाने के लिए ही हुआ अतः इनकी रचना संगीत के शास्त्रीय-विधान के अनुकूल ही हुआ करती थी, परन्तु आंग्ल साहित्य में रचित ओड काव्य में संगीत अनिवार्य तत्त्व नहीं रह गया और हिन्दी में उक्त शैली में रचित कविताओं पर ग्रीक का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा अतः गेयता इस विधा का अनिवार्य गुण नहीं माना जा सकता।

बाह्य छन्दविधान की दृष्टि से ओड के दो प्रमुख प्रकार हैं—व्यवस्थित (regular) और अव्यवस्थित (Irregular)। पहले में सम्पूर्ण गीति की रचना व्यवस्थित छन्दों में, उनका नियमित विभाजन करके की जाती है, और दूसरे में ऐसा कोई प्रतिबन्ध या नियमित विधान स्वीकार नहीं किया जाता। विषय-तत्त्व दोनों में लगभग समान ही होता है।

'व्यवस्थित ओड' के पुनः तीन उपभेद किये गए। ग्रीक के प्रसिद्ध गीतिकार 'पिंडार' की शैली के आधार पर पिंडारिक ओड (Pindaric ode), रोम के कवि होरेस (Horace) की निजी शैली के आधार पर होरेशियन ओड (Horacian ode) तथा इन दोनों से भिन्न अँगरेज़ी के आधुनिक व्यवस्थित ओड (modern regular ode) जिनमें कवियों ने पूर्वोक्त दोनों शैलियों को आदर्श न मानकर अपनी निजी शैली का विकास किया। वर्डस्वर्थ, शैली और कीट्स इसके निर्माता हैं, और हिन्दी के आधुनिक 'ओड'-साहित्य पर इसी शैली का सर्वाधिक प्रभाव है।

जैसा हम पहले भी कह चुके हैं ग्रीक—दूसरे शब्दों में पिंडार के ओड में संगीत के शास्त्रीय विधान पर नियमित छन्द-प्रणाली का सचेष्ट प्रयोग किया गया। संगीत के वैशिष्ट्य के कारण इन गीतों में लय, अन्त्यानुप्रास आदि का भी विशेष ध्यान रखा जाता था, तथा कल्पना, अलंकार, और शैली का वैभव इनमें विशेष रूप से प्राप्त होता है।

'होरेशियन ओड' अपेक्षाकृत साधारण, संक्षिप्त परन्तु अधिक व्यवस्थित और ललित होता है। अँगरेज़ी साहित्य में इन दोनों शैलियों के उदाहरण विरल परन्तु प्राप्य अवश्य हैं। इनसे भिन्न व्यवस्थित ओड-रचना की जिस स्वतन्त्र शैली का विकास अँगरेज़ी के कवियों ने किया, उनमें अग्रिम कवि स्पेन्सर तथा अनुवर्ती—मिल्टन, वर्डस्वर्थ, शैली, कीट्स, जॉनसन,

ड्रेटन आदि थे। इन कवियों ने अव्यवस्थित और व्यवस्थित दोनों प्रकार के 'ओड' की रचना की। वर्डस्वर्थ, कॉलरिज और टेनिसन ने अव्यवस्थित ओड की रचना अधिक की है और स्वीनबर्न और कीट्स ने व्यवस्थित ओड की।

शैली की दृष्टि से भी अँगरेज़ी में ओड की रचना दो रूपों में हुई—वस्तु-विशेष को सम्बोधित कर अपने हृदयगत भावों तथा विचारों की व्यंजना के रूप में, और जिन वस्तुओं को सम्बोधित कर काव्य-रचना की जाय, अपनी भावनाओं को उन्हीं की वाणी पर आरोपित कर आत्मकथात्मक शैली में। इस प्रकार पहली में वक्ता कवि होता है और सम्बोध्य वस्तु या पात्र-विशेष तथा दूसरी में जिसके प्रति सम्बोधन में रूप के ओड की रचना की जाती है, वह विषय आत्मकथात्मक शैली में कवि की भावनाओं का प्रेषक या माध्यम बन जाता है। इस प्रकार की गीति का विषय स्वयं वक्ता होता है। कवि 'टेनिसन' की 'स्काईलार्क' (skylark) और क्लाउड (cloud) क्रमशः उक्त दोनों शैलियों के उदाहरण हैं। हिन्दी साहित्य में अँगरेज़ी की ही भाँति दोनों शैलियों में सम्बोध-गीतियों की रचना हुई, परन्तु पहले प्रकार की गीतियाँ दूसरे की अपेक्षा अधिक लिखी गई।

इस विधा के अंकुर—जैसा हम पहले भी संकेत कर चुके हैं, संस्कृत और हिन्दी के प्राचीन 'सन्देश-काव्यों' एवं 'दूत काव्यों' में मिलते हैं, परन्तु आधुनिक युग में इस प्रकार की गीतियों का पल्लवन विदेशी पद्धति के अनुकूल हुआ और इस युग में इस विधा का चरमोत्कर्ष छायावादी खेवे के कवियों—प्रसाद, पन्त और निराला के काव्य में विशेष रूप से दिखाई पड़ा।

सम्बोध-गीतियों का आरम्भ छायावाद से पूर्व हो चुका था। रूपनारायण पाण्डेय ने 'पराग' में एक छोटी-सी कविता 'कल्पवृक्ष के प्रति' सम्बोधन के रूप में लिखी है, परन्तु इस कविता को शब्द के बहुत सही अर्थों में सम्बोध-गीति नहीं कहा जा सकता। कवि ने एक चतुष्पदी के बाद ताटंक छन्द और तदुपरान्त एक कवित्त में इस कविता की रचना की है, परन्तु दृष्टिकोण आध्यान्तरिक नहीं, कुछ अन्योक्ति का-सा है। कल्पवृक्ष की महत्ता का वर्णन करने के उपरान्त कर्त्तव्य का स्मरण कराने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार आत्मेतर आलम्बन के प्रति कवि की रागात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त न होकर, उसके माध्यम से अन्योक्ति-शैली में उपदेश, अतः विचार व्यक्त हुआ। प्रयुक्त छन्द भी विशेष व्यवस्थित और अनुकूल नहीं।

सम्बोध-गीतियों का वास्तविक आरम्भ और उत्कर्ष प्रसाद, पन्त और निराला द्वारा रचित गीतियों में ही हुआ। प्रसाद की आरम्भिक रचनाओं में ही 'किरण', 'वसन्त', 'विषाद', 'दीप', 'रूप' आदि सम्बोध-गीतियाँ प्राप्त होती हैं। निराला की 'यमुना के प्रति', 'वासन्ती', 'वसन्त समीर', 'जूही की कली', 'शेफालिका', 'प्रपात के प्रति', 'कवि', 'प्रिय के प्रति', 'नयन', 'तरंगों के प्रति', 'जलद के प्रति' आदि सुन्दर सम्बोधगीतियाँ हैं। इनमें से अधिकांश 'परिमल' में संग्रहित हैं।

पन्त को भी इस विधा के प्रति विशेष आकर्षण रहा। उनकी अधिकांश सुन्दर कविताएँ सम्बोध-गीतियाँ ही कही जायँगी। विचारधारा के उत्तरोत्तर विकास के विभिन्न चरणों में वे इस विधा का प्रयोग निरन्तर करते रहे। 'पल्लव' काल की कविताओं में 'छाया', 'बादल',

'परिवर्तन', 'शिशु', 'वीचि-विलास', 'स्वप्न' आदि उत्कृष्टतम सम्बोध-गीतियों की रचना हुई। 'गुंजन' काल में 'भावी पत्नी के प्रति', 'विहग के प्रति', तथा 'युगान्त' में 'बापू के प्रति' एवं 'मानव' आदि सम्बोध-गीतियाँ लिखी गईं।

इन कवियों के अतिरिक्त मुकुटधर पाण्डेय की 'कुररी के प्रति', मिलिन्द की 'कलाकार से' और 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे', तथा भगवतीचरण वर्मा की 'नूरजहाँ की कब्र पर' का उल्लेख किया जा सकता है। दिनकर की 'हिमालय के प्रति' भी अत्यन्त उच्चकोटि की सम्बोध-गीति है। तारसप्तक में अज्ञेय की 'जनाह्वान' और भारतभूषण अग्रवाल की 'मसूरी के प्रति' और 'अपने कवि से' रचनाएँ भी इसी विधान्तर्गत आयेंगी।

अब तक जिन रचनाओं का उल्लेख किया गया, वे सब किसी आत्मेतर विषय को सम्बोधन कर कवि की अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति के रूप में लिखी गई हैं। इनसे भिन्न दूसरी शैली—वर्ण्य वस्तु के द्वारा आत्मविषयक शैली में लिखी सम्बोध-गीतियों की मिलती है। ऐसे प्रयोग यद्यपि बहुत विरल हुए। पन्त की 'बादल' और सियारामशरण की 'दूर्वादल' में 'घट' नामक गीति इसी प्रकार की है।

कुछ दूर तक वर्णनात्मकता सभी सम्बोध-गीतियों में मिलती है। कवि प्रायः सम्बोधन करता हुआ सम्बोध्य के बाह्य रूप-वर्णन से आरम्भ करता है और क्रमशः उत्कृष्ट कल्पना तथा भावों के तार्किक विकास से गहन विचारात्मकता की ओर बढ़ता जाता है। यह बौद्धिकता इन गीतियों में समय की प्रगति के साथ बढ़ती गई है। आरम्भिक रचनाओं में वर्णनात्मकता और राग-तत्त्व की प्रधानता है, और परवर्ती गीतियों में अपेक्षाकृत बौद्धिकता और चिन्तन, तथा सिद्धान्त-व्यंजना। यह विशेषता पन्त की उत्तरकालीन गीतियों और प्रयोगवादी कवियों में अपेक्षाकृत अधिक मिलती है। प्रसाद और निराला की संबोध-गीतियों में भावसंवलित वर्णन की प्रधानता है, इनमें बौद्धिकता की अपेक्षा रागात्मकता अधिक है। उत्कृष्ट शैली और भव्य-कल्पनाओं का इन गीतियों में भी अभाव नहीं। शैली के सभी नवीन आभरण—अमूर्त और सूक्ष्म अप्रस्तुत योजनाएँ, प्रतीकात्मकता, जड़ में चेतना का आरोप, लक्षणा और व्यंजना का प्रचुर प्रयोग एवं विरोध-चमत्कार आदि सभी का उपयोग हुआ है। शैली की दृष्टि से भव्यता इन कविताओं का सामान्य गुण है। अतः आरम्भ की गीतियों में विचार-तत्त्व की न्यूनता का आशय यह नहीं है कि कला की दृष्टि से इन गीतियों का अवमूल्यन किया जाय, वस्तुतः यह प्रवृत्ति आधुनिक काल की कविता में सामान्य रूप से लक्षित की जा सकती है। इस युग का कवि क्रमशः बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से अर्ध शताब्दी तक इतिवृत्त से भाव, और भाव से विचार की ओर बढ़ता गया है। कुछ उदाहरण देकर उक्त कथन की पुष्टि का प्रयास करेंगे। 'किरण' आरम्भिक सम्बोध-गीतियों में से है। उसका आरम्भ कवि ने यद्यपि प्रश्नवाचक वाक्य से नाटकीय और रोचक ढंग से किया है किन्तु वर्णन की प्रवृत्ति उसमें स्पष्ट है:

किरण! तुम क्यों बिखरी हो आज, रँगी हो तुम किसके अनुराग?
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान, उड़ाती हो परमाणु पराग।

धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश, मधुर मुरली सी फिर भी मौन ?
किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना बूती-सी तुम कौन ?[1]

प्रसाद की कुछ अन्य सम्बोध-गीतियाँ भी इसी प्रकार प्रश्नवाचक पंक्ति से आरम्भ की गई हैं। यह शैली प्रसाद की निजी शैली नहीं। कुछ अन्य कवियों ने यही पद्धति अपनाई है। मुकुटधर पांडेय की 'कुररी के प्रति' की पाँचों षटपदियाँ आद्यन्त इसी कुतूहलमय शैली में लिखी गई हैं :

बता मुझे ऐ विहग विदेशी ! अपने जी की बात,
पिछड़ा था तू कहाँ, आ रहा जो कर इतनी रात ?
निद्रा में जा पड़े कभी के, ग्राम्य मनुज स्वच्छन्द,
अन्य विहग भी निज खोतों में सोते हैं सानन्द।
इस नीरव-घटिका में उड़ता है तू चिन्तित गात,
पिछड़ा था तू कहाँ हुई क्यों तुझको इतनी रात ।।[2]

सर्वत्र इन संबोध-गीतियों में यही जिज्ञासा, वर्णन और भावात्मक प्रश्न नहीं मिलते। इनमें उपदेश व कर्तव्य-निर्देश के रूप में कुछ विचार प्रतिपादन का समावेश होने लगा था। प्रसाद ने 'नीरद' में केवल सौन्दर्य व महत्त्व-वर्णन न करके कर्तव्य-निर्देश भी किया। इसी प्रकार 'मिलिन्द' की 'कलाकार से' नामक सम्बोध-गीति में उपदेश का यह स्वर और भी मुखर हो गया :

तुम प्रकाश के स्रोत नित्य नव,
प्रतिनिधि संस्कृति के, जीवन के,
प्रगति-पथों के मार्ग-प्रदर्शक,
प्रेरक हो जग के यौवन के !
× × ×
युग नायक, प्रतिभा-विभूतिमय,
तुम न कठिन पथ अपना छोड़ो,
सस्ती तृप्ति-प्राप्त करने की
दुर्बलता से तुम मुख मोड़ो !
तोड़ो मोह-शृंखला, छोड़ो
मिथ्या-स्वप्न-सृष्टि का चित्रण;
जग-मन की जागरण-ज्योति में
करो सत्य का उज्ज्वल दर्शन।[3]

कहीं वर्णन और उपदेश के स्थान पर किसी प्राकृतिक व अन्य उपादान द्वारा उद्दीप्त

---

१. झरना—प्रसाद, पृ० १४
२. कवि भारती—मुकुटधर पांडेय, पृ० २७८
३. कवि भारती—जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, पृष्ठ ४६७-४६६

कवि की भावनाओं का वर्णन मिलता है। मिलिन्द की 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' में आषाढ़ की प्रथम मेघमाला से उद्दीप्त कवि की भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति है। संबोध-गीति का यह स्वरूप, उसमें भाव, विचार और कल्पना तीनों में से तत्त्व-विशेष की अपेक्षाकृत महत्ता, बहुत कुछ कविता के विषय, उसके आलम्बन के स्वरूप पर निर्भर रहती है। यह आलम्बन जितना स्थूल, मूर्त और वस्तुरूप होता है उतनी ही उसमें वर्णन की प्रवृत्ति अधिक निहित रहती है। विषयों में कवि जैसे मूर्त से अमूर्त और स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता जाता है, उतनी ही उसकी अभिव्यंजना में भी वर्णन से भाव, भाव से कल्पना और कल्पना से विचार की प्रधानता होती जाती है। भाव में रमणीयता अधिक होती है कल्पना में मोहक आकर्षण और विचार में उत्तेजना; इसी कारण कवि 'पन्त' की संबोध-गीतियों में विषयानुरूप भावतन्मयता, कल्पना-विलास और विचारोत्तेजना सभी प्राप्त होती है। इस दृष्टि से उनकी संबोध-गीतियों का स्थान कुछ विशिष्ट है। पन्त प्राकृतिक रूप-रंग के सुकुमार कवि तो हैं ही, अतः प्राकृतिक आलम्बनों के प्रति लिखी गीतियों में तो उन्होंने सुन्दर चित्र आँके हैं। इन गीतियों में 'बादल' की रचना आत्मपरिचयात्मक शैली में होने के कारण उसका स्थान और भी विशिष्ट है। परन्तु जहाँ कवि किसी शाश्वत् प्रश्न, तत्त्व या विचार पर चिन्तन करने लगता है, और उसका सम्बोध्य कोई अमूर्त सिद्धान्त या विचार हो जाता है तो उनकी कविता में विचारोत्तेजना से एक विशेष प्रकार की गरिमा, जीवन्तता और दीप्ति उत्पन्न हो जाती है। इस दृष्टि से उनकी 'परिवर्तन' नामक गीति का स्थान महत्वपूर्ण है। अलक्ष्य रूप से समस्त सृष्टि में व्याप्त इस शाश्वत नियम का वर्णन और विश्लेषण कवि ने अत्यन्त सशक्तता से गरिमामय शैली में किया है। यद्यपि परिवर्तन की सृष्टि-व्यापी शक्ति और चिरन्तन स्थिति को प्रमाणित करने के प्रयत्न में वर्णनात्मक स्थल भी इस गीति में आ गए हैं, किन्तु इसकी निर्बाध गति और आवेगदीप्ति एक क्षण के लिए भी बाधित नहीं होती। परिवर्तन की निष्ठुरता, उसकी भयंकर ध्वंसात्मकता और इस नश्वरता के भीतर साधनामय जीवन का संकेत करने के प्रयत्न में कवि की दार्शनिक दृष्टि, सभी कुछ अत्यन्त प्राणवान शैली में उभरकर उत्साह-संचार करते हैं। इस प्रयत्न में भाषा की संस्कृतबहुला समस्त प्रकृति ने उसे शक्ति प्रदान की है, किन्तु यह भी कवि की ही सिद्धि कही जायगी। एक समय 'कौन तुम परहृत वसना' की मधुर लालित्यमयी शैली में गाने वाला कवि, अवसर आने पर इतनी विचारोत्तेजना और ओजमय उत्साह के प्रसाधन जुटा सके, यह साधारण सिद्धि नहीं।

कवि पन्त ने उक्त रचना में विचार का विश्लेषण और वर्णन किया है, सिद्धान्त-प्रतिपादन नहीं। किसी प्रकार की उपदेशात्मकता इसमें नहीं आ पाई। उनके बाद नए खेवे के कवियों ने जो संबोध-गीतियाँ लिखीं उनमें सामयिक विचारधारा—समाजवाद का प्रतिपादन, कम से कम व्यंग्य अवश्य है। 'तारसप्तक' में भारतभूषण अग्रवाल ने 'मसूरी के प्रति' संबोध-गीति में सौन्दर्य और वैभव के वर्णन से आरम्भ कर शोषित मानव की उदीयमान चेतना के संकेत में गीति का पर्यवसान किया :

आज के मदिर सुख में, रंगीनी में भूली ओ री अलका।
कुछ तुझे ध्यान भी है कल का, शोषित दल के उठते बल का ?[1]

१. तारसप्तक पहला—भारतभूषण अग्रवाल, पृ० ३६

अज्ञेय की 'जनाह्वान' में पददलित वर्ग की विद्रोह-भावना ने ललकार और विद्रोह का रूप धारण कर लिया है। कवि ने आततायी को सम्बोधित कर पराजित वर्ग के अन्तर्मन में जाग्रत चेतना और विद्रोहात्मक शक्ति को वाणी दी है। अतः ओज है, किन्तु वर्णन और विश्लेषण में नहीं। 'परिवर्तन' की भाँति यह ओज समर्थ शैली के कारण नहीं, उसमें व्यक्त कठोर और विषम सत्य तथा ललकार के कारण है। इस प्रकार वर्गसंघर्ष की समस्या इस गीति में व्यक्त हुई है :

ठहर, ठहर, आततायी! ज़रा सुन ले
मेरे क्रुद्ध दीर्घ की पुकार आज सुन जा
रागातीत, दर्पस्फीत, अतल, अतुलनीय,
मेरी अवहेलना की टक्कर सहार ले—
मेरे वृद्ध पौरुष की एक चोट सह ले!
नूतन प्रचण्डतर स्वर से।
आततायी आज तुझको पुकार रहा मैं—
रणोद्यत दुर्निवार ललकार रहा मैं—
कौन हूँ मैं?
तेरा हाथ दुःखी पद-दलित पराजित
आज जो कि क्रुद्ध सर्प-से अतीत को जगा
'मैं' से 'हम' हो गया।[1]

उक्त संबोध-गीति का स्वरूप परम्परा से कुछ भिन्न है। पहली विशेषता शैली की है—वर्णन-विधि की। कवि अपने ओर से सम्बोध्य के प्रति कुछ नहीं कहता और न आलम्बन स्वयं आत्मपरिचयात्मक शैली में अपना वर्णन करता चलता है। कवि ने जिस समस्या की और वस्तुस्थिति की व्यंजना करनी चाही है उसमें दो विरोधी पक्षों की उद्भावना की, और आलम्बन के प्रति अपने उद्गार स्वयं व्यक्त न कर, विरोधी पक्ष के मुख से कहलाए हैं। इसे संवाद-शैली तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें केवल कथन है उपकथन नहीं, और न ही स्वगत आत्म-परिचयात्मक शैली, क्योंकि वक्ता अपने प्रति या अपने विषय में कुछ नहीं कहता। इसमें इस प्रकार कवि ने उत्तम और अन्य दोनों से भिन्न मध्यम पुरुष की शैली में काव्य-रचना की है। दूसरी विशेषता इस गीति में यही है कि वर्णन का इसमें एकान्त अभाव है। कवि सीधे लक्ष्य पर प्रहार करता है। इसका बहुत कुछ कारण बोधव्य के प्रति सौन्दर्यबोध और आकर्षण की भावना न होकर विद्रोह और आक्रोश की अभिव्यक्ति है। पन्त ने भी 'परिवर्तन' का वर्णन विनाशक दृप्त आततायी के रूप में ही किया है, परंतु उस शाश्वत सत्य की अमूर्त और अलौकिक नियमन शक्ति के कारण मानव-द्वारा उन्मूलन और क्रान्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, अतः वे परिवर्तन के नियम की निर्मम, परन्तु चिरन्तन स्थिति की सक्रियता का वर्णन करके, केवल सत्ता का बोध कराते रहे हैं, विद्रोह नहीं। कहने का आशय यही है कि इन कविताओं में उत्तरोत्तर विचार की

१. तारसप्तक—'अज्ञेय', पृष्ठ ७७

वृद्धि और वर्णन की न्यूनता होती गई है।

'निराला' ने अपनी संबोध-गीतियों में कुछ भिन्न ढंग से वर्णन का आश्रय लिया है। कवि एक ओर यमुना के वर्तमान स्वरूप का चित्रांकन करता है, और दूसरी ओर अपनी जिज्ञासा के रूप में यमुना-तट पर नट-नागर श्याम की लीलाओं, अतीत की स्मृतियों का वर्णन प्रश्न रूप में करता है। अतः वर्णन में भी नाटकीयता और रमणीयता बनी रहती है :

निखिल विश्व की जिज्ञासा-सी
आशा की तू झलक अमन्द
अन्तःपुर की निज शय्या पर
रव-रव मृदु छन्दों के बन्द
किस अतीत के स्नेह-सुहृद को
अर्पण करती तू निज ध्यान—
ताल-ताल के कम्पन से द्रुत
बहते हैं ये किसके गान?[1]

शैली की भव्यता सभी सम्बोध-गीतियों में समान रूप से नहीं मिलती। जैसा पहले भी कहा जा चुका है अँगरेज़ी समीक्षा-शास्त्र में भी ओड शब्द का प्रयोग इतनी विविध प्रकार की कविताओं के लिए किया गया कि उनका लक्षण-निरूपण करना दुष्कर हो गया, फिर भी कुछ सामान्य विशेषताएँ निश्चित करने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु हिन्दी काव्य में यह शब्द संबोध-गीतियों के लिए लगभग रूढ़ हो गया है। विभिन्न आकार व शैलियों में लिखी गई वे सभी प्रगीतियाँ जो किसी के प्रति, या किसी को सम्बोधित कर लिखी गई हों ओड कहलाईं। एक प्रकार से ऐसा करना शुभ ही हुआ क्योंकि इस स्थिति में उलझन का अवकाश कम हो गया। परन्तु साथ ही सम्बोधन-रूप में लिखी गईं सभी छोटी-बड़ी कविताएँ जिनकी शैलियाँ भी असमान थीं एक ही वर्ग के अन्तर्गत बाँध दी गईं। शैली की जिस विशदता, गरिमा, और भव्यता पर समान रूप से सभी पाश्चात्य समीक्षकों ने बल दिया, इन सब गीतियों में नहीं मिलती। इस दिशा में कवि 'पन्त' और 'निराला' की ही सिद्धि विशेष महत्त्वपूर्ण कही जायगी। आकार की दृष्टि से एक ही कवि की दो सम्बोध गीतियों में कभी-कभी बहुत अन्तर मिलता है। 'निराला' की दो रचनाओं—'यमुना के प्रति' और 'प्रिया के प्रति' में यह आकार और शैलीगत अन्तर देखा जा सकता है। अतः इन सब रचनाओं का अन्तर्भाव एक शीर्षक के अन्तर्गत केवल सम्बोधन-रूप में रचित होने के कारण ही किया गया है।

प्रगीत-रचना का दूसरा प्रमुख प्रकार, जिसका सम्बन्ध पाश्चात्य काव्य से जोड़ा जाता है—शोक-गीतियाँ या 'एलेजी' हैं। विशेष रूप-विधा के रूप में इस शैली की स्वीकृति कम से कम पाश्चात्य काव्य के प्रभाव के कारण ही हुई है। अतः इस विषय में भारतीय समीक्षा-शास्त्र (प्राचीन) में विवेचन के अभाव की स्थिति में तद्विषयक विदेशी मान्यताओं को ही प्रमाण मानना समीचीन होगा।

---

१. परिमल—निराला, पृ० ४७-४८

शोक-गीति (Elegy)

किसी प्रकार के अनिष्ट से शोकाकुल कवि के हृदय की करुण उद्गीथि ही शोक-गीति है। शोक-गीति का सम्बन्ध मानव-मन की ऐसी मौलिक प्रवृत्ति——करुणा और वेदना से है, जिसकी अभिव्यंजना वह चिरकाल से भिन्न-विभिन्न रूपों में करता रहा है, अतः इस प्रकार के हृदयोद्गारों की अभिव्यक्ति का सम्बन्ध निश्चित रूप से किसी साहित्य-विशेष से नहीं जोड़ा जा सकता। इस प्रकार की रचना-प्रवृत्ति सार्वभौमिक और सार्वकालिक होती है, और किसी न किसी रूप में विश्व के प्रत्येक साहित्य में विद्यमान रहती है। स्वदेशी साहित्य में भी प्रयोग की दृष्टि से इन कविताओं का इतिहास आधुनिक काल तक ही सीमित नहीं, परन्तु पृथक् काव्यरूप में इनकी स्वीकृति व सैद्धान्तिक विवेचन काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में नहीं किया गया। समीक्षा-शास्त्र-विषयक आधुनिक रचनाओं में जहाँ इस विधा की विशेषताओं की ओर इंगित किया गया है, वहाँ उनके विवेचन का आधार अँगरेज़ी साहित्य में शोक-गीति की समानान्तर विधा एलेजी की विशेषताएँ ही रही हैं।

आंग्ल साहित्य में 'एलेजी' उस छोटी कविता को कहते हैं जिसकी रचना किसी प्रिय या समादरणीय व्यक्ति की मृत्यु अथवा नैतिक संताप की सामान्य भावना से प्रेरित होकर शोक-व्यंजना या विलाप के रूप में की जाती है।[1] इस विधा के लिए प्रयुक्त ग्रीक शब्द की व्याख्या प्रायः विलाप या अन्त्येष्टि से सम्बद्ध गीत के अर्थ में कर दी जाती है, परन्तु इस बात का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कि मृत्युजन्य शोक की भावना का सम्बन्ध इस शब्द के मूल अर्थ से कैसे स्थापित हुआ। अवशिष्ट यूनानी साहित्य में प्राप्त होने वाली ये शोक-गीतियाँ मृत्यु को नहीं युद्ध और प्रेम को समर्पित की गई हैं। आरम्भिक शोक-गीतों की प्रेरणा युद्धादि साहसिक कृत्य और प्रेम ही रहे हैं। यूनान में इन गीतियों का समस्त आरम्भिक इतिहास इस बात का साक्षी है।

सोलहवीं शती के आरम्भ से अँगरेज़ी साहित्य में एलेजी का प्रयोग अन्त्येष्टि-गान अथवा विलाप के अर्थ में तदुपरान्त निरन्तर होता रहा। आधुनिक परिभाषा के अनुसार एलेजी वह संक्षिप्त कविता है जिसमें विशेष विराम और मोड़ नहीं होते।

ग्रीक एलेजी की रचना छन्द-विशेष में की जाती थी। जिसे 'एलिजिआक' (Elegiac)

---

1. ELEGY, a short poem of lamentation or regret, called forth by the death of a beloved or revered person or by a general sense of the pathos of morality. The Greek word...is of doubtful signification, it is usually interpreted as meaning a mournful or funeral song. But there seems to be no proof that this idea of regret for death entered into the original meaning of...The earliest Greek Elegies which have come down to us are not funeral,...when the elegy appears in surviving Greek literature, we find it dedicated, not to death, but to war and love.
From the beginning of 16th century elegy was used in English as it has been ever since, to describe a funeral song or lament...is an elegy in the strict modern sense. Johnson's definition, "Elegy a short poem without points or turns." —Encyclopedia Britannica—Volume VIII, page 343.

कहते थे।[1] इस छन्द की विशेषता के कारण ही इस विधा का नाम एलेजी पड़ा। इस छन्द-विशेष में एलेजी की रचना ग्रीक व लैटिन साहित्य की विशेषता रही। बाद में जर्मन कवियों ने इस छन्द को इस विधा के लिए ग्रहण कर लिया, परन्तु अँगरेज़ी के कवियों ने इसे नहीं अपनाया।[2] इस छन्द का निर्माण षट्पदी 'हैक्सामीटर' और पंचपदी 'पैन्टामीटर' के योग से, और प्रयोग युग्मक के रूप में किया जाता था।

'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में एलेजी की कुछ विशेषताओं पर निषेधात्मक रूप से प्रकाश डाला गया है। अँगरेज़ी में इस शब्द का अशुद्ध प्रयोग प्रायः किया जाता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि ये शोकगीतियाँ, निश्चित रूप से शोकव्यंजक, चिन्तनप्रधान और संक्षिप्त होती हैं, इनमें भावनाओं का असंयमित और आवेशमय प्रकाशन नहीं होता।[3] इन्हीं विशेषताओं के आधार पर अँगरेज़ी की कुछ कविताओं को अतिविस्तार के कारण तथा कवि वर्डस्वर्थ की 'लूसी' को अति संक्षेप के कारण शोक-गीति नहीं माना जा सकता। वर्डस्वर्थ की इस कविता में संक्षेपण के अतिरिक्त भावना का जो विस्फोट मिलता है वह भी एलेजी की शैली के उपयुक्त नहीं। एलेजी की एक और विशेषता का संकेत आलोचक विद्वान् हडसन की परिभाषा में मिलता है। वे इसे शोक, व्यक्तिगत विछोह व दुःख की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं। अतः भाव और अभिव्यक्ति की निश्छलता स्पष्ट रूप से एलेजी की अनिवार्य विशेषता है। एलेजी के गम्भीर विषय के लिए अभिव्यक्ति में कृत्रिमता काम्य नहीं हो सकती।[4]

अतः निष्कर्ष रूप में—एलेजी के दो रूप विदेशी साहित्य में प्राप्य हैं—(१) उसका परम्परागत और प्राचीन रूप जिसके उदाहरण प्राचीनतम ग्रीक व लैटिन साहित्य में उपलब्ध हैं। ये प्रगीत विषय की दृष्टि से अँगरेज़ी साहित्य की आधुनिक शोक-गीतियों से व्यापक

---

1. Elegiac...(of metre) suited to elegies, esp. couplet, (usu. GK. or LAT.) dactylic hexameter & pentameter. Oxford Dictionary, page 385.
2. Elegiac verse has commonly been adopted by German poets for their elegies, but by English poets never.
   Encyclopedia Britannica—Volume VIII, page 343.
3. The word 'Elegy' in English, is one which is frequently used very incorrectly; it should be remembered that it must be mournful, meditative and short without being ejaculatory. Thus Jennison's 'In Memorium' is excluded by its length, it may at best be treated as a collection of elegies. Wordsworth's 'Lucy' is a dirge; this is too brief a burst of emotion to be styled an elegy. Ibid, page 343.
4. This is a brief lyric of mourning, or direct utterance of personal bereavement and of emotion and expression, since on the slightest hint of simulation or artifice we are prompted to turn on the poet with the warning words.—
   An Introduction to the Study of Literature—W. H. Hudson, page 100

और छन्द की दृष्टि से रूढ़िबद्ध थे। इनका लक्ष्य केवल मृत व्यक्तियों के प्रति शोकांजलि अर्पण करना नहीं था बल्कि इनकी रचना युद्धादि से प्रेरित होकर की जाती थी। परन्तु इनका छन्द-रूप निश्चित था।[1]

(२) दूसरे प्रकार के शोक-प्रगीत मध्य व आधुनिक काल के अँगरेज़ी कवियों ने लिखे। इनका विषय किसी प्रिय या श्रद्धेय व्यक्ति के निधन पर कवि के अन्तर्दाह की अभिव्यक्ति तक सीमित हो गया, परन्तु छन्द की दृष्टि से इन्होंने परम्परागत छन्द का प्रयोग कभी नहीं किया। इस प्रकार इनकी रचनाओं में विषय-संकोच और छन्द-विस्तार हुआ।[2]

अँगरेज़ी साहित्य में रचित शोक-गीतियों में परस्पर विचित्र आकार-भेद मिलता है। कुछ रचनाएँ लम्बी व अन्य संक्षिप्त हैं। शैली की दृष्टि से कतिपय रचनाओं की शोक-व्यंजना में मार्दव, गाम्भीर्य और अभिव्यक्ति में संयम एवं विवेक है, कुछ में कवि की भावनाओं का विस्फोट मिलता है। कुछ कविताएँ सम्बोधन के रूप में भी लिखी गईं।

यद्यपि सिद्धान्त-रूप में गम्भीर चिन्तन, एलेजी की अनिवार्य विशेषता स्वीकार नहीं की जा सकती। वह तो मुख्यतः भौतिक घटनाओं से प्रताड़ित, संवेदनशील कवि के आत्म-प्रकाशन का माध्यम है। फिर भी व्यवहार में प्रायः इन घटनाओं से प्रेरित गम्भीर चिन्तन इन कविताओं में व्यक्त हुआ है। बहुधा दार्शनिक और विचारात्मक तत्त्व इनमें इतने प्रधान हो जाते हैं कि व्यक्ति-तत्त्व सर्वथा गौण हो जाता है। कवि अपने विषय पर चिन्तन करता हुआ उससे तत्काल उद्भूत प्रश्नों, अथवा जीवन और प्रारब्ध की गहनतम समस्याओं पर मनन करने लगता है।[3]

---

1. Although for us an elegy means a lament for the dead, and that in fact seems to have been its original meaning when it enters Greek literature not later than the seventh century before Christ it had become a form of war poetry. It had a characteristic metre of its own, the 'elegiac-couplet' consisting of a dactylic hexametre followed by a pentametre.

   Classical Background of English Literature—J. A. K. Thompson; page 83

2. Altogether it is an interesting thing that one elegiac poet after another—Spenser, Milton, Pope, Grey, Shelley, Arnold, Swinburne—has chosen a different metre, none of them corresponding closely to the dactylic hexametres of the Greek and Latin masters of the lament.

   Ibid, page 232.

3. Often, too, the philosophic and speculative elements become predominent in it, sometimes even to the total subordination of the purely personal interest; the poet, brooding upon his subject, being

हिन्दी की आधुनिक शोक-गीतियाँ रूप-विधा की दृष्टि से अँगरेज़ी साहित्य की एलेजी के अधिक निकट हैं। एलेजी की रूप-सम्बन्धी विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) **गाम्भीर्य**—एलेजी का सम्बन्ध कारुणिक प्रसंगों से होने के कारण इसका स्वरूप और विषय प्रायः गम्भीर होता है। कवि किसी मर्मस्पर्शी प्रसंग से प्रभावित होकर अपनी वेदना अथवा तत्सम्बन्धी प्रश्नों पर अपने विचार व्यक्त करता है।

(२) **विचारात्मकता**—एलेजी की शैली प्रायः मननात्मक होती है। उसमें किसी के शोकाकुल हृदय का असंयत विलाप व प्रलाप नहीं फूट पड़ता, प्रायः कवि का आहत मन जिस घटना से चोट खाता है, उस पर गम्भीरता से विचार करता हुआ, विवेक से संयत अपनी व्यथा व विचारों का वर्णन करता है। इन विचारों में कभी-कभी दर्शनादि से सम्बद्ध गम्भीर प्रश्न भी होते हैं।

(३) **करुणात्मकता**—किसी न किसी रूप में एलेजी में कवि की पीड़ा, उसकी वेदना, व्यक्त होती है। उस पर विचारों का कितना भी आवरण पड़ा हो, परन्तु उसके मूल में प्रगाढ़ शोकानुभूति निश्चित रूप से वर्तमान रहती है। अतः विचारों की प्रेरक-रूप में दुःखानुभूति, और तदुजन्य कारुणिक स्वर एलेजी की विशेषता है।

(४) **अकृत्रिमता**—भाव और कला दोनों की दृष्टि से निष्कपट और अकृत्रिम अभिव्यंजना एलेजी की विशेषता है। उसकी कला में किसी प्रकार की औपचारिकता, कृत्रिमता, अथवा सायास चमत्कृति उसके प्रभाव को नष्ट कर देती है। कृत्रिमता से यहाँ अभिप्राय अनुभूति पर काल्पनिक आवरण (कला या भावगत) द्वारा रूप-परिवर्तन के प्रयत्न से ही है। अन्यथा एलेजी सामान्य प्रगीत की अपेक्षा कम अन्तःस्फूर्त और 'ओड' के समान सहज अलंकृत, उदात्त शैली में लिखी जाती है।

(५) **संक्षिप्तता**—आकार में 'एलेजी' बहुत बड़ी कविता नहीं होती। इस प्रकार का यद्यपि कोई निश्चित नियम नहीं, परन्तु अनेक स्थानों पर उसकी परिभाषा छोटी कविता कहकर की गई है।

(६) **छन्द-विधान**—प्राचीन विदेशी साहित्य में उपलब्ध इस प्रकार की शोक-गीतियों का छन्द भी नियत था, परन्तु यह सभी भाषाओं के साहित्य में अनिवार्य अनुबंध नहीं माना गया, अँगरेज़ी के कवियों ने विशेषरूप से इस रूढ़ि की उपेक्षा की।

हिन्दी-साहित्य में स्वतन्त्र विधा के रूप में शोक-गीतियों को स्वीकृति आधुनिक काल में ही मिली। यद्यपि प्राचीन साहित्य में भी इस प्रकार के हृदयोद्गारों को शब्दान्तरित करने का प्रयत्न बहुधा कवियों ने किया। ऐसी कविताएँ प्रबन्धों के बीच अधिकतर पात्रों की मनोव्यथा का अंकन करने के लिए तो लिखी गईं, परन्तु निरपेक्ष और स्वतन्त्र शोक-गीतियों का आरम्भ और विकास आधुनिक युग में ही हुआ। रूप-विधा की दृष्टि से इन प्रगीतों में कोई प्रतिबन्ध

---

moved to meditations over questions immediately raised by it, or over the deepest problems of life and destiny.

An Introduction to the Study of Literature—W. H. Hudson, page 10.

स्वीकार नहीं किया गया। अधिकांश गीतियों की रचना किसी प्रिय या श्रद्धेय व्यक्ति के निधन पर आत्मोद्गार व्यक्त करने के लिए की गई। इनका स्वर भावानुरूप अत्यन्त गम्भीर और चिन्तन-प्रधान है। कहीं-कहीं वर्णनात्मक अंश दिवंगत व्यक्ति की स्मृति, कृत्यों तथा महत्त्व का वर्णन करने के प्रसंग में आ गए हैं। कभी-कभी वे वर्तमान स्थान और पदार्थ, जिनसे उस व्यक्ति का सम्बन्ध रहा कवि के मन में पीड़ावर्धन करते हैं—ऐसे प्रसंगों में वर्तमान का वर्णन भी किया गया है, परन्तु किसी बहुत गम्भीर विषय पर चिन्तन प्रायः इन गीतियों में नहीं मिलता। दर्शन, अध्यात्म आदि से सम्बद्ध प्रश्न इनके परिनिवेश में बहुत कम प्रवेश कर पाते हैं। छन्द की दृष्टि से भी किसी नियत आकार का प्रयोग नहीं किया गया। सभी गीतियों में प्रसंग और सुविधानुसार कवि ने अपने मनोनुकूल छन्द का चयन कर लिया है।

द्विवेदीजी के समकालीन कवियों में—नाथूराम शर्मा 'शंकर', रूपनारायण पाण्डेय और रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण' ने अनेक शोक-व्यंजक कविताएँ लिखीं। ये सभी कविताएँ किसी प्रिय या श्रद्धेय प्राणी के निधन पर लिखी गई। कवि 'शंकर' ने अपने प्रिय मित्रों—पं० कुन्दनलाल शाह, अम्बिकादत्त व्यास और गणपति के देहावसान पर क्रमशः 'वियोग वज्रपात', 'वियोग वज्राघात' और 'गणपति प्रयाण' नामक कविताएँ या श्रद्धांजलियाँ कवित्त और सवैयों में लिखीं। इन कविताओं में आत्मोद्गार की अपेक्षा इन व्यक्तियों का माहात्म्य-वर्णन अधिक है। इस प्रकार इनका स्वर जितना गीतिमय और भावात्मक है, उतना ही वर्णनात्मक है।

महान व्यक्तियों के निधन पर इस प्रकार की शोकांजलियाँ अर्पण करने की परिपाटी अन्य कवियों ने भी अपनायी। शोकोद्गार अभिव्यक्ति के लिए लिखी गईं ये आरम्भिक कविताएँ श्रद्धांजलि के रूप में रची गई। इसका एक कारण है। वे अधिकांश व्यक्ति जिनके कारण शोक-संतप्त होकर काव्य-रचना की गई देश और समाज की पूंजी थे, व्यक्ति की नहीं। ऐसी स्थिति में उनका अभाव व्यक्ति की नहीं समाज की क्षति थी। पारस्परिक सम्बन्ध व्यक्ति की सीमा से विस्तृत होकर जितने व्यापक और समाजगत होते जाते हैं, उतनी ही उनमें घनत्व, और अंतरंग भाव की न्यूनता होती जाती है। जिस व्यक्ति से निजी सम्पर्क की अपेक्षा समाजगत संसर्ग और सम्बन्ध होता है, उसके प्रति आत्मीय स्नेह के स्थान पर उतनी ही सर्वगत श्रद्धा की भावना उत्पन्न होती जाती है। यही इन कविताओं में व्यक्तिगत वेदना और गीति-तत्त्व की परिक्षीणता का कारण है। इनमें जो व्यक्ति आत्मीय मित्रों की परिधि में आते भी थे, उनका सामाजिक महत्त्व असंदिग्ध था, अतः कवि ने व्यक्तिगत शोक और संताप का विस्तार समाज तक कर लिया है,परिणामतः वह उनके महत्त्वपूर्ण कार्यों का वर्णन कर श्रद्धार्पण करने लगा है।

इनमें एकमात्र अपवाद कवि रूपनारायण पाण्डेय की 'दलित कुसुम' नामक अन्योक्ति है जो किसी अबोध बालक के निधन पर कुसुम को सम्बोधित कर लिखी गई। अन्य रचनाओं की अपेक्षा इस शोक-गीति का स्वर व्यक्तिगत है। आद्यन्त कवि की अपनी कारुण्य-धारा कविता में प्रवाहित हुई। अबोध बालक की अकाल मृत्यु पर कवि क्षुब्ध है, उसके महत्त्ववर्णन का प्रश्न ही नहीं उठा, अतः इस रचना में उसकी निजी वेदना की उद्गीथि है परन्तु विशेष चिन्तन और मनन नहीं। महत्त्वपूर्ण कवियों के निधन पर कुछ अन्य शोक-गीतियाँ भी लिखी गईं। मैथिली-शरण गुप्त ने कवि 'प्रसाद' के निधन पर सुन्दर गीति की रचना की परन्तु इसकी मूल भावना

भी व्यक्तिगत शोक से विस्तृत है।

कामता प्रसाद गुरु ने कवि 'ग्रे' की एलेजी का अनुवाद 'ग्रामीण-विलाप' नाम से किया। परन्तु हिन्दी-साहित्य में व्यक्तिगत शोक से प्रेरित गीतियाँ बहुत कम लिखी गई। निराला की 'सरोज स्मृति', कवि प्रसाद की 'आँसू' और मैथिलीशरण गुप्त की 'अंजलि और अर्घ्य' का उल्लेख ही इस क्षेत्र में विशेष रूप से किया जाता है। इन तीनों कविताओं में से शोक की तत्काल आवेगमय अभिव्यक्ति 'सरोज स्मृति' में ही मिलती है। वह कवि के प्रियजन के वियोग से संतप्त हृदय की निजी संवेदना और अभिव्यक्ति है, अतः उसमें व्यथा का सहज और मार्मिक, किन्तु संयत उद्रेक मिलता है। प्रसाद के 'आँसू' में व्यक्त वेदना, तिल-तिल कर एकत्र घनीभूत पीड़ा का सहज प्रवाह है, किसी सहसा होने वाले आघात और शोक का परिणाम नहीं, अतः उसमें भावनाओं का निर्बाध आवेग नहीं आँसुओं की रिमझिम बरसात है। शनैः-शनैः पुंजीभूत पीड़ा मस्तिष्क में स्मृति बन जाने के कारण संयत और व्यवस्थित हो गई है। कवि ने स्वयं प्रेरणा की व्याख्या आरम्भ में ही की है :

इस करुणा कलित हृदय में अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती ?
मानस-सागर के तट पर क्यों लोल लहर की घातें
कल-कल ध्वनि से हैं कहतीं कुछ विस्मृत बीती बातें ?[1]

कवि स्वयं अपने इस मानस-मन्थन से, विस्मृत पीड़ा के पुनः आन्दोलन से व्यथित है। उसकी व्यक्तिगत निराशा, दार्शनिक चिन्तन की छाया में व्यक्त हुई है, फिर भी उसमें भावनाओं का झंझावात पर्याप्त है। विगत की स्मृति करके कवि रोता है। ज्यों-ज्यों अभाव की अनुभूति तीव्र होती जाती है त्यों-त्यों उसके रुदन में व्याकुलता और वेदना की मात्रा अधिक होती जाती है। वेदना के इस प्रवाह में उसने कुछ मधुरतम स्मृतियाँ प्रतिबिम्बित की हैं और चित्र अंकित किये हैं। स्मृति के इस वेदनामय चित्रण के बीच भी वह इस रोदन में ही विश्व-कल्याण का साक्षात्कार करता है, हमें आशा का संदेश देता है :

सबका निचोड़ लेकर तुम सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन-सा आँसू इस विश्व-सदन में।[2]

इस प्रकार अन्ततः इस गीति का स्वरूप चिन्तनप्रधान हो गया है। दार्शनिकता की हल्की-सी छाया इस पर आद्यन्त वर्तमान है। अतः शोक-गीति की सभी विशेषताएँ—करुण स्वर, व्यक्तिगत अनुभूति, गाम्भीर्य और चिन्तन इस गीति में प्राप्त होती हैं। केवल प्रेरणा आकस्मिक और विशिष्ट नहीं, शनैः-शनैः संचित, अतः वेदना संयत है। प्रसाद के अतिरिक्त 'आँसू' पर अनेक कविताएं इस युग में लिखी गईं, परन्तु उनमें 'आँसू' आलम्बन है—कवियों ने प्रायः उसके स्वरूप और महत्ता का गंभीर और सुकुमार वेदना के साथ वर्णन किया है। वे कविताएँ कवि की किसी विशेष स्मृतिजन्य पीड़ा या आकस्मिक सन्ताप से प्रेरित होकर नहीं लिखी गईं। इनसे

---

१. आँसू—प्रसाद, पृ० ३-४
२. वही, पृ० ७५

भिन्न प्रसाद का 'आंसू' स्वयं आलम्बन नहीं वाहक और प्रतीक है उस वेदना का—जो कवि के हृदय में किसी अन्य घटना और स्मृति के परिणामस्वरूप उद्भूत हुई है।

इस विधा की एक उल्लेखनीय रचना राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की मृत्यु से कवि मैथिलीशरण गुप्त के हृदय में उद्भूत शोक की अभिव्यक्ति—'अंजलि और अर्घ्य' है। यद्यपि इस कविता का आलम्बन भी अन्य महापुरुषों की भाँति राष्ट्र की सम्पत्ति रहा, परन्तु वह राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में कुछ इस प्रकार आसनस्थ था कि उसकी मृत्यु का शोक राष्ट्र और व्यक्ति दोनों को समान रूप से हुआ। इसीलिए राष्ट्रीय कवियों ने इस घटना को राष्ट्र के साथ व्यक्तिगत क्षति के रूप में ग्रहण किया। विशेषकर इस लम्बी गीति का आरम्भ और अन्त कवि-हृदय के शोक से हुआ है :

अरे राम! कैसे हम झेलें
अपनी लज्जा उसका शोक?
गया हमारे ही पापों से
अपना राष्ट्रपिता परलोक।
हे भगवान, उदित होते हैं
क्या अब भी तेरे रवि-सोम?
आँखें रहते देख रहे हैं
हम क्यों केवल तम का तोम?[1]

परन्तु इस समग्र कविता में इसी प्रकार, आध्यान्तरिकता और भाव-दीप्ति नहीं मिलती। बीच-बीच में व्यक्तितत्त्व प्रधान हो गया है और अनेक अवतरणों में घटनाओं का विवरणात्मक स्पर्श आ गया है। कहीं-कहीं कविता विचारों से भाराक्रान्त और तर्क-प्रधान है। प्रगीत तत्त्व की इस यत्र-तत्र परिक्षीणता का कारण कविता का दीर्घाकार है। विस्तार से कवि की भावना का आवेग दुर्बल पड़ जाता है। इसके अतिरिक्त इस प्रगीत की रचना वास्तविक घटना के एक वर्ष बाद हुई, अतः उस समय तक शोक-विह्वलता संयत और शान्त हो चुकी थी।

इस गीति में कवि की शोक-वृत्ति की व्यंजना अन्य भावनाओं के साथ मिश्रित रूप में हुई है। एक ओर कवि की आत्मग्लानि, दैन्य और पश्चाताप है, दूसरी ओर उसने संक्षेप में बापू के जीवन की मुख्य घटनाओं का निर्देश करते हुए, उनके गुणों और असीम उपकारों तथा स्वदेशवासियों की कृतघ्नता का हृदयद्रावक चित्र खींचा है। बापू की—विश्व-प्रेम और मानवतावाद में विकसित स्वदेश-प्रेम की भावना की भी व्यंजना साथ-साथ हुई है। आलम्बन के गुण-दर्शन की भावना का प्राधान्य होने के कारण इस गीति में श्रद्धांजलि की विशेषता आ गई है। एक ओर शोक स्थायी की आद्यन्त सघन और सप्रभाव व्यंजना, और दूसरी ओर बापू द्वारा उपदिष्ट जीवन-दर्शन का स्तवन, दोनों भावनाओं ने कविता में वस्तु और व्यक्ति दोनों आधारों को सुरक्षित रखा है। इस कविता की केन्द्रवर्ती भावना यद्यपि राष्ट्रपिता के निधन से उद्भूत कवि की मनःपीड़ा ही है, परन्तु कवि की पीड़ा इस ग्लानि से द्विगुणित हो गई है कि बापू का

---

१. अंजलि और अर्घ्य—मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ ७

हत्यारा हिन्दू था, अतः इस घटना से उसका व्यक्ति ही संतप्त नहीं, वह इसे जातिगत कलंक मानता है। साथ ही वह आलम्बन के गुण-दर्शन और माहात्म्य-वर्णन में निरन्तर प्रयत्नलीन रहता है। उसके मन में राष्ट्रपिता के प्रति अपार श्रद्धा है। वस्तुतः उसने अपनी हृदयांजलि से बापू को भावनाओं का अर्घ्य दान किया है। "राष्ट्र-पिता के प्रति यह उत्कृष्ट तथा भावपूर्ण श्रद्धांजलि है, जिसमें जीवन-वृत्त का आख्यान नहीं, आलम्बन का शोक-विदग्ध गौरव गान किया गया है।"

उक्त गीति उसी परम्परा का चरम विकास कही जायंगी जिसका आरम्भ द्विवेदी-युग में ही महान् व्यक्तियों के निधन पर श्रद्धांजलि अर्पण या आत्मोद्गार अभिव्यक्ति के लिए एकाध छन्द-रचना के रूप में हुआ था; किन्तु कला और शैली की दृष्टि से वे कविताएं अत्यन्त आरम्भिक और अविकसित अवस्था की परिचायक थीं और 'अंजलि और अर्घ्य' इस दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है, जिसकी उत्कृष्टता का कारण आलम्बन का विश्वव्यापी प्रभाव, प्रसंग की कारुणिकता, कवि की प्रतिभा और समवेदना तथा अभिव्यंजना शैली की अपेक्षाकृत परिष्कृत एवं विकसित स्थिति है।

गांधीजी की मृत्यु पर १९४७ ई० में अन्य कवियों ने भी अनेक शोक-गीतियाँ लिखीं। 'दिनकर' की गीति में कवि के आहत मन में ग्लानि से जो आक्रोश उत्पन्न हो गया है उसने उसकी भावनाओं का संतुलन खो दिया है, और इस गीति का स्वर प्रलापात्मक हो गया है। गांधीजी के निधन को इस युग के कवियों ने राष्ट्रीय हानि के साथ व्यक्तिगत क्षति के रूप में भी ग्रहण किया, इसलिए इन गीतियों में व्यक्त शोक व्यक्ति का शोक है। शोक-गीतियों में 'सरोज-स्मृति'—हार्दिकता, अनुभूति की गहराई और कला की दृष्टि से इस विधा की सुन्दरतम रचना है। इसका एक कारण है—वियुक्त पात्र का कवि से निकट सम्बन्ध। अतः इतने प्रिय व्यक्ति के वियोग से कवि के मन पर जो मर्मान्तिक पीड़ा हुई उसके कारण इस गीति में हृदय की अन्तर्तम भावनाओं का उद्रेक मिलता है। इतना सहज और स्वतः प्रेरित आत्मद्रव और किसी शोकगीति में नहीं प्राप्त होता। प्रायः अन्य गीतियों के आलम्बन वन्दनीय और श्रद्धेय व्यक्ति रहे हैं, अतः इनके स्वर में औपचारिकता आ गई है। इनकी अनुभूति में आलम्बन के प्रति नैकट्य की भावना उतनी नहीं है। महादेवी वर्मा ने भी रवीन्द्रनाथ टैगोर के निधन पर एक सुन्दर शोक-गीति की रचना की। धर्मवीर भारती ने सुभाष की मृत्यु पर और बच्चन ने सरोजिनी नायडू के निधन पर शोक-गीतियाँ लिखीं।

हिन्दी काव्य में रचित इन शोक-गीतियों में गहन चिन्तन, मनन अथवा दार्शनिक विषयों पर विचार और विवेचन नहीं मिलता। इनमें आलम्बन के महत्त्व-वर्णन, अर्थात् प्रशस्ति भावना के साथ वेदना-मिश्रित अनुभूति की अभिव्यक्ति ही प्रधान रूप से मिलती है। इस प्रकार इन गीतियों में पाश्चात्य 'एलेजी' के लक्षणों में निर्दिष्ट गहन बौद्धिकता को नहीं अपनाया गया। एलेजी का रूप-निर्माण इनका अपना है।

पत्र-गीति (Epistle)

प्रगीत काव्य का तीसरा प्रकार है पत्र-गीति। हिन्दी के आधुनिक काव्य में उपलब्ध पत्र-गीतियों की विधा विदेशी काव्य की एपिसिल से प्रभावित है। इस युग से पूर्व सिद्धांत

और व्यवहार में इस प्रकार की किसी स्वतन्त्र काव्य-विधा के प्रयोग का कोई उदाहरण व उल्लेख नहीं मिलता। विशेषकर गीति-रूप में इस शैली में स्वतन्त्र रचनाएँ नहीं की गईं। हिन्दी काव्य में प्रत्यक्ष रूप से यह प्रभाव बँगला में रचित माइकेल मधुसूदन की 'वीरांगना' से आया।

अँगरेज़ी में 'एपिसिल' ऐसे पत्र का पर्याय है जो किसी अनुपस्थित व्यक्ति को लिखा जाता है। इस शब्द का प्रयोग विशेष रूप से उन पत्रों के लिए किया गया था जो प्राचीनकाल में साहित्य के रूप में लिखे गए। इस प्रकार अपने मूलरूप में यह शब्द किसी भी ऐसे पत्र का बोधक है जो किसी अनुपस्थित व्यक्ति को सम्बोधित करके लिखा गया हो। परन्तु सामान्य पत्र और पत्र-गीतियों में एक विशेष अन्तर है। पत्र निश्चित रूप से एक अन्तःस्फूर्त, व्यक्तिगत और असाहित्यिक रचना होती है, जिसका प्रयोग प्रत्यक्ष संवाद की असंभावना की स्थिति में किया जाता है। इसके विपरीत पत्र-गीति सार्वजनीन वक्तृता के रूप में लिखी जाती है, इसकी रचना मानो श्रोताओं की कल्पना करके की जाती है। इसमें पत्र के समान वैयक्तिकता नहीं होती। इसकी रचना स्थायी साहित्य की दृष्टि से कलात्मक प्रयास के रूप में की जाती है।[1] काव्य में एपिसिल शब्द का प्रयोग 'हारेस' की उन रचनाओं के लिए किया गया जो नीति सम्बन्धी व दार्शनिक विषयों पर, लगभग निबन्धों के रूप में लिखी गई थीं। अन्य कविताओं से उनका व्यावर्तन मुख्यतः इसी आधार पर किया गया कि वे किसी मित्रादि को सम्बोधित करके लिखी जाती थीं।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है, कि एपिसिल उस पद्यबद्ध पत्र-गीति को कहते हैं जिसकी रचना यद्यपि पत्रात्मक शैली में किसी परिचित, इष्टमित्र व अन्य व्यक्ति को सम्बोधित करके की जाती है, परन्तु उसमें पत्र की-सी वैयक्तिकता या अंतःस्फूर्त भावोद्रेक नहीं होता। एपिसिल की रचना स्वतः प्रवृत्त और भावात्मक होने पर भी उसमें सार्वजनीन विषय का समावेश रहता है। अतः प्रायः पत्र की अपेक्षा उसमें वर्णनात्मकता अधिक होती है तथा कभी-कभी नैतिक उपदेशात्मक दृष्टिकोण को भी प्रश्रय मिलता है। इस प्रकार की रचनाओं का लक्ष्य व्यक्ति नहीं समूह होता है। फिर भी इस काव्य-रूप की वर्णन-भंगिमा में व्यक्ति-तत्त्व की प्रधानता और आध्यान्तरिकता होती है। सार्वजनिक बात कवि अत्यन्त आत्मीय शैली में कहता है। इसलिए इस काव्य-रूप की गणना गीतिकाव्य की विविध विधाओं के अन्तर्गत की जाती है।[2]

---

1. Epistle—A communication made to an absent person in writing a letter, chiefly applied to those letters written in ancient times which rank as literature.

   Shorter Oxford English Dictionary, page 624

2. In its primary sense any letter addressed to an absent person—

   Epistle & Letters—A broad distinction exists between the letter and the epistle. The letter is essentially, a spontaneous; non-literary production, personal and private, a substitute for a spoken conversation. The epistle on the other hand, rather takes the place of a public speech, it is written with an audience in view, it is a literary form, a distinctly artistic effort aiming at permanence.

फ्रांस के कवियों में यह विधा विशेष लोकप्रिय रही। अँगरेज़ी में भी एपिसिल-रचयिताओं की परम्परा सुनिश्चित है। हिन्दी में पत्र-गीतियों की रचना बंगला कवि माइकेल मधुसूदन की 'वीरांगना' से प्रेरित होकर मैथिलीशरण गुप्त ने की। उन्होंने 'पत्रावली' में सात पत्र लिखे। इन सभी पत्रगीतियों का विषय ऐतिहासिक है। महाराज पृथ्वीराज, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, औरंगजेब, महारानी सिसोदिनी, अहिल्याबाई और रूपवती आदि वे ऐतिहासिक पात्र हैं जिनके हृदयोद्गार पत्रों के माध्यम से कवि ने व्यक्त किये हैं। साहित्यिक पत्र दो प्रकार के हो सकते हैं :—(१) कवि की ओर से व्यक्ति-विशेष को लिखा गया पत्र। (२) पात्र की ओर से पात्र को लिखा गया पत्र। पत्रावली के पत्र दूसरे प्रकार के हैं। इनमें व्यक्ति का राग नहीं, विवेक व्यक्त हुआ है। अन्तिम पत्र के अतिरिक्त जिसमें अबला नारी की त्राण के लिए पुकार है, शेष सभी पत्रों में—असाधारण शक्ति-सम्पन्न व्यक्तियों को उनके स्खलन पर सत्कर्म की प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया गया है। इस प्रकार इनका स्वरूप बहुत कुछ उपदेशात्मक हो गया है। 'पत्रावली' के पत्र कवि की निजी अनुभूति की अभिव्यक्ति के अभाव में विषयीगत तो हैं ही नहीं, परन्तु कवि-निबद्ध ऐतिहासिक पात्र भी व्यक्तिगत भावनाओं की व्यंजना नहीं करता, ऐतिहासिक घटनाओं से प्रेरित विवरणात्मक उपदेश सा देता है। इन पत्रों को तत्त्वतः प्रगीत तो कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि इनमें निजी भावनाएँ व्यक्त नहीं की गई हैं। ये सभी पत्र ऐतिहासिक हैं, जिनमें दूसरों का वृत्त आबद्ध है। पत्र में जो आत्मीयता व निजीपन उसे प्रगीत काव्य का रूप दे देता है, उसके स्थान पर इनमें कथा का विवरण सा है। 'पत्रावली' का कवि पात्रों के माध्यम से कथा का वाचन सा करता प्रतीत होता है—"अतः पत्र की वांछित चमक और उत्फुल्लता नहीं—प्रकथनात्मक वस्तु-विन्यास की उपलब्धि मिलेगी।" पत्र-गीतियों की शैली में जो आत्मीय भाव, हृदय का रस, बातचीत की अनौपचारिकता, भावावेग और उल्लास मिलता है, वह इन कविताओं में कहीं-कहीं अंश-रूप में ही मिलेगा।

प्रेषक के व्यक्तित्व का साक्षात्कार दो ही पत्रों में कुछ सीमा तक सम्भव हुआ है—चौथे पत्र में औरंगज़ेब के अनुताप-वर्णन के प्रसंग में, तथा अन्तिम पत्र में संत्रस्त नारी की आत्मपीड़ा और निवेदन के रूप में। शेष पत्रों के अधिकांश भाग में प्रेषक उपदेष्टा के रूप में सामने आता है। उपदेश और प्रबोधन के लिए जो तर्क इन ऐतिहासिक पात्रों ने प्रस्तुत किये हैं, वे भी व्यक्ति-विशेष के तर्क नहीं, जिनमें आत्मतत्त्व और कल्पना की छाया हो, बल्कि वे ऐतिहासिक तर्क हैं जो प्रख्यात आख्यानों के साथ प्रख्यात हो गए हैं, तथा इसी रूप में परम्परा से दिये जाते रहे हैं। कवि ने इन ऐतिहासिक पात्रों और प्रसंगों को उनके परम्परासिद्ध रूप में ही अपनाकर केवल उनको पद्य-रूप प्रदान किया है। कवि ने पात्र से तादात्म्य स्थापित कर उसकी स्थिति की कल्पना करने का प्रयत्न नहीं किया, अतः प्रेष्य के प्रति कवि का अपना भाव नहीं,

---

Epistles in poetry—A branch of poetry bears the name of the Epistle, and is modelled on those pieces of Horace which are almost essays on moral or philosophical subjects and are chiefly distinguished from other poems by being addressed to particular patrons or friends.

Encyclopedia Britannica Vol. VIII, page 660.

वस्तुवर्णन प्रधान है। पत्रों की परिणति उपदेश के रूप में की गई है। इसीलिए कदाचित् कवि स्वयं भी इन्हें पद्यात्मक-पत्र मानता है, पत्रगीति नहीं। विषयीप्रधान दृष्टिकोण के अभाव में इन पत्रों को आख्यानक पत्र या कथात्मक पत्र कहा जा सकता है।

इन पत्रों से कुछ भिन्न शैली में 'निराला' ने 'महाराज शिवाजी का पत्र' नामक गीति की रचना की है। प्रसंग यहाँ भी ऐतिहासिक है। शिवाजी का, शत्रु की ओर से युद्ध के लिए सन्नद्ध जाति भाई राजा जयसिंह को प्रबोधन देने का प्रयत्न है। उसी प्रकार कर्तव्यच्युत क्षत्रिय को चेतावनी, पथ-निर्देश तथा सत्कर्म के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया गया है। प्रेषक और प्रेष्य दोनों ही ऐतिहासिक वीर हैं तथा वस्तुस्थिति भी घटना-प्रधान है। पृष्ठभूमि में घटित होने वाले समस्त प्रसंगों का स्पर्श आख्यान-रूप में कर दिया गया है, परन्तु कवि ने शिवाजी की आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया है। उसने कल्पना से उन सभी तर्कों, युक्तियों और अनुभूतियों को व्यक्त किया है जो शिवाजी जैसे प्रबुद्ध वीर के मन में घोर अन्तर्द्वन्द्व के रूप में उदित हो सकती थीं। उनके तेजस्वी व्यक्तित्व के लिए सहज आक्रोश भी बीच-बीच में कौंध जाता है। इसके साथ इस कविता की रचना में बातचीत की सी स्वाभाविकता, आवेगदीप्ति, तर्क-वितर्क सभी कुछ वर्तमान है। प्रेषक ऐतिहासिक व्यक्ति होने पर भी कवि से तदाकृत उसका आत्म अनेक स्थलों पर उभर आया है। शत्रु होने पर भी जातिगत आत्मीयता प्रेषक ने बराबर बनाए रखी है :

अगर निज नाम से,
बाहुबल से, चढ़कर
तुम आते कहीं दक्षिण में
विजय के लिए वीर,
पत्र-से प्रभात के
इन नयन-पलकों को
राह पर तुम्हारी मैं
सुख से बिछा देता—
सीस भी झुका देता सेवा में,
साथ भी होता वीर,
रक्षक शरीर का, हम रकाब,
साथ लेता सेना निज,
सागराम्बरा भूमि
क्षत्रियों की जीतकर,
विजय-सिंहासन-श्री
सौंपता ला तुम्हें मैं—
स्मृति-सी निज प्रेम की।[1]

---

१. परिमल—निराला, पृष्ठ २१८-२१६

अनेक भाव-परिवर्तन इस गीति में आद्यन्त हुए हैं। कहीं-कहीं वस्तुस्थिति के सत्य से अवगत कराने के लिए कवि ने उसका प्रासंगिक वर्णन भी कराया है, परन्तु क्षण-क्षण परिवर्तन-शील प्रेषक की भावधारा, सम्पूर्ण प्रसंग के लिए अत्यधिक उचित और स्वाभाविक है। कहीं प्रबोधन है, कहीं अनुनय और कहीं ताड़ना और चेतावनी भी है। कुछ समय तक नम्रता से अनुरोध करने के उपरान्त, प्रभाव के अनिश्चय की स्थिति में स्वाभाविक व्यंग और दंश भी वक्ता की वाणी में आ गया है :

क्या कहता चित्तौर-गढ़ ?
मढ़ गये ऐसे तुम तुर्कों पर ?
करते अभिमान भी किन पर ?
विदेशियों-विधर्मियों पर ?
काफ़िर तो कहते न होंगे कभी तुम्हें वे ?
विजित भी न होंगे तुम औ गुलाम भी नहीं ?
कैसा परिणाम भी यह सेवा का—
लोभ भी न होगा तुम्हें मेवा का महाराज।[1]

अतः यथाप्रसंग प्रेषक के मन की ग्लानि, आत्मद्रव, आवेगदीप्ति, क्षोभ और आक्रोश कविता में अत्यन्त स्वाभाविक रूप में आत्मीयता के साथ व्यक्त होता है। व्यक्तितत्त्व सर्वथा सुस्पष्ट है। पत्र की सजीवता और सफलता इसी विशेषता में निहित है, कि पत्र स्वयं बोल उठे, अर्थात् वह इस प्रकार लिखा गया हो कि पाठक की कल्पना के सामने स्वयं प्रेषक, वक्ता के रूप में खड़ा प्रतीत हो। इस गीति में तर्क-वितर्क की प्रश्नोत्तर शैली के प्रयोग से वार्तालाप की सी सजीवता उत्पन्न हो गई है। पत्र का प्रेषक स्वयं कवि नहीं, काल्पनिक पात्र भी नहीं, परन्तु कवि ने ऐतिहासिक पात्र की आत्मा से पूर्णतः तादात्म्य कर लिया है। उसकी प्रबुद्ध कल्पना, प्रगाढ़ अनुभूति और समर्थ शैली वातावरण की रक्षा में पूर्णतः सफल हुई। 'निराला' ने एक छोटी सी पत्रगीति 'हिन्दी के सुमनों के नाम पत्र' भी लिखी।

गीत

प्रगीत-रचना की यह विधा, अन्य आधुनिक विधाओं के समान अपने मूल रूप में अभारतीय नहीं। केवल नवीन शैली और विषयगत चेतना के प्रभाव से इस परम्परागत विधा का पुनस्सृजन और नव रूप-निर्माण किया गया है। गीत, अपने आप में प्रगीत का कोई विशेष भेद या अन्य विधाओं से सर्वथा भिन्न रचना-प्रकार नहीं, प्रगीत का संगीत-विशिष्ट रूप है। गेय कविता किसी न किसी रूप में विश्व की समस्त भाषाओं के आदि साहित्य में वर्तमान रही है। यदि कहा जाय कि अधिकांश कविता का आरम्भ ही गेय रूप में हुआ तो असत्य न होगा। अतः यदि गीत का सामान्य अर्थ 'गेय काव्य' लिया जाय तो इस रूप में यह विधा उतनी ही प्राचीन है, जितना कविता का इतिहास। परन्तु आज यह शब्द जिस काव्य-रूप के लिए रूढ़ हो गया है, उसका मूल भी उपलब्ध साहित्य में कम-से-कम 'गीत-गोविन्द' से तो जोड़ा ही जा

---

१. परिमल, पृ० २२६

सकता है।

गीत, लघु आकार की उस प्रगीत-रचना को कहते हैं, जिसमें कवि बाह्य संगीत के प्रति सजग रहकर उसका रूप-निर्माण करता है। भावनाओं का अन्तःप्रेरित आवेग या सहज उच्छलन तो गीति-काव्य का सामान्य गुण है। दूसरे शब्दों में, द्रवणशील भावनाओं के रूप में आन्तरिक या भाव-संगीत तो प्रगीत-मात्र में वर्तमान रहता है। इसी अन्तःसंगीतमय कविता की रचना जब इस रूप में की जाती है कि उसमें बाह्य संगीत का विधान सहज सम्भव हो, अथवा कवि जब स्वयं बाह्य-संगीत का विधान कर प्रगीत-रचना करता है, तो वह गेय काव्य गीत कहलाता है। लय का संगीत तो छंद-विधान के रूप में काव्य मात्र में वर्तमान रहता है। शब्दार्थ की नियतलयता ही उन्हें कविता का रूप देती है। किन्तु संगीत से यहाँ अभिप्राय इस लय और गति के संगीत से भिन्न ऐसी रचना से है जिसे गाने में किसी प्रकार की असुविधा न हो, तथा वह संगीत कला की विधि से गेय हो सके।

प्राचीन काल से चली आती पद-शैली को राग-रागिनियों में, तथा कभी-कभी शास्त्रीय तालों में बाँधकर रचने की प्रवृत्ति भक्तों में पर्याप्त लोकप्रिय थी। यही प्रथा भारतेन्दु और उनके समकालीन कवियों ने अपना ली। इस प्रकार शास्त्रीय संगीत के मर्मज्ञ ये भक्त कवि काव्य और संगीत के समागम में विशेष सजग रहे और इस सम्बन्ध में अपने ज्ञान व कौशल का परिचय देते रहे। अतः बाह्य संगीत को दृष्टि में रखते हुए काव्य-रचना करना नई बात नहीं, हाँ काव्य-शास्त्र में इस विधा को महत्त्वपूर्ण स्थान देकर विवेचन का विषय नहीं बनाया गया। यूँ भामह ने गेय काव्य जैसी किसी काव्य-विधा की स्थिति की ओर निश्चित रूप से संकेत अवश्य किया है।[1] संगीत की ओर ध्यान देने के कारण कवि को छन्द-चयन, अन्त्यानुप्रास-निर्वाह, छन्दक, और शब्द-चयन के प्रति विशेष सतर्क रहकर सुरुचि और विवेक से काम लेना पड़ता है।

आधुनिक काल में गीत शैली का स्वरूप अँगरेज़ी साहित्य के प्रभाववश कुछ और विशिष्ट हो गया है। प्रगीत का सबसे अधिक अन्तःप्रेरित स्वरूप गीत में ही मिलता है, अतः प्राचीन पद शैली की भाँति ये गीत कथात्मक या लोक-भावना के अभिव्यंजक नहीं, आध्यान्तरिक और व्यक्ति के कोमल उद्‌गारों के व्यंजक होते हैं। इनमें केवल गेयता की ही रक्षा नहीं की जाती, भावनाओं के संगीत को यथावत् शब्दों द्वारा रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया जाता है, अतः इनकी भाषा और शब्दचयन अधिकाधिक नाद-सौन्दर्य-युक्त होता है। गेय कविता में रुक-कर अर्थ-ग्रहण करने का अवकाश नहीं होता, अतः यथासम्भव प्रसाद गुण की रक्षा करने का प्रयत्न किया जाता है। कवि मार्मिक किन्तु सरल भावनाओं की अभिव्यक्ति इन गीतों में करता है, इसलिए मूल भावनाओं के अनुरूप प्रसादमय, श्रवण-सुखद, मधुर शब्दावली तथा प्रायः छोटे और लयात्मक छन्दों का चयन अनिवार्य हो जाता है। छन्द की लयात्मकता से यहाँ तात्पर्य ऐसे छन्द-चयन से है जिसकी लय में थिरकन हो। अन्त्यानुप्रास की योजना नियत रूप से बाह्य संगीत को दृष्टि में रखते हुए की जाती है।

---

१. देखिए—भूमिका, पृष्ठ २१

अँगरेजी में गीत (सॉङ्ग) की उपलब्ध परिभाषाओं में भी उपर्युक्त विशेषताओं पर ही बल दिया गया है। गेयता के आधार पर ही गीत का व्यावर्तन अन्य प्रगीत-विधाओं से किया जाता है। अँगरेजी के 'सॉङ्ग' शब्द में ही गेयता का यह भाव निहित है, और इस साहित्यिक विधा का मूल, लोक-गीतों को स्वीकार किया गया है। साहित्यिक गीतों का क्या समस्त संगीत का विकास ही पाश्चात्य चिन्ताधारा में लोक-गीतों से माना गया।[1] संगीत की दृष्टि से लोक-गीत उस गेय संगीत का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसका विकास बिना किसी सुनिश्चित व्यवस्था तथा सहायक वाद्य-यन्त्र की दृष्टि से होता है। काव्य में जिस प्रगीत-रूप को 'सॉङ्ग' या गीत कहते हैं, उसकी रचना अपेक्षाकृत व्यवस्थित रूप में होती है। काव्य में गीत उस छन्दोबद्ध गेय रचना को कहा जाता है, जिसकी रचना विशेष रूप से नियमित छन्दों में की गई हो, तथा वास्तव में जो गाया जा सके।[2]

कुछ विद्वानों ने बाह्य संगीत का विधान गीत के लिए अनिवार्य नहीं माना। इसलिए गीतों में भी उन्हें दो भेद करने पड़े। परन्तु यदि बाह्य संगीत के विधान को गीत-रचना के लिए आवश्यक नहीं माना जाय, तो ऐसी स्थिति में प्रगीत और गीत में अन्तर क्या रह जायगा? आन्तरिक संगीत तो प्रगीत की विशेषता है और गीत व प्रगीत पर्याय शब्द नहीं (यद्यपि कुछ विद्वानों ने उनका प्रयोग पर्याय रूप में ही किया है)।[3] वस्तुतः काव्य जाति है, प्रगीत प्रजाति और गीत उसका व्यष्टि-भेद। प्रगीत के सामान्य भाव-संगीत के साथ जब बाह्य संगीत की योजना भी की जाती है, तब प्रगीत का यह संगीत-विशिष्ट रूप 'गीत' कहलाता है। 'नार्मन हेपिल' के मतानुसार—"गीत वह छोटी कविता है जो गाने के लिए लिखी जाती है और कभी-कभी तो सचमुच उनका गान होता है, अथवा वह एक ऐसा छन्दमय स्वरूप है जो अपने में संगीतमय होता है, जो न तो बाहरी संगीत के आधार पर ही बनाया जाता है और न तो उसका गाने के ध्येय से सृजन ही होता है, उसका गान अन्तः प्रदेश में होता है। कहने का तात्पर्य यह कि गीत एक ओर तो वाद्य-यन्त्रों के सहारे गाये जाते हैं, दूसरी ओर उनका संगीत बाह्य न होकर आन्तरिक भी हो सकता है। आन्तरिक संगीत एकान्त में बैठकर पढ़ने वाले पाठकों को आनन्दविभोर कर देता है। इस प्रकार गीत की परिभाषा होती है ऐसी कविता जो संगीतमय, सरल एवं प्रतिभावात्मक हो और जिसमें लय, स्वर, तुक एवं नाद का ध्यान इस ध्येय से रखा जाय कि उसका संगीत पर्याप्त समय तक कानों में गूँजता रहे, भले ही उसका संगीत आन्तरिक हो

---

1. Song—all song, indeed all music, is based upon folk song,—From the musical stand-point, folk song represents vocal melody evolved with no thought of harmony or an accompanying instrument.

   Encyclopedia Britannica—Volume XX, page 986

2. A metrical composition adapted for singing, esp. one having a regular verse form; such a composition as actually sung.

   Shorter Oxford English Dictionary, page 1945.

3. काव्य के रूप—गुलाब राय, पृ० १२०

अथवा बाह्य।"[१]

उपर्युक्त मत में शब्द-भेद से बाह्य संगीत की स्वीकृति कर ली गई। जिस रचना में लय, स्वर, तुक और नाद चारों का संगीत वर्तमान होगा, उसमें बाह्य संगीत के अभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। उस रचना को कोई एकान्त में गा गा कर आत्मविभोर होता रहे, अथवा जन-समागम में वाद्य-यंत्रों की सहायता से गाए, इससे विशेष अन्तर नहीं पड़ता। गीत की अनिवार्य रूप से स्वर-साधना की जाय या नहीं, यह एक भिन्न बात है, किन्तु उसकी रचना में सम्भावनाएँ अवश्य निहित होनी चाहिएँ। कुछ आगे चलकर 'नार्मन हेपिल' के द्वारा किये गए गीत के दो भेदों—गेय (Vocal) और साहित्यिक (Literary) का भी उक्त प्रबन्ध में उल्लेख किया गया है। इन दो भेदों में विभाजन इस आधार पर किया गया कि पहले, अर्थात् गेय गीतों में दूसरे की अपेक्षा शब्द के संगीत की योजना, तथा कवि की आवेगमयी भाषा में होने के कारण स्निग्धता और माधुर्य की विशेषताएँ अधिक होती हैं। बुद्धि का वैभव भी इन गीतों में अवांछनीय है। शब्द का संगीत उसका स्वर ही होता है। अतः स्वर और शब्द का संगीत, ध्वनि के अनुपात का ही संगीत है। जहाँ तक भावावेग और भाषा की कोमलता का प्रश्न है वह प्रगीत में भी उसी रूप में मिलती है। यद्यपि संगीत मूलतः मधुर और कोमल कला है, अतः प्रायः मधुर और कोमल अनुभूतियों का अंकन तदनुकूल भाषा में किया जाता है, परन्तु गीत के कुछ प्रकारों—राष्ट्रीय गीत, वीर गीत आदि में परुष और ओजस्वी भावनाओं का प्रवेश निषिद्ध नहीं और इनकी अभिव्यक्ति भी ओजगुण-व्यंजक तत्त्वों के द्वारा ही की जाती है। अतिशय बौद्धिकता प्रगीत की आत्मा के भी अनुरूप नहीं, अतः बुद्धि के वैभव से युक्त कविता गीति नहीं विचारात्मक कविता कहलाएगी।

उक्त विभाजन के अनुसार दूसरे भेद—साहित्यिक गीत की रचना—"वाद्य-यन्त्रों के सहारे गाने के ध्येय से नहीं होती। यह संगीत उनके स्वरूप के भीतर वर्तमान आत्मा (spirit) में विद्यमान रहता है जो शब्दों की लय एवं उनके मोड़ द्वारा ध्वनित होता है। यह संगीत हृदय के भीतर गूंजता है और उसका गान एकान्त में बैठा हुआ पाठक ही कर सकता है। दूसरी विशेषता इस प्रकार के गीतकाव्य की यह होती है कि इसमें कवि के गहन भावों की अभिव्यंजना साधारण शैली में न होकर साहित्यिक शैली में होती है। इसीलिए इन्हें साहित्यिक गीत कहा गया है।"[२]

साहित्यिक गीत का उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर व्यावर्तन गेय गीतों से नहीं किया जा सकता। कम से कम यह विभाजन आधुनिक हिन्दी काव्य में उपलब्ध गीतों पर लागू नहीं होता। 'निराला', महादेवी, और पन्त की रचनाओं से ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनकी रचना साहित्यिक शैली में हुई है तथा उनमें वे सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं जिनका उल्लेख साहित्यिक गीत के प्रसंग में किया गया, तथा जो साथ ही गेय भी हैं। यह बात व्यवहार-सिद्ध है। अतः इस विभाजन में जिन्हें साहित्यिक गीत कहा गया है वे वस्तुतः प्रगीत हैं, तथा

---

१. काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे, पृ० ३४४-४५

२. वही, पृ० ३४५-४६

जिन्हें गेय गीत कहा गया वही विशुद्ध गीत हैं। शैली सम्बन्धी अनुबन्ध गीतों में केवल यही होता है कि विषय और शैली, दोनों दृष्टियों से इनकी रचना इस रूप में की जानी चाहिए कि उनकी स्वर-साधना सहज सम्भव हो सके। गीत का विषय इस प्रकार का होना चाहिए कि वह सहज ही मर्म-स्पर्श कर सके तथा सरलता से ग्राह्य हो। अत्यन्त सूक्ष्म व गहन विषय गीत की सहज प्रेष्यता में बाधक होते हैं।

शैली की दृष्टि से, विषयानुकूल शब्द-योजना के अतिरिक्त शब्दों के चयन और छन्द-योजना में कवि को विशेष सतर्क रहना पड़ता है। गीत की वाहक वही पदावली हो सकती है, जो समस्त न हो, जिसमें उच्चारण-सम्बन्धी कोई कठिनाई न हो, तथा जो प्रसाद गुण-युक्त हो (माधुर्य और ओज गुण का पदावली में समावेश विषय की आवश्यकता के अनुकूल किया जा सकता है), तथा साथ ही जो श्रवण-सुखद हो। उच्चारण और श्रवण में सुखद पदरचना गीत का माध्यम होती है। इसके साथ, कवि शब्दों का चयन प्रायः इस प्रकार सुरुचि और विवेक से करता है कि उनका गायन सरल हो। इसके लिए समस्त व्यंजनों की अपेक्षा नादप्रधान स्वरों का प्रयोग गीत-रचना के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। स्वर-वैविध्य में गति और आरोह-अवरोह का अवकाश अधिक होता है, और व्यंजनों में नाद-सौन्दर्य। अतः कवि विषयानुकूल स्वर और व्यंजन मैत्री की योजनाएँ इस रूप में प्रस्तुत करता है कि उनमें स्वयं उच्चारण-संगीत अथवा ध्वनि-संगीत उत्पन्न हो जाता है।

छन्द-चयन भी गीतों का इस दृष्टि से किया जाता है कि उनमें स्वरों का आरोह-अवरोह (भले ही शास्त्रीय दृष्टि से न हो) सहज रूप में सम्भव हो सके। अतः प्रायः छोटे आकार के ऐसे छन्दों को गीत-रचना का आधार बनाया जाता है जिनमें गति और प्रवाह तथा लचीलापन हो। गीत-रचना के लिए मात्रिक छन्दों का प्रयोग ही अधिक उपयुक्त होता है। वर्णिक छन्दों की नियत और एकरस लय में उस प्रकार स्वरों के यथारुचि संयोजन का अवकाश नहीं रहता, जैसा मात्रिक छन्दों में। दीर्घ और लघु मात्राओं के नियत स्थान के अभाव में संगीत-गुण और नादमयता की दृष्टि से कवि मात्रिक छन्दों में मात्राओं और स्वरों का मनोनुकूल प्रयोग कर सकता है। अधिक मात्राओं वाले बड़े छन्द भी संगीत-रचना की दृष्टि से विशेष अनुकूल नहीं होते। गीतों में प्रायः प्रथम पंक्ति टेक की होती है जिसकी आवृत्ति प्रत्येक अवतरण के उपरान्त होती है। छन्दक या टेक की योजना संगीत-तत्त्व की वृद्धि में सहायक होती है।

गीत की भाषा भी, जैसा कहा जा चुका है अत्यधिक अलंकृत, समस्त, व बोझिल न होकर प्रसादगुणयुक्त, मधुर और संगीतमय होती है। इसके अतिरिक्त प्रगीत की भाँति अन्तःस्फूर्त अभिव्यक्ति, भावावेग, द्रवणशीलता, भावान्विति आदि विशेषताएँ गीत में भी वर्तमान होती हैं। आकार की दृष्टि से प्रगीत भी यद्यपि संक्षिप्त होता है फिर भी यदि कवि की भावधारा कुछ दूर तक प्रगीत के माध्यम से बहती रहे तो रचना-सम्बन्धी कोई बाधा सम्मुख नहीं आती, परन्तु गीत में गेयता की रक्षा के कारण आकार का विस्तार सम्भव नहीं, अतः आकार की संक्षिप्तता प्रगीत का अपेक्षित तथा गीत का अनिवार्य प्रतिबन्ध है।

गीतों के प्रकार—गीतों का विषय-भेद से अनेक भेदों में विभाजन किया गया है, परन्तु रूप और शैली की दृष्टि से गीतों के दो प्रमुख प्रकार हैं :

(क) लोक गीत और (ख) कला गीत।

उक्त दोनों प्रकारों के मूल दृष्टिकोण, परिणामतः बाह्य रूप में अन्तर होता है। कला-गीत साहित्यिक प्रगीत का ही पर्याय है, केवल उसकी शैली में गेय संगीत का प्रयोग होता है, परन्तु इनसे भिन्न, लोक-गीतों में गेयता उनका प्राण-तत्त्व होता है, परन्तु उनकी शैली सायास अलंकृत और साहित्यिक नहीं होती, अर्थात् इन गीतों में काव्यगुण (Poetic Art) तो होता है, काव्य-शिल्प (craft) नहीं। काव्य-गुण से अभिप्राय भावमयता, अन्तःस्फूर्त और सहज अभिव्यक्ति से है, और काव्य-शिल्प से आशय बाह्य अलंकरण, सज्जा, और अभिव्यक्ति के जड़ाव और सौन्दर्य से है। लोकगीतों में लोक-जीवन की सहज अभिव्यक्ति होती है, अतः इनका मूल भाव व्यक्तिगत न होकर प्रायः सामूहिक होता है। अर्थात् इनका सम्बन्ध मानव-मन की किसी ऐसी मौलिक अनुभूति से होता है जो सहज और व्यापक हो, नितान्त व्यक्तिगत और अन्तरंग अनुभूति इन गीतों का विषय नहीं होती। इनसे भिन्न कला-गीतों के कुछ विशेष प्रकारों को छोड़कर (राष्ट्र-गीत, प्रभाती आदि) शेष में व्यक्ति-तत्त्व का प्राधान्य होता है। इन गीतों का मूल भाव नागर होता है। लोकजीवन में सामूहिकता को, और नागरिक जीवन में व्यक्ति-तत्त्व को प्रधानता दी जाती है, अतः लोकगीतों की चेतना सामूहिक और कला-गीतों की व्यक्तिगत होती है। लोकगीतों के मूल में ग्रामीण या वन्य पृष्ठ-भूमि की प्रधानता रहती है, तथा कलागीतों में नागरिक पृष्ठभूमि की। लोकगीतों का रचयिता व्यक्ति होने पर भी, वह भाव के सामान्य रूप को ही अभिव्यक्ति देता है, विशेष रूप को नहीं, अतः इन गीतों में अभिव्यक्त भाव, वर्गगत और 'टाइप' का प्रतीक होता है। कलागीतों की भाँति इनके रचयिता किसी विशिष्ट परिस्थिति या मनोदशा का चित्रण नहीं करते।

लोक-गीतों की कला अथवा काव्य-रूप भी प्रायः अनगढ़ तथा निसर्ग सुन्दर होता है। उनका अभिव्यंजना-सौन्दर्य आहार्य व प्रयत्न-साध्य नहीं, सहज होता है, अतः सचेष्ट कलात्मक संस्कार और परिष्कार का इनमें अभाव मिलता है। इनसे भिन्न, कला-गीतों में सचेष्ट कला का सद्भाव होता है। उनकी कला के बाह्य प्रसाधनों में एक प्रकार की विदग्धता, नक्काशी, तथा सायास अलंकरण, शिल्प, व सज्जा प्राप्त होती है। बाह्य कला की यह उत्कृष्टता, सुकुमारता और सौन्दर्य (शब्द और अर्थ का) गीतकार का साध्य होता है। गीतों की शैली के इसी सौन्दर्य और मसृण कला को दृष्टि में रखते हुए आंग्ल साहित्य में गीत की अभिव्यंजना को प्रगीत काव्य का शृंगार माना गया है। गीतों का सुव्यवस्थित निष्पादन कलात्मक सिद्धि का अभिषेक है। उनके सरल और प्रतिभूत विषय एवं शैली में आकृतिगत पूर्णता की सुकुमारता निहित रहती है, तथा प्रमाता के मन में अनुभूति और आशंका व्याप्त रहती है कि उनकी यह निश्चिन्तता विषम अर्थ में अस्पृश्य है। अतः एक शब्द का परिवर्तन, एक असावधान स्पर्श, उन्हें विरूप कर देगा, फिर भी हमारे मन में उन्हें आकारगत अनगढ़ता के कारण अधिक स्थूल रूप में देखने की कामना नहीं होती।[1]

---

1. Finally, the formal perfection of the songs is a type of the beauty which is the crown of artistic achievement. Their simple secure matter and

आकार की दृष्टि से गीत विशेष बृहद् नहीं होते। पंक्तियाँ भी प्रायः छोटी होती हैं जिससे गाने में सुगमता रहे। गीत-रचना के लिए वर्णिक छन्दों की अतिनियतलयता की अपेक्षा मात्रिक छन्दों में लय के परिवर्तन और रुचि के अनुसार संयोजन के लिए अधिक अवकाश रहता है। गुरु-लघु वर्णों का, गीत की भावना और अभीष्ट उच्चारण-संगीत की दृष्टि से कवि स्वयं स्थान-निर्धारण कर लेता है। अतः उसे छन्द की रूढ़िबद्ध एकरस संगीतात्मकता के अनुरूप अपने गीत नहीं ढालने पड़ते। मिश्र छन्दों का प्रयोग गीत में प्रायः किया जाता है। परन्तु यह मिश्र छन्द, अनेक छन्दों या विविध लय-खण्डों के योग से नहीं बनाए जाते, और इस प्रकार की निर्मित एक कड़ी अथवा एक इकाई की आवृति, पुनः पुनः गीत के विविध भाव-खण्डों या चित्रों में की जाती है।

आधुनिक युग में उपलब्ध गीत काव्य

आधुनिक हिन्दी काव्य में दोनों प्रकार के गीत लिखे गए। कलागीत संख्या की दृष्टि से इनमें अधिक हैं, तथा कुछ गीत मूलतः साहित्यिक व कलात्मक होने पर भी अंशतः लोकगीतों की कला से प्रभावित हैं। कलागीतों में भी अनेक प्रकार की रचनाएँ उपलब्ध हैं, किन्तु प्रधानता आध्यान्तरिक गीतों की ही है। गीत-रचना की यह शैली पाश्चात्य सॉङ्ग के बहुत समीप, और उससे प्रभावित है। इससे भिन्न, कलागीतों की एक अन्य शैली हिन्दी-काव्य की वह परम्परागत शैली है, जिसमें पूर्ववर्ती भक्त-कवियों—सूर, तुलसी, मीरा आदि के आत्मनिवेदनात्मक विनय के पद, तथा कृष्ण-भक्तों के लीला-वर्णन के कथाश्रित पद आते हैं। पहले प्रकार के पदों की अनुभूति एकान्तिक, आन्तरिक है और दूसरे की मूल अनुभूति की प्रेरणा या उद्दीपन, इष्ट की वस्तुगत लीलाओं में निहित रहता है। अतः विवेच्य काव्य में उपलब्ध गीतों को मुख्य रूप से तीन वर्गों में रखा जा सकता है—(१) परम्परागत शैली के अनुकरण पर रचित गीत, (२) अन्य भाषाओं के काव्य से प्रभावित गीत-रचना (३) नवीन चेतना और पाश्चात्य गीत-रचना की शैली के प्रभाव स्वरूप विरचित गीत। इन गीतों के, शैली और दृष्टिकोण-भेद से पुनः विविध भेद किये जा सकते हैं।

(१) **गीतों के परम्परागत प्रकार**—पूर्ववर्ती गेय काव्य के लिए 'पद' शब्द का प्रयोग सामान्यतः किया गया है। जैसा पहले भी कहा जा चुका है—ये पद अधिकतर भक्ति के प्रसंग में लिखे गए। अतः इनमें भक्तिमार्ग के विभिन्न पहलुओं—भक्त के दैन्य, ईश्वर की महिमा, गौरव, संसार की असारता, विनयप्रधान आत्मनिवेदन आदि की अभिव्यक्ति हुई है। जहाँ इस भक्ति का आलम्बन ईश्वर का निर्गुण-निराकार रूप रहा तथा जहाँ सगुण रूप की केवल सैद्धान्तिक या भावात्मक स्वीकृति की गई वहाँ इनमें आन्तरिक भावनाएँ, भक्त की रहस्यानुभूतियाँ,

---

manner have that delicacy of perfect shape which seems always fragile, and so makes the beholder feel almost with fear that their certainty is 'securus' in its dangerous sense. A change of word, a careless touch, would spoil them. Yet we have no desire that they should seem more robust by less perfect in form. Elizabethan Lyric by Catherine Ing—page 230

आत्मविह्वलता व्यक्त होती है। इन पदों में कभी-कभी संसार की असारता और आराध्य के महत्त्व-वर्णन के प्रसंग में वर्णनात्मक स्थल आ गए हैं, परन्तु ये भी क्रमशः भक्त हृदय के विराग और राग के ही व्यंजक हैं। दूसरा वर्ग उन पदों का है, जहाँ आलम्बन सगुण-साकार है। कवि, कल्पना के द्वारा मनःचक्षुओं से उसकी लीला का सर्वत्र साक्षात्कार कर आत्मविभोर होता रहा है। उसका आलम्बन सदैव उसकी कल्पना में स्थित रहकर अपनी लीलाओं द्वारा उसकी भावनाओं को उद्दीप्त करता है। ऐसे पदों में कवि द्विविध अभिव्यक्ति करता है। एक ओर वह आराध्य के रूप और लीला का वर्णन कर अनुभूति का आधार खड़ा करता है, दूसरी ओर आलम्बन के प्रति अपनी रागात्मक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति करता है। इनमें पहले प्रकार के पदों का स्वरूप वस्तुनिष्ठ और दूसरे का अन्तर्वृत्ति-निरूपक होता है। इनकी अनुभूति भी अत्यन्त स्पष्ट, सरल और मार्मिक तथा समाजानुमोदित होती है, अतः अभिव्यंजना में स्पष्टता, मार्मिकता और प्रभविष्णुता व्याप्त रहती है। आध्यन्तरिक गीतों की भाँति इन पदों की कला रम्याद्भुत कला नहीं होती और न ही इनमें लक्षणा-व्यंजना का वैचित्र्य, चमत्कार, दूरारूढ़ अर्थ-विधान मिलता है।

गेय पदों में लीला-वर्णन भारतेन्दु-युग के उपरान्त अत्यन्त विरल हो गया। इस परम्परा में केवल रूढ़ि-पालन के लिए कुछ रचनाएँ हुईं, परन्तु इनमें वह भाव-तन्मयता और आत्म-विभोरता नहीं मिलती, जो कृष्ण-भक्तों की पद-रचना में प्राप्त होती है। यूँ कवियों ने इन्हें सायास गेय रूप देने का प्रयत्न किया है। कृष्ण-लीला-वर्णन के अनुकरण पर 'पूर्ण' ने राम की धनुर्विद्या-शिक्षण का वर्णन बाह्य संगीत का विधान करके किया। कवि ने एक टेक की पंक्ति का नियोजन किया है जिसकी आवृति रूपमाला छन्द में रचित युग्मक के उपरान्त होती है। सम्पूर्ण कविता में राग (देश) और ताल (झूमड़ा) का निर्देश भी कवि ने कर दिया है, परन्तु इस रचना में गेयता वर्तमान होने पर भी सहज अन्तःस्फूर्त अभिव्यक्ति और तन्मयता का अभाव है। दृष्टिकोण में वस्तुपरक वर्णन की प्रवृत्ति अत्यन्त स्पष्ट है :

सुरपुर होत जयजयकार।
शस्त्र विद्या आज सीखत अवध राजकुमार। सुरपुर।
कुल पुरोहित नियत कीन्हीं जो लगन शुभ वार।
ताहि में रघुवर गहे कर चाप सर तरवार। सुरपुर।[1]

उक्त पंक्तियों में तन्मयता के अभाव का एक कारण आलम्बनों के स्वरूप का अन्तर भी है। माखनचोर लीलावतारी कृष्ण की सत्य और वत्सल भाव से भक्ति करने वाले कवि जितने नैकट्य की अनुभूति कर सकते थे, उतनी धनुर्धारी मर्यादा पुरुषोत्तम की दास्य भाव से आराधना करने वाले कवि नहीं। यह दृष्टिकोण हमारे संस्कारों के साथ कुछ इस रूप में बँध गया है, कि रामलीला के वर्णनों में अनौपचारिकता और वह तन्मयता व आत्मविभोरता आज भी नहीं आ पाती। अन्यथा भी राम के जीवन में कोमल, लीलामय प्रसंगों को आरम्भ से ही प्रचार नहीं दिया गया, अतः राम के धनुर्विद्या-अर्जन के प्रसंग में उत्साह तो हो सकता है

---

१. कविता-कलाप—सम्पादक, महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३

मसृणता, लालित्य, और आत्मविस्मृति नहीं। राम के आराध्य-रूप के साथ पूज्य भाव का आवरण इतनी दृढ़ता से लिपट गया है कि उनके मर्यादावेष्ठित रूप को इस वृत्त से बाहर लाकर चित्रण का प्रयत्न कवियों ने प्रायः नहीं किया—विशेषकर प्राचीन परम्पराओं और संस्कारों के प्रति आस्थावान कवियों ने। नई धारा के कवियों ने शैली और काव्य-रूप के साथ काव्य-विषय भी नए ही उठाए अतः लीला-वर्णन की इस पुरातन पद्धति को उन्होंने नहीं अपनाया। प्रासंगिक रूप में जिन कविताओं में कृष्ण-लीला का उल्लेख हुआ है वहाँ भी वह कविता का प्रमुख विषय नहीं प्रासंगिक विषय है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की रचनाओं में, प्राचीन पद-शैली को नहीं अपनाया गया, विशेषकर कृष्ण के वत्सल रूप को।

ला० भगवानदीन ने कुछ राग-रागिनियों में बँधे गेय पद कृष्ण की फाग-क्रीड़ा के वर्णन के लिए लिखे हैं। ये पद 'रंगपंचमी' शीर्षक में 'नवीन बीन' में संकलित हैं। उक्त पदों में गेयता है, परन्तु आध्यन्तरिकता की अपेक्षा वर्णनात्मकता की प्रधानता है, अतः इनमें बाह्य संगीत का विधान तो किया गया है, किन्तु आन्तरिक भाव-संगीत का अभाव है। कारण, इनमें कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ, विशुद्ध आत्माभिव्यंजन नहीं, उनका वस्तुगत आधार अत्यन्त स्पष्ट ही नहीं, प्रमुख हो गया है।

परम्परागत पद-रचना की शैली के अनुकरण पर आध्यन्तरिक दृष्टिकोण विनयपरक आत्मनिवेदनात्मक पदों में मिलता है। इस प्रकार के पद इस युग में बहुत कम लिखे गए, परन्तु इनका एकान्त अभाव नहीं। रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण', कवि 'शंकर', रूपनारायण पाण्डेय आदि सभी ने उल्लेखमात्र के योग्य पद-रचना की। इन पदों में भक्त कवियों की-सी आत्मविभोरता, दैन्य, विनय और आस्था नहीं मिलती। इनकी संख्या भी बहुत नहीं है। श्रीधर पाठक, रामचरित उपाध्याय और वियोगी हरि ने भी भक्तिकालीन पद-परम्परा के अनुकरण पर रचनाएँ कीं। काव्य में नवीन शैली और शिल्प के प्रवर्त्तक और उन्नायक कवियों ने इस परम्परागत पद-शैली का कायाकल्प किया है। कवि निराला ने 'अर्चना', 'आराधना' और 'गीत गुंज' में कुछ ऐसे गीतों की रचना की है, जो वर्ण्य विषय और मूल भावना की दृष्टि से परम्परागत, और शैली की दृष्टि से नवीन हैं। इन गीतों में अशरण-शरण, पतितपावन, दीनबन्धु, त्राता, ईश्वर से विपद्ग्रस्त भक्त का विनयपूर्ण आत्मनिवेदन व्यक्त हुआ है। परन्तु इनकी भाषा, छन्द, अभिव्यंजना, सभी कुछ नये रूप में अपनाया गया है। राग और ताल-बन्धों के निर्देश की परम्परागत पद्धति से भी ये गीत मुक्त हैं :

दुरित दूर करो नाथ,
अशरण हूँ, गहो हाथ।
हार गया जीवन रण,
छोड़ गये साथी जन,
एकाकी, नैश-क्षण,
कण्टक-पथ, विगत पाथ।
देखा है, प्रात किरण
फूटी है मनोरमण,

कहा, तुम्हीं को अशरण—
शरण, एक तुम्हीं साथ।[1]

(२) कुछ गीतों की रचना इस युग में संस्कृत के गीत-गोविन्द और बंगला के वन्देमातरम् की शैली से प्रभावित होकर की गई। ऐसी रचनाएँ भी संख्या में बहुत नहीं थीं, और इनमें प्रायः जननी जन्मभूमि के स्तवनगान और इष्ट के प्रति भावनाओं की हृदयहारी अभिव्यक्ति मिलती है। स्वयं द्विवेदीजी ने उपर्युक्त शैलियों से प्रभावित गीत लिखे और उनका अनुसरण अन्य कवियों ने भी किया है :

(क) इष्टदेव आधार हमारे, तुम्हीं गले के हार हमारे,
मुक्ति मुक्ति के द्वार हमारे, जै जै जै जै देश।
जै जै सुभग सुवेश।[2]

(ख) वंदेभारतम्।
सुजनम्, सुवनम् अतिशयशोभनम्
हर्ष वर्द्धनम् भारतम्।[3]

राष्ट्रीय गीतों पर उर्दू की 'गज़ल' शैली का भी प्रभाव पड़ा। स्वयं द्विवेदीजी तथा अन्य कवियों ने कुछ देशभक्ति की गज़लें लिखीं। इन गज़लों की भाषा में हिन्दी और उर्दू का मिश्रण, और लय पर उर्दू का प्रभाव स्पष्ट है। स्वयं कवियों ने शीर्षकों में यह स्वीकार किया है। 'गज़ल-देशभक्ति' शीर्षक में रायदेवीप्रसाद द्वारा रचित गज़ल की कुछ कड़ियाँ प्रस्तुत हैं :

कभी हिन्द में भी कमाल था तुम्हें याद हो कि न याद हो,
यही आप अपनी मिसाल था तुम्हें याद हो कि न याद हो
कला विद्या नीति में, पेशों में ये समस्त भूमि के देशों में।
मानों चक्रवर्ती भुवाल था। तुम्हें……[4]

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी उर्दू की गीत-रचना से प्रभावित राष्ट्र-गान लिखे। इनकी शैली गज़लों से भिन्न थी :

मेरे प्यारे हिन्दुस्तान
तू था दुनियां का सरताज
तेरा है हम सबको नाज
तेरे हाथ हमारी लाज
तुझसे ही हम सबका त्राण।[5]

---

१. अर्चना—निराला, पृष्ठ ६
२. द्विवेदी काव्यमाला, पृष्ठ ४५४
३. पराग—रूपनारायण पाण्डेय, पृष्ठ ३६
४. पूर्ण-संग्रह, पृष्ठ २३८
५. द्विवेदी काव्यमाला—पृष्ठ ४५४

इन रचनाओं में परवर्ती राष्ट्रीय गीतों से एक अन्तर है। द्विवेदी-युग तक स्वतन्त्रता-संग्राम के प्रयत्नों ने क्रांतिकारी रूप धारण नहीं किया था, अतः इनके स्वर में वह आग, ज्वाला, अन्तःस्फूर्त अभिव्यक्ति, और उत्तेजनाजन्य आवेग नहीं है जो दिनकर, नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी की कविताओं में व्यक्त हुआ है। भगवतीचरण वर्मा के प्रबुद्ध अहंकार का भी इनमें अभाव है, केवल अत्यन्त सहज रूप में देश के प्रति कवि का प्रशस्ति-भाव वन्दनात्मक स्वरों में व्यक्त हुआ है।

(३) तीसरी प्रकार की गीत-रचना अँगरेज़ी काव्य के 'सॉंग' के अनुकरण पर की गई। आधुनिक काव्य में गीत शब्द 'सॉंग' के पर्याय-रूप में ही प्रयुक्त होता है, गेय काव्य के अर्थ में नहीं। यद्यपि गीत का प्रयोग उसी रचना के लिए होना चाहिए जो गेय हो, परन्तु 'सॉंग' में गेयता के साथ व्यक्तिगत अनुभूति, कलात्मक परिष्कार आदि की जो विशेषताएँ सहज रूप में स्वयं अन्तर्भूत हो गई हैं वे पाश्चात्य काव्य के ही प्रभाववश। इस विधा का उल्लेख अन्य भाषाओं से प्रभावित गीत-रचना के अन्तर्गत इसलिए नहीं किया गया, कि इनके मूल दृष्टिकोण और वर्ण्य विषय पर रोमानी दृष्टि का प्रभाव होने पर भी इनका संगीत, छन्द-विधान, अप्रस्तुत-योजना और संस्कार, भारतीय ही रहे। इन कवियों ने जिस प्रकार अन्य प्रगीत-विधाओं को मूल रूप में अँगरेज़ी साहित्य से ग्रहण करने पर भी, उनका विकास अपनी रुचि और विवेक के आश्रित किया, उसी प्रकार व्यक्तिगत अनुभूतियों के निरूपक गीतों की रम्याद्भुत कला और विषय का प्रभाव ग्रहण करने पर भी उन्हें अपने साँचों में ढाला है। छन्द इनके अपने हैं, उनमें किये गए नवीन प्रयोग भी इनकी मौलिकता के कारण हैं, विदेशी प्रभाववश नहीं। संगीतात्मकता का समावेश भी इन्होंने भारतीय शास्त्रीय अथवा लोक-संगीत की दृष्टि से किया, विदेशी दृष्टि से नहीं। हाँ, इनकी भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति, मूर्त-विधान, अर्थव्यंजक नाद-सौन्दर्य आदि पर अवश्य विदेशी प्रभाव रहा है। परन्तु सामान्यतः आधुनिक काल के काव्य की समग्र अभिव्यंजना-कला इन प्रवृत्तियों से प्रभावित है, और विशेष रूप से प्रगीत-रचना। अतः गीत-रचना के क्षेत्र में यह प्रभाव विलक्षण अथवा एकाकी नहीं। गीत-रचना में प्रायः अन्त्यानुप्रास का निर्वाह, मुक्त छन्द का अभाव, छन्दक आदि का प्रयोग और संगीत-साधना की दृष्टि से छंद-चयन, परम्परागत संगीत और काव्य के कलागत मूल्यों में इन कवियों की आस्था के प्रमाण हैं। इस युग की गीत-रचना भारतीय लोक-संगीत की कला से तो प्रभावित है, विदेशी संगीत से नहीं।

इन गीतों में मुख्य रूप से तीन प्रकार की रचनाएँ की गईं। (१) आत्मानुभूति के व्यंजक स्वानुभूतिपरक गीत (२) प्रकृति आदि के वर्णन के लिए लिखे गए गीत और (३) राष्ट्रीय गीत एवं वन्दनाएँ। सर्वाधिक संख्या और महत्त्व इनमें पहले प्रकार के ही गीतों का है। इनमें मर्मस्पर्शिता और अनुभूति की गहनता, वर्णनात्मक गीतों में उल्लास, और राष्ट्रीय गीतों में ओज और स्फूर्ति मिलती है। पहले प्रकार के गीतों में तन्मयता, दूसरे में आह्लाद, और तीसरे में उत्तेजना प्रदान करने का गुण होता है।

प्रथम प्रकार के गीतकारों में महादेवी वर्मा, पन्त, निराला, प्रसाद, बच्चन और रामकुमार वर्मा का नाम मुख्य रूप से लिया जा सकता है। प्रसाद की अधिकांश गीत-रचना उनके

नाटकों में ही प्रसंगवश की गई। इनमें कुछ गीत राष्ट्रगान के रूप में लिखे गए, शेष की रचना विशिष्ट पात्रों की आत्माभिव्यक्ति के रूप में हुई। पात्र जिस भावातिशयता को सामान्य बोल-चाल की भाषा में व्यक्त नहीं कर पाता, उसके लिए प्राय. गीत का आश्रय लेता है। इन गीतों में भावावेग, सुन्दर कल्पना और उत्कृष्ट कला प्रचुर है। संगीत की शास्त्रीय परिपाटी के अनुसार ही विभिन्न राग-रागिनियों में इनका बन्धन किया गया है। इस शैली के कुछ गीत 'झरना' और 'लहर' में भी संकलित हैं। पन्त के गीतों में सौन्दर्योन्मेष, कोमल भावनाएँ और सरल, निश्छल जिज्ञासा अधिक मिलती है। कवि के हृदय की कोमलतम अनुभूतियाँ, उतनी ही कोमल और संगीतमय भाषा में रूपान्तरित हुई हैं। स्वर-साधना की दृष्टि से उनके गीत कितने सफल हो सकते हैं? इसका प्रमाण उनकी प्रसिद्ध गीत रचना—"बाँध दिये क्यों प्राण प्राणों से" है। प्रसादमयता, भाव-संगीत, सौन्दर्यव्यंजना और सारल्य, पन्त के गीतों का प्राण है। 'निराला' के गीतों में ओज की प्रधानता स्वीकार की गई है, परन्तु उनके गीतों में कोमल भावनाओं का बहिष्कार नहीं। गाने की दृष्टि से उन्होंने जिन गीतों की रचना की, उनमें तो विशेष रूप से कोमल भावनाओं और सौन्दर्य-व्यंजक वर्णनों को स्थान दिया। कोमलता का यह आग्रह उनके मन में इतना प्रबल रहा है कि उन्होंने कहीं-कहीं नारी-भावना के अनुकूल 'अलि' को सम्बोधन कर गीत रचना की :

अलि, घिर आए घन पावस के।
छोड़ गए गृह जब से प्रियतम
बीते अपलक दृश्य मनोरम,
क्या मैं हूँ ऐसी ही अक्षम,
क्यों न रहे बसके
अलि, घिर आए घन पावस के।[1]

कैवल्य 'निराला' के गीतों में न मधुर-मंजुल भावनाओं का है और न परुष भावनाओं का। प्रेम और सौन्दर्य-व्यंजक गीतों में लोक-गीतों की-सी भावतीव्रता और कोमलता का विरोध-वैचित्र्य मिलता है, तथा अन्य गीतों में उनका पौरुष ओजस्वी शब्दों में मुखरित होता है। 'निराला' के गीतों में पन्त की-सी कोमल भावोच्छलता और सौन्दर्योन्मेष तथा महादेवी के गीतों की-सी लालित्यमयी बिछलन के स्थान पर शक्ति और ओज का स्फुरण ही अधिक व्याप्त है।

गीतों की कला का जहाँ तक प्रश्न है, इनमें संगीत की रक्षा प्राथमिक होती है। इसके साथ यदि रागात्मक अनुभूति, संयत कल्पना, संतुलित अभिव्यंजना की रक्षा भी हो सके तो यह सिद्धि अनुपम होगी। 'निराला' की उपलब्धि यही है। उनके गीतों में शास्त्रीय-संगीत की नियमबद्धता नहीं, परन्तु मुक्त छन्द की भाँति, रीतिमुक्त मंजुल-मधुर संगीत का समावेश हुआ है। उनके गीतों में उच्चकोटि की रागात्मकता, जीवन्तता, सुखद कल्पना और समर्थ शैली के साथ, स्वतः स्फुरित लयात्मक संगीत वर्तमान रहता है।

---

१. परिमल—निराला, पृ० १०३

'निराला' के गीतों में एक अतिरिक्त विशेषता है। शब्दों के संगीत पर, उनकी नाद-मयता और शब्द-झंकार पर, जितना उन्होंने ध्यान दिया उतना अन्य कवियों ने नहीं। पन्त, प्रसाद, महादेवी आदि के गीतों में भाव-व्यंजना है, परन्तु ध्वन्यार्थ-व्यंजक शब्दावली का प्रयोग निराला के समान नहीं। कवि ने "अपनी शब्दावली को काव्य के स्वर से भी मुखर करने की कोशिश की है।"

'गीतिका' के गीतों से इस क्षेत्र में 'निराला' ने एक युगान्तर प्रस्तुत किया। प्रेम और सौन्दर्य इन गीतों का विषय है। इनमें संवेदना का प्रकृत और तीव्र रूप लोकगीतों का समकक्षी कहा जा सकता है, किन्तु अभिव्यक्ति में लोक-गीतों की अनगढ़ शैली नहीं, कला के ललित उप-करणों से अलंकृत साहित्यिक शैली का प्रयोग हुआ है। इन गीतों में केवल भावनाओं की, संवेदनों की अभिव्यक्ति नहीं, प्रकृति के भावाक्षिप्त वर्णन हैं, जिनमें चित्रमयता है और चित्रों में गति है। इन चित्रों में रूप की स्थिरता, मुद्राओं की गति और भावों की तीव्रता सभी कुछ प्राप्य है। 'गीतिका' के आरम्भिक गीतों में से 'प्रिय यामिनी जागी' इसी प्रकार का भावाक्षिप्त चित्रण-प्रधान गीत है। इन गीतों में कवि ने नारी-भावना को ही प्रमुखता दी है। 'गीतिका' के पाँचवें गीत में नायिका का आत्मसमर्पण, उसकी आशा-अभिलाषाएँ, तृष्णातृप्ति सभी कुछ अंकित है। प्रिय को 'पत्र-लेखन' की पुरानी परिपाटी का अनुसरण भी 'लिखती सब कहते' गीत में हुआ है। 'तुम छोड़ गए द्वार' में विरहिणी का चित्र है।

इन गीतों की एक विशेषता है—दार्शनिक संयम। उच्छृंखल आवेग तथा प्रेम-विभोर स्थितियों को कवि ने प्रायः प्रज्ञा के संयम के धागों में बाँधा है। इस कारण गीतों में भाव-व्यंजना कहीं प्रत्यक्ष रूप से रहस्यात्मक हो गई है, और कहीं रहस्यात्मकता का आभास होता है।

कुछ गीतों में अंतर्निहित आध्यात्मिक स्वर में परोक्ष सत्ता की व्यंजना और दिव्य के प्रति जिज्ञासा परिव्यक्त है। विनय और भक्ति के साथ 'गीतिका' के अनेक गीत अद्वैतवाद के प्रतिपादक दार्शनिक गीत हैं। इन गीतों के परिवेश में अद्वैत-दर्शन कवि का प्रतिपाद्य है, परन्तु उनकी रहस्यानुभूति और अलौकिक के प्रति जिज्ञासा, लौकिक आधार लेकर व्यक्त हुई है। चिन्तन और दर्शन इस प्रकार गीत-रचना के कलेवर में समाहित है।

महादेवी की समस्त गीतियाँ गीत नहीं। उनके सभी प्रगीतों की आत्मा गीतिमय है, परन्तु पारिभाषिक अर्थ में गीत का प्रयोग उन्होंने सभी में नहीं किया। फिर भी उनके अधिकांश गीतों में स्वर और शब्द-योजना का संगीत वर्तमान है। स्वर-संगीत, लोक-गीतों के लय-विधान, और शब्द-संगीत, स्वर और व्यंजन मैत्री से युक्त कलात्मक वर्णविन्यास द्वारा उत्पन्न किया गया है। महादेवी के अधिकांश गीत व्यक्ति की परिधि से बाहर नहीं जाते। उन्होंने व्यक्ति-संवेद्य कोमल भावनाओं, भावमिश्रित कल्पनाओं तथा कहीं कल्पना और विचार के माधुर्य को गेय बनाया है। इन गीतों की एक विशेषता है—इनकी कवयित्री ने आधुनिक गीत काव्य को एक नवीन शिल्प प्रदान किया। उन्होंने लोक-गीतों की वन्य गति-लयों के भीतर परिष्कृत और विदग्ध भाव, विचार एवं कल्पना का संसार बसा दिया। नारी होने के नाते लोक-गीतों का शिल्प उनके अन्तर्मन में संस्कार-रूप में बसा था, जिसमें साहित्यिक विषय भरकर उन्होंने इस क्षेत्र में

एक नये काव्य-रूप को जन्म दिया। लोक-गीतों के लय-विधान को ग्रहण करने पर भी उनके गीत, कला-गीतों की कोटि में ही आते हैं। इन गीतों की कला न लोक-गीतों के समान निरावरण है, और न साहित्यिक प्रगीतों की भाँति सयत्नज अलंकार-वक्रताओं से युक्त। अतः इनके गीत मीरा, कबीर आदि की अपेक्षा अधिक समृद्ध हैं, और पन्त आदि की अपेक्षा अधिक सहज। लोक-गीतों का आधार महादेवी ने एक ओर लय के ढाँचों को अपनाकर ग्रहण किया है, और दूसरे इस कला का संस्पर्श अनेक ऐसे देशज शब्दों के प्रयोग से दिया है जो आज की प्रचलित खड़ीबोली में प्रयुक्त नहीं होते। इन प्रयोगों से गीतोचित कोमलता और मसृणता की रक्षा हो सकी है। महादेवी ने जीवन के विराट और कठोर पक्ष को छोड़कर सीमित फलक पर करुण-मधुर वेदना-मिश्रित गीत गाए हैं। इसी कारण इन गीतों में मार्मिकता, सरलता और द्रवण है :

प्रिय सुधि भूले री मैं पथ भूली!
मेरे ही मृदु उर में हंस बस,
श्वासों में भर मादक मधु-रस,
लघु कलिका के चल परिमल से
वे नभ छाये री मैं बन फूली!
प्रिय सुधि भूले री मैं पथ भूली।[1]

लोक-गीतों की लय, शब्दावली और संगीत का प्रभाव 'नीरजा' में उनके 'मुखर पिक हौले हौले बोल' में सुस्पष्ट है।

महादेवी की अनेक कविताओं में दार्शनिक सिद्धान्तों को अनुभूति का विषय बनाकर प्रेष्य बनाया गया है, परन्तु ऐसा गीतों में नहीं हुआ। गीतों में राग-तत्त्व अधिक प्रबल रहा है। महादेवी के गीत कला की दृष्टि से पाश्चात्य गीत-शैली अथवा किसी अन्य भाषा की गीत-रचना से प्रभावित नहीं। कला के भारतीय संस्कार सर्वाधिक उन्हीं की गीत-रचना में रक्षित हैं।

व्यक्तिगत प्रेम के व्यंजक गीतों की रचना के क्षेत्र में 'बच्चन' और रामकुमार वर्मा का नाम और उल्लेखनीय है। 'बच्चन' के गीतों में हृदय की आकुलता बिना किसी कृत्रिमता, प्रतीक-व्यंजना, दुराव, उन्नयन आदि के प्रयत्नों के, सहज रूप से संगीतमय स्वरों में फूट पड़ती है। उनके गीतों का प्रेष्य कवि की अपनी अनुभूति है, और उसके प्रेषण में कवि अपने पाठक के प्रति पूर्णतः ईमानदार रहा है। 'बच्चन' के गीतों में इसलिए भावों की आकुलता, अनुभूति की सचाई और सघनता से सहज प्रभावित हुई है। कवि अपनी अनुभूति को उसके स्वस्थ, प्रकृत रूप में पाठक तक प्रेषित कर देने को ही लक्ष्य मानता हुआ, उस ओर बढ़ता है। संगीतात्मकता उसमें सहज रूप से वशवर्तिनी होकर आ जाती है। सरलता और अनुभूति की मार्मिकता एवं स्पष्टता के कारण, उनके गीतों में अपूर्व प्रभावात्मकता उत्पन्न हो गई है। उनके लय-बन्धन और शब्द-चयन पर इसी कारण प्रायः उर्दू का प्रभाव लक्षित होता है :

---

१. यामा—महादेवी वर्मा, पृष्ठ १६३

क्या भूलूं, क्या याद करूँ मैं।
अगणित उन्मादों के क्षण हैं,
अगणित अवसादों के क्षण हैं,
रजनी की सूनी घड़ियों को किन-किन से आबाद करूँ मैं!
क्या भूलूं, क्या याद करूँ मैं!
याद सुखों की आँसू लाती,
दुख की, दिल भारी कर जाती,
दोष किसे दूँ जब अपने से अपने दिन बर्बाद करूं मैं!
क्या भूलूं क्या याद करूं मैं![1]

रामकुमार वर्मा ने महादेवी की रहस्यात्मकता, आत्मबोध, और पन्त की सौन्दर्यचेतना व सुकुमारता से अपनी गीत-निधि का निर्माण किया है। संगीतमयता उनके गीतों में अत्यन्त निखरे रूप में मिलती है। कवि की छन्द-योजनाएं विशेष सुरुचिपूर्ण होने के कारण इस दिशा में साधक रही हैं। प्रसादगुण, माधुर्य और संगीतगुण-युक्त शब्द-योजना ने इन गीतों को गायकों का कण्ठहार बना दिया है। रामकुमार वर्मा के गीतों की संगीत-साधना इस युग में सर्वाधिक हुई। कोमलता और माधुर्य-सृष्टि के लिए उन्होंने अपनी भावनाओं को नारीत्व का स्वर नहीं दिया फिर भी उनके गीत ललित-मंजुल सुरों में ही मुखरित हुए हैं। एक कड़ी प्रस्तुत है:

मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ!
जानता हूँ, इस जगत में
फूल की है आयु कितनी,
और यौवन की उभरती,
साँस में है वायु कितनी।
इसलिए आकाश का विस्तार सारा चाहता हूँ।
मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूं![2]

दूसरे प्रकार के गीत प्रकृति के रूप-सौन्दर्य को विषय बनाकर लिखे गए। इन गीतों में भावात्मकता की अपेक्षा चित्रात्मकता अधिक है। कवि-व्यक्तित्व के आत्म-केन्द्रीकरण की अपेक्षा, इन गीतों में आत्म-विस्तार होता है। कहीं वह आलम्बन-रूप में प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन करता हुआ प्रकृति के रूप और गतिविधि को रेखाओं और रंगों में बाँधता है। कुछ गीत प्रकृति के भावाक्षिप्त वर्णनों के रूप में लिखे गए—इनमें कवि प्रकृति पर चेतना का आरोप कर, मानव-रूप, मुद्राओं और क्रियाओं का साक्षात्कार प्रकृति की गतिविधि और रूप-सौन्दर्य में करता है। वह इन वर्णनों में रूप और भावनाओं, दोनों का आक्षेप यथाप्रसंग करता है। इस प्रकार के गीतों में प्रकृति के अनेकानेक स्थिर और गत्यात्मक चित्र आँके गए हैं। मानवीकरण के द्वारा जड़ प्रकृति को चेतना प्रदान करना, और ध्वन्यार्थव्यंजक शब्दों में उसकी गतिविधि को बन्दी कर

---

१. निशा निमन्त्रण—बच्चन, पृष्ठ ९२
२. कवि-भारती—रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ४६५

लेना, इन गीतों की विशेषता है। प्रकृति-वर्णन के गीत अधिकतर 'निराला' और महादेवी ने लिखे। विशेषकर 'गीतिका' और 'परिमल' के गीतों में प्रकृति के कुछ अत्यन्त सुन्दर वर्णन उपलब्ध हैं। 'गीतिका' में 'सखि वसन्त आया'[1] तथा 'बह चली अब अलि शिशिर समीर'[2] आदि गीतों में प्रकृति का सुन्दर उल्लासमय वर्णन और रेखाओं में चित्र-व्यंजना है। 'परिमल' के गीतों में भी प्रकृति के सुन्दर वर्णन हैं। इन गीतों में कवि ने छोटे छन्दों में प्राकृतिक व्यापारों और वातावरण को साकार किया है :

दूत, अलि, ऋतुपति के आए।
फूट हरित पत्रों के उर से
स्वर सप्तक छाए।
दूत, अलि, ऋतुपति के आए।
काँप उठी विटपी, यौवन के
प्रथम कम्प मिस, मन्द पवन से,
सहसा निकल लाज-चितवन के
भाव-सुमन छाए।[3]

इनमें प्रयुक्त लय भी वर्णनात्मक स्वरूप के कारण ऋजु-सरल और प्रचलित है। महादेवी का 'री कुंज की शेफालिके' भी इसी प्रकार का प्रकृति चित्रात्मक गीत है। प्रकृति के भावाक्षिप्त वर्णन इन कवियों ने अधिक सुन्दर किये हैं। मानव-चेतना का प्रकृति पर आरोप, इस काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति थी। प्रकृति में चेतन सत्ता का आरोपण और दर्शन, इनकी मनोवृत्ति के अधिक अनुकूल पड़ा। इस प्रकार की रचना में आत्माभिव्यक्ति और आत्मेतर सौन्दर्य-व्यंजना दोनों प्रयोजन सहज सिद्ध होते हैं। कवि की आत्मपरक सौन्दर्य-चेतना के कारण, भावों की गहनता के साथ व्यक्तित्व का बहिरंग प्रसार—इस प्रकार की गीत-रचना की द्विविध उपलब्धि होती है। 'निराला' ने इस शैली में कुछ अत्यन्त सुन्दर गीत-रचनाएँ की हैं। 'गीतिका' के आरम्भिक गीतों में उनका प्रसिद्ध गीत '(प्रिय) यामिनी जागी' इसी प्रकार के अतीन्द्रिय शृंगार का प्राकृतिक चित्र है जिसमें सद्यः जाग्रत नायिका की प्रत्येक भंगिमा और मुद्रा को कवि ने बाँधा है :

(प्रिय) यामिनी जागी,
अलस पंकज-दृग अरुण मुख
तरुण अनुरागी।
खुले केश अशेष शोभा भर रहे,
पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु-उर पर तर रहे,
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे,

---

१. गीतिका—निराला, पृ० ५
२. वही, पृ० १०
३. परिमल—निराला, पृ० ४३

ज्योति की तन्वी, तड़ित–
द्युति ने क्षमा माँगी।[1]

इसी प्रकार 'सखी री यह डाल, वसन वासन्ती लेगी'[2] में पार्वती के रूप-वर्णन का पूरा रूपक घटित किया जा सकता है। 'मेघ के घन केश'[3] में भी प्रकृति का मानवीकृत वर्णन है। महादेवी के 'धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी।'[4] तथा 'अपसरि तेरा नर्त्तन सुन्दर'[5] में भी प्रकृति में क्रमशः नारी के कोमल और कठोर रूप का अध्याहार किया गया है। महादेवी के वर्णन 'निराला' की अपेक्षा अधिक अलंकृत हैं। 'निराला' के गीतों में स्वाभाविक व्यापार का अंकन प्रमुख है। महादेवी ने अपने चित्रों में रूप-व्यंजना अधिक की है, और 'निराला' ने प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करके, उसके व्यापक और सूक्ष्म व्यापारों को कल्पना के प्रसार और सूक्ष्म दृष्टि से बाँधकर, उनकी मानवीय क्रिया-व्यापारों से निकटता व्यंजित की है। अतः महादेवी के गीतों में मन्थर गति और लय में लास्य की थिरकन मिलती है, 'निराला' के गीतों में द्रुत गति और अबाध प्रवाह है।

प्रकृति के इन स्वतन्त्र और भावाक्षिप्त वर्णनों के अतिरिक्त प्रभातियों के रूप में कुछ उद्‌बोधनात्मक वर्णन भी किये गए। इनका स्वर प्रबोधनात्मक होने के कारण स्वभावतः इनमें जागृति की प्रेरणा, अतः उल्लास है। प्रकृति से उद्‌बोधन की प्रेरणा लेना इस युग की कविता के प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी दृष्टिकोण की प्रमुख विशेषता रही है। 'निराला' ने ये जागरण-गीत 'गीतिका, 'परिमल', 'अर्चना' और 'आराधना' सभी में लिखे हैं। प्रसाद की 'बीती विभावरी जाग री'[6] भी इसी प्रकार का जागरण-गीत है। महादेवी ने भी सान्ध्यगीत में––'जाग-जाग सुकेशिनी री'[7] प्रभाती की रचना की। प्रसाद और महादेवी के गीतों में 'निराला' के जागरण गानों की अपेक्षा मधुरता और कोमलता है। निराला के गीतों में प्रबोधन का उत्साह, जागृति का उल्लास और प्रेरणा है :

प्रिय, मुद्रित दृग खोलो!
गत स्वप्न-निशा का तिमिर-जाल
नव किरणों से धो लो—
मुद्रित दृग खोलो!
जीवन-प्रसून वह वृंतहीन
खुल गया उषा-नभ में नवीन,
धाराएँ ज्योति-सुरभि उर भर

---

१. गीतिका—निराला, पृ० ४
२. वही, पृ० १६
३. वही, पृ० ५०
४. यामा—महादेवी, पृ० १३०
५. वही, पृ० १४५
६. लहर—प्रसाद, पृ० १६
७. यामा—महादेवी, पृ० २४४

वह चलीं चतुर्दिक कर्म-लीन
तुम भी निज तरुण-तरंग खोल
नव-अरुण-संग हो लो—
मुद्रित दृग खोलो ! [1]

'निराला' के 'घन, गर्जन से भर दो बन'[2] में उद्बोधन की यह आकांक्षा कुछ अधिक गम्भीर और उग्र रूप में गर्जन-तर्जन के स्वरों में व्यक्त हुई है। इस जीवन को प्रेम की मधुचर्या के बाद वज्र-स्वरों से भूधर प्रकम्पित कर, इसमें नई प्रगति देखने की कवि की वाँछा है। कवि का शब्द-चयन गीत की मूल भावना के अनुकूल है। भाव और भाषा का यह पारस्परिक अनुकूलत्व ही 'निराला' के काव्य की चरम सिद्धि है।

राष्ट्रीय गीत

बंगला के राष्ट्रीय-गीतों और उर्दू की गज़लों से भिन्न, हिन्दी में राष्ट्रीय गीतों की एक स्वतन्त्र शैली का विकास हुआ। राष्ट्रीय गीतों की रचना में परम्परागत तत्त्व इतना ही होता है कि उनकी मूल अनुभूति व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होती है और भाव व्यक्ति-संवेद्य न होकर जन-संवेद्य होता है। इस मूल भावना का स्वरूप प्रत्येक युग की तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों के साथ बदलता जाता है। यथाप्रसंग इनमें देश का स्तवन, क्रांति के लिए उत्तेजना या प्रेरणा-दान, तथा देशोद्धार और जागृति के लिए अलौकिक शक्तियों का स्तवन-वन्दन हो सकता है। इन गीतों का उत्स कवि के ओज स्थायी भाव से फूटा करता है, अतः इनमें एक बात समान रूप से पायी जाती है—इनकी अभिव्यक्ति स्वतः प्रेरित और आवेग-दीप्त होती है, परिणामतः इनमें विशेष कलात्मक छटा या अभिव्यंजनागत चमत्कार का अवकाश नहीं रहता। भाव का आवेश उसकी तत्काल अभिव्यक्ति में जितना रक्षित रहता है, जितने जीवन्त और प्रकृत रूप में अभिव्यक्त हो पाता है, उतना कलात्मक परिष्कार और सायास अभिव्यंजन में नहीं। देश-स्तवन के गीतों में अभिमान और गौरव की भावना, उद्बोधनात्मक गीतों में उत्साह और ओज तथा वन्दनाओं में सजल करुणा और मार्मिकता व्याप्त रहती है। उपर्युक्त सभी रूपों में राष्ट्रीय गीतों की अखंड परम्परा द्विवेदी-युग से अधुनातन काव्य-धारा तक चली आई है। उससे पूर्व भारतेन्दु-युग में राष्ट्रीय गीतों का अभाव नहीं, परन्तु व्यापक राष्ट्रीय भावना का उन्मेष द्विवेदी-युग के गीतों में ही मिलता है।

भारतेन्दु-युग से होती हुई द्विवेदी-युग तक राष्ट्रीय गीतों की जो परम्परा चली आई उसमें मुख्यतः देशभक्ति, अर्थात् देश के प्रशस्तिमूलक गीत-रचना की प्रवृत्ति प्रधान थी। भारतेन्दु-युग में विरचित गीतों में तो भारत की दुःख-दारिद्र्यपूर्ण शोचनीय अवस्था पर क्रन्दन ही भरा गया, परन्तु द्विवेदी-युग में इन गीतों में देश के गौरव-गान की चेतना प्रधान हो गई। अतः इस युग में रचित राष्ट्रीय गीतों में राष्ट्र के प्रति वन्दनात्मक और प्रशस्तिप्रधान भाव मिलता है। वह आक्रोश और हुंकार इनमें नहीं मिलती जो बाद के राष्ट्रीय गीतों की विशेषता

---

१. परिमल—निराला, पृ० ३८
२. गीतिका—निराला, पृ० ५१

हो गई। संख्या में भी ये गीत बहुत नहीं थे। स्वयं द्विवेदीजी, श्रीधर पाठक, रूपनारायण पाण्डेय आदि ने कुछ राष्ट्रगान देश के स्तवन के रूप में लिखे। रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण' ने लोक-साहित्य से प्रभावित होकर, बारहमासों की शैली पर 'स्वदेशी बारामासी' की रचना कर डाली। सन् १९२० तक राष्ट्रीय गीतों में देश के वन्दन और गौरव-गान का स्वर ही प्रमुख रहा। १९२० के उपरान्त राजनैतिक क्षेत्र में महात्मा गांधी के अहिंसात्मक सत्याग्रह-आन्दोलन ने जैसे-जैसे प्रबल रूप धारण किया, उसके समानान्तर काव्य के क्षेत्र में राष्ट्रीय गीतों में भी क्रान्ति का स्वर प्रबुद्ध होने लगा। परन्तु छायावादी कविता, कला की दृष्टि से हिन्दी काव्य में वह सर्वांगीण परिष्कार और आदर्श प्रस्तुत कर चुकी थी कि राष्ट्रीय गीतों की परम्परा को पुनरुज्जीवन मिलने पर भी शैली की दृष्टि से वे पुनः उसी इतिवृत्तात्मकता की ओर नहीं लौटे, जो द्विवेदी-युग में काव्य-मात्र की शैली बन गई थी। परिणामतः इन गीतों में अनुभूति का सौन्दर्य और सच्चे अर्थों में गीतात्मकता उपलब्ध हुई। छायावाद काव्य-धारा के कवियों में प्रसाद और 'निराला' की कविताओं में यह स्वर अनेक स्थलों पर सुनाई देता रहा। प्रसाद के नाटकों के अनेक वन्दनात्मक और प्रयाण-गीत सुन्दर राष्ट्रीय गीत हैं। 'निराला' की 'गीतिका' के अनेक गीतों का स्वर कोमल और मधुर होने पर भी, ओज और राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना इन गीतों में विरल नहीं। समस्त पुरातन जीर्ण-शीर्ण को ध्वस्त कर नूतन आलोक फैलाने की प्रार्थना[1] उनकी राष्ट्रीय भावना की ही अभिव्यक्ति है। यदि ध्यान से देखा जाय तो उनकी यह भावना देश की सीमाओं से भी अधिक व्यापक, विश्व-राष्ट्र की कल्पना पर आधृत है। वस्तुतः उनके व्यक्तित्व में व्याप्त विराट और महान को अपनाने का आग्रह ही, इस प्रकार की अभिव्यक्ति का प्रेरक है। इसी प्रकार 'भारति जय विजय करे, कनक शस्य कमल धरे'[2] तथा 'बन्दूँ पद सुन्दर तव'[3] जन्मभूमि-वन्दना के सुन्दर उदाहरण हैं।

छायावाद के अवरोह से पूर्व राष्ट्र-गीतों में विद्रोह और क्रान्ति का स्वर नहीं है, परन्तु स्वतन्त्रता संग्राम के बल पकड़ने के साथ-साथ इन गीतों ने भी एक नयी दिशा ग्रहण की। माखन-लाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रामधारी सिंह 'दिनकर' और सुभद्राकुमारी चौहान आदि कवियों ने इन गीतों के प्रवाह को एक नया मोड़ प्रदान किया। इन गीतों में अहिंसात्मक क्रान्ति, या दूसरे शब्दों में आत्मबलिदान का स्वर गूँज उठा। देशभक्ति की भावना अधिक व्यापक और उत्तेजनामय रूप में व्यक्त हुई, परन्तु इनमें ध्वंस की अपेक्षा आत्मबलिदान का उत्साह अधिक था। 'नवीन' का 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ', माखन लाल चतुर्वेदी का 'एक फूल की चाह', तथा सोहनलाल द्विवेदी की 'भैरवी' के अनेक प्रयाण गीत इसी नये स्वर के व्यंजक हैं।

क्रमशः समाजवाद के सिद्धान्तों के प्रचार के साथ, क्रान्ति की वह भावना जिसका बीजा-रोपण उपर्युक्त कवियों की रचनाओं में हो चुका था विकसित होती गई। राष्ट्रीय गीतों में एक

---

१. गीतिका—निराला, पृ० ३९
२. वही, पृ० ७३
३. वही, पृ० ८३

तो यूं ही कवि की चेतना नितान्त व्यक्तिवादी नहीं होती, परन्तु काव्य की आत्मपरक चेतना का समष्टिगत और सामूहिक चेतना में स्पष्ट रूप से परिवर्तन मार्क्स के सिद्धान्तों के अधिकाधिक प्रचार के साथ काव्य में १९३७ के उपरान्त लक्षित होने लगा। पन्त के 'युगान्त' के साथ काव्य में वास्तव में व्यक्तिवादी मूल्यों के युग का अन्त होकर समाजवादी मनोवृत्ति का प्रचार-प्रसार आरम्भ हो गया। पन्तजी ने अपनी इस परिवर्तित प्रवृत्ति को स्पष्ट रूप में स्वीकार भी किया। कवि मानने लगे थे, कि कविता की जड़ों को अपनी पोषक सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय चाहिए, वह स्वप्नों में नहीं पल सकती। अब तक गांधीजी की अहिंसावादी सर्वसहा नीति ने देश के कवियों को केवल देशभक्ति के, उसके गौरव और महिमा के गीत गाने की ओर प्रेरित किया था। किन्तु दीर्घ संघर्ष के उपरान्त, विश्व को गांधी-नीति की सफलता में संदेह उत्पन्न हो रहा था, और क्रमशः कवियों की चिन्ताधारा मार्क्सवाद का आश्रय ले रही थी, अतः देशभक्ति के गीतों का स्थान क्रान्ति के शंखनाद ने ले लिया। पन्त ने यद्यपि इस ओर दिशा-निर्देश किया किन्तु उनके विद्रोह का स्वर उग्र नहीं था। उनका अनुसरण करते हुए इस क्षेत्र में उतरने वाले अन्य कवियों—'दिनकर', 'अंचल', नरेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट, केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी कविताओं में विद्रोह के क्रान्तिमूलक रूप को स्थान दिया। भावों के आवेश में इनके विचारों का बाँध छन्दों के बन्धन तोड़कर बहने लगा। इस सिद्धान्तवादिता का गीत-रचना पर त्रिविध प्रभाव हुआ—(१) ये कवि ठोस यथार्थ के, भूमि के धरातल पर उतरकर जीवन के वस्तुगत वैषम्य का अंकन करने लगे, अतः इनकी कविता में वर्णनात्मकता आ गई। (२) इस कविता में सिद्धान्त-प्रतिपादन और क्रान्ति की उत्तेजना प्रधान होने के कारण बौद्धिकता के दर्शन अधिक होने लगे। (३) इनका लक्ष्य यथार्थ जीवन को उसके यथावत् रूप में अंकित कर देना था, अतः इन्होंने शैली की दुरूहता—दूसरे शब्दों में लक्षणा-व्यंजना के चमत्कार को बचाया तथा अलंकरण को भी गौण स्थान दिया। सर्वसाधारण तक अपनी बात को सरल और बोधगम्य शैली में पहुँचा देना इन कवियों का लक्ष्य था, अतः अनेक स्थलों पर इनकी अभिव्यक्ति गद्यात्मक हो गई। यद्यपि 'अंचल', नरेन्द्र, 'नेपाली' आदि ने कुछ सुन्दर गीतों की रचना की, परन्तु राष्ट्र-गान के कवि सुन्दर संगीतात्मक शैली में लिखने में सफल न हो सके। कारण, ऊपर जिन विशेषताओं का उल्लेख किया गया—वर्णनात्मकता, बौद्धिकता, असज्जित अभिव्यक्ति और गद्यात्मक भाषा, सभी—गीत की आत्मा, उसकी संगीतात्मकता के विरुद्ध हैं। अतः प्रगतिवाद की क्रोड़ में राष्ट्र-गीतों का पल्लवन सम्भव नहीं हो सका। कुछ सुन्दर प्रगीत अवश्य इस विचारधारा के अन्तर्गत लिखे गए। इन कवियों ने जब गांधीवाद के संस्कारों से प्रभावित देशभक्तिपरक वन्दनाएँ लिखीं तो उनका स्वरूप अपेक्षाकृत सुन्दर रहा—

कोटि कोटि कण्ठों से निकली
आज यही स्वर-धारा है,
भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्तान हमारा है।
जिस दिन सबसे पहले जागे,
नव-सिरजन के स्वप्न घने,

जिस दिन देश-काल के दो-दो
विस्तृत विमल वितान तने,
जिस छिन नभ में तारे छिटके,
जिस दिन सूरज-चाँद बने,
तब से है यह देश हमारा,
यह अभिमान हमारा है।[1]

प्रयोगवाद का आरम्भ और स्वतन्त्रता-प्राप्ति लगभग समानान्तर घटनाएँ हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उल्लास के साथ देश के विभाजन और तदुपरान्त बापू के वध की घटनाएँ भारतीय जनता पर अभिशाप के रूप में आईं। अतः ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय भावना का उल्लास, गीतों के रूप में फूटना सहज स्वाभाविक नहीं था। इस उल्लास के साथ ग्लानि और विषाद की भावना मिश्रित थी, और क्रान्ति का प्रश्न नहीं उठता था। इसके अतिरिक्त प्रयोगवादी कवियों की कला-सम्बन्धी मान्यताएँ, विचारधारा और दृष्टिकोण गीतकाव्य के अनुकूल नहीं थे, अतः इस प्रकार की काव्य-रचना का प्रश्न नहीं उठा। राष्ट्रीय गीतों के अतिरिक्त कुछ गीत देवी-देवताओं की वन्दना के रूप में भी लिखे गए। इनमें सर्वाधिक वन्दनाएँ सरस्वती को लक्ष्य करके लिखी गईं।

लोक-गीत

लोक-गीतों की शैली का प्रभाव साहित्यिक रचनाओं पर दो रूपों में पड़ा। एक ओर लोक-साहित्य में प्रचलित गेय काव्य की विभिन्न शैलियों को आधार बनाकर किंचित् परिष्कृत शैली में गाने की चीजें लिखी गईं। इस प्रकार की गेय-रचनाओं की शैली, शिल्प, संगीत और लय का मुख्य आधार लोक-काव्य में प्रचलित रूप-विधाएँ ही रहती हैं, केवल इनकी रचना लिखित रूप में की जाती है, और इनमें उतनी अनौपचारिकता और अनगढ़ता नहीं रहती जितनी जनता के कण्ठों में रक्षित लोक-गीतों में। इस प्रकार लोक-गीतों के अनुकरण पर काव्य-रचना की परम्परा नवीन नहीं। संत-परम्परा में बहुत पहले से लोक-गीतों के विविध रूपों के आधार पर काव्य-रचना की जाती रही है। लोक-गीतों की इस निसर्ग सुन्दर कला के आकर्षण से सूर और तुलसी जैसे सिद्ध कवि भी नहीं बच सके और उन्होंने इस साहित्य के—सोहर, चाँचरी, फाग आदि विविध रूपों को अपने काव्य में स्थान दिया। यह परम्परा अधुनातन काव्य तक यथावत् चली आई और विविध लोक-प्रचलित काव्य-रूपों के आधार पर अनेक रचनाएँ की गईं। लोक-गीतों का दूसरा प्रभाव परोक्ष रूप में कला-गीतों की शैली पर पड़ा। अर्थात् कला-गीतों के विषय, अलंकार-योजना, छन्द-विधान आदि साहित्यिक या सायास अलंकृत शैली में ही अपनाते हुए केवल लोक-गीतों की लय, तथा कहीं-कहीं शब्दावली या कथन-भंगिमा अपना ली गई। ऐसा अधिकतर महादेवी की गीत-रचना में, और उल्लेख मात्र के लिए 'निराला' के गीतों में हुआ है, जिसका संकेत यथाप्रसंग किया जा चुका है, अतः प्रस्तुत प्रसंग में उन्हीं विधाओं का विवेचन किया जायगा जिनकी कला प्रत्यक्ष रूप से लोक-गीतों से प्रभावित है, अथवा जिनका मूलाधार ये लोक-गीत हैं।

---

१. कवि-भारती—बालकृष्ण शर्मा नवीन, पृ० २८१

लोक-गीतों की अधिक प्रचलित शैलियों में—होली, सोहर, चाँचर, कजली और लावनी तथा झूलना की प्रमुखता रही। इनमें सोहर आदि का सम्बन्ध विशेष अवसरों से था, अतः समाज की रीति-प्रथाओं में वैज्ञानिक परिवर्तनों के साथ इन अपेक्षाकृत गौण उत्सवों का उल्लास क्षीण होता गया। परन्तु होली आदि अधिक सार्वजनिक और महत्त्वपूर्ण पर्वों के प्रति कवियों की उल्लासमय अनुभूति और अभिव्यक्ति का क्रम बना रहा। इसीलिए होली लिखने की परम्परा निर्बाध रूप से आधुनिक काव्य में चली आई। सर्वाधिक संख्या इस युग की लोक-गीतात्मक रचनाओं में होलियों की ही है। द्विवेदी-युग के कवियों में रायदेवीप्रसाद और रूपनारायण पाण्डेय ने कुछ होलियों की रचना की। इनमें कहीं-कहीं स्वर उपदेशात्मक हो गया है। लय, टेक, भाषा आदि सब लोक-गीतों से प्रभावित है, परन्तु इस प्रकार की आलोचनात्मक होलियों में पर्व का उल्लास नहीं मिलता :

ऐसी होली को आगी लगाओ, अरे मत जिय को जराओ।
जा बिन विष्णु धर्‌यो नरहरि वपु, शिशु प्रहलाद बचाओ
ऐसे बिन मेरे बच्छन को रच्छन तुम बिसराओ,
जाति का नाम धराओ—ऐसी होरी[1]

होली का अधिक परिष्कृत रूप 'निराला' आदि की रचनाओं में मिलता है। इन कवियों ने लोक-गीतों की अनगढ़ कला को यथावत् अपनाने के स्थान पर अधिक परिष्कृत शैली में, परन्तु इन्हीं गीतों के आवेग, लय और रंग से रंगी गीति-रचना की। 'गीतिका' में—'नयनों के डोरे लाल गुलाल, भरे खेलो होली'[2] लोक-भाव पर आधारित गीति में प्रेमी-प्रेमिका का मिलन होली के रूपक से चित्रित हुआ है। इस होली में लोक-गीतों का ही रंग और भावावेग मिला है।

लोक-गीतों की लय पर होलियों के अतिरिक्त कुछ अन्य रचनाएँ भी की गईं :

हाँ हाँ देखो कैसी बनी फुलवारी।
सोभा अपार छा रही। हाँ हाँ देखो।
हरित मनोहर तुंग अति तरुवर अलबेली नवबेली मनरमन सघन छबिवारी।
हाँ हाँ देखो।[3]

इससे कुछ भिन्न लय पर—

कान्ह तुम्हारी गैयाँ कहाँ गईं
कहाँ गईं कान्ह! तुम्हारी गैयाँ? हाय माधव हाय।
हाय! कहाँ जमुना की कूलें, कुंजन की छन छैयाँ। कहाँ गईं।[4]

'निराला' ने भी ग्राम-गीतों की लय पर कुछ प्रयोग किये, परन्तु कवि इस प्रयास में विशेष सफल न हो सका। ग्राम-गीतों की-सी भावनाओं की सरलता, भाषा का प्रवाह, शैली

---

१. पूर्ण-संग्रह—रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण', पृष्ठ २७९
२. गीतिका—निराला, पृष्ठ ४६
३. पूर्ण-संग्रह—रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण', पृष्ठ १२०
४. वही—पृष्ठ २८१

की ऋजुता, अनुभूतियों की सहजता और अभिव्यंजना में मस्ती इन रचनाओं में नहीं आ पाई। फिर भी इनकी लय पर लोक-गीतों की विशिष्ट विधाओं का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। कजली की लय पर लिखी निम्नलिखित कविता उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत है :

काले काले बादल आये, न आये वीर जवाहर लाल
कैसे कैसे नाग मंडलाये, न आये वीर जवाहर लाल
बिजली फनके मन की काँधी,
कर दी सीधी खोपड़ी आँधी,
सर पर सर सर करते धाये न आये वीर जवाहर लाल।

उपर्युक्त कजली में चौथी पंक्ति उसके प्रवाह और आत्मा के लिए सर्वथा घातक है।

लावनी की लय पर पं० श्रीधर पाठक अपने 'एकान्तवासी योगी' की रचना बहुत पहले ही कर चुके थे। उनसे पूर्व भारतेन्दु-युग में लावनी और झूलना विशेष लोकप्रिय थे, परन्तु बाद में इनका विशेष प्रयोग नहीं हुआ। उल्लेख करने के लिए विरहात्मक बारहमासों की शैली पर रायदेवीप्रसाद ने 'विरह-बारहमासी' की रचना की है, परन्तु उसका छन्द साहित्यिक (विष्णु-पद) है और स्वर-बन्धन राग सोरठ में किया गया है।

लोक-काव्य की लय पर एक अन्य उल्लेख योग्य कृति—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की—'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं', नागरिक जीवन पर आलोचनात्मक कविता है, जिसकी रचना आल्हा की लय पर की गई है।

उपर्युक्त कविताओं में से उन गिनी-चुनी रचनाओं को छोड़कर जिनका उल्लेख आरम्भ में किया गया शेष सभी में एक सामान्य विशेषता है। इन काव्य-रूपों के लिए लोक-साहित्य से इनके रचयिता कवियों ने केवल लय का ग्रहण किया है, अतः टेक, पंक्तियों का आकार और अन्त्यक्रम भी वही रहा है, परन्तु इनका विषय, अभिव्यंजना-शैली, और दृष्टिकोण तथा कहीं-कहीं भाषा-शैली भी कलात्मक हो गई है, और अधिकांश में लोक-गीतों की आत्मा का अभाव दृष्टिगोचर होता है।

लोक-गीतों की लय, छन्दाकार और शब्दावली का सुन्दर प्रयोग महादेवी के गीतों में प्राप्य हैं। विशुद्ध लोक-गीतों की रचना उन्होंने नहीं की, परन्तु उनके गीतों में लोक-गीतों की कला के संस्पर्श से माधुर्य और प्रकृत सौन्दर्य उत्पन्न हो गया है। प्रगतिवादी कवियों ने भी इस प्रकार की रचनाएँ कीं। यद्यपि इन कवियों की दृष्टि लोक-जीवन के उल्लास की अपेक्षा समस्याओं का संचयन करती रही, परन्तु मार्क्सवाद के प्रभाव के कारण जन-वादी साहित्य को पर्याप्त महत्ता और लोकप्रियता मिलने लगी, अतः जब इन्होंने लोक-जीवन के उल्लास और वातावरण को शब्दबद्ध किया तो शैली भी वहीं से अपना ली। नरेन्द्र शर्मा, केदारनाथ, रामविलास शर्मा, तथा 'निराला' और पन्त की उत्तरकालीन गीत-रचनाओं पर लोक-गीतों का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। पन्त की रचनाओं में अपेक्षाकृत नागर भाव, माधुर्य, और अनगढ़ एवं प्रकृत की अपेक्षा संयत व मसृण सौन्दर्य का उन्मेष मिलता है। 'लाल निशान' में संग्रहीत नरेन्द्र शर्मा की कविताएँ लोक-गीतों का सुन्दर उदाहरण हैं। नयी कविता में भी लोक-प्रचलित लयों पर आधृत गीत-रचना पर्याप्त की गई।

लोक-साहित्य के प्रचार और लोकप्रियता के साथ साहित्यिक रचनाएँ भी उसकी कला से प्रभावित हुई हैं। नरेश मेहता की कविताओं पर लोक-गीतों में प्रयुक्त शब्दावली व प्रकृति-चित्रण में ग्राम्य वातावरण का प्रचुर प्रभाव लक्षित होता है। परन्तु गीतों की रचना उन्होंने इस शैली में नहीं की। धर्मवीर भारती ने लोक-गीत के छन्दाकार को ही नहीं शैली को भी अपनाकर सुन्दर 'बोआई के गीत' की रचना की :

गोरी गोरी सोंधी धरती—कोर कोर बीज
बदरा पानी दे !
क्यारी-क्यारी गूंज उठा संगीत
बोने वालो ! नई फसल में बोओगे क्या चीज़।
बदरा पानी दे।
मैं बोऊँगा वीर बहूटी, इन्द्रधनुष सतरंग
नये सितारे, नई पीढ़ियाँ, नये धान का रंग
हम बोयेंगी हरी चुनरियाँ, कजरी, मेंहदी—
राखी के कुछ सूत और सावन की पहली तीज !
बदरा पानी दे।[1]

उपर्युक्त गीत की रचना कवि ने 'कोरस नृत्य' के लिए की है, स्वभावतः छन्दाकार में लय की थिरकन और संगीतमय निबन्धन व्याप्त है, परन्तु गीत की तर्ज़ पर आधुनिक सिने-संगीत का प्रभाव लक्षित होता है, विशेषकर टेक की बंदिश पर। 'अज्ञेय' के कुछ गीतों में लोक-गीतों की लय का आभास मिलता है, वास्तविक प्रभाव नहीं।

सॉनेट (Sonnet)

आधुनिक काव्य में रूप-विधा की दृष्टि से यदि कोई प्रयोग पूर्णतः विदेशी प्रभाव से ग्रहण किया गया तो वह सॉनेट या चतुर्दशपदी ही है। इस विधा का मूल विदेशी ही था, यद्यपि हिन्दी कवियों ने स्वेच्छया इसमें अनेक परिवर्तन और प्रयोग की दृष्टि से नवीन एवं सुरुचिपूर्ण योजनाएँ कीं।

हिन्दी-साहित्य में यह विधा अँगरेज़ी-साहित्य के प्रभाव से, और आंग्ल साहित्य में इटली-काव्य से प्रविष्ट हुई। आंग्ल साहित्य में सॉनेट की रचना इटेलियन सॉनेट के अनुकरण पर सोलहवीं शताब्दी के तृतीय दशाब्द में सर्वप्रथम 'टॉमस वाट' तथा 'अर्ल ऑफ सरे' द्वारा की गई। तदुपरान्त, सॉनेट-रचना करना इतनी व्यापक प्रवृत्ति हो गई, कि १५९०-१६०० तक किसी भी उत्साही कवि ने इस विधा-विशेष का प्रयोग किये बिना नहीं छोड़ा। इस क्षेत्र में कार्य करने वालों में—सिडनी, स्पेन्सर और शेक्सपियर भी थे। और शेक्सपियर ने तो सॉनेट में एक ऐसे प्रगीतात्मक माधुर्य तथा चिन्तन-शक्ति का समावेश किया जिसका अतिक्रमण कोई देशी-विदेशी कवि न कर सका।[2]

---

१. ठण्डा लोहा—धर्मवीर भारती, पृ० ३६

2. The sonnet, which, for practical purposes, may be regarded as an in-

अन्य रूप-विधाओं की अपेक्षा सॉनेट के रचना-विधान सम्बन्धी नियम पर्याप्त व्यवस्थित और नियत हैं। अतः सॉनेट में दुर्बोधता, आडम्बर अथवा अव्यवस्था का अवकाश अपेक्षाकृत बहुत कम रहता है। उसका संक्षिप्ताकार और विधिवत् रचना-विधान कवि को उसमें घनत्व, संकोचन तथा सोद्देश्य रचना के लिए बाध्य कर देता है, क्योंकि अशक्त सॉनेट एक दृष्टि-निक्षेप में अपनी निर्बलता प्रकाशित कर देता है। सन्दिग्ध विचारों, शिथिल अभिव्यंजना तथा अनियमित छन्द-रचना का इससे उत्तम शोधक और नहीं हो सकता था।[1]

रूप-निर्माण की दृष्टि से अँगरेज़ी में सॉनेट के एकाधिक प्रकार हो गए। इन विभिन्न प्रकारों का नामकरण इनके निर्माता कवियों के नाम के आधार पर किया गया। अँगरेज़ी में सॉनेट के तीन प्रमुख प्रकार—'पैट्राक', 'स्पेन्सर' और 'शेक्सपियर' के नाम पर प्रचलित हुए। प्रथम प्रकार के सॉनेट अपने इटेलियन रूप और प्रसिद्ध इटेलियन कवि 'पैट्राक' के नाम पर 'इटेलियन सॉनेट' अथवा 'पैट्रार्कियन सॉनेट' कहलाए। इस सॉनेट में—जिस रूप में पैट्रार्क ने उसका प्रयोग किया ग्यारह 'सिलेबल' (Syllables) की चौदह पंक्तियाँ होती हैं। पहली अष्टपदी (Octave) का अन्त्यक्रम दो उच्चारण-ध्वनियों पर आश्रित व दो चौपदियों (quartrains) में नियोजित रहता है। शेष षट्पदी (Sestet) में कभी दो और कभी तीन नवीन अन्त्यक्रम-योजनाओं का प्रयोग किया जाता है। इनकी योजनाएँ विभिन्न हुआ करती हैं परन्तु सामान्यतः अन्त में दो ऐसी त्रिपदियों (Tercets) का प्रयोग किया जाता है जिनका

---

vention of thirteenth century Italy, slowly won the favour of English poets. Neither the word, nor the thing reached England till the third decade of the sixteenth century, when English sonnets were first written in imitation of the Italian, by Sir Thomas Wyatt, and the Earl of Surrey .....Then, Sonneteering became and imperious an universal habit, ...No poetic aspirant between 1590 and 1600 failed to try his skill on this poetic instrument.

···The workers in the field included Sidney, Spenser and Shakespeare—Shakespeare above all, breathed into the Sonnet a lyric melody and a meditative energy which no writer of any country has surpassed.

Cambridge History of English Literature, Volume III, page 247.

1. Of all forms, the sonnet is that in which it is most difficult to be obscure, turgid, or irregular. Its small size and precise structure forces on the writer compression, point and intensity, for a feeble sonnet proclaims itself feeble at a glance. No better corrective could have been found for vague thoughts, loose expression and irregular metre.

Ibid, page 168.

अन्त्यक्रम समानान्तर परन्तु पहली दो चौपदियों से भिन्न होता है। इस प्रकार इटेलियन या 'पेट्रार्कियन सॉनेट' का अन्त्यक्रम प्रायः अ, ब, ब, अ, अ, ब, ब, अ, स, ड, ई, स, ड, ई[1] होता है। श्रेष्ठ इटेलियन कवियों ने, सॉनेट में सामान्य मत से ऐसी अन्त्यक्रम योजना को बचाया जिसका अन्त युग्मक से होता है।[2]

स्पेन्सर ने अपने सॉनेट को—जो स्पेन्सेरियन सॉनेट (Spenserian Sonnet) के नाम से प्रसिद्ध हुए—चार पंक्तियों की तीन चौपदियों में विभाजित कर उनका अंत एक युग्मक अथवा द्विपदी से किया। इन विभिन्न अंशों का अन्त्यक्रम क्रमशः अ, ब, अ, ब, ब, स, ब, स, स, ड, स, ड, इ, इ (a b a b, b c b c, c d c d, e e) होता है।[3] स्पेन्सर के इस नवीन प्रयोग का विशेष प्रचार परवर्ती कवियों में नहीं हुआ।

तीसरे प्रकार की सॉनेट-रचना का सूत्रपात शेक्सपियर के द्वारा किया गया। 'शेक्सपियरियन सॉनेट 'इटेलियन सॉनेट' के समान होते हैं। इनका बाह्याकार-विभाजन तीन चौपदियों और एक युग्मक में होता है, किन्तु इनमें अन्त्यानुप्रास-क्रम स्पेन्सर के सॉनेट की भाँति शृंखलाबद्ध नहीं होता। इस प्रकार शेक्सपियर के काव्य में कुछ दूर तक सॉनेट को उसके परम्परागत रूढ़िबद्ध प्रतिबन्धों से निवृत्ति मिली। सोलहवीं शताब्दी में रचित अँगरेज़ी के सॉनेट काव्य का रूप-विधान सामान्यतः इसी ढंग पर हुआ। इनका विभाजन इटेलियन सॉनेट की

---

1. Octave—abba, abba; Sestet—cde, cde.
2. The Italian sonnet, as Petrarch used it, consisted of fourteen hendecasyllabic lines, the first eight, called the octave, rhymed on two sounds always, and nearly always arranged in two enclosed quatrins, abba—abba. In the remaining, six lines, called the sestet, two or sometimes three new rhymes were introduced, and were variously arranged, but most commonly so as to produce two symmetrical tersets, ccd, ccd, or cde, cde. By general consent, arrangements which closed the poem with a rhymed couplet were avoided by the best Italian writers.

   The Metres of English Poetry by Enid Hamer, page 186-187.
3. (a) Spenser's 'Amoretti' are eighty nine in number...The rest are composed of three cunningly linked quatrains and a final couplet, abab bc bc cd cd ee.

   Ibid, page 187.

   (b) In his metre alone, did Spenser follow a line of his own devising; his prosody diverged alike from the ordinary English, and the ordinary foreign model. Most of his sonnets consisted of three quatrains each alternately rimed, with a riming couplet.

   Cambridge History of English Literature, Volume III, page 257

भाँति अष्टपदी (Octave) और षट्पदी (Sestet) में न करके अधिकतर स्पेन्सर और शेक्सपियर के ढंग पर तीन चौपदी और एक द्विपदी में किया गया।[1]

परन्तु सोलहवीं शताब्दी के उपरान्त मिल्टन की रचनाओं में एक बार फिर रूप-विधान की दृष्टि से मूल की ओर प्रत्यावर्तन मिलता है। सोलहवीं शताब्दी के कवियों से भिन्न इन कवियों ने एक बार फिर सॉनेट के इटेलियन रूप का अनुसरण किया।[2] ये सॉनेट एलिजाबेथ-काल के प्रयोगों से पूर्णतः भिन्न थे। सॉनेट की स्थायी लोकप्रियता, तथा शेक्सपियर की सॉनेट शैली के पुनरुज्जीवन का श्रेय वर्डस्वर्थ को दिया जा सकता है। वर्डस्वर्थ के उपरान्त अनेक सॉनेटकार हुए जिनमें से कुछ की रचनाएँ विशेष उत्तम हैं।[3] इन कवियों में विशेष लोकप्रियता वर्डस्वर्थ के अतिरिक्त कीट्स और मिसेज ब्राउनिंग की रचनाओं को मिली।

अंगरेज़ी साहित्य में सॉनेट के जिन प्रचलित और प्रमुख प्रकारों का उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया गया, उनके अतिरिक्त भी कतिपय मौलिक अन्त्यानुप्रास योजनाएँ अन्य कवियों ने प्रस्तुत कीं।[4] परन्तु चौदह पंक्तियों का खण्ड-विभाजन प्रायः कथित आधारों में से किसी एक अथवा दूसरे के अनुसार हुआ; कभी-कभी बारह पंक्तियों में भी सॉनेट-रचना का प्रयत्न कवियों

---

1. George Gascoigne, in his treatise on poetic composition, which appeared as early as 1575, accurately described the normal construction of the sonnet in sixteenth century England when he wrote—

"Sonnets are of fourteen lines, every line containing ten syllables. The first twelve do ryme in staves of four lines by cross metre, and the last two ryming together do conclude the whole."

Ibid, page 248.

2. ...the 23 English and Italian sonnets of Milton show, as might be expected, a reversion to a stricter model,..., yet in other respects he confirms in the main to the 'Petrarchan system.... Apart from questions of relative merit, the tone of these sonnets, is thus altogether, different from the Elizabethan.

Encyclopedia Britannica, Volume XX, page 997.

3. It is to Wordsworth that we owe the great and enduring popularity of the form, and possibly even the revived appreciation of Shakespeare's sonnets.—Since Wordsworth there have never been lacking sonneteers, and at least some of their work has been of great excellence.

Ibid, page 997

4. Sir Philip Sidney's sonnets,....., show many interesting varieties of rhyme scheme, and some advance in technique generally,.....

The Metres of English Poetry—Enid Hamer, page 191.

ने किया परन्तु ये प्रयोग सर्वमान्य नहीं हुए।

सॉनेट की पंक्तियों के विषय में एक विशेषता प्राय: अनेक कवियों की, और विशेष कर मिल्टन की रचना-शैली में दृष्टिगत होती है। इन कवियों ने पंक्ति के अन्त के साथ अनिवार्य रूप से वाक्यान्त नहीं किया, मिल्टन ने सॉनेट की रचना अतुकान्त पद्यानुच्छेदों के ढंग पर अंत:-प्रवेशी पंक्तियों अथवा एक पंक्ति में एकाधिक वाक्य-खण्डों के विधान द्वारा की।[1] इनमें अन्त्यानुप्रास का निर्वाह अवश्य किया गया।

अधिकांश कवियों ने सॉनेट की स्वतन्त्र या स्फुट रचना के साथ परस्पर न्यूनाधिक सम्बद्ध अनेक सॉनेटों की क्रमबद्ध रचना की।[2] ये निबद्ध सॉनेट (Sonnet sequences) प्राय: किसी एक शीर्षक अथवा नाम से आबद्ध रहते थे।

सॉनेट के रूप-विधान के विषय में एक बात और स्पष्ट कर देनी कदाचित् अप्रासंगिक न होगी। यद्यपि सॉनेट का बाह्य, भिन्न लय-खण्डों में विभाजित होता है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि सॉनेट में तीन या चार भिन्न भाव-खण्डों का प्रकाशन होता है। सॉनेट के भिन्न-भिन्न लय-खण्डों में वस्तुत: एक ही विचार अनुस्यूत होता है, अत: यह भावान्विति जो किसी भी प्रगीत काव्य की विशेषता होती है सॉनेट में भी अनिवार्य रूप से वर्तमान रहनी चाहिए। सम्पूर्ण सॉनेट किसी विशिष्ट भाव या विचार की शृंखला से आबद्ध होता है, केवल उसकी चौदह पंक्तियों का गठन इस रूप में किया जाता है कि उसका बाह्य खण्डों में बंटा प्रतीत होता है, परन्तु इन विभिन्न खण्डों की केन्द्रवर्ती भावनाएँ भिन्न-भिन्न नहीं होतीं। संक्षिप्त आकार और भावान्विति के कारण सॉनेट में प्रभाव की दृष्टि से एक विशेष घनत्व और तीव्रता उत्पन्न हो जाती है। सॉनेट में व्यक्त भाव उसके संक्षिप्त आकार में इस प्रकार घनीभूत हो जाते हैं कि उसमें हार्दिक पुकार, प्रखरता, चोट और मार्मिकता उत्पन्न हो जाती है। सॉनेट का स्वर—जिस रूप में उसका प्रयोग वर्डस्वर्थ, शेक्सपियर तथा पैट्रार्क ने किया, नितान्त आत्मगत व अंत:-स्फूर्त था। जहाँ तक संगीतात्मकता का प्रश्न है, यद्यपि इस बात का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है कि किसी सॉनेट में कभी गेय संगीत का सफलतापूर्वक विधान किया गया हो, परन्तु सॉनेट

---

1. The most striking feature of Milton's sonnet technique, apart from his disregard of Petrarcan divisions, is the rarity of end stopped lines. Except for the presence of rhyme, Milton constructs a sonnet as he does a blank-verse paragraph, a woven harmony of long and short phrases, crossing the line limit designedly, with a few intermediate or secondary pauses, with ample modulation, and the final resolution to the normal movement for the close.

   Ibid, page 203.

2. (a).....Most of the sonneteers tried 'sequences' series of more or less connected sonnets.

   Encyclopedia Britannica, Volume XX, page 997.

की आकारगत विशेषताओं को आघात पहुँचाए बिना उसकी स्वर-साधना नहीं की जा सके इसका भी कोई कारण नहीं।[1] सॉनेट की विशेषताएं अतः संक्षेप में इस प्रकार हैं :

(१) सॉनेट निश्चित आकार की (चौदह पंक्तियां) मुक्तक रचना होती है।

(२) सिद्धान्ततः उसके बाह्य रचना सम्बन्धी नियम महत् कवियों ने प्रयोग द्वारा निश्चित कर दिए किन्तु व्यवहार में इन नियमों का व्यतिक्रम और इनमें परिवर्तन बहुधा होता रहा।

(३) सॉनेट की आकारगत विशेषता का मुख्य आधार उसका अन्त्यानुप्रास-क्रम या अन्तिम लय-निपात होता है। इसी अन्त्यक्रम की योजना में अन्तर से उसमें रूप-विधान संबन्धी अन्तर प्रस्तुत होता जाता है।

(४) रचना-विधान की दृष्टि से सॉनेट की चौदह पंक्तियों का विभाजन विभिन्न लय-खण्डों में होता है, परन्तु वे सभी एक भाव, विचार, या विषय से परस्पर सम्बद्ध या अन्वित रहती हैं।

(५) गेयता सॉनेट की अनिवार्य विशेषता नहीं, परन्तु बाह्य संगीत-विधान से सॉनेट रचना का किसी प्रकार का विरोध भी नहीं।

(६) सामान्यतः सॉनेट का स्वर आत्मकेन्द्रित या विषयीप्रधान होता है, वस्तुगत नहीं।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में सर्वप्रथम सॉनेट-रचना का श्रेय यद्यपि प्रायः कवि प्रसाद को दिया जाता है[2], किन्तु वस्तुतः चतुर्दशपदियों की रचना उनसे पूर्व द्विवेदी-युग के कवियों द्वारा की जा चुकी थी। जिस प्रकार सम्बोध गीति की रचना छायावाद के कवियों से पूर्व पं० रूपनारायण पाण्डेय कर चुके थे, इसी प्रकार चतुर्दशपदियों की रचना का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त होता है। उनके कविता-संकलन 'पराग' में चार चतुर्दशपदियाँ संकलित हैं। जहाँ तक इन रचनाओं में सॉनेट के आकार-सम्बन्धी नियत नियमों के पालन, और उनके अनुसार रचना का प्रश्न है, कवि ने एक भी सॉनेट, पाश्चात्य साहित्य में विहित किसी भी सॉनेट-प्रकार के अनुकरण पर नहीं लिखा। परन्तु वैसा परवर्ती कवियों ने भी नहीं किया। जिस प्रकार पाश्चात्य कवि निरन्तर नियमों में परिवर्तन करके अपनी आवश्यकतानुसार नवीन अन्त्यक्रम-योजनाओं का विधान करते रहे, उसी प्रकार हिन्दी के कवियों ने इस विषय में मौलिकता का परिचय दिया। अन्तर केवल एक है—पाश्चात्य काव्य में विशेष प्रसिद्ध और महत् कवियों की रचना

---

1. But the sonnet as Shakespeare, Wordsworth, and even Petrarch used it was a cry from the heart, a subjective confession, and although there is perhaps no evidence that a sonnet was ever set to music with success, yet there is no reason why that might not be done without destroying its sonnet-character.

Encyclopedia Britannica, Volume XX, page 997.

२. काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे, पृ० ३३०

के आधार पर, जिस प्रकार कुछ नियत प्रकार और रूप इस दिशा में निश्चित हो गये, हिन्दी-काव्य में वैसा भी नहीं हो सका। सभी सॉनेटकार अपनी-अपनी मौलिक प्रतिभा के अनुसार इस विधा में परिवर्तन और प्रयोग करते रहे। इस प्रकार किसी विशेष आकार या रूप-सम्बन्धी नियम को उन्होंने आदर्श नहीं माना। यह प्रवृत्ति इस विधा के रचयिता अधुनातन कवियों तक यथावत् चली आई। विषय, शैली, अन्त्यक्रम-निपात, सभी दृष्टियों से हिन्दी के उपलब्ध सॉनेट काव्य में वैविध्य प्राप्त होता है। केवल एक नियम सभी कविताओं में परिपालित है, सभी सॉनेट चौदह पंक्तियों में लिखे गए हैं तथा इन पंक्तियों में परस्पर सम्बद्धता अर्थात् एक ही भाव या विचार अनुस्यूत है, अथवा एक ही विषय का वर्णन किया गया है। विषयान्विति इनकी प्रमुख विशेषता है।

सॉनेट की रूपगत विशेषता उसकी अन्त्यक्रम-योजना पर निर्भर रहती है। इस दृष्टि से हिन्दी में उपलब्ध सॉनेट काव्य को तीन वर्गों में रखा जा सकता है—(क) वे सॉनेट जिनमें कवि ने किसी निश्चित तथा विधिवत् अन्त्यानुप्रास योजना का पालन किया है तथा ऐसा करते समय उसका आदर्श, सॉनेट का कोई पाश्चात्य प्रकार अथवा उससे पूर्व किसी हिन्दी-कवि का प्रयोग रहा है।

(ख) वे सॉनेट जिनमें कवि ने अपनी प्रतिभा से किसी मौलिक अन्त्यक्रम-निपात का प्रयोग किया है।

(ग) वे सॉनेट जिनमें अन्त्यानुप्रास के निर्वाह का निषेध कर उनकी रचना अतुकान्त अथवा अन्तःप्रवेशी पंक्तियों में की गई है। ऐसी कविताओं को सॉनेट केवल इस शब्द के किंचित् व्यापक अर्थ में ही कहा जा सकता है। क्योंकि केवल चौदह पंक्तियों की कविता को सॉनेट नहीं माना जाता। इन पंक्तियों का निश्चित योजनानुसार विधिवत् क्रम-बन्धन ही सॉनेट की विशेषता है, और इस नियत क्रम का आधार इनका अन्त्यानुप्रास-विधान होता है। यदि उसकी ही अवहेलना कर दी जाय तो सॉनेट का रूपात्मक आधार ही खंडित हो जाता है और केवल संख्या में चौदह पंक्तियों के आधार पर इसे विशेष काव्य-रूप मानना बहुत कुछ प्राचीन संस्कृत-आचार्यों के द्वारा छन्द-संख्या के आधार पर किये गए भेदों--युग्मक, संदानितक, कलापक आदि के समान होगा। केवल छन्दों की संख्या, या पंक्तियों की संख्या के आधार पर किये गए इस प्रकार के रूपात्मक भेदों को विशेष तर्कसम्मत और आत्यन्तिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि इनका आधार अत्यन्त स्थूल और बाह्य होता है।

(क) पहले प्रकार की रचनाओं में सर्वाधिक संख्या युग्मकों में रचित सॉनेट की है। इस शैली के सॉनेट की रचना रूपनारायण पाण्डेय ने की। उन्होने 'चाँदनी रात'[1] और 'सर्प और खल'[2] नामक दो चतुर्दशपदियों की रचना की। इन्हीं के समानान्तर एक अन्य अन्त्यक्रम-विधान कवि ने 'आँसू' में किया है। इस सॉनेट में पाँच युग्मकों के उपरान्त एक चतुष्पदी लिखी गई है। इन चतुर्दशपदियों की शैली उस युग की प्रवृत्ति के अनुकूल वर्णनात्मक, मूल्य वस्तुपरक

---

१. पराग—रूपनारायण पाण्डेय, पृ० ८६

२. पराग—रूपनारायण पाण्डेय, पृ० ६२

तथा कला अत्यन्त साधारण है। भावव्यंजना तथा संगीतात्मकता इनमें नहीं मिलती। कुछ पंक्तियाँ उदाहरण-रूप में प्रस्तुत हैं :

चटकीली चाँदनी पड़ी चादर-सी चन्द्र-वदन पर है,
तारे हैं, या चाँदी के तारों का काम मनोहर है।
चटकीली चाँदनी मदन-आसव की उपमा पाती है,
जरा नजर पड़ने से ही मुनि को भी मस्त बनाती है।[1]

तदुपरान्त कवि प्रसाद ने अनेक चतुर्दशपदियों की रचना की। ये कविताएँ समय-समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं और बाद में 'प्रसाद-संगीत' में संकलित कर इनका प्रकाशन किया गया। पुस्तक के नामकरण से ऐसी प्रतीति होती है कि सम्भवतः इनकी रचना गेय-रूप में की गई है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। हाँ, दृष्टिकोण में अपेक्षाकृत भावमयता और आभ्यान्तरिकता आ गई है। प्रसाद-संगीत में संकलित चतुर्दशपदियों में से अनेक युग्मकों में लिखी गई। 'रमणी हृदय'[2] में नारी के हृदय की प्रशस्ति, 'प्रियतम'[3] में उपालम्भ और आत्मनिवेदन, 'दीप'[4] में प्रकृति-वर्णन, 'महाकवि तुलसीदास'[5] में तुलसीदास का माहात्म्य-वर्णन किया है। 'पाईबाग'[6] का प्रकृति-वर्णन प्रतीकात्मक है। कवि ने प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति की है। 'मनुहार'[7] आत्मनिवेदनात्मक दृष्टि से विशिष्ट है। अन्तिम युग्मक में कवि ने पूर्ववर्ती बारह पंक्तियों का सार देने का प्रयत्न किया है। प्रसाद ने एक गेय सॉनेट[8] भी युग्मकों में जागरण-गीत के रूप में लिखा है।

युग्मकों में सॉनेट-रचना, हिन्दी कवियों की अपनी शैली बन गई और बाद में शैली और शिल्पगत रूढ़िबद्ध कला का परित्याग एवं निषेध करने वाले—प्रगति-प्रयोगवाद के कवि भी युग्मकों में सॉनेट-रचना करते रहे। प्रभाकर माचवे, नरेन्द्र शर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और पन्त, सभी ने चतुर्दशपदियों की रचना की। युग्मकों का अन्त्यक्रम मुख्य रूप से प्रभाकर माचवे ने अपनाया। प्रभाकर माचवे के अनेक सॉनेट 'अनुक्षण' में संकलित हैं। कवि ने कुछ को निश्चित विषयव्यंजक शीर्षक के अभाव में 'सॉनेट' ही कहा है और अन्य की रचना इसी विधा में करने पर भी उन्हें शीर्षक दिये हैं। युग्मकों में लिखी कविताएँ—'एक सॉनेट',[9] 'दो सॉनेट' (पन्द्रह का पहाड़ा)[10] और 'विजया-दशमी'[11] हैं। इन कविताओं में समाजवादी सिद्धान्तों की

---

१. पराग, पृ० ८९
२. प्रसाद-संगीत—प्रसाद, पृ० १२५
३. वही, पृ० १२६
४. वही, पृ० १३६
५. वही, पृ० १४१
६. वही, पृ० १४०
७. वही, पृ० १३८
८. वही, पृ० १३७
९. अनुक्षण—प्रभाकर माचवे, पृ० १०४
१०. वही, पृ० ८५
११. वही, पृ० ७६

अन्तर्धारा प्रवहमान है। 'पन्द्रह का पहाड़ा' में कवि ने दाएँ-बाएं, निम्न मध्यवर्गीय जीवन के आर्थिक और सांस्कृतिक पक्ष की वस्तुगत विषमताओं का वर्णन किया है। आर्थिक संघर्षों के परिणामस्वरूप वर्तमान जन-जीवन के कलागत और सांस्कृतिक ह्रास की ओर संकेत करना इस सानेट का लक्ष्य है। अभिव्यक्ति में यथार्थ, समस्यात्मक और वस्तुरूप जीवन को यथावत् उतारने का प्रयत्न है, जिससे शैली में कहीं-कहीं अनगढ़ता आ गई है।

अँगरेज़ी सॉनेट के रूप-विधान का सबसे अधिक प्रभाव नरेन्द्र शर्मा की सॉनेट-रचना पर रहा। उन्होंने यद्यपि किसी सॉनेट की रचना अँगरेज़ी सॉनेट के किसी भी प्रकार-विशेष को यथावत् अपनाकर नहीं की, परन्तु उनके सॉनेट 'निदान' में 'पेट्रारकियन' और 'स्पेन्सेरियन' सॉनेट का मिश्रित रूप मिलता है। कवि ने पहली दो चौपदियाँ अ ब ब अ, अ ब ब अ, क्रम में पेट्रार्कियन सॉनेट के समान लिखीं और अन्त में दो त्रिपदियों के स्थान पर स्पेन्सेरियन सॉनेट की भाँति एक चौपदी और एक युग्मक से अन्त किया। अनुप्रास का क्रम—स ड स ड, इ इ रहा—

—अंकुर।
—परिभाषा।
—आशा;
—क्षणभंगुर!
—सुर।
—पवनश्वासा,
—अभिलाषा;
—मिलनातुर।
—असमय?
—मन?
—हृदय—
—यौवन?
—छाया?
—अपनाया![1]

शेष चतुर्दशपदियों में, स्पेन्सर की सॉनेट-रचना का प्रभाव इस रूप में लक्षित किया जा सकता है, कि उनका विभाजन तीन चौपदियों और एक युग्मक में हुआ है। पेट्रार्कियन सॉनेटकार युग्मक से सॉनेट का अन्त करने की पद्धति को बचाते रहे। कवि ने सॉनेट का विभाजन स्पेन्सर के ढंग पर किया, परन्तु उनकी अन्त्यानुप्रास-योजनाएँ विविध और मौलिक हैं। जिन पर किसी पूर्ववर्ती हिन्दी अथवा अंगरेज़ी कवि का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता, परन्तु किसी-न-किसी रूप में अन्त्यानुप्रास का निर्वाह कवि ने किया अवश्य है।[2] इन कविताओं के विषय विविध हैं—

---

१. मिट्टी और फूल—नरेन्द्र शर्मा, पृ० ७१
२. वही, पृ० ७१-७७

वर्णन, भाव, विचार सभी इनकी परिधि में आ गया है। वस्तुगत और आत्मगत दोनों ही क्षेत्र कवि ने घेर लिये हैं।

प्रभाकर माचवे ने भी तीन चौपदी और एक युग्मक में अपनी कुछ चतुर्दशपदियों का विभाजन किया है। नरेन्द्र की ही भाँति इनकी अन्त्यानुप्रास योजनाएँ सर्वथा मौलिक और विविध हैं। पन्त के सॉनेट अपेक्षाकृत सरल अन्त्यानुप्रास क्रम से आबद्ध हैं। 'ताज' पर उनका प्रसिद्ध सॉनेट युग्मकों में लिखा गया है।

(ख) **दूसरे प्रकार** की चतुर्दशपदियाँ—जिनमें कवि ने किसी मौलिक अन्त्यानुप्रास-क्रम का विधान किया है, कवि प्रसाद की रचनाओं से आरम्भ होती हैं। प्रसादजी ने दो प्रकार की अन्त्यक्रम योजनाएँ कीं। 'सरोज'[1] और 'स्वर्ण संसार'[2] में आरम्भ में एक युग्मक की रचना करके सम चरणों में कवि ने अनुप्रास-योजना की है, तथा विषम चरणों में भिन्न तुकान्त रचना की है—अर्थात् इनका अन्त्यक्रम क, क, ख, क, ग, क, घ, क, च, क, ख, क है। इन चतुर्दशपदियों में प्रसाद की प्रौढ़ नहीं, आरम्भिक काल की वर्णनात्मक, उपदेशात्मक, परम्परागत शैली में भावव्यंजक कला के उदाहरण मिलते हैं। दूसरी अन्त्यक्रम-योजना उनकी 'खोलो द्वार'[3] शीर्षक चतुर्दशपदी में प्राप्त होती हैं। इसमें कवि ने एक अष्टपदी, एक युग्मक और एक चतुष्पदी की रचना की। अन्त्यनिपात का क्रम ८ क, ख, ख और ४ क है। छन्द की दृष्टि से विभिन्न मात्रिक छन्दों का प्रयोग इनमें किया गया है। सम्पूर्ण सॉनेट एक ही छन्द के चौदह चरणों में रचित है।

इसी प्रकार नरेन्द्र और प्रभाकर माचवे, राव, नवीन आदि ने अनेक नवीन अन्त्यक्रम योजनाएँ प्रस्तुत कीं। कुछ सॉनेट तीन चतुष्पदियों और एक युग्मक में विभाजित कर लिखे गये, परन्तु इनका अन्त्यक्रम सर्वथा नवीन और मौलिक था। कुछ सॉनेट बिना किसी विभाजन के, केवल वैचित्र्यपूर्ण अन्त्यानुप्रास-योजना के सहारे लिखे गए, प्रभाकर माचवे के अनेक सॉनेट इस प्रकार के हैं। इनकी अन्त्यक्रम-योजना अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण और संश्लिष्ट है। पन्त ने वर्ष १९४० के नववर्ष-शुभागमन के अभिनन्दन-रूप में जो 'सॉनेट' लिखा, उसका विभाजन भी तीन चतुष्पदियों और एक युग्मक में किया, परन्तु उनकी अन्त्यक्रम-योजना अत्यन्त सरल है—अ, अ, अ, अ, ब, स, स, ब, अ, अ, अ, अ, ब, ब।[4] नरेन्द्र शर्मा ने 'साँझ का संदेश' नामक चतुर्दशपदी का विभाजन भी नए ढंग से किया है—एक चतुष्पदी, एक छःपदी और उसके उपरान्त दो युग्मक। अन्त्यानुप्रास भी वैचित्र्यपूर्ण और नवीन हैं।

प्रभाकर माचवे ने एक सॉनेट की रचना सर्वथा मौलिक ढंग से की है, जिसे न भिन्न तुकान्त कहा जा सकता है, और न जिसमें अन्य कविताओं की भाँति कोई निश्चित क्रम-बन्धन है। सॉनेट की विषम पंक्तियों में कवि ने दूरान्तर-प्रवाही वाक्य का प्रयोग किया है। इस प्रकार

---

१. प्रसाद-संगीत, पृष्ठ १२३
२. वही, पृष्ठ १३५
३. वही, पृष्ठ १२४
४. आधुनिक कवि—पन्त, पृष्ठ १००

विषम पंक्तियों के भाव की अन्विति सम पंक्ति में जाकर पूर्ण होती हैं और अन्त्यानुप्रास का निर्वाह इन पंक्तियों में ही किया गया है। इस प्रकार सॉनेट की विषम पंक्तियाँ अतुकान्त और सम पंक्तियाँ अन्त्यानुप्रासयुक्त हैं :

जब गलत समझा मुझे दुनिया ने तब
तुमने ही मुझसे कहा था—'तुम सही।
कौन समझेगा तुम्हें, (सब अन्ध हैं),
राह दुनिया से अलग तुमने गही।'
आज कितने दिनों बाद मिलीं मुझे
कह चलो जो रह गई थी अनकही।
यह कि हम तुम ही नहीं वैसे रहे,
है वही धरती, हवा, छाया, जुही।
है ज़रा शिकवा मुझे इस बात का
हो रही थी बात वह आधी रही।
और उसने भेद ऐसा कर दिया
आसमां वैसा न ही वैसी मही।
बह रही नदिया किनारे लांघकर,
याद तेरी आज आँसू बन बही।[1]

(ग) **तीसरे प्रकार**—अर्थात् भिन्न तुकान्त सॉनेट-रचना का आरम्भ भी रूपनारायण पाण्डेय ने कर दिया था—

छोड़ पुराने पत्र, नई पोशाक से—
फूल-फलों की लिए डालियाँ हाथ में,
सफल, जानकर जन्म, अदब से सब झुके,
अगवानी के लिए वृक्ष तैयार हैं।[2]
.....

उक्त पद्धति का पालन प्रसाद ने भी अपनी अनेक चतुर्दशपदियों में किया। 'मेरी कचाई', 'हमारा-हृदय', 'प्रत्याशा', 'अर्चना', 'वसन्त राका', 'सुखभरी नींद'[3] आदि चतुर्दशपदियाँ भिन्न तुकान्त रूप में लिखी गईं। संकेत करना अप्रासंगिक न होगा कि विदेश के कवि इस सम्बन्ध में विशेष सावधान रहे। मिल्टन ने अपनी सॉनेट-रचना में दूरान्तरप्रवाही वाक्यों का प्रयोग करने पर भी, अन्त्यानुप्रास का निर्वाह करते हुए, इस विधा की रूपात्मक विशेषता का विघात न होने दिया। जैसा पहले भी कहा जा चुका है कि अतुकान्त सॉनेट को सॉनेट केवल इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि वह चौदह पंक्तियों में निबद्ध होता है, अन्यथा वह किसी भी सामान्य अतुकान्त संयुक्त

---

१. अनुक्षण—प्रभाकर माचवे, पृष्ठ ९१
२. पराग—रूपनारायण पाण्डेय, पृष्ठ ९२
३. प्रसाद-संगीत—प्रसाद, पृष्ठ १२७-१३४

मुक्तक के समान होता है।

अतुकान्त सॉनेट-रचना की परम्परा परवर्ती कवियों में (आशय नए खेवे के कवियों से है) विशेष लोकप्रिय नहीं हुई। सामान्यतः हर प्रकार के बन्धनों के विरोधी ये कवि, किसी-न-किसी रूप में, सॉनेट की इस विशेषता की रक्षा करते रहे। यद्यपि, इस अर्थ में उन्होंने यहाँ भी परम्परा का विरोध किया कि इस विधा के लिए पाश्चात्य अथवा भारतीय किसी भी कवि की रचना को पूर्णतः आदर्श नहीं माना, और रूप-सम्बन्धी नए छन्द और तुक स्वयं निर्माण कर खड़े किये—परन्तु इस तथ्य के प्रति सचेत रहकर, कि सॉनेट की आकार-सम्बन्धी व्यावर्त्तक विशेषता उसके अन्त्यानुप्रास-निबन्धन की विशेष पद्धति है। वे इस दिशा में नवीन राहों का अन्वेषण करते रहे, परन्तु दिशा-परिवर्तन का उपक्रम उन्होंने नहीं किया।

निबद्ध-सॉनेट (Sonnet-Sequences) रचना आधुनिक युग के कवियों ने नहीं की। केवल प्रभाकर माचवे ने शृंखलाबद्ध सॉनेट-रचना का एक प्रयास 'मैं और खाली चा की प्याली'[1] शीर्षक में किया, परन्तु यह विधा विशेष लोकप्रिय नहीं हो सकी।

बौद्धिक कविताएँ

आधुनिक युग की छायावादोत्तर कविता का इतिहास वस्तुतः बौद्धिक कविता का ही इतिहास है। विचारप्रधान कविता का आरम्भ आधुनिक युग में द्विवेदी-युग से ही नीति और उपदेशप्रधान रचनाओं के रूप में हो गया था। परन्तु यह नैतिक कविता समाज के बाह्य आचार-व्यवहार तथा व्यापक एवं स्थूल समस्याओं को लेकर लिखी गई। छायावाद में व्यक्ति की प्रधानता के उपरान्त भी उसकी नितान्त व्यक्तिगत समस्याओं के विश्लेषण और अभिव्यंजना को काव्य में स्थान नहीं मिला। इस युग के कवि व्यापक धरातल पर अध्यात्म और दर्शन से सम्बद्ध विषयों से भावसम्बन्ध स्थापित कर, रहस्यात्मक विवेचन-विश्लेषण करते रहे। इनकी कविता में विचार की दृष्टि से व्यक्ति और अध्यात्म, तथा उनके बीच पारस्परिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति प्रधान रही। इस प्रकार इस कविता में दार्शनिक चिन्तन की प्रधानता है। भाषा, सामाजिक रीति-नीति, उसकी आलोचना, विभिन्न क्षेत्रों में समाज के प्रति व्यक्ति के उत्तरदायित्व तथा उसके कर्तव्य-कर्म आदि विषयों पर उपदेश इस युग में नहीं दिये गए।

प्रगतिवाद के सैद्धान्तिक रूप समाजवाद के प्रचार, और मार्क्सवादी दृष्टिकोण के प्रभुत्व और प्रसार के साथ एक बार फिर विचार का क्षेत्र—जन-जीवन और उससे सम्बन्धित मूर्त, वस्तुगत, आर्थिक समस्याएँ हो गईं, परन्तु इस कविता का स्वर और स्वरूप द्विवेदी-युग की कविता से बहुत भिन्न रहा। एक तो इस कविता के मूल में निश्चित विचारधारा और जीवन-दर्शन की ठोस मान्यताएँ एवं सिद्धान्त थे, अतः इसका स्वरूप यथार्थवादी एवं वस्तुगत होने पर भी शिष्ट और गम्भीर रहा। दूसरे—कला के क्षेत्र में छायावाद के उत्कर्ष और अभिव्यंजना की शक्ति और सामर्थ्य के चरम विकास के उपरान्त इस धारा के कवि उससे सर्वथा अप्रभावित न रह सके। इन्होंने यद्यपि वस्तुगत, यथार्थ और भौतिक विषय अपनाए, परन्तु

---

१. तारसप्तक, पृष्ठ ५६

इनका विचार-क्षेत्र ऊपरी नैतिक कर्तव्य-कर्मों तक सीमित न रहकर, समाज की आर्थिक और व्यापक भौतिक जीवन की समस्याओं तक विस्तृत हो गया। इन विषयों का वर्णन, विश्लेषण, आलोचना और उपदेश सभी निश्चित जीवन-दर्शन के आलोक में प्रसादमय परन्तु अधिक कलात्मक शैली में व्यक्त हुए।

प्रयोगवाद का आरम्भ—काव्य-रचना के दृष्टिकोण, शैली, शिल्प, सभी में अतिशय बौद्धिकता का आरम्भ था। इस धारा की कविता में एक विशेषता थी। इन कवियों ने किसी दर्शन या चिन्ताधारा की बौद्धिक दासता स्वीकार नहीं की। अंशतः इनकी कविता मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से प्रभावित हुई, परन्तु सभी नहीं। एक समानता इनमें और प्रगतिवाद के समर्थक कवियों में यह थी कि इन दोनों ने जीवन में यथार्थ, मूर्त, प्रकृत और सार्वजनीन को अधिक महत्त्व दिया, काल्पनिक, सूक्ष्म, व्यक्तिगत और अलंकृत का उतना नहीं। परन्तु इन कवियों की बौद्धिकता विशेष जीवन-दर्शन और उसके सिद्धान्तों के प्रचार और प्रसार में नहीं, शैली और शिल्प-सम्बन्धी नूतन प्रयोग करने में अधिक रमी, अतः इन्होंने अभिव्यक्ति के क्षेत्र में अनेक नवीन राहों का अन्वेषण किया। जहाँ इनका काव्य समाजवाद के सिद्धान्तों से प्रभावित है वहाँ तो स्पष्ट रूप से तत्सम्बन्धी विचारों को मान्यता मिली है। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ भी ये कवि व्यक्तिगत कल्पना, अनुभूति और विचार को वस्तुगत शैली में अभिव्यक्त करने के लिए नए-नए मार्गों का अन्वेषण करते रहे। इस प्रयत्न को कला के क्षेत्र में शिल्प-सम्बन्धी व्यक्ति-वैचित्र्यवाद कहा जा सकता है। इस प्रकार अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच की सृजन-प्रक्रिया अन्वेषण-प्रधान और बौद्धिक रही। परिणामतः राग के स्थान पर विचार की सहज व्याप्ति इनकी कविता में दिखाई पड़ती है। यही इस काव्य की बौद्धिकता है।

निष्कर्ष रूप में—आधुनिक युग की बौद्धिक कविता में सर्वत्र विचार-तत्त्व की प्रधानता होते हुए भी प्रत्येक परिवर्तन के साथ एक नया मोड़ दिखाई पड़ता है। यह अन्तर इस कविता के विचार के स्वरूप और उसकी अभिव्यक्ति से सम्बद्ध है। इसका कारण युग की चिर-परिवर्तनशील चिन्ताधारा है, तथा परिणाम काव्य-रूपों में वैविध्य है। व्यक्ति की भावनाओं, अनुभूति और उनके मूल में निहित राग तत्त्व का सम्बन्ध उसकी मूल प्रवृत्तियों से होता है, अतः उनमें उल्लेखनीय अथवा आमूल परिवर्तन इतनी सरलता और शीघ्रता से घटित नहीं होता। विचारों को हर प्रकार की समसामयिक परिस्थितियाँ अपेक्षाकृत शीघ्रता से प्रभावित करती हैं, अतः बौद्धिक कविता के रूप-विधान और प्रकारों का विवेचन कालक्रमानुसार करने का प्रयत्न करेंगे।

द्विवेदी-युग की बौद्धिक कविता में वस्तुपरक दृष्टिकोण की प्रधानता है। इस युग के कवियों ने विचार किया, परन्तु समाज-सम्बन्धी विषयों पर, उसके भौतिक-नैतिक आचार-व्यवहार से सम्बद्ध प्रश्नों पर। इन कविताओं का सम्बन्ध अतः व्यक्तिगत नहीं, सार्वजनीन समस्याओं से है। इनका क्षेत्र दर्शन, अध्यात्म, जैसा कोई गम्भीर और आत्मा-सम्बन्धी विषय नहीं, ऐहिक व वस्तुरूप बाह्य जीवन की आवश्यकताएँ और रीति-नीति है। स्फुट मुक्तकों की भाँति इन विचारात्मक निबद्ध मुक्तकों की रचना चार रूपों में हुई—उपदेशात्मक, आलोचनात्मक, उद्‌बोधनात्मक और व्यंगप्रधान। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इनमें से उद्‌बोधनात्मक कविता का अन्तर्भाव उपदेशात्मक में, और व्यंगप्रधान कविता का समावेश आलोचनात्मक कविता

के अन्तर्गत किया जा सकता है। द्विवेदी-युग में निबद्ध कविता इन्हीं दो प्रधान रूपों में लिखी गई। दोनों ही स्थितियों में विषय स्थूल, और सामाजिक जीवन की विविध समस्याओं से सम्बद्ध रहे।

उपदेशात्मक कविताएँ—भाषा के उद्धार, विभिन्न पर्व-त्यौहारों के विकृत रूप, सामाजिक रीतियों और प्रथाओं के सम्बन्ध में लिखी गई। द्विवेदी युग के काव्य का बृहद् अंश इसी प्रकार का है। ये कवि सीधे-सादे ढंग से समाज-सुधारकों, चिन्तकों के समान विषय-विशेष के सम्बन्ध में अपने विचारों की अभिव्यक्ति अत्यन्त स्पष्ट रूप में करते थे। कुछ कवि जिन्होंने काव्य-रचना का आरम्भ इस युग में किया, परन्तु बाद तक जिनका रचना-क्रम अन्य नवीन काव्य धाराओं के समानान्तर चलता रहा, रचना-प्रवृत्ति की दृष्टि से इसी विशेषता से प्रभावित रहे। 'हरिऔध' का नाम इस दिशा में प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। उनकी कविताओं में कर्तव्य का निर्देश अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में, मंच से व्याख्यान की शैली में किया गया। महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'ग्रन्थकारों से विनय' का एक उदाहरण लीजिये :

इंग्लिश का ग्रन्थ समूह बहुत भारी है,
अति, विस्तृत-जलधि समान वेहधारी है।
संस्कृत भी सबके लिए सौख्यकारी है,
उसका भी ज्ञानागार हृदयहारी है।
इन दोनों में से अर्थ-रत्न ले लीजै,
हिन्दी के अर्पण उन्हें प्रेमयुत कीजै।
वह माता-सम सब भाँति स्नेह-अधिकारी,
इतनी ही विनती आज विनम्र हमारी।

इसी प्रकार द्विवेदीजी ने 'मांसाहारी को हंटर' में एक युवा-विशेष को उपदेश के रूप में मांस-भक्षण का विरोध किया। हिन्दी भाषा के उद्धार के लिए प्रेरणा और प्रबोधन का प्रयत्न द्विवेदी-युग की कविता का प्रिय विषय रहा। इन कवियों के उपदेश की दिशाएँ भिन्न थीं, स्वर और रूप-विधान एक था। इस प्रकार की कविताएँ 'पूर्ण', रूपनारायण पाण्डेय, नाथूराम 'शंकर', श्रीधर पाठक और 'हरिऔध' सभी ने कीं। 'हरिऔध' में तो यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से उनकी अन्तिम रचना 'मर्मस्पर्श' तक मिलती है। समय के साथ-साथ उनकी कविता में रसात्मकता, आनन्दानुभूति का ह्रास होता गया और आलोचना व उपदेश के स्वर प्रखर होते गए। उत्तर-कालीन रचनाओं में तो कलागत और उक्तिगत चमत्कार का आग्रह भी न्यून हो गया, केवल उपदेश और शिक्षा बच रही है, और अभिव्यक्ति के लिए सीधी प्रसादमय व्यावहारिक भाषा। हाँ, कहीं-कहीं उर्दू की मुहावरेदानी और प्रखरता अवश्य दिखाई पड़ती है।

विशेष अवसरों पर लिखी जाने के कारण इन कविताओं में बोलचाल और प्रत्यक्ष उपदेशात्मक शैली की प्रधानता हो गई है। कवि जब मंच से व्याख्यान देने के लिए काव्य-रचना करता है, और जब एकान्त में बैठकर पठन-पाठन के लिए लिखता है तो उसकी अभिव्यंजना में अन्तर होता है। पहली में दूसरी की अपेक्षा भावतन्मयता कम, आवेग, विवेक और उत्तेजना तथा सरलता अधिक होती है—विशेषकर जब वह कविता किसी विषय का समर्थन या विरोध करने के लिए सुना रहा हो। अपनी बात श्रोता तक पहुँचा देना, और इस रूप में कि वह उसके

हृदय और बुद्धि पर स्थायी प्रभाव डाले, उसे विचारोत्तेजना प्रदान करे, और वह व्यंजना-शैली पर मुग्ध भले ही न हो प्रेषित विचारों से प्रभावित हो जाय—प्रचारक कवि का लक्ष्य होता है। सिद्धान्त-प्रचार की यह विचार-भूमि, यह लक्ष्य, द्विवेदीजी और उनके समकालीन सभी कवियों की उपदेशात्मक कविता में वर्तमान है। द्वितीय प्रान्तीय हिन्दी सम्मेलन फिरोजाबाद के लिए लिखित ला० भगवानदीन की "हिन्दी की हिमायत' की कुछ पंक्तियाँ देखिये :

उठो हिन्दुओ अपने बल को सँभालो।
दशा हिन्दी भाषा की कुछ देखो भालो॥
जमाने के धक्कों से इसको बचा लो।
सपूती दिखा दो झपटकर उठा लो॥
सहित प्रेम छाती से इसको लगा लो।
हृदय के सिंहासन पै इसको बिठा लो॥[1]

यह उपदेश सर्वत्र प्रत्यक्ष शिक्षा के रूप में नहीं, कभी-कभी वर्ण्य समस्या के प्रति खेद-प्रकाशन के रूप में व्यंग्य है। इस प्रकार की कविताएँ प्रथम दो दशाब्दों में प्रायः 'सरस्वती' के विविध अंकों में प्रकाशित होती रहीं।

आलोचनात्मक कविताएँ भी इस युग में कम नहीं लिखी गईं। तत्कालीन सामाजिक प्रथाओं और जीवन से सम्बद्ध अनेक विषयों की कवियों ने समीक्षा की। यह आलोचना कहीं स्पष्ट शब्दों में की गई, और जहाँ कवि ने इसे व्यंग्य और वक्रोक्ति के आवरण में लपेटकर मधु-वेष्ठित तिक्त औषध के रूप में प्रस्तुत करना चाहा वहाँ अन्योक्ति का आश्रय लिया।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने वरपक्ष-द्वारा दहेज ठहराने की प्रथा की आलोचना 'ठहरौनी' में की। पूर्वजों के सम्मान्य कृत्यों का स्मरण दिलाकर, दृष्टान्त देकर, कवि मानो आलोचना को सोदाहरण तर्क-पुष्ट रूप देने का प्रयत्न करता है। अपेक्षाकृत कवि 'शंकर' और 'हरिऔध' की आलोचना में प्रखरता और धार है। 'हरिऔध' जी की शैली में तो अनेक स्थलों पर अभद्र कटुता आ गई है। 'चेतावनी' शीर्षक में होली पर लिखी कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

रंग बिगड़े न रंग के खेले
पी न लेवें प्रमाद का प्याला।
गौरवित को लताड़ गाली लिख,
लेखनी का करें न मुँह काला।
हैं अधम-से, अधम पतितम हैं,
हैं कुटिल मति कपट बिटप थाले।
आड़ में बैठ पूत पर्वों की,
पेट का मल निकालने वाले।[2]

---

१. नवीन-बीन—ला० भगवानदीन, पृष्ठ १२०
२. मर्म-स्पर्श —हरिऔध, पृष्ठ ६७

अन्य व्यक्तियों के दुष्कृत्यों की आलोचना करते-करते कवि स्वयं अनेक स्थलों पर अप-शब्दों का प्रयोग कर गया है। 'हरिऔध' की इस प्रकार की अनेक रचनाएँ जिनके विषय समाज, शिक्षा, वेषभूषा, कर्तव्य से लेकर पर्व-त्यौहार, आदि व्यापक पक्ष हैं—'मर्मस्पर्श' में संग्रहीत हैं। इन कविताओं में उद्देश्य की स्पष्टता, विचारोत्तेजना आदि के साथ अनेक स्थलों पर उसी प्रकार का उक्ति-चमत्कार शैली में आ गया है, जिस प्रकार उनके चौपदों में उपलब्ध होता है। अनेक प्रसंगों में उर्दू का स्पष्ट प्रभाव भी लक्षित होता है, परन्तु छन्द, भाषा और शैली में सफाई सर्वत्र मिलती है। कुछ कविताओं में आलोचना की शैली भिन्न है। कविता में आद्यन्त विचार अनुस्यूत रहता है, परन्तु वह दृष्टान्त-वर्णन के रूप में व्यंग्य होता है, उपसंहार करते समय कभी-कभी यह व्यंग्य वाच्य में परिवर्तित हो जाता है। 'हरिऔध' की 'फूल और काँटा' इसी प्रकार की रचना है। कविता का मूल विचार—व्यक्ति जन्म से नहीं कर्म से महान होता है, फूल और काँटे में व्यवहार-सम्बन्धी अन्तर के वर्णन में व्यंग्य है, अन्त में कवि स्पष्ट शब्दों में अपना आशय सार-रूप में प्रकट कर देता है :

है खटकता एक सबकी आँख में,
दूसरा है सोहता सुर-सीस पर।
किस तरह कुल की बड़ाई काम दे,
जो किसी में हो बड़प्पन की कसर।[1]

विचारप्रधान अन्योक्तियाँ इस युग में अपेक्षाकृत कम लिखी गईं। स्फुट मुक्तकों में तो इस विधा का प्रयोग पर्याप्त हुआ, परन्तु निबद्ध मुक्तकों में कुछ इनी-गिनी रचनाएँ ही इस शैली में की गईं। कवि 'शंकर' ने वर्तमान समाज की अवस्था पर 'एरण्ड-वन-विडाल-व्याघ्र' शीर्षक में एक लम्बी अन्योक्ति की रचना की। जो इतिवृत्तात्मकता द्विवेदी-युग की वर्णन-प्रधान कविता में सहज व्याप्त है, उस शैलीगत विशेषता से इस युग की बौद्धिक कविता भी मुक्त नहीं। ये कवि चेतन-अचेतन के विचार-खण्डों का विश्लेषण नहीं करते, व्यापक दार्शनिक सत्यों पर तर्क-वितर्क और विचार-विवेचन भी नहीं करते, केवल समाज की विविध नीति-व्यवहार-सम्बन्धी व्यापक वस्तुरूप समस्याओं के विषय में उपदेश, उद्बोधन, आलोचना और व्यंग्य के माध्यम से, व्यक्ति और समाज के सुधार का प्रयत्न करते हैं। इनके मूल्य वस्तुगत हैं, उनका क्षेत्र बाह्य सामाजिक जीवन है, और शैली इतिवृत्तात्मक। इनकी विचार-प्रणाली के मूल में दर्शन, मनोविज्ञान व मनोविश्लेषण-शास्त्र के सूक्ष्म और शाश्वत आधार, तथा विवेचन-विश्लेषण की गहन पद्धति नहीं। सामयिक कारणों पर आधृत आचार-व्यवहार सम्बन्धी नीति-शास्त्र के उपदेश-कथन की शैली है। अतः इन कविताओं में—अस्पष्ट और अव्यक्त क्षेत्रों में बुद्धि की गहन और अन्तःप्रवेशी पैठ, अन्वेषण और उद्घाटन नहीं मिलता। बाह्य, व्यक्त और व्यापक प्रश्नों की परख, परीक्षण और विधि-निषेध मिलता है। इनमें बुद्धि तत्त्व का व्यापक समतल प्रसार है, सूक्ष्म और गहन अन्तःप्रवेश नहीं। यह कविता प्रचार और प्रसार से सम्बद्ध थी, विश्लेषण और तत्त्वान्वेषण से नहीं।

---

१. कवि-भारती— हरिऔध, पृष्ठ ५६

विषय के अनुकल इन निबद्ध-मुक्तकों की शैली भी स्पष्ट, सुबोध, व्यस्त और स्फीत है। छन्दों में भी नवीन प्रयोग, या रूप-वैचित्र्य का परिचय इन कवियों ने नहीं दिया।

छायावाद काव्यधारा का कवि बाह्य जीवन की विषमताओं नैतिक और सामाजिक समस्याओं और वस्तुगत मूल्यों से विमुख होकर आत्मनिष्ठ हो गया, अतः उस प्रकार की बौद्धिकता या विचारात्मकता का उसकी कविता में अभाव है जिसका निर्देश द्विवेदीयुगीन काव्य के प्रसंग में किया गया है। छायावाद के कवि की बौद्धिकता व्यक्तिगत समस्याओं, प्रश्नों और विचारों को लेकर व्यक्त हुई। वह बात दूसरी है कि इन कवियों ने व्यक्ति के धरातल पर कुछ ऐसे प्रश्नों का विश्लेषण, तथा ऐसे सम्बन्धों का व्याख्यान किया जो अपने व्यापक रूप में शाश्वत और समष्टिगत हैं। हमारा संकेत दर्शन और आध्यात्मिक चिन्तन से सम्बद्ध विषयों की ओर है। परन्तु इनका सम्बन्ध भी व्यक्ति के अन्तर्मन और अमूर्त जगत से है, बाह्य और वस्तु रूप से नहीं अतः वस्तुगत समस्याओं और उनसे सम्बन्धित विचार का आधार इस काव्य में गौण अवश्य हो गया। इन्होंने अपनी अनुभूति से प्रेरित चिन्तन और विचार-सूत्रों का विश्लेषण किया है, उपदेश नहीं दिया, आलोचना भी नहीं की। किसी प्रकार के सार्वजनीन हित-चिन्तन, मार्ग-निर्देश व विधि-निषेध आदि से ये कवि दूर थे। इनकी काव्य-रचना की प्रेरणा या मूल दृष्टि-कोण विषयीप्रधान था, अतः इनका चिन्तन व्यक्तिगत अनुभूतियों के उन्नयन में साधक हुआ है। इन्होंने ज्ञान से जो कुछ अर्जन किया उसके अनुरूप अनुभूति को ढालने का प्रयत्न किया, अथवा अनुभूति ने इनके विचार को प्रेरित किया, और इन्होंने किसी अनुभूत सत्य का बौद्धिक विश्लेषण किया। इन कवियों की विचार-पद्धति में गहन बौद्धिकता है, नीति के व्यापक उपदेश नहीं। एक विशेषता इन कवियों की बौद्धिक कविता में और है। इनकी अधिकांश कविता व्यक्ति की संवेदना का परिणाम है नितान्त बुद्धिप्रधान नहीं अतः इनके विचार या तो इनकी अनुभूति के अनुगामी हैं, अथवा विचारों की काल्पनिक अनुभूति को इन्होंने विषय बनाया है, परिणामस्वरूप राग तत्त्व इनकी विचारात्मक कविता में भी कभी क्षीण नहीं होता। दर्शन और अध्यात्म के विषय इस कविता में अधिक सरस और सहज ग्राह्य रूप में प्रस्तुत होते हैं। और उनका प्रभाव तत्त्वग्राहिणी बुद्धि के प्रति न होकर संवेदनग्राहिणी रागात्मिका वृत्ति के प्रति होता है। विचार की एकान्त स्थिति इस काव्य में नहीं मिलती।

इन कविताओं के रूप-विधान, अभिव्यंजना-शैली, सभी में छायावाद की वे समस्त कलागत विशेषताएँ प्राप्त होती हैं, जिनके कारण समीक्षकों ने भ्रमवश इस वाद को केवल शैलीगत आन्दोलन का रूप दे दिया था। लाक्षणिक अभिव्यक्ति, प्रतीक-योजनाएँ, नवीन अलंकरण शैली, संगीतात्मकता, नूतन छन्द-विधान आदि सभी इस अधिकांश बौद्धिक कविता में उसी प्रकार प्राप्य हैं जिस प्रकार इन कवियों की अन्य प्रगीत रचनाओं में। इन्होंने विचारों को इस प्रकार अनुभूति का विषय बनाकर हार्दिकता और संवेदना-सहित व्यक्त किया है कि ये बौद्धिक कविताएँ विचारात्मक प्रगीत ही प्रतीत होती हैं। सामान्यतः अतिशय चिन्तन प्रगीत की आत्मा के विरुद्ध है और जहाँ विचार सहज अन्तःस्फूर्त रागात्मक शैली में अभिव्यक्त नहीं होता, इसकी स्थिति एकान्तिक होती है, वह कविता प्रगीत नहीं कही जा सकती। भक्त कवियों के दार्शनिक विनय-पदों की रचना के एक दीर्घ अन्तराल के उपरान्त छायावाद की विचारात्मक कविताओं

में प्रगीत के तत्त्व दिखाई पड़े।

इन कविताओं के विषय विविध थे, परन्तु प्रायः अमूर्त, सघन और आत्मप्रधान; अतः उपदेश और आलोचना का इस कविता में अभाव है। इनकी बौद्धिकता—जिज्ञासा, गहन चिन्तन, विश्लेषण और व्याख्या के रूप में अभिव्यक्त हुई है। व्यक्तिगत रागात्मक सम्बन्धों को व्यापक रहस्यात्मक रूप देना इस काव्य की विशेषता रही है और प्रेम इनका प्रधान विषय। अतः सर्वाधिक संख्या ऐसी रचनाओं की ही है, जिनमें दार्शनिक धरातल पर प्रेमी और प्रिय (या इष्ट) के स्वरूप और सम्बन्ध की व्याख्या और विश्लेषण किया गया। इस प्रकार की रचनाओं को साहित्यिक शब्दावली में रहस्यवाद कहा जाता है। महादेवी और 'निराला' की कविताओं में रूप-भेद से यह भावना प्रसाद और पन्त की रचनाओं से अधिक मिलती है। 'निराला' के काव्य में विराट तत्त्व और महाप्राणता है, और महादेवी की कविता में नारी की कोमल-मधुर भावना। प्रसाद की मुक्तक-रचनाओं में प्रेम-भाव प्रधान है, और पन्त में सौन्दर्य-चेतना। उनकी रहस्य-भावना में जिज्ञासा अधिक है, विवेचन-विश्लेषण उससे कम। उन्होंने अपनी पिछली कविताओं मे जिस बौद्धिक चेतना का परिचय दिया है, उसका धरातल वस्तु और समाजगत है, व्यक्तिगत नहीं। ये कविताएँ समाजवाद से प्रभावित होकर लिखी गई। छायावाद की बौद्धिक कविता नारी की लेखनी से इस प्रकार निस्सृत हुई :

ओ चिर नीरव !
मैं सरित विकल,
तेरी समाधि की सिद्धि अकल,
चिर निद्रा में सपने का पल,
ले चली लास में लय-गौरव।
.....
मैं ऊर्म्मि विरल
तू तुंग अचल, वह सिन्धु अतल,
बाँधे दोनों को मैं चल चल,
धो रही द्वैत के सौ कैतव ![1]

इस सम्बन्ध में कवयित्री की निश्चित धारणा थी :

"आज हम ऐसे बौद्धिक युग में से जा रहे हैं जो हृदय को मांसल यन्त्र और उसकी कथा को वैज्ञानिक आविष्कारों की पद्धति मात्र समझता है, फलतः गीति की स्थिति कठिन से कठिनतर होती जा रही है।

गेयता में ज्ञान का क्या स्थान है यह भी प्रश्न है। बुद्धि के तर्कक्रम से जिस ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है उसका भार, गीत नहीं संभाल सकता; पर तर्क से परे इन्द्रियों की सहायता के बिना भी हमारी आत्मा अनायास ही जिस सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेती है उसकी

---

१. दीपशिखा—महादेवी वर्मा, पृ० ७१-७२

अभिव्यक्ति में गेय स्वर सामंजस्य का विशेष महत्त्व रहा है।.....

रहस्य-गीतों का मूलाधार भी आत्मानुभूत अखण्ड चेतन है पर वह, साधक की मिलन-विरह की मार्मिक अनुभूतियों में इस प्रकार घुलमिल सका कि उसकी अलौकिक स्थिति भी लोक-सामान्य हो गई।"[1]

उक्त अभिमत के प्रकाश में महादेवी के रहस्यात्मक गीतों में अन्तर्भूत बौद्धिकता के स्वरूप की व्याख्या हो जाती है, अतः किसी प्रकार के स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं। 'निराला' की अन्तश्चेतना पर जब तक छायावाद के रोमानी दृष्टिकोण और दर्शन में अद्वैत का प्रभाव रहा, उनकी कविता में भी इसी प्रकार दर्शन को आत्मानुभूति का विषय बनाकर अभिव्यक्ति मिली। 'तुम और मैं' कविता में उन्होंने आत्मा और परमात्मा के स्वरूप और सम्बन्ध की व्याख्या की है। अद्वैत-परम्परा के अनुसार उन्होंने आत्मा को आदि-अन्त-रहित और तत्त्वतः अविनाशी, तथा आत्मा और परमात्मा में अद्वैत-सम्बन्ध स्वीकार किया, परन्तु दर्शन की यह मान्यता कविता में आत्मानुभूत सत्य के रूप में ही व्यक्त हुई है।

प्रसाद और पन्त की कविताओं में इस प्रकार दर्शन के तात्त्विक विषयों का विश्लेषण नहीं मिलता। जीवन और जगत् से सम्बन्धित कुछ शाश्वत प्रश्नों का विश्लेषण उन्होंने अवश्य किया है। इन समस्याओं का सम्बन्ध वस्तु-तथ्यों व बाह्य-जीवन की ऐहिक विषमताओं से नहीं है, और न ही इनमें नीति-आचार सम्बन्धी उपदेश और दिशा-निर्देश है। इनमें अनुभूति के बल पर कुछ विचार-सत्यों का विश्लेषण किया गया है। उदाहरण देकर बात स्पष्ट करें—कवि जीवन में सुख और दुःख दोनों प्रकार के विरोधी भावों की यथावसर अनुभूति करके अन्त में विचार के द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जीवन की सार्थकता, उसका चरम विकास, इनमें से किसी एक की एकाकी स्थिति या अतिशयता से सम्भव नहीं हो सकता, उसके लिए दोनों की संतुलित स्थिति आवश्यक है। इसी अनुभूतिजन्य विचार को वह इस प्रकार कविता में रूपान्तरित करता है :

लालसा निराशा में ढलमल
वेदना और सुख में विह्वल
यह क्या है रे! मानव जीवन?
कितना है रहा निखर।[2]

अथवा :

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन,
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।
जग पीड़ित है अति-दुख से

---

१. दीपशिखा, पृ० ५८

२. लहर—जयशंकरप्रसाद, पृष्ठ ३०

जग पीड़ित रे अति-सुख से,
मानव-जग में बंट जावें,
दुख सुख से औ' सुख दुख से।[1]

इसी प्रकार कवि पन्त ने जग की नित्यता, अनित्यता, परिवर्तन आदि विषयों को लेकर अनेक कविताओं की रचना की। इस प्रकार की कविताओं में विवेचन-विश्लेषण की प्रधानता होती है। कहीं यदि उपदेश का क्षीण-सा स्वर सुनाई भी पड़ता है, तो वह इतने रससिक्त और व्यंग्य रूप में, कि उसकी मूलवर्ती शुष्कता पाठक तक नहीं पहुँच पाती।

निष्कर्ष रूप में छायावाद की बौद्धिक कविता मूलतः विश्लेषण और विवेचन-व्याख्या प्रधान है। उसमें जगत् और दर्शन के गहन विषयों का अनुभूतिपरक वर्णन किया गया है। इनमें इतिवृत्त-वर्णन, उपदेश और कटु आलोचना को स्थान नहीं मिला। कुछ कविताओं में पन्त और 'निराला' ने उद्बोधन का प्रयत्न अवश्य किया है। इनमें रूढ़ि-विद्रोह और जीवन के नव निर्माण की लालसा प्रमुख रूप से व्यक्त हुई है :

खोलो जीर्ण विश्वासो, संस्कारों के शीर्ण वसन,
रूढ़ियों रीतियों, आचारों के अवगुण्ठन,
छिन्न करो पुराचीन संस्कृतियों के जड़ बन्धन,—
जाति वर्ण, श्रेणी वर्ग से विमुक्त जन नूतन
विश्व सभ्यता का शिलान्यास करें भव-शोभन।[2]

छायावादोत्तर बौद्धिक कविता—छायावाद के उपरान्त मुख्य रूप से साहित्यिक 'वादों' में प्रगति और प्रयोग का उल्लेख किया जाता है। परन्तु इन दोनों वादों के अन्दर और बाहर कुछ ऐसे कवि वर्तमान रहे जिन्होंने किसी सिद्धान्त-विशेष की बौद्धिक दासता स्वीकार नहीं की, परन्तु उदार हृदय से जिन्होंने सभी काव्य-धाराओं का मनोनुकूल प्रभाव-ग्रहण किया। इनमें कुछ कवि छायावाद के ही कवि थे, जिन्होंने राजनैतिक और सामाजिक जीवन में विचारधाराओं के परिवर्तन के समानान्तर काव्य-रचना में भी ये प्रभाव स्वीकार कर लिये। कुछ अन्य कवि ऐसे थे जिन्होंने एक ओर व्यक्तिगत स्वच्छन्द प्रेम की व्यंजक गीतियाँ लिखीं, दूसरी ओर समाजवाद के आधारभूत दर्शन—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित होकर समाज की अर्थ सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया, क्रान्ति के लिए प्रेरणा दी और वर्तमान दुरवस्था के प्रति खेद और क्षोभ प्रकट कर परिवर्तन की कामना की। इनमें से छायावाद और प्रगतिवाद दोनों धाराओं से प्रभावित कवियों की रचना-शैली में एक सुन्दर संयोग घटित हुआ। समष्टिगत विचार इन कवियों के द्वारा छायावादी शैली में व्यक्त किये गए। इनकी रचनाओं में शुष्क उपदेश और नीति-आचार का आदेश नहीं, संदेश निहित है। द्विवेदी-युग के कवियों की भाँति इनकी उपदेशात्मक कविताओं में कटुता और ताड़न की प्रवृत्ति नहीं मिलती। इनका उद्बोधन, उपदेश, कान्ता-सम्मत रूप में व्यक्त हुआ है। आलोचना का कटुतम रूप इस युग में रचित व्यंग्य गीतियों में

---

१. आधुनिक कवि—पन्त, पृष्ठ ५०
२. ग्राम्या—पन्त, पृष्ठ ९९

मिलता है। कहीं-कहीं इनमें तीखापन और प्रत्यक्षता आ गई है, परन्तु सामान्यतः इनका व्यंग्य शिष्ट और वक्र है। इसका सबसे बड़ा कारण यही था कि इस कविता के रचयिता कवियों में, कुछ को छोड़कर, शेष छायावाद के, उसके ह्रास काल के, अथवा उस कला से प्रभावित कवि थे। इन कवियों ने व्यक्तिनिष्ठ, रोमानी—वायवी दृष्टि और चमत्कारमूलक कला को प्रश्रय देने वाली कविता का दिशा-परिवर्तन कर, समाजनिष्ठ, यथार्थ, वस्तुगत और बाह्य जीवन से सम्बद्ध विषयों को अपनाने पर भी कला में विषयानुकूल परिवर्तन तो किया, परन्तु पुनः उसी स्तर पर नहीं लौटे जहाँ से प्रतिक्रिया-स्वरूप छायावादी आन्दोलन का आरम्भ हुआ था। इनमें विश्लेषण, उपदेश, आलोचना सभी उपलब्ध है, परन्तु परिवर्तित रूप में। छायावाद के कवियों में से पन्त और 'निराला' ने इस ओर मुंह मोड़ा। उन कवियों में जिनका सम्बन्ध नई कविता से है—प्रगतिवाद के कवि 'दिनकर', नरेन्द्र शर्मा, 'अंचल' आदि तथा प्रयोगवाद के कवियों में विभिन्न 'सप्तकों' के, तथा कुछ अन्य नए कवियों की कविता आती है। जिन शैलीगत विशेषताओं के कारण इन कवियों को वर्गबद्ध किया गया उनका आरम्भ 'निराला' के ही काव्य में हो जाता है तथा 'बच्चन', 'दिनकर' आदि द्वारा कुछ प्रयोग भी इसी दिशा में किये गए हैं। एक वर्ग उन कवियों का है जिनको उपर्युक्त वर्गों में से किसी एक के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता, परन्तु जो निरन्तर विविध प्रकार से काव्य-सृजन कर अपना योगदान देते रहे। इनमें—'नवीन', सियारामशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा और उदयशंकर भट्ट का उल्लेख किया जा सकता है। इन सभी कवियों ने बौद्धिक कविता में अपना-अपना अंशदान दिया है।

इस युग की बौद्धिक कविता की एक नई और सशक्त शैली, व्यंग्य गीतियों की शैली है। इस रूप में कविता की यह विधा आधुनिक युग से पूर्व अप्राप्य है। यों व्यंग्य प्रधान कविता का सम्बन्ध परम्परा की दृष्टि से अमीर खुसरो से जोड़ा जा सकता है, परन्तु एक दीर्घकाल से हिन्दी कविता में शिष्ट और साहित्यिक व्यंग्य का अभाव मिलता है। द्विवेदी-युग के कवियों ने इस दिशा में जो इने-गिने प्रयत्न किये उनमें कटुता और भदेसपन आ गया है। व्यंग्यात्मक कविता वास्तव में आलोचना का वक्रोक्ति-रूप है। जो अन्तर, चमत्कारशून्य वाच्यार्थ और वक्रोक्ति में होता है, वही द्विवेदी-युग की आलोचनात्मक कविताओं और इस युग की व्यंग्य गीतियों में है। इन कविताओं का युग 'निराला' की रचनाओं—'कुकुरमुत्ता', और 'नये पत्ते' से आरम्भ होता है। 'निराला' की दृष्टि इन कविताओं में समाजनिष्ठ और यथार्थवादी है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने विषय से पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लिया है, अतः उनका व्यंग्य शिष्ट, परन्तु सच्ची अन्तर्व्यथा से उद्भूत प्रतीत होता है। 'निराला' ने 'कुकुरमुत्ता' में एक छोटी-सी प्रतीक कथा का विधान करके समाज के विविध पक्षों पर बहुमुखी व्यंग्य किया है। सीधा और स्पष्ट व्यंग्य उस समाज पर है जहाँ उच्च वर्ग की सत्ता होती है, और निम्न वर्ग उपेक्षित रहता है। कवि ने दो भिन्न वर्गों में मेल-मिलाप के द्वारा वर्ग-सामंजस्य का भावी आदर्श खड़ा किया है। 'कुकुरमुत्ता' के प्रत्येक प्रसंग और संवाद का प्रतीकार्थ बताया जा सकता है। कवि ने काव्य के क्षेत्र में प्रगति और नयेपन के नाम पर जो अराजकता फैली है उस पर भी व्यंग्य किया है:

जैसे प्रोग्रेसिव का लेखनी लेते
नहीं रोका जा सकता जोश का पारा

यहीं से यह सब हुआ
जैसे अम्मा से बुआ।[1]

इसी प्रकार कवि टी० एस० इलियट के अन्धानुकरण पर व्यंग्य करता है :

कहीं का रोड़ा, कहीं का लिया पत्थर,
टी० एस० एलीयट ने जैसे दे मारा,
कहा, 'कैसा लिख दिया संसार सारा।'[2]

कुछ आगे चलकर कवि ने 'आधुनिक पोएट' को भी नहीं छोड़ा। वे नएपन के नाम पर फैली अव्यवस्था, परम्परा-विच्छेद और असम्बद्धता के समर्थक नहीं। इस प्रकार 'कुकुरमुत्ता' में कवि ने बहुविध व्यंग्य का उपयोग किया है। शैली में एकाध स्थल पर कटुता उत्पन्न हो गई है—एक स्थल पर आधुनिक कवि की उपमा दुम हिलाते टेरियर से दी गई है।

'नए पत्ते' में इसी शैली की छोटी कविताएँ संकलित हैं। जीवन की यथार्थ भूमि और जनवादी मूल्य इन कविताओं की आधार-भूमि है। मध्य और निम्न वर्ग के वास्तविक जीवन-चित्रों और संघर्षों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि होने के कारण इन कविताओं में व्यंग्य के साथ कारुणिकता भी उत्पन्न हो गई है। कवि ने यथार्थ जीवन की विषण्ण विद्रूपता को तीव्रता से अंकित किया है। उसके विभिन्न पहलुओं का अंकन कवि के निकट परिचय और पैनी निरीक्षण-दृष्टि का परिचायक है। कहीं यह व्यंग्य अत्यन्त मर्मस्पर्शी है, और अपनी यथार्थता में कारुणिक। संकलन की पहली कविता 'रानी और कानी' इस प्रकार की है। कहीं इनमें हलका हास्य है तथा कहीं अति यथार्थवादी अनगढ़ता—यथा 'खजोहरा' में। परन्तु अधिकांश कविताओं में सम-सामयिक सामाजिक और राजनैतिक दुरवस्था पर तीखे पैने व्यंग्य हैं। कवि ने अपने दाएँ-बाएँ, आगे-पीछे के विविध क्षेत्र इस कृति में व्यंग्य का आलम्बन बनाए हैं। 'मास्को डायलाग्स', 'थोड़े के पेट में बहुत को आना पड़ा', 'गर्म पकौड़ी', 'कुत्ता भौंकने लगा', 'झींगुर डटकर बोला' में क्रमशः समाजवादी नेता, पूंजीवाद के प्रभाव, नये विचारों और शासन के अत्याचार व किसान की दयनीय अवस्था पर व्यंग्य किया गया है। इसी प्रकार 'मँहगू मँहगा रहा' में राष्ट्रीय नेताओं और गांधीवादी नीति पर तीव्र व्यंग की बौछार है। इन अधिकांश कविताओं में निम्न-वर्ग के जीवन में व्याप्त सुख-दुख (दुख का ही अधिक) का निकट परिचय मिलता है और वे अपनी यथार्थता में अत्यन्त करुण और मर्मस्पर्शी हैं। प्रायः इन कविताओं में व्यंग्य तो ध्वनित है ही परन्तु वाच्य सर्वथा अनावृत और विकर्षक होने के कारण कहीं-कहीं कुत्सित हो गया है। उनके अन्तस् का विद्रोही, कलाकार की अपेक्षा अधिक सजग है। अतः वह तीखी चोट और सीधा अनावृत आक्षेप करता है, उसे कला के आवरण में लपेटकर परिष्कृत रूप में प्रस्तुत नहीं करता। इनमें भर्त्सना और तिरस्कार की कड़वाहट और तिलमिला देने वाले प्रहार की प्रखरता आ ही गई है।

'निराला' के अतिरिक्त पंत, 'अंचल' और भगवतीचरण वर्मा की कविताओं में भी व्यंग्य के छींटे मिलते हैं। परन्तु इतना तीखा, तिलमिलाने वाला और कारुणिक व्यंग इनकी

---

१. कुकुरमुत्ता—निराला, पृ० १०
२. वही, पृ० १०

कविताओं में नहीं मिलता। व्यंग इन सभी कवियों ने समाज में वर्ग-भेद की समस्या को लेकर किये हैं, अतः वस्तुरूप आधार-भूमि पर्याप्त स्पष्ट रही है। पन्त की व्यंग्य-गीतियों का स्तर अत्यन्त साधारण है। वस्तुतः इनके कवि की दृष्टि में उस समाज से पूर्ण तादात्म्य नहीं मिलता, जो उसके व्यंग का प्रेरक या लक्ष्य है। कवि ने समय की बदलती हवा को समझा है और विवेक-शील मन से इस परिवर्तनशील विचारधारा का प्रभाव-ग्रहण कर एक वर्ग से सहानुभूति और दूसरे के प्रति आक्रोश प्रकट किया है। परन्तु यह सहानुभूति बौद्धिक है आत्मानुभूत नहीं। 'निराला' के संघर्षरत जीवन में अनेक समानान्तर कष्ट उनकी आत्मानुभूति का विषय रहे हैं, अतः बाह्य जीवन से चोट खाया कवि का मन संघर्षरत वर्ग के प्रति संवेदना प्रकट करता है। उसके कष्टों में अपने कष्टों का साक्षात्कार कर, उसकी करुणा और आक्रोश उद्‌बुद्ध हो जाते हैं, अतः उनकी व्यंग्य-प्रधान कविताओं में हार्दिकता है, और पन्त की रचनाओं में बौद्धिक सहानुभूति। कवि ने इस भावतादात्म्य के अभाव को स्वयं स्वीकार किया है—"इनमें पाठकों को ग्रामीणों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है। ग्राम जीवन में मिलकर, उसके भीतर से, ये अवश्य नहीं लिखी गई हैं। ग्रामों की वर्तमान दशा में वैसा करना केवल प्रतिक्रियात्मक साहित्य को जन्म देना होता।"[1] सहानुभूति के बौद्धिक होने के कारण उनकी कला भी विवेक-संयत है। अतियथार्थवादी दृष्टि और अनावृत व्यंग पन्त की कविता में नहीं :

राम राम,
हे ग्राम देवता रूढ़िधाम !
तुम स्थिर, परिवर्तन रहित, कल्पवत् एक याम,
जीवन संघर्षण विरत, प्रगति पथ के विराम,
शिक्षक तुम, बस वर्षों से मैं सेवक, प्रणाम।
.....
तुम पुरुष पुरातन, देव सनातन पूर्ण काम,
जड़वत्, परिवर्तन शून्य, कल्प शत एक याम,
शिक्षक हो तुम, मैं शिष्य, तुम्हें शत शत प्रणाम।[2]

इन व्यंग्य गीतियों की शैली में भी उस ढंग का नयापन और अनगढ़ता नहीं है जैसी 'निराला' की व्यंग्य रचनाओं में। भगवतीचरण वर्मा और 'अंचल' ने भी कुछ व्यंग्य गीतियाँ लिखी हैं। उनकी शैली पन्त और 'निराला' की मध्यवर्तिनी है। न इनमें उतना संस्कार, भाषा का अलंकरण और वैभव है जितना पन्त की कविता में, और न 'निराला' का सा अनावृत यथार्थवादी दृष्टिकोण। पन्त की अपेक्षा उनमें प्रखरता है, और 'निराला' की अपेक्षा शैली-सज्जा।

कुछ सुन्दर व्यंग्य गीतियाँ नए कवियों ने भी लिखी हैं। इनकी संख्या बहुत नहीं, परन्तु जो हैं वे ऊँचे स्तर की हैं। न इनमें यथार्थ जनपदीय वातावरण व समस्याओं के चित्र हैं, और न

---

१. ग्राम्या—पन्त—निवेदन, पृष्ठ ३
२. वही, पृष्ठ ५७-६२

आक्रोश व तीव्रता। कवि के विचार और वास्तविकता, अर्थात् सिद्धान्त और व्यवहार में टक्कर और परिणामस्वरूप व्यवहार से सर्वथा असम्पृक्त, निरपेक्ष सिद्धान्त की व्यर्थता पर निखरा हुआ व्यंग, जिसमें हल्का-सा हास्य मिला रहता है, इस प्रकार की व्यंग्य गीति की रूपरेखा बनाता है—

खाना खाकर कमरे में बिस्तर पर लेटा
सोच रहा था मैं मन ही मन : 'हिटलर बेटा
बड़ा मूर्ख है, जो लड़ता है तुच्छ-क्षुद्र मिट्टी के कारण
क्षण भंगुर ही तो है रे ! यह सब वैभव-धन।
अन्त लगेगा हाथ न कुछ, दो दिन का मेला।
लिखूं एक खत, हो जा गांधी जी का चेला
वे तुमको बतलाएँगे आत्मा की सत्ता
होगी प्रकट अहिंसा की तब पूर्ण महत्ता।
कुछ भी तो है नहीं धरा दुनिया के अन्दर।
× × ×
छत पर से पत्नी चिल्लाई : 'दौड़ो बन्दर'।[1]

स्वतन्त्रता के उपरान्त—क्रान्ति के लिए उत्तेजना अथवा वर्ग-वैषम्य की भावना, पूंजीवाद आदि का विरोध उतना प्रखर नहीं रहा, अतः समाज के प्रति व्यंग्यात्मक कविता नहीं लिखी गई।

बौद्धिक कविता का दूसरा रूप विवेचन-विश्लेषण प्रधान है। इस कविता का अधिकांश इसी रूप में लिखा गया और इस प्रकार की रचना सभी काव्य-धाराओं के कवियों ने की। विवेचन इन्होंने आत्म और इदम—दोनों का किया है। जहाँ इदम की प्रधानता है वहाँ आंशिक रूप से वर्णनात्मकता भी आ गई है। जहाँ आत्म प्रधान है, वहाँ भाव और विचार दोनों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। नई कविता का वृहदांश इसी प्रकार का है। अन्य कवियों में भगवती चरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट, 'दिनकर', सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण राव आदि ने भी इसी प्रकार की सुन्दर कविताएँ लिखीं। इनमें से अधिकांश का सम्बन्ध कवि के अहम् से है। द्विवेदी-युग की कविता की भाँति इदम का, अर्थात् नैतिक आचार-व्यवहार से सम्बन्धित प्रश्नों का विवेचन और समाधान इनमें नहीं मिलता।

कहा जाता है कि छायावाद की अतिशय अन्तर्मुखी, सूक्ष्म और वायवी तथा मसृण कला की प्रतिक्रिया के रूप में नई कविता में जीवन के वस्तुगत, अनगढ़ मूर्त और यथार्थ रूप को महत्त्व दिया गया। परन्तु ये कवि आत्म की उपेक्षा करके भी नहीं चल सके, यही इनकी और द्विवेदी-युग की कविता के वस्तुपरक दृष्टिकोण में मूल अन्तर है। इन्होंने अपनी सभी कविताओं में वस्तु पर भावना का रंग नहीं चढ़ाया, परन्तु वस्तु का अंकन आत्मानुभूति के आधार पर किया और यह दृष्टि किसी प्रकार के आदर्श, नैतिक दृष्टिकोण या अन्य पूर्वाग्रह से आक्रान्त नहीं रही। इन्होंने वस्तु के प्रति आत्मानुभूति को यथावत् मूर्त और वस्तुगत उपादानों के माध्यम

---

१. तारसप्तक—भारतभूषण अग्रवाल, पृष्ठ ३६

से कविता में अनूदित करने का प्रयत्न किया है। अतः वस्तुगत मूल्यों की जितनी स्वीकृति ये कला और शिल्प के क्षेत्र में करते रहे, जितनी इनकी अप्रस्तुत-योजना, बिम्ब-विधान और अभिव्यक्ति इस मान्यता से प्रभावित रही, उतना इनका मूल दृष्टिकोण नहीं। इनमें और छायावाद के कवियों में अन्तर केवल इतना है कि इन्होंने एक ओर जीवन के अनगढ़ और विकर्षक, कठोर परन्तु यथार्थ रूप की ओर से आँखें बन्द नहीं कीं। दूसरे इन्होंने अपनी कविता के विषयों पर अपनी भावना का आरोपण नहीं किया। अन्यथा यह कहना कि इनका दृष्टिकोण बहिर्मुखी था, उचित नहीं होगा।

"नई कविता सबसे पहले एक नई मनःस्थिति का प्रतिबिम्ब है, एक नये 'मूड' का, एक नये राग-सम्बन्ध का।.....

.....नई कविता की मूल विशेषता है मानव और मानव-जाति का नया सम्बन्ध, और वह मानव-जाति और सृष्टि मात्र के सम्बन्ध के परिपार्श्व में।"[1]

स्पष्ट है, इस कविता में द्विवेदीयुगीन कविता की भाँति न केवल मानव-जाति प्रधान है, और न छायावाद के समान मानव, बल्कि इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध यह कविता अन्तर्मुखी दृष्टिकोण का बहिरंग प्रसार कही जा सकती है, छायावाद की भाँति आत्मकेन्द्रीकरण नहीं। इस रूप में यह कविता छायावाद का विकास और प्रसार कही जायगी—प्रतिक्रिया और विरोध नहीं। इनकी नवीनता शिल्प और कलागत अधिक है, जिसका विवेचन यथाप्रसंग किया जायगा।

विश्लेषण आत्म और इदम दोनों का हो सकता है। कवि जब इदम का विश्लेषण करता है तो विषय प्रायः भौतिक समस्या होती है, और आत्मा का विश्लेषण करता है तो भावना। विचारों का विश्लेषण जब होता है तो उनमें प्रतिपादन का स्वर आ जाता है। कभी-कभी कवि अनुभूति का विश्लेषण और विचार की व्यंजना करता है :

मैं चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है,
मैं चलता मेरे साथ नित्य ही दिन चलता है।
मैं श्वास छोड़ता चलता नव आशा स्वप्न संजोकर
विश्वास जोड़ता चलता जीवन में हास भिगोकर,
प्रत्येक चरण की गति में मेरा अस्तित्व सिमटता,
प्रत्येक चरण चलता है सुख दुख में प्राण पिरोकर।
मैं चलता मेरे साथ साथ मधुवन चलता है।[2]

उपर्युक्त कविता के मूल में विचार है। कवि जीवन में चलने को प्रगति मानता है। अनेक सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों, स्वप्नों और वास्तविकताओं और संघर्षों में भी जीवन की सार्थकता कर्मलीन रहने में ही है। कर्म ही, चिरप्रगतिशील जीवन में मधुवन की सृष्टि है। उक्त विचार को कवि ने अपनी अनुभूति की व्याख्या के द्वारा व्यंग्य बनाया है। इसी प्रकार

---

१. नये पत्ते--अंक जनवरी-फरवरी १९५३, अज्ञेय, पृ० १९-२१
२. कवि भारती—उदयशंकर भट्ट, पृ० ४८०

'दिनकर' की प्रसिद्ध कविता 'गीत अगीत कौन सुन्दर है' में तीन चित्रों का अंकन करके कवि ने प्रश्न उठाया है कि गीत और अगीत में से कौन अधिक सुन्दर है ? विचार वहाँ भी व्यंग्य है।

उपदेश की प्रवृत्ति का एकान्त अभाव इस युग की कविता में भी नहीं है। परन्तु इन कवियों का अधिकांश उपदेश, आदेश के रूप में वाच्य नहीं, सन्देश और प्रेरणा के रूप में व्यंग्य है। ये कवि कर्त्तव्याकर्त्तव्य का स्पष्ट निर्देश नहीं करते, वस्तुस्थिति का विवेचन करके उसमें अभीष्ट परिवर्तन की कामना और आवश्यकता की व्यंजना-मात्र करते हैं। कहीं-कहीं वर्तमान असन्तोषजनक स्थिति के प्रति आक्रोश के कारण आलोचनात्मकता का भी सहज समावेश हो गया है। मार्क्सवाद से प्रभावित—'दिनकर', नरेन्द्र, 'अंचल' आदि कवियों की अनेक कविताएँ इसी प्रकार की हैं। राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना और गांधीवाद की वाहक कविता में उद्‌बोधन तो है परन्तु आक्रोश, आलोचना, और उत्तेजना नहीं, बलिदान और उत्सर्ग की त्यागमय शान्ति व्याप्त है। ये कवि जागृति के समर्थक हैं, परन्तु अपने पाठक को क्रान्ति के लिए उत्तेजना नहीं प्रदान करते, बलिदान की स्फूर्ति और उत्साह का आलोक विकीर्ण करते हैं। इनमें सोहनलाल द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, नरेन्द्र और 'नवीन' की कुछ इनी-गिनी कविताएँ आती हैं। भगवती-चरण वर्मा और उदयशंकर भट्ट ने भी कुछ सुन्दर रचनाएँ कीं। इन कवियों ने किसी वाद के पक्ष-विपक्ष में समर्थन और खंडन की प्रवृत्ति न अपनाकर, कुछ सामान्य जीवनगत मानवीय सत्यों का प्रतिपादन किया है। दया और भावना मानव मात्र का गुण है। इसके समर्थन में कवि ने अपना मत व्यक्त किया :

मिली तुम्हें न यदि दया, मिली तुम्हें न भावना,
विनाश है मनुष्य तब समस्त ज्ञान-साधना !
विनाश तर्क-बुद्धि सब,
विनाश अध्ययन मनन।
विनाश सृष्टि पर विलाप,
विनाश तत्त्व का दमन,
अबाध बल अधीर गति,
अलक्ष निज समर्थता,
लिये मनुष्य कर रहा
विनाश का सृजन महा।[1]

उदयशंकर भट्ट की संदेश-प्रधान कविताएँ आत्मरस में अधिक भीगी हैं। उनमें आलोचना की धार तो है ही नहीं, कवि के आत्मरस में भीगी होने के कारण प्रगाढ़ अनुभूति है। अतः भावावेग की दीप्ति और ओज इनमें उत्पन्न हो गया है। आत्मानुभूत संदेश इन रचनाओं का प्राण है :

जीवन बिखर रहा पल-पल में, प्राण प्राण में, रोम रोम में,
जीवन निखर रहा पृथ्वी पर, जल में, थल में, व्योम व्योम में,

---

१. कवि-भारती—भगवतीचरण वर्मा, पृ० ४३५

उसे प्राण दो, उसे त्राण दो, रक्त पिपासा युद्ध विकृति है,
इसे मान दो, शुद्ध ज्ञान दो, जीवन ही निःशेष प्रकृति है,
जीने को यह लोक बना है, मरने को परलोक बना है,
तिमिर-हरण के लिए धरा पर रवि-शशि का आलोक बना है,
कलुषित है इतिहास तुम्हारा, कितना और प्रमाण चाहिए,
रक्त-लिप्त, विष दग्ध, धरा को नव-जीवन, नव-प्राण चाहिए ?[1]

नई कविता के अनेक कवियों पर मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव और कला की दृष्टि से नवीनता का आग्रह था। अतः समाज में व्याप्त वैषम्य, अव्यवस्था और विभिन्न विभीषिकाओं के प्रति इनके मन का क्षोभ और परिवर्तन की कामना—कहीं आलोचना और कहीं निर्देश के रूप में अभिव्यक्त होती है। वे एक ओर वर्तमान वस्तुस्थिति से असन्तुष्ट हैं :

बीसवीं सदी ने हमें क्या दिया ?
मोटर, रेल, विमान, क्रान्तियाँ···
यह बेतार, सवाक् चित्रपट
कागज-मुद्रा आर्थिक संकट
गति अतिशयता, वेगातुरता·····
कहीं प्रपीड़न, कहीं प्रचुरता।[2]

इस प्रकार कवि का विचार-क्रम बहुत दूर तक चलता गया है। एक पंक्ति में वह इस वैज्ञानिक युग और सभ्यता की उपलब्धियों और प्राप्त सुविधाओं का वर्णन करता है और दूसरी पंक्ति में तद्जन्य महत्तर विषमताओं और कष्टों की ओर संकेत करता है। इस संघर्षलीन मानव-जाति के प्रति कलाकार के उत्तरदायित्व का भी उसे ज्ञान है, परन्तु उसका कर्त्तव्यादेश अधिक कलात्मक ढंग से व्यंजित है, वाच्य नहीं। कवि स्वयं कलाकार है, अतः वह अपने बोध-विश्लेषण के रूप में वर्ग के कर्त्तव्य का संकेत करता है :

कवि गाता है—
संक्रांति काल का कलाकार कवि गाता है,
.....
व्याकुल मानवता की संस्कृति की रक्षा का
उसके ऊपर आज भार है
भूत-भविष्यत्-वर्तमान को देख रहा वह आर-पार है।
वह ईश्वर है,
वह ज्ञाता है
दानवता से रौंदे जाते मनुष्यत्व का प्रतिनिधि है
वह कलाकार जो गाता है,

---

१. कवि भारती—उदयशंकर भट्ट, पृष्ठ ४८०
२. तार-सप्तक—प्रभाकर माचवे, पृष्ठ ५९

जो केवल गाता है—।[1]

भारतभूषण अग्रवाल की 'अपने कवि से' कविता भी इस प्रकार की है। नई कविता में विचार-विश्लेषण कहीं-कहीं अतिशय बौद्धिकता के कारण बोझिल हो गया है। इस प्रकार की रचनाओं का प्रभाव रागात्मक नहीं होता, उन्हें पढ़कर किसी प्रकार की अनुभूति, हार्दिक प्रतिक्रिया नहीं होती, बौद्धिक प्रभाव पड़ता है। कहीं विचार-क्रम में तारतम्य और ऋजु गति नहीं, अतः ऐसी स्थिति में पाठक को अपने विवेक की सहायता से अर्थ-ग्रहण कर उसके मूल में निहित अभिप्राय को समझना पड़ता है। तत्काल संवेदना जाग्रत करने का गुण इन कविताओं में नहीं है। कहीं-कहीं इनके बिम्ब-विधान में प्रस्तुत-अप्रस्तुत का पारस्परिक सम्बन्ध, और प्रयोग का औचित्य स्पष्ट नहीं हो पाता। गजानन मुक्तिबोध की 'सृजन-क्षण' की व्याख्या देखिए :

मैं हूँ नन्ह धूलि के कण-सा,
मैं अजस्र पृथ्वी के मन-सा,
घन मृत्कण में सृजन-क्षण में,
मलिनों में रह असि बिन्दु हूँ,
जीवन की सौन्दर्य शान्ति में
नभोविहारी शरद-इन्दु हूँ।
शुभ्रारुण किरणों से बिम्बित
रजत-नील सर उत्कट उज्ज्वल।
जिसमें अनलोर्मिल अनिलोर्मिल
कमल खिल रहे हैं वे रक्तोत्पल।
मनोमूर्ति यह चिर प्रतीक है
ध्येय धृष्ट उर की ज्वालामय।
मेरी प्रज्ञा का सृजन-क्षण
ऐसा ऊष्ण शुभंकर तन्मय।[2]

मुक्तिबोध के अधिकांश आत्मविश्लेषण इसी शैली में किये गए हैं।

पद्य-संवाद

निबद्ध मुक्तकों की एक शैली जिसका अन्तर्भाव पूर्व कथित किसी भेद के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता, संवाद-रूप में काव्य-रचना की शैली है। प्रश्न हो सकता है कि इस प्रकार की रचनाओं का उल्लेख और विवेचन चतुर्थ अध्याय में अन्य नाटक-विधाओं के साथ क्यों नहीं किया गया? उत्तर होगा कि इन कविताओं में नाट्य-तत्त्व नहीं, काव्य-तत्त्व प्रधान है। जहाँ इनका मूल रूप काव्यात्मक और संवाद इनकी शैली है, वहाँ अन्य नाट्य-विधाओं में नाट्य-तत्त्व उनका प्राण और पद्य उनका माध्यम है। प्राण-रूप में वर्तमान नाट्य-तत्त्व से यहां अभि-

---

१. तारसप्तक, पहला—नेमिचन्द जैन, पृष्ठ २५
२. वही—गजानन मुक्तिबोध, पृष्ठ १८

प्राय संघर्ष-विधान से है। किसी प्रकार की द्वन्द्वात्मक परिस्थिति नाटक का अनिवार्य अनुबन्ध है। यह द्वन्द्व स्थूल घटनाओं का, सूक्ष्म भावनाओं का अथवा विचारों का हो सकता है, परन्तु क्षेत्र चाहे जो हो संघर्ष का विधान नाटच-विधाओं के लिए अनिवार्य है। इस संघर्षमय स्थिति की शैलीगत विशेषता, समाख्यान के स्थान पर कथोपकथन-शैली में प्रत्यक्ष चित्रण है। अतः नाटक की आत्मा है—संघर्षमय स्थिति का विधान और संवाद-शैली उसका बाह्य है। सामान्यतः नाटक का माध्यम गद्य होता है, परन्तु पद्य में नाटक-रचना निषिद्ध नहीं। इन पद्य-संवादों में नाटच-विधाओं से अन्तर यह है कि इनका प्राण-तत्त्व रूपकात्मक नहीं है। इनमें किसी प्रकार की द्वन्द्वमय परिस्थिति का विधान नहीं किया गया, केवल इनकी शैली में संवाद-योजना के रूप में नाटच-तत्त्व का उपयोग मिलता है। इनकी आत्मा किसी भी ऐसी निबद्ध कविता के सदृश है, जिसमें कोई भाव या विचार प्रेष्य है, केवल अधिक प्रभावात्मकता अथवा रोचकता उत्पन्न करने के लिए कवि संवाद-शैली का अवलम्बन लेता है।

अपने मूल रूप में इस विधा का सम्बन्ध उपलब्ध प्राचीनतम भारतीय साहित्य से जोड़ा जा सकता है। प्रबन्ध के बीच में तो दो पात्रों के मध्य कथा कहने-सुनने की पद्धति समग्र भारतीय साहित्य में प्रचलित रही, परन्तु घटना-विहीन विचार-प्रतिपादन के लिए भी संवाद-शैली का प्रयोग पुराण और उपनिषदों में प्राप्य है। परन्तु आधुनिक कविता में लिखे गए संवादों का स्वरूप इनसे बहुत भिन्न है।

द्विवेदी-युग की कविता में जो कुछ संवाद लिखे गए उनमें शैलीगत नवीनता नहीं है। इनका प्रणयन संस्कृत-साहित्य में विचार-विमर्श के लिए रचित विभिन्न संवादों के ढंग पर किया गया है। रम्भा-शुक-संवाद विशेष रूप से इन कवियों को प्रिय रहा। किन्तु इन संवादों में नाटच-तत्त्व सहज उद्भूत नहीं, आरोपित है। भ्रमरगीत-प्रसंग की भाँति इनमें कथा का विन्यास अथवा वाग्वैदग्ध्य भी नहीं। केवल किसी साधारण विचार का प्रतिपादन समाख्यान शैली में न करके कवि दो व्यक्तियों के बीच संवाद-योजना के द्वारा करता है। यही इनमें शैली सम्बन्धी विशेषता है। इसके अतिरिक्त नाटच-तत्त्व इनकी आत्मा से उद्भूत नहीं होता।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने स्पष्ट रूप से कहा कि वे 'शुक-रम्भा' के 'विदित शब्द-संग्राम' की 'बानगी' सुना रहे हैं, और तदुपरान्त विविध वर्णिक छन्दों में कवि यह बानगी कुछ दूर तक सुनाता गया। लाला भगवानदीन ने भी 'शुक-रम्भा' संवाद की रचना की। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इसी शैली में तत्कालीन विविध समस्याओं को इन संवादों में स्थान दिया। इन संवादों के मूल में कोई विचार या उपदेश निहित रहता है। द्विवेदीजी ने 'शहर और गाँव' के अन्तर को दोनों के बीच संवाद-रूप में प्रस्तुत किया :

शहर गाँव से बोला भाई।
मुझको तुझ पर मिली बड़ाई।
मुझसे सबको बहुत नफा है।
तुझसे तो हर शख्स ख़फा है।[1]

---

१. द्विवेदी काव्यमाला—सं० देवीदत्त शुक्ल, पृ० ४०१

इसी प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए बलिदान की आवश्यकता का प्रतिपादन भी कवि और स्वतन्त्रता के बीच संवाद में व्यंग्य है प्रत्यक्ष उपदिष्ट नहीं। इस प्रकार संवाद-विधान से इन कविताओं में रोचकता उत्पन्न हो गई है :

कवि—हे स्वतन्त्रते ! जन्म तुम्हारा
कहाँ ? बता यह प्रश्न हमारा।
स्वतन्त्रता—शूर देश-हित तजते जहाँ
प्राण, जन्म मेरा है वहाँ।[1]

संवाद-योजना के लिए कवि ने जड़ में चेतना का आरोप और अमूर्त का मूर्तिकरण किया है। इन संवादों की शैली अत्यन्त सामान्य, इतिवृत्तात्मक और सहज बोधगम्य है। संवादों में विशेष प्रखरता, तर्क, युक्ति व नाटकीय सजीवता नहीं मिलती।

द्विवेदी-युग के उपरान्त स्वतन्त्र रूप में संवाद-शैली में काव्य-रचना बहुत समय तक नहीं हुई। संवादों का प्रयोग या तो नाट्य-विधाओं के अन्तर्गत किया गया, अथवा प्रबन्धों की समाख्यान शैली में अंग-रूप से। छायावादी काव्य का आधार वायवी, अमूर्त, सूक्ष्म और रम्य है, तथा नाट्य शैली की प्रत्यक्षता, द्वन्द्वात्मक वस्तु-योजना तथा संवादों की तीव्रता इस काव्य-धारा की एकान्त गीतिमय चेतना के अनुकूल नहीं बैठती, अतः इस काव्य-धारा में लिखी गई कविताओं में नाट्य-शैली का प्रयोग नहीं हुआ। छायावादोत्तर काव्य या नई कविता में एक बार मूर्त्त, वस्तुगत मूल्यों के महत्त्व-वर्द्धन और प्रतिष्ठा के साथ, कविता में नाट्य-शैली का प्रयोग बढ़ चला, और अधिक कलात्मक ढंग से। ये नए कवि विषय को अधिक रोचक बनाने के लिए केवल साधन-रूप में संवाद का प्रयोग नहीं करते, अभिव्यंजना-सम्बन्धी नवीनता के आग्रह के कारण नाट्य-शैली में अपनी विषयवस्तु को ढालते हैं। इस प्रकार यह शैलीगत नवीनता इनका साधन नहीं साध्य है। विषयों में वैविध्य के साथ अभिव्यंजना में भी वैविध्य की ये कवि आवश्यकता समझते हैं। गजानन मुक्तिबोध ने अपने नाट्यगुण-समन्वित प्रयोगों के लिए ऐसा स्वीकार भी किया है—"जीवन के इस वैविध्यमय विकास-स्रोत को देखने के लिए इन भिन्न-भिन्न काव्य-रूपों को, यहाँ तक कि नाट्य तत्त्व को, कविता में स्थान देने की आवश्यकता है। मैं चाहता हूँ कि इसी दिशा में मेरे प्रयोग हों।"[2]

उपर्युक्त वक्तव्य के अनुकूल मुक्तिबोध ने कुछ प्रयोग किये। परन्तु इन संवादों का स्वरूप पूर्ववर्ती प्रयोगों से सर्वथा भिन्न है। यदि कहा जाय कि दोनों में कोई समानता ही नहीं है, तो अधिक उचित होगा। कवि अन्तर्मन के अमूर्त विषयों को लेकर एकाधिक पक्ष की उक्तियों के रूप में उनका चित्रण करता है। इनमें सदैव दो मूर्त पात्र नहीं होते, इस प्रयोजन के लिए अमूर्त के मानवीकरण का प्रयत्न भी नहीं किया जाता। वास्तव में कभी-कभी इन दो पक्षों के बीच संवाद में प्रश्न और उत्तर अथवा तर्क-वितर्क या वक्ता-श्रोता का सम्बन्ध ही नहीं होता। कभी अन्तः के दो भागों का—चेतन और अवचेतन, अनुभूति और विचार या भाव और विवेक

---

१. द्विवेदी-काव्यमाला, पृष्ठ ४२०
२. तारसप्तक—गजानन मुक्तिबोध, पृष्ठ ११

का एक-दूसरे के संदर्भ में चित्रण या अन्तर प्रस्तुत किया जाता है। अतएव सदा द्वन्द्वमय स्थिति की उद्भावना यहाँ भी नहीं की जाती। अपने विषय के रूप में इन्होंने अन्तर्मन के सूक्ष्म स्तरों का चयन किया है, भौतिक जीवन के स्थूल वस्तुगत क्षेत्र का नहीं। इस प्रकार इन्होंने अन्तः का विश्लेषण नाट्य-शैली में प्रस्तुत किया। गजानन मुक्तिबोध द्वारा रचित इस प्रकार के एक 'आत्म-संवाद' की कुछ पंक्तियाँ हैं :

आज छन्दों में उमड़ती आ रही है बात
जो कि सादे गद्य में खुलती रही
जो कि साधारण सड़क चलती रही
आज छाती में घुमड़ती आ रही है बात
रास्ता है, पैर हैं, और धैर्य चलता जा रहा है
(किन्तु उर में क्यों उदासी शापसी
प्रत्येक चेहरे पर लिपी जो राख सी)[1]

उक्त कविता की नाट्यता या संवादमयता में पाठक को शंका न हो इसलिए कवि ने पहले ही स्पष्टीकरण में कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं—"यह एक नाटकीय आत्म संवाद है जिसमें प्रकाश में बोलने के वाक्य ब्रेकेट में नहीं है। जो ब्रेकेट में है वे यथार्थ आत्मस्वीकृतियाँ हैं और जो उसके बाहर हैं वे उसके यथार्थ (rationalizations) हैं।"[2]

'अज्ञेय' ने भी अपनी अन्तरात्मा का तर्क-वितर्क 'प्रश्नोत्तर' शीर्षक में व्यक्त किया है।[3] धर्मवीर भारती ने 'देह की आवाज़' में मन और शरीर के बीच संवाद-योजना की है। इस संवाद में पात्र प्रत्यक्ष हैं, कवि ने देह और मन पर चेतना का आरोप करके, पात्रों के रूप में कथोपकथन का विधान किया है। यह शैली द्विवेदी-युग के संवादों के समान है, परन्तु अभिव्यंजना कहीं अधिक कलात्मक है :

मन ने शरीर से पूछा
क्यों है इतना आकर्षण
रसमय चुंबकमय कसी देह का
चिकने मांसल तन का
उस नोकीली रंगीन नज़र का
.....
अब तक जो चुप थी देह,
ज़रा मुसकाई
अनगिन वसन्त की
रंग-गंध उठ आई

---

१. तारसप्तक, पृष्ठ १९
२. वही—गजानन मुक्तिबोध, पृष्ठ १९
३. इत्यलम—अज्ञेय, पृ० २९

ऐसी मुसकान कि जैसे
चाँदनी छाई[1]

अन्य नाट्य-विधाओं की भाँति संख्या में ये पद्य-संवाद भी बहुत कम लिखे गए। जैसा पहले भी कहा जा चुका है, इनमें किसी सघन द्वन्द्वात्मक परिस्थिति का विधान नहीं किया गया, इनमें प्रयुक्त नाट्य-तत्त्व, केवल उत्तर-प्रत्युत्तर-क्रम, व कथोपकथन तक ही सीमित है।

अभिव्यंजना-शैली

आधुनिक युग की निबद्ध-मुक्तक रचनाओं और अनिबद्ध मुक्तकों में शैलीगत अन्तर उन्हीं विधाओं में मिलता है, जो किसी कारणवश स्फुट मुक्तकों में नहीं प्राप्त होतीं, अन्यथा कुछ विधाएँ जिनमें अन्तर केवल एक छन्दोबद्ध और एकाधिक छन्दोबद्ध होने के कारण है, लगभग समान शैली में लिखी गईं। उनकी अप्रस्तुत-योजना, अलंकार-विधान, भाषा, चित्रात्मकता, गुण, शब्द-शक्ति, सभी में समानता है। अतः जो निबद्ध कविताएँ शैली की दृष्टि से समानान्तर मुक्तक विधाओं के समान हैं, उनकी शैलीगत विशेषताओं की ओर संक्षप में संकेत करते हुए, विस्तार केवल उन्हीं विधाओं की अभिव्यंजनागत विशेषताओं का किया जायगा जो प्रयोग की दष्टि से नवीन हैं, और जिनकी समानान्तर रचनाएँ अनिबद्ध मुक्तक रचनाओं में नहीं मिलतीं।

विवेच्य साहित्य का आरम्भ द्विवेदीयुगीन काव्य से होता है। इस युग के आरम्भ में एक धारा तो उन कविताओं की थी जिनमें विषय और अभिव्यंजना दोनों ही दृष्टियों से प्राचीन परम्परा का पालन मिलता है, तथा दूसरी धारा उन निबद्ध मुक्तकों की है जिनमें नवीन चेतना, वस्तुगत व नैतिक आचार-व्यवहार सम्बन्धी मूल्यों की स्वीकृति के साथ नई भाषा में, नए ढंग की इतिवृत्तात्मक शैली का प्रयोग किया गया। विवेच्य काव्य में, प्रयोग की दृष्टि से उपलब्ध शैलियों में कालक्रमानुसार पहला स्थान इसी शैली का है। अतः इसी के विवेचन से विषयारम्भ करते हैं।

इतिवृत्तात्मक-शैली—का विवेचन अनिबद्ध मुक्तक रचना के प्रसंग में पिछले अध्याय में किया जा चुका है। द्विवेदी-युग की आरम्भिक निबद्ध कविताएँ, वस्तुतः अधिकांश काव्य, इसी शैली में लिखा गया। इस शैली की प्रमुख विशेषता है—अर्थ की अति प्रकाशित स्थिति और प्रसादमयता। कहीं-कहीं व्यंग, आलोचना, और फटकार के लिए चमत्कारकारिणी कवि-कल्पनाओं का प्रयोग किया भी गया है, परन्तु प्रसादमयता वहाँ भी व्याप्त है। इस युग की अधिकांश आरम्भिक कविता में इसी शैली का प्रयोग हुआ जिसका सबल कारण, परम्परागत काव्य-भाषाओं—ब्रज और अवधी से सम्बन्ध-विच्छेद कर नए माध्यम-निर्माण की साधना थी। खड़ीबोली अपनी शैशवावस्था में अशक्त माध्यम सिद्ध हुई और कलात्मक-सौन्दर्य की साधक न बन सकी। फिर भी स्फुट मुक्तकों में इस अपरिपक्व माध्यम से गागर में सागर भरने का कार्य जितना दुष्कर था, उतना निबद्ध कविताओं में विस्तृत इतिवृत्त-वर्णन का नहीं। अतः कहीं-कहीं इन निबद्ध मुक्तकों में आंशिक रूप से भाव-सौन्दर्य और रमणीयता आ गई है, परन्तु

---

१. धूप के धान—गिरिजाकुमार माथुर, पृ० १०३-१०४

ऐसे स्थल बहुत कम हैं। स्पष्टता तथा अर्थप्रकाशजन्य प्रसन्नता इस शैली में सर्वत्र व्याप्त है। शैली में प्रसन्नता की यह अतिशयता अनेक स्थलों पर नीरसता का कारण बन गई है। यह विशेषता द्विवेदी-युग की आरम्भिक कविताओं में विशेष रूप से मिलती है। इस कविता के वर्णन, उपदेश, आलोचना, व्यंग सभी इसी शैली में रचित हैं।

सर्वत्र इतिवृत्त शैली की वाच्यप्रधान कविता नीरस और अनाकर्षक नहीं। जहाँ ये कवि अपने विषयों के प्रति दृश्य-दर्शक सम्बन्ध की रक्षा करते हुए तटस्थ द्रष्टा के समान वर्णन करते रहे हैं, वहाँ राग-तत्त्व क्षीण, और केवल निरीक्षण के आधार पर काव्य-रचना होने के कारण उसमें मधुरिमा नहीं आ सकी। परन्तु जहाँ इन्होंने विषय से तादात्म्य स्थापित करके, भले ही स्पष्ट और प्रसन्न शैली में भावाभिव्यक्ति की है, वहाँ इनकी शैली में रम्यता और सरसता आ गई है। इस प्रकार के उदाहरण रामचन्द्र शुक्ल, रामनरेश त्रिपाठी, श्रीधर पाठक तथा नाथूराम शंकर आदि कवियों की कविताओं में मिल जायँगे। इतिवृत्तात्मक शैली और सरसता व माधुर्य में परस्पर कोई विरोध नहीं है, परन्तु इस शैली में कलागत चमत्कार नहीं मिलता।

द्विवेदी-युग के द्वितीय दशाब्द से ही काव्य में भाषा के विकास के साथ-साथ शैली में भी परिवर्तन और विकास लक्षित होने लगा था। इस काल में लिखी गई 'निराला', पन्त आदि कवियों की रचनाएँ अपनी नवीनता के कारण ही आलोचना का विषय बनती रहीं, और फिर छायावाद के उन्मेष के उपरान्त तो इतिवृत्त शैली का काव्य-रचना के क्षेत्र से बहिष्कार ही हो गया। इस शैली का पुनरुद्धार एक बार फिर छायावाद की प्रतिक्रिया-स्वरूप उदित होने वाली कविता की नवीन धाराओं में मिलता है। इनमें भी समाजवादी चिन्ताधारा की पोषक एवं राष्ट्रीय भावनाओं की व्यंजक कविता में विशेष रूप से इस शैली को स्थान मिला। परन्तु इस बार इसका रूप सर्वथा भिन्न था। इन कवियों ने यथार्थवादी दृष्टिकोण से इतिवृत्त वर्णन इसलिये किये क्योंकि तत्कालीन सामाजिक विकृतियों का यथातथ्य चित्रण कर पाठक के सामने लाना समय की आवश्यकता थी। इसी प्रकार राजनैतिक अव्यवस्था और अत्याचार का चित्रण कर भारतवासियों को विद्रोह के लिए प्रेरित करना उस युग की माँग थी। अतः इन कविताओं में इतिवृत्त-वर्णन इसलिए नहीं किया जाता कि इन कवियों के पास समर्थ भाषा और शैली का अभाव है, अथवा इनके पास संवेदनशील और विषय से तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ मनोवृत्तियाँ नहीं, बल्कि इसलिए किया जाता है कि ये कवि आत्मा की अपेक्षा समाज और जाति को महत्ता देते हैं। समाज और देश के दुःख-सुख से पीड़ित और प्रसन्न होते हैं, और अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों का आत्म के वृत्त से बाहर विस्तार कर, जगत् से बाँटकर भोगना चाहते हैं। इसलिये इनके इतिवृत्त-वर्णन का स्वरूप द्विवेदी-युग की कविता से सर्वथा भिन्न है। इनमें विषय से तादात्म्य स्थापित कर, अथवा आन्तरिक प्रेरणा से यथार्थ वर्णन किये गए हैं। इन वर्णनों के मूल में निश्चित विचारधारा और जीवन-दर्शन का आधार विद्यमान है। परिणामतः यह कविता अपनी यथार्थता, वर्णनात्मकता, और इतिवृत्तात्मकता में भी मर्मस्पर्शी और कलात्मक है।

प्रगतिवादी काव्य की एक विशेषता भाषा का व्यवहारसम्मत प्रयोग है। ये कवि सायास

भाषा का अलंकरण नहीं करते, उसमें लाक्षणिकता, व्यंजनात्मकता, प्रतीकात्मकता, सन्धि-समास-युक्त बोझिल शब्दावली और अत्यधिक तत्सम-प्रधानता से बरबस उसे व्यवहार से दूर और अपरिचित नहीं बनाते, अतः भाषा की सहज व्यावहारिकता से इनकी कविता में एक सहज आकर्षण उत्पन्न हो गया है। एक विशेषता जो इनकी भाषा में द्विवेदीयुगीन भाषा से अन्तर प्रस्तुत करती है—भाषा में लय के संगीत का समावेश है। द्विवेदी-युग की आरम्भिक रचनाओं तक ब्रजभाषा का माधुर्य तो सर्वसम्मति से स्वीकृत था, परन्तु खड़ीबोली के काव्यात्मक प्रयोग की समस्त सम्भावनाएँ सामने नहीं आई थीं। इस युग का कवि-समुदाय, इस क्षेत्र में लेखनी आजमा रहा था, उसकी अवस्था साधक की थी, साधना पूर्ण होनी बाकी थी। इसके अतिरिक्त द्विवेदीजी के भाषा-शुद्धि के प्रयत्नों के कारण ये कवि भाषा का स्वच्छन्दतापूर्वक मन-चाहा प्रयोग भी नहीं कर सके, केवल कुछ दूर तक उर्दू का प्रभाव इनके काव्य पर पड़ा। परन्तु प्रगतिवादी कवि की शब्दावली का चयन अधिक उदारतापूर्वक दूर-दूर से किया गया है। उन्होंने व्यवहार की भाषा से, विदेशी भाषाओं से, लोक-जीवन से और विशेष विचारधाराओं की पारिभाषिक शब्दावली से, अपने शब्द-कोष का निर्माण किया है। इस दिशा में किसी प्रकार का बाधा-बन्धन उनके सामने नहीं रहा। इन कवियों ने संस्कृतज्ञता का मोह नहीं दिखाया, अतः इनकी शैली में व्यावहारिक भाषा का सहज सौन्दर्य और शक्ति दोनों ही वर्तमान हैं।

उपर्युक्त शैली का परवर्ती काव्य में प्रयोग 'निराला' की पिछली रचनाओं में, तथा पन्त की 'ग्राम्या' के कुछ वर्णनों में मिलता है। 'दिनकर', नरेन्द्र शर्मा, 'अंचल', माखनलाल चतुर्वेदी, 'नवीन' आदि के अनेक वर्णन इसी शैली में किये गए हैं। परन्तु इन सभी कवियों ने भाषा की व्यावहारिकता, उसकी संगीतात्मकता (लय और स्वर) गति, और विषयानुकूलता का विशेष स्मरण रखा है। कहीं-कहीं इनके वर्णनों में अत्यधिक स्थूलता आ गई है, परन्तु इसका कारण असमर्थ शैली नहीं है, बल्कि जीवन की यथार्थता और अनगढ़ता को यथावत् शब्दान्तरित करने का आग्रह है। सौन्दर्य के चितेरे कवि 'पन्त' की तूलिका से इस शैली का चित्र भी देखिये :

जाती ग्राम वधू पति के घर !
माँ से मिल, गोदी पर सिर धर,
गा गा बिटिया रोती जी भर,
जन-जन का मन करुणा आतुर,
जाती ग्राम वधू पति के घर[1]

इस प्रकार के वर्णन पन्त की लेखनी से कम हुए हैं। उनकी सौन्दर्य-प्रेमी नागर दृष्टि अनगढ़ सौन्दर्य में भी अप्रस्तुत-चयन के रूप में मरकत और मखमल का अनुसन्धान कर लेती है, तथा गति को शब्दबद्ध कर कविता में नादगुण की शत-शत झंकारें उत्पन्न करती है। 'दिनकर' आदि की इस प्रकार की कविता के मूल में व्यक्त ओजमय भावना से दीप्ति और प्रभावात्मकता उत्पन्न हो जाती है। कहीं-कहीं आद्यन्त निरलंकार वर्णन करने पर भी उसमें व्यक्त अनुभूति की सत्यता, उसकी निरावरण अभिव्यक्ति, और लय के संगीत का निर्वाह कविता में आकर्षण

---

१. ग्राम्या—पन्त, पृ० ३३

उत्पन्न कर देता है :

श्वानों को मिलते दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
मां की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं,
युवती के लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाए जाते हैं,
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं,
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमन्त्रण।[1]

नरेन्द्र शर्मा ने अवश्य कुछ इतिवृत्त-वर्णन और उपदेश-दान द्विवेदी-युग की ही शैली में किया है, परन्तु ऐसे वर्णनों की संख्या उनके काव्य में भी कम है। समाजवाद के प्रभाव और गांधीजी के निधन से प्रेरित उनकी कुछ रचनाओं में यह विशेषता आ गई है। सामान्यतः उनकी शैली प्रगीत तथा गीत-रचना की भाव-समृद्ध आत्मनिरूपिणी शैली है, जिसमें इस प्रकार की तटस्थ वर्णनात्मकता का स्थान नहीं होता।

'निराला' ने जो यथार्थ-वर्णन अपनी 'नए-पत्ते' में संकलित कविताओं में किये, उनकी इतिवृत्तात्मकता के मध्य या अन्त में कहीं-न-कहीं बर्र के डंक के समान व्यंग का दंश विद्यमान है जो सम्पूर्ण कविता को उसकी इतिवृत्तात्मकता में भी वक्रता प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त उनकी शैली में इतिवृत्त-वर्णन नाटकीय शैली में किया गया है। मुक्त छन्द की भाव-लय के आधार पर नियमित गति इन कविताओं को और भी गति-वैचित्र्य प्रदान करती रही है। 'निराला' की प्रसिद्ध कविताएँ 'गर्म पकौड़ी' और 'रानी और कानी' आदि इसी शैली में लिखी गई हैं।

चमत्कारप्रधान वर्णन-शैली—इतिवृत्त वर्णन-शैली के साथ ही द्विवेदी-युग से ही जिस दूसरी शैली का प्रचार और व्यापक प्रयोग हुआ वह शैली भी वर्णनात्मक थी, परन्तु उसमें इतिवृत्त-वर्णन के स्थान पर सौन्दर्य-चेतना और अलंकरण व अन्य कल्पनाजन्य साधनों द्वारा चमत्कृत वर्णनों का आग्रह बढ़ा। इस शैली के मूल, रीतिकालीन वर्णन-पद्धति में पहले से वर्तमान थे, अतः कुछ वर्णन तो इसी परम्परासिद्ध चमत्कारप्रधान शैली में किये गए, परन्तु बाद में पन्त और 'निराला' के हाथों इसका रूप-परिवर्तन हुआ। यह बात द्विवेदी-युग की ही है। क्योंकि ये दोनों कवि इसी युग में क्रमशः प्रबन्ध काव्य 'ग्रन्थि' और निबद्ध कविता 'जुही की कली' की रचना कर चुके थे।

रीतिबद्ध चमत्कारप्रधान शैली की परम्परा में रचना करने वाले कवियों में नाथूराम शर्मा 'शंकर' के नखशिख-वर्णन, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की कुछ कविताएँ तथा प्रसाद की रचनाएँ आती हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी इस दिशा में बीसवीं शताब्दी के पहले ही लेखनी चलाकर उसके गुण-दोषों से परिचित हो चुके थे, और नवीन शती के आरम्भ के साथ उन्होंने अपना मत नई भाषा, नए छन्द और नई शैली के पक्ष में देना आरम्भ कर दिया था। इस युग के अन्य कवियों में कुछ तो परम्परा-विच्छेद कर नवीन काव्य-चेतना और शैली का आह्वान कर रहे थे यथा श्रीधर पाठक, मुकुटधर पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल, प्रसाद आदि, और

---

१. हुंकार—दिनकर, पृ० ७३

कुछ ने काव्यरचनारम्भ ही नवीन शैली के अग्रदूतों के रूप में किया यथा 'निराला' और पन्त। कुछ कवि प्राचीन रीति शैली से तो सम्बन्ध-विच्छेद कर चुके थे परन्तु शैलीगत नवीनता के नाम पर नीति-उपदेश और वर्णनों के लिए इतिवृत्त-वर्णन की पद्धति को अंगीकार कर चुके थे। इन कवियों में रूपनारायण पाण्डेय, स्वयं द्विवेदीजी, मैथिलीशरण गुप्त की कुछ कविताओं, 'सनेही', नाथूराम 'शंकर', 'पूर्ण' आदि की कुछ रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है।

वर्णन में चमत्कार का आश्रय दो रूपों में लिया जा सकता है—केवल अलंकार-योजना, वर्णन-शैली आदि पर आधृत उक्ति-चमत्कार तथा भाव-चमत्कार से स्वतः उद्भूत अभिव्यंजना-चमत्कार। यहाँ हमारा अभिप्राय भाव-प्रेरित उक्ति-वैचित्र्य से है। इस प्रकार शैली की विशिष्ट भंगिमा भाव की नवीनता और वक्रता से उत्पन्न होती है। भावप्रेरित वर्णन की नवीन शैली का इस युग में बहुविध विकास हुआ। इसका एक कारण पाश्चात्य काव्य से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सम्बन्ध, अतएव उसकी अभिव्यंजना-शैली का प्रभाव भी था। इन वर्णनों में यह शैलीगत नवीनता विविध रूपों में दिखाई दी। वर्णन-शैली की ये प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

(१) **चित्र-व्यंजना**—इस शैली की प्रधान विशेषता है। इस प्रयत्न में द्विवेदी-युग से लेकर नवीनतम काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि संलग्न रहे। काव्य के क्षेत्र में चित्रकला का यह प्रयोग शुभ ही हुआ। इस युग की कविता नियत विषयों का वर्णन करके केवल अर्थ नहीं, बिम्ब-ग्रहण कराने में अधिक सफल और समर्थ हो सकी है। शैली की दृष्टि से यह प्रवृत्ति सर्वथा नूतन तो नहीं कही जा सकती। प्राचीनतम साहित्य में—रूप, नख-शिख और प्रकृति के वर्णनों में चित्रांकन के प्रयत्न सहज ही ढूंढ़े जा सकते हैं, परन्तु इस काल की कविता में चित्रात्मक वर्णन की शैली का पुनर्निर्माण निश्चित रूप से हुआ है। प्राचीन काव्य और उसके अनुकरण पर रचित मध्ययुगीन साहित्य में चित्रों का आधार रूपगत विशेषताएँ होती थीं। रीतिकालीन कवियों के नख-शिख वर्णनों में पात्र के बाह्य रूप की प्रधानता रहती थी। कवि चित्र-विचित्र अप्रस्तुत-योजना के द्वारा आलम्बन के बाह्य रूप को पृष्ठों पर उतारता था। अधिक-से-अधिक, पात्रों की कुछ मुद्राएँ इन चित्रों में बन्दिनी हैं, परन्तु आधुनिक युग के कवि ने चित्रांकन में केवल रूपगत स्थूल रेखाओं को, सौन्दर्य को, शब्दों में नहीं उतारा, उससे अधिक वर्ण्य के रूपगत समवेत प्रभाव, उसकी गति, क्रिया-कलापों और सूक्ष्म डिटेल को महत्त्व दिया है। अतः इनके अप्रस्तुत-चयन का आधार भी रूप-साम्य न होकर प्रभाव-साम्य हो गया। परिणामतः इन चित्रों में वर्ण्य के प्राणों का स्पन्दन मिलता है, इनके चित्र फ्रेम में बँधे जड़ चित्र नहीं, चलते-फिरते जीते-जागते चित्र प्रतीत होते हैं। इनमें और पूर्ववर्ती साहित्य की चित्रण कला में वही अंतर है जो 'फोटोग्राफी (photography) और 'सिनेमेटोग्राफी' (Cinematography) में होता है। यह विशेषता मानव जैसे सीमित विषय के ही नहीं, प्रकृति जैसे व्यापक और भाव एवं विचार जैसे अमूर्त और सूक्ष्म विषयों के सम्बन्ध में भी सत्य है। शैली के सम्बन्ध में इस मूलभूत दृष्टिकोण के अन्तर से, इनकी अभिव्यंजना में अनेक प्रासंगिक अन्तर प्रस्तुत हुए व अन्य विशेषताएँ उत्पन्न हुईं।

(२) **अर्थव्यंजक शब्द-योजना**—यथासंभव वर्ण्य की रूप-सम्बन्धी विशेषताओं को ही नहीं, उसके नाद और ध्वनि को भी शब्दों में अनूदित करने के प्रयास में ये कवि ऐसी ध्वन्यार्थ-व्यंजक शैली का प्रयोग करते थे कि उससे नाद-गुण की व्यंजना होती थी। यह ध्वनि का संगीत

छन्द की लय और गेयता के लिए स्वर-संगीत, एवं गति संगीत—दोनों से भिन्न शब्दों का अपना संगीत होता था जिसमें कवि वर्ण्य के रूप के साथ उसकी नादमयता को भी प्रेषित करता है। पंत की 'बाँसों का झुरमुट' कविता की आरम्भिक पंक्तियों में चिड़ियों की चहचहाट इसी प्रकार बंधी है :

बांसों का झुरमुट—
संध्या का झुटपुट—
हैं चहक रहीं चिड़ियां
टी-वी-टी-टुट-टुट।[1]

इसी प्रकार निराला ने 'बादल-राग' में प्राकृतिक उपादानों की गति और ध्वन्यात्मक सौन्दर्य को शब्दों में बाँधा है :

चल रे चल,—
मेरे पागल बादल !
धंसता दलदल,
हंसता है नद खल-खल
बहता, कहता कुलकुल कलकल कलकल ![2]

इन पंक्तियों में नद का बाह्य रूप और प्रवाह नहीं प्रवाह-ध्वनि भी व्यंजित है। इस प्रकार के अनेकानेक उदाहरण, आधुनिक कविता से दिये जा सकते हैं। इस शैली का प्रयोग किसी वाद-विशेष से सम्बद्ध नहीं, प्रत्येक काव्यधारा के कवि ने न्यूनाधिक मात्रा में इसका प्रयोग किया अवश्य और छायावाद से प्रचलित होकर यह प्रवृत्ति अबाधित रूप से प्रगति-प्रयोगवाद तक चली आयी है। विचारधारा की दृष्टि से समाजवादी, और काव्य-शैली की दृष्टि से प्रयोगवादी कवि रामविलास शर्मा ने भी इस अभिव्यंजना के प्रति मोह दिखाया है। समुद्र के किनारे बैठा कवि केवल लहरों के रूप का ही अंकन नहीं करता, उनमें निनादित स्वर-लहरी को भी सुनकर शब्दान्तरित करता है :

सागर लम्बी साँसें भरता है,
सिर धुनती है लहर-लहर;
बूंदी-बादर में एक वही स्वर
गूंज रहा है हहर-हहर।[3]

(३) **गत्यात्मकता**—इन वर्णनों की तीसरी विशेषता इनमें गति और प्रवाह है। इस युग की चित्रात्मक कविता में अधिकांश चित्र गत्यात्मक होते हैं। कुछ विशेष विषयों को छोड़कर, जिनमें कवि कुछ देर तक आलम्बन पर अपनी दृष्टि टिकाए रखता है और उसके स्थिर रूपाकार का वर्णन करता है, अधिकतर वर्णनों में वर्ण्य की गति के साथ चित्रपट पर भी स्थानान्तरण हो जाता है। जहाँ प्रसंग स्वयं गत्यात्मक है वहाँ तो कवि उसके साथ स्वयं भी बढ़ता

---

१. युगपथ—पन्त, पृ० २७
२. परिमल—निराला, पृ० १७६
३. तारसप्तक—रामविलास शर्मा, पृ० ७१

जाता है और उसके क्षण-क्षण परिवर्तित रूप को शब्द-चित्रों में बाँध लेता है। जहाँ प्रकृति के विशेष दृश्य आदि का वर्णन अभीष्ट होता है, वहाँ कहीं कवि उनके भावाक्षिप्त वर्णन करता है, उनमें चेतना का आरोप कर गति के दर्शन करता है, अथवा उसकी दृष्टि वातावरण के अंग-प्रत्यंग पर भ्रमण करती, प्रत्येक सूक्ष्म रूप, क्रिया तथा नादगत विशेषता को उतार लेती है। इस प्रकार एक ही विषय का अनेकरूपात्मक वर्णन होने से उसमें गति उत्पन्न हो जाती है। इन सबसे भिन्न, वर्णन की एक वह शैली है जिसमें कवि स्थल-परिवर्तन नहीं करता परन्तु इस प्रकार की शब्द-योजना करता है कि उससे उसके विषय की गति स्वयं व्यंजित होती है। उक्त विभिन्न अभिव्यंजना शैलियों का यह सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट करने के लिए साक्षी में कुछ उदाहरणों का उल्लेख करेंगे। गत्यात्मक प्रसंगों का यथावत् अंकन कविवर पंत ने अनेक कविताओं में किया है। उनकी 'नौका-विहार' कविता इस प्रकार की गत्यात्मक चित्र-शृंखला का सुन्दर उदाहरण है। 'ग्राम्या' में ग्राम-जीवन के विविध पक्षों और प्रसंगों के सुन्दर चित्र बिखरे हैं। ग्रामीणों के नृत्य का वर्णन करते समय कवि ने नृत्य की गति, वाद्यों के नाद, और वातावरण के उल्लास को शब्दों में सफलतापूर्वक उतार लिया है। भावाक्षिप्त वर्णनों के वे उदाहरण जिनमें कवि चेतना का आरोप कर गति के दर्शन और वर्णन करता है इस युग की कविता में प्रचुर हैं। 'निराला' और पन्त की संध्या पर सुन्दरी-रूप का भावाक्षेप कर लिखी गई कविताएँ, महादेवी की 'वसन्त रजनी', पन्त की 'परिवर्तन' आदि, तथा वे अन्य रचनाएँ जिनमें जड़ अथवा अमूर्त का मानवीकरण कर, उन पर गति व चेतना का आरोप कर वर्णन किया गया है, इसी प्रकार के वर्णनों में आयेंगी। कुछ चित्र नए कवियों की नयी शैली में लिखी कविताओं में मिलते हैं। ये चित्र छायावाद की कला से कुछ भिन्न और विशिष्ट हैं। गिरिजाकुमार माथुर का 'रुककर जाती हुई रात' का वर्णन देखिये :

रुक कर जाती हुई रात का
अंतिम छाहों-भरा प्रहर है
श्वेत धुएँ से पतले नभ में
दूर झाँवरे पड़े हुए सोने-से तारे
जगी हुई भारी पलकों से पहरा देते
नींद-भरी मंदी बयार चलती है
वर्षा-भीगा नगर
भोर के सपने देख रहा है अब भी
लंबे-लंबे धुंधले राजपथों में
निशिभर जली रोशनी की
कुछ थकी उदासी मंडराती है।
पानी रंगे हुए बंगलों के वातायन से
थकी हुई रंगीनी में डूब प्रकाश अब भी दिख जाता
रेशम-पर्दों, सेजों, निद्राभरे बंधनों की छाया-सा।
बुझी रात का अभी आखीरी पहर नहीं उतरा है

दूरी के रेखा-छांहों से पेड़ों ऊपर
ठंडा-ठंडा चाँद ठिठककर मंदा होता
नभ की लंबी साया दूरी तक पड़ती है।[1]

उक्त चित्र में कवि की दृष्टि नभ से बयार, बयार से नगर, नगर के राजपथों से बँगलों के वातायनों, वातायनों से रेशमी पर्दों और सेजों से होती हुई पुनः चाँद और नभ तक पहुँच गई है। चित्र की रेखाओं में कोई तारतम्य और सुनिश्चित क्रम नहीं। छोटी-सी कविता में डिटेल का अवकाश भी नहीं रहा, इसमें केवल कुछ तारतम्यहीन प्रभाव (impressions) हैं, जो उसी प्रकार बिखरी रेखाओं में अंकित किये गए हैं। चित्र-व्यंजना की यह शैली, चित्रकला की अधुनातन प्रवृत्ति टेढ़ी-सीधी, मोटी-पतली रेखाओं के द्वारा प्रभाव-व्यंजना की शैली के समान है। उलझे भाव और विचार-खण्डों, तथा कला के सम्बन्ध में अनिश्चित मूल्यों की मानसिक स्वीकृति ऐसे अनेक वर्णनों में प्रतिफलित हुई है। कभी-कभी ये कवि एक ही कविता में एकाधिक विषम और तारतम्यहीन चित्रों का अंकन करते हैं, जिनमें एक से दूसरे चित्र पर जाकर केवल विषय और स्थल-परिवर्तन ही नहीं होता, इनकी सौन्दर्यचेतना और उसके मानदण्ड भी बदल जाया करते हैं। कहीं-कहीं चित्र भदेस भी हो गए हैं। 'अज्ञेय' का 'शिशिर की राका निशा' का वर्णन इसी प्रकार का है।

कुछ चित्र स्कैच (sketch) की शैली पर भी खींचे गए हैं। इन चित्रों में रेखाचित्र की भाँति केवल रेखाओं के माध्यम से रूप अंकित होता है। जिस प्रकार 'स्कैच' में चित्रकार कम-से-कम मूर्त उपकरणों के आधार पर विषय का स्वरूप अंकित करने का प्रयत्न करता है, इसी प्रकार कविता में रेखाचित्र शब्द-रेखाओं के द्वारा अंकित किये जाते हैं। कम-से-कम शब्दों में विषय का रूपांकन इनकी विशेषता होती है, अतः चित्र में गठन नहीं होती, ध्वनि और रंगों का प्रयोग नहीं किया जाता, केवल एक खाका मात्र होता है, जिसमें सूक्ष्म विवरण का अभाव होता है। इन रेखाचित्रों में प्रत्येक अवयव के लिए एक ही रेखा का प्रयोग होता है। पन्त की निम्नांकित पंक्तियाँ, रेखाचित्र की कला का सुन्दर उदाहरण हैं :

चाँदी की चौड़ी रेती,
फिर स्वर्णिम गंगा धारा
जिसके निश्चल उर पर विजड़ित
रत्न छाया नभ सारा।
फिर बालू का नासा
लंबा ग्राह तुंड सा फैला,
छितरी जल रेखा—
कछार फिर गया दूर तक मैला।[2]

गिरिजाकुमार माथुर को रंगों के प्रयोग का विशेष आग्रह रहा है। उन्होंने कुछ ऐसे

---

१. तारसप्तक—गिरिजाकुमार माथुर, पृ० ४२
२. ग्राम्या—पन्त, पृष्ठ ७१

चित्र अंकित किये हैं जिनमें चित्रकला के सभी उपकरण—रूप, रेखा, रंग वर्तमान हैं। ये चित्र उसी शैली के अन्तर्गत आते हैं जिनमें विषय स्वयं स्थिर होता है, परन्तु कवि का निरीक्षण गत्यात्मक, वह विषय की सभी सूक्ष्म स्थूल विशेषताओं को घूम-घूमकर देखता है, और अंकित कर देता है। कवि ने स्वयं इन चित्रों को 'लैंडस्केप' कहा है और इनमें लैंडस्केप की सभी विशेषताएँ वर्तमान हैं :

ये धूसर, साँवर, मटयाली, काली धरती
फैली है कोसों आसमान के घेरे में
रूखों छाये नालों के हैं तिरछे ढलान
फिर हरे भरे लम्बे चढ़ाव
झरबेरी, ढाक, कास से पूरित टीलों तक
जिनके पीछे छिप जाती है
गढ़घाटों की रेखा गहरी।[1]

उपर्युक्त उद्धरण में कवि ने केवल रेखाएँ खींचकर उनमें रंग ही नहीं भरे, दूर-दूर तक उनकी गहराई, लम्बाई, उठान और फैलाव को भी शब्दों में नाप लिया है, यही चित्रकला की विशेषता है।

गत्यात्मक चित्र-व्यंजना की अंतिम शैली शब्दावली के विशिष्ट प्रयोग से वर्ण्य-विषय की गतिव्यंजना की शैली है। इसके सफल प्रयोग की अथ और इति 'निराला' के काव्य में ही हो जाती है। बहुत ढूंढ़ने से कदाचित् अपवाद-स्वरूप कुछ उदाहरण मिल सकें, परन्तु 'निराला' के गत्यात्मक चित्रों की सहज विशेषता के समान इस कौशल का प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता। उनकी कविताओं में केवल गति ही नहीं, उसका अनुपात और प्रकार, विशिष्ट वर्ण-योजना के सहारे व्यंजित होता है। 'खेवा' में प्रबल तरंगों में घिरी नाव की गति का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है :

डोलती नाव, प्रखर हैं धार,
सँभालो जीवन-खेवनहार।
तिर तिर फिर फिर
प्रबल तरंगों में
घिरती है,[2]

तीसरी पंक्ति में व्यंजित गति की क्षिप्रता अनुप्रास के कारण नहीं, ह्रस्व ध्वनियों के प्रयोग से व्यंजित होती है। इसी प्रकार 'जुही की कली' में प्रखर गति के साथ कान्ता-मिलन के आकांक्षी पवन की क्षिप्रता कवि ने ह्रस्व वर्णों के प्रयोग से व्यंजित की हैं :

फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित गहन-गिरि-कानन

---

१. धूप के धान—गिरिजाकुमार माथुर, पृष्ठ ४
२. परिमल—निराला, पृ० ३०

कुंज-लता पुंजों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि···[1]

दूसरे चरण में तीव्र गति से सरसराती आती पवन तीसरे चरण में लता-कुंजों में उलझकर मन्द होने लगती है, और उसकी मन्थरता की व्यंजना के लिए ह्रस्व वर्ण, दीर्घ और संयुक्त वर्णों में परिवर्तित हो जाते हैं और चरण की गति मन्द हो जाती है। इस कला में 'निराला' अपने ढंग के अकेले कलाकार हैं।

(४) रंगमयता—वर्णन-शैली की चौथी विशेषता है। ठीक उसी प्रकार जैसे इन कवियों ने चित्रकला की अन्य विशेषताओं का प्रयोग किया—शब्द रेखाओं से घनत्व, विस्तार, संकोच आदि की व्यंजना की, उसी प्रकार इन कवियों ने अपने चित्रों में रंग भरे हैं। यह विशेषता इस युग की मौलिक देन अथवा अभूतपूर्व वर्णन-शैली नहीं कही जा सकती, क्योंकि प्राचीनतम प्राकृतिक वर्णनों में रूप के साथ रंग का प्रयोग मिलता है, परन्तु उस काव्य में रंग भरे गए, वर्णन को रंगीनी देने के लिए, अतः जहाँ जैसे रंगों की स्थिति थी, वास्तविकता का ध्यान रखते हुए वैसे ही रंग वर्णनों में भर दिये गए। इस विषय में कवि सावधान नहीं रहे कि ये रंग परस्पर एक-दूसरे के पार्श्व में, और समवेत रूप में कैसा प्रभाव डालेंगे, अतः चित्रकार की भांति सचेष्ट सावधान रूप से रंगों में पारस्परिक अनुपात, एक की पृष्ठभूमि अथवा संगति में दूसरे का प्रभाव आदि विशेषताओं का निर्णय नहीं किया गया। प्राचीन क्लासिकल शैली में गहरे, एवं भास्वर रंगों का प्रयोग अधिक होता रहा। ये कवि वातावरण को रंगीन बनाने के लिए उसमें रंग भरते थे, केवल रंग-स्पर्श देने के लिए नहीं। आधुनिक कविता में इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखा गया कि ये रंग वातावरण का चित्रण कर दें, परन्तु पाठक के मन पर इनका प्रभाव अरुचिकर व विकर्षक न हो। इस प्रकार वर्णनों में रंग-प्रयोग की इस कला के पीछे चित्रकला की सावधान दृष्टि और विवेक का परिचय मिलता है।

छायावाद से पूर्व भी आधुनिक कवियों ने रंगों का प्रयोग किया, परन्तु इनके रंग समग्र वातावरण में भरे जाने वाले रंग नहीं होते। प्रायः किसी चित्र के कुछ विशिष्ट अंगों में ये कवि रंग की विशेषता का उल्लेख करते हैं। अतः इनके चित्रों में समग्र वातावरण रंगीन नहीं मिलता, प्रायः ये चित्र अधरंगे होते हैं। किसी-किसी अंश में कवि रंग का ब्रुश मारकर छोड़ देता है :

सघन-गगन-नीलिमा अचल काली घटा,
यान रंगीले इंद्रचाप-जंगम छटा।
सहचर हंसावली, बलाकावली, पास ही त्यो लसी,
बरसा अद्भुत रंग, अनूठे अंग सुहाए पावसी।[2]

इस वर्णन की प्रथम दो पंक्तियों में रंग-निर्देश किया गया है; तीसरी पंक्ति में रंगों का नितान्त अभाव और चौथी में अनिश्चित संकेत मात्र है। छायावाद-पूर्व कविता में रूप-वर्णन की प्रधानता रही, और छायावाद व उससे प्रभावित कविता में रेखा और रंगों की। रंगों का

---

१. परिमल—निराला, पृ० १९२
२. पूर्ण-संग्रह—रायदेवीप्रसाद पूर्ण, पृ० १३६

प्रयोग सर्वाधिक छायावाद के कवियों ने किया है, उनमें भी महादेवी और पंत ने अधिक। महादेवी के काव्य-चित्र हल्की और तरल रेखाओं से निर्मित हैं, जिनमें वे घुले-मिले रंगों का प्रयोग करती हैं। पन्त के समान न उनकी रेखाएँ तीखी होती हैं और न उनके रंग गहरे और भास्वर। उनके चित्रों में अपने विषयानुकूल मोहक तारल्य और कारुणीयता मिलती है। इन चित्रों में एक प्रकार की कमनीयता है जो तत्काल आकर्षित नहीं करती एक स्निग्ध प्रभाव छोड़ती है :

तू भू के प्राणों का शतदल।
सित क्षीर-फेन हीरक-रज से
जो हुए चाँदनी में निर्मित
पारद की रेखाओं में चिर
चांदी के रंगों से चित्रित,
खुल रहे दलों पर दल झलमल।[1]

महादेवी के अधिकांश चित्रों में इसी प्रकार के स्निग्ध, तरल, झलमलाते रंगों का प्रयोग हुआ है। छाया और प्रकाश, चित्र के दोनों रूपों में हलकापन मिलता है। उनकी छाया वासन्ती रजनी की कोमल छाया और प्रकाश दीपक का हलका प्रकाश है।

पन्त के चित्रों के वर्ण तीखे, भास्वर और रेखाएँ गहरी हैं। उनके रंग न पारद के समान झलमल करते हैं, न क्षीर-फेन के समान स्निग्ध तरल हैं, उनमें चमक और चकाचौंध है, चांदी की शीतल नहीं, स्वर्ण की तप्त छाया है :

आज लोहित मधु प्रात
व्योम-लतिका में छायाकार
खिल रही नव पल्लव सी लाल,
तुम्हारे मधुर कपोलों पर सुकुमार
लाज का ज्यों मृदु किसलय जाल।
आज उन्मद मधु-प्रात
गगन के इंदीवर से नील
झर रही स्वर्ण-मंरद समान,
तुम्हारे शयन शिथिल सरसिज उन्मील
छलकता ज्यों मदिरालय, प्राण![2]

छायावादोत्तर कवियों की समाजवाद के सिद्धान्तों से प्रेरित कविता में रूप-रंग का उपर्युक्त वैभव बिखर गया। ये कवि कला में जड़ाव-कढ़ाव, रूप-रंग, सुन्दर-मधुर को छोड़कर मिट्टी-पत्थर, कुत्सित-कुरूप, से जूझने लगे। परन्तु कवियों के उस वर्ग ने जो अपनी कविता को 'नयी कविता' कहता है पुनः इसी शैली की ओर प्रत्यावर्तन किया। विशेष रूप से गिरिजाकुमार माथुर

---

१. दीपशिखा—महादेवी वर्मा, पृष्ठ १३९
२. गुंजन—सुमित्रानन्दन पन्त, पृष्ठ ५४

की कविता में इस शैली का सुरुचिपूर्ण प्रयोग और साग्रह स्वीकृति मिलती है। 'तारसप्तक' में प्रकाशित वक्तव्य में कवि ने रंगों के प्रयोग के विषय में अपनी रुचि-अरुचि और चयन-पद्धति का परिचय दिया है—"इसी कारण चित्र को अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं वातावरण के रंग उसमें भरता रहा हूँ।.....वातावरण चित्रण के 'डिटेल' में रंगों का आधार विशेष रूप से रखा है, किन्तु मैं चित्र को सदा हलके रंगों की छाहों के आवरण में लिपटा पसन्द करता हूँ। क्योंकि यथार्थ चित्र के सभी डिटेल मैं कला की दूरी से देखता रहा हूँ। मेरा यह विश्वास है कि अत्यधिक गहरे रंगों का प्रयोग कला में प्राचीनता का द्योतक है। क्लासिकल विषयों पर गम्भीर शैली में लिखी कविताओं में मैंने गहरे रंग प्राचीनता लाने के लिए ही रक्खे हैं।"[1] इस शैली में कवि ने अनेक लघु कविताएँ लिखी हैं :

सेमल की गरमीली हल्की रुई समान
जाड़ों की धूप खिली नीले असमान में
झाड़ी झुरमुटों के उठे लम्बे मैदान में।
रूखे पतझार-भरे जंगल के टीलों पर
काँपकर चलती समीर हेमन्त की
लम्बी लहर-सी।
दूरी के ठिठुरे-से भूरे-भूरे पेड़ों पर
ठण्डे बबूले बना धूल छा जाती थी—(कुतुब के खण्डहर)[2]

इस धारा के अन्य कवि भी रंगों का प्रयोग अपने चित्रों में करते रहे; विशेष रूप से रामविलास शर्मा ने पर्याप्त तीखे रंगों का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं नवीनता के आग्रहवश इन कवियों ने जहाँ सौन्दर्य के मानदण्ड बदले, परम्परागत परिभाषाएँ बदलीं, वहाँ रंगों के मानदण्ड भी बदलने का प्रयत्न किया। परन्तु जो वस्तु अमूर्त भाव और विचार का विषय है, उसमें हम बदली रुचि का दावा कर सकते हैं, क्योंकि अमूर्त अनुभूतियों का स्थान व्यक्ति का मन है, वे एक-दूसरे से भिन्न और विचित्र हो सकती हैं। परन्तु जो रूप चाक्षुष्-ज्ञान का विषय है, जिसके सम्बन्ध में सर्वगत प्रतिक्रियाएँ और मान्यताएँ समान और सर्वसम्मत हैं, उन्हें बदल कर सृष्टि भर की आँखों को धोखा नहीं दिया जा सकता। अतः जब आज का कवि कहता है :

वह सोनजुही-सी चाँदनी !
नव नीलम पंख कुहर खोंसे
मोरपंखिया चाँदनी।
नीले अकास में अमलतास
झर झर गोरी छवि की कपास...[3]

तो प्रतीत होता है कि चाँदनी की तुलना सोनजुही से करके कवि या तो अपने वर्ण-

---

१. तारसप्तक, पृष्ठ ४०
२. वही, पृष्ठ ४३
३. वनपाखी सुनो—नरेश मेहता, पृष्ठ २२

साम्य के नयेपन से पाठक के मन में दृष्टिभ्रम उत्पन्न करना चाहता है अथवा उसकी दृष्टि स्वयं भ्रमित है । दोनों में बरबस, समानता का प्रचार करने से उनकी बाह्य नयन-गोचर असमानता को आवृत नहीं किया जा सकता ।

(५) **भावाक्षिप्तता**—इन वर्णनों की वह विशेषता है, जो इन्हें पूर्ववर्ती इतिवृत्त वर्णन-शैली से सर्वथा भिन्न स्वरूप प्रदान करती है । आधुनिक—विशेषरूप से छायावाद और छायावादोत्तर युग के कवि जहाँ आत्म को विषय बनाते है वहाँ तो उनकी व्यक्तिगत अनुभूतियाँ काव्य का प्रेष्य होती ही हैं, परन्तु अधिकांश कविताओं में इदम का वर्णन भी उन्होंने अपनी भावनाओं के रंग में रंग कर किया है । यह बात आधुनिक युग की अधिकांश वर्णनात्मक कविता के विषय में सत्य है । जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ या तो कवि की सौन्दर्य-चेतना केवल आलम्बन-रूप में विषय का साक्षात्कार करती है, अथवा वह किसी समस्या की व्यंजना के लिए यथार्थ-वर्णन की शैली अपनाता है । अन्यथा आधुनिक काल में इस प्रकार की कविता प्रचुर है जिसमें वर्णन किया गया है परन्तु अपनी भावना का आरोप कर । ऐसा प्रायः दो कारणों से किया जाता है । ऐसा करके कवि अपने वर्ण्य के साथ अधिक आत्मीयता और घनिष्ठता का निकटतर सम्बन्ध स्थापित कर लेता है । वह चेतन और जड़ दोनों प्रकार के विषयों को अपने सुख-दुःख के भोक्ता रूप में देखता है । अतः व्यापक रूप से समवेदना के इस काव्यगत अवेक्षण का प्रभाव पाठक पर भी अधिक गहन और रागात्मक होता है । दूसरी ओर अनेक ऐसी अनुभूतियों का वर्णन जिनकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के पक्ष में वह नहीं होता, इन आत्मेतर वर्णनों के माध्यम से परोक्ष रूप में सम्भव होता है । इस प्रकार की परोक्ष अभिव्यंजना कलात्मक दृष्टि से भी अधिक वैभव-सम्पन्न होती है । क्योंकि इस अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के लिए वह भाषा में लक्षणा-व्यंजना, अलंकार-योजना में प्रतीक, मानवीकरण आदि अनेक वक्रोक्ति-सम्पन्न साधनों का आश्रय लेता है ।

छायावादी काव्य तो इस प्रवृत्ति की अतिशयता के कारण, प्रशंसित भी हुआ और लांछित भी, परन्तु बाद में इस शैली और दृष्टिकोण के प्रति विद्रोह करने वाले कवियों में भी भावनाओं के आरोप की प्रवृत्ति का यथावत् परम्परागत शैली में निर्वाह होता रहा । 'अज्ञेय' की आरम्भिक कृतियों—'चिन्ता' और 'इत्यलम्' आदि में तो इस शैली के अनेक उदाहरण मिलते ही हैं, परन्तु आत्म की अवहेला कर समाज की, और वह भी उसके अनगढ़ रूप की काव्य में प्रतिष्ठा करने वाला कवि भी इस प्रवृत्ति के सम्मोहन से नहीं बचा है । सामाजिक जीवन के यथातथ्य वर्णन करने वाले ये कवि भी प्राकृतिक सौन्दर्य से विचलित होकर उसमें मानव अनुभूतियों की छाया देखते हैं :

साँझ ढली, नभ के कोने में
कारे मेघा छाए
ये विरहिन के ताप, काम के शाप
गरज, इतराए,
दीप छिपाए चली समेट निशा दिशा का आँचल

आज रात-भर बरसे बादल ।[1]

अपेक्षाकृत और भी नई कविता में, अर्थात् कालक्रम की दृष्टि से नहीं, शैलीगत नवीनता का आह्वान करने वाले कवियों में, वर्ण्य पर कवि की भावना के साथ विचारों का आरोपण मिलता है; यद्यपि प्रयोगवाद की छायावाद के विरुद्ध बहुमुखी प्रतिक्रिया में एक प्रयत्न व्यक्ति की भावना के आरोप के स्थान पर वस्तु की आन्तरिक अर्थ-व्यंजना को अनूदित करने का भी था। वस्तु की आत्मा को शब्दों द्वारा उद्घाटित करना ये कवि अधिक सामर्थ्यवान कविता का गुण मानते हैं। परन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो यह केवल शब्द-छल है। प्रत्येक कवि वस्तु की आत्मा का शब्द द्वारा उद्घाटन अपने हृदय पर पड़े प्रभाव के आधार पर ही करेगा। वस्तु की आत्मा का शब्दानुवाद करने से पहले उसका आत्मसाक्षात्कार करना अनिवार्य है, और यह आत्मसाक्षात् प्रत्येक कवि की अपनी-अपनी दृष्टि के अनुरूप होगा, अतः विशिष्ट संस्कारों, परिस्थितियों और वातावरण से निर्मित कवि के व्यक्तित्व का प्रभाव उसमें अनिवार्य रूप से आ जायगा। वस्तु कैसी है ? इसका वर्णन हम केवल इसी आधार पर कर सकते हैं कि वह हमें कैसी प्रतीत होती है। उसके बाह्य स्थूल रूप का वर्णन तो फिर भी तटस्थ रूप से सम्भव है, परन्तु आत्मा का अनुवाद करने के लिए अन्तःप्रवेशी तत्त्वग्राहिणी दृष्टि की आवश्यकता है, और यह दृष्टि प्रत्येक कवि की अपनी होती है। अन्तर केवल इन कवियों की वर्णन-शैली में है। इनके काव्य में स्वभाव से व्यक्तिगत दृष्टिकोण और लक्ष्य के रूप में वस्तु-सत्य के उद्घाटन का प्रयत्न होने के कारण इनकी अभिव्यंजना में सर्वत्र भावना का आरोप तो सम्भव था ही नहीं, क्योंकि वस्तु के प्रति आत्मानुभूति को झुठला कर, उसका दमन कर, बुद्धि से वे उसके अन्तर में बैठने का प्रयत्न करते हैं, अतः इनके वर्णनों में विचाराक्षेप मिलता है। रागात्मक तत्त्व को बौद्धिक तत्त्व के द्वारा व्यक्त करने के प्रयत्न में इनकी अप्रस्तुत योजना, शब्दावली, प्रतीक, सभी कहीं अर्ध व्यक्त और कहीं वैज्ञानिक हो गए हैं। इस कविता में विचार और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक सम्बन्ध न होकर, बौद्धिक सम्बन्ध है, अतः इनकी शैली में अनुभूति बुद्धि से आक्रान्त है। वर्णन भावाक्षिप्त न होकर विचाराक्षिप्त हैं :

चीन के मन्दे पीले लालटेन—उत्सव की तरह
जर्द रेशम की गरम बाँह में लिपटी
समुद्र साँऽऽझ बेहोश
अपने बीमार विचारों में सुना करती है—
तम की,
साबुन की झाग सी नरम
किन् किन् किन्
झिम् झिम् झाँझें
टेशोकोटो के सुरों सी हल्की
जापान के किसी गीत को टाइप करती लहरें

---

१. पर आँखें नहीं भरीं—शिवमंगलसिंह सुमन, पृष्ठ २५

मद्धिम लहरें—
कांच की चूड़ी की तरह गोऽल गोऽल
आऽ रहीं आऽ रहीं—
झाग क्लिप खोंसे
सांझ की बीमार छांहों के तले।[1]

उक्त वर्णन में सांझ की बेहोशी, बीमारी और मलीनता कवि की अपनी भावना का आरोप है, निश्चय ही किसी भी अन्य कवि की (इसी वाद के) लेखनी से उपर्युक्त विषय का वर्णन सर्वथा भिन्न होगा। यदि इन वर्णनों में अपनी भावना का आरोप नहीं केवल वर्ण्य की आत्मानुवाद का प्रयत्न हो तो कुछ दूर तक इनमें समानता होनी ही चाहिये। कवि अपनी भावानुभूति को पीछे छोड़कर जब बुद्धि द्वारा वर्ण्य का चित्र खड़ा करता है तो उसके विचारों के साथ शैली के उपादान भी तारतम्यहीन, अर्ध-व्यक्त शृंखला में बँधे रहते हैं। कवि अप्रस्तुत-चयन के लिए बाथरूम से टाइप-राइटर और फिर चूड़ी और क्लिप तक घूम आया है। इन उपमानों में परस्पर आधार, रूप, गुण सम्बन्धी कोई साम्य, सम्बन्ध तथा तारतम्य नहीं है। कवि ने बुद्धि के सहारे वर्ण्य के रूप और आत्मा का चित्रण किया है। वर्णन के इन उपादानों के पीछे मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण आदि शास्त्रों का आधार होता है। वस्तुतः इन विज्ञानों का सम्बन्ध मानव-मन से है। अतः वस्तु को देखकर कवि के मन में जो विचित्र उपमान, प्रतीक-योजना आदि के चयन की प्रेरणा होती है, उसका सम्बन्ध व्यक्ति से अधिक है। अन्तर केवल इतना है कि ये कवि अपनी रागात्मक प्रतिक्रिया की सहज अन्तःस्फूर्त अभिव्यक्ति न करके उसकी चीर-फाड़, विश्लेषण करते हैं। इसी कारण इन वर्णनों में विचाराक्षेप मिलता है।

(६) **प्रतीकात्मकता**—आधुनिक कविता की वर्णन-शैली की एक अन्य विशेषता है प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्ति। इस शैली का प्रयोग रूपक और अन्योक्ति अलंकारों के रूप में प्राचीन और मध्ययुगीन काव्य में प्रचुर हुआ है परन्तु वहाँ इस शैली का प्रयोग अलंकार के रूप में ही मिलता है। अन्योक्ति अवश्य केवल सौन्दर्य-वर्द्धन के लिए ही नहीं, कभी-कभी गूढ़ार्थ-व्यंजना के लिए शैली में प्रयुक्त होती रही। प्रायः अपनी बात को किसी कारणवश प्रत्यक्ष न कह सकने के कारण मध्ययुग का कवि अन्योक्ति का आलम्बन लेता था, कभी अमूर्त सिद्धान्त को मूर्त के द्वारा अधिक ग्राह्य और बोधगम्य बनाने के लिए, और कभी नीरस उपदेशात्मक विचारों को सौन्दर्य-बोधक शैली में व्यक्त करने के लिए। इसी प्रकार रूपक का विशद प्रयोग 'एलीगरी' (allegory) के रूप में किया गया। परन्तु आधुनिक काव्य में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति वर्णन-शैली का एक सामान्य अंग बन गया। केवल अलंकार-प्रयोग के लिए नहीं, केवल सौन्दर्य-वर्द्धन के लिए नहीं, शैली में वक्रता-व्यंजना के लिए, कथन में एक विशेष सौन्दर्यमयी भंगिमा के लिए, इस शैली का प्रचुर प्रयोग इस काल की कविता में किया गया।

प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्ति छायावाद की कविता में शृंगार-भाव की परोक्ष अभिव्यंजना के निमित्त आरम्भ हुई। कारण, स्वच्छन्द प्रेम तथा शृंगारिक वर्णनों पर सामाजिक

---

१. बनपाखी सुनो—नरेश मेहता, पृष्ठ १७

प्रतिबन्ध और तत्कालीन नैतिक दृष्टिकोण था। साथ ही व्यक्ति के मन की अमूर्त अनुभूतियाँ काव्य-विषय थीं, अतः इन्हें मूर्त प्रतीकों के द्वारा सचित्र रूप में व्यक्त करना छायावाद की विशेषता बन गई, जिस पर आंशिक रूप में पाश्चात्य काव्य-शैली का प्रभाव भी पड़ा। इस शैली का स्पष्ट और प्रत्यक्ष प्रयोग 'निराला' की कविता 'जुही की कली' से आरम्भ होता है। प्रसाद की आरम्भिक रचनाओं—'झरना', 'लहर' आदि में भी इस शैली में अनेक वर्णन हैं, और क्रमशः प्रतीकात्मकता आधुनिक कवियों की वर्णन-शैली की एक सामान्य विशेषता बन गई। वस्तु-जगत् और भाव-जगत् से अनेक प्रतीकों का चयन किया गया। जीवन के कोमल-मधुर और विराट-ओजस्वी, प्रायः सभी पक्ष इन प्रतीकों का क्षेत्र बन गए। पहले के अधिकांश प्रयत्न, प्रतीक-योजनाएँ अमूर्त को मूर्त के द्वारा व्यक्त करने के लिए की जाती थीं। इन कवियों ने इस क्रम में भी विपर्यय प्रस्तुत किया। मूर्त के लिए इन्होंने अमूर्त, अमूर्त के लिए अमूर्त और मूर्त के लिए मूर्त प्रतीक अपनाए। इस प्रकार इनका रूप और क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और वैविध्य-पूर्ण बन गया तथा प्रतीकात्मक अभिव्यंजना, कलात्मक शैली का एक अनिवार्य गुण स्वीकार की जाने लगी। छायावाद में ही प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की यह प्रवृत्ति 'निराला' के काव्य में कुछ ऐसे अतिचार को प्राप्त हो चुकी थी कि उसने कविता की सहजता और प्रसाद गुण को आघात पहुँचाया, अतः स्वच्छन्द-प्रेम की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के समर्थक परवर्ती कवियों—'बच्चन' आदि ने प्रतीक-योजना के प्रति विशेष मोह नहीं दिखाया।

प्रगतिवाद की कविता भी शैली की दृष्टि से इस प्रवृत्ति से मुक्त ही रही। ये कवि जीवन की विभीषिकाओं को, उसकी यथार्थता को, समस्याओं को, उनके अनावृत नग्न रूप में प्रस्तुत करने के पक्ष में थे, अतः प्रतीक-शैली इनके उद्देश्य के अनुकूल नहीं पड़ी। जीवन का उसके जितने यथार्थ वस्तुगत रूप में पाठक से परिचय कराकर ये कवि उसमें उत्तेजना उत्पन्न कर सकते, उसकी सहानुभूति आकर्षित कर सकते, उतने ही अपनी लक्ष्य-सिद्धि में सफल होते, अतः प्रतीकात्मक वर्णनों का प्रश्न इस वर्ग की कविता में नहीं उठा। छायावाद और उसकी काव्य-शैली से प्रभावित कवियों—गुप्त बन्धु, 'अज्ञेय', रामकुमार वर्मा आदि पर ही यह प्रभाव विशेष रूप से लक्षित किया जा सकता है।

इस शैली का पुनरुद्धार इधर नए कवियों की कविता में हुआ, और विचित्र रूप से। इस कविता का शैलीगत दृष्टिकोण नितान्त बौद्धिक था, परन्तु उसमें उलझन थी, और ये कवि चेतन के साथ अवचेतन मन के अनुभव-खण्डों को भी उनके यथावत् रूप में कविता के क्षेत्र में घसीटने के चक्कर में रहा करते थे। जीवन के परम्परागत मूल्यों, मानदण्डों में इन्होंने अनास्था व्यक्त कर उनको परिवर्तित और एकान्त वैयक्तिक रूप में समझा और ग्रहण किया। अतः उलझी-सी चेतना, अस्पष्ट भाव और विचार-खण्ड, उसी प्रकार के अर्धव्यक्त, अधूरे, खण्डित और अप्रचलित प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त हुए हैं। छायावादी कविता से इस प्रकार इनकी प्रतीक-योजना भिन्न है। अपने विषय के प्रति इनके मन के चेतन-अवचेतन स्तरों में होने वाली व्यक्तिगत प्रतिक्रिया सूक्ष्म, खंडित, अर्धस्पष्ट, जिस रूप में भी इनकी प्रज्ञा का विषय बन सकी इन्होंने उसे यथावत् प्रतीकों के द्वारा व्यक्त किया। अपने विवेक के द्वारा वे उसे मूर्त, अखण्ड और स्पष्ट रूप प्रदान करने का प्रयत्न नहीं करते। साथ ही इन्होंने परम्परागत आधारों को

प्रतीक-चयन करते समय ग्रहण नहीं किया। कुछ विशिष्ट अनुभूतियों या पदार्थों का सम्बन्ध व्यवहार में जिन आधारों पर कुछ विशिष्ट प्रतीकों से जुड़ गया था, ये कवि उन परम्परागत प्रतीकों को उसी रूप में ग्रहण नहीं करते। इन परम्परागत प्रयोगों के प्रति अनास्था के कारण इनकी प्रतीक-योजना में कुछ विशेषताएँ उत्पन्न हो गई हैं। पूर्ववर्ती काव्य की शैली से इनकी प्रतीक-विधान-पद्धति निम्नलिखित रूपों में भिन्न है और उसकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

(क) प्रतीकों के परम्परागत आधारों के प्रति अनास्था, अतः प्रचलित प्रतीकों का सर्वथा नवीन अर्थों में प्रयोग।

(ख) प्रचलित प्रतीकों के स्थान पर विशिष्ट विषयों के लिए सर्वथा नवीन प्रतीकों का एकान्त वैयक्तिक अर्थ में प्रयोग।

(ग) भाव या विचार की खण्डित, उलझी और अर्धव्यक्त अन्तर्दशाओं का, उसी प्रकार के प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्ति का प्रयत्न।

(घ) इन प्रतीकों के अर्थ की दृष्टि से सार्वजनिक स्वीकृति के अभाव में अर्थगत दुरूहता।

(ङ) मूलतः व्यक्तिगत दृष्टिकोण की सिद्धान्ततः वस्तुगत किन्तु बौद्धिक अभिव्यक्ति के कारण नानारूपात्मक मूर्त्त जगत् से प्रतीकों का ग्रहण, अतः इस क्षेत्र-विशेष से प्रतीकों का वैविध्यपूर्ण अनेकरूपात्मक प्रयोग।

गीति-शैली से हमारा संकेत प्रगीत-रचना की उस शैली की ओर है जिसमें अनुभूति की सहज, उच्छ्वासपूर्ण अभिव्यक्ति को महत्ता दी जाती है। इस शैली की कुछ रचनाओं का भावाक्षिप्त वर्णन-शैली के प्रसंग में पीछे उल्लेख किया जा चुका है। अतः इस प्रसंग में हम उन कविताओं की शैली का अध्ययन करेंगे, जिसमें भावना को और उसकी सहज निश्छल अभिव्यक्ति को प्राथमिकता दी गई है। भावना के अतिरिक्त रहस्यानुभूति के रूप में दर्शन या विचार जो कुछ इन प्रगीतों के क्षेत्र में प्रवेश कर सका है, वह कवि की अनुभूति का विषय बने बिना नहीं।

विवेच्य काव्य में यह गीति-शैली अनेक रूपों में उपलब्ध है—जिसमें हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य की परम्परा का पालन, अँगरेज़ी साहित्य के प्रभाव से की जाने वाली रोमानी प्रगीतात्मक रचनाएँ, लोक-गीतों की कला का प्रभाव और उर्दू साहित्य की गेय विधाओं से प्रभावित रचनाएं सभी कुछ आ जाता है।

गीति-शैली का सर्वप्रथम उपलब्ध रूप परम्परागत ही है। परम्परागत गीति-शैली १९०० ई० के उपरान्त के काव्य में भक्तों की पद-रचना के अनुकरण पर प्रयोग में लायी गई। कहीं इन कविताओं में दैन्य भावना अधिक है और कहीं ये पद केवल भक्तिभाव, आत्मनिवेदन और उद्धार की प्रार्थना के लिए लिखे गए। इनकी शैली, मूल भावना, छन्द आदि सभी कुछ परम्परागत भक्तों की पद-परम्परा के अन्तर्गत आता है, कहीं-कहीं आराध्य का विरद-वर्णन भी है, परन्तु नवीनता इस शैली में अलभ्य है, बल्कि इनमें भक्त कवियों की सी आत्मविभोरता और तन्मयता भी नहीं मिलती। इस शैली में पद-रचना द्विवेदी-युग के कवियों में राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', नाथूराम 'शंकर', तथा वियोगीहरि और प्रसाद की आरम्भिक रचनाओं 'चित्राधार'

आदि में मिलती है। इधर प्रौढ़ि प्राप्त कवि 'निराला' ने 'अर्चना', 'आराधना' आदि में कुछ इस ढंग की रचनाएँ की हैं। प्रसाद ने तो कुछ पद भ्रमरगीत-प्रसंग को विषय बनाकर भी लिखे हैं। इन पदों में कवि प्रायः संगीतात्मक शैली में इष्ट के विरद और अपने दैन्य व अनुभूतियों का वर्णन करता है। कहीं बाह्य संगीत का विधान और निर्देश भी निश्चयात्मक ढंग से कर दिया जाता है, अर्थात् ये पद राग और ताल में बँधे होते हैं, अन्यत्र नहीं। परन्तु जो भावतन्मयता और आत्मविभोरता—परिणामस्वरूप अभिव्यक्ति में सहज उच्छ्वास भक्त कवियों की पद-रचना में मिलता है वह आधुनिक काल के कवियों की रचनाओं में नहीं। कारण, ये कवि स्वयं भक्त नहीं थे, अतः इन पदों का स्थायी भाव कवि का उतनी ही ईमानदारी से आत्मानुभूत भाव नहीं था जितना भक्त कवियों का। इनकी अनुभूति बौद्धिक ज्ञान के बल पर अर्जित अनुभूति थी। आज के वैज्ञानिक युग में परासत्ता के सगुण या निर्गुण रूप के प्रति उतना अगाध अन्ध-विश्वास सम्भव भी नहीं। इस बौद्धिक युग का ईश्वर बुद्धिगम्य है, तर्क और ज्ञान का विषय है, अनुभवगम्य अर्थात् भावना का विषय नहीं। इसी कारण इस शैली का विशेष प्रचलन नहीं हुआ।

अध्यात्म और दर्शन के विषयों की अभिव्यक्ति के लिए इस युग के कवियों ने नवीन मार्गों का शोध किया। वे परमसत्ता के स्वरूप को जानने और समझने का प्रयास अधिक करते हैं, केवल विश्वास के आधार पर भावार्पण नहीं करते। अतः उनकी अभिव्यक्ति की पद्धति भी परिवर्तित हो गई। इन विषयों के प्रति या तो कवि की जिज्ञासा व्यक्त होती है, अथवा कुछ आगे बढ़कर वह उस परम सत्ता और मानव के स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या करने लगता है। परिणामतः उसकी अभिव्यक्ति में अनुभूति के स्थान पर बौद्धिकता आ जाती है, भावोद्रेक नहीं। युक्तियुक्त या जिज्ञासामूलक ज्ञान इन गीतियों का प्राण बन जाता है। कभी-कभी चिन्तन-मनन के आधार पर अर्जित ज्ञान के द्वारा कवि रागात्मक सम्बन्धों की सृष्टि कर उसकी अनुभूति का भी प्रयत्न करता है। ऐसी प्रगीतियों में आत्मद्रव कुछ अधिक मिलता है। इस शैली का अथ और इति इस युग में छायावाद के साथ सम्पन्न हुआ। रहस्यात्मक अनुभूतियों और वर्णनों के रूप में स्वरूप-भेद से यह भावना छायावाद और इस काव्यधारा से प्रभावित अन्य कवियों के काव्य में मिलती है। बाद में वामपक्षीय चिन्ताधाराओं के उदय के साथ वस्तुजगत् और भौतिक सत्य की महत्ता-स्थापन और अलौकिक विश्वासों व मान्यताओं के प्रति अनास्था उत्पन्न हुई, परिणामतः इस प्रकार के रहस्य-संकेतों और अनुभूतियों के लिए काव्य में अवकाश नहीं रहा। प्रतिदिन भौतिक सृष्टि के वस्तु-सत्यों की व्याख्या-विश्लेषण की माँग बढ़ती गई। नए कवियों ने तो संगीत कला की आधीनता को भी काव्यकला के ऊपर आरोपित और अनावश्यक माना, अतः भाव और शैली के संगीत, दोनों का काव्य-क्षेत्र से बहिष्कार हो गया। इन कवियों ने उर्दू की गज़ल और लोक-गीतों की शैली से प्रभावित कुछ गेय रचनाएँ कीं, परन्तु वह विशेष प्रयोगों के रूप में। काव्य-मात्र के लिए संगीत को ये अनिवार्य नहीं मानते थे।

गीति-शैली का दूसरा रूप उन कविताओं में मिलता है, जिनमें कवि अपनी किसी व्यक्तिगत अनुभूति का वर्णन करता है। सर्वाधिक संख्या इस युग की कविताओं में इन्हीं गीतियों

की रही। इनका आरम्भ भी छायावाद के साथ हुआ। वस्तु-जगत् से सम्बद्ध इतिवृत्त-प्रधान कविता के विरोध में आत्म से सम्बद्ध भावप्रवण काव्य के आरम्भ के साथ इन रोमानी कविताओं की शैली भी परिवर्तित हो गई। इन कविताओं में इतिवृत्त और वर्णन का निषेध कर अनुभूतियों की व्यंजना को प्रामुख्य मिला, परिणामतः इनकी शैली में बहिरंग प्रसार, सरलता और स्पष्टता के स्थान पर भावों की गहनता, भावप्रेरित वक्रता, व्यंजना, द्रवणशीलता और उद्रेक मिलता है। इन गीतियों में बाह्य वस्तु पर केन्द्रित स्थिर दृष्टि नहीं, आत्मा का बहाव मिलता है। जहाँ इनमें वर्णन को स्थान भी मिला है वहाँ भावनाओं के रंग में रंगकर, भावावृत रूप में।

इन गीतियों के विषय मानव-मन की अनुभूतियों की भाँति विविध रहे। जीवन की सुखद अनुभूतियों हर्ष, उल्लास, प्रेम, उत्साह आदि के साथ करुणा, निराशा, पीड़ा, दुःख आदि दुःखद अनुभूतियों का एक विशाल संसार इन कविताओं में बसा है। इन भावनाओं को भी कवियों ने अनेक रूपों में व्यक्त किया है—सर्वाधिक प्रचलित शैली. प्रत्यक्ष आत्मनिवेदनात्मक शैली है। इसमें कवि अपने हृदय की अनुभूति को स्वयं वक्ता के रूप में उच्छ्वासपूर्ण शब्दावली में व्यक्त करता है। एक शब्द में—इन गीतियों में कवि की आभ्यान्तरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। ये गीतियाँ कवि की अन्तःप्रवृति और चित्तवृत्ति का काव्य हैं, वह अपनी बात स्वयं कहता है। इस प्रकार की अनेक सुखदुःखात्मक गीतियाँ—प्रसाद, पन्त, महादेवी, 'निराला', 'बच्चन', सियारामशरण गुप्त, रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट, सुभद्राकुमारी चौहान, तथा 'अज्ञेय', धर्मवीर भारती, गिरिजाकुमार माथुर, जगदीश गुप्त आदि कवियों ने लिखी हैं।

इन गीतियों का सम्बन्ध मन की सूक्ष्म और प्रायः कोमल अनुभूतियों से होता है, अतः इनकी अभिव्यंजना में कोमल ललित उपादानों का प्रयोग मिलता है। समग्र रूप में इनकी शैली तरल भावोदीप्त शैली होती है जिसमें भावनाओं के स्वरूप के अनुकूल, कवि अभिव्यक्ति के अनेक मार्ग ढूंढ़ लेता है। अनुभूतियाँ स्वयं अमूर्त होती हैं, अतः मूर्त उपादानों की अपेक्षा इन सूक्ष्म अमूर्त भावनाओं को रूप देना अधिक दुष्कर होता है। परिणामस्वरूप कवि अभिव्यक्ति के लिए अनेक नवीन मार्गों का अन्वेषण करता है। उसकी अप्रस्तुत-योजना, बिम्ब-विधान, भाषा, शैली सभी इस उपक्रम से प्रभावित होती हैं। सबमें एक नवीनता और चमत्कार आ जाता है। स्थूल वस्तुरूप विषय के बाह्य स्वरूप का आकारगत वर्णन जितना स्पष्ट और सरल हो सकता है, उतनी ही भाव-प्रेरित वक्रता अमूर्त भावनाओं की प्रेषणा के प्रयत्न में आ जाती है, क्योंकि यह व्यक्तिगत अनुभूति को सहृदय-संवेद्य बनाकर प्रेषित करने का, अमूर्त को मूर्त रूप देने का, अथवा प्रभाव-व्यंजना का प्रयत्न होता है। वाच्य तो यह काव्य प्रायः होता नहीं, अतः इनमें लक्षणा और व्यंजना पर आश्रित अभिव्यंजना को मुख्य रूप से अपनाया जाता है।

गीति-शैली के अनेक प्रकार रूप-विधा के भेद से हो जाते हैं। संबोध गीतियों में किसी अन्य को संबोधित कर कवि अपनी भावना व्यक्त करता है। पत्र गीतियों में भी दूसरे के प्रति आत्माभिव्यक्ति की जाती है। शोक-गीतियाँ अपनी करुणा में अधिक आर्द्र होती हैं और मार्मिक शैली में लिखी जाती हैं, जिनमें शैली की सज्जा की अपेक्षा आत्मद्रव, भाव की निश्छल अभिव्यक्ति और चिन्तन प्रधान होता है। राष्ट्रगीतियों में ओज, उत्साह और स्फूर्तिजन्य प्रवाह शैली में दृष्टिगत होता है। इन राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यंजना में कवि मन के उत्साह की

ओजमयी शैली में अभिव्यक्ति को सर्वोपरि महत्त्व देता है। शैली के अन्य सज्जात्मक उपादान ऐसी स्थिति में गौण हो जाते हैं, अतः इन गीतियों में अलंकरण, सौन्दर्य-बोध, कलात्मक भाषा-प्रयोग की चकाचौंध नहीं, भावनाओं का ओजमय आलोक मिलता है।

इन सब शैलियों से भिन्न गीतियों की एक शैली वह है जिनमें स्वयं अपने हृदय की बात न कहकर अपने को किसी अन्य व्यक्ति या वस्तु में रखकर कवि उसके द्वारा अपने हृदय की बात कहलाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार इन गीतियों में नाटकीय प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। इस शैली का प्रयोग मुख्य रूप से माखनलाल चतुर्वेदी ने अपनी 'पुष्प की अभिलाषा', 'कैदी और कोकिला' आदि कविताओं में किया है। सियारामशरण गुप्त और सुभद्राकुमारी चौहान ने भी कुछ कविताओं की रचना इसी शैली में की।

उपर्युक्त शैलियों में बाह्य दृष्टि से अन्तर होने पर भी कुछ विशेषताएँ समान रूप से सभी गीतियों में प्राप्त होती हैं, भावोद्गारों की स्वतःप्रेरित सहज अभिव्यक्ति, द्रवणशीलता, संक्षिप्त आकार, भाव-संगीत, भाव-संहिति तथा अनेक कलात्मक आभरणों से अलंकृत भाषा-शैली।

गीति-शैली के साथ बाह्य संगीत की योजना और सचेष्ट निर्वाह जिन कविताओं में हुआ उनकी शैली का प्रमुख गुण संगीतात्मकता है। जिस समय इस काव्य की रचना हो रही थी, उस समय संगीत की भी अनेक शैलियाँ प्रचलित थीं। इन कवियों की काव्य-रचना पर संगीत की दो प्रधान शैलियों—शास्त्रीय संगीत और सुगम संगीत का प्रभाव पड़ा। सुगम संगीत में भी उस समय तीन प्रमुख शैलियाँ प्रचलित थीं। अंशतः पश्चिम साहित्य के 'सॉङ्ग' से प्रभावित हिन्दी कविता की गीत-शैली, लोकगीतों से प्रभावित हिन्दी कविता की गीत-शैली, लोकगीतों से प्रभावित लावनी, कजरी, दादरे, रसिये और होली आदि की विविध गेय शैलियाँ तथा उर्दू की गज़ल की शैली। इनके अतिरिक्त गेय कविता की एक शैली जिसका प्रयोग सामयिक परिस्थितियों के अनुरोध से सहज रूप में स्वतः हो गया, जिस पर किसी पूर्व प्रचलित भारतीय परम्परा या विदेशी परम्परा का प्रभाव ढूँढ़ने की अपेक्षा नहीं—राष्ट्रीय गीतों की शैली है। इस प्रकार गीतों की इस काल में अनेक शैलियाँ प्रचलित हुई। शास्त्रीय संगीत, अर्थात् स्वर और लय के नियत विधानों, दूसरे शब्दों में राग और ताल के बन्धन में जकड़े गीतों में स्वभावतः छन्द-चयन अधिक सावधानी से किया गया। उनकी मूल भावना भी रागानुकूल है, शब्दावली में भी उच्चारण-संगीत, गति, लय, तथा पंक्तियों में मात्रा, वर्ण-संख्या आदि के सम्बन्ध में कवि सतर्क रहा है। इन गीतों में टेक की पंक्ति, अन्त्यानुप्रास-क्रम, लय-निपात आदि का विधान, राग-रागिनियों की गेय पद्धति के अनुकूल किया जाता है। पुरानी परम्परा के अनुकरण पर लिखे पद और आधुनिक कवियों की वन्दनाएँ—जिनमें प्रायः देवी-देवताओं और जननी जन्मभूमि का स्तवन किया गया है, इसी शैली में लिखी गई हैं। इनमें से कुछ पदों में कवियों ने राग-निर्देश भी कर किया है। 'निराला' और प्रसाद तथा 'बच्चन' के कुछ गीतों में शास्त्रीय संगीत की स्वीकृति की गई है। 'निराला' की अनेक वन्दनाएँ गायकों का कण्ठहार हैं, उनकी स्वर-साधना विभिन्न राग-रागिनियों में की जाती रही है। प्रसाद के नाटकों में रचित गीतों की तो स्वर-लिपियाँ प्रायः अन्त में दे दी गई हैं। कवि 'बच्चन' अपने

अनेक गीतों का पाठ स्वयं असावरी के स्वरों में किया करते हैं। इन गीतों की भाषा भी इसी कारण सहज अलंकृत स्फीत भाषा है। कवि इन रचनाओं में ऐसी समस्त या कर्ण-कटु भाषा का प्रयोग बचाता है जिसका श्रवण या उच्चारण सुखद न हो। इन गीतों में देशज तथा ग्राम्य शब्दावली का प्रयोग भी नहीं किया जाता। इनकी भाषा अन्य गीत-शैलियों की अपेक्षा अधिक गढ़ी हुई, कलात्मक और गति मन्थर व गम्भीर होती है।

उपर्युक्त बन्धनों की तनिक शिथिलता से उस विपुल रोमानी कला-गीतों की रचना होती है जो शास्त्रीय नहीं सुगम संगीत की स्वर-साधना के उपयुक्त होते हैं। इनमें शास्त्रीय गीतों से अन्तर यही है कि कवि स्वर और लय के संगीत के विषय में स्वच्छन्द होता है। भले ही इनका संगीत-विधान शास्त्रीय नियमों के अनुकूल भी संभव बन पड़े, परन्तु गीत-रचना करते समय कवि को इस विषय में सतर्क नहीं रहना पड़ता कि उसकी पंक्ति की एक आवृति ताल की एक आवृति में ठीक बैठेगी या नहीं, तथा उसके छन्द की मात्राएँ, आकार आदि किसी राग विशेष के स्वरों के अनुकूल पड़ेगा या नहीं। उसके गीत की स्वर-साधना किसी श्रुति-सुखद स्वर-रचना के अनुकूल हो जाय यही पर्याप्त है। अतः इस प्रकार की गीत-रचना के अन्त्यक्रम, लय-निपात, छन्दक आदि का क्रम-बन्धन कवि की अन्तः प्रेरित लय के अनुकूल होता है, परन्तु इन गीतों की रचना भी सायास अलंकृत भाषा-शैली में की जाती है, तथा इनकी प्रेरक अनुभूति व्यक्तिगत होती है। कवि इन गीतों की भाषा-शैली में साहित्यिकता के गुण का यथासंभव निर्वाह करता है। कभी-कभी इन गीतों पर सहज रूप में लोक-गीतों की शैली का आंशिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है यथा महादेवी के काव्य में। पन्त, 'निराला', 'बच्चन', रामकुमार वर्मा, नरेन्द्र, 'अज्ञेय', जगदीशगुप्त, नरेश मेहता आदि ने इस प्रकार के गीतों की रचना की।

इधर उर्दू-साहित्य के अधिकाधिक सम्पर्क और पठन-पाठन के परिणामस्वरूप हिन्दी काव्य में गेय रचनाओं के लिए उर्दू की गज़ल-शैली का प्रयोग बहुत बढ़ चला है। यह प्रभाव भारतेन्दु-युग से ही हिन्दी कविता पर लक्षित किया जा सकता है, परन्तु द्विवेदी-युग के कवियों—'पूर्ण', 'शंकर' आदि से इस शैली का विशेष सफल प्रयोग सम्भव न हुआ। गज़ल की लय का नियमन नियत मात्राओं व वर्ण संख्या के आधार पर नहीं किया जाता। उसकी लय भी शब्दों के उच्चारण (accent) पर निर्भर रहती है। इस प्रकार भाव-लय के अनुकूल शब्दों में जो उच्चारण-संगीत होता है वही गज़ल की लय का नियमन करता है। इनका आधार फारसी-छन्द शास्त्र होता है और फारसी के छन्द हिन्दी व संस्कृत के छन्दों की भाँति मात्राओं व वर्णों में बंधे नहीं रहते। उनका आधार वे बहर अर्थात् ख़ास अल्फाज़ होते हैं जिन पर शेर को तोला और जाँचा जाता है। गज़लों में एक ही भाव पर अनेक प्रकार की उक्तियाँ कही जाती हैं। भाव की मार्मिकता, नज़ाकत, थोड़े में बड़ी बात करने का प्रयत्न, कल्पना की उड़ान, और सौन्दर्य-कल्पना के साथ भाषा की मुहावरेदानी गज़ल की विशेषता होती है। इस शैली के इने-गिने प्रयोग द्विवेदी-युग के कवियों ने किये। छायावाद के भी सभी कवियों ने इस ओर रुचि नहीं दिखायी। प्रमुख कवियों में इस शैली का शौक केवल 'निराला' को हुआ। उन्होंने अनेक गज़लें 'बेला' में लिखीं। यद्यपि इन प्रयोगों की सफलता छन्द, भाषा, आदि की दृष्टि से प्रश्नातीत नहीं है, परन्तु इस शैली का प्रयोग तो है ही। इधर कुछ नये कवियों ने भी इस शैली में रचना की प्रवृत्ति

दिखायी है। हिन्दी में लिखी जाने वाली इन गज़लों में प्रायः गज़ल का अन्त्यक्रम ही अपना लिया जाता है, भावना भी कभी गज़ल की शैली के अनुकूल होती है, परन्तु भाषा की वह मुहावरेदानी और ज़िन्दादिली जो इन गज़लों का प्राण होती है प्रायः नहीं मिलती। इसका उत्तरदायित्व कवि पर नहीं, कदाचित् काव्य-भाषा पर अधिक है।]

लोक-गीतों की निसर्ग सुन्दर शैली से प्रभावित गीत भी इस युग की कविता में पर्याप्त लिखे गए। इनमें प्रायः दो प्रकार की रचनाएँ हुईं। किसी पर्व या उत्सव से सम्बन्धित सामूहिक अवसरों पर रचित उल्लासमय लोक-गीत—जिनमें सर्वाधिक रचना होली या फाग की हुई। दूसरे प्रकार की रचनाएँ किसी व्यापक और सामूहिक अनुभूति के व्यक्तिगत रूप को विषय बनाकर लिखी गईं। इनकी प्रेरक अनुभूति वैयक्तिक तो होती है परन्तु एकान्तिक नहीं। इन रचनाओं में मुख्यतः—कजली, दादरा, रसिया, बिरहा और लावनियाँ लिखी गईं। भारतेन्दु-युग की कविता में कुछ हिंडोले, झूलने आदि भी लिखे गए, परन्तु बाद में ये शैलियाँ विशेष प्रचलित नहीं हुईं। पहले प्रकार के लोक-गीतों में पर्व-विशेष से सम्बद्ध उल्लासमय भावनाओं की अभिव्यक्ति की प्रधानता रहती है। इनकी लय में प्रखर गति, उल्लासजन्य स्फूर्ति और उत्साह वर्तमान रहता है। इन पर्वों के साथ नृत्य गान का सम्बन्ध परम्परा से स्थापित होने के कारण इनमें स्वर और ताल का संगीत सहज रूप में सन्निविष्ट रहता है। इनके प्रकृत लोक-प्रचलित रूप में जो अतिशय उन्मद भाव और अश्लीलता अनेक स्थलों पर आ जाती है, स्वभावतः इनके साहित्यिक प्रयोग उनसे मुक्त हैं। इन लोक-गीतों का सम्बन्ध भारत के विविध प्रदेशों से है अतः इनका लोक-प्रचलित रूप प्रादेशिक भाषाओं में ही निबद्ध मिलता है। साहित्य में इनकी रचना प्रचलित काव्य-भाषा में ही हुई, जिनमें देशज शब्दों का प्रयोग यत्र-तत्र किया गया। लोक-गीतों के प्रकृत उल्लास, अनौपचारिक अभिव्यक्ति और अनगढ़ कला से प्रभावित होने पर भी इन कवियों ने अपना साहित्यिक संस्कार और व्यक्तित्व बनाये रखा। सर्वाधिक प्रभाव-ग्रहण, इन गीतों की लय और अकृत्रिम व उल्लासमय अभिव्यक्ति का किया गया। होली रचना की शैली द्विवेदी-युग के कवियों से 'निराला' तक ही आई। उनके उपरान्त यह शैली अधिक प्रचलित नहीं हुई। 'निराला' द्वारा रचित होलियों की अभिव्यंजना में साहित्यिक संस्कार अधिक है।

लावनी, कजली, बिरहा, दादरा, आल्हा आदि का सम्बन्ध किसी विशेष उत्सव या पर्व से नहीं है, परन्तु लोक-गीतों की अभिव्यक्ति प्रायः सामूहिक अवसरों पर ही होती है। इन विभिन्न लोक-गीतों के प्रकारों में परस्पर रचना-विधि का, अर्थात् गीत की रूपगत विशेषता का नहीं, गाने की लय का अन्तर होता है। कुछ विशेष प्रकार के गीतों के लिए गाने का एक विशेष ढंग, विशेष प्रकार की धुनें, प्रयोग और परम्परा से निश्चित हो गई हैं और उन्हें विभिन्न नाम दे दिये गए हैं। भारत के विविध प्रदेशों में ये गीत अनेक भाषाओं और रूपों में लोक-जीवन में बिखरे हैं। कवि इन्हें वहीं से ग्रहण करता है अतः परम्परा से निश्चित इनकी लय को भी वहीं से उठा लेता है, उसके पीछे शास्त्रीय नियम तथा विशेष रचना सम्बन्धी बन्धन नहीं होते। सहज रूप में लोक-जीवन की निसर्ग सुन्दर मार्मिक भावानुभूतियों के साथ उनकी कला से भी हमारी काव्य-विधाएँ प्रभावित होती आई हैं। इसलिए कवि जब कविता करते समय लोक-गीत के विशिष्ट प्रकार को अपनाता है, तो उसके प्रचलित गेय रूप से वह अवगत होता है, अतः वह

उसी ढंग पर अपनी गीत-रचना में लय के विधान, मूलवर्ती भावना और रचना-सम्बन्धी बंदिशों को स्वीकार कर लेता है। ये लोकगीत परम्परा की दृष्टि से अपने विशिष्ट रूपों में रूढ़ हो गए हैं, अन्यथा एक ही गीत को लय की दृष्टि से एकाधिक प्रकार से गाने में कोई बाधा नहीं होती। इस रूढ़ि बन्धन का एक निश्चित कारण है। इन विविध प्रकार के लोक-गीतों का सम्बन्ध विशिष्ट भावनाओं से होता है और किसी भी गीत की स्वर-साधना उसकी मूलवर्ती भावना पर निर्भर रहती है। एक विशेष प्रकार के भाव को निश्चित स्वर-लहरी से गाने पर ही वह श्रोता पर अभीष्ट प्रभाव डालता है, अतः इन लोक-गीतों की विशिष्ट लयों का आरम्भिक रूप इसी प्रकार निश्चित हुआ होगा। बाद में प्रयोग से यह रूप रूढ़ हो गए और साहित्यिक रचनाओं में भी परम्परा का अनुसरण करते हुए उस पर आधृत गीत लिखे जाने लगे।

इन गीतों का विषय मानव-मन की कोई अत्यन्त मार्मिक (प्रायः विरह) अनुभूति होती है जिसकी अभिव्यक्ति उसके प्रकृत और हृदयस्पर्शी रूप में, बिना संस्कार का प्रयत्न किये, कला का आवरण चढ़ाए, कवि करता है। इन गीतों में प्रभावात्मकता का गुण विशेष होता है, और यह आकर्षण इनकी बाह्य शैली का नहीं, व्यक्त अनुभूति की तीव्रता और सचाई का होता है। इनकी शैली में आत्मद्रव होता है, मार्मिकता होती है एवं प्रभावित करने का गुण होता है। विरह-व्यंजक गीतों में करुणा की अन्तर्धारा प्रवाहित रहती है, परन्तु इनकी शैली अकृत्रिम, अनगढ़ और निसर्ग-सुन्दर होती है। उसमें अलंकारों के प्रयोग और कलागत चमत्कार की साधना नहीं की जाती। जो कवि सिद्धान्त-रूप में जन-जीवन को जितने समीप से देखता रहा, उसके महत्त्व की स्वीकृति करता रहा, उसके काव्य में इस सम्पर्क के परिणामस्वरूप इस जीवन की कला का उतना ही अधिक प्रभाव पड़ा। इसी कारण प्रसाद और पन्त की कविता में लोक-गीतों की शैली का संस्पर्श नहीं मिलता। महादेवी ने अपने गीतों में नारी के संस्कारवश इन गीतों की लय और शब्दावली का प्रयोग किया। 'निराला' ने भी अनेक रचनाएँ कजरी, होली आदि के अनुसरण पर कीं। नई कविता में जन-जीवन को अधिकाधिक महत्त्व देने के कारण लोक-जीवन से काव्य-शिल्प का भी ग्रहण किया गया। सामान्यतःकाव्य में संगीत की अवहेलना करने वाले ये कवि संगीत के इस रूप का दासत्व स्वीकार कर गए। कदाचित् इसीलिए कि इस संगीत में भी जीवन की अकृत्रिम, अनगढ़, प्रकृत सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है, और ये विशेषताएँ इनकी काव्य-रचना के सिद्धान्तों के अनुकूल पड़ती थीं। अतएव 'अज्ञेय' से नरेश मेहता, जगदीश गुप्त और शम्भूनाथसिंह तक नई कविता के रचयिता अनेकानेक कवियों ने लोक-गीतों के विविध रूपों—आल्हा, बिरहा, कजली आदि का प्रयोग किया। इन्होंने इन गीतों की मार्मिक अनुभूति और स्वाभाविक अभिव्यंजना-शैली की तो रक्षा की ही है, साथ ही प्रादेशिक भाषाओं के शब्दों का भी खुलकर प्रयोग किया। इस दिशा में ये किसी प्रकार के संस्कार, कलात्मक चमत्कार अथवा साहित्यिकता के पक्ष में न थे, परन्तु इनका मूलतः बौद्धिक दृष्टिकोण, कहीं-कहीं इस शैली के सफल प्रयोग में बाधक हुआ है। इन लोक-गीतों से इनका हार्दिक नहीं, बौद्धिक सम्पर्क है। इनमें से अधिकांश कवि अपनी काव्य-रचना का अधिकांश समय भारत या विदेश के नगरों में व्यतीत करते रहे, अतः अनेक गीतों में लोक-गीतों की शैली के प्रयोग का झूठा भ्रम, या आभास मात्र मिलता है। प्रायः हिन्दी-कविता में उत्तर भारत में प्रचलित लोक-गीतों का

ही अपनाया जाता रहा है। इन नए कवियों ने इस शैली की सीमाओं का विस्तार किया। धर्मवीर भारती ने गुजराती लोक-गीत 'गरबा' की लय पर 'धूप के धान' में गीत-रचना की। 'अज्ञेय' ने कांगड़े के लोक-गीत का आभास देते हुए एक लघु गीत लिखा। नरेश मेहता आदि की रचनाओं पर अंशों में विविध लोक-गीतों का प्रभाव दृष्टिगत होता है। लोक-गीतों का कोष असीम है, यदि उस क्षेत्र से सामग्री-संचयन कर साहित्य के भण्डार में विवेक से निरन्तर वृद्धि की गई तो सम्भावनाएँ शुभ हो सकती हैं। हिन्दी-कविता की इस शैली का भविष्य उज्ज्वल है, यदि इसमें प्रादेशिक रंगों को गहरा कर हमारा कवि-वर्ग इसे अबोधगम्य न बना दे।

बौद्धिक-शैली—हिन्दी-कविता की अधुनातन शैली यही चिन्तनप्रधान शैली है। इस शैली का प्रयोग प्रधान रूप से तीन प्रकार की कविताओं में हुआ—नैतिक-उपदेशात्मक, विचार-विश्लेषणात्मक और विचार-प्रतिपादनात्मक। इनमें से पहली और तीसरे प्रकार की कविता इतिवृत्त शैली में लिखी गई, और इस कविता का प्रणयन द्विवेदी-युग और प्रगतिवाद के कवियों द्वारा हुआ, अतः यहाँ हमारा संकेत दूसरी अर्थात् विश्लेषण के लिए प्रयुक्त शैली की ओर है।

इस शैली का आरम्भ छायावादी काव्य में ही हो गया था। अध्यात्म और जीवन-दर्शन के अनेक विचार सत्यों का विवेचन और विश्लेषण इसी शैली में किया गया, परन्तु वहाँ विचार के द्वारा भावना आवृत नहीं होती। ये कवि विचारों को अनुभूति का विषय बनाकर व्यक्त करते रहे, अतः इनकी कविता में गीति शैली का प्रयोग अधिक हुआ है। एकान्त बौद्धिक कविता का आरम्भ नई कविता से ही होता है। ये कवि विचार पर भाव का रंग चढ़ाने के पक्ष में नहीं और विषय के प्रति भी इनका दृष्टिकोण रागात्मक की अपेक्षा बौद्धिक है, अतः अपने विचारों को यथावत् रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न सर्वप्रथम इन्हीं कवियों ने बौद्धिक शैली में किया। इनकी इस विषयगत विशेषता से शैली का बाह्य रूप प्रभावित हुआ, उसमें अनेक अभिव्यंजना सम्बन्धी विशेषताएँ उत्पन्न हो गई। इस शैली की प्रथम विशेषता है—परम्परागत अभिव्यंजना शैली का त्याग। ये कवि कला के रम्यादभुत प्रसाधनों से मुक्त अभिव्यंजना के प्रयोग में विश्वास करते थे। जो विचार इनकी कविता का प्रेष्य होता है, उसे मूर्ति-विधायिनी कल्पना के द्वारा मूर्तरूप देने, सौन्दर्य-चेतना के सहारे सौन्दर्य-व्यंजक अप्रस्तुतों के माध्यम से व्यक्त करने, यथासम्भव सुन्दर और रमणीय बनाने की अपेक्षा, ये कवि उसे यथावत् रूप में पाठक तक पहुँचाने का प्रयत्न करते थे, अतः इनमें चित्र-विचित्र बिम्ब-विधान, भाषा-सज्जा, अलंकारों का प्रयत्न-साध्य प्रयोग नहीं मिलता। इन उपादानों का प्रयोग इन कवियों ने वहीं तक किया है जहाँ तक ये उपकरण इनकी विचाराभिव्यक्ति में सहायक हुए, विचारों के शृंगार के लिए नहीं, इसलिए कहीं-कहीं इनकी अप्रस्तुत-योजना और अभिव्यंजना विचित्र मौलिकता लिये हुए है, और कहीं नितान्त अनगढ़ रूप में प्रस्तुत हुई है। कारण है कि यदि इनके विचारों में अस्पष्टता या कुरूपता है तो ये उसे अभिव्यंजना में आवृत करके नहीं, यथातथ्य रूप में प्रेष्य बनाते हैं। अभिव्यक्ति में उत्पन्न होने वाली अवांछित दुरूहता का कारण भी यही अतिशय बौद्धिकता है। इस बौद्धिक शैली में अभिव्यंजना-सम्बन्धी विशेषताएँ मौलिक अप्रस्तुत-योजना, दुरूहता तथा कहीं-कहीं अनगढ़ता है। उपर्युक्त विशेषताओं का कारण-रूप में एक ही विशेषता से सम्बन्ध है—मौलिक, परम्परा-विरोधी अप्रस्तुत-विधान, अतः इनका परिगणन एक ही शीर्षकान्तर्गत किया गया है।

विचार-प्रतिपादन के लिए कभी-कभी ये कवि अलंकारों का प्रयोग करते ही नहीं, अतः सर्वथा अनलंकृत अभिव्यंजना इस शैली की दूसरी विशेषता है। पूरी की पूरी कविता पढ़ जाइये पंक्तियों के बाद पंक्तियाँ चलती जायँगी, परन्तु अलंकार और प्रयत्नसाध्य सज्जा ढूंढ़ने से भी नहीं मिलेगी। ऐसी कविताओं में हृदय नहीं, बुद्धि रमण करती है, और इनका आकर्षण भावगत रमणीयता और शैलीगत सौन्दर्य नहीं, विचारों की गहनता होती है। इनमें प्रायः विचारों की गम्भीर व्यंजना मिलती है। ऐसे कुछ प्रयोग अपनी गहन बौद्धिकता में भी बोधगम्य होने के कारण ग्राह्य हैं। उनका अपना आकर्षण है। आज के मानव की अनिश्चित मनःस्थिति और गन्तव्य का विश्लेषण नया कवि इस प्रकार करता है :

कौन-सा पथ है ?
मार्ग में आकुल-अधीरातुर बटोही यों पुकारा—
कौन-सा पथ है ?
"महाजन जिस ओर जाएँ"—शास्त्र हुँकारा
"अन्तरात्मा ले चले जिस ओर"—बोला न्याय-पण्डित
"साथ आओ सर्व साधारण जनों के"—क्रान्ति वाणी
पर महाजन-मार्ग गमनोचित, न सम्बल है, न रथ है,
अन्तरात्मा अनिश्चय-संशय-ग्रसित,
क्रांति-गीत-अनुसरण योग्या है न पद सामर्थ्य···[1]

नए कवियों में इस शैली का प्रयोग गजानन मुक्तिबोध ने, कुछ कविताओं में भारत-भूषण अग्रवाल ने तथा प्रभाकर माचवे और 'अज्ञेय' ने किया है। गजानन मुक्तिबोध की कविता में विचार खण्डित एवं अस्पष्ट रूप में मिलते हैं, इसीलिए उनकी कविता में विचार-सम्बन्धी एक उलझन व्याप्त है। भारतभूषण अग्रवाल की कविताओं में विचार-व्यंजना प्रायः निर्भ्रान्त और स्पष्ट रूप में हुई है, परन्तु उनकी अनेक कविताओं में कविता के संगीत का सर्वथा परित्याग कर देने के कारण गद्यवत् जड़ता आ गई है। माचवे और 'अज्ञेय' की रचनाओं में इन तत्त्वों का संतुलित प्रयोग है।

इस शैली की तीसरी विशेषता है संगीत का सर्वथा परित्याग। एक तो ये कवि सिद्धान्त रूप में काव्य के लिए संगीत की आधीनता को काम्य नहीं मानते। इन्होंने कविता को संगीत की सदियों पुरानी दासता से मुक्त करने के चक्कर में काव्य के एक प्रकृत गुण पर कुठाराघात किया। मुक्त छन्द का मात्रा, वर्ण, यति, विराम आदि से ही नहीं लय से भी मुक्त प्रयोग इनके इस प्रयत्न में साधक हुआ। विचार के विश्लेषण, निरूपण तथा तर्क और युक्ति द्वारा प्रतिपादन का अधिक उचित माध्यम गद्य होता है। यदि यह विचार-व्यंजना कविता के रम्य और अलंकृत तत्त्वों से मुक्त भाषा में की जाय तो वह गद्य के और भी निकट आ जाती है। ऐसी स्थिति में गद्य और कविता के बीच एकमात्र व्यावर्तक तत्त्व छन्दोबद्धता रह जाती है, और यदि छन्द के लयात्मक संगीत का भी परित्याग कर दिया जाय तो ऐसी कविता शब्दों के हेर-फेर से लग-

---

१. तारसप्तक—भारतभूषण अग्रवाल, पृष्ठ ३८

भग गद्य-रचना के समान ही हो जायगी। यही दोष नई कविता के कुछ प्रयोगों में मिलता है। ऐसी स्थिति में ये कविताएँ प्रायः वाक्यविन्यास-दोष-युक्त गद्यानुच्छेद प्रतीत होती हैं, क्योंकि इनमें यति और विराम का प्रयोग भी सुविधानुसार पंक्ति के आरम्भ, मध्य या अन्त में, कहीं भी कर लिया गया है और इनकी पंक्तियाँ भी दूरान्तरप्रवाही होती हैं। इन कविताओं का शब्दों के हेर-फेर से यथावत् गद्य रूपान्तर किया जा सकता है। एक उदाहरण लीजिये :

अपने कवि से···

.....

इस भाँति आज कवि के अतिशय उत्कट विचार, सुख दुख प्रतीति
रह जाते हैं कल्पना मात्र। सब बन्धन से दुष्कर बन्धन
है शब्दों का, जो नहीं निकट आने देता कवि एवं उसकी आत्मपूर्ति
को जग के भौतिक सत्यों के; छाया के सदृश अर्थहीना
करता है उसकी वाणी को ! कैसी विडम्बना ! स्थिर साधन
यद्यपि चिर-गति-मय साध्य। देवता बदल गये, बदली न मूर्ति।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों का बिना शब्दों में कुछ जोड़े-तोड़े, थोड़े से स्थल-परिवर्तन से गद्य-रूपान्तर प्रस्तुत करते हैं :

इस भाँति आज कवि के अतिशय उत्कट विचार, सुख-दुःख प्रतीति कल्पना मात्र रह जाते हैं। सब बन्धन से दुष्कर बन्धन शब्दों का है, जो कवि एवं उसकी आत्मपूर्ति को जग के भौतिक सत्यों के निकट नहीं आने देता, उसकी वाणी को छाया के सदृश अर्थहीना करता है। कैसी विडम्बना ! चिर-गति-मय साध्य, स्थिर साधन। देवता बदल गये, मूर्ति न बदली।

उपर्युक्त रूपान्तरण में पूरक क्रियाओं एवं विभक्तियों का प्रयोग करने की आवश्यकता भी नहीं पड़ी है। केवल अन्वय-भेद से पद्य की पंक्तियाँ विराम चिह्नों के परिवर्तन से गद्य में बदली जा सकती हैं। प्रश्न है इन कविताओं को कविता कैसे माना जाय ? कुछ रचनाओं में तो विचार और विषय गद्य माध्यम के उपयुक्त हैं, परन्तु अभिव्यंजना पद्यात्मक है। ऐसी कविताओं को पढ़कर प्रतीत होता है कि पद्य की कारा में गद्य की आत्मा बन्दिनी है। तर्क दिया जा सकता है कि आज के संघर्ष और समस्याओं की धूल और मिट्टी से भरे जीवन में मोहक वायवी कल्पनाओं और रंगीन स्वप्नों के लिए अवकाश नहीं है। अधिक से अधिक भौतिक आदर्शों की कल्पना काम्य हो सकती है, रोमानी नहीं। यदि देखा जाय तो हर प्रकार की कल्पना को कठोर यथार्थ और तीव्र गति से परिवर्तित जीवन की वास्तविकताओं ने व्यर्थ सिद्ध कर दिया है, अतः आज का कलाकार मिट्टी से जूझता है आकाशचारी नहीं बन पाता। परन्तु ऐसी स्थिति में यदि कविता के आदर्श बदल गए तो माध्यम बदलने में क्या बाधा है ? गद्य को छोटी-बड़ी पंक्तियों में तोड़कर, शब्दों के क्रम में किंचित् हेर-फेर से प्रस्तुत करने के प्रपंच को कविता कैसे माना जा सकता है ? ऐसी कविता उसी व्यक्ति के समान प्रतीत होती है, जिसकी आत्मा बन्दिनी है, परन्तु स्वयंनिर्मित मिथ्या बन्धनों में।

---

१. तारसप्तक—भारतभूषण अग्रवाल, पृष्ठ ३३

केवल हठधर्मी के कारण काव्येतर ललित कलाओं के काव्य-क्षेत्र में प्रवेश का यह निषेध काव्य-सौन्दर्य को क्षति पहुँचाता है। यह ठीक ही है कि काव्य कला अन्य कलाओं की मुखापेक्षी नहीं, उसे अपनी सत्ता के लिए किसी अन्य कला की दासता स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं। परन्तु यदि अपनी स्वतन्त्र स्थिति, आत्मनिर्भरता बनाए रखकर सौन्दर्य-वर्द्धन के लिए अन्य कलाओं से आदान-प्रदान सम्भव हो, तो उसका दुराग्रहपूर्ण निषेध करने की क्या सार्थकता होगी? काव्य का सम्बन्ध ललित कलाओं में चित्र और संगीत से विशेष रहा है। यह सम्बन्ध दासत्व का नहीं अंग-अंगी है। छन्द, काव्य में संगीत के एक विशेष प्रकार – लय के संगीत का विधायक है। वह शास्त्रीय नियमों से मुक्त हो सकता है परन्तु लय का सर्वथा निषेध छन्द की गति के लिए काम्य नहीं हो सकता। मुक्त छन्द की मुक्ति पिंगल शास्त्र के नियमों से ही स्वीकार्य हो सकती है, परन्तु भाव-लय के आधार पर उसमें एक अन्तःप्रेरित लय या संगीतात्मकता होनी अनिवार्य है। मुक्त छन्द की इन रूढ़ नियमों से स्वच्छन्द लय ही उसका प्राण तत्त्व है, लय-मुक्ति या गद्यात्मक अभिव्यक्ति नहीं। नई कविता में केवल नियमों से परिबद्ध लय का ही नहीं, लय मात्र का सर्वथा त्याग कर दिया गया है। इसीलिए ऐसे अनेक उदाहरण इन कविताओं से दिये जा सकते हैं जो केवल बाह्याकार से और वाक्य-रचना के वैशिष्ट्य से पद्य प्रतीत होते हैं, अन्यथा उनकी आत्मा और शैली दोनों में ही कविता की धाराप्रवाह गति नहीं, गद्य की जड़ता व्याप्त है। बौद्धिक शैली में कविता क्रमशः गद्य की ओर बढ़ती जा रही है, कम से कम इस कविता में गद्य और पद्य शैलियों की सीमा रेखाएँ मिली अवश्य हैं।

इस शैली की अन्तिम विशेषता है घनत्व। इसमें वर्णन का सरल स्फीत, विस्तार और विकास नहीं होता, भावनाओं की उच्छ्वसित, अन्तर्धारा से उद्भूत द्रवित प्रवाह भी नहीं मिलता। इनमें बौद्धिक-जड़ता, सघनता और स्थिर गति मिलती है। जहाँ ये कवि क्रान्ति के लिए ललकारते हैं (इनकी शैली में प्रायः स्फूर्ति और उत्तेजना के गुण भी नहीं हैं) वहाँ तो क्षणिक बौद्धिक उत्तेजना इनकी शैली में आ जाती है, परन्तु ऐसा बहुत कम होता है। यह कविता रुक-रुककर बुद्धि से चिन्तन-मनन के द्वारा विश्लेषण और ग्रहण करने की कविता है, सौन्दर्य-बोध जगाने, आत्मविभोर और मुग्ध करने का काव्य नहीं। विचार की जीवन में अपनी उपयोगिता और महत्त्व है। उसे काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता, परन्तु उसका अतिचार भी काव्य की आत्मा के लिए हितकर नहीं हो सकता। इस कविता ने निश्चय ही हमें नवीन दिशाएँ और व्यापक दृष्टिकोण दिया। जो क्षेत्र, जो राहें अब तक काव्य के लिए अवरुद्ध थे, उनका अन्वेषण और उन्मीलन किया, अतः रूपविधा और शैली के नाम पर भी बहुत कुछ नवीनता इस काव्य में उपलब्ध है, परन्तु साथ ही नवीनता के नाम पर जो कुछ दुराग्रह इन कवियों के प्रयत्नों में मिलता है, उसको दृष्टि में रखते हुए इस काव्य का भविष्य अनिश्चित ही प्रतीत होता है।

नवीन प्रयोग-प्रधान अभिव्यंजना-शैली— इस विशेषता का सम्बन्ध आधुनिक युग में पिछले खेवे के कवियों से ही अधिक है। इस प्रसंग में हमारा अभिप्राय केवल उस चमत्कार से है जिसकी सायास साधना की जाती है। चमत्कारप्रधान अभिव्यंजना का अभाव यों छायावादी काव्य में भी नहीं, परन्तु वह चमत्कार भावप्रेरित है। शैली वहाँ भाव की अनुवर्त्तनी है। रीतिकाल के कवियों ने काव्य में जिस चमत्कारप्रियता का परिचय दिया वह शास्त्रीय, लक्षण-

बद्ध, सधी-बँधी चमत्कार शैली थी, परन्तु आधुनिक साहित्य में छायावाद के विरोध में उदित शिल्पगत आन्दोलन का स्वरूप बिल्कुल भिन्न था। इन कवियों से पूर्व अभिव्यंजना-साधना के नाम पर हिन्दी-साहित्य में जो कुछ उपलब्ध है, उसमें प्राचीनता-मोह, लक्षणबद्धता, अथवा संस्कार या भावप्रेरित चमत्कार ही प्रधान है। परम्परा और संस्कार के नाम पर जितनी भी अनास्था सम्भव हो सकती थी वह सब इस नई कविता में है और इनका शैली-चमत्कार बुद्धिप्रेरित अतः साध्य है भावप्रेरित व सहज नहीं। ये चमत्कार और नवीनता का सन्निवेश केवल इसलिए नहीं करते कि शैली में नयापन, दूर की सूझ-बूझ, अलंकार और भाषा के नवीन प्रयोग इनके व्यापक कलाधिकार की सूचना दें, कुतूहल और वैचित्र्य की सृष्टि करें। इस अभिव्यंजना-सम्बन्धी मौलिकता और नवीनता के दुराग्रह के मूल में निश्चित धारणाएँ, तर्क और कारण हैं। जिनसे इन कवियों ने सदैव आरोपों से स्वरक्षा का प्रयत्न किया है।

इनकी धारणा है कि पुरानी भाषा के उपमानों, प्रतीकों, मुहावरों आदि का इतना अधिक प्रयोग किया गया है कि घिसकर उनका मुलम्मा छूट गया है, अतः इन्होंने भाषा का वैयक्तिक प्रयोग किया। इनके अनुसार प्रत्येक शब्द प्रत्येक कवि के मन में वैयक्तिक अर्थ की प्रतीति कराता है। इनका दावा यही है कि ये इस व्यक्तिगत अर्थ-प्रतीति के अनुसार शब्दों में नया और सारगर्भित अर्थ भरते हैं और शब्दावली को व्यापक बनाते हैं।

भाषा की शक्तियों के साथ इन कवियों ने अतिचार किया। उसके लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का सम्बन्ध वाच्यार्थ से सर्वथा तोड़ दिया। सूक्ष्म और गूढ़ भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा को अपर्याप्त और असमर्थ माध्यम मानकर अनेक विराम-चिह्न, गणित-चिह्न, तिरछी-सीधी लकीरों आदि का प्रयोग किया। जाने-अनजाने, विदेश की मूर्तिवादी, प्रतीकवादी और प्रभाववादी, अनेक प्रवृत्तियों का ये कवि अनुकरण करते रहे। नवीन सौन्दर्य-बोध की निरन्तर पुकार से नए मूल्य सामने आए। क्रमशः शैलीगत नवीनता की इस पुकार ने नारे का रूप धारण कर लिया। इस अतिशय नवीनता के कारण इनकी शैली अनेक स्थलों पर दुरूह हो गई है। ये कवि सिद्धान्त-रूप में मानकर चलते थे कि कविता अनिवार्यतः दुरूह होगी, अतः इनकी दुरूहता केवल अभिव्यक्तिगत नहीं—

"जब कवि के विचार-जगत् में यह गम्भीर उलझाव और कुहासा है तो उसकी अभिव्यंजना के जो उपकरण हैं अर्थात् भाषा, प्रतीक, उपमान, छन्द अपने आप अस्वाभाविक, अधूरे, खंडित और रूप-व्यक्तित्व-विहीन होंगे। भाषा जानबूझकर बिगाड़ी या गढ़ी हुई होगी जिसका व्यावहारिक जीवन से कोई सम्बन्ध न होगा, चेष्टापूर्ण लाये हुए निरर्थक, बोधशून्य प्रतीक होंगे, उपमानों में कोई तारतम्य नहीं होगा और छन्द के नाम पर भ्रष्ट गद्य भी न मिलेगा। चमत्कार पैदा करने के लिए, कविता को साधारण से अलग दिखाने के लिए शोमैनशिप के नये-नये तरीके अपनाये जायेंगे, दूर की कौड़ी लाने का अथक प्रयत्न किया जायगा ताकि लोग चौंक पड़ें और कहें कि हाँ, यह नई बात है।"[1]

अतः इनकी शैली की प्रमुख विशेषता शोमैनशिप और चौंका देने वाली शैली-शिल्प का

---

१. धूप के धान—गिरिजाकुमार माथुर, पृष्ठ ११-१२

ग्रहण है। यह शोमैनशिप ये अनेक रूपों में लाते हैं, इस बात को स्वयं इन्होंने स्वीकार किया है। भाषा का केवल दुरूह नवीन अर्थव्यंजक ही नहीं चित्र-विचित्र प्रयोग भी ये कवि कर डालते हैं—"तद्भव और तत्सम की गड़बड़ की बात तो जाने ही दीजिए, अँगरेज़ी, बँगला, अरबी, फारसी, रूसी, चीनी, जापानी के अनेक शब्द अपने रूप में आपको एक साथ एक ही पंक्ति में मिल जायँगे। फिर कॉमा, फुलस्टाप, कोलन, डैश, ब्रैकिट आदि अनेक विरामचिह्नों से पाठक को जूझना पड़ता है।"[1] इस प्रकार इनकी यह शोमैनशिप भी नानारूपिणी है—भाषागत, छन्द और अलंकार सम्बन्धी विरामचिह्न और समवेत रूप में शैली-सम्बन्धी।

ये कवि अपने पक्ष में प्रायः साम्प्रतिक जीवन के सन्दर्भ में पुरानी मान्यताओं की व्यर्थता और अनास्था तथा उससे उत्पन्न आन्तरिक हलचल, सामाजिक संघर्ष से आक्रांत मन की स्थिति का तर्क देते हैं, "नये कवि के मन का यह दूसरा सत्य ही उसके नए प्रतीकों और उपमानों में छिपा पड़ा है। उसका मन खण्डित है क्योंकि उसके सामने समाज खंडित होता जा रहा है, उसका मन अंधकार से भरा है क्योंकि सामाजिक प्रगति का मार्ग स्थूल दृष्टि से तो कहीं भी दिखाई नहीं देता और वह कल्पना-लोक में पलायन कर नहीं पाता क्योंकि उसे अपने दायित्व का भी ध्यान है।"[2]

अतः इन कवियों का प्रयास अपने चेतन-अवचेतन मन के अनुभव-खंडों को यथावत अंकित करने का है। इनकी अनुभूति जिस निविड़, गूढ़, अस्पष्ट रूप में होती है, वैसी ही अर्ध-व्यक्त इनकी अभिव्यक्ति होती है। इनके अनुसार आज के उलझे जीवन में भावों के इतने शेड्स हैं, इतनी भिन्न-भिन्न उलझी छायाएँ हैं—जिन्हें स्थायी, संचारी आदि पारिभाषिक शब्दों में न बाँधा जा सकता है, न इनकी निश्चित अभिव्यक्ति सम्भव है, अतः इन अस्पष्ट भाव-खंडों को व्यक्त करने का प्रयास अपने-आप में असाधारण है। इस दुष्कर प्रयास का अर्थ यही है कि इनकी अनुभूति में इन अस्पष्ट, बिखरे अनुभव-खण्डों को सूत्र में बाँधकर आकार देने की सामर्थ्य नहीं है। परिणाम हुआ है शैली के उपकरणों का एकान्त वैयक्तिक और चमत्कार-मूलक प्रयोग। भाषा सामाजिक आदान-प्रदान का साधन है, अतः उसका एकान्त वैयक्तिक प्रयोग दुष्प्रयास है। इस वैचित्र्य में भी एक प्रकार का सामान्य गुण, परम्परा से सम्बन्ध होना चाहिये, कम-से-कम इतना कि उसकी प्रेषणीयता बाधित न हो। अतः जहाँ इनकी शैली में नवीनता है पर एकान्त वैयक्तिकता नहीं, दुरूहता है परन्तु प्रेषणीयता असम्भव नहीं, वहाँ इनकी कविता, शैली की दृष्टि से, जीवन की माँग एवं चिर परिवर्तनशील और गत्यात्मक जगत की आवश्यकता के साथ आगे बढ़ी है।

जिस चित्र-विचित्र नवीनता का संकेत किया गया, वह सभी नए कवियों की सभी कविताओं में नहीं। यह केवल कुछ कवियों की कुछ कविताओं की बात है। विवेक के अंकुश में रहकर जहाँ इन कवियों ने हमें व्यापक एवं नया सौन्दर्य-बोध दिया है, अभिव्यंजना के क्षेत्र में रूढ़िग्रस्त मानदण्डों में परिवर्तन उपस्थित कर शत-शत नवीन अभिव्यंजनागत मार्ग उन्मुक्त किए हैं, वहाँ

---

१. नये-पत्ते—अंक ४ (मार्च) नयी कविता में रूप-विधान और वस्तु-तत्त्व—भारतभूषण अग्रवाल
२. वही, पृ० २५

इनका योगदान प्रशंसनीय है। समीक्षक वर्ग में इन कविताओं का विशेष स्वागत नहीं होने का एक कारण इनके द्वारा अपनी सैद्धांतिक दुरूहता का प्रचार है। इस कविता के समग्र का अध्ययन करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचने में विलम्ब नहीं होगा कि इस समग्र साहित्य में सर्वथा अनर्गल कविता अनुपात की दृष्टि से बहुत कम है। अधिकांश रचनाओं के पीछे किसी-न-किसी स्वदेशी या विदेशी काव्यधारा का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव मिल जायगा। शैली के अन्य रूपों का विवेचन करते हुए सिद्ध किया जा चुका है कि किस प्रकार इन कवियों ने लोक-साहित्य में और स्वदेशी-विदेशी काव्य में प्रचलित विधाओं को ही एक पग आगे विकास की दिशा में बढ़ाया है। परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न, सर्वथा अनर्गल और सर्वथा नूतन प्रयोग इस काव्य में कम है (जो हैं वे कविता नहीं) नवीन कहलाने का आग्रह अधिक। जो कुछ नवीन इनमें है उसमें से अधिकांश का प्रकट आभास छायावाद के ह्रासकाल के कवि दे चुके थे। इनका विद्रोह शैलीगत अधिक है :

"चाँदनी चन्दन सदृश" :
हम क्यों लिखें ?
मुख हमें कमलों सरीखे क्यों दिखें ?
हम लिखेंगे :
चाँदनी उस रुपये सी है कि जिसमें
चमक है पर खनक गायब है।
हम कहेंगे ज़ोर से :
मुँह घर-अजायब है
(जहाँ पर बेतुके अनमोल, ज़िन्दा और मुर्दा
भाव रहते हैं।)[1] —(कवियों का विद्रोह)

परन्तु इस तरह की बात निराला बहुत पूर्व 'नये पत्ते' में कह चुके थे—

फिर भी यह बस्ती है गाँव पर
नातिन जैसे नानी की गोद पर,
नाम है दिलगी, बनी है मूचुम्बी
जैसी लौकी की लम्बी तुम्बी।[2] (खजोहरा)

अलंकार-योजना—काव्य और शैली का पारस्परिक सम्बन्ध अविभाज्य है। शैली प्रायः कविता के विषय और कवि के कला-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर निर्भर रहती है। जिस काव्य में विषय, चेतना, रूप-विधान, भाषा सभी दृष्टियों से परम्परा-मुक्ति का प्रयत्न मिलता है, उसकी अलंकार-योजना में भी निश्चय ही नवीनता और परम्परा-मुक्ति मिलती है। यह इस कविता की अलंकरण-विधि का एक पक्ष है। दूसरी ओर ये कवि परम्परा से सर्वथा मुक्त भी न हो सके, विशेष रूप से आरम्भिक कविता में इनका प्रयत्न परम्परा विद्रोह का नहीं है। किसी बन्धन से मुक्ति की कामना करने तथा विद्रोह करने में प्रमुख अन्तर यही है, कि मुक्ति की कामना

---

१. नई कविता—१९५४, अंक १, पृ० २१
२. नए पत्ते—निराला, पृ० ११

सृजनात्मक होती है और वहीं तक की जाती है जहाँ तक वह अपने लिए शुभ हो। विद्रोह में क्रांतिमूलक ध्वंस की प्रवृत्ति का प्राधान्य रहता है और बन्धन से सम्बन्ध-विच्छेद कर उसे नष्ट-भ्रष्ट करके आमूल परिवर्तन की लालसा प्रधान होती है। मुक्ति के प्रयत्न में प्रायः विवेक रक्षित रहता है और विद्रोह की उत्तेजना में वह नष्ट हो जाया करता है। यही अन्तर इस युग की आरम्भिक और अन्तिम कविता में है।

द्विवेदी-युग में काव्य-रचना का आरम्भ जब हुआ तो उस कविता में जो रीतिकालीन परम्परा के अनुसरण पर लिखी गई, अलंकार-योजना भी उसी प्रकार परम्पराभुक्त थी, परन्तु शनैः-शनैः इस परम्परा से मुक्ति का प्रयत्न आरम्भ हो गया था। यह प्रयत्न सीमा-विस्तार के रूप में छायावादी कविता में पूर्ण हुआ, अतः अलंकार-प्रयोग में भी विविध प्रवृत्तियाँ इस युग की कविता में दृष्टिगत होती हैं, जो संक्षेप में इस प्रकार हैं :

(१) परम्परागत अलंकारों का परम्पराभुक्त प्रयोग—परम्परागत अलंकारों से हमारा अभिप्राय उन अलंकारों से है जिनका विवेचन अलंकार-शास्त्र में, और प्रयोग पूर्ववर्ती काव्य में बहुलता से हुआ। इन अलंकारों में शब्द-चमत्काराश्रित अलंकार—अनुप्रास, यमक आदि, और अर्थालंकारों के विभिन्न रूपों—सादृश्यमूलक, वैषम्यमूलक, विरोध-चमत्काराश्रित आदि का परिगणन किया जा सकता है। परम्पराभुक्त प्रयोग से अभिप्राय उस रूप में प्रयोग से है जिसमें उनका प्रयोग व्यवहार में कवि-परम्परा में प्रचलित और प्रसिद्ध था। इनकी अप्रस्तुत-योजना, बिम्ब-विधान, प्रयुक्त उपमेय-उपमान और उनका प्रयोग सभी प्रचलित परिपाटी के आधार पर हुआ है। अर्थात् जिन वर्ण्य विषयों के लिए जिन अलंकारों का जिस रूप में, और जिन आधारों पर प्रयोग कवि-परम्परा में प्रचलित था, उसी रूप में आधुनिक कविता में इनका प्रयोग होता रहा। इस ढंग की सर्वथा परम्पराभुक्त अलंकार-योजना, द्विवेदी-युग की उस कविता में मिलती है जो रीतिकालीन काव्य के अनुकरण पर लिखी गई। छायावाद की आरम्भिक कविता में, तथा परवर्ती काव्य में भी यत्र-तत्र इस प्रकार की अलंकार-योजना प्राप्त हो जाती है। इन परम्परासिद्ध अलंकारों में सर्वाधिक प्रयोग सादृश्यमूलक अर्थालंकारों और अनुप्रासाश्रित शब्दालंकारों का हुआ। विरोध-चमत्कार पर आश्रित अलंकार भी अन्य अलंकारों की अपेक्षा अधिक प्रयोग में लाये गए। नई कविता में भी इस प्रकार के प्रयोगों का एकान्त अभाव नहीं है।

(२) शास्त्रीय अलंकारों का मौलिक विधि से प्रयोग—आधुनिक काव्य की अधिकांश अलंकार-योजना इसी वर्ग के अन्तर्गत आती है। इस वर्ग में वे अलंकार आते हैं जिनकी परिभाषाएँ तो नहीं बदलीं, उनका रूप शास्त्रसम्मत रहा, किन्तु प्रयोग-सम्बन्धी मानदण्ड बदल गए। अर्थात् उनका प्रयोग उन्हीं आधारों पर, उसी रूप में नहीं किया गया जिस रूप में वे कवि-परम्परा में व्यवहार के द्वारा रूढ़ और सिद्ध हो चुके थे। इन अलंकारों में से कुछ में प्रयोग की दृष्टि से परम्परा का विकास व अन्य में परम्परा का विरोध मिलता है। सर्वाधिक चित्र-विचित्र प्रयोग उपमा और उसके सजातीय अलंकारों उत्प्रेक्षा, रूपक आदि का हुआ। इनके परम्परागत रूप में अन्तर इस अर्थ में हो गया कि इनके प्रयोग के परम्परागत मानदण्ड बदल गए। उपमेय

और उपमान के चयन के आधारों में परिवर्तन हो गया। विषय के साथ सज्जा के प्रसाधन बदले। इस परिवर्तन का एक कारण वर्ण्य में परिवर्तन था और दूसरा विदेशी साहित्य का प्रभाव। अलंकारों में प्रयोग-सम्बन्धी यह नवीनता सर्वप्रथम पन्त, प्रसाद, 'निराला' आदि की कविताओं में दृष्टिगत हुई। मूर्त विषयों के साथ अमूर्त का महत्त्व बढ़ने के कारण उपमानों के आधार भी बदले। पूर्ववर्ती काव्य में उपमान का चयन—रूप, गुण और क्रिया के साम्य के आधार पर किया जाता था। इस युग में सबसे अधिक अवहेलना रूपगत आधार की की गई। इसीलिए मूर्त के लिए अमूर्त, अमूर्त के लिए मूर्त और अमूर्त के लिए अमूर्त उपमानों का प्रयोग किया जाने लगा। इनके प्रयोग का आधार कभी गुण और क्रिया से सम्बन्धित रहता और कभी प्रभावसाम्य के आधार पर यह अप्रस्तुत-योजना की जाती। सर्वाधिक बल इस अलंकार-योजना में प्रभाव-साम्य को दिया गया। बाह्य रूप और आकार-सम्बन्धी समानताएं और विषमताएं इन कवियों की दृष्टि में गौण हो गई। इनका बिम्ब-विधान भी नए ढंग पर हुआ। केवल दृश्य नहीं श्रावणिक बिम्ब-योजना भी इस कविता में की गई। ये सभी विशेषताएं 'ग्रन्थि' और 'जुही की कली', तथा प्रसाद की 'आँसू' और 'झरना' आदि के प्रकाशन से आरम्भ हो जाती हैं और अधुनातन कविता में प्राप्त होती हैं। इस प्रवृत्ति का एक अत्यन्त शुभ परिणाम—प्राचीन और रूढ़ अलंकार-शैली की सीमाओं और क्षेत्र का अपरिमित विस्तार है। इन कवियों ने अभिव्यंजना के अनेकानेक नवीन मार्ग उन्मुक्त किये, नवीन प्रयोगों की विविध, नानारूपिणी संभावनाएं उत्पन्न कीं, और प्राचीन नियत परिसीमाओं से बाहर निकलकर आगे के कवियों के लिए अनन्त विस्तार-विकास और नवीन प्रयोगों की ओर दिशा-निर्देश किया।

इन प्रयोगों में दूसरा परिवर्तन तब दृष्टिगत होता है जब उस नई कविता का, जिसमें शैली सम्बन्धी नवीनतम प्रयोगों का आग्रह था, युगारम्भ होता है। ये कवि सिद्धान्त-रूप में प्रयोग और परंपरा के विरुद्ध प्रयोगों को अपना साध्य स्वीकार करते थे, अतः इनकी अलंकार-योजना में परंपरा के विकास की अपेक्षा उन्मूलन का प्रयत्न अधिक हुआ। यद्यपि ये कवि केवल नई राहों के अन्वेषण का दावा करते थे, परन्तु इनका यह प्रयत्न ऐसी दिशा में होता था जिसका सम्बन्ध पुरानी राह से कम से कम हो। यों परम्परा अपनी है, उसे सर्वथा छोड़ा भी नहीं जा सकता, ऐसा इनमे से अधिकांश कवियों ने स्वीकार किया है और बहुत-सी कविताएँ परम्परा-सिद्ध अलंकार-योजना को अपनाकर लिखी भी गई हैं, परन्तु जहाँ ये कवि नवीनता के नारे को क्रियात्मक रूप देने का प्रयास करते हैं, वहाँ इनके प्रयत्न परम्परा-मुक्ति के स्थान पर परम्परा-विरोध के उदाहरण बन जाते हैं। इसका प्रमुख कारण है—जीवन के स्थायी मूल्यों को चिर गतिशील, गत्यात्मक सत्य मानकर, उनकी निश्चित परिभाषाओं में परिवर्तन का प्रयत्न। इन कवियों ने सौन्दर्य के परम्परागत मूल्यों और मानदण्डों को स्वीकार नहीं करके उनकी अधिक वैज्ञानिक, यथार्थपरक, मूर्त और व्यावहारिक परिभाषा बनाने का प्रयत्न किया। सौन्दर्य की कसौटी और उसके प्रति दृष्टिकोण-परिवर्तन से इस कविता की अप्रस्तुत-योजना और बिम्ब-विधान प्रभावित हुआ। इन्होंने परम्परागत उपमानों का सर्वथा नवीन अर्थ में प्रयोग किया और परम्परा-विरुद्ध मौलिक अप्रस्तुत-योजना के द्वारा सौन्दर्य के चिर-प्रचलित मूल्यों में विप्लव उत्पन्न कर दिया। जहाँ इनकी यह नूतन पद्धति तर्कसम्मत है वहाँ तो समझ में आ जाती है,

परन्तु जहाँ केवल नवीनता के दुराग्रहवश अनर्गल प्रयोग किये गए हैं, जिनकी मौलिकता को तर्क से समझाया नही जा सकता, वहाँ वह कविता सौन्दर्य-बोध नहीं जगाती, क्षुब्ध करती है। जहाँ जीवन की अनगढ़ता और कुरूपता को उसी प्रकार की अप्रस्तुत-योजना द्वारा व्यक्त किया जाय वहाँ प्रयोग के पीछे तर्क का पुष्ट आधार हो सकता है, परन्तु जहाँ जीवन के सौन्दर्य की, कुरूप और परुष के द्वारा यह कहकर समता की जाय कि कवि की दृष्टि में वही सुन्दर है, अथवा सौन्दर्य के मानदण्ड परिवर्तित हो गए हैं, तो व्यवहार से असिद्ध इन नवीनताओं को स्वीकार कैसे किया जा सकता है? परन्तु ऐसा बहुत कम हो सका है। इस धारा के अनेक प्रमुख कवि प्रत्यावर्त्तन कर रहे हैं। उदार दृष्टि से स्वदेशी-विदेशी परंपराओं का प्रभाव-ग्रहण कर विवेक से अपनी दिशा नियत कर रहे हैं। नवीनता का अनुसंधान अब भी जारी है। कला की दृष्टि से यह परिवर्तन अत्यन्त शुभ है।

नवीनता का आह्वान कर, अपनी रचनाओं को छायावाद के विरुद्ध अधिक व्यावहारिक, अधिक वैज्ञानिक और अधिक नयी सिद्ध करने के प्रयत्न में, इन कवियों ने 'प्रयोग' का नारा लगाया, परन्तु यह अस्त्र इन्हें कुछ महँगा पड़ गया, क्योंकि इस सिद्धान्त वाक्य के सहारे इनकी कविता का प्रचार तो हो गया, उसकी नवीनता ने विद्वानों का ध्यान तो आकर्षित कर लिया, परन्तु इस मोहर के नीचे खोटी धातु के कुछ ऐसे सिक्के चल निकले कि इस अतिवाद का विरोध करने के लिए इस आन्दोलन के प्रवर्तक कवियों को स्वयं सन्नद्ध होना पड़ा। 'अज्ञेय' ने इस अतिवाद के विषय में कहा—'नयी कविता में कोई भी असफल कविता ले लीजिये, आप पायेंगे कि उसकी असफलता का मूल यही है कि कवि ने प्रयोग को इष्ट मान लिया, जब कि काव्य केवल सफल प्रयोग का नाम है। कोई कितनी, या कितनी गहरी डुबकी लगाता है या डुबकी लगाकर मर भी जाता है, इसका मोती पारखी के लिए कोई मूल्य नहीं है, मूल्य मोती का है।'[1] यह अतिचार देखकर ये कवि फिर संस्कार और परम्परा-सम्बन्ध का दावा करने लगे हैं, वास्तव में यह सच भी है। सर्वथा परम्परा-विरोधी प्रयोग इनमें कम हैं, बहुत कम, उँगलियों पर गिनाए जाने योग्य। इनकी अधिकांश कविता परम्परा का सहज विकास है जिसमें कवि ने पूर्व परम्परा से ही नहीं, अपने चारों ओर की, देश-विदेश की साहित्यिक परम्पराओं से उदारता-पूर्वक ग्रहण किया है और मौलिक दृष्टि से उसका संयोजन किया है।

(३) विदेशी काव्य से कुछ विशिष्ट अलंकारों का ग्रहण और प्रयोग आधुनिक कविता की तीसरी विशेषता है। विदेशी काव्य से गृहीत अलंकारों में मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, और ध्वन्यार्थ व्यंजना का प्रयोग ही विशेष रूप से किया गया। मुक्तकों में भी इन अलंकारों का प्रयोग उसी रूप में हुआ जिस प्रकार प्रबन्धादि अन्य विधाओं में। ये अलंकार भी छायावाद से लेकर अधुनातन काव्य तक बहुधा प्रयोग में लाये गए। छायावाद में विशेष रूप से इनका प्रयोग हुआ। निश्चय ही इन अलंकारों के विधान से काव्य में अभिव्यंजना-सम्बन्धी सौन्दर्य और वक्रता उत्पन्न हो जाती है, परन्तु इनमें प्रयोग-सम्बन्धी कोई विशेष वैचित्र्य और नवीनता नहीं है, अन्तर केवल इतना ही है कि इनमें स्वदेशी नहीं विदेशी परम्परा का पालन है।

---

१. नये पत्ते—अंक १, १९५३, नयी कविता (ध्वनि वार्ता) पृ० २३

जहाँ तक मौलिक अलंकृति का प्रश्न है, अलंकार-शास्त्र से पृथक् किसी नितान्त नवीन अलंकार का विधान और उद्भावना तो नहीं की गई, परन्तु प्राचीन अलंकारों का नए ढंग से प्रयोग करने में मौलिकता का परिचय इस कविता में पग-पग पर मिलता है। इस प्रकार इस कविता की नवीनता किसी अभूतपूर्व नव्य सृजन में नहीं, प्राचीन के आधुनीकरण, पुनःसृजन और नव्य रूप-निर्माण में है। इन कवियों ने अविद्यमान की सृष्टि न करके विद्यमान का संशोधन और परिष्करण ही किया है। भाषा की अभिव्यंजनात्मक शक्ति में वर्द्धन के लिए वातावरण के रूप-भाव के अनुकूल नए ढंग के अभिव्यंजनात्मक शब्दविन्यास-निर्माण का प्रयत्न गिरिजाकुमार माथुर ने किया है। वे पतला-नभ, सिमटी किरन, आदिम छाहें, घूमते-स्वर आदि अभिव्यंजनात्मक शब्दों का प्रयोग भाषा में बहुधा करते हैं।

छन्द-विधान

छन्द-विधान की दृष्टि से आधुनिक कविता का स्वतन्त्र महत्त्व है। इस क्षेत्र में इस युग के सभी प्रमुख कवियों का व्यक्तिगत योगदान इतना महत्त्वपूर्ण रहा है कि सम्पूर्ण काव्य की छन्द-रचना तो क्या हर कवि की छन्द-योजना स्वतन्त्र अध्ययन का विषय हो सकती है। विस्तारपूर्वक प्रत्येक कवि अथवा काव्य-धारा के छन्द-विधान का विवेचन प्रस्तुत करना न सम्भव है और न प्रासंगिक, अतः हम संक्षेप में इस युग की छन्द-प्रयोग सम्बन्धी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। एक बात इस प्रसंग में स्पष्ट कर देनी अभीष्ट होगी। जितना वैविध्य और प्रयोग-वैचित्र्य छन्द के क्षेत्र में इन निबद्ध मुक्तकों में उपलब्ध होता है, उतना न प्रबन्ध रचनाओं में सम्भव हो सका और न मुक्तकों में। प्रबन्ध में प्रवाह-रक्षा की दृष्टि से छन्दों के वैचित्र्यपूर्ण प्रयोग कर, उन्हें प्रदर्शनी बनाना सम्भव व काम्य न था, और मुक्तक में सीमित आकार के कारण विशेष मौलिक योजनाएँ इन कवियों ने प्रस्तुत नहीं कीं। सबसे अधिक अवकाश निबद्ध मुक्तकों में प्राप्त होने के कारण इसी विधा में इनकी प्रतिभा खुलकर खेली है। अपने छन्द-प्रयोग में इन कवियों ने परम्परा का पालन भी किया, उसमें परिवर्द्धन और परिवर्तन भी किया, उससे मुक्ति का प्रयास भी किया और अन्य स्वदेशी एवं विदेशी भाषाओं की छन्द-रचना का प्रभाव भी ग्रहण किया, अतः इनके छन्द-विधान को प्रयोग-भेद से निम्नांकित प्रकारों में रखा जा सकता है :

(१) शास्त्रीय छन्द-प्रयोग—आधुनिक कविता के निर्माताओं को जहाँ हिन्दी-इतर साहित्य से विविध छन्दाकारों को अपनाने और मौलिक छन्द-योजनाएँ प्रस्तुत करने का श्रेय दिया जा सकता है, उसी प्रकार हिन्दी के प्राचीन छन्द-प्रकारों के वैविध्यपूर्ण प्रयोग का श्रेय भी इसी युग के कवियों को प्राप्त है। द्विवेदी-युग के आरम्भ के साथ सबसे पहला परिवर्तन—दीर्घकाल से चले आते छन्दों का विरोध और अनेक विविधतापूर्ण छन्दों का प्रचलन था। ब्रज-भाषा की कविता में छन्द-विधान कुछ विशेष छन्दों—दोहा, कवित्त, सवैया, रोला आदि तक सीमित हो गया था। इन सीमाओं के बाहर कवि बहुत कम पदार्पण करते थे। यद्यपि इस संकुचित क्षेत्र और दृष्टिकोण में विस्तार का प्रयत्न भारतेन्दु-युग से ही आरम्भ हो गया था, परन्तु व्यापक रूप से इस दिशा में सक्रिय आन्दोलन द्विवेदी-युग से ही आरम्भ हुआ और धारा-

अतुकान्त छन्द-रचना की प्रेरणा देते रहे और स्वयं भी प्रयोग करते रहे। वर्णिक छन्दों की अतुकान्त रचना कोई नई बात नहीं। संस्कृत में गणात्मक वृत्तों का प्रयोग इसी रूप में होता रहा था, परन्तु यह परम्परा काल के गर्त में लुप्त हो चुकी थी और हिन्दी-काव्य के लिए अपरिचित थी, अतः कम-से-कम इसके पुनरुद्धार का श्रेय इस काल के कवियों को अवश्य दिया जायगा। मात्रिक छन्दों की तुक के बन्धन से मुक्ति का प्रयास पन्त और प्रसाद आदि की लेखनी से हुआ और इसके उपरान्त इनके द्वारा प्रवर्तित इस रचना-विधि का पालन निरन्तर होता रहा।

(३) नवीन मिश्र छन्दों का निर्माण—पिंगल-शास्त्र में कुछ मात्रिक मिश्र छन्दों—छप्पय, कुण्डलिया आदि का तो विधान किया ही गया है और इन छन्दों का प्रयोग भी पर्याप्त होता रहा है परन्तु आधुनिक कविता में भिन्न-भिन्न मात्रिक छन्दों के योग से अनेक मिश्र छन्दाकार बनाये गए। इनके लिए मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग किया गया। कुछ छन्द कवियों की मौलिक प्रतिभा से निर्मित हुए व अन्य के लिए शास्त्रीय छन्दों की पंक्तियों के मिश्रण से एकाई बनाकर सम्पूर्ण कविता में उसकी आवृत्ति की गई। मिश्र छन्दों के अनेक नूतन और सफल प्रयोग नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने द्विवेदी-युग में किये। उनकी इस प्रकार की छन्द-योजनाएँ सरल और स्पष्ट हुआ करती थीं। प्रायः वे दो मात्रिक छन्द लेकर उनकी पंक्तियाँ एक विशष क्रम से मिलाकर मिश्र छन्द की एक एकाई का निर्माण कर लिया करते थे। बाद में प्रगीत की लोकप्रियता के साथ मिश्र छन्दों के अनेकानेक कलात्मक, वैचित्र्य और सुरुचिपूर्ण आकार प्रचलित हुए। दो से अधिक छन्दों की जटिल योजनाओं के साथ मुक्त और शास्त्रीय छन्दों के कठिन और जटिलतर रचना-विधान का भी प्रचलन हुआ। सभी कवियों ने अपने-अपने ढंग से, अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर इस प्रकार के प्रयोग किये, और इनमें सभी नहीं परन्तु अधिकांश सफल हुए, क्योंकि ये मिश्रण प्रायः विषय और शैली की आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए ही किये जाते हैं। इस प्रपंच से किसी काव्यधारा व वाद का कोई कवि नहीं बचा और यह परम्परा द्विवेदी-युग से आधुनिकतम कवियों तक यथावत् चली आई। प्रेष्य भाव की लय के अनुसार उसके मूल स्वरूप और उत्थान-पतन की व्यंजना के लिए परम्परासिद्ध छन्दों का अनुसन्धान करने के स्थान पर, अपने हाथों अपनी आवश्यकतानुसार छन्दों का मिश्रण और प्रयोग, हिन्दी-काव्य को इस युग के कवियों का बहुत स्तुत्य योगदान है। इन मिश्र छन्दों में कभी शास्त्रीय छन्दों का आधार ग्रहण किया गया, कभी नितान्त मौलिक छन्द रचना की गयी और कहीं कुछ शास्त्र-विहित छन्दों की पंक्तियों के साथ मौलिक छन्द मिलाकर छन्द-निर्माण किया गया। हर दृष्टि से इन प्रयासों में नवीनता और वैचित्र्य प्राप्त होता है।

(४) अन्य स्वदेशी-विदेशी भाषा-साहित्य से छन्दों का ग्रहण—हिन्दी की आधुनिक छन्द-योजना पर अन्य भाषाओं में सर्वाधिक प्रभाव उर्दू के छन्द-विधान का है। उर्दू की बहर का प्रयोग रीतिकाल में घनानन्द के काव्य से आरम्भ हो जाता है। तदुपरान्त आधुनिक काल के आरम्भिक काव्य में भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र द्वारा भी इस लय का प्रयोग किया गया है। बहर उर्दू के किसी छन्द-विशेष का नाम नहीं। उन खास अल्फ़ाज़ को बहर कहा जाता है जिन पर शेर का वज़न तोला और जाँचा जाता है। यह खास वज़न जिन टुकड़ों से बनता है उसे अरकान और हर टुकड़े को रुक्न कहा जाता है। उर्दू में इन रुक्नों के नाम हैं और उनसे जो

अरकान या लय बनती है वह बहर का आधार होती है। भिन्न-भिन्न रुक्नों पर आधृत बहरें भी भिन्न-भिन्न हो जाती हैं। अतः बहर खास लय या अल्फ़ाज़ों के वज़न के आधार पर निर्मित छन्द का नाम है। इसलिए जब कहा जाता है कि उर्दू की बहर का प्रयोग हिन्दी-कविता में हुआ, तो अभिप्राय होता है कि छन्द का आधार मात्राएं और गण न रहकर, शब्दों के उच्चारण-सम्बन्धी एक खास वज़न और लय हो गया है। उर्दू की बहर का अनेक रूपों में प्रयोग ला० भगवानदीन, 'हरिऔध', 'त्रिशूल' आदि कवियों ने किया। छायावाद के कवियों में इस लय का सर्वाधिक प्रयोग 'निराला' के काव्य में—उनके गीतों और गज़लों में मिलता है। नई कविता पर सर्वाधिक प्रभाव 'निराला' की कविता का रहा। जिस प्रकार मुक्त छन्द की परम्परा को इन कवियों ने 'निराला' के आदर्श पर आगे बढ़ाया, उसी प्रकार उन्होंने जिस उदारता से स्वच्छन्दतापूर्वक अनेक प्रकार की उर्दू बहर का प्रयोग किया था, नए कवियों ने भी बहर का लयाधार अपने अनेक छन्दों में ग्रहण किया और कर रहे हैं।

अन्य छन्दों में बंगला के पयार और अँगरेज़ी के सॉनेट का उल्लेख बहुधा विद्वानों द्वारा किया गया है। पयार छन्द का आधार जिस प्रकार वर्ण-गणना है, उसी प्रकार हिन्दी के मुक्तक वृत्तों घनाक्षरी आदि का आधार भी वर्ण-संख्या है, अतः पयार छन्द का तो कहीं-कहीं सफल प्रयोग हिन्दी-काव्य में हुआ, परन्तु सॉनेट अपने-आपमें कोई छन्द नहीं, एकाधिक छन्दों का अन्त्यानुप्रास के निश्चित क्रम के अनुसार निबन्धन है। हिन्दी-कविता में अँगरेज़ी के सॉनेट में प्रयुक्त विविध छन्दों का तो क्या, उसके अन्त्यक्रम का भी यथावत् पालन नहीं हुआ है। प्रायः हिन्दी के किन्हीं छन्दों में रचित चौदह पंक्तियों की कविता को सॉनेट कह दिया जाता है। सॉनेट, अतः छन्द का प्रकार नहीं मुक्तक की विशेष रचना-विधा है जिसमें हिन्दी के कवियों ने अपनी रुचि और सुविधानुसार हिन्दी के परम्परागत अथवा स्वनिर्मित छन्दों का प्रयोग किया है।

साहित्यिक छन्दों के अतिरिक्त लोक-गीतों की विभिन्न छन्द-लयों का प्रयोग भी साहित्यिक रचनाओं में किया गया। माधव शुक्ल, श्रीधर पाठक आदि ने द्विवेदी-युग में ग्राम्य गीतों से ये छन्दाकार ग्रहण किये और उनके उपरान्त कजली, बिरहा, आल्हा आदि तथा अन्य लोक-गीतों की लय के साथ ये छन्दाकार भी नियमित रूप से काव्य-रचना में प्रयुक्त होते रहे। महादेवी वर्मा, 'निराला', नरेन्द्र और नए कवियों में प्रायः सभी ने ग्राम-गीतों की लय और छन्द-रचना का प्रयोग अपनी कविताओं में किया है। महादेवी के प्रयोग अधिक सहज हैं। 'निराला' के गीतों में सर्वत्र इन छन्दों के प्रयोग में सफलता नहीं मिली। इधर नए खेवे के कवि ग्राम-गीतों की लय का अपने छन्दों में विशेष रूप से प्रयोग कर रहे हैं। इस प्रभाव को उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है—"एक विशिष्टता है लोक-गीतों और लोक-प्रचलित धुनों की ओर झुकाव। यह उसकी महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। कारण चाहे राजनीति का जनवाद हो, चाहे अधिक आसान या अधिक गहरी प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाले रूपाकारों की खोज। जहाँ ये प्रयोग सफल हुए हैं, वहाँ बड़ी ही प्यारी चीज़ें लिखी गई हैं। और ऐसे प्रयोग किये हैं बहुत से कवियों ने, केदार और नागार्जुन जैसे शुद्ध जनवादियों ने, गिरिजाकुमार जैसे संगीत-खोजियों ने, नरेश कुमार जैसे उभय-पन्थियों ने और अज्ञेय जैसे संस्कारियों ने।"[1]

१. नये पत्ते—जनवरी-फरवरी अंक १६५३, नई कविता—अज्ञेय, पृ० ८८

(५) स्वच्छन्द छन्द-निर्माण—छायावाद के उन्मेष और अभिव्यंजना-कला के अन्य अंगों में स्वच्छन्दता के साथ, छन्द-विधान में भी इन कवियों ने स्वच्छन्दता का परिचय दिया। भाव के सहज संगीत पर विशेष बल देने के कारण तदनुकूल बाह्यावरण के निर्माण की आवश्यकता भी इन्हें प्रतीत हुई। अतः पन्त और 'निराला' ने पदों में मात्रा-संख्या सम्बन्धी अनेक परिवर्तन किये। कभी-कभी तो भाव-लय में परिवर्तन के साथ छन्द की प्रति एक या दो पंक्ति के उपरान्त मात्रा-संख्या में परिवर्तन मिलता है। कभी यह परिवर्तन अपेक्षाकृत मन्थर गति से होता है, परन्तु इस सम्बन्ध में किसी निश्चित नियम का आधार नहीं लिया जाता। एक-एक पद्य में कहीं-कहीं अनेक छन्दों की पंक्तियों का मिश्रण रहता है परन्तु ये परिवर्तन तर्कहीन पद्धति और मनमाने ढंग से केवल रचनागत वैचित्र्य के लिए नहीं किये जाते। वर्तमान जीवन में मध्ययुग की अपेक्षा कहीं अधिक गतिशीलता उत्पन्न हो गई है। जीवन के साथ मनुष्य की भावनाएँ भी अधिक गत्यात्मक और नानारूपिणी हो गई हैं। भावनाओं की तीव्र गति, उत्थान-पतन, गम्भीरता, विभिन्न भावावेगों के समय, अनुपात आदि को ध्यान में रखते हुए ही इन छन्दों में यह निश्चय किया जाता है कि कहाँ, कब और किस रूप में मात्रा-परिवर्तन और विरामादि का उपयोग किया जाय। किसी विशेष भाव की गम्भीरता या चपलता को व्यंजित करने के लिए प्रायः छन्द की पंक्तियों को छोटा-बड़ा कर दिया जाता है। आज की अनेकरूपिणी भावनिधि की व्यंजना के लिए छन्द-निर्माण के क्षेत्र में यह मौलिक परिवर्तन आवश्यक ही था। पन्त ने स्वयं 'पल्लव' की भूमिका में इस बात को स्पष्ट किया है कि उन्होंने भावों की तीव्रता या असमानता या गति को प्रकट करने के लिए, छन्दों की पंक्तियों की मात्राओं में कमी या वृद्धि की है। इस प्रकार के अनेक भावप्रेरित नवीन छन्दों की उद्भावना 'निराला' और अन्य सभी कवियों ने की।

गीतों में नवीन संगीत-लयों के विधान के लिए भी इस प्रकार की मिश्र छन्द-योजना अनिवार्य थी। प्रेष्य भावना के अनुकूल छन्द में एक विशेष लय की सृष्टि के लिए, कवि छन्द में छोटी-बड़ी पंक्तियों का प्रयोग करते रहे। इन गीतों में भी लय का विधान पुरानी पद-शैली के समान निश्चित बन्धनों व नियमों के अनुसार नहीं किया गया। कवि अपनी भावना और रुचि के अनुकूल वैचित्र्यपूर्ण लय का विधान करने के लिए, विविध पंक्तियों से गीत की एक कड़ी का निर्माण करता है। 'बच्चन' ने इस प्रकार की अनेक सुघर और सुगठित छन्द-योजनाएँ प्रस्तुत कीं। महादेवी और रामकुमार वर्मा के गीतों की छन्द-योजना अपेक्षाकृत सरल, गति सम और मात्राओं, तुक आदि के निश्चित क्रम में बँधी रहती है।

स्वच्छन्द छन्द का दूसरा रूप मुक्त छन्द के विकास और प्रयोग में मिलता है। मुक्त छन्द के रूप-निर्माण में कवि छन्द के प्रतिष्ठित नियमों के विरुद्ध विद्रोह करता हुआ, अपने भावों की स्वच्छन्द व्यंजना के लिए उनकी अन्तःप्रेरित लय के अनुरूप, छन्द का विधान करता है। मन में उठने वाले भावों की एक अपनी लय होती है। वे जिस गति से, जिस अनुपात में और जिस क्रम से मन में उठते-गिरते हैं उसे व्यंजित करने के लिए, भाव-लय को रूपान्तरित करने के लिए, कवि छन्द-लय का तदनुकूल निर्माण करता है। इसके लिए उसे छन्दों के पूर्व प्रतिष्ठित ढाँचों में प्रायः परिवर्तन करने पड़ते हैं। इसी प्रवृत्ति के आधार पर हिन्दी में मुक्त छन्द का

विकास हुआ है। इन मुक्त छन्दों का आधार शास्त्रीय नहीं होता। इनका आधार होता है कवि की भावनाओं की तीव्रता, मनोवेग और आवेश। इस छन्द का आधुनिक युग में प्रयोग और प्रचार 'निराला' के काव्य से हुआ। 'निराला' से पूर्व श्रीधर पाठक इस छन्द का प्रयोग कर चुके थे परन्तु सफल विकास नहीं। 'निराला' के छन्दों में उनकी भाव-लय का प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म गति-परिवर्तन लक्षित किया जा सकता है। इस छन्द का अनुकरण 'निराला' के उपरान्त अबाध गति से हुआ, परन्तु सर्वत्र सफल नहीं। मुक्त छन्द-रचना नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के वरदान द्वारा ही सम्भव है, अतः इस छन्द का आश्रय अन्य शास्त्रीय छन्दों की साधना में असफल होने की स्थिति में नहीं लिया जा सकता। वस्तुतः मुक्त छन्द के प्रयोग में कवि के सामने अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। शास्त्रीय छन्दों में छन्द को नियमों के आधार पर नाप-तौलकर उसकी सफलता-असफलता का निर्णय किया जा सकता है, परन्तु मुक्त छन्द का आधार कवि की अपनी भावनाओं की गतिचर्या की विवेकसंयत पकड़ और तदनुकूल छन्द-निर्माण की क्षमता होती है। इस दिशा में जरा-सा भी असंयत, असंतुलित प्रयोग इस छन्द को विकृत बना सकता है। मुक्त छन्द में सार्वजनीनता नहीं होती, क्योंकि उसका आधार जो भाव-लय होती है वह व्यक्ति-व्यक्ति की संवेदना और संस्कार के अनुसार भिन्न हो सकती है, अतः इसकी प्रेषणीयता में प्रायः बाधाएँ उपस्थित होती हैं। इसी कारण आरम्भ में जब मुक्त छन्द का प्रचार हुआ तो नियत छन्दाकारों में बँधी कविता के अभ्यस्त कानों ने इसका स्वागत नहीं किया, और अनेक रूपों में इनका विरोध हुआ। परन्तु तीव्र विरोध के बीच भी मुक्त छन्द-रचना के सफल-असफल प्रयोग होते रहे और प्रगतिवाद, प्रयोगवाद की कविता में यह छन्द-शीर्ष स्थान पा गया।

कुछ मुक्त छन्दों का विकास हिन्दी के परम्परागत मुक्तक छन्द घनाक्षरी की लय पर किया गया। 'निराला' के मुक्त छन्द-निर्माण के विषय में भी यह धारणा व्यक्त की जाती है, परन्तु कवि का अपना कथन इस मत की पुष्टि नहीं करता। वे कवित्त या घनाक्षरी की लय का समावेश अपने छन्दों में आकस्मिक और संयोगजन्य मानते हैं प्रयत्न-साध्य नहीं। इस छन्द के विषय में इसके आविष्कारक की धारणा है—"मुक्त-छन्द तो वह है, जो छन्द की भूमि में रहकर भी मुक्त है। इस पुस्तक के तीसरे खण्ड में जितनी कविताएँ हैं, सब इस प्रकार की हैं। उनमें नियम कोई नहीं। केवल प्रवाह कवित्त-छन्द का सा जान पड़ता है। कहीं-कहीं आठ अक्षर आप ही आप आ जाते हैं। मुक्त-छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है, और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।" परन्तु इसी प्रसंग में कुछ आगे चलकर उन्होंने संकेत किया है कि "मुक्त-काव्य कवित्त-छन्द की बुनियाद पर सफल हो सकता है।"[1] इसी से संकेत ग्रहण कर बाद में अनेक कवियों ने घनाक्षरी के आधार पर मुक्त-छन्द का विकास किया, और कुछ छन्द मात्रिक लय के आधार पर विकसित किये गए। इस दिशा में कुछ अत्यन्त संगीतमय नए मुक्त छन्दों का विधान गिरिजाकुमार माथुर ने किया है। उन्होंने यह प्रयत्न विवेकपूर्वक और सायास किया है और अपनी छन्द-रचना-विधि का सम्यक् परिचय 'तार-सप्तक' के वक्तव्य में दिया है—"मुक्त-छन्द का मैंने सम्पूर्ण विधान रचा है। मुक्त-छन्द को दो भागों में विभक्त

१. परिमल—निराला, भूमिका, पृष्ठ १६

(५) स्वच्छन्द छन्द-निर्माण—छायावाद के उन्मेष और अभिव्यंजना-कला के अन्य अंगों में स्वच्छन्दता के साथ, छन्द-विधान में भी इन कवियों ने स्वच्छन्दता का परिचय दिया। भाव के सहज संगीत पर विशेष बल देने के कारण तदनुकूल बाह्यावरण के निर्माण की आवश्यकता भी इन्हें प्रतीत हुई। अतः पन्त और 'निराला' ने पदों में मात्रा-संख्या सम्बन्धी अनेक परिवर्तन किये। कभी-कभी तो भाव-लय में परिवर्तन के साथ छन्द की प्रति एक या दो पंक्ति के उपरान्त मात्रा-संख्या में परिवर्तन मिलता है। कभी यह परिवर्तन अपेक्षाकृत मन्थर गति से होता है, परन्तु इस सम्बन्ध में किसी निश्चित नियम का आधार नहीं लिया जाता। एक-एक पद्य में कहीं-कहीं अनेक छन्दों की पंक्तियों का मिश्रण रहता है परन्तु ये परिवर्तन तर्कहीन पद्धति और मनमाने ढंग से केवल रचनागत वैचित्र्य के लिए नहीं किये जाते। वर्तमान जीवन में मध्ययुग की अपेक्षा कहीं अधिक गतिशीलता उत्पन्न हो गई है। जीवन के साथ मनुष्य की भावनाएँ भी अधिक गत्यात्मक और नानारूपिणी हो गई हैं। भावनाओं की तीव्र गति, उत्थान-पतन, गम्भीरता, विभिन्न भावावेगों के समय, अनुपात आदि को ध्यान में रखते हुए ही इन छन्दों में यह निश्चय किया जाता है कि कहाँ, कब और किस रूप में मात्रा-परिवर्तन और विरामादि का उपयोग किया जाय। किसी विशेष भाव की गम्भीरता या चपलता को व्यंजित करने के लिए प्रायः छन्द की पंक्तियों को छोटा-बड़ा कर दिया जाता है। आज की अनेकरूपिणी भावनिधि की व्यंजना के लिए छन्द-निर्माण के क्षेत्र में यह मौलिक परिवर्तन आवश्यक ही था। पन्त ने स्वयं 'पल्लव' की भूमिका में इस बात को स्पष्ट किया है कि उन्होंने भावों की तीव्रता या असमानता या गति को प्रकट करने के लिए, छन्दों की पंक्तियों की मात्राओं में कमी या वृद्धि की है। इस प्रकार के अनेक भावप्रेरित नवीन छन्दों की उद्भावना 'निराला' और अन्य सभी कवियों ने की।

गीतों में नवीन संगीत-लयों के विधान के लिए भी इस प्रकार की मिश्र छन्द-योजना अनिवार्य थी। प्रेष्य भावना के अनुकूल छन्द में एक विशेष लय की सृष्टि के लिए, कवि छन्द में छोटी-बड़ी पंक्तियों का प्रयोग करते रहे। इन गीतों में भी लय का विधान पुरानी पद-शैली के समान निश्चित बन्धनों व नियमों के अनुसार नहीं किया गया। कवि अपनी भावना और रुचि के अनुकूल वैचित्र्यपूर्ण लय का विधान करने के लिए, विविध पंक्तियों से गीत की एक कड़ी का निर्माण करता है। 'बच्चन' ने इस प्रकार की अनेक सुघर और सुगठित छन्द-योजनाएँ प्रस्तुत कीं। महादेवी और रामकुमार वर्मा के गीतों की छन्द-योजना अपेक्षाकृत सरल, गति सम और मात्राओं, तुक आदि के निश्चित क्रम में बँधी रहती है।

स्वच्छन्द छन्द का दूसरा रूप मुक्त छन्द के विकास और प्रयोग में मिलता है। मुक्त छन्द के रूप-निर्माण में कवि छन्द के प्रतिष्ठित नियमों के विरुद्ध विद्रोह करता हुआ, अपने भावों की स्वच्छन्द व्यंजना के लिए उनकी अन्तःप्रेरित लय के अनुरूप, छन्द का विधान करता है। मन में उठने वाले भावों की एक अपनी लय होती है। वे जिस गति से, जिस अनुपात में और जिस क्रम से मन में उठते-गिरते हैं उसे व्यंजित करने के लिए, भाव-लय को रूपान्तरित करने के लिए, कवि छन्द-लय का तदनुकूल निर्माण करता है। इसके लिए उसे छन्दों के पूर्व प्रतिष्ठित ढाँचों में प्रायः परिवर्तन करने पड़ते हैं। इसी प्रवृत्ति के आधार पर हिन्दी में मुक्त छन्द का

विकास हुआ है। इन मुक्त छन्दों का आधार शास्त्रीय नहीं होता। इनका आधार होता है कवि की भावनाओं की तीव्रता, मनोवेग और आवेश। इस छन्द का आधुनिक युग में प्रयोग और प्रचार 'निराला' के काव्य से हुआ। 'निराला' से पूर्व श्रीधर पाठक इस छन्द का प्रयोग कर चुके थे परन्तु सफल विकास नहीं। 'निराला' के छन्दों में उनकी भाव-लय का प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म गति-परिवर्तन लक्षित किया जा सकता है। इस छन्द का अनुकरण 'निराला' के उपरान्त अबाध गति से हुआ, परन्तु सर्वत्र सफल नहीं। मुक्त छन्द-रचना नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के वरदान द्वारा ही सम्भव है, अतः इस छन्द का आश्रय अन्य शास्त्रीय छन्दों की साधना में असफल होने की स्थिति में नहीं लिया जा सकता। वस्तुतः मुक्त छन्द के प्रयोग में कवि के सामने अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। शास्त्रीय छन्दों में छन्द को नियमों के आधार पर नाप-तौलकर उसकी सफलता-असफलता का निर्णय किया जा सकता है, परन्तु मुक्त छन्द का आधार कवि की अपनी भावनाओं की गतिचर्या की विवेकसंयत पकड़ और तदनुकूल छन्द-निर्माण की क्षमता होती है। इस दिशा में जरा-सा भी असंयत, असंतुलित प्रयोग इस छन्द को विकृत बना सकता है। मुक्त छन्द में सार्वजनीनता नहीं होती, क्योंकि उसका आधार जो भाव-लय होती है वह व्यक्ति-व्यक्ति की संवेदना और संस्कार के अनुसार भिन्न हो सकती है, अतः इसकी प्रेषणीयता में प्रायः बाधाएँ उपस्थित होती हैं। इसी कारण आरम्भ में जब मुक्त छन्द का प्रचार हुआ तो नियत छन्दाकारों में बंधी कविता के अभ्यस्त कानों ने इसका स्वागत नहीं किया, और अनेक रूपों में इनका विरोध हुआ। परन्तु तीव्र विरोध के बीच भी मुक्त छन्द-रचना के सफल-असफल प्रयोग होते रहे और प्रगतिवाद, प्रयोगवाद की कविता में यह छन्द-शीर्ष स्थान पा गया।

कुछ मुक्त छन्दों का विकास हिन्दी के परम्परागत मुक्तक छन्द घनाक्षरी की लय पर किया गया। 'निराला' के मुक्त छन्द-निर्माण के विषय में भी यह धारणा व्यक्त की जाती है, परन्तु कवि का अपना कथन इस मत की पुष्टि नहीं करता। वे कवित्त या घनाक्षरी की लय का समावेश अपने छन्दों में आकस्मिक और संयोगजन्य मानते हैं प्रयत्न-साध्य नहीं। इस छन्द के विषय में इसके आविष्कारक की धारणा है—"मुक्त-छन्द तो वह है, जो छन्द की भूमि में रहकर भी मुक्त है। इस पुस्तक के तीसरे खण्ड में जितनी कविताएँ हैं, सब इस प्रकार की हैं। उनमें नियम कोई नहीं। केवल प्रवाह कवित्त-छन्द का सा जान पड़ता है। कहीं-कहीं आठ अक्षर आप ही आप आ जाते हैं। मुक्त-छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है, और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।" परन्तु इसी प्रसंग में कुछ आगे चलकर उन्होंने संकेत किया है कि "मुक्त-काव्य कवित्त-छन्द की बुनियाद पर सफल हो सकता है।"[1] इसी से संकेत ग्रहण कर बाद में अनेक कवियों ने घनाक्षरी के आधार पर मुक्त-छन्द का विकास किया, और कुछ छन्द मात्रिक लय के आधार पर विकसित किये गए। इस दिशा में कुछ अत्यन्त संगीतमय नए मुक्त छन्दों का विधान गिरिजाकुमार माथुर ने किया है। उन्होंने यह प्रयत्न विवेकपूर्वक और सायास किया है और अपनी छन्द-रचना-विधि का सम्यक् परिचय 'तार-सप्तक' के वक्तव्य में दिया है—"मुक्त-छन्द का मैंने सम्पूर्ण विधान रचा है। मुक्त-छन्द को दो भागों में विभक्त

१. परिमल—निराला, भूमिका, पृष्ठ १६

किया है, वर्णिक और मात्रिक तथा इनके रूपान्तर।...सवैये के विरामों पर स्थित एक नए प्रकार का बहुत संगीतमय मुक्त छन्द लिखा है (आज हैं केसर रंग रंगे)। एक कविता में एक ही प्रकार का मुक्त-छन्द प्रयुक्त होना आवश्यक समझता हूँ।"[1] इसके आगे भी लेखक ने मुक्त छन्द के अशुद्ध-शुद्ध प्रयोग के विषय में बहुत कुछ कहा और कवित्त के आधार पर निर्मित मुक्त छन्द की अत्यन्त सूक्ष्म विशेषताओं का परिचय देने का प्रयत्न भी किया है। ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि स्वयं मुक्त-छन्द के लिए पुनः एक बन्धन का निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील है। इसके अतिरिक्त उस सब सैद्धान्तिक प्रपंच का, अपने प्रयोगों में वे अक्षरशः पालन कर सके हैं, इसमें सन्देह है। हाँ इतना तो सत्य ही है कि उन्होंने सवैये की लय पर निर्मित एक नया संगीतमय मुक्त छन्द हिन्दी-कविता को दिया।

मुक्त-छन्द का सामान्यतः विवेकसंयत और सफल प्रयोग बहुत कम कवियों द्वारा संभव हो सका है। शास्त्रीय छन्दों से विरक्ति दिखाना आज की कविता का फैशन हो गया है, अतः वस्त्राभूषणों की भाँति कविता को भी इस बाह्यावरण में बरबस ढकेल दिया जाता है। ऐसा दो ही स्थितियों में होता है—या तो जब प्राचीन छन्द साधे नहीं सधते अथवा नवीनता के आग्रह से उन्हें साधने का प्रयत्न नहीं किया जाता। परिणामतः समर्थ-असमर्थ सभी कवि इस दिशा में लेखनी चला देते हैं। मुक्त-छन्द के नाम पर कविता के छन्द-क्षेत्र में इतनी अव्यवस्था व्याप्त है कि स्वयं इसके प्रचारकों को इस विषय में शंका उत्पन्न हो गई है—"नई कविता पर नज़र जाते ही छन्दों की भीड़ दिखाई पड़ती है जिनमें से अनेक छन्द अपनी विचित्र आकृतियों के कारण अपाहिज से लगते हैं। यति, गति, मात्रा का अनियम मन को आक्रान्त कर लेते हैं।[2]

ऐसी अनेक कविताएँ उदाहरणस्वरूप उद्धृत की जा सकती हैं, जिनमें आवश्यकता न होने पर भी पंक्तियाँ तोड़कर छोटी-बड़ी कर दी जाती हैं, अथवा गद्यवत् कविता को ऊपर-नीचे छोटी-बड़ी पंक्तियों में सजा दिया जाता है, जिससे उसके कविता होने की भ्रान्ति बढ़ती रहे, अन्यथा मुक्त-छन्द के भावप्रेरित प्रवाह और आवेग के नाम पर अपाहज आकृति और गद्य की जड़-गति के अतिरिक्त उसमें कुछ नहीं होता। आशा है केवल उन गम्भीरचेता संस्कारी कवियों से जो पर्याप्त समय तक शास्त्रीय छन्दों की साधना के अभ्यासी रहकर भी भाव की प्रेरणा और आवश्यकता के कारण इस दिशा में मुड़ रहे हैं, अथवा उन तरुण कवियों से जिन्हें इन प्रयोगों में आस्था के साथ प्रतिभा का वरदान और विवेक का संयम प्राप्त है।

---

१. तारसप्तक—गिरिजाकुमार माथुर, पृष्ठ ४१

२. नये पत्ते—अंक ४ मार्च—नई कविता में रूप-विधान और वस्तु-तत्त्व—भारतभूषण अग्रवाल, पृष्ठ २२

उपसंहार

उपसंहार

बीसवीं शती के हिन्दी-काव्य का महत्त्व द्विविध है—साहित्यिक और ऐतिहासिक। काव्यत्व की दृष्टि से इस युग की कविता में जो उत्कर्ष, सतत नवीनता और बहुविध प्रगति और विकास मिलता है वह इसके सभी तत्त्वों में वर्तमान है—रूप-विधाओं में भी। प्रत्येक परिवर्तन, प्रवर्त्तन, और आन्दोलन के मूल में कोई प्रवृत्ति सूत्र-रूप में वर्तमान रहती है। यदि इस दृष्टि से इस युग की कविता में रूप-विधा-निर्माण के मूल सूत्र की ओर इंगित किया जाय तो उसे सतत परिवर्तन का उद्योग कहा जा सकता है। यही प्रवृत्ति कविता के मूल में इस शती के आरम्भ से क्रियाशील है और इसी के सुपरिणाम-स्वरूप हिन्दी-काव्य में रूप-विधाओं की दृष्टि से पुरानी परम्पराओं का बहुविध विकास, नवीन प्रभावों का ग्रहण व मौलिक सृजन उन्मुक्त रूप से होता रहा है। हर विधा में यह प्रयोग और परिवर्तन इतनी त्वरा से सम्पन्न हो रहा है कि परम्परा-गत शास्त्रीय परिभाषाएँ इनके लिए निरर्थक, और नवीन लक्षण-निर्माण का प्रयत्न व्यर्थ प्रतीत होता है। रूढ़ि और प्रगति की स्थिति सापेक्ष होती है। जब एक दिशा में निरन्तर प्रयोग और पालन से कोई रीति, रूढ़ि का रूप धारण कर लेती है, तब प्रायः उसके उन्मूलन का प्रयत्न और नवीन राहों का अन्वेषण होता है। किसी रचना-पद्धति को रूढ़ घोषित करने के लिए समय के तत्त्व की अपेक्षा है, परन्तु इस युग के काव्य में रूप-विधा सम्बन्धी परिवर्तन और प्रयोग एक ओर प्राचीन रचना-विधि, बेजान आकारों और रूढ़ लक्षणों के विरुद्ध होते रहे हैं, दूसरी ओर अपने समकालीन, अथवा कुछ समय या एक पीढ़ी पूर्व की कविताओं के विरुद्ध ये कवि विद्रोह और प्रतिक्रिया को जन्म देते हैं। अनेक कवियों की परवर्ती रचनाओं में अपनी ही आरम्भिक रचनाओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया देखी जा सकती है।

आधुनिक कविता में रूप-विधाओं के क्षेत्र में पहला परिवर्तन परम्परा के त्याग से सम्बन्धित है। यों परम्परा अपनी होती है, अतः संस्कारों में इस प्रकार बस जाया करती है कि कभी-कभी प्रयत्न करने पर भी छुड़ाये नहीं छूटती। इसी कारण कुछ रूप-विधाओं में लक्षणों की परम्परा चेतन या अवचेतन में वर्तमान रहने के कारण सामर्थ्य और काव्य-विषय अनुकूल न होने पर भी विशेष विधाओं का प्रयोग करने का प्रयास किया गया है, और कभी-कभी किसी काव्य-रूप की व्यवहार में कमी देखकर कटिबद्ध हो उस अभाव की पूर्ति का प्रयत्न किया गया है—परन्तु ऐसा बहुत कम हुआ है और प्रायः महाकाव्यों की रचना-लालसा से ये उपक्रम किये गए। मुक्तक और निबद्ध विधाओं में ये दुस्साध्य प्रयत्न नहीं हुए। इस प्रकार के महाकाव्यों में रूप- विधा से सम्बन्धित बाह्य रूढ़ियों का निर्वाह ही मिलता है, महाकाव्यत्व नहीं। दूसरी ओर कुछ रचनाएँ इस प्रकार की हैं जिनमें रूप-विधा सम्बन्धी बाह्य और गौण लक्षणों के निर्वाह के

अतिरिक्त प्रायः सभी विशेषताएं महाकाव्योचित हैं। ऐसी स्थिति में प्राचीन लक्षण-निरूपण का निकष व्यर्थ सिद्ध हो चुका है, और नवीन लक्षण-निर्माण के महत् प्रयास की पूर्ति से पूर्व ही उसे व्यर्थ सिद्ध करने वाले नवीन प्रयोगों का आविर्भाव असम्भव नहीं। अतः इस दिशा में प्रयत्न लक्षणों में बाँधने का नहीं उनसे मुक्ति का होना चाहिये। विभिन्न रूप-विधाओं के सर्वथा अनिवार्य प्रमुख लक्षणों की स्वीकृति कर शेष को कवि की मौलिक प्रतिभा के ऊपर छोड़कर यदि उन्हें उस प्रयोग-विशेष की विशिष्टताएँ स्वीकार कर लिया जाय तो काव्यरूपों के निर्णय से सम्बद्ध विवाद और मतभेद बहुत दूर तक समाप्त हो सकता है। कम-से-कम ऐसी विधाओं के विषय में तो यह किया ही जा सकता है जिनका सम्बन्ध परम्परा से है। परम्परा से सम्बद्ध विधाओं—महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि के सम्बन्ध में निर्णय और मूल्यांकन का आधार उपर्युक्त दृष्टिकोण ही रहा है। साथ ही इनकी नूतन विशेषताओं और अन्य प्रभावों की व्याख्या करने का प्रयत्न भी किया गया है। इन सभी प्रयोगों का पर्यवेक्षण किसी एक सामान्य लक्षण-तालिका को दृष्टि में रखते हुए असम्भव था। इनमें परम्परा से मुक्ति ही नहीं, परस्पर इतना अन्तर है कि एक ही प्रकार की अनेक रचनाओं का वर्ग-विभाजन सम्भव नहीं हो सकता, फिर भी कुछ समान प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखते हुए इनमें समानताओं और विषमताओं के निर्देश का यथा-संभव प्रयत्न किया गया है।

बाह्य शिल्प के अतिरिक्त, शैली और विषय-निरूपण की दृष्टि से इन प्रबन्धों में बहु-रूपता और नवीनता मिलती है। मुख्य रूप से वस्तु-जगत् के साथ आत्म-जगत्, मूर्त के साथ अमूर्त को अपनाने में, तथा समाख्यान के साथ नाट्य, गीति आदि शैलियों के प्रयोग में सभी प्रमुख कृतियों की कुछ मौलिकताएँ हैं। ऐसी विशेषताएँ हैं जो शास्त्र-निर्मित ढाँचों में फिट नहीं होतीं। इसलिए पुराने फ्रेमों को त्यागने की, अथवा उनकी धातु बदलने की आवश्यकता है, उनकी रक्षा के लिए नवीन प्रयोगों का तिरस्कार नहीं किया जा सकता।

महाकाव्य और खण्डकाव्य के चिरप्रचलित रूपों में परिवर्तन के अतिरिक्त अनेक ऐसे अन्य काव्य-रूप हैं, जिन्हें इन दोनों प्रकारों के अन्तर्गत समाहित नहीं किया जा सकता, परन्तु मूलतः ये रचनाएँ प्रबन्ध ही हैं। इनमें से कुछ की परम्पराएँ पुरानी हैं, परन्तु दीर्घकाल से अव्यवहृत रहने के कारण अख्यात हो गई हैं—यथा पर्यायबन्ध। कुछ अपेक्षाकृत नवीन हैं, कम-से-कम इन विधाओं का वर्तमान रूप परम्परा से भिन्न है—इनमें आख्यानक गीतियाँ और लघु पद्य कथाएं आती हैं। इनका प्रयोग अन्य विधाओं की तुलना में कम हुआ है। इन विधाओं के लिए बन्धाबन्ध जैसे किसी मध्यवर्ती नाम की उद्भावना न करके इनका विवेचन प्रबन्ध रूपों के अन्तर्गत ही पृथक् अध्याय में किया गया है, इसलिए, कि किसी मध्यवर्तिनी विधा की स्थिति कम-से-कम रूप-विधान की दृष्टि से असम्भव है। कोई रचना, रूप की दृष्टि से प्रबन्ध या मुक्तक में से एक हो सकती है तथा आकार, शैली, विषय-निरूपण आदि की दृष्टि से उसके अनेक भेद किये जा सकते हैं। बन्ध की दृष्टि से इन दोनों के बाहर कोई तीसरी स्थिति सम्भव नहीं हो सकती, इसी कारण समग्र प्रबन्ध को दो खण्डों में, और उनको पृथक् अध्यायों में विभाजित किया गया है।

कुछ ऐसे प्रयोगों का, जो शैली की दृष्टि से नवीन हैं, तथा जिनका काव्य-रूप विवाद

का विषय रहा है, उनकी मूल विशेषताओं के आधार पर विधा-निर्णय का प्रयत्न किया गया है। 'कुरुक्षेत्र', 'यशोधरा' और 'विष्णुप्रिया' को अतः खण्डकाव्य के क्षेत्र में नए प्रयोग स्वीकार किया है तथा 'उन्मुक्त' को गीति नाट्यों में नवीन सृष्टि। इसी प्रकार 'तुलसीदास', 'नहुष' आदि खण्डकाव्य की दिशा में कुछ ऐसे अभूतपूर्व प्रयत्न हैं, जिनकी विधा की नींव प्राचीन और रूप-निर्माण नव्य है। प्रयत्न किया गया है कि इनकी मूलतः प्राचीन, और प्रयोग सम्बन्धी नवीन विशेषताओं का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया जाय।

कुछ काव्य-रूप ऐसे हैं जिनकी न नींव पुरानी है न भवन। ऐसी विधाओं के लिए नवीन चेतना, विदेशी साहित्य से सम्पर्क और कवियों की नवोन्मेषिनी प्रतिभाएँ उत्तरदायी हैं। इन सबका सुपरिणाम है अनेक नवीन विधाओं का उद्भास। सभी प्राचीन और नवीन विधाओं में नाट्य और गीति शैलियों का प्रयोग और प्रभाव प्रचुर है। कुछ ऐसी विधाओं का सृजन भी इस युग के काव्य में हुआ, जिनमें इन उभय शैलियों का प्रभाव नहीं, योग परिलक्षित होता है। इनके साथ वर्तमान वैज्ञानिक युग की चिर प्रगतिशील बौद्धिक प्रवृत्तियों ने भी इन विधाओं को प्रभावित किया है। अतः ऐसी रचनाओं का एक समुदाय आधुनिक काव्य में उपलब्ध है जिन्हें गीति-नाट्य, पद्य-नाट्य तथा काव्य-रूपक आदि नामों से पुकारा जाता है। गीति-नाट्य शब्द उन सभी नाट्य विधाओं के लिए प्रयोग में प्रचलित हो गया है जिनका माध्यम पद्य और विधि नाटकीय है, परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो वे सभी 'गीति' और 'नाट्य' नहीं। इसलिए इन रचनाओं को हमने काव्य-रूपक कहा है—काव्य इनमें पद्यात्मकता का बोधक है और रूपक नाट्य-तत्त्व की स्थिति का, परन्तु इनमें ऐसी रचनाएं गिनी-चुनी हैं जिन्हें गीति-नाट्य कहा जा सके। इनमें परस्पर भी शिल्प के आधार पर पर्याप्त अन्तर है। अतः इस पारस्परिक सूक्ष्म अन्तर के आधार पर बाह्य स्थूल समानताओं का निषेध करते हुए इनका रूप-विवेचन प्रस्तुत किया गया है। घटना, भावना और विचार की अपेक्षाकृत महत्ता के कारण इन रचनाओं के अनेक रूप हो गए हैं। 'तारा' और 'सौवर्ण' के काव्य-रूपकों को एक समान कैसे स्वीकार किया जा सकता है? अतः इनकी अन्तर्वर्ती विभिन्नताओं के साक्षात्कार का प्रयत्न हमने किया है। इसके साथ ही एकपात्रीय संलाप (मॉनोलॉग) आदि के रूप में जो नवीन विधाएँ प्रयोग में लाई गईं उनकी भी रूप-सम्बन्धी विशेषताओं का यथासम्भव निरूपण किया है।

प्रबन्ध के दूसरे खण्ड में मुक्तक विधाओं का विवेचन है। बन्ध को आधार मानते हुए मुक्तक का भी दो वर्गों में स्फुट और संयुक्त मुक्तक अथवा अनिबद्ध व निबद्ध मुक्तक में विभाजन किया है। एक विशेषता इस युग की मुक्तक-रचना में स्पष्ट है। प्रबन्ध की अपेक्षा परिमाण और रूप-वैविध्य मुक्तक विधाओं में कहीं अधिक है। इसका प्रमुख कारण है इस युग की अनवरत गतिशीलता, भाग-दौड़ और मानव का अति व्यस्त जीवन जिसमें क्षण भर रुककर मुक्तक-रचना करना अधिक सुगम है, बृहत् प्रबन्धों की रचना और पठन का अवकाश उतना नहीं। दूसरा कारण—हिन्दी साहित्य पर जिस विदेशी साहित्य का प्रभाव सर्वाधिक पड़ा है उसमें मुक्तक विधाओं का वैविध्य और आधिक्य है। अभिप्राय यह नहीं कि प्रबन्ध रचनाओं का इस युग में अभाव है। विवेच्य युग के उपरान्त 'तारक-वध', 'एकलव्य' और 'उर्वशी' आदि बृहत् प्रबन्धों का प्रकाशन तो हो ही चुका है, नई चेतना के संगीत-शोधी कवि गिरिजाकुमार माथुर भी

प्रबन्ध-रचना में दत्तचित्त हैं। परन्तु रूप-वैविध्य प्रबन्धों में उतना नहीं प्राप्त होता जितना मुक्तक विधाओं में।

इस युग की मुक्तक रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता अनेकानेक नवीन रूपों का ग्रहण और आविष्कार है। रूप-विधाओं की दृष्टि से पूर्ववर्ती मुक्तक-रचना का क्षेत्र अत्यन्त सीमित और रूढ़ हो चुका था। मुक्तक रचनाएँ दोहा, कवित्त, सवैया आदि की स्फुट छन्द रचनाओं में, और निबद्ध व गीति रचनाएँ भक्त कवियों की पदावली में परिसीमित हो गई थीं। कुछ लोक-गीतों के प्रयोग भी साहित्यिक रचनाओं में होते थे, परन्तु शैली, बन्ध, छन्द-विधान सभी दृष्टियों से अनेकरूपता आधुनिक कविता में मिलती है उसका शतांश भी पूर्ववर्ती काव्य में प्राप्त नहीं। विधाओं की यह नवीनता अभिव्यंजना के सभी तत्त्वों मे प्राप्य है—शैली, भाषा, छन्दयोजना, बन्ध, अलंकृति, सभी में। अनिबद्ध और निबद्ध मुक्तकों में से भी रूप-वैविध्य, निबद्ध कविताओं में अधिक मिलता है। मुक्तक-शैलियों में परम्परा का निर्वाह अपेक्षाकृत अधिक है और जहाँ नवीनता है वहाँ विशेष काव्योत्कर्ष नहीं उपदेश और नीति-कथन की नीरसता है। इन सभी रूपों में नवीनता का आभास भारतेन्दु-युग की कविता से ही मिलने लगता है जो द्विवेदी-युग और उससे भी अधिक छायावाद-युग तक आते-आते काव्य-व्यापी आन्दोलन का रूप धारण कर लेता है।

आरम्भ में अनेक रूप-विधाओं का प्रवेश आंग्ल काव्य के सम्पर्क और प्रभाव से इस युग की कविता में हुआ। ओड, एलेजी, सॉनेट, सॉङ्ग, एपिसिल आदि विधाएँ हिन्दी कविता के लिए सर्वथा नवीन थीं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इन विधाओं का केवल आधार मात्र हिन्दी के कवियों ने लिया है, कुछ आरम्भिक रचनाएँ एवं कुछ विशेष कवियों की शैली पर ही आंग्ल काव्य का प्रभाव अधिक पड़ा, परन्तु इन विधाओं का यथावत् रूप में ग्रहण और निर्वाह बहुत कम कवियों ने किया है। इन विधाओं का जो स्वरूप आंग्ल साहित्य में मिलता है उससे हिन्दी-काव्य में ये रचनाएँ बहुत भिन्न हो गई हैं। उदाहरण के लिए ओड, अँगरेज़ी काव्य में सदैव सम्बोध-गीति के रूप में नहीं लिखा जाता, उसकी शैली के सम्बन्ध में भी निश्चित धारणाएँ व मान्यताएँ हैं, परन्तु हिन्दी-काव्य में यह शब्द हर प्रकार की संबोध-गीति के लिए रूढ़ हो गया है। इसी प्रकार सॉनेट के छन्दों का तो क्या, अन्त्यक्रम का भी ठीक निर्वाह शायद ही किसी हिन्दी सॉनेटकार ने किया हो। साधारण चौदह पंक्तियों की मनमाने ढंग से लिखी कविताएँ इस लेबिल के अन्तर्गत प्रचार पाती रहीं। यह बात अँगरेज़ी साहित्य से गृहीत अधिकांश विधाओं के विषय में सत्य है। पत्र-गीतियाँ भी इन कवियों ने सर्वथा भिन्न रूप में लिखीं। हाँ, इनकी भाषा, शैली, अलंकार, प्रगीत-रचना आदि पर अँगरेज़ी काव्य की अभिव्यंजना का प्रभाव है।

काव्य-रूपों की भाँति अतुकान्त छन्दों का प्रयोग संस्कृत के वर्ण-वृत्तों के अनुकरण पर किया गया, और मुक्त छन्द का विकास बँगला के पयार छन्द से प्रेरणा ग्रहण कर, हिन्दी के मुक्तक वृत्त घनाक्षरी के आधार पर। परोक्ष रूप से ब्लैंक वर्स और फ्री वर्स का प्रभाव इन आविष्कारक कवियों की चेतना पर भले ही रहा हो, परन्तु इनका आधार भारतीय छन्द ही थे। बाद में कविता पर आंग्ल-काव्य का प्रभाव स्वीकार करना उसी प्रकार फैशन का विषय हो गया जैसे विदेशी वेशभूषा और केश-प्रसाधन का अनुकरण गर्व की भावना से किया जाता है। कभी-कभी

भ्रान्तिवश भी जब इस प्रकार के प्रभावों का सन्देह व्यक्त किया जाता है तो रचयिता इस भ्रांति को प्रोत्साहन देने में अभिमान की अनुभूति करते हैं। विदेशीयता के इस आग्रह ने कुछ इस प्रकार नारे का रूप धारण कर लिया कि इसके नाम पर कविता में पर्याप्त अनाचार भी फैलता रहा। अतिशय बौद्धिक प्रयास, विचित्र अभिव्यंजना, पाठक को नए प्रयोगों से स्तम्भित कर चौंका देना, छन्दों के चित्र-विचित्र रचना-विधान, संगीत का त्याग, भाषा का अप्रचलित विशिष्ट अर्थों में प्रयोग आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके प्रयोग से इन कवियों ने अपनी अभिव्यंजनागत मौलिकता के कारण पाठक का ध्यान आकर्षित कर साहित्य में स्थान बना लिया। सहज रूप में इन्होंने जो कविताएँ लिखीं उसकी परम्परा और मूल पूर्ववर्ती काव्य में स्पष्ट रूप से खोजे जा सकते हैं। जो कविताएँ सायास, चमत्कार-उद्भावना के उद्देश्य से लिखी गई उन पर अवश्य टी० एस० इलियट और डी० एच० लॉरेंस आदि का प्रभाव है। यों मूलरूप में ये प्रयत्न प्राचीन अलंकार-वादियों की ऊहात्मक शैली और चमत्कृत अलंकार-योजना की प्रवृत्ति के समकक्षी हैं, दोनों युग के कवियों में दृष्टिकोण और सिद्धान्तों का विशाल अन्तर अवश्य है। प्रेरणा भिन्न है, परन्तु चमत्कार भाव का उतना नहीं जितना शैली का है। छन्दों में भी संगीतात्मकता के अनिवार्य गुण के त्याग के कारण गद्यात्मकता और गत्यवरोध उत्पन्न हो गया है। मुक्त छन्द का प्रयोग सर्वत्र सफल नहीं।

इन कतिपय परिसीमाओं के अतिरिक्त नई कविता ने रूप-विधान की दृष्टि से बहुत कुछ दिया है। उर्दू और लोक-गीतों के प्रभाव से कुछ अत्यन्त सहज और सुन्दर रचनाएँ इस काव्य में की गई। अन्य भाषाओं से ग्रहण के विषय में इनकी दृष्टि उदार है। क्रमशः इन कवियों को यह भी भान होने लगा है कि परम्परा और संस्कार का आमूल विद्रोह और विदेशी साहित्य के पीछे उनकी यह दौड़ जिसके कारण उनके अन्तर के संस्कारों और सिद्धान्तों में ही विरोध उत्पन्न हो गया है, अन्ततः उनकी काव्य-रचना के उत्कर्ष के मार्ग में बाधक होगी, अतः उनमें से अधिकांश संस्कारी और परम्परा के प्रति आस्थावान होने का दावा करने लगे हैं। काव्य के प्रति नवीन राहों के अन्वेषण का यह सतत प्रयत्न प्रगीति की दृष्टि से निश्चय ही शुभ है। इन कवियों ने अभिव्यंजना के क्षेत्र में नूतन छन्द, भाषा, अलंकार, वर्णन-शैली और नवीन विधाएँ, सभी कुछ दिया है, और निरन्तर दे रहे हैं। नवीनता के नाम पर होने वाले प्रयत्नों में से कूड़ा-करकट बहुत कुछ छट चुका है। अधुनातन प्रकाशनों में इनकी अभिव्यक्ति अधिक विवेक-संयत हो गई है। नवीन विधाओं के क्षेत्र में इनका योगदान निरन्तर गतिशील है। 'कुछ कविताओं' में शमशेर बहादुरसिंह ने कुछ नूतन मुक्तक विधाएँ प्रस्तुत की हैं। धर्मवीर भारती की 'सात गीत वर्ष' आदि भी इस क्षेत्र की नवीन रचनाएँ हैं। अन्य प्रकाशनों में केदारनाथसिंह की 'अभी बिल्कुल अभी', जगदीश गुप्त की 'शब्द-दंश' और ठाकुरप्रसादसिंह की 'वंशी और मादल' उल्लेखनीय हैं। इन प्रकाशनों से मुक्तक काव्य के उज्ज्वल और नवीन भविष्य की आशा होती है, अभिनन्दन के अवसर की प्रतीक्षा है।

●

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत

अग्निपुराण
अभिनव भारती—अभिनवगुप्त
काव्यप्रकाश—मम्मट
काव्यमीमांसा—राजशेखर
काव्यादर्श—दण्डी
काव्यानुशासन—हेमचन्द्र
काव्यालंकार—भामह
काव्यालंकार—रुद्रट
काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—वामन
ध्वन्यालोक—आनन्दवर्द्धन
नाट्य-शास्त्र—भरत
रसगंगाधर—जगन्नाथ
साहित्यदर्पण—विश्वनाथ।

हिन्दी

१. आत्मनेपद—अज्ञेय।
२. आधुनिक साहित्य—नन्ददुलारे वाजपेयी।
३. आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ—डा० नगेन्द्र।
४. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना—डा० पुत्तूलाल शुक्ल।
५. आधुनिक हिन्दी नाटक—डा० नगेन्द्र।
६. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास—डा० श्रीकृष्णलाल।
७. काव्य के रूप—गुलाबराय।
८. काव्य दर्पण—रामदहिन मिश्र।
९. काव्यरूपों के मूल स्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दूबे।
१०. गुप्तजी की कला—डा० सत्येन्द्र
११. गोस्वामी तुलसीदास—आ० रामचन्द्र शुक्ल।
१२. बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य—डा० प्रतिपालसिंह।

१३. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा—सं० डा० नगेन्द्र ।
१४. मैथिलीशरण गुप्त—कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता
—डा० उमाकांत गोयल ।
१५. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग—डा० उदयभानुसिंह ।
१६. मैथिलीशरण गुप्त—व्यक्ति और काव्य—डा० कमलाकांत पाठक ।
१७. रसज्ञ-रंजन—आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी ।
१८. रीतिकाव्य की भूमिका—डा० नगेन्द्र ।
१९. साकेत : एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र ।
२०. साहित्य का मर्म—डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ।
२१. साहित्यालोचन—डा० श्यामसुन्दरदास ।
२२. सियारामशरण गुप्त—डा० नगेन्द्र ।
२३. वाङ्मय विमर्श—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ।
२४. विचार और विश्लेषण—डा० नगेन्द्र ।
२५. विदेशों के महाकाव्य—गोपीकृष्ण गोपेश ।
२६. हिन्दी कविता में युगान्तर—डा० सुधीन्द्र ।
२७. हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव—डा० रवीन्द्र सहाय वर्मा ।
२८. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—डा० शम्भूनाथसिंह ।
२९. हिन्दी साहित्य—डा० भोलानाथ
३०. हिन्दी साहित्य—डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ।
३१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—,, ,,
३२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल ।

पत्र-पत्रिकाएँ

१. सरस्वती ।
२. आलोचना ।
३. समालोचक ।
४. नए पत्ते ।

अंगरेजी

1. An Introduction to the Study of Literature — by W. H. Hudson.
2. A Study in Epic Development. — I. T. Myers.
3. Cambridge History of English Literature Volumes I—XIV — Ed. by Sir A. Ward & A. R. Waller.
4. Classical Background of English Literature — J. A. K. Thomson.
5. Elizabethan Lyric — Catherine Ing.
6. English Epic & Heroic Poetry — W.M. Dixon.
7. Epic & Romance. — W. P. Ker.
8. From Virgil to Milton — C. M. Bowra.
9. Form and Style in Poetry — W. P. Ker.
10. Form in Literature — H. Weston.
11. Forms in Modern Poetry — Herbert Read
12. Literary Criticism in Antiquity — J. W. H. Atkins.
13. Lyric — John Drinkwater.
14. Lyrical Poetry from Blake to Hardy — H. J. C. Grierson.
15. Oxford Lectures on Poetry. — A. C. Bradley.
16. Phases in English Poetry — Herbert Read.
17. Poetic-Process — George Whelley.
18. Poetics of Aristotle — Ed. Butcher.
19. „ „ — Ed. T. A. Maxon
20. Poetry & Drama — T. S. Eliot.
21. Principles of Criticism — Worsfold.
22. Process of Literature — A. M. Mackenzie
23. The Criticism of Poetry — Burton.
24. The Epic & its Background — E. M. W. Tillyard
25. The Epic — L. Abercrombie.
26. The Making of Literature — Scott. James.
27. The Metres of English-Poetry. — Enid-Hamer.

ENCYCLOPAEDIAS AND DICTIONARIES

1. Encyclopaedia-Britannica.
2. Oxford English Dictionary.
3. Cassell's Encyclopaedia of Literary terms.
4. Apte's Dictionary—(Sanskrit-English).
5. Moniar-Williams Dictionary—(Sanskrit-English)